अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
की
विचारभूमि

THEORY OF INTERNATIONAL POLITICS

U. G. C. TEXT BOOKS

Dr. Prabhu Dutt Sharma
M.A. (Pol. Sc. & History),
M.P.A. (Pub. Adm.) (U.S.A.) Ph.D. (U.S.A.),
Gold Medalist
Reader, Department of Political Science,
University of Rajasthan, JAIPUR
&
Harish Chandra Sharma M.A.
Department of Political Science,
Lal Bahadur Shastri College, JAIPUR

*

COLLEGE BOOK DEPOT
JAIPUR-2

Published by :
College Book Depot
JAIPUR-2

Revised Edition 1970-71

Price Rs. 21/-

Printed at :
College Press
&
Chandrodaya Printers
JAIPUR

राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य उपासक
एवं भारतीय संस्कृति और चिन्तन
के सजीव प्रतीक



डॉ० रामानन्द तिवारी

'भारतीनन्दन'

को

सादर

समर्पित

*

जिनके समात्मभाव से यह
रचना अनुप्राणित है

तीसरे संस्करण के तीन शब्द

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, संस्थाओं एवं विदेश नीतियों की दुनिया में जो गत्यात्मकता है, उसे देखते हुए किसी भी लेखक और प्रकाशक के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वह अपने प्रकाशन को समीचीन एवं नवीन बनाये रखे। गत दो वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच एवं उसके नेपथ्य में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन एवं करवटें प्रस्तुत हुई हैं उनके संदर्भ में यह अनिवार्य हो गया कि हम अपने इस प्रकाशन को नवीनतम सामग्री एवं विचार विश्लेषण से अलंकृत कर अपने हिन्दी माध्यम के पाठक के ज्ञान को इस क्षेत्र में पुराना न पड़ने दें। फलतः प्रस्तुत है हमारा यह तीसरा संस्करण, दूसरे से अधिक समृद्ध एवं अपने विकसित स्वरूप में।

अपने पाठकों के हम आभारी हैं जो इस पाठ्य पुस्तक के स्वागत द्वारा हमें प्रोत्साहित करते रहे हैं। हमें विश्वास है कि इस पाठ्य-पुस्तक के अनुशीलन से आज के विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम का विद्यार्थी जगत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अपने ज्ञान को उस स्तर तक बना सकेगा जहाँ से उसे अंग्रेजी के उच्च स्तरीय ग्रन्थ एवं सदर्भ पुस्तक सरलता से समझ में आने लगेंगी।

—लेखकगण

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारभूमि' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को शासित करने वाले कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्तों को बौद्धिक ढंग से विश्लेषित करने का एक नया प्रयास है। एक जमाना था जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का ज्ञान केवल कुछ ऐतिहासिक घटनाक्रमों और उनसे निर्देशित होने वाले युद्ध और शान्ति के प्रयासों तक ही सीमित था। आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में होने वाले नवीनतम शोध ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति केवल घटनाओं का घटाटोप न होकर कुछ नियम विशेषों के अनुसार खेला जाने वाला एक खेल है, जिसके खिलाड़ी-राष्ट्र व्यक्तियों की तरह निश्चित राष्ट्रीय हित रखते हैं। विश्व शान्ति जैसे गम्भीर और भयानक निष्कर्ष प्रायः इन्हीं राष्ट्रीय हित की सम्पूर्ति एवं संवर्द्धन में जन्म लेकर शक्ति-सन्तुलन, सामूहिक सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की समस्याओं को जटिल बनाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के गम्भीर और क्लिष्ट विद्यार्थियों से हिन्दी माध्यम द्वारा वह सब कुछ सरल और बोधगम्य ढंग से कहने का प्रयास किया गया है जिसके लिए अभी भी अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पुस्तक की रचना में यथासम्भव प्राप्य सामग्री को मूल स्रोतों, पत्र-पत्रिकाओं और मानक ग्रन्थों से संजोकर सरलतम ढंग से विवेचित, विश्लेषित एवं प्रतिपादित किया गया है। आशा है, विद्यार्थीजगत हमारे इस प्रयास को उपयोगी एवं स्वागतत्व पायेगा।

अन्त में, धन्यवाद देना एक औपचारिकता हो गई है किन्तु अपने इस परिश्रम में यदि हम किसी का आभार मान सकते हैं तो केवल स्वयं का अपना तथा अपने उन प्रकाशक बन्धुओं का, जिनके आपसी सहयोग एवं प्रेरणापूर्ण परेशानियों से यह रचना सम्भव हो सकी है।

—लेखकगण

अनुक्रम



PART I



PART II

पृष्ठांक

PART III

PART IV

PART V

PART I

Theories of International Politics , Realistic Theory, ...ance of International Politics, a survey of new developments

१

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधारायें
[THE THEORIES OF INTERNATIONAL POLITICS]

एक विचारशील प्राणी होने के नाते व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के पीछे विचारों की प्रेरणा एवं आधार रहता है। उसका कार्य चाहे व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, किसी भी क्षेत्र में किया जाये, उसे हम मानवीय कार्य तभी कहेंगे जबकि वह विचार एवं बुद्धि पर आश्रित है। यही स्थिति आगे चल कर व्यक्तिगत क्षेत्र में नैतिक नियमों, सामाजिक क्षेत्र में रीति रिवाजों एवं परम्पराओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न परम्पराओं के विकास का कारण बनती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधारायें विभिन्न राष्ट्रों के व्यवहार को इस प्रकार तय करती हैं कि वे अपने हितों का साधन बुद्धिपूर्ण तरीके से कर सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधाराओं के विश्लेषण से पूर्व यह उपयोगी होगा कि हम राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बीच स्थित अन्तर तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन के विकास की जानकारी प्राप्त कर लें।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(National and International Politics)

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बीच सदैव ही एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींचना कठिन है, फिर भी दोनों के मध्य स्थित अन्तर के प्रति सजग रहना आवश्यक है। कई एक समस्याएं ऊपर से देखने पर पूर्णतः

राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति की दिखाई देती हैं किन्तु वास्तव में वे पूर्णरूपेण ऐसी नहीं होती। उदाहरण के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा पर खर्च किये जाने वाले धन की मात्रा तय करते समय यह देखना होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय असुरक्षा की स्थिति और उस देश में उपलब्ध धन की मात्रा क्या है। एक दूसरे उदाहरण में जब एक देश अपने अन्तर्गत किसी वेतन नीति को अपनाता है उसका उस देश के निवासियों की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव पड़ता है। इस अर्थ में यह एक राष्ट्रीय मामला भी दिखा हुई किन्तु उस वेतन नीति का निर्यात व मूल्यों पर अर्थात् देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर जो प्रभाव पड़ता है वह इसका अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष है। इस प्रकार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों का परस्पर अतिव्याप होता है। कभी-कभी इससे यह समझ लिया जाता है कि जो सिद्धान्त एवं विचारधारायें राष्ट्रीय जीवन पर लागू होती हैं उनको अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर भी लागू किया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिन लोगों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है वे लोग भी राष्ट्रीय राजनीति के आधार पर अपनी बौद्धिक क्षमता का उपयोग कर सकते हैं पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध एवं अतिव्याप की स्थिति होने के बाद भी यह एक तथ्य है कि राष्ट्रीय विशेषज्ञता का अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में बहुत कम उपयोग रहता है, यहाँ तक कि कभी कभी राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्तों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लागू करने से गम्भीर खतरे भी उत्पन्न हो जाते हैं।

जब हम दूसरे देश की राजनीति का अध्ययन करते हैं, तब कुछ समस्यायें हमारे सामने आती हैं। प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी संस्कृति का गहरा प्रभाव रहता है और ऐसी स्थिति में जो लोग अपने देश की राजनीति में माहिर होते हैं वे आवश्यक नहीं कि अन्य देशों की राजनीति को भी उतनी ही गहराई से समझ सकें, क्योंकि दूसरे देश के लोग भी उनकी संस्कृति एवं परम्पराओं में रंगे रहते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जब एक व्यक्ति यह देखता है कि दूसरे देश के लोग उस संस्कृति एवं परम्परा में विश्वास नहीं करते जिसमें वह स्वयं करता है तो वे इसे एक अस्वाभाविक स्थिति कहते हैं। अपनी पृष्ठभूमि के भिन्न होने के कारण एक देश में रहने वाले विदेशी लोग उस देश के व्यवहार के सम्बन्ध में अनेक बार गलत निर्णय ले लेते हैं। व्यवहार में ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं कि एक ही समस्या के बारे में देश के अन्दर रहने वाले और देश से बाहर रहने वाले लोगों के विचारों में विभिन्नता रहती है। एक ही स्थान पर रहने वाले देशी और विदेशी व्यक्तियों के दृष्टिकोणों के बीच अन्तर हो जाता है। यह अन्तर यह है कि

एक देश के नागरिक अपने देश के घरेलू मामलों में अधिक रुचि लेते हैं जबकि विदेशियों की उस देश की विदेश नीति के सम्बन्ध में अधिक रुचि रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जो शीत-युद्ध (Cold-war) प्रारम्भ हुआ उसके पीछे बृहत रूप में सैद्धान्तिक एवं परम्परागत भेद कार्य कर रहे थे। संयुक्त राज्य अमरीका एवं सोवियत संघ दोनों ही देशों के लोग अपनी नीति को वास्तविक कहते थे जो उनके नागरिकों को सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति की ओर अग्रसित थी किन्तु इनमें से प्रत्येक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखता था और उसकी नीतियों को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा समझता था।

इस प्रकार यह बहुत मुश्किल है कि दूसरे देश की स्थिति एवं नीति को सही रूप से समझ लिया जाए, सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज को समझना तो और भी कठिन है क्योंकि इस समाज का अंग व्यक्ति नहीं होते वरन् राज्य होते हैं। जब हम राज्यों के बारे में विचार करने लगते हैं तो उनको एक मानसिक संरचना न मान कर उन्हें वास्तविक सत्ता स्वीकार कर लेते हैं और इस प्रकार दो देशों के मध्य स्थित सम्बन्धों का ऐसे अध्ययन करते हैं मानो दो व्यक्तियों के मध्य स्थित सम्बन्धों का अध्ययन कर रहे हों। इस अध्ययन में हम उन सब बातों को खोजने का प्रयास करते हैं जो व्यक्तिगत सम्बन्धों की विशेषता मानी जाती है। यही कारण है कि कभी-कभी दो देशों का उनके प्रतिनिधियों में वैयक्तिकरण कर दिया जाता है। वहां के राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री या विदेशी मामलों के राज्य सचिव को उस देश का प्रतीक समझ लिया जाता है। राज्य की प्रकृति कृत्रिम एवं परम्परागत होती है तथा एक व्यक्ति जब पदाधिकारी के रूप में कार्य करता है और उसमें जब वह अपने व्यक्तिगत रूप से कोई कार्य करता है, उसमें पर्याप्त भेद रहता है। यदि हम इन बातों का ध्यान में न रखें तो भ्रम की गुंजाइश रहती है।

अन्तर्राष्ट्रीय-राजनीति में राज्यों की प्रकृति के सम्बन्ध में उत्पन्न होने वाले भ्रमों के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अध्ययन में भी अनेक व्यावहारिक समस्यायें उठती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है उसकी उत्पत्ति राष्ट्रीय स्तर पर ही हुई है इसलिए यह स्वाभाविक है कि प्रयुक्त किए गए शब्द अपने अर्थ के सम्बन्ध में भ्रम उत्पन्न कर दें। हम अन्तर्राष्ट्रीय समाज और अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन ठीक इस प्रकार करना चाहते हैं मानो यह व्यक्तियों के समूह हों। हम अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी कानून और नैतिकता का अध्ययन करते हैं, राज्यों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों पर विचार करते हैं। इसी प्रकार जब हम अन्तर्राष्ट्रीय

बेन्थम (Jeremy Bentham) ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नाम दिया है। ज्ञान की इस शाखा में न केवल विभिन्न देशों के विदेशी मामलों का तथा अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास का अध्ययन किया जाता है वरन् इसमें अन्तर्राष्ट्रीय समाज तथा उसकी संस्थाओं का भी अध्ययन सम्मिलित है। कूटनीतिज्ञों, अन्तर्राष्ट्रीय कानून वेत्ताओं, आदि ने इस क्षेत्र में एक सामान्य भाषा विकसित की है एवं कुछ मान्यतायें परम्परायें लागू की हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में भी प्रयुक्त होती हैं। शक्ति सन्तुलन आदि अवधारणाओं को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है।

कानून, शक्ति, राष्ट्रीय परम्पराओं आदि से विभिन्न पूर्ण राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की कोई ऐसी विचारधारा प्रस्तुत नहीं की जा सकती जो सामान्य रूप से स्वीकृत हो। यदि हम विश्व-समाज के १२४ या इससे भी अधिक राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में कुछ सामान्यीकरण करना चाहते हैं तो काम चलाने के लिए कोई परिकल्पना करना आवश्यक है।

एक परिकल्पना यह है कि मानव-जाति इन सम्प्रभु राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय समाज में रहने-वाले रूप में संगठित है। इन सम्प्रभु राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध मुख्य रूप से शक्ति (Power) पर निर्भर करते हैं। इन राज्यों का प्रतिनिधित्व कुछ पदाधिकारियों द्वारा किया जाता है जो अपने देश एवं अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के दबावों और महत्वपूर्ण प्रभावों की प्रतिक्रियाओं में राज्य की नीति को निर्धारित करते हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सामने समय-समय पर संघर्ष आते रहते हैं और कभी-कभी युद्ध की सम्भावना उभर आती है। दूसरी ओर राज्यों के बीच धीरे-धीरे विकसित होने वाला अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति के लिए कुछ मार्ग प्रदर्शन करता है। शक्ति पर आधारित इस परिकल्पना को न तो मौलिक कहा जा सकता है और न ही व्यापक सहज; किन्तु फिर भी यह उपयोगी और मनोरंजक है। इसके द्वारा राज्यों के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए एक यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रदान किया जाता है। साथ ही यह शक्ति की राजनीति से प्रभावित होने वाले सम्प्रभु राज्यों के वर्तमान विश्व और उनके बीच कम के सहयोग की सम्भावनाओं के बीच समायोजन करती है।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रति शक्ति का दृष्टिकोण (Power Approach) परम्परागत है। राज्यों के द्वारा जिन विभिन्न तरीकों से शक्ति का प्रयोग किया जाता है और शक्ति पर जो अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखा जाता

बीच युद्ध प्रारम्भ होने से शक्ति पर और भी बल दिया जाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय हित को शक्ति के रूप में परिभाषित किया जाने लगा और आज यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की राजनीति के क्षेत्र में अध्ययन का एक केन्द्रीय विषय बन गया। आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विषय एक स्वतन्त्र अनुशासन के रूप में पर्याप्त महत्व प्राप्त कर चुका है। इस विषय पर बहुत बड़ी संख्या में विद्वत्ता पूर्ण पुस्तकें और पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होने लगी हैं। अनेक विद्वान इस क्षेत्र में विशेषज्ञ बने हैं और कई नवीन प्रविधियाँ तथा मान्यतायें विकसित हुई हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की संख्या भी बढ़ती जा रही है।

वास्तव में आज की परिवर्तित परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन अधिकाधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। यह अध्ययन केवल विगत घटनाओं का अभिलेख मात्र नहीं है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय वास्तविकताओं का सही विश्लेषण है। आज इस क्षेत्र में व्यक्ति के विचारों के प्रकटीकरण के लिए अनेक माध्यम मिल गये हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के साथ-साथ राष्ट्रीय घटनाओं का अध्ययन भी आवश्यक समझा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को विभिन्न पहलुओं को अन्य अनुशासनों द्वारा भी देखा जाता है—उदाहरणार्थ इतिहासकार कूटनीतिक इतिहास पर विचार करते हैं, अर्थ शास्त्री अन्तर्राष्ट्रीय वित्त और व्यापार का हिन करते हैं, तथा राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी अन्तर्राष्ट्रीय कानून, संगठन और राजनीति को पढ़ते हैं। धीरे-धीरे मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, जाति-शास्त्र, भूगोल, दर्शन आदि विषय भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की ओर अधिकाधिक आकर्षित हो रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। पहला दृष्टिकोण सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय समाज को सामने रख कर चलता है और इकाइयों को इस व्यवस्था का भाग मानता है। इसकी रुचि का मुख्य केन्द्र इकाइयों का पारस्परिक सम्बन्ध है। यह दृष्टिकोण व्यवस्था से प्रेरित होता है। एक दूसरा दृष्टिकोण इकाइयों से प्रेरित हो सकता है। यहां मुख्य रुचि का विषय इकाइयां एवं भाग होते हैं और उनके उद्देश्यों एवं बनावट के विश्लेषण पर अधिक जोर दिया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अधिकांश पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दूसरे दृष्टिकोण का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। वैसे दोनों ही दृष्टिकोणों की अपनी कमजोरियां एवं महत्व हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि व्यवस्था का दृष्टिकोण अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं संगठन तथा अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण के महत्व का अधिक मूल्यांकन कर लेता है। इस दृष्टिकोण में राज्यों के अन्त-

गैर शास्त्र (राजनीतिक) तत्वों को भुला दिया जाता है। राज्यों को एक समान समझ लिया जाता है जिनकी बनावट एक जैसी है तथा केवल आकार में ही अन्तर है। दूसरी ओर बाद वाला दृष्टिकोण आन्तरिक पहलुओं एवं राष्ट्रीय महत्व पर अधिक जोर देता है और इस प्रकार अन्तर प्रक्रिया एवं इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों की अवहेलना हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधारा का विकास कई एक उद्देश्यों को सामने रख कर होता है। विचारधारा (Theory) के द्वारा यह तय किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से कैसा सम्बन्ध रखेगा, वह अपनी विदेश नीति को कहाँ तक प्रभावित करेगा तथा किन उद्देश्यों को वह अपने व्यवहार की प्रेरणा बनायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारकों, विद्वानों तथा सेनानियों का दृष्टिकोण इन समस्याओं के बारे में एक जैसा नहीं रहता, इसलिए अनेक विचारधाराओं का विकास होता है। यह विचारधाराएं कहीं कहीं तो एक दूसरे की पूरक प्रतीत होती हैं और कहीं इनके बीच परस्पर विरोध की प्रतीति होती है। पहले कोई भी देश जब दूसरे देश के साथ अपने सम्बन्धों का तय करता था तो उसके सामने कोई एक निश्चित मार्ग नहीं होता था जिसके अनुसार वह अपने व्यवहार के रूप को ढाल सके। उस समय जो कुछ भी राज्य के उच्चाधिकारियों का दृष्टिकोण रहता था तथा जिसे भी वे देश के हित में समझते थे उसके अनुसार उस देश के विदेशी सम्बन्ध निश्चित हो जाते थे। किन्तु जब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक पृथक अनुशासन के रूप में विकसित हुआ तो अनेक सिद्धान्त एवं विचारधाराएं रूप ग्रहण करने लगीं। इसके बाद यह समझा जाने लगा कि जब दूसरे देशों के साथ रखे जाने वाले सम्बन्धों को निश्चित किया जाए तो इन विचारधाराओं को आधार बना दिया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में विचारधाराओं का महत्व क्रमशः बढ़ता जा रहा है और देश विदेश की बदलती हुई परिस्थितियों, समस्याओं एवं नवीन विचारों के सन्दर्भ में नई-नई विचारधाराएं जन्म लेती हैं, पूर्व विचारधाराएं संशोधित होती हैं तथा भविष्य का रूप निर्धारण करती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र
(The Scope of International Relations)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का जब एक पृथक अनुशासन के रूप में विकास हो गया, तो, एम.ए. पाठ्यक्रम, शोध, निश्चित, किये, जाते, पर, भी, विस्तार, विषय, जाने लगा। मि० ग्रेसन किर्क (Grayson Kirk), क्लास नोर (Klaus

Knorr), ई० एल० वुडवार्ड (E. L. Woodward) एवं वाल्डेमार गुरियन (Waldemar Gurian) आदि विचारकों ने एक स्वतन्त्र अध्ययन की शाखा के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति एवं क्षेत्र पर विचार प्रकट किये।

अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों के अध्ययन क्षेत्र (Scope) पर विचार करने से पूर्व यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि यह पद अत्यन्त ही अस्पष्ट है। अध्ययन क्षेत्र शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि जिन विषय वस्तु की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया जा रहा है उसकी कुछ निश्चित सीमायें हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में ऐसी कोई सीमा नहीं होती। ज्ञान के क्षेत्र का एक निश्चित प्रकार नहीं होता। इसके विभिन्न आंकड़े तथा तरीके जो एक समय विशेष पर कुछ प्रश्नों का जवाब देने के लिए उपयोगी लगते हैं वे दूसरे समय अपना महत्त्व खो देते हैं। ज्ञान की एक शाखा द्वारा एक ही समय में विभिन्न निरीक्षकों के अलग-अलग पहलुओं का प्रतिनिधित्व किया जाता है। ये पहलू निरीक्षक के लक्ष्य एवं दृष्टिकोण पर निर्भर करते हैं। जिन सीमाओं द्वारा ज्ञान के एक अनुशासन को दूसरे से अलग किया जाता है वे भी कोई ठोस दीवारों की भांति नहीं होते। समय-समय पर इन अनुशासनों की रुचि भी बदलती रहती है और इस प्रकार उनकी रूप रचना में भी परिवर्तन आ जाता है। यह परिवर्तन अत्यन्त धीमी गति के साथ होता है क्योंकि मानसिक आदतें बड़ी धीरे-धीरे बदलती हैं तथा बौद्धिक जगत के निहित स्वार्थ भी सामाजिक दुनिया में होने वाले परिवर्तनों का विरोध करते हैं। यही कारण है कि एक अनुशासन लम्बे समय तक अपने बाह्य रूप को ही बनाये रखता है।

इन सभी बातों को ध्यान में रखने पर इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना कठिन नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध एक पृथक अनुशासन है अथवा विभिन्न विषयों से ही लिया गया एक मिला-जुला विषय है? इसकी किसी नवीन शाखा का विकास होता है तो वह केवल तभी होता है जबकि कुछ नये प्रश्नों का उत्तर देने के लिए नये तरीकों की मांग की जाती है। इस प्रकार के विषय प्रारम्भ में तो मूल विषय के प्रकार मात्र ही प्रतीत होते हैं तथा ज्ञान की स्थित शाखाओं के साथ संलग्न रहते हैं किन्तु जब नवीन प्रश्नों की *जटिलता बढ़ जाती है तथा उपलब्ध उत्तरों की असंतोषजनकता स्पष्ट हो जाती है* तो कुछ उत्साही अस्तित्व नये सुझाव पाने के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। उनके प्रयासों के परिणामस्वरूप ज्ञान में एक विशेष विकास का जन्म होता है तथा जो भी कोई इस क्षेत्र के प्रश्नों का जवाब देना चाहे उसे इसका पूरा ज्ञान प्राप्त करना जरूरी होता है। बढ़ते-बढ़ते एक दिन यह ज्ञान की नई

शाखा का रूप धारण कर लेता है। यही प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी अपनानी पड़ी और उसके बाद ही ये ज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप मे विकसित हो गये हैं।

विश्व के राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों के बारे में जो प्रश्न उठते हैं वे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण एवं कठिन होते हैं। ये सम्बन्ध एक विशेष समाज से सम्बद्ध हैं जिसकी स्वायत्त इकाइयों के बीच कोई ऐसी केन्द्रीय सत्ता नहीं होती जिसे कि शक्ति का एकाधिकार प्राप्त हो। वर्तमान काल की घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रश्न इतने जटिल एवं महत्त्वपूर्ण हैं कि उन पर विभिन्न अनुशासनों के एक भाग के रूप में विचार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे इसे ज्ञान की एक पृथक शाखा के रूप में विकसित करना परम आवश्यक था।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र के किन विषयों का अध्ययन किया जाना चाहिए तथा कौन से विषय इसके अध्ययन क्षेत्र से बाहर हैं, यह बात तय करते समय हमको विभिन्न विचारकों के मतों को सामने रख कर चलना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब पूर्ण रूप से सत्य ही होंगे किन्तु फिर भी इनसे आंशिक सत्य की आशा तो की ही जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का जो क्षेत्र बताया जाता है उसे हम पूर्ण सत्य एवं अन्तिम नहीं मान सकते क्योंकि समय के विकास के साथ-साथ इनमें भी परिवर्तन होते रहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति एवं क्षेत्र के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह कहा जा सकता है कि ये वे सम्बन्ध होते हैं जो एक देश अपनी सीमाओं से बाहर निकल कर अन्य देशों के साथ विकसित करता है। इन सम्बन्धों के बारे में जो ज्ञान का संग्रह है उसे भी हम इसकी परिधि में रख सकते हैं।

दूसरे, ज्ञान की शाखा के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्तर्गत विषय वस्तु एवं प्रश्नों पर विचार करने के लिए विश्लेषण के तरीके तथा तकनीकें भी समाहित रहती हैं। इसकी विषय वस्तु म किसी भी स्रोत से प्राप्त होने वाले ज्ञान का संग्रह रहता है जो पुरानी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझाने तथा नई समस्याओं को सुलझाने म सहायता कर सके। इस विषय वस्तु में राजनैतिक समूहों या व्यक्तियों के व्यवहार से सम्बन्धित सामान्य ज्ञान आता है तथा साथ ही नीति सम्बन्धी प्रश्नों या घटनाओं से सम्बन्धित विशेष सूचना भी सम्मिलित रहती है। जहां तक सामान्य ज्ञान

के प्रश्नों का सम्बन्ध है इनमे इन प्रश्नों की जांच करने के लिए या उन्हें अस्वीकार करने के लिए परिकल्पनाओं तक पहुँचने के तार्किक प्रयास भी रहते हैं। जहा तक व्यावहारिक प्रश्नो का सवाल है इनमे हम संलग्न प्रश्नों पर विचार करने के प्रयासो, मूल्य से सम्बन्धित लक्ष्यों के वर्गीकरण, प्राप्त कार्य के विकल्पों का उल्लेख एवं उनके सम्भावित परिणामो, आदि को समाहित किया जाता है। इन विकल्पो मे से उस विकल्प को अपना लिया जाता है जो इच्छित लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा मे सहयोग प्रदान करें।

तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ज्ञान की एक पृथक शाखा के रूप मे विशेष प्रकार के प्रश्नो पर विचार करता है। इसका सम्बन्ध उन प्रश्नों से है जो कि विश्व-व्यवस्था में स्वायत्त राजनैतिक समूहो के पारस्परिक सम्बन्धो से प्रकट होते हैं। इस विश्व-व्यवस्था मे किसी भी एक स्थान पर शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं होता।

चौथे, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का विश्लेषणकर्त्ता वह होता है जो राष्ट्रों के पारस्परिक सबंधो पर विचार करने की विशेष योग्यता रखता हो। यह विश्लेषणकर्त्ता राष्ट्रीय नीतियों के तत्व, समायोजन और समझौतों मे रुचि लेता है। यह सम्भव है कि वह जातिशास्त्र, समाजशास्त्र या जनसंख्या से सम्बन्धित विद्या आदि संलग्न विषयों में भी अपनी रुचि दिखाए, किन्तु ऐसा वह उसी मात्रा तक करेगा जिस तक कि ये विषय अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर प्रकाश डालते हों। ऐसी स्थिति में इन क्षेत्रो मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विश्लेषणकर्त्ता की वह रुचि नहीं रहती जो एक समाजशास्त्री, जातिशास्त्री आदि की रह सकती है।

पांचवें, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का तत्सम्बन्धी ज्ञान एक राष्ट्रीय समुदाय के अन्तर्गत सामाजिक सम्बन्धो के ज्ञान के व्यापक भौगोलिक स्तर का केवल प्रसार मात्र नहीं है वरन् इसके अपने कुछ विशेष तत्व होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्बन्ध विशेष प्रकार के शक्ति सम्बन्धों से रहता है जिसका अस्तित्व एक केन्द्रीकृत सत्ताविहीन समाज में होता है। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र उन व्यापारिक सबंधो पर विचार करता है जो राष्ट्रीय सीमाओ का अति-क्रमण करते हैं तथा जो सम्प्रभु राज्यों के अनियन्त्रित कार्यों के कारण जटिल हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून वह कानून होता है जो स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्वेच्छाजनक स्वीकृति पर आधारित हो।

छठे, अन्तर्राष्ट्रीय सबंधो द्वारा जिन प्रश्नो पर विचार किया जाता है वे मुख्य रूप से सामाजिक संघर्षो एवं समायोजनो से उत्पन्न होते हैं। अतः

के व्यवहार, विभिन्न स्थितियों के सापेक्षिक मूल्य तथा कुछ सीमा तक राष्ट्रों के कानूनी अधिकारों एवं कर्त्तव्यों पर विचार करना होता है। किन्तु इस प्रकार के विषय अधिक नहीं होते और सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को उस समय तक समझना असम्भव होता है जब तक उन स्थानीय तत्वों एवं प्रभावों का उचित अध्ययन न कर लिया जाए जो राष्ट्रीय नीतियों की रचना पर प्रभाव डालते हैं।

नवें, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मानवीय व्यवहार (Human Behaviour) का अध्ययन भी अपना महत्व रखता है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में निर्णय लेने की प्रक्रिया का पर्याप्त महत्व है। ये निर्णय ऐसे व्यक्तियों या व्यक्तियों के समूहों द्वारा लिए जाते हैं जो पहचाने जा सकें।

दसवें, अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को एक दृष्टि से सांस्कृतिक विषय कहा जा सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कुशल निर्णयकर्त्ताओं को बाहर निकाल दिया जाए। इसके विपरीत यह जरूरी माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विद्यार्थियों को सामान्य क्षेत्र का परिचय प्रदान किया जाए और इसकी समस्याओं का विश्लेषण करने के लिए तरलक्ष्य तरीके बताए जाएं। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की विषयवस्तु का एक सांस्कृतिक महत्व है क्योंकि इसके प्रशिक्षण से विद्यार्थी को प्रभावपूर्ण विचार करने के तरीकों का ज्ञान होता है तथा वह अपने वातावरण के इस महत्वपूर्ण भाग को समझने में समर्थ हो पाता है। एक प्रजातन्त्र के नागरिक के रूप में प्रत्येक व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह विदेशी मामलों से सम्बंधित प्रश्नों पर विचारपूर्वक अपना मत निश्चित करे।

जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में अपना जीवन व्यवसाय प्रारम्भ करना चाहते हैं उन्हें व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को पांच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संगठन, कूटनीतिक इतिहास और राजनैतिक भूगोल। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक विषयों का भी अध्ययन किया जाता है; जैसे, समाज शास्त्र, जाति शास्त्र, मनोविज्ञान, सामाजिक मनोविज्ञान और नीति शास्त्र आदि। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के विचारक को सम्बंधित विषयों का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए ताकि वह सम्पूर्ण प्रश्नों के बारे में प्रभावशील रूप से सोचने में सक्षम हो सके। यह भी आवश्यक है कि उसे कम से कम एक स्वीकृत अनुशासन का पूरा ज्ञान होना चाहिए ताकि वह मूल बौद्धिक सद्गुणों से परिचित हो

सके । इस प्रकार के प्रशिक्षण के बाद ही वह विद्वत्ता का उच्च स्तर प्राप्त कर सकेगा और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भी उपयोगी योगदान कर सकेगा ।

वर्तमान विश्व राजनीति के परिवर्तनशील तत्व एवं नई दिशायें (Dynamic Elements of Contemporary World Politics and New Dimensions)

विश्व राजनीति के पटल पर बीसवीं शताब्दी की प्रारम्भिक दशाब्दियों से ही कुछ एक ऐसे विचारों ने जन्म लिया जो आगे चल कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्णायक तत्व बन गए । इन विचारों की प्रकृति परिवर्तनशील है और समय के साथ साथ इनमें आवश्यक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन होता रहता है । द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भी ऐसी अनेक नई शक्तियां अथवा तत्व सामने आए जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक व्यवस्था में कार्यों को तथा विश्व व्यवस्था की प्रकृति को प्रभावित किया । इन तत्वों के रूप में होने वाले परिवर्तनों के बाद इस कथन की सत्यता सामने आ जाती है कि सारा संसार एक रङ्गमंच की भांति है । जिस प्रकार नाटक के रङ्गमंच पर घटनाएं आती और जाती रहती हैं उसी प्रकार विश्व व्यवस्था में भी दृश्यों एवं अभिनेताओं का परिवर्तन होता रहता है । इस रङ्गमंच पर बड़ी तीव्रता से घटनाएं आती और जाती रहती हैं । दुनिया में युद्ध हुए, संहार हुए, प्रलय आई किन्तु बाद में फिर सृजन हुआ, सृष्टि चली और शांति की गोद में मानव सभ्यता पलने लगी । प्रथम विश्वयुद्ध हुआ, भीषण नर संहार के बाद रण-भेरी रुकी राष्ट्र संघ ने युद्ध की सम्भावना को टालने का प्रयास किया किन्तु क्योंकि रणचण्डी का खप्पर अभी भरा न था, राष्ट्र संघ (League of Nations) मर गया और उसकी लाश पर पुनः तोपें गनगनाने लगीं । मानव की दैवीय प्रवृत्तियों ने फिर जोर किया और अब की बार शांति स्थापना का कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisations) को सौंपा गया । अस्त्र-शस्त्रों के युद्ध का स्थान शीत युद्ध ने ले लिया । संसार मुख्य रूप से दो भागों में बंट गया । विचारधारा के आधार पर विभाजित ये दोनों ही भाग एक दूसरे के परम शत्रु बन गये । साम्यवादी गुट कहता है कि वह एक दिन सारे विश्व को लाल झंडे के नीचे ला खड़ा करेगा जबकि असाम्य-वादी गुट वाले अपनी प्रजातन्त्रात्मक स्वतंत्रता की रक्षा व समृद्धि के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने को तैयार बैठे थे । इन दोनों के बीच एक तीसरा समुदाय और भी बन गया जो दोनों से अलग तथा दोनों के विरोधी

व मनमुटावों को कम करने का प्रयत्न करने लगा। यह अपने आपको असंलग्न राष्ट्रों का गुट कहता है। यह गुट आवश्यक भी था क्योंकि यदि शीत युद्ध कभी गर्म युद्ध में परिवर्तित हो गया तो अणु शक्ति से युक्त इस युद्ध में क्या शेष रह जायगा यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अणु शक्ति का विकास न केवल विश्व-शान्ति वरन् मानवता के अस्तित्व के लिए ही एक साकार चुनौती बन गया।

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद धीरे-धीरे मिटते चले गये। ब्रिटेन, जिसके शासन में कभी सूर्य ही न छिपता था अब अपने क्षेत्र में ही सीमित रह गया। साम्राज्यवाद का रूप बदला, वह अब राजनैतिक न रह कर आर्थिक तथा सैनिक बन गया। विश्व के दोनों ही गुट एक दूसरे के प्रभाव को घटाने के लिए संधि संगठनों का निर्माण करने लगे। छोटे राज्यों को भी इन दो पाटों के बीच अपनी सुरक्षा खतरे में नजर आने लगी। नाटो, सिएटो, सेन्टो, बगदाद पैक्ट आदि सैनिक सन्धियाँ होने लगी। साम्यवाद के चारों ओर घेरा डाल दिया गया। दूसरी ओर साम्यवाद ने भी इस चक्रव्यूह को तोड़ना प्रारम्भ कर दिया। समय के अनुसार विभिन्न राज्यों की शक्ति-स्थिति में अन्तर आने लगा। विदेशी पंजे से छूट कर अनेक नवोदित राष्ट्र विश्व रंगमंच पर आकर अपना पार्ट अदा करने लगे। छोटे राष्ट्रों में अपना संघ बना कर सामूहिक रूप से सुरक्षा एवं विकास के कार्यों में आगे बढ़ने की प्रवृत्ति का विकास होने लगा। एशिया व अफ्रीका के देशों में चेतना जागी। दक्षिण एशिया एक क्षेत्र के रूप में, दक्षिण पूर्वी एशिया एक क्षेत्र के रूप में, अरब गणराज्यों का संघ, अफ्रीकी एशियाई संघ आदि को साकार करने की दिशाओं में राजनीतिज्ञों के मस्तिष्कों को सुरंगा घूमने लगी।

यह है विश्व रंगमंच, जिसकी घटनाओं में नदी के जल का सा प्रवाह और परिवर्तन है। इस प्रवाह ने वर्तमान समय में जो नये मोड़ लिये हैं उनमें से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

(१) विचारधाराओं का परिवर्तित रूप
(The Changing States of Ideologies)

साम्यवाद व पूंजीवाद के प्रतिनिधि के रूप में रूस तथा अमरीका के बीच पहले सैद्धान्तिक भेद इतना था कि इनको चुम्बक के दो ध्रुवों की भांति पृथक एवं असंलग्न माना जाता था। दोनों देशों के बीच विचारधारा के मूल अन्तर अब भी वर्तमान हैं—एक पूर्णतावादी (Totalitarian) राज्य है जबकि दूसरा नागरिक स्वतन्त्रता एवं स्वतन्त्र अर्थव्यवस्था में अधिक विश्वास

रखता है। एक का दावा है कि समानता पर आधारित होने के कारण उसके राज्य की शासन प्रणाली सच्चा प्रजातन्त्र है जबकि दूसरा उसे तानाशाही का ही एक दूसरा रूप कहता है। इतना पर भी आज विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों में दोनों ही गुटों के बीच पहले की भांति विरोध और संघर्ष का वातावरण नहीं रह गया है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर वे अब कुछ उदार दृष्टिकोण वाले बनते जा रहे हैं। इनके अतिरिक्त गुटों के देशों की एकता विघटित होती जा रही है। पश्चिमी जर्मनी व चीन द. पी. एस. को लेकर भारी विवाद चलता रहा था। अमरीका से भिन्न नीति अपनाकर फ्रांस ने साम्यवाद के दूसरे बड़े देश साम्यवादी चीन को मान्यता दे दी है। अरब-इजरायल संघर्ष के समय फ्रांस द्वारा अमरीका आदि देशों का समर्थन न करना इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। इसी प्रकार साम्यवादी गुट में भी विभाजन हो गये हैं। कुछ राष्ट्र माओ के नेतृत्व व चीन की छत्रछाया में आ गये हैं तथा दूसरे मास्को को ही साम्यवाद का केन्द्रबिन्दु बनाने के पक्ष में हैं। इन दोनों भागों के सदस्यों के बीच तनातनी कई कारणों से बढ़ती चली जा रही है। चीन रूस का सम्बन्ध इतना अधिक संघर्षमय होता जा रहा है कि कई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर वे एकमत नहीं हैं। भारत पर चीनी हमले के समय रूस ने चुप्पी साध ली और प्रावदा ने यह कह कर कुछ भी करने में अपनी मजबूरी प्रकट की कि 'एक उसका भाई है तो दूसरा उसका दोस्त'। चीन तो स्पष्ट शब्दों में सोवियत रूस को सुधारवादी (Revisionist) एवं पूंजीवादियों का पिट्ठू कह कर आरोप लगाता है कि सोवियत रूस अब मार्क्स व लेनिन के सिद्धान्तों से विमुख हो रहा है। इस प्रकार दो विरोधी विचारधाराओं के बीच का अन्तर कम हो रहा है तथा एक ही सिद्धान्त के बीच विघटन की भावनायें बढ़ती जा रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विचारधाराओं के इन परिवर्तित सन्दर्भों में देखा जाना उपयोगी रहेगा।

(२) दो गुटों का आज अस्तित्व नहीं रहा है
(Bipolar world does not exist today)

राष्ट्रपति आइजन होवर (Eisenhower) के समय विश्व दो गुटों में बटा हुआ था किन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में केवल दो ही प्रतिद्वन्द्वी हों यह बात नहीं है। आज विश्व का प्रत्येक देश अपने आपको एक बड़ी शक्ति के रूप में प्रकट करने का प्रयास करता है। यदि ऐसा वह व्यक्तिगत रूप से नहीं कर सकता तो एक क्षेत्रीय संगठन बनाकर विश्व रंगमंच पर अपनी भूमिका को महत्वपूर्ण बनाने का प्रयास करता है। छोटे राष्ट्रों की प्रवृत्ति पहले यह रहती थी कि किसी भी गुट के साथ सैनिक सन्धि में बन्ध जाएं

और अपनी सुरक्षा की ओर से निश्चित हो जाय, किन्तु आज की बदलती हुई परिस्थिति व दृष्टिकोणों के अनुसार ऐसा करना न कोई चाहता है, न यह आवश्यक है और न उपयोगी। पाकिस्तान पश्चिमी संनिक सन्धियों में बधा हुआ होने पर भी चीन का 'हमदम' बना हुआ है। इस तथ्य के निरीक्षण द्वारा हम यह जान सकते हैं कि आज विश्व में दो-गुटों की भावना एक मजाक की मात्रा बन गई है।

(३) क्षेत्रीय सगठन के रूप एवं प्रकृति में अन्तर
(Change in nature and forms of Regional organisation)

क्षेत्रीय सगठनों का आधार मूल तत्व राष्ट्रों की सुरक्षा थी। यह आशा की गई थी कि सगठन के किसी भी सदस्य-राष्ट्र पर विदेशी आक्रमण होने की दशा में दूसरे सभी सदस्य आक्रमणकारी का विरोध मिल कर करेंगे। किन्तु आज की बदली हुई परिस्थितियों में क्षेत्रीय सगठनों पर किस सीमा तक निर्भर रहा जा सकता है यह पाकिस्तान ने सन् १९६५ में भारत पर किए अपने आक्रमण के समय जान लिया होगा।

(४) विभिन्न देशों के स्तरों में परिवर्तन
(Change in Status of different Nations)

एशिया और अफ्रीका के देशों को विश्व राजनीति में पहले अधिक महत्व नहीं दिया जाता था। इनमें से अधिकांश तो अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति का प्रयोग करने में भी समर्थ न थे। उनका भाग्य किसी दूसरे साम्राज्यवादी राष्ट्र के साथ बधा हुआ था, किन्तु आज वे न केवल अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति का ही प्रयोग कर सकते हैं वरन् साथ ही उनका स्थान महत्वपूर्ण भी है। उनके निर्णयों का विश्व राजनीति पर भारी प्रभाव पड़ता है। भारत ने तटस्थ या असलग्न राष्ट्रों का नेतृत्व करने, शीत युद्ध की कटुता को कम करने के लिए जो प्रयास किये हैं उनका महत्व ससार के अधिकांश देश, जिनमें रूस व अमेरिका भी सम्मिलित हैं, हृदय से स्वीकार करते हैं। चीन बड़ी शीघ्रता से विश्व की बड़ी शक्ति बनने को आज उतावला हो रहा है। इसके लिए वह हिंसा और युद्ध का मार्ग अपनाने में भी नहीं हिचकिचाता। उसका यह विचार है कि पूंजीपति वर्ग से सत्ता लेने एव मजदूर वर्ग का विश्व में शासन स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि युद्ध के लिए तैयार रहा जाय। साम्यवाद के चीनी व्याख्याकारों के मत में पश्चिमी पूंजीवादी राष्ट्र कागज के शेर (Paper Tiger) हैं। साम्यवादी राष्ट्रों के पास शक्ति की कमी नहीं है अतः डरने का कोई कारण नहीं है। अब विश्व-

शान्ति के लिए खतरा आ गया है। इस प्रकार आज विश्व के राष्ट्रों का स्तर क्रमशः बदलता जा रहा है। प्रत्येक देश को अपनी विदेश नीति का निर्माण करते समय इन परिवर्तनों को ध्यान में रखना होगा।

(५) विश्व संस्था के प्रति परिवर्तित रुख
(The attitude changing towards U N O.)

संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना जिस समय की गई थी तभी से आज तक इसने विश्व की अनेक महत्वपूर्ण समस्याओं का सफलतापूर्वक समाधान किया है। विश्व शान्ति एवं सहयोग बनाने के साथ साथ यह संस्था आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए भी सक्षम उपकरण है। इस संस्था की सफलता के लिए आवश्यक है कि विश्व के अधिक से अधिक देश इसके सदस्य बनें तथा उनकी सद्भावना एवं सक्रिय सहयोग इसे मिलता रहे किन्तु आज विभिन्न राष्ट्रों का रुख इसके प्रति उदासीन सा दिखाई देने लगा है। विश्व संस्था को राष्ट्रों ने विश्व शान्ति एवं कल्याण के सामान्य उद्देश्य से नीचे उतार कर राष्ट्रीय स्वार्थों की गोदी पर ला खड़ा किया है। प्रत्येक राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की सिद्धि का माध्यम बनाना चाहता है। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ इन्डोनेशिया को मलयेशिया दिलाने में सहायता नहीं करता तो इन्डोनेशिया को इसकी सदस्यता में कोई सार नजर नहीं आता। पाकिस्तान ने भी धमकी दी थी कि या तो कश्मीर समस्या का हल उसकी शर्तों के आधार पर कर दिया जाय वरना वह भी उसकी सदस्यता छोड़ देगा।

विश्व में ऐसे राष्ट्र क्रमशः बढ़ते जा रहे हैं जो संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा अपनी समस्या का हल करने की अपेक्षा शक्ति का प्रयोग करके उसे सुलझाना अधिक उचित समझते हैं।

(६) अणु शक्ति के नये स्वामी
(New Owners of Atomic Power)

रोबर्ट्स (Henry L. Roberts) ने १९५६ में यह माना था कि विश्व में हलचल मचाने वाली सबसे बड़ी समस्यायें हैं अणु' और 'सम्पूर्णतावाद'। विश्व के राष्ट्रों ने इस खतरे को समझा है। अणु अस्त्रों का निर्माण, रक्षा एवं प्रयोग तीनों ही अवस्थायें बड़ी खतरनाक और भयानक परिणामों को उत्पन्न करने वाली हैं। जितना धन, समय और शक्ति इन कार्यों में व्यय होता है यदि वह दूसरे उपयोगी कार्यों में लगाया जाये तो विश्व काफी आगे बढ़ सकता है। अणु अस्त्रों का निर्माण, जैसा कि प्रत्येक देश निर्माण करते

समय ही घोषित कर देता है, प्रयोग न करने के लिए ही किया जाता है। यह शक्ति एक प्रकार से प्रतिरोधात्मक रूप में कार्य करती है किन्तु भावावेश में कोई भी मानव समुदाय यदि इसके प्रयोग पर उतर आये तो हजारों वर्षों की यह सभ्यता और संस्कृति बिना अपना कोई चिन्ह छोड़े ही नष्ट हो जायगी। विश्व जनमत इसके खतरों को समझ कर इसे सीमित करने की ओर झुका तथा इसके प्रयोग के सम्बन्ध में बड़ी शक्तियों एवं अन्य अनेक राष्ट्रों के बीच समझौता हुआ (Partial Test Ban Treaty) जिसके अनुसार अणु शक्ति के परीक्षण खुले आकाश में होना बन्द कर दिया गया। अणु शक्ति का प्रयोग शान्तिपूर्ण कार्यों में करने के लिए दबाव दिया जाने लगा। संयुक्त राज्य अमरीका एवं सोवियत संघ तथा अन्य कई एक राष्ट्रों ने मिलकर अणु शक्ति के प्रसार को रोकने के लिए सन्धि (Non-Proliferation Treaty) की है। किन्तु फ्रांस जैसे देश अणु शक्ति-सम्पन्न होने का मुकुट पहनने को आतुर हैं। चीन ने अक्टूबर १९६४ को एक अणु बम का परीक्षण कर मानव जाति के संहारकों की श्रेणी में अपना नाम लिखा लिया है। हाइड्रोजन बम का परीक्षण करने के बाद से तो वह अणु शक्ति के क्षेत्र में पर्याप्त आगे बढ़ गया है। भारत के ऊपर भी अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दबाव डाले जा रहे हैं कि वह बम का निर्माण करे।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत की उलझनें
(Tensions of International World)

वर्तमान विश्व के परिवर्तित रूप में जो अनेक विकास समाहित हो गये हैं उनके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय जगत में विभिन्न उलझनें पैदा हुई। एक देश जब अपने पड़ोसियों या दूरस्थ देशों के साथ सम्बन्ध विकसित करने के लिये अग्रसर होता है, उसके सामने अनेक समस्याएं विकट रूप धारण कर उपस्थित होती हैं। उसे अनेक गतिरोधों, विरोधाभासों एवं असामञ्जस्य पूर्ण स्थितियों में होकर गुजरना होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को भी ऐसी विभिन्न समस्याओं का सामना करना होता है। विरोधाभास पूर्ण स्थितियों एवं दो भिन्न मार्गों में से एक का चयन करना अत्यन्त कठिन बन जाता है। इस सम्बन्ध में प्रथम उल्लेखनीय विरोधाभास यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में वस्तुगतता बरती जाय अथवा विषयगतता। यह कहा जाता है कि वस्तुगतता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिये एक मात्र मार्ग है जिसे अपनाये बिना वह विश्व की प्रमुख समस्याओं को न्यायोचित रूप से विश्लेषित नहीं कर

सकता। यह सच होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विषयगत दृष्टिकोण यथेष्ट महत्व रखता है। एक समाज द्वारा ऐसे मूल्य एवं मत अपनाये जा सकते हैं जो दूसरे समाज के लिए उपयोगी एवं स्वीकृत न हों। प्रोफेसर क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की समस्या का प्रमुख कारण उन विभिन्न विषयगत मतों में है जिन्हें विभिन्न समाजों द्वारा स्वीकार किया जाता है और प्रत्येक द्वारा उन्हें वस्तुगत रूप समझा जाता है।[1] प्रत्येक देश के अपने कुछ दुराग्रह एवं मान्यताएं होती हैं जिनको वह न केवल अपने लिये वरन् दूसरे देश के लिए भी अनिवार्य मान कर चलता है। कई बार इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप विभिन्न देशों के बीच पारस्परिक मतभेद पैदा हो जाते हैं और कभी कभी ये सशस्त्र संघर्ष का भी रूप धारण कर लेते हैं। उचित यह समझा जाता है कि एक देश को अधिक से अधिक वस्तुगत दृष्टिकोण अपनाना चाहिए ताकि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को वह अपने पूर्वाग्रहों से पृथक होकर देख सके तथा उनके निराकरण में कठोर मापदण्डों को प्रयुक्त कर सके। ऐसा करने से वह देश प्रजातन्त्रात्मक जीवन से सम्बन्धित मूल्यों एवं सिद्धान्तों को भी अपनाए रख सकता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय जगत में एक दूसरा विरोधाभास यथार्थवाद और आदर्शवाद के मार्गों के बीच है। बहुत पहले से ही दार्शनिक एवं व्यवहारकर्त्ता आदर्श और यथार्थ के विकल्प में उलझे रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को देखते समय किस दृष्टिकोण को अपनाया जाए यह लम्बे समय से एक विवाद का विषय रहा है। विदेश नीति या राष्ट्रीय व्यवहार के सम्बन्ध में जो मत विभिन्नता पाई जाती है उसमें से अधिकतम का आधार आदर्श और यथार्थ के विकल्प ही है। जब एक देश अपने राष्ट्रीय हित पर विचार करने लगता है तो यथार्थ एवं आदर्श के अर्थों को परिभाषित करने की समस्या उठती है। असल में पामर तथा पर्किन्स (Palmer and Perkins) का यह कथन सही है कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में दोनों का बड़ा महत्व है और दोनों के बीच प्रकार की अपेक्षा मात्रा का अन्तर है।[2] यही कारण है कि आदर्शवादी विचारक भी आदर्शवाद की यथार्थता के सम्बन्ध में बात

1 Quincy Wright, The Study of International Relations, Appleton Century-Crafts 1955, p 20

2. Palmer and Perkins, International Relations, Scientific Book Agency, 2nd Edition, p XXVI.

करना पसन्द करते हैं और दूसरी ओर प्रत्येक यथार्थवादी यह दिखाना चाहता है कि वही सच्चा आदर्शवादी है। वैसे यह माना जाता है कि विचारकों की दोनों ही श्रेणियां कुछ सम्भावित खतरों से युक्त हैं क्योंकि जब हम आदर्शवाद को उसके कठोर रूप में अपना लेते हैं तो वास्तविकताओं से दूर चले जाते हैं और केवल यथार्थ पर जोर देने से अपनाई गई नीतियां और अनाकर्षक बन जाती हैं।

तीसरा विरोधाभास राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के बीच स्थित संघर्षों से प्रकट होता है। यदि एक दृष्टि से देखा जाय तो वैज्ञानिक प्रगति एवं तकनीकी विकास ने सारे विश्व को एक परिवार का रूप दे दिया है किन्तु दूसरी ओर यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि इस परिवार की इकाइयां वे स्वायत्तताग्रामी राज्य हैं जिनमें सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक कई प्रकार के अन्तर वर्तमान हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में राष्ट्रवाद एक प्रभावपूर्ण तत्व है और विशेष रूप से जो देश कुछ समय पूर्व ही साम्राज्यवाद के चंगुल से बाहर आये हैं उनमें राष्ट्रवाद की भावना प्रखरता के साथ है। इन देशों में राष्ट्रवाद का होना उपयोगी भी है क्योंकि ऐसा न होने पर उनका आर्थिक एवं सामाजिक विकास वांछित गति के साथ नहीं हो पाएगा। जिन देशों में आज भी साम्राज्यवादी शक्तियों का पंजा गड़ा हुआ है उनमें राष्ट्रीयता की भावना का अस्तित्व उनके स्वयं के अस्तित्व की एक आवश्यक शर्त है। इतने पर भी अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के महत्व एवं आवश्यकता को भुलाया नहीं जा सकता क्योंकि अणुशक्ति के विकास के कारण विश्व को विध्वंस से बचाने के लिये यह जरूरी बन गया है कि विभिन्न राष्ट्र अपने आपको राष्ट्रीयता के संकीर्ण दायरों से बाहर लाएं और सहयोगपूर्ण सम्बन्धों के विकास के लिये सच्चे दिल से प्रयास करें। वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीय दो विरोधपूर्ण तत्व आवश्यक दिखाई दे रहे हैं जिनके बीच समायोजन करना बहुत जरूरी है।

चौथे, अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर एक अन्य विरोधाभास जो राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के अस्तित्व के कारण पैदा होता है, वह यह है कि राष्ट्रीय सुरक्षा एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बीच उपयुक्त समायोजन किस प्रकार किया जाए। जब तक राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था राजनैतिक संगठन का मुख्य रूप रहती है उस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की अपेक्षा राष्ट्रीय सुरक्षा पर अधिक जोर दिया जाता रहेगा। वैसे राष्ट्रीय सुरक्षा एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बीच आवश्यक रूप से संघर्ष नहीं है क्योंकि एक को प्राप्त करने के लिए जिन साधनों को अपनाया जाता है वे कभी कभी दूसरे को

प्राप्त करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से जो समय क्षेत्रीय संगठन बनाए गए तथा सैनिक सन्धियां की गई उनके परिणामस्वरूप विश्व के देशों में सहयोग की भावना बढ़ी। इसके साथ यह भी सच है कि कोई भी देश अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को इस मान्यता के आधार पर दाव पर नहीं लगा सकता कि प्रत्येक देश उसके स्वार्थहित में दूसरे के साथ सहयोग करेगा। सैनिक सन्धियों के प्रश्न में यह बात सिद्ध हो चुकी है। संयुक्त राज्य अमरीका ने वर्षों से साफ कह दिया था कि वह सम्भावित आक्रमण की स्थिति में दक्षिण पूर्वी एशिया सन्धि संगठन के अधीन सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक देश को अपनी सुरक्षा का ख्याल स्वयं ही रखना होता है। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में भी प्रयास करने होते हैं। जब विश्व के कई देश सैनिक रूप से एक दूसरे को सहयोग देने के लिए वचनबद्ध हो जाते हैं तो राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या और भी अधिक कठोर बन जाती है क्योंकि पहले तो केवल एक ही राष्ट्र के सम्भावित समर के [redacted] रक्षात्मक तैयारी की जाती थी किन्तु अब एक समूह द्वारा किए जाने वाले हमले के विरुद्ध रक्षा की तैयारी करना आवश्यक हो जाता है।

पांचवें, यह निश्चय करना एक समस्या है कि विश्व राजनीति के व्यवहार में शक्ति अथवा स्वीकृति में किस को महत्व प्रदान किया जावे। यदि एक देश दूसरे देश से अपनी बात को स्वीकार कराना चाहता है तो इसके लिए उसे शक्ति का प्रयोग करना चाहिए अथवा दूसरे राष्ट्र को समझा-बुझा कर उसकी स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए। कई बार ऐसी मजबूरियां आ जाती हैं कि शक्ति के मार्ग को अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। एक शान्तिप्रिय देश को भी शक्ति और स्वीकृति दोनों ही मार्ग अपनाकर चलना होता है। शक्ति का प्रयोग करना या न करना पूरी तरह से एक राष्ट्र की इच्छा पर ही निर्भर नहीं होता वरन् इसके लिए दूसरे राष्ट्र का व्यवहार भी पर्याप्त महत्व रखता है।

छठे, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह निर्धारित करना भी बड़ा कठिन है कि यहां सहयोग एवं संघर्ष का सापेक्षिक महत्व क्या है। यह स्पष्ट है कि दोनों ही प्रवृत्तियों के अनेक उदाहरण प्रतिदिन सामने आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में होने वाले संघर्षों के समाचार प्रायः अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं तथा ये शान्ति एवं युद्ध जैसे मूल प्रश्नों को खड़ा कर देते हैं। इतने पर भी 'सहयोग', संघर्ष की अपेक्षा अधिक सामान्य है तथा मौलिक रूपों में इसे प्रोत्साहित करने की दिशा में लगातार ही प्रयास किये जाते हैं। मनोविज्ञान

एवं समाज शास्त्र आदि विभिन्न अनुशासनों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में संघर्ष एवं सहयोग के कारणों पर प्रकाश डाला जाता है।

सातवें, आज के जगत में मनुष्य की आवश्यकतायें बहुत अधिक बढ़ गई हैं किन्तु साथ ही विज्ञान की प्रगति ने यह भी सम्भव बना दिया है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन का एक सन्तोषजनक स्तर प्रदान किया जा सके। यहां विरोधाभास यह है कि जिन क्षेत्रों में मानवीय आवश्यकतायें तीव्रगति से बढ़ रही हैं वहां उनको सन्तुष्ट करने के साधनों की व्यवस्था नहीं है और जहां वे साधन उपलब्ध हैं वहां आवश्यकताओं की मात्रा इतनी अधिक नहीं है। संयुक्त राज्य अमरीका को यह चिन्ता रहती है कि वह मूल फसलों के अति-रिक्त उत्पादन को कहां संचित करे। इन अतिरिक्त फसलों को या तो गोदामों में भर दिया जाता है अथवा उनको नष्ट कर दिया जाता है किन्तु दूसरी ओर दुनिया के करोड़ों लोग अकाल, सूखा या बाढ़ के कारण भूखों मरते हैं। दुनिया के अधिकांश लोग ऐसे हैं जो बिना कुछ खाये ही सो जाते हैं। जब तक विश्व से इस अन्तर को दूर नहीं किया जाता तब तक यहां शान्तिपूर्ण व्यवस्था की आशा कम हो की जा सकती है।

आठवें, बीसवीं शताब्दी का एक विरोधाभास यह है कि इसमें एक ओर तो नैतिक स्तर एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का विकास हुआ है तथा मानव इतिहास में पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव कल्याण के लिए प्रयास किये जा रहे हैं किन्तु जब हम तस्वीर के दूसरे पक्ष को देखते हैं तो भारी निराशा होती है क्योंकि विश्व का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जहां कि मानव को अमानवीय परिस्थितियों में रहना पड़ रहा है। इस दृष्टि से साम्य-वादी एवं पूंजीवादी दोनों ही व्यवस्थायें बहुत कुछ समान रूप से दोषी हैं क्योंकि जहां पूंजीवादी व्यवस्था को अपनाया जा रहा है वहां श्रमिक वर्ग का हर प्रकार से शोषण किया जा रहा है और दूसरी ओर जहां साम्यवाद का प्रभाव है वहां प्रतिक्रियावाद के नाम पर सामूहिक हत्यायें, अमानवीय व्यवहार, अत्याचार, गुंडागर्दी आदि की जा रही हैं। अफ्रीका महाद्वीप में जाति के नाम पर, मध्यपूर्व में धर्म के नाम पर तथा वियतनाम में विचारधारा की खातिर जो विध्वंसात्मक एवं अत्याचारपूर्ण कार्य किये जा रहे हैं वे बर्बरता के नग्न रूप को भी मात दे देते हैं। अमानवीय व्यवहार की कोई सीमा नहीं होती। यह सभ्यता के चरम स्तर पर पहुंचे देशों में भी पाया जा सकता है। उदा-हरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका में नीग्रो लोगों की समस्या को लिया जा सकता है। विश्व के धर्मों की शिक्षायें आज केवल नाम मात्र के लिए ही रह गई हैं। व्यावहारिक जगत में उनका प्रभाव एवं महत्व नहीं के बराबर है।

पहले धर्म व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहार पर एक अंकुश का काम करता था तथा इसी प्रकार से उसे मानवता की परिधियों में मर्यादित रखता था किन्तु विज्ञान की प्रगति ने जब से धर्म के महत्व को गौण बनाया है तथा मनुष्य के विश्वास पर कुठाराघात किया है तभी से मनुष्य अधिक स्वार्थी व्यभिचारी, धोखेबाज, झूठा, ठग एवं असहयोगपूर्ण बन गया है।

अतः, विज्ञान की प्रगति ने तथा तकनीकी विकासों ने मानव को एक ऐसे दो राहे पर लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ से कि वह चाहे तो धरती पर स्वर्ग को अवतरित करने की ओर कदम बढ़ा सकता है और यदि चाहे तो एक क्षण में ही समस्त मानव सभ्यता को अतीत की ऐसी कहानी बना सकता है जिसे न तो कोई पढ़ने वाला होगा और न ही सुनने वाला। आज मनुष्य के हाथों में असीमित शक्ति आ गई है। यह उसकी इच्छा है कि वह इसका प्रयोग विध्वंस के लिए करे या रचना के लिए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक विज्ञान के रूप में
(Science of International Politics)

आज विज्ञान का युग है। प्रत्येक शास्त्र अपने आपको अधिकाधिक वैज्ञानिक स्वरूप देने के लिए प्रयत्न करता है। कारण यह है कि वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनकी प्रकृति सामान्य होती है; वे निश्चित होते हैं क्योंकि उनकी सत्यता के बारे में सन्देह या सम्भावना पर निर्भर नहीं रहना पड़ता। वैज्ञानिक अध्ययन एक क्रमबद्ध अध्ययन होता है जिसमें भविष्यवाणियाँ भी की जा सकती हैं। ये भविष्यवाणियाँ प्रायः सच भी हो जाती हैं। वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष सभी परिस्थितियों में प्रत्येक समय तथा स्थान पर एक समान रूप से प्रभावशाली होते हैं। इन सब गुणों के कारण ही प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बारे में भी यह प्रश्न उठता है कि क्या इनका अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर किया जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर पाने से पूर्व यह जानना उपयोगी एवं आवश्यक होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के वैज्ञानिक होने का अर्थ क्या है तथा किस विधि का अनुशीलन करके इनको वैज्ञानिक बनाया जा सकता है।

वैज्ञानिक अध्ययन की विशेषतायें

वैज्ञानिक विधि से जब हम किसी विषय की जानकारी करना चाहते हैं तो प्रारम्भ में तत्सम्बन्धी परिकल्पनायें बनाई जायेंगी। उन परिकल्पनाओं

की सत्यता को जांचने के लिए पहले वस्तु-स्थिति का निरीक्षण करना होगा, उसके बाद प्रयोग । प्रयोग द्वारा जो चीजें हमारे अध्ययन से सम्बन्ध रखती हैं उनको रखा जायेगा तथा बाकी को छोड़ दिया जायेगा । रखे गये विषयों का वर्गीकरण करना होगा । वर्गीकृत भागों का आपसी सम्बन्ध क्या है यह देखने के बाद तत्सम्बन्धी निष्कर्ष दिये जायेंगे । वे निष्कर्ष वैज्ञानिक होंगे, इस प्रकार के अध्ययन में पाई जाने वाली मुख्य विशेषताएं निम्न प्रकार हैं—

(१) एक व्यावहारिक परिस्थिति में केवल थोड़े ही विकल्प हो सकते हैं अथवा उन विकल्पों के बीच गुणात्मक अन्तर होता है, इसके बारे में वैज्ञानिक संदेहशील होता है। उसका यह प्रयास रहता है कि चीजों के सभी अन्तरों को केवल गुणात्मक सीमा तक लाकर रख दिया जाये ।

(२) वैज्ञानिक अध्ययन की सबसे प्रमुख विशेषता यह मानी जाती है कि यह भविष्यवाणी करने तथा वस्तु स्थिति पर नियन्त्रण रखने में समर्थ होता है । यदि किसी विधि का तर्क सही है, प्रस्तुतीकरण का ढंग प्रभावशाली है तथा निष्कर्ष भी युक्तिसंगत है तो भी हम उसे तब तक वैज्ञानिक नहीं कह सकते जब तक वह व्यवहार में काम न करे। प्रयोग द्वारा यदि उन निष्कर्षों को सही सिद्ध नहीं किया जा सके तो उन्हें बदलना होगा । विज्ञान अनुभव पर आधारित होता है । इससे अध्ययन में कारण-कार्य (Cause and Effect) का सम्बन्ध होता है तथा भविष्यवाणियों के गलत होने की सम्भावना कम रहती है ।

(३) विज्ञान यह मानकर चलता है कि वास्तविकता का पता लगाने के लिए निरीक्षण (Observation) करना आवश्यक है। इसमें बुद्धि के आधार पर अनुमान भी किये जाते हैं किन्तु उनको सत्य तभी माना जाता है जब वे निरीक्षण व प्रयोग की कसौटी पर सही उतरते हों ।

(४) विज्ञान के निष्कर्षों के बीच तालमेल रहता है, वे परस्पर विरोधी नहीं होते । कोई भी निष्कर्ष वैज्ञानिक है या नहीं यह देखने के लिए हम दूसरे वैज्ञानिक निष्कर्षों से उसकी तुलना कर सकते हैं। यदि विरोध वर्तमान है तो हमारा निष्कर्ष सही नहीं माना जायगा ।

(५) विज्ञान दर्शन से सम्बन्धित है, क्योंकि दर्शन-प्रदत्त तार्किक व्यवस्था का प्रयोग करता है। तर्कों को प्रमाणित करने के लिए यह कलात्मक तरीका अपनाता है अतः कला से सम्बन्धित है। यह इतिहास से सम्बन्ध रखता है क्योंकि इसके लिए प्रमाण व तथ्य इतिहास द्वारा दिये जाते हैं, किन्तु विज्ञान मानवीय विद्या नहीं है क्योंकि यह मनुष्य को प्रकृति का

एक मत माना है। इस अर्थ में मानवीय होने के कारण यह इतिहास, दर्शन व कला से भिन्न भी है।

विज्ञान की उक्त विशेषताओं को यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में प्रयोग कर सकें तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को वैज्ञानिक मान सकते हैं किन्तु जैसा कि विवन्सी राईट का मत है, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसा क्षेत्र है जिसमें विज्ञान का प्रवेश बड़ा कठिन है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को देखने के कई दृष्टिकोण हो सकते हैं। किर्क (Dr. Grayson Kirk) महोदय ने इन दृष्टिकोणों को तीन भागों में विभाजित किया है। पहला दृष्टिकोण ऐतिहासिक है। किर्क महाशय का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का क्रमानुसार अध्ययन किया जाता है और इस दृष्टि से हम इतिहास की भांति ऐतिहासिक तथ्यों का संकलन करते हैं। इस दृष्टिकोण में घटनाओं का वर्णन मात्र कर दिया जाता है। दूसरा दृष्टिकोण वैधानिक (Legal) है। इसका अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को कानूनी दृष्टि से देखकर उनका मूल्यांकन किया जाता है। तीसरे दृष्टिकोण के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को उसी रूप में देखा जाता है जिस रूप में वह घट रही है। न तो उनको ऐतिहासिक क्रम में देखा जाता है और न ही किसी वैधानिक दृष्टि से वरन् एक निरन्तर दर्शक के रूप में जैसी वे हैं वही रूप में देखी जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को देखने के इन विभिन्न पहलुओं का वर्णन पूरी तरह से सत्य नहीं माना जा सकता यद्यपि सभी दृष्टिकोणों में आंशिक सत्यता अवश्य मौजूद है। यथार्थ में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक ऐसी बौद्धिक व्यवस्था (Academic discipline) है जो वर्तमान इतिहास तथा नवीन घटनाओं से भिन्न है, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राजनैतिक सुधारों से भी भिन्न है।[1] इस प्रकार ऐतिहासिक एवं वैधानिक दोनों ही दृष्टिकोण जो अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को समझने में प्रयुक्त किये जाते हैं, अनुचित हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना सम्भव नहीं है इसके कई कारण हैं। प्रथम एवं प्रमुख कारण तो यह है कि ये घटनायें स्थिर नहीं हैं बदलती रहती हैं। मानवीय क्रियाएं होने के कारण यह अनुमान लगाना कठिन होता है कि कुछ विशेष परिस्थितियां यदि उपस्थित हो जाए तो फिर उनका परिणाम क्या होगा तथा एक देश विशेष की नीति पर उसका प्रभाव क्या पड़ेगा। राज्य, राष्ट्र और सरकारों के व्यवहार को

1. Morgenthau, Hans J, Politics among Nations P. 15

समझने के लिए वैज्ञानिक तरीका केवल तभी अपनाया जा सकता है जबकि हम यह मान कर चलें कि ये मनुष्य एवं उनके दृष्टिकोणों का संयोग है या एक विश्व व्यवस्था का भाग है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों को वैज्ञानिक रीति से जानने के मार्ग में दूसरी कठिनाई यह है कि वैज्ञानिक अध्ययन के निष्कर्षों से व्यक्ति प्रभावित हो सकते हैं। यह सम्भव है किसी जड़ चीज के बारे में, यदि आप कोई बात कह दें तो उसका प्रभाव जड़ चीज पर न पड़े और यही कारण है कि वहाँ आप भविष्यवाणियाँ कर सकते हैं। किन्तु मनुष्य के बारे में यह सच नहीं है। उदाहरण के लिए किसी ने यह सामान्यीकरण (Generalization) किया कि 'एक पाकिस्तानी सैनिक तीन भारतीय सैनिकों के बराबर होता है।' एक क्षण के लिए मान लिया जाये कि सामान्यीकरण सच था। इसने भारतीय जवानों में प्रतिक्रिया की; उनका साहस बढ़ गया। वर्तमान भारत-पाक युद्ध में यह साबित हो गया कि उक्त कथन उल्टा था, सच तो यह है कि एक भारतीय जवान तीन पाकिस्तानी जवानों के समान था। मनुष्य में स्वयं की गलतियों को सुधारने की प्रवृत्ति होती है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन करते समय निरीक्षण तथा विश्लेषण की प्रक्रिया भौतिक एवं प्राणीशास्त्र विज्ञानों से अलग ही तरह की होनी चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के तथ्य बड़ी शीघ्रता से बदलते रहते हैं, तथा इसका विषय अनिश्चित (Ambiguous material) होता है इसलिए इनके बारे में भविष्यवाणियाँ करना असम्भव होता है।[2] अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति ऐसी है कि न तो इनमें वैज्ञानिक विधि का प्रयोग ही किया जा सकता है और न ऐसे निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जिनको वैज्ञानिक कहा जा सके।

क्विन्सी राइट का मत इस सम्बन्ध में कुछ उदार है। उनका विचार है कि यद्यपि अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण कि हम इस विषय को विज्ञान का रूप पूरी तरह से नहीं दे सकते किन्तु फिर भी यह मानना गलत होगा कि वैज्ञानिक विधियों (निरीक्षण, परीक्षण, विश्लेषण, सारणीकरण प्रयोग, निष्कर्ष आदि) का किसी भी स्तर पर प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन में नहीं किया जा सकता। विज्ञान की अनेक विशेषतायें जैसे वस्तुगतता

1. Quincy Wright, The Study of International Relation, P. 116.
2. Morgenthau, Hans J., Politics among Nations, P. 18

(Objectivity), निश्चितता (Accuracy), मात्रानुकरण (Quantification), तर्क (Logic) आदि का प्रयोग नागरिकों, नेताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अन्य कार्यकर्ताओं के दृष्टिकोणों को प्रभावित करने में किया जा सकता है। आधुनिक युग में सभी व्यवस्थाओं को आवश्यक रूप से विज्ञान बन जाना है चाहे उनके विज्ञान बनने के मार्ग में कितनी ही बाधायें क्यों न आयें।[1] अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को भी समय की मांग के अनुसार विज्ञान बनाना ही होगा। इनका प्रारम्भ कला या इतिहास के रूप में हुआ, बाद में ये दर्शन की भांति सामान्यीकरण करने लगे और अब समय है कि इनको वैज्ञानिक कर दिया जाय।

विचारधारा का महत्व एवं योगदान
(The Importance and Role of Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा का महत्व एवं योगदान उतना ही गहरा एवं प्रभावपूर्ण है जितना हमारे व्यक्तिगत जीवन व्यवसाय में विचारों का महत्व होता है। जीवन में सफलता प्रायः उसी प्राप्त होती है जबकि व्यक्ति कुछ मूल सिद्धान्तों को अपनाए हुए आगे बढ़े। इसी प्रकार एक राष्ट्र को विदेश नीति की सफलता भी कुछ विचारधाराओं (Theories) से मार्ग दर्शन प्राप्त करना उपयोगी तथा आवश्यक बन जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का उपयोग एवं महत्व विश्व राजनीति में आज समझा जाने लगा है। उच्चकोटि के विद्वान एवं विचारक आज किसी न किसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विचारधाराओं के महत्व को स्वीकार करते चलते हैं। इस प्रसंग में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कुछ शिखर के विद्वानों के विचारों का उल्लेख करना उपयुक्त है।

(१) थाम्पसन (Kenneth W Thompson) के विचार

थाम्पसन महोदय के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के प्रणेता को दोहरा कार्य करना होता है। एक ओर तो उसे ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना होता है जैसे कि एक मेडिकल शोधकर्ता मरीज से दूर रह कर कार्य नहीं कर सकता उसी प्रकार एक सिद्धांत शास्त्री को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की वास्तविकताओं से अधिक दूर नहीं रहना चाहिए। उसे वर्तमान समय में स्थित वास्तविकताओं का वर्णन करना चाहिए और

1. Quincy Wright, Ibid, P 110

दूसरी ओर भविष्य में उनका क्या रूप हो सकता है यह भी चिंतित करना चाहिए। वर्तमान को समझना तथा भविष्य को चित्रित करना अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों के दो महत्वपूर्ण तथा परस्पर सबन्धित कार्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धात बुद्धि पर आधारित होते हैं और इन पर आधारित अथवा प्रेरित कोई भी विदेश नीति बौद्धिक (Rational) आवरणो से अलंकृत हो जायेगी। अतीत काल मे राजनैतिक सिद्धान्तों ने अपने दोनों पक्षो को समुचित रूप से नहीं देखा और यही कारण है कि उनके निष्कर्ष वाछनीयता एव लोकप्रियता प्राप्त करने मे सर्वथा असमर्थ रहे। उदाहरण के लिए उदार लोकतन्त्रवादी (Liberal Democrats) विचारकों ने इस बात पर जोर दिया कि जनसाधारण को विदेश नीति के निर्माण मे भाग लेना चाहिए अर्थात् जब भी कभी एक देश अन्य देश के साथ अपने सम्बन्धो को तय करे तो वह उनकी उपयुक्तता के बारे में अवश्य ही जनता की राय जान ले। देश के नागरिकों को इस बात का पर्याप्त अवसर प्रदान किया जावे कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के बारे में अपनी प्रतिक्रिया से देश के कर्णधारों को परिचित करा सकें। 'विदेश नीति का रूप प्रजातन्त्रात्मक होना चाहिए' यह विचार सरकार तथा विदेश नीति की सैद्धान्तिक मान्यताओं पर आधारित था। राष्ट्रीय स्तर पर भी यह कारगर रहेगा। दूसरे, इस व्यवस्था मे वे लोग भी विदेश नीति जैसे विषयों मे सक्रिय रुचि लेना प्रारम्भ कर देंगे जो अब तक इस ओर से उदासीन थे किन्तु यह मान्यता व्यवहार करने पर सफल न हो सकी। अमेरिका मे विदेश नीति से संबन्धित निर्णय लेते समय जनमत सग्रह कराने की परम्परा ने अमेरिका को लाभ पहुचाने की अपेक्षा कई बार पथ भ्रष्ट किया। उक्त सिद्धान्त का निर्माण करते समय यह भुला दिया गया था कि अमेरिका का प्रत्येक नागरिक पूरे देश के लिए उत्तरदायी नही है वह केवल अपने हिस्से के लिए उत्तरदायी है तथा प्रत्येक व्यक्ति इस विषय मे विशेषज्ञ (Expert) न तो था और न हो सकता था। प्रजातन्त्र को मूर्खों का शासन कहने की अरस्तु की परम्परा ने विदेश नीति के विषयो में जनसाधारण के हस्तक्षेप को अप्रासंगिक एव अनुपयोगी बना दिया। विदेश नीति जैसे महत्वपूर्ण विषयो मे निर्णय लेने का कार्य विशेषज्ञ ही कर सकते हैं।

थॉम्पसन (Thompson) के विचारानुसार किन्हीं भी सैद्धान्तिक मान्यताओ को उनके लक्ष्यो (Objectives), अभिप्रायो (Motivations) तथा राष्ट्र की नीतियों (Policies of nations) के आधार पर प्रासंगिक तथा अप्रासंगिक सिद्ध किया जा सकता है।

विश्व शान्ति की स्थापना के लिए सक्रिय रूप से प्रयास करना अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। थोम्पसन महोदय के विचारानुसार अधिकांश देशों की विदेश नीति के पीछे एक लक्ष्य यह रहता है कि अधिक से अधिक राज्यों के साथ शान्ति की स्थापना का प्रयास किया जाय। शान्ति तथा बुद्धि को एक दूसरे का समानार्थक समझा जाता है। यदि किसी देश का कार्य शान्ति का समर्थक है तो वह अवश्य ही बुद्धिपूर्ण होगा और यदि कोई देश बुद्धिपूर्वक व्यवहार कर रहा है तो वह अवश्य ही शान्ति की दिशा में ही प्रयत्नशील होगा। इस दृष्टि से कोई भी बुद्धिपूर्ण देश शान्ति के विरुद्ध किसी भी समय को अपना आदर्श नहीं बना सकता। कानून को शान्ति और बुद्धि का साधन माना जाता है। कानून के अनुसार जब व्यवहार किया जाता है तो विश्व से संघर्ष एवं युद्ध का खतरा बहुत कुछ कम हो जाता है और इसलिए यह व्यवहार बुद्धिपूर्ण माना जा सकता है। इसी सम्बन्ध में एक विचारक ने यह माना है कि "किसी भी मानव समाज ने हिंसा के लिए कोई विकल्प नहीं खोजा, सिवाय इसके कि कानूनी तथा संवैधानिक संस्थाओं की स्थापना की जाय।"

इस विचारधारा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यही है कि इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों को बौद्धिक बना दिया जाता है।

(२) मार्गेन्थो (Hans J. Morgenthau) के विचार

सिद्धान्तों का ऐतिहासिक तथ्यों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। वैसे इतिहासकार एवं सिद्धान्त शास्त्री के बीच एक सूक्ष्म अन्तर की स्थिति रहती है। इतिहासकार घटनाओं को ऐतिहासिक क्रम से वर्णित करता है तथा उनको स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं पर सिद्धान्तों के प्रभाव को मान लेता है जबकि दूसरी ओर सिद्धान्तशास्त्री सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं तथा ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग वे इतिहास के उदाहरणों को देकर करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का मुख्य लक्ष्य न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था एवं शान्ति के हित में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को वैधानिकता एवं संगठनात्मक रूप प्रदान कर देना है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर भविष्यवाणी करना तथा परिणामों को नियन्त्रित करना भी है। मार्गेन्थो के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के पीछे यदि इतिहास के घटना-चक्र का सही विश्लेषण न हो तो वह राजनीतिज्ञ को एक सफल राजनीतिज्ञ कभी भी नहीं बनने देगी। केवल उन्नतिशील व आदर्शवादी विचारों की नींव पर यदि हम सिद्धान्तों की स्थापना कर दें तथा राजनीतिज्ञों से उन सिद्धान्तों को व्यवहृत

करने का अनुरोध करें तो इसके परिणाम उस देश की राजनीति के लिए घातक हो सकते हैं। आदर्शों पर आधारित व्यवहार जिन कल्पनाओं के साथ आगे बढ़ता है वे प्राय: यथार्थ जगत में साकार नहीं हो पाती। दूसरी ओर आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कुछ ऐसे सिद्धांत भी उपस्थित हैं जो वैज्ञानिक होने का दावा करते हैं। ये सिद्धान्त एक प्रकार का भ्रम पैदा कर देते हैं। ये बताते हैं कि शस्त्रों से सुसज्जित सम्प्रभु राष्ट्रों से युक्त समाज आज भी अपनी विदेश नीति का संचालन बिना किसी खतरे की सम्भावना के कर सकते हैं क्योंकि प्राचीनकाल में ऐसा होता था; किन्तु ये सिद्धांत आज के परमाणु युग की बदली हुई परिस्थितियों को भुला देते हैं। और यदि इन सिद्धांतों को देव वाक्य मानकर इनके आधार पर आचरण किया गया तो ये राजनीतिज्ञ आज उसी प्रकार असफल रहेंगे जैसे कि युद्धों के बीच के काल में राजनीतिज्ञ उस समय के उन्नतिशील सिद्धांतों (Progressive theories) के अपनाने पर रहे थे।

मार्गेन्थो महोदय के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा का सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से महत्व है। इन दोनों क्षेत्रों में इसके उपयोगी कार्य निम्न प्रकार हैं —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के सैद्धांतिक (Theoritical) कार्य— अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों का मुख्य कार्य राजनीतिज्ञों को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में पथ-प्रदर्शन करना है। विदेश नीति से सम्बन्धित गुत्थियों को सुलझाने में तथा समस्याओं के समाधान में उनकी सहायता करना है। कई बार ऐसा होता है कि एक राष्ट्र के सम्मुख किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर इसे अपनाने के कई विकल्प रहते हैं। उस देश का भाग्य, विश्व की शान्ति, विदेश नीति की सफलता आदि सभी बातें इस बात पर निर्भर करती हैं कि वह देश उन विकल्पों में से किसको अपनाता है। यहां अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों का महत्व प्रारम्भ हो जाता है क्योंकि इन्हीं के आधार पर यह जाना जा सकता है कि एक विकल्प विशेष को अपनाने का क्या परिणाम हो सकता है तथा उन परिस्थितियों का भी उल्लेख कर सकता है जिनमें उस विकल्प को अपनाना उचित तथा सफल रहेगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त एक देश को उन सभी दुष्परिणामों एवं खतरों से बचा लेते हैं जो एक गलत विकल्प को अपनाने पर हो सकते थे। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के सैद्धांतिक कार्यों के अतिरिक्त कुछ व्यावहारिक कार्य भी हैं।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के व्यावहारिक (Practical) कार्य— जैसा कि मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय का विचार है, उपरोक्त

संचालित कार्य प्रायः सभी सामाजिक सिद्धांतों द्वारा परिपूर्ण किये जाते हैं किन्तु इन पर अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा का एकाधिकार नहीं होता।[1] व्यावहारिक कार्यों [redacted] अनुशीलन अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों की अपनी विशेषता है। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की उपज होते हैं। इन सिद्धान्तों की रचना करने वाले विचारक अपने कमरे में बैठ कर बौद्धिक विश्लेषणों में उलझे नहीं रहते, वे तो व्यावहारिक जगत में परिस्थितियों से मर्यादित क्रियाओं को देख कर कुछ निष्कर्षों पर आते हैं। प्लेटो से लेकर आज तक का सारा राजनैतिक दर्शन इसी प्रक्रिया का परिणाम है। जैसे कि राजनैतिक परिस्थितियां विचारधारा के निर्माण में कार्य करती हैं उसी प्रकार विचारधारा भी उन परिस्थितियों में अपेक्षणीय परिवर्तन करने के उद्देश्य से सक्रिय हस्तक्षेप करती है।

राजनैतिक वास्तविकताओं को चार विभिन्न दृष्टियों से देखने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त चार प्रकार के विभिन्न व्यावहारिक कार्यों को सम्पन्न करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का सबसे पहला काम यह है कि राजनीतिज्ञों द्वारा अपनाई गई नीतियों को यह बौद्धिक आधार एवं सहमति प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए १९४७ के बाद अमेरिकन विदेश नीति ने कई नवीन नीतियों को अपनाया जैसे ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना; अमेरिकन सन्धि व्यवस्था आदि। इन नीतियों के पीछे किसी प्रकार का सिद्धान्त नहीं था। बाद में सिद्धान्त शास्त्रियों द्वारा सिद्धान्त की रचना करके इन नीतियों को न्याय-सगत सिद्ध किया गया।[2]

सिद्धान्तों [redacted] दूसरा काम यह है कि विचारों की एक समायोजित व्यवस्था का निर्माण किया जाय जो विदेश नीति को प्रमुख विचारधारा प्रदान कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं द्वारा ऐसे मापदण्डों का निर्माण किया जाता है जिनके आधार पर विदेश नीतियों की आलोचना की जाती है अथवा उनको स्वीकार किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा एक प्रकार के बौद्धिक ढांचे का निर्माण करती है। इस ढांचे में बिठा कर विदेश नीतियों को उचित ठहराया जाता है अथवा उनको विपरीत सिद्ध करके उन्हें छोड़ देने पर जोर दिया जाता है।[3] प्रजातन्त्र के युग में यह आवश्यक समझा जाता है कि शासन द्वारा अपनाई गई विदेश नीति पर लोकमत की स्वीकृति होनी

1. Morgenthau, Hans J , Ibid, P. 105
2 Morgenthau, Hans J , Ibid. P. 113
3 Morgenthau, Ibid P. 114

चाहिए। सिद्धान्त शास्त्रियों को यह ध्यान रखना आवश्यक है कि जो भी सिद्धान्त रचे जाए वे जनमत के अनुकूल होने चाहिए। लोकमत तथा घरेलू राजनीति के दबावों की परिधि में जो सिद्धान्त व्यवहार में लाये जा सकते हैं उन्हीं को राजनीतिज्ञों द्वारा अपनाया जाता है।

विचारधाराओं का एक अन्य कार्य यह है कि उसे एक नवीन विश्व की रचना का आधार प्रस्तुत करना चाहिए। यह कार्य अन्य सबसे अधिक सौजन्यपूर्ण है। आज जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सबधों के रूप में एक तीव्र परिवर्तन दिखाई देता है, अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का यह कार्य करना चाहिए तथा वे इसे कर सकते हैं। इस नवीन विश्व में राष्ट्रीय राज्यों का आपसी सबध आज की भांति ऐसा न होगा कि सशस्त्र संघर्ष का रूप धारण कर ले। यह नया संसार इस प्रकार का होगा कि इसमें सभी देश अपने आपको एक विश्व सरकार के रूप में सगठित कर लेंगे। १७८९ की फ्रांसीसी क्रांति के बाद से अब तक विश्व का झुकाव राजनैतिक सगठन की ओर काफी रहा है। किन्तु इसे सैद्धान्तिक विश्लेषण के आधार पर अनुपयुक्त भी ठहराया जा सकता है। आज अणु शक्ति के विकास ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के रूप तथा दिशा को पूरी तरह से परिवर्तित कर दिया है। विदेश नीति के साधन तथा साध्य भी बदल गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में दो विचारधाराएँ पनपी हैं–एक कल्पनावादी (Utopian) तथा दूसरी यथार्थवादी (Realist)। अणु शक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के रूप पर तथा एक देश के घरेलू कार्यों पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ सकता है। आज अन्तर्राष्ट्रीय विचार धाराओं का यह एक प्रमुख कार्य बन गया है कि इन प्रभावों को कम करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को उसी रूप में समझे जिस रूप में वे हैं। इन्हें चाहिए कि बौद्धिक राजनीतिक तथा सस्थागत उन सभी परिवर्तनों को एक बौद्धिक रूप प्रदान करें जिनको यह क्रांतिकारी शक्ति (अणु शक्ति) स्वयं से प्रभावित करना चाहती है।

एक अन्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का यह है कि उनके द्वारा एक ऐसी ढाल का निर्माण कर देना चाहिए जो विचारशील समुदाय (Academic Community) को राजनैतिक विश्व के साथ समझौता करने से रोक सके। कई बार ऐसा होता है कि विचारकों द्वारा राजनीतिज्ञों के प्रलोभनों में आकर जनता को बौद्धिक स्तर पर गुमराह किया जाता है तथा इस प्रकार राजनीतिज्ञों के तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति की जाती है। यह सब एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव के कारण सम्भव होता है। विचारशील वर्ग द्वारा यह कार्य 'प्रक्रिया सम्बन्धी नियमों व रूपों के निर्धारण' द्वारा सम्पन्न कर दिया जाता

है। इस प्रकार कोरे विचारक राजनीतिक शिखर के नजदीक नहीं आ सकते, उनमें सन्तोष पैदा नहीं हो सकता तथा वे राजनीतिज्ञों से समझौता करने की स्थिति में नहीं रहते। किन्तु दिन प्रतिदिन की राजनीति के बारे में कुछ कहे ही विचारक इस प्रक्रिया द्वारा सिद्धान्तों की सामान्यता करके ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं तथा उनको किसी प्रकार का राजनीतिक परिणाम भुगतने की आशंका नहीं रहती। कुछ विचारकों ने इसे एक आवश्यक बुराई माना है। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन करते समय 'सिद्धान्तों के सिद्धान्तों' को जानना एक दुर्भाग्यपूर्ण आवश्यकता बन जाती है।[1] इस आवश्यकता का कारण यह है कि जब तक हम यह न जानें कि एक विचारधारा या सिद्धान्त का आधार क्या है तब तक उसके सही स्वरूप का विश्लेषण करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं।

इस प्रकार राजनैतिक सिद्धान्तों के कार्यों की आलोचकों ने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से विवेचना की है।

अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं के उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण कार्यों की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि सिद्धान्त शास्त्रियों को कुछ विशेष बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रथम बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त को समय की समस्याओं से अपने आपको समायोजित रखना चाहिए। कोई भी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अंधेरी कोठरी में बैठकर नहीं रचा जा सकता। रचयिता को समस्याओं के वास्तविक एवं व्यावहारिक रूप से निकट का परिचय होना चाहिए। उसे प्रतिदिन के विश्व की परिस्थिति एवं आवश्यकताओं के उपयुक्त होना चाहिए। केवल कल्पनाओं पर आधारित कोई भी सिद्धान्त आने वाली पीढ़ी पर प्रभाव नहीं रख सकता। जो सिद्धान्त समय के अनुरूप नहीं होता वह अनुपयोगी एवं अव्यावहारिक बन जाता है तथा उसे अन्तर्राष्ट्रीय पटल से हटा दिया जाता है। कोई भी देश केवल उसी विचारधारा को अपनायेगा जो उसके लिए व्यावहारिक दृष्टि से लाभप्रद हो।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सिद्धान्त शास्त्री आवश्यक नैतिक गुणों से परिपूर्ण हो अर्थात उसमें सत्य की व्याख्या करने के लिए यथोचित साहस होना चाहिए। उसे लोक महत्त्व के विषयों पर अपनी स्वतन्त्र राय प्रकट करने में कोई संकोच या डर नहीं करना चाहिए। उसे निष्पक्ष भाव से समय की समस्याओं पर विचार करना चाहिए। इस गुण से सम्पन्न

1 Kalaus Knore & Sidney Verba (ed), The International System, P. 2.

लोग कम होते हैं, यही कारण है कि दार्शनिक एवं सिद्धान्त शास्त्रियों की संख्या प्रत्येक युग में अंगुलियों पर गिने जाने योग्य होती है। सिद्धान्त शास्त्री को अतीत काल में उसी समस्या के ऊपर अन्य विचारकों द्वारा किये गये प्रयासों से भी लाभ उठाना चाहिए। दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह सदैव ही हानिप्रद होते हैं। उसे समस्या से सम्बन्धित सभी आवश्यक तथ्यों का संकलन करना चाहिए। उसे एक समस्या पर विचार करते समय एक देश विशेष से प्रारम्भ कर सम्पूर्ण विश्व को अपने अध्ययन का विषय बना लेना चाहिए।

(5) तीसरे, सिद्धान्त-शास्त्री को घटनाओं का केवल वर्णन करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। उनका बौद्धिक विश्लेषण करके कुछ निष्कर्षों पर पहुँचना चाहिए। सिद्धान्तों का निर्माण करते समय इतिहास से भी यथोचित सहायता प्राप्त करनी चाहिए। पहली पीढ़ियों एवं शताब्दियों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान भी इस दृष्टि से अनुपयुक्त न रहेगा।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों को वर्तमान परिस्थितियों को समझने का कार्य करना चाहिए अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्थित घटनाओं की व्याख्या करनी चाहिए तथा भविष्य के लिए तैयारी करने तथा भविष्यवाणी करने का कार्य करना चाहिए। यह सोचना अयथार्थ होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्त भी उतनी निश्चित भविष्यवाणी का आधार बन जायेंगे जितना कि भौतिक विज्ञान होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों को भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में होने वाले परिवर्तनों को देखना चाहिए तथा उनके लिए मार्ग-दर्शन भी करना चाहिए।

आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जो अनेक विचारधारायें देखने को प्राप्त होती हैं उनका जन्म आधुनिक काल की ही देन है। पहले इनका अस्तित्व नहीं था। इनके अभाव के लिए उत्तरदायी कई एक तत्व हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के अभाव के कारण
(Reasons of the Lack of International Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के क्षेत्र में सिद्धान्तों का आगमन इतने पीछे जाकर हुआ, इसके कई कारण हैं। वाइट महोदय (Wight) के विचारानुसार अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत बहुत कम हैं; जो ही जो हैं उनमें बौद्धिकता और नैतिकता की मात्रा थोड़ी है। इसके कारण आन्तरिक हैं। अतीतकाल के सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्यों में वृद्धि का जो स्तर तथा दिशा रह सकती थी उसमें केवल इसी प्रकार के सिद्धान्त सम्भव थे।

सिद्धान्तों के अभाव का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण विचारकों में 'दार्शनिक दृष्टिकोण की प्रधानता' था। जब विचारक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विभिन्न समस्याओं एवं विषयों पर विचार करते थे तो उनके निष्कर्ष एवं प्रतिक्रियायें सामान्यीकरण के रूप में होते थे। आज से कुछ समय पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर कोई उल्लेखनीय सिद्धान्त नहीं थे और न ही किसी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सिद्धान्तों की न्यूनता का अनुभव किया था। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के जन्म एवं विकास के लिए अनुकूल उपयुक्त भूमि उस समय भी तैयार थी। जिस तरह इतिहास के प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अस्तित्व है तथा विदेश नीति के तत्त्व हैं उसी तरह उस समय भी अच्छी व बुरी विदेश नीति के तदनुरूप परिणाम प्राप्त हुआ करते थे। विदेश नीति की सफलता व असफलता अपने आप में महत्त्व रखती थी। इन स्थितियों के होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की रचना नहीं की गई लेकिन इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि प्लेटो, अरस्तू, हॉब्स या लॉक संकुचित दृष्टिकोण के थे और इसीलिए वे इस कार्य को नहीं कर सके। मार्गेन्थो महोदय ने अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की वर्तमान समय तक रचना न होने के कारणों का वर्णन किया है। वे दार्शनिक प्रवृत्ति के प्रभाव को इसका एक मूल कारण मानते हैं। उनके विचारानुसार अब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का केवल इतिहास ही रहा उसके कोई सिद्धान्त न बन सके—इसका प्रथम कारण वह दार्शनिक दृष्टिकोण है जिसका प्रभाव नेपोलियन-युद्धों के अन्त तक रहा। उस समय तक राष्ट्रों के सम्बन्धों को एक स्वाभाविक तथ्य माना जाता था जिसे परिवर्तित करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। यह समझा जाता था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध वैसे ही होंगे जैसा कि किसी देश विशेष का इतिहास एवं उसकी परिस्थितियाँ उन्हें बनायेंगी। ये चीजें किसी विचारधारा से प्रभावित न होकर मनुष्य की प्रकृति से सञ्चालित होती हैं, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा की रचना की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया। इस दृष्टिकोण का फल यह हुआ कि राजनैतिक विचारधाराओं को महत्त्व मिला। राजा के स्वरूप एवं वैधानिक स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। जिस प्रकार धर्म को अफीम का रूप बताते हुए मार्क्स ने कहा था कि जब मजदूर वर्ग अपने दुःखों तथा शोषण का कारण अपने भाग्य को और उससे छुटकारा दिलाने वाला ईश्वर को मान लेते हैं तब वे स्वयं प्रयत्नहीन बन जाते हैं, उनके सोचने की शक्ति रुक जाती है। मार्क्स का यह कथन अक्षरशः यहाँ पर भी लागू हुआ। जब यह सोचा गया कि राष्ट्रों के सम्बन्ध मनुष्य की शक्ति से बाहर हैं, मनुष्य चाहे तो भी उनमें

सुधार नहीं कर सकता तो स्वतः ही अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत जैसा विषय बौद्धिक विवेचनाओं के क्षेत्र मे कोई स्थान न पा सका। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतो के विकास के लिए यह आवश्यक है कि यह न माना जाय कि राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध किसी अन्य शक्ति द्वारा निर्धारित किये जाते हैं, बल्कि वे तो मनुष्य पर थोपे जाते हैं, मनुष्य को उन्हें स्वीकार करना चाहिए तथा जहा तक हो सके उन्हें उसी रूप मे सहन करना चाहिए। इसके विपरीत सोचना यह चाहिए कि राष्ट्रो के मध्यवर्ती सम्बन्ध मनुष्यो द्वारा निर्मित किये जाते है और इसलिए मनुष्य उन्हें अपनी इच्छा से ही सशोधित, परिमित व परिवर्तित कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के द्वारा तो एक ऐसा आदर्श प्रदान किया जाता है जिसे अपना कर एक देश आसानी से अपने हितों की प्राप्ति कर सके। यह व्यवहार का एक विकल्प प्रस्तुत करती है। किन्तु यदि कोई रूढ़िवादी देश अपने परम्परागत व्यवहार को अपरिवर्तनीय मान कर इस विकल्प को ही महत्व न दे तो उसके लिए विचारधारा का कोई महत्व नही रह जाता।

अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के देर से उदित होने का दूसरा कारण यह है कि १९वीं व बीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी मे सैद्धान्तिक विचारो के क्षेत्र मे सुधारवादी प्रवृत्ति का जोर था। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को समझने का प्रयास नही किया गया बल्कि वैधानिक सगठनो एवं संस्थाओं की स्थापना करके उन्हें दबाने का प्रयत्न किया गया। शक्ति राजनीति (Power Politics) को जो विदेश नीति का आधार स्तम्भ है, घृणित दृष्टि से देखा जाता था और एक बुराई माना जाता था—जिसे समझने की अपेक्षा मिटा देना ही उचित था। उदाहरण के लिए, हम प्रथम विश्व युद्ध के समय व उसके बाद वुडरो विल्सन की स्थिति एवं उसके कार्यों को ले सकते हैं। हम देखेंगे कि विल्सन (Wilson) शक्ति सतुलन (Balance of Power) के प्रभावों को समझने मे रुचि नहीं लेते थे वरन् उससे छुटकारा पाने की तलाश मे अधिक थे। वे अन्तर्राष्ट्रीय सबधों का इस रूप मे सुधार करना चाहते थे कि किसी को शक्ति सतुलन पर निर्भर रहने की आवश्यकता ही न रहे। इस प्रकार अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो एव विदेश नीति के क्षेत्र मे एक निषेधात्मक दृष्टिकोण का बोलबाला था। ऐसी स्थिति मे बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से अतर्राष्ट्रीय समस्याओं को विषयगत तथा व्यवस्थित रूप मे देखना असम्भव था।

एक तीसरा कारण और भी था जिसने कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं (International Theories) के जन्म तथा विकास को पूर्णतः

प्रारम्भ तो नहीं बनाया किन्तु इनके विकास तथा उपयोग को बुरी तरह जकड़ लिया। यह कारण राजनीति का राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय रूप में पाया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर होने वाली प्रत्येक घटना को राजनैतिक रंग दे दिया जाता है और इस प्रकार उसको किसी विचारधारा के आधार पर विश्लेषित करने या समझने का मार्ग रुक जाता है। राजनैतिक कार्यों में बौद्धिक तत्व समाहित रहता है—इस कारण राजनीति सैद्धान्तिक विश्लेषणों के प्रति सन्देह की दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर देती है। इसके अतिरिक्त राजनीतिक क्रियाएं बहुत कुछ अनिश्चित तथा अस्थायी रूप से चलती रहती हैं। उनके बारे में किसी सिद्धान्त की रचना करना बड़ा कठिन बन जाता है। जब राजनैतिक घटनायें होती हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूर्णतः नवीन हैं तथा पहले कभी नहीं घटी थी और न घटेंगी। किन्तु दूसरी दृष्टि से वे समान हैं क्योंकि वे सामाजिक शक्तियों से प्रभावित होती हैं। सामाजिक शक्तियां वस्तुतः मानवीय प्रकृति का परिणाम हैं। अतः समान परिस्थितियों में वे समान रूप से प्रभाव डालेंगी। किन्तु समस्या तो यह है कि इस सामान्यीकरण (Generalisation) एवं विशेषीकरण के बीच कोई विभाजक रेखा खींचने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है और इसी कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निश्चित सिद्धान्तों का निर्माण नहीं हो पाता। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त परिस्थिति, समस्या विशेष तथा अन्य सामाजिक तत्वों से प्रभावित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, भारत के सामने काश्मीर की समस्या है। इसे सुलझाने के लिए मान लो हमारे पास चार विकल्प हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त भारत को यह मार्ग दर्शन करा सकते हैं कि एक विकल्प विशेष को अपनाने के परिणाम क्या क्या हो सकते हैं, साथ ही वे उन परिस्थितियों को बता सकते हैं जिनमें एक विकल्प विशेष का अपनाया जाना तथा सफलता प्राप्त करना सम्भव है। सिद्धान्त उसे यह भी बता सकते हैं कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में एक विकल्प को दूसरे की अपेक्षा प्राथमिकता देनी चाहिए। किन्तु ये सभी सैद्धान्तिक विश्लेषण या तो उन तत्वों पर निर्भर करते हैं जो हमारी जानकारी के बिना ही घटित होते हैं अथवा जो ऐसे परिणाम हैं जिनके बारे में हमने सोचा भी न था। यहीं आकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर सैद्धान्तिक विचार विमर्श रुक जाता है। विचारधारा (Theory) विभिन्न विकल्पों की ओर इशारा कर सकती है तथा उनकी आवश्यक पूर्व परिस्थितियां एवं उनके परिणामों को स्पष्ट कर सकती है। यह उन परिस्थितियों को बता सकती है जिनमें होने पर विकल्प अधिक फलदायी बन सकता है। किन्तु यह थोड़े बहुत निश्चय के साथ भी यह नहीं

बता सकती कि कौन सा विकल्प सही है तथा वह निश्चय ही अपनाया जायेगा।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों के निर्माण एवं स्वीकृति के मार्ग की बाधायें
(Problems of Building and Confirmation of International Theory)

अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के निर्माण के मार्ग में व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक अनेक समस्याएं आती हैं। किसी भी विचारक के लिए यह एक असम्भव कार्य होगा कि वह अपनी विचारधारा (Theory) में इतिहास में दुर्घटनाओं के कार्य, विशेष व्यक्तिगत सम्बन्धों का प्रभाव एक प्रभावशाली शक्ति-सम्पन्न विचारधारा (Ideology) का प्रभाव आदि बातों को भी समाविष्ट कर सके। अनेकों सम्मिलिष्ट तत्व होते हैं, जिनको ध्यान में रखकर ही एक पूर्ण तथा प्रभावशाली सिद्धान्त का निर्माण किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारक जब कोई विचारधारा बनाने लगते हैं या किसी विचारधारा को स्वीकृत बनाने का प्रयास करते हैं तो उनके सामने अनेक समस्याएं आती हैं जिनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

(१) सामान्यीकरण की समस्या

सामान्यीकरण किये बिना किसी प्रकार का बौद्धिक चिन्तन असम्भव होता है तथा जहां विषय संलिष्ट होते हैं वहां चिन्तन का रूप स्वतः ही सिद्धान्त का रूप धारण कर लेता है। कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त उतने सत्य नहीं होते जितने कि भौतिक विज्ञानों के सिद्धान्त होते हैं। किन्तु ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यूनानियों से लेकर गैलिलियों के समय तक भौतिक विज्ञान भी इतने निश्चित न थे जितने कि अब हैं। यह परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के क्षेत्र में भी हो सकता है। भौतिक विज्ञानों में सुनिश्चितता की स्थापना करने वाले तत्व मुख्य रूप से दो हैं। प्रथम तो यह है कि वे साधारण समस्या को ही अपने अध्ययन का विषय बनाती हैं जिनका एक निश्चित तथा सीमित क्षेत्र होता है। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने केवल उन समस्याओं को अपने अध्ययन का विषय बनाया है जिनका समाधान करने के लिए उसके पास साधन मौजूद हैं। अपने अध्ययन के क्षेत्र को यदि आवश्यक हुआ तो यह कम भी कर सकता है। भौतिक

1. Morgenthau, Hans J., Ibid , Pp 10–11

सङ्गठन औपचारिक एवं स्थायी होते हैं किन्तु अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर आकर राजनैतिक सङ्गठन अनौपचारिक होता है, उदाहरण के लिए अंतर्राष्ट्रीय सन्धियों को लिया जा सकता है। राष्ट्रीय स्वार्थ को ध्यान में रखकर जो समझौते, सधियां सौदेबाजियां आदि की जाती हैं वे केवल तभी तक स्थिर रहती हैं जब तक उन देशों का स्वार्थ उनसे पूरा होता रहे। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से महत्वहीन एवं अनुपयोगी होने पर इनको तुरंत ही तोड़ दिया जाता है। केवल औपचारिकता के नाम पर इनको बनाये रखने की परम्परा नहीं है।

(४) घटनातत्वों की समस्या

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाली घटनायें एकाकी नहीं होती उनके पीछे कारण के रूप में अनेक तत्व वर्तमान रहते हैं। उन तत्वों को समझे बिना उस घटना को भी समुचित रूप से नहीं समझा जा सकता। उदाहरण के लिए वर्तमान विश्व में स्थित शक्तियों के आपसी सबंध को यदि हम समझना चाहें तो यह आवश्यक है कि उन देशों की सैनिक सामर्थ्य, अंतर्राष्ट्रीय संधियां, राजनैतिक सम्पर्क, विश्व के अन्य राष्ट्रों की उनके प्रति भावनायें आदि बातों पर विचार किया जाय। उन देशों की आन्तरिक राजनीति को जानना भी आवश्यक होगा क्योंकि आंतरिक राजनैतिक एवं आर्थिक आवश्यकताएं एक राज्य की विदेश नीतियों को बहुत कुछ प्रभावित करती हैं।

(५) तुलनात्मक अध्ययन की समस्या

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसमें विद्यार्थी को विभिन्न घटनाओं की एक ही समय में तुलना करने का अवसर प्राप्त नहीं होता। आज की एक घटना का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए हमको भूतकाल में कोई वैसी ही घटना ढूंढनी पड़ेगी और यह आवश्यक भी नहीं है कि जो घटना हमें मिले उसके पीछे भी वही कारण हो जो प्रस्तुत घटना के पीछे है।

अंतर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों के पीछे उक्त समस्याओं एवं कठिनाइयों के होने पर हमें केपलन (Kaplan) महोदय के शब्दों को दुहराते हुए कहना पड़ेगा कि 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान की भांति भविष्यवाणी या स्पष्टीकरण करने की शक्ति प्राप्त कर लेगी' यह आशा हम छोड़ देनी चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधाराओं का विकास अपने आप में एक क्रम रखता है। प्रारम्भ में विचारधारा को अंतर्राष्ट्रीय सबंधों के अध्ययन में इतना अधिक

महत्व नही दिया जाता था। थाम्पसन महोदय के कथनानुसार अतर्राष्ट्रीय राजनीति को चार विभिन्न स्तरो मे होकर गुजरना पडा है।

सिद्धान्तो के विकास की चार सीढियां (Four Steps of Theory Orientation)

थाम्पसन (Thompson) महोदय ने बतलाया है कि सबसे पहले स्तर मे प्रथम विश्व युद्ध व उससे पहले इस क्षेत्र में किये गये अध्ययनों को समाहित किया जा सकता है। इस काल में अतर्राष्ट्रीय सबधो को कूटनीतिक इतिहास के रूप में लिखा जाता था। ऐतिहासिक अनुसधान एव प्रमाणों को अधिक महत्व दिया जाता था। घटनाओं का केवल वर्णन कर दिया जाता था, तथा इस बात को नहीं देखा जाता था कि अतर्राष्ट्रीय व्यवहार के सामान्य ढाचे में वे किस प्रकार समायोजित होती हैं। घटनाओ के आधारपर सामान्य अथवा सार्वभौमिक सिद्धात निकाले जा सकते हैं, यह विचार उस समय उपेक्षित था।

अतर्राष्ट्रीय सबधो के अध्ययन की दूसरी सीढी दो विश्वयुद्धो के बीच के समय को माना जाता है। इस समय नवीन एव तात्कालिक घटनाओ का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढने लगी। विचारक एव अध्ययनकर्ता उन घटनाओ का तात्कालिक महत्व वर्णित करने मे रुचि दिखाने लगे। युद्ध के बाद की समस्याओ की तुलना युद्ध से पूर्व ही उसी प्रकार की समस्याओं से की जाने की आदत को भुलाया जाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसा कोई स्थिर तथा सुनिश्चित आधार न रहा जिस पर वर्तमान काल की घटनाओ का इतिहास से सबध जोडा जा सके।

अतर्राष्ट्रीय सबधो के क्षेत्र मे एक नया मोड तब आया जब उन्हें कानून और सङ्गठन के सहारे संस्थापक रूप देने का प्रयास किया जाने लगा। राष्ट्रसघ की स्थापना एव शक्ति सतुलन के सिद्धात के तिरस्कार के साथ ही इस मान्यता को विशेष महत्व दिया जाने लगा। यह समझा जाने लगा कि विश्व सस्था बन जाने पर सभी समस्याओं और सघर्षों का स्वय ही लोप हो जायगा। इस प्रकार के विचारों ने विषयगत एवं बौद्धिक अध्ययन (Subjective and Rational Study) के विकास की धारा को अवरुद्ध कर दिया। इस क्षेत्र मे भावना एव सुधारवादी प्रवृत्तियो का प्रभाव बढ़ने लगा। इस समय अतर्राष्ट्रीय सबधों के अध्ययन मे आशावाद तथा आदर्शवाद का बोलबाला था। बौद्धिक अनुसधानों का मुख्य विषय अतर्राष्ट्रीय कानून

तथा सगठन बना रहा। इसके अतिरिक्त इस समय अतर्राष्ट्रीय सबधो का अध्ययन करते समय अतर्राष्ट्रीय सबधों एव नवीन उद्भावनाओ को नैतिकता की कसौटी पर कसा जाता था। एक सामान्य प्रवृत्ति इस काल के विचारकों की यह थी कि शाति एव व्यवस्थापूर्ण विश्व की स्थापना के लिए वे विश्व सरकार की स्थापना मे विश्वास करते थे। मार्गेन्थो (Morgenthau, Hans, J) महोदय के कथनानुसार इस काल की विचारधाराओं का सबध अतर्राष्ट्रीय सबधो की प्रवृति को समझना नहीं था वरन् विकासशील कानूनी सस्थाओ व सगठनो से था। इस प्रकार तत्कालीन स्थिति में अतर्राष्ट्रीय सबधो के प्रकारो को गौण बना दिया गया।

१६३० तक के अतर्राष्ट्रीय सबधो पर जिन विचारधाराओं का बोल-बाला था, उनमे वास्तविकता के कठोर सत्यो की अवहेलना करके विश्व सरकार, सगठन और कानून के महत्वपूर्ण आदर्शों पर जोर दिया गया। इस काल मे किसी सुव्यवस्थित सामान्य सिद्धात की उद्भावना का प्रश्न ही नहीं उठा।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्र सघ का जन्म होने पर यह समझा जाने लगा कि अब विश्व एक प्रकार से कानून के अधीन हो गया है किंतु इस काल के अध्यापकों, शोध-कर्तामो एव कार्यकर्ताओं मे अतर्राष्ट्रीय सबधो को देखने के दृष्टिकोण मे अतर आ गया। अब उनका दृष्टिकोण वैधानिक अथवा सस्थागत होने की अपेक्षा राजनैतिक अधिक था। अतर्राष्ट्रीय सबधो के अध्ययन की यह चौथी सीढी है। इस काल मे उन शक्तियो एव प्रभावो का अध्ययन करना भी प्रारम हो गया जो राज्यो के वैदेशिक व्यवहार को मर्यादित एव प्रभावित करते हैं। उन प्रवृत्तियो एव साधनो को देखा जाने लगा जिनके द्वारा राज्य अपनी विदेश नीति का सचालन करता है। उन तरीकों एव प्रक्रिया को खोजा जाने लगा जिनके द्वारा राष्ट्रो के मतभेदो एव मनमुटावों को मिटाया अथवा समायोजित किया जा सके।

इस प्रकार अतर्राष्ट्रीय सबधो के अध्ययन का स्वरूप अब आदर्शवाद न रहकर वास्तविकता के अधिक निकट आ गया। अतर्राष्ट्रीय व्यवहार पर प्रभाव डालने वाले आर्थिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक आदि तत्वो का भी अध्ययन किया जाने लगा। फिर भी राजनैतिक पहलू को महत्वपूर्ण माना गया। अतर्राष्ट्रीय सबधो पर एकीकृत सिद्धातो (Integrated Theories) का निर्माण किया जाना प्रारम्भ हो गया।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सामान्य विचारधारा
(General Theory In International Field)

सामान्य विचारधारा वह होती है जो समान परिस्थितियां उत्पन्न होने पर सभी देशों द्वारा अपनाई जा सके। अंतर्राष्ट्रीय जगत में सामान्य सिद्धांतों का परिमाण अधिक नहीं है। सम्भवतः इसी कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को सैद्धांतिक आधार पर समझना उतना संभव नहीं है जितना अन्य सामाजिक विज्ञानों में होता है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के ऊपर समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा विचार प्रकट किये जाते हैं किंतु ये विचार इतने एक-पक्षीय तथा सीमित होते हैं कि इनके माध्यम से स्थिति के पूर्ण रूप को नहीं समझा जा सकता। इन एकपक्षीय सिद्धांतों में वह सामर्थ्य नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के वास्तविक व्यवहार का चित्र हमारे सामने रख सके। भूतकाल में इन सिद्धांतों का निर्माण एक विशेष हित रखने वाले समुदाय के लिए किया गया था जैसे सैनिक समुदाय, कूटनीतिज्ञ, न्यायविद् (Jurist), क्रांतिकारी राजनीतिज्ञ, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी साम्राज्यवादी, शांतिवादी, शिक्षक तथा अन्य। क्विन्सी राइट के मतानुसार 'क्रांतिकारी राजनीतिज्ञ के लिए रचे गये सिद्धांतों का शांतिवादी व अन्तर्राष्ट्रीयतावादी लोगों के लिए कोई महत्व नहीं होगा। इन सिद्धांतों के निर्माता भी इतिहासकार, भूगोलशास्त्री, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, नीतिशास्त्री आदि थे। इन्होंने केवल विशेष तथा संकुचित दृष्टिकोण से ही वस्तुस्थिति को परखा और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के सम्पूर्ण चित्र को अंकित करने में सफल न हो सके।

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक सामान्य सिद्धान्त की आवश्यकता को कई दृष्टियों से स्वीकार किया जा रहा है। कहा जाता है कि सामान्य सिद्धान्त राजनीतिज्ञों की सहायता करेगा। जिन लोगों को विदेश नीति के सम्बन्ध में निर्णय लेने होते हैं उनके पास प्रदर्शक के रूप में एक ऐसे सिद्धान्त का होना आवश्यक है जो उनके लक्ष्य तथा साधनों की समुचित व्याख्या कर सके। राजनीति अथवा निर्णयों के निर्माता (Decision maker) के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में कूटनीतिज्ञों, सैनिकों, कानून वेत्ताओं, अर्थशास्त्रियों, उपनिवेशीय प्रशासकों, अन्तर्राष्ट्रीय लोकसेवकों आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त का कार्य है कि इन सभी को विशेषज्ञ परामर्श (Expert advice) प्रदान करे। इसके अतिरिक्त सामान्य सिद्धान्त (General Theory) का एक महत्वपूर्ण कार्य है नागरिकों को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का समुचित ज्ञान कराना। आज प्रजातन्त्र का

युग है तथा प्रत्येक व्यक्ति विदेश नीति के निर्णयों पर अपना प्रभाव डालना चाहता है। किन्तु कोई प्रभाव डालने से पूर्व आवश्यक है कि व्यक्ति को उस विषय का ज्ञान हो। सामान्य सिद्धान्तों का एक सबसे बड़ा उपयोग यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शोध कार्य को आसान बना देता है।

सामान्य सिद्धान्त का अर्थ व स्वरूप

सामान्य सिद्धान्त का अर्थ बताते हुए क्विन्सी राइट ने लिखा है कि यह ज्ञान का वह रूप है कि जो विस्तृत, समझने योग्य, सम्बद्ध तथा आत्म शोधक हो तथा साथ ही इससे जानकारी, भविष्यवाणी, मूल्यांकन, विश्व के राज्यों के आपसी सम्बन्धों के तथा विश्व की परिस्थितियों के नियन्त्रण को कुछ योग-दान मिल सके।[1] मि० राइट के विचारानुसार इन समस्त गुणों से युक्त सिद्धान्त को प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है।

मि० राइट द्वारा दी गई उक्त परिभाषा मे प्रकृति एव उद्देश्य की दृष्टि से सामान्य सिद्धान्त की जिन विशेषताओं की ओर निर्देश किया गया है वे निम्न प्रकार हैं —

सामान्य सिद्धान्त की प्रकृति एव उद्देश्य

सामान्य सिद्धात में किसी एक विषय की व्याख्या नहीं होनी चाहिए। इसमे अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के सभी पहलुओं पर विचार करना चाहिए। उदाहरण के लिए शांतिपूर्ण एव युद्ध-सम्बन्धी, सहकारिता पूर्ण व परस्पर विरोधी, सार्वभौमिक तथा क्षेत्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक इत्यादि। सामान्य सिद्धात उलझा हुआ व विस्तृत नहीं होना चाहिये। विस्तृत सिद्धान्त प्रायः उलझनपूर्ण होता है और उलझन के कारण वह अपने उन गुणों से वंचित रह जाता है जिनकी उससे आशा की जाती है। यह ऐसे सामान्यीकरणों में अभिव्यक्त किया गया हो जो समझ मे आने योग्य हों, संगठित हों तथा कम से कम हो। मूल बात को बढ़ा-चढ़ा कर कहने की अपेक्षा उसे उसी रूप मे प्रस्तुत कर दिया जाय। अत्यधिक संक्षेप भी कई बार अस्पष्टता का कारण बन जाता है किन्तु फिर भी आवश्यकता से अधिक स्पष्टीकरण में विरोधाभास या असंगतियां पैदा होने का डर रहता है।

---

1. Wright, Quincy, The study of International Relations, PP. 498 ff.

सामान्य सिद्धांत के निष्कर्ष एक तार्किक विश्लेषण के सहज व स्वाभाविक परिणाम होने चाहिए। इसका प्रत्येक भाग एक दूसरे से सम्बंधित तथा समायोजित हो तथा उनमे परस्पर विरोध न हो। इसके अतिरिक्त सामान्य सिद्धांत मे स्वय की कमियो को पूरा करने तथा स्वय के दोषों को दूर करने की भी सामर्थ्य होनी चाहिए। क्योंकि सामाजिक विज्ञानो के क्षेत्र मे किसी का यह सोचना गलत होगा कि उसके निष्कर्ष अन्तिम सत्य हैं तथा हमेशा ही रहेंगे। इसलिए आवश्यक है कि समय एव परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ही उनके रूप मे यथोचित परिवर्तन कर दिये जाय।

सामान्य सिद्धांत का प्रमुख लक्ष्य यह होना चाहिए कि वह जनता और राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क मे बहुत काल पहले जमे हुए उन विचारों को खुरच दे जिनका आज की परिस्थितियो मे कोई महत्व नही रह गया है। इसके अध्ययन का रूप वस्तुगत (Objective) होना चाहिए क्योकि सत्यता एव तथ्यपूर्णता के लिए ऐसा होना जरूरी होता है। इस अर्थ मे सामान्य सिद्धांत का अंतर्राष्ट्रीय राजनीति मे वही कार्य है जो खगोल शास्त्र के क्षेत्र मे कापरनिकस ने किया था। सामान्य सिद्धांत को ऐसे मार्गों को प्रदर्शित करना चाहिए जिनमे भविष्य के शासक तथा अध्ययनकर्ता आगे बढ सकें और इस क्षेत्र मे अपना अनुदान प्रदान कर सकें। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नवीन विचारों का स्वागत होना चाहिए क्योकि वे भी उतने ही मूल्यवान हैं जितने कि हमारे स्वय के। नवीन विचारो के सदर्भ मे यदि समय समय पर अपने मतो एव धारणाओं को भी संशोधित कर लिया जाये तो उचित रहेगा।

अंतर्राष्ट्रीय सिद्धांत का दूसरा लक्ष्य अंतर्राष्ट्रीय सम्बधो के क्षेत्र मे भविष्यवाणी करने के कार्य को संभव बनाना है। इसके लिए यह जरूरी है कि कारण कार्य के सम्बंध को उचित रूप से बैठाया जाये। इसका स्वरूप वैज्ञानिक होना चाहिए। 'इन परिस्थितियों के होने पर यह कार्य होगा' अथवा 'ऐसा करिये ऐसा हो जायगा' आदि कहने की सामर्थ्य इसमे होनी चाहिए किंतु प्रायः यह अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार मे सम्भव नही हो पाता। इसके अनेक कारण हैं जैसे कि मानवीय व्यवहार एकसा नहीं होता, अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं की तुलना नही की जा सकती, हम अपनी परिकल्पनाओं पर प्रयोग नहीं कर सकते आदि। फिर भी कुछ बातों पर कुछ मात्रा मे भविष्यवाणी की जा सकती है और हमे अवश्य ही इस प्रवृत्ति को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए।[1]

1. Quincy Wright, A study of war, 1942 Pp 681, 717

अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सिद्धांत का तीसरा लक्ष्य परिस्थिति का मूल्यांकन करना है। इसका यह कार्य है कि आवश्यकता के समय लोगों को केवल तथ्यों का ज्ञान कराने की अपेक्षा यह भी बताये कि उनके लिए अच्छा क्या है। इसी अर्थ में प्लेटो कहा करता था कि समय पर राजनीतिज्ञ को सज्जनतापूर्ण झूठ (Noble lies) भी बोल देनी चाहिए। इस दृष्टि से सत्य का मापदण्ड प्रमाण अथवा बुद्धि नहीं है वरन् इसका व्यावहारिक प्रयोग है। हमें जनता से जो कराना है तथा जिन सिद्धान्तों को ग्रहण कराना है उनका उद्देश्य बताते समय कूटनीति से काम लेना आवश्यक बन जाता है। सामान्य जनता बालक-बुद्धि से काम करती है। यदि बालक से आप कहें कि 'वह अध्ययन में रुचि ले, इससे व्यक्तित्व का विकास होगा' तो इस कथन का व्यावहारिक प्रभाव इतना न होगा जितना कि यह कहने पर कि "वह अध्ययन करेगा तो उसे मिठाई व खिलौने दिये जायेंगे।" यद्यपि दोनों परिस्थितियों में अध्ययन का लक्ष्य व्यक्तित्व का विकास ही है। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त के अध्ययन का विषय है मनुष्य तथा उसके समुदाय। मनुष्यों के जीवन के कुछ मूल्य होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सिद्धान्तों को उन मूल्यों के समायोजन में ही अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए वरना मनुष्य जिन मूल्यों को महत्व देता है उनकी सुरक्षा के लिए वह सिद्धान्तों को तिलाञ्जलि दे सकता है। कुछ विचारकों का मत है कि समाज विज्ञान शास्त्रियों को केवल तथ्यों व प्रमाणों से सम्बन्ध रखना चाहिए 'मूल्यों' से नहीं। किन्तु जैसा कि मि. राइट का मत है—सामाजिक विज्ञान 'मूल्यों' की अवहेलना नहीं कर सकते, यह तो इनका मूल तत्व होता है।

चौथे अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त को यह बताना चाहिए कि क्या होने को है, यह बताना चाहिए कि क्या होना अच्छा है तथा साथ ही सरकार व जनता को जो अच्छा है उसे बनाये रखने के लिए निर्णय लेने में सहायता देनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर सरकारें तब तक नियन्त्रण नहीं रख सकती जब तक कि उन्हें साफ साफ यह पता न हो कि वे ऐसा क्यों करना चाहती हैं। कोई निर्णय लेने से पूर्व हमारे सामने कुछ मूल्यों का रहना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सिद्धांत इस प्रकार के मूल्यों की प्राप्ति में सहायता करते हैं।

पांचवें, अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण कार्य आज यह भी है कि विश्व समुदाय की परिस्थितियों को परिवर्तित करने के लिए वह प्रयास करे। आज का युग सम्प्रभु राष्ट्रीय राज्यों की स्थिति में परिवर्तन की मांग करता है। वह विश्व समाज तथा विश्व सरकार की स्थापना चाहता

है। सामान्य सिद्धांतों का यह कर्तव्य बन जाता है कि समय की इस आवश्यकता व युग की इस मांग को ध्यान में रख कर ही आगे बढ़े।

ऊपर बताये गये उद्देश्य एवं तत्वों को अपने-आप में धारण करने वाला कोई अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत हो सकेगा ऐसी आशा नहीं है। उपर्युक्त सभी विशेषताएं एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत का चित्रण करती हैं। सिद्धांत शास्त्रियों का यह प्रयास होना चाहिए कि वे अपने सिद्धांतों में इन विशेषताओं को अधिक से अधिक समाविष्ट कर सकें। कोई भी सिद्धांत इन विशेषताओं के जितना नजदीक होगा वह उतना ही उपयोगी, श्रेष्ठ एवं वैज्ञानिक माना जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के प्रकार
(Types of International Theory)

जब से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन की ओर राजनीति के मनीषियों का ध्यान गया है तभी से इस क्षेत्र में सिद्धांतों की रचना का कार्य भी प्रारम्भ हो गया। शुरू में तो भूगोल, समाजशास्त्र, इतिहास आदि शास्त्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ छुने हुए विषयों का अध्ययन किया गया। तत्पश्चात अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में घटने वाली महत्वपूर्ण घटनाओं का संकलन होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों का शुभारम्भ तब से माना जा सकता है जब से विचारकों ने सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई के रूप में देखना प्रारम्भ किया है। जैसा कि क्विन्सी राइट (Quincy Wright) का मत है कि विश्व के सम्बन्ध में एक सामान्य धारणा का होना सिद्धांत-निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसके माध्यम से ही तथ्यों का संकलन एवं संगठन किया जा सकता है। विश्व के सम्बन्ध में जिन ५ सामान्य धारणाओं को अब तक स्वीकार किया गया है वे क्विन्सी राइट (Quincy Wright) महाशय के अनुसार निम्न प्रकार हैं—

(१) विश्व : एक विचार अथवा योजना के रूप में
(World as an Idea or Plan)

(२) विश्व : शक्ति सतुलन के रूप में
(World as Equilibrium or Balance of Power)

(३) विश्व : एक संगठन के रूप में
(World as an Organisation)

(४) विश्व समुदाय के रूप में
(World as a Community)

(५) विश्व : एक असलग्न क्षेत्र के रूप में
(World as an Uncommitted Fie'd)

उक्त पांच धारणायें काल क्रम के अनुसार उस समय के विचारकों को प्रभावित करती रही हैं। प्रारम्भिक विचारक विश्व को ईश्वर का एक विचार मानते थे। उनका विश्वास था कि संसार एक नाटक की तरह है जिसका रचयिता एवं निर्देशक ईश्वर है। किस घटना के बाद कौनसी घटना अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर आनी चाहिए इसका निर्णय वही करेगा। बाद में बुद्धिवाद के उदय के साथ साथ यह माना जाने लगा कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दुनिया का निर्माण मनुष्य की बुद्धि से होता है। प्राकृतिक शक्तियों के बीच संतुलन का महत्व देख कर १७वीं शताब्दी में लिसोले (Lisola) तथा १८वीं शताब्दी में डेविड ह्यूम (David Hume) द्वारा शक्ति संतुलन के सिद्धान्तों की रचना की गई। तीसरी धारणा के अनुसार यह माना जाने लगा कि विश्व का ढांचा पूर्व निर्धारित नहीं है यह राजनीतिज्ञों की बुद्धि व जनता के मत (Opinion) के अनुसार अच्छा या बुरा संगठित किया जा सकता है। चौथी धारणा में यह स्वीकार किया गया कि विश्व के विभिन्न भाग एक दूसरे से भावनात्मक रूप से बंधे हुए हैं। विश्व के सभी मनुष्य पिता परमात्मा की संतान और इस प्रकार भाई भाई हैं। यह धारणा अनुभव की कसौटी पर सत्य न ठहर सकी। पांचवीं व अन्तिम धारणा विश्व को अलग-अलग क्षेत्रों (Fields) से युक्त मानती है। इस धारणा के आधार पर मि० राइट (Wright) ने पृथक से क्षेत्र सिद्धांत (Field Theory) की रचना की है अतः इसे विस्तार से देखना उपयोगी होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का क्षेत्र सिद्धांत
(The Field-Theory of International Relations)

इस सिद्धांत की विशद् व्याख्या क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने दी है।[1] यह सिद्धांत मानता है कि संसार विभिन्नताओं से पूर्ण है तथा अत्यन्त संश्लिष्ट (Complicated) है। एक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों

---

1. Quincy Wright : The Study of International Relations, Last chapter.

की मूल्य-व्यवस्था (Value System), सामाजिक संस्थायें (Social institutions) तथा सरकार के रूप (Forms of Govt) उनके अपने होते हैं जो दूसरे क्षेत्र में नहीं अपनाये जा सकते। इन क्षेत्रों में पाये जाने वाली भिन्नताओं को दूर करना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही।

नीतियों को बनाने, निर्णयों को लेने तथा उनको व्यावहारिक रूप देने का काम किसी एक का नहीं होता। इस कार्य में राज्य, सरकार, राष्ट्र और जनता सभी का सहयोग रहता है। आवश्यक नहीं कि एक क्षेत्र की जनता का स्तर वही हो जो वहां सरकार का है। सरकार के अपने कुछ ऐसे मूल्य हो सकते हैं जो जनता के मूल्यों से भिन्न हों तथा जो उस देश की संस्कृति तथा राज्य के कानूनों में समाहित मूल्यों का प्रतिनिधित्व न कर सकें। इन दोनों मूल्यों के बीच संघर्ष होता है—देश में स्पष्टतः दो भाग बन जाते हैं। एक पक्ष में सरकार एवं प्रशासक रहते हैं और दूसरे पक्ष में जनता अथवा प्रशासित रहते हैं। यदि शासन व्यवस्था प्रजातन्त्रात्मक है तो जनता का पक्ष विजयी होगा और यदि तानाशाही है तो शासक या सरकार की मनमानी चलेगी अर्थात् जिसके हाथ में शक्ति है वह दूसरे के मूल्यों को कुचल देगा। क्षेत्र सिद्धांत वालों का दावा है कि उनका सिद्धांत इस दृष्टि से यथार्थ है और दूसरे सिद्धांत यह मानकर चलते हैं कि एक दिन सभी लोग एक प्रकार की विश्व व्यवस्था (World order) पर एकमत हो जायेंगे। क्षेत्र सिद्धांत यह मानता है कि एक 'क्षेत्र' (Field) है, जो हो सकता है भविष्य में कभी मतों (Opinions) के बीच एकता की थोड़ी बहुत स्थापना कर सके किन्तु अभी तो जैसे ही इसके कार्यों की व्यवस्था में तथा उनके आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन होता है, इसमें भी परिवर्तन हो जाता है। एक क्षेत्र के निवासियों के मूल्य, भावनायें एवं लक्ष्य आदि जब तक एक जैसे रहते हैं तब तक तो उनके मतों में भी सामंजस्यता रह सकती है किन्तु ज्यों ही उनके पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आता है त्यों ही उनके बीच मत भिन्नता भी स्थापित हो जाती है। हो सकता है कि 'क्षेत्र' भविष्य में एक समायोजित वैधानिक व्यवस्था बन जाये, एक स्थायी सन्तुलन या एक समर्थ संगठन बन जाये, या कोई सद्भावपूर्ण समुदाय बन जाये किन्तु सिद्धान्त इनमें से किसी को अपना लक्ष्य बना कर नहीं चलता। इस विचारधारा का उद्देश्य यह नहीं है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का दर्शन या उनके व्यवहार की कला का आदर्श (Model) प्रस्तुत करे किन्तु यह तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास की व्याख्या करने अथवा उसे वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास करती है।[1]

---

1 Quincy Wright "Development of a general theory of International Relations," in the role of theory in International Relations, edited by Harrisson, P. 40

मि० राइट का कहना है कि क्षेत्र सिद्धांत को सामान्य सिद्धांत माना जा सकता है। साम्राज्यवादी युग में जिस विचारधारा का प्रभाव था; वह विश्व को एक योजना मान कर चलती थी। राष्ट्रीयतावाद के युग में आकर यह विचारधारा महत्वहीन बन गई तथा इसका स्थान शक्ति सतुलन को महत्व देने वाली विचारधारा ने ले लिया। अन्तर्राष्ट्रीयता वाद के वर्तमान युग में शक्ति-सतुलन के विचार भी प्रसामयिक बन गये हैं और आज विश्व सगठन एव विश्व सरकार की मान्यता को अधिक महत्वपूर्ण माना जा रहा है। प्रो० क्विन्सी राइट का विचार है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र सिद्धांत को अपना लिया गया तो यह कभी भी असामयिक न बनेगा क्योंकि यह परिवर्तन का विरोध नहीं करता वरन् उसको मान कर चलता है तथा अनुकूल समायोजित होने का प्रयास करता है।

खेल तथा सौदेबाजी का सिद्धान्त
(Games and Bargaining Theory)

इस सिद्धांत का प्रतिपादन तथा व्याख्या जिन तीन विद्वानों ने की है उनके नाम हैं—कैपलन (Morton A. Kaplan), बर्न्स (Arthur Lee Burns) तथा क्वाउन्ट (Richard E. Quandt)। इन विद्वानों ने खेल सिद्धांत के आधार पर शक्ति सतुलन (Balance of Power) की सैद्धांतिक व्याख्या दी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए इन विचारकों ने खेलों का माध्यम अपनाया है। इस प्रणाली में अधिक समय, तथा शक्ति की आवश्यकता होती है, नहीं तो अब तक इसका काफी विकास हो गया होता।

यह सिद्धांत उन लोगों के लिए बहुत उपयोगी है जो एक विशेष समस्या पर निर्णय लेना चाहते हैं, जो एक बौद्धिक सिद्धांत चाहते हैं, अथवा जो अपने विकल्पों की तुलनात्मक रूप से उपयोगिता देखना चाहते हैं। युद्ध कौशल के बारे में खेल सिद्धांत बहुत कुछ कहता है तथा एक व्यवस्थित रूप में कहता है। जहां यह सिद्धांत लागू हो जाता है वहां भूलें रहने की सम्भावना काफी कम हो जाती है। खेल सिद्धांत को यदि अच्छी प्रकार समझ लिया जाय तो हम उन समस्याओं को भी जान सकते हैं जिन पर अभी खेल सिद्धांत को लागू नहीं किया गया है।

एक खेल की भांति इस सिद्धांत में भी स्वयं के नियम (Rules), खिलाड़ी (Players), क्रियाएं (Moves), युद्ध-कौशल (Stra.egies)

तथा क्षति देना (Pay off) आदि होते हैं। यह खेल स्पर्धापूर्ण (Competitive) तथा सहकारितापूर्ण (Cooperative) दोनों ही प्रकार का हो सकता है। खेल के सैद्धान्तिक विश्लेषण की इकाई खिलाड़ी होता है। यह अभिनेता (Actor) होता है। अन्तर्राष्ट्रीय खेल में खिलाड़ी दो भी हो सकते हैं तथा इससे अधिक भी। खिलाड़ी का अर्थ उससे है जो निर्णय लेता है। खिलाड़ी अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए या प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति को कम करने के लिए जिनसे सन्धियाँ करता है वे राष्ट्र खिलाड़ी नहीं माने जाते।

खेल के नियम होते हैं, इन नियमों के ऊपर खिलाड़ियों का वश नहीं रहता। जैसे शतरंज का नियम है कि पैदल मोहरा एक बार में एक या दो घर पार कर सकता है, इसी तरह अमरीकन शासन व्यवस्था में नियम है कि जिस उम्मीदवार को बहुमत प्राप्त हो जाय वही राष्ट्रपति बन जाता है। खेल सिद्धान्त उन तत्वों को ध्यान में नहीं रखता जो अन्तर्राष्ट्रीय खेल पर प्रभाव नहीं रखते। खेल के नियम ही यह निर्णय करते हैं कि एक खिलाड़ी क्या कदम उठायगा। अन्तर्राष्ट्रीय सबन्धों के सामाजिक नियम स्थिर होने की अपेक्षा लचीले होते हैं। जैसे कि 'शक्ति सन्तुलन' के अनुसार यह आशा की जाती थी कि एक राष्ट्र उस पक्ष में नहीं मिलेगा जो पहले से ही शक्तिशाली है। किन्तु यह भी सम्भव है कि वह देश इसी पक्ष में मिल जाय।

सामान्य खेलों की भाँति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का खेल भी दो प्रकार का होता है—(१) जिसमें कि सभी विकल्पों तथा उनके परिणामों की सूचना खिलाड़ी को दे दी जाय। (२) जिसमें इस प्रकार की सूचना न दी जाय। सूचना पूरी तथा अधूरी दोनों ही प्रकार का हो सकती है। इस खेल में खिलाड़ी के सामने कुछ विकल्पों में से चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी रहती है। एक बार डा० राधाकृष्णन् ने कहा था कि ताश के खेल में हमारे पास क्या पत्ते आयेंगे, यह हमारे अधिकार की बात नहीं। किन्तु जो पत्ते आये हैं उनका प्रयोग हम किस प्रकार करेंगे यह बहुत कुछ हमारी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति पर आधारित है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें व स्थितियाँ किस करवट बैठती हैं यह एक राष्ट्र की शक्ति के बाहर की बात है किन्तु उन स्थितियों में वह किस विकल्प को चुनेगा यह उसी की इच्छा पर है। एक विकल्प के चुनने का परिणाम क्या होगा यह भी बहुत कुछ अनिश्चित ही होता है क्योंकि 'परिणाम' पर दूसरे राष्ट्र द्वारा चुने गये विकल्पों का भी प्रभाव पड़ता है, जो अनिश्चित है।[1] खेल भी कई प्रकार के होते हैं जैसे—

1 Morton A Kaplan, System and Process in International Politics, P 174.

(१) Zero sum Games जिसमें कुछ खिलाडियों की हानियो (Losses) का अर्थ दूसरे खिलाडियो का लाभ (Gains) होता है।

(२) Constant Sum Games—इस खेल को समझने के लिए हम एक बाजार की कल्पना कर सकते हैं जिसमें कुछ सामान एक निश्चित संख्या व कीमत मे बिकते हैं। इस बाजार के प्रतिद्वन्द्वी जो लाभ प्राप्त करेंगे वह दूसरे को हानि देकर नही करेंगे। सभी को समान लाभ मिलेगा।

(३) Non Zero sum Games—यह खेल उक्त दोनो के बीच का है। इसमे प्रतिद्वन्द्वियो के बीच का सबंध सहयोगितापूर्ण भी रह सकता है और परस्पर विरोधी भी।

शक्ति के खेल का एक उदाहरण
(An Example of the Game of Power)

शक्ति का खेल विभिन्न राष्ट्रो द्वारा खेला जाता है। ये राष्ट्र एक मेज के चारो ओर बैठ जाते हैं और गोटियों के माध्यम से प्रतियोगिता करने लगते हैं। प्रत्येक राष्ट्र के पास एक बोर्ड होता है। इस बोर्ड पर वे सीमायें अंकित रहती हैं जिनका वह प्रत्येक अन्य प्रतियोगी के साथ हिस्सेदार है। साथ ही उसका स्वयं का प्रदेश भी अंकित रहता है। गोटियां स्रोतो की इकाइयों का प्रतिनिधित्व करती हैं। जिस देश के पास जितनी अधिक गोटियां हैं वह उतने ही अधिक स्रोतो का स्वामी माना जायेगा। कुछ गोटियां सुरक्षित सेनाओ (Reserved force) के रूप मे भी रखी जा सकती हैं। जब इनको दूसरे देशों के विरुद्ध सीमा पर लगा दिया जाता है तो ये विध्वंसक शक्ति के स्रोत बन जाती हैं। जिन स्रोतो को प्रयुक्त नही किया जाता अर्थात् जिनको न तो सीमाओ पर ही लगाया जाता है और न ही सुरक्षित सेना के रूप मे रखा जाता है वे अनुपातिक मात्रा मे आय कमाती हैं किन्तु यह अनुपात प्रत्येक बार अवसर के अनुसार बदलता रहता है।

चलने के लिये प्रत्येक खिलाडी को अपनी बारी आनी है। यदि कोई चाहे तो वह अपनी बारी को छोड भी सकता है अथवा वह इसे स्वीकार करके अपनी शक्तियो को कार्यरत कर सकता है, सुरक्षित रख सकता है या वापिस बुला सकता है अथवा जो सेनायें पहले से ही सीमा पर भेजी जा चुकी हैं उनके द्वारा युद्ध प्रारम्भ कर सकता है। यदि युद्ध प्रारम्भ हो जाता है तो उस सीमा पर की गोटियां विरोधी पक्ष की गोटियों को समाप्त करने का प्रयास करेंगी। प्रत्येक पक्ष उस समय तक गोटियो को सीमा पर भेजता रहेगा जब तक कि दूसरे पक्ष की सारी गोटियां समाप्त नही हो जातीं। चलने की

नियमित बारी को उस समय तक के लिए रोक दिया जाता है जब तक वह संघर्ष अथवा युद्ध समाप्त न हो जाये अथवा जब तक किसी पक्ष के पास पुनः सेना भेजने तथा युद्ध को प्रारम्भ करने का अवसर है। इस खेल के खिलाड़ियों को यह विदित रहता है कि यह खेल या तो समाप्त होने तक खेला जायेगा अथवा कुछ विशेष बारियों के बाद समाप्त हो जायेगा। बारियों की संख्या गोटियों की संख्या पर निर्भर करती है।

सन्धि दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच में हो जाती है और जब सन्धि हो जाती है तो सम्बन्धित देश सामान्य सीमाओं पर से अपनी सेनाओं को हटा लेते हैं। जब एक देश दूसरे देश के विरुद्ध सीमा पर अपनी सेना को बढ़ाता जाता है तो वह दबाव डालने की स्थिति में हो जाता है। जिस देश का दबाव जितना अधिक होता है सीमा पर उसकी प्रभुता उतनी ही अधिक मानी जाती है।

शक्ति के इस खेल का उद्देश्य यह होता है कि खेल के अन्त तक यथा-सम्भव अधिक गोटियां प्राप्त की जायें। यदि खेल की समाप्ति के बाद एक खिलाड़ी के पास थोड़ी सी गोटियां ही बच जाती हैं तो वह एक हारा हुआ खिलाड़ी माना जाता है। खेल से पूर्व ही खिलाड़ियों द्वारा जो संख्या तय कर दी गई थी, यदि उस संख्या से ही कम गोटियां किसी खिलाड़ी के पास बच पाती हैं तो उनको शून्य प्रदान किया जाता है तथा उनकी गोटियों को उन सभी खिलाड़ियों में बांट दिया जाता है जिनके पास कम से कम इतनी गोटियां हों जितनी के साथ उन्होंने खेलना प्रारम्भ किया है।

खिलाड़ियों द्वारा खेल प्रारम्भ करने से पूर्व ही यह तय कर लिया जाता है कि कितनी बारियों के बाद खेल को समाप्त कर दिया जायेगा। जब दो से अधिक खिलाड़ी खेलते हैं और अपनी गोटियों से अधिक की संख्या तक की बारियों तक खेलते हैं तो वह खेल पर्याप्त उत्तेजक बन जाता है। खिलाड़ियों की संख्या जितनी कम होती है उनकी बारी आने में उतना ही कम समय लगता है।

खेल के लिए आवश्यक सामग्री के रूप में एक बड़े आकार की मेज होनी चाहिए जिस पर दो २० × ३० इंच के दो नक्शे रखे जा सकें तथा उनके बीच कोई ऐसा प्रतिरोध लगाया जा सके कि खिलाड़ी एक दूसरे के नक्शों को तथा एक दूसरे के चेहरों को न देख सकें। उनका एक मानीटर होता है जो एक ही समय में दोनों नक्शों पर नजर रखता है। खिलाड़ी वैकल्पिक रूप से कमरे के दोनों ओर बंटाये जाते हैं। उनको टेलीफोन पर

विचारों का आदान-प्रदान का अवसर दिया जाता है। जहाँ खेल व्यक्तियों की जगह टीम के बीच होता है वहाँ गोपनीयता की दृष्टि से दो कमरों की आवश्यकता होती है। यह खेल जिस रूप में खेला जाता है उसमें केवल कुछ घंटे ही लगते हैं। खिलाड़ी को खेल की तकनीक समझाने में ही लगभग एक घंटा व्यतीत हो जाता है। प्रत्येक खिलाड़ी को यह समझा दिया जाता है कि वह सापेक्षिक रूप से अधिक नम्बर पाने के लिए नहीं वरन् सम्पूर्ण नम्बरों को पाने के लिए खेल रहा है। कुछ एक ऐसी विशेषतायें होती हैं जो खेल में विभिन्नता ला सकती हैं। उदाहरण के लिए राज्यों के मूल्य अलग-अलग हो सकते हैं। दो खिलाड़ियों की मूल्य व्यवस्था का पारस्परिक संबंध अलग-अलग हो सकता है। प्रत्येक खिलाड़ी को अपने प्रतिपक्षी के सम्बन्ध में जो सूचना प्राप्त है उसकी मात्रा भी अलग-अलग हो सकती है। संचार व्यवस्था का रूप अलग-अलग हो सकता है। संचार व्यवस्था सीधी हो सकती है, यह प्रत्येक प्रकार की बात के लिए स्वतन्त्र हो सकती है अथवा केवल कुछ प्रस्तावों एवं कथनों तक ही सीमित हो सकती है। इस प्रकार शक्ति के खेलों के बीच अनेक विभिन्नतायें पाई जा सकती हैं।

ये खेल प्रायः उन सौदेबाजियों के प्रायोगिक अध्ययन होते हैं जो सीमित युद्ध अथवा अन्य संघर्षों में की जाती हैं। यह सौदेबाजी शब्दों के आधार पर की जाती है और कार्यों के आधार पर भी। इस सौदेबाजी में संचार व्यवस्था को कमजोर रखा जाता है, इसे कानूनी रूप में लागू करने की कोई व्यवस्था नहीं होती। जब सौदेबाजी करने वाले भागीदार एक दूसरे से सम्पर्क करते हैं तो वे एक दूसरे के मूल्यों से प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं। वैसे उनके पास एक-दूसरे को नुकसान पहुंचाने के लिए पर्याप्त शक्ति रहती है। सौदेबाजी की इस स्थिति को खेल का रूप देकर उस पर विभिन्न प्रकार के अनुसंधान एवं खोजें की जाती हैं।

वर्तमान समय में प्रयोग के लिए जिन खेलों को अपनाया जाता है वे युद्ध के साथ सादृश्यता नहीं रखते। अनुसंधान हेतु आयोजित इन खेलों तथा परम्परागत युद्ध के खेलों के बीच अन्तर होता है। प्रथम अन्तर तो यह है कि प्रायः सभी युद्ध खेल पूर्ण रूप से जीरो-सम (Zero-Sum) खेल होते हैं। इनमें विरोधियों के साथ सहयोग के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। विजेता केवल वही माना जाता है जो अपने प्रतिद्वन्द्वी को समाप्त कर सके अथवा उसको दबा सके। दूसरे, इस खेल को जो रूप दिया जाता है वह युद्ध जैसा नहीं होता। इसमें कम से कम तकनीकी जटिलता रहती है। इसे प्रशिक्षण की अपेक्षा शोध कार्य के लिए व्यवस्थित किया जाता है। इसका रूप अत्यन्त

सरल बनाया जाता है। इसमे सैद्धान्तिक दृष्टि से मापन, वर्गीकरण, विश्लेषण आदि किया जा सकता है। कई बार खेल का आयोजन किया जा सके इसलिए इनको कम खर्चीला बनाया जाता है। इसमे अधिक प्रसाधनों की आवश्यकता भी नही होती।

खेल सिद्धान्त की प्रक्रिया
(The Methodology of Game Theory)

प्रायोगिक खेल सिद्धान्त के द्वारा सौदेबाजी की प्रक्रिया का व्यावहारिक अध्ययन किया जाता है तो यह मान लिया जाता है कि कोई भी औपचारिक सिद्धान्त या विचारधारा अपने आप मे अपर्याप्त होती है। कम से कम सौदेबाजी के खेलो में यह आवश्यक रूप से अपर्याप्त होती है। इस प्रकार के खेलो मे एक अनिश्चितता की मात्रा रहती है। खेल की मात्रात्मक बनावट द्वारा जो बाधायें प्रस्तुत की जाती हैं वे किसी भी सुझाव का निर्णय करने के लिए उसे अपर्याप्त बना देती हैं। यहा तक कि बुद्धिपूर्ण एव आन्तरिक रूप से समायोजन पूर्ण खेल मे भाग लेने वालो के व्यवहार की रण नीतिया भी कुछ उपयोगी नही बनतीं। इस प्रकार के किसी भी खेल मे वस्तु स्थिति को समझने के लिए, अभिप्रायो को जानने एव उनका अनुमान लगाने के लिए प्रत्येक की समायोजित आकांक्षाओ तक पहुचने के लिए और एक सीमित युद्ध मे सीमा निर्धारित करने के लिए आवश्यक मान्यता, परम्परा एव रोक विकसित करने के लिए कार्यो मे एकीकरण की आवश्यकता होती है। एक खेल में भाग लेने वाले लोग एक दूसरे की आकांक्षाओ का ज्ञान कराने के लिए किस प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया करेंगे, वे अपने अभिप्रायो को जताने के लिए कौन से साधन अपनायेंगे तथा वे संयुक्त रूप से किन नियमों एव परम्पराओं को जानेंगे तथा मानेंगे; ये सारी बातें पहले से ही तय नहीं की जा सकती। चाहे कोई खिलाडी कितना ही बौद्धिक क्यों न हो इनके बारे मे पहले से ही कुछ तय नहीं कर सकता। । खेल सिद्धात मे व्यावहारिक अध्ययन का आवश्यक तत्व रहता है। बौद्धिक व्यवहार की विचारधारा द्वारा जो तरीका सुझाया जाता है उससे भिन्न रूप में भी एक खेल के खिलाडी व्यवहार कर सकते हैं। यह भिन्नता बुराई की अपेक्षा अच्छाई की दिशा में भी अग्रसर हो सकती है। कुछ परिस्थितियों मे खिलाडी उससे भी अच्छा व्यवहार कर सकते है जैसा कि एक शुद्ध औपचारिक बौद्धिक व्यवहार की विचारधारा द्वारा सुझाया जाता है किन्तु ये खिलाडी अच्छा व्यवहार किस तरह कर सकते है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका

सैद्धान्तिक विश्लेषण किया जा सकता है किन्तु अन्त में उसे व्यवहार के आधार पर ही प्रमाणित करना होता है। खेल सिद्धांत के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह किया जाता है कि इसके आधार पर हम जिन निष्कर्षों पर पहुंचते हैं अथवा जिस वातावरण को देखते हैं क्या उसके आधार पर वास्तविक संघर्ष की स्थितियों का अथवा वास्तविक सौदेबाजी की प्रक्रियाओं का सामान्यीकरण किया जा सकता है ? इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि इस प्रकार का खेल वास्तविक संघर्ष को सभी महत्वपूर्ण विशेषताओं को सामने नहीं लाता। यह हमारे सामने कोई ऐसा सन्तुलित मॉडल नहीं रखता जिसमें सभी तत्वों को पर्याप्त महत्व प्राप्त हो। इसका मुख्य उद्देश्य समस्या के उन पहलुओं को सामने लाना है जो विश्लेषण के लिए सन्देह प्रदर्शित करते हैं अथवा प्रयोगशाला में किए जाने वाले प्रयोगों को सन्देह की नजर से देखते हैं। इस प्रकार के खेल द्वारा खिलाड़ियों की ज्ञान एवं सूचना सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला जाता है, उनके भावनात्मक व्यवहार या व्यक्तिगत मूल्य व्यवस्था पर नहीं। जहां तक सम्भव होता है वहां तक खिलाड़ी की मूल्य व्यवस्था उसे खेल द्वारा ही प्रदान की जाती है। यदि हमारे रोकते हुए भी भावनात्मक पक्ष उभर आता है तो उसका स्तर उस मनमुटाव, अनबन, ईर्ष्या आदि से भिन्न होता है जो वास्तविक संघर्ष एवं जीते जागते युद्ध की स्थिति में हो सकता है। इस प्रकार के खेल में व्यक्तियों के व्यवहारों एवं संगठनात्मक व्यवहार, नौकरशाही के व्यवहार सामूहिक राजनैतिक व्यवहार एवं अन्य संयुक्त निर्णय प्रक्रियाओं पर भाग लेने वाले व्यक्तियों की विशेषताओं एवं सामर्थ्य के द्वारा सीमाएं लगाई जाती हैं।

इस प्रकार के खेल की इतनी सारी सीमाएं होती हैं किन्तु फिर भी यह सीमित युद्ध तथा ऐसे संघर्षों के कुछ तत्वों को जानने के लिए एक आकर्षक साधन प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि हमारे पास अनुभवात्मक रूप में वस्तु स्थिति का अध्ययन करने के लिए बहुत कम विकल्प हैं। खेल के आधार पर किए जाने वाले प्रयोगों से हमें जो ज्ञान प्राप्त होता है वह यद्यपि पर्याप्त व्यापक या विश्वसनीय नहीं होता किन्तु दूसरे तरीकों से प्राप्त होने वाले ज्ञान की तुलना में यह अच्छा प्रतीत होता है। खेल सिद्धांत से प्राप्त निष्कर्षों या परिणामों का एक अन्य महत्व यह है कि यथार्थ जगत में भी ये कुछ उपयोगी सिद्ध होते हैं। सीमित युद्ध, औद्योगिक संघर्ष आदि के बारे में अनेक प्रस्ताव सामान्य रूप में रखे जाते हैं तथा उन्हें इतने सरल एवं सामान्य प्रमाणों या तर्कों पर आधारित किया जाता है कि वे उतनी सरल और बनावटी स्थिति पर लागू किये जा सकें जो खेल द्वारा

वर्णित की गई है। दूसरे शब्दों मे यह कहा जाता है कि यद्यपि खेल के निष्कर्षों की उपयोगिता एवं प्रमाणिकता संदिग्ध है, फिर भी किसी अन्य सिद्धान्त द्वारा इनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रायोगिक खेलो की उपयोगिता को इस आधार पर प्रदर्शित किया जा सकता है कि हम सामान्य रूप से तर्क करने पर जिन निष्कर्षों पर पहुचते हैं उनको खेल की प्रक्रिया द्वारा असत्य सिद्ध किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हम खेल का आयोजन करते हैं। इस खेल मे प्रत्येक खिलाडी दूसरे खिलाडी की मूल्य व्यवस्था के प्रति अनभिज्ञ है अथवा उसे यह जानकारी नहीं है कि दूसरे खिलाडी को चलने के कितने अवसर प्राप्त होंगे अथवा यह कितनी बार चल सकता है। ऐसी स्थिति मे यदि हम यह प्रस्ताव करें कि प्रत्येक खिलाडी को दूसरे खिलाडी की मूल्य व्यवस्था का, उसकी चाल के अवसरों का तथा जितनी बार वह चल चुका है इसका ज्ञान करा दिया जाए तो दो खिलाडियो को इससे क्या लाभ प्राप्त हो सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध मे यदि बौद्धिक रूप से विचार किया जाए तो हम इस निष्कर्ष पर आयेंगे कि जिस खिलाडी को अपने विरोधी के सम्बन्ध मे अधिक ज्ञान प्राप्त है, वह लाभ मे रहेगा किन्तु जब हम इस बात को तर्कों के आधार पर नहीं बल्कि खेल के आधार पर जानने की चेष्टा करते हैं तो पाते हैं कि इससे दोनों ही खिलाडियो को लाभ हो सकता है अथवा दोनो को हानि हो सकती है। यदि यह खेल नान-जीरो-सम (Non-Zero-Sum) प्रकार का है तो प्रस्ताव को दूसरे रूप में रखा जा सकता है कि अन्य चीजें समान होने पर उस खिलाडी को अधिक प्राप्तियां होंगी अथवा अपेक्षाकृत अधिक लाभ होगा जिसे अपने विरोधी के सम्बन्ध मे अधिक सूचना प्राप्त है। यह प्रस्ताव एक दोषपूर्ण तर्क प्रक्रिया पर आधारित है किन्तु यह बुद्धि-संगत प्रतीत होता है। यदि हम इसकी गलती को प्रदर्शित करना चाहते हैं तो इसके लिए खेल का तरीका अपनाना होगा। जो लोग इस प्रकार के प्रस्ताव को मानते हैं उनकी मान्यता का आधार सामान्य सूझ-बूझ होती है। यह सूझ-बूझ इतनी सामान्य होती है कि यदि एक खेल द्वारा प्रस्ताव को दोषपूर्ण सिद्ध कर दिया गया तो इसमें विरोधाभास पैदा हो जाएगा।

इस उदाहरण के द्वारा खेल की प्रक्रिया का एक अन्य पहलू सामने आता है। खेल का प्रयोग इतना सरल होता है कि उसका आसानी से विश्लेषण किया जा सके। जब यह खेल आशा के विपरीत परिणाम उत्पन्न करता है तो इन परिणामो के पीछे ऐसे कारण होते हैं जिनको आसानी से समझा जा सकता है। प्रयोगात्मक खेल द्वारा जिस निष्कर्ष पर पहुंचा

जाता है उसके लिए यह आवश्यक नही कि हर बार खेले जाने वाले खेलो द्वारा उसका समर्थन किया जाए। जब एक बार प्रयोगात्मक खेल द्वारा हम किसी निष्कर्ष पर पहुंच गए तो उस निष्कर्ष का सैद्धांतिक रूप मे बौद्धिकीकरण कर देना चाहिए। इस प्रकार प्रयोगात्मक खेल सैद्धान्तिक मॉडल का एक दिखाई देने वाला प्रतिनिधित्व है। यह मॉडल ऐसा होता है जिसके सक्रिय भागो को उस समय अच्छी तरह समझा जाता है जबकि उनको प्रायोगिक रूप से प्रदान किया जाए।

इसी बात को अन्य रूप से भी स्पष्ट किया जा सकता है। प्रयोगात्मक खेलों का प्रयोग उन महत्वपूर्ण सम्भावनाओ को खोजने एवं प्रदर्शित करने के लिए किया जा सकता है जो अन्य प्रकार से सामने नहीं आती। इन सम्भावनाओ का महत्व एवं उपयोगिता तार्किक रूप से अथवा कहीं और से प्राप्त प्रमाणो के आधार पर सिद्ध की जा सकती है किन्तु इन सम्भावनाओ का अस्तित्व है तथा ये सम्भावनाएं अन्य भागो से किस प्रकार सम्बन्धित हैं, यह बात केवल प्रयोगात्मक खेल द्वारा ही खोजी जा सकती है। उदाहरण के लिये एक सम्भावना यह है कि अधिक ज्ञान और सूचना रखने वाले खिलाडी को लाभ प्राप्त न हो और अन्य खिलाडी को प्राप्त हो जाए जिसे इतनी सूचना और ज्ञान प्राप्त नही है। इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि नई सूचना प्राप्त करने पर एक खिलाडी को लाभ होने की अपेक्षा उलटा नुकसान हो जाए यदि उसने इस तथ्य को नहीं छुपाया कि उसे वह सूचना प्राप्त है।

कुल मिलाकर यह आशा की जाती है कि इस प्रकार के प्रयोगात्मक अनुसंधान द्वारा प्राप्त किये गये निष्कर्ष सांख्यिकीय विश्लेषण पर आधारित नहीं होंगे। हमारा अभिप्राय यह रहता है कि परीक्षण किये गये वातावरण को किसी सिद्धांत से सम्बन्धित करें तथा साथ ही निरीक्षण किये जाने वाले तत्वो के सम्भावित महत्व को प्रदर्शित करें। प्रयोगात्मक खेल मे यह जानने का प्रयास किया जाता है कि खेल की बनावट सम्बन्धी विशेषताओं को किस प्रकार रखा जाये कि उनके द्वारा कुछ विशेष परिणाम एवं वातावरण प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार प्रयोगात्मक खेल के आयोजन मे हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि पूर्व निर्धारित निष्कर्ष की प्रमाणिकता को जाचे तथा उसके लिए सांख्यिकी प्रमाण प्रस्तुत करें। इसके स्थान पर परीक्षित परिणामो एवं प्रयोगो के आयामो रूपो के बीच निरन्तर सम्पर्क बना रहता है।

इस प्रकार के प्रयोगों का एक अन्य गौण उद्देश्य भी होता है। यह भी सिद्धात के विकास से सम्बन्धित होता है। इस प्रकार के खेल का आयो-

जन करने के लिए तथा खेल में कुछ विशेषताओं को लाने के लिए पहले व्यावहारिक मान्यताओं को परिभाषित करना जरूरी होता है। इस प्रकार का खेल सैद्धांतिक मॉडल-निर्माण पर अनुशासन कायम करता है। इसके द्वारा यह जाँच की जा सकती है कि मान्यताएं एवं प्रस्ताव अर्थपूर्ण हैं अथवा नहीं। यदि वे अर्थपूर्ण हों तो उन्हें प्रदर्शित किया जा सकता है। प्रयोगात्मक खेल को सैद्धांतिक सुधार (Theoretical Communication) के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। यदि हम यह चाहते हैं कि सदस्य की रण नीति के बारे में किसी प्रस्ताव को सावधानी के साथ परिभाषित करें और विचित्र करें तो इसके लिये खेल के रूप में हमें एक दर्शनीय साधन प्राप्त हो जाता है।

खेल सिद्धान्त द्वारा अनुसन्धान
(The Research Through Game Theory)

खेल सिद्धांत के आधार पर किए जाने वाले अनुसन्धान में हमको तीन बातों का ध्यान रखना होता है। प्रथम, यह देखना होता है कि किन नियमों एवं प्रतिबन्धों के अधीन खेल खेला जायेगा तथा इस खेल की पृष्ठभूमि क्या है और खेलने वाले लोग कौन कौन हैं। दूसरे, देखने योग्य बात यह होती है कि खेल का परिणाम क्या रहा, खिलाड़ियों का व्यवहार कैसा रहा, खिलाड़ियों द्वारा जो अभिलेख रखे गये वे क्या थे, खेल के दौरान जो विशेष परिस्थितियां विकसित हुई वे कौन-कौन सी थीं आदि-आदि। तीसरे, यह देखना होता है कि वे प्रश्न या परिकल्पनाएं कौन-कौन सी हैं जिनके आधार पर जाँच को निर्देशित किया जा सकता है।

प्रथम शीर्षक के अधीन वह तरीका निश्चित किया जाता है जिसके द्वारा खेल खेला जायेगा। इस तरीके को एक निश्चित रूप में प्रवर्तित किया जाता है। सर्वप्रथम तो अनेक खिलाड़ियों से युक्त खेल का एक मान्य रूप प्रयुक्त किया जाता है। इसके आधार पर खिलाड़ी लाग खेल के परिणामों एवं खेल के रूप के बीच पारस्परिक सम्बन्ध एवं खेलने वाले की अपनी व्याख्या के परिणामों एवं एक दूसरे के खेल के तरीकों का अध्ययन किया जाता है। इस दृष्टि से परिणामों के वर्गीकरण एवं विश्लेषण के लिये, खेल के तरीकों एवं रण नीतियों के लिये तथा खेलने वालों की व्याख्याओं के लिये सैद्धान्तिक रूप रखना करनी होती है। यह सब केवल तभी किया जा सकता है जबकि यथार्थ में खेल खेला जाये। दूसरे, खेल की कुछ विशेषताओं में भिन्नता हो सकती है। उदाहरण के लिये सुधार की

व्यवस्था, सूचना की व्यवस्था आदि में भिन्नता हो सकती है। इसके अतिरिक्त खेल में प्रयुक्त किये जाने वाले नक्शे, परम्परायें, दल एवं इसके लक्ष्य का वर्णन करने वाली भाषा, खेल की मात्रात्मक विशेषतायें आदि भी अलग-अलग प्रकार की हो सकती हैं। तीसरे, खेलने वालों के आधार पर अलग-अलग प्रकार की व्यवस्था की जायेगी। आत्म-पूरित समूहों के बीच के खेल के लिए, विभिन्न समूहों के उन सदस्यों के बीच खेल के लिए जो पहले से ही अन्तर्समूह खेल का अनुभव प्राप्त कर चुके हैं, अनुभवी खिलाड़ियों के बीच होने वाले खेल के लिए, अनुभवी एवं गैर अनुभवी के बीच होने वाले खेल के लिये तथा इसी प्रकार के अन्य खेलों के लिए व्यवस्था अलग-अलग प्रकार से करनी होती है। कुछ खेल मध्यस्थ के प्रभाव के आधीन खेले जाते हैं जो खेलने वालों को कुछ सुझाव दे सकता है। कुछ खेलों में तीन या तीन से अधिक खेलने वाले होते हैं; वहाँ संविद व्यवहार (Coalition behaviour) सम्भव होता है। कुछ खेल ऐसे होते हैं जिनमें रण नीति एक खिलाड़ी को पहले से ही स्पष्ट कर दी जाती है।

दूसरे शीर्षक के आधीन खेल के परिणामों का अभिलेख रखने की एक अर्थपूर्ण योजना अपनानी होती है। इस योजना में व्यक्तिगत रूप से प्राप्त सभी अङ्कों को रखा जा सकता है अथवा सापेक्षिक रूप से रखा जा सकता है। खेल के विभिन्न प्रकारों के परिणामों की तुलना करने के लिये प्राप्त अङ्कों को साधारण स्तर पर रखने हेतु प्रयास करना होता है। ऐसा करना सरल नहीं होता क्योंकि इसका मार्ग सरल नहीं होता। उदाहरण के लिए यह जानना बड़ा कठिन होता है कि खेलने वाले ने खेल के दौरान क्या आशा की थी और उसे उसके अनुकूल परिणाम प्राप्त हुए या नहीं हुए। खेलने वाले की व्याख्याओं को वर्गीकृत करने के लिए भी एक योजना अपनायी जाती है। खेलने वाले खेल को जिस रूप में देखते हैं तथा खेल का जो तरीका अपनाते हैं उस पर उनको प्रदान किये गये निर्देशों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है एवं उन प्रश्नावलियों का प्रभाव पड़ता है जो वे बनाते हैं। इसके अतिरिक्त वे अपनी एवं अपने भागीदार के खेल तथा रण-नीतियों पर जो बातें नोट करते हैं, वे भी प्रभाव डालती हैं। खेल के सम्बन्ध में अभिलेख रखना जरूरी है क्योंकि इसके बिना कोई अनुसंधान कार्य नहीं किया जा सकता। अध्ययन करते समय हमारा मुख्य उद्देश्य जानकारी एवं गैर-जानकारी के विकास को देखना, प्रस्तावों को प्रसारित करने के लिए भाषा के आविष्कार की प्रक्रिया को जानना तथा खेल के दौरान आलोचनात्मक अवसरों को ध्यान में रखना होता है। यह भी देखा जाता है कि खेलने वाले की आशाओं का खेल में सुझाये गये विस्तारों से क्या सम्बन्ध था तथा खेलने वाले की रणनीति

कितनी सही थी। पर्याप्त भूल और सुधार के बाद ही हम यह जान पाते हैं कि रोचक एवं उपयोगी अभिलेख किस प्रकार रखा जा सकता है।

जिस समय खेल हो रहा है उस समय उसे किस प्रकार देखना चाहिए तथा उसका अभिलेख किस प्रकार रखना चाहिए इसके लिए विश्लेषणात्मक श्रेणियां अपनानी होती हैं। अभिलेख एवं निरीक्षण की विभिन्न श्रेणियां होती हैं, जैसे—सहयोगपूर्ण, बनाम असहयोगपूर्ण, आक्रमणकारी बनाम बुद्धिपूर्ण आदि-आदि। ये अन्तर वास्तविक व्यवहार में उपयोगी भी सिद्ध हो सकते हैं और नहीं भी, इसलिये ये निश्चय ही अपर्याप्त हैं। यह भी देखना होता है कि क्या खिलाड़ी, उसका दूसरा भागीदार एवं खेल देखने वाला खेल के तरीकों के सम्बन्ध में एक जैसी धारणा रखते हैं और क्या इसके पीछे उनका अभिप्राय एक जैसा ही है।

तीसरे, खेल का निरीक्षण करने के बाद उसके सम्बन्ध में कुछ जांच पड़ताल की जाती है। जिस विशेष वस्तु स्थिति की जांच होती है उसमें भाषा, नियमों एवं परम्पराओं का विकास आता है। उन तत्वों की विशेष रूप से जांच की जाती है जो अस्थिरता के कारण बनते हैं। अस्थिरता से यहां हमारा अर्थ खेल की उस प्रवृत्ति से है जो विध्वंसात्मक व्यवहार एवं कम अङ्कों का कारण होती है। प्रयोगों के आधार पर यह बात सामने आई है कि जब नक्शे पर राज्यों के मूल्यों को पुनः प्रचलित किया जाता है तो अधिक संघर्ष पैदा हो जाता है। यदि चाल में किये जाने वाले परिवर्तन से समझौता तोड़ने वाले किसी खिलाड़ी को भारी लाभ प्राप्त हो जाये तो इससे अस्थिरता आ जाती है। इसके अतिरिक्त खेल का स्वभाव (Tempo) भी स्थायित्व पर प्रभाव डालता है। खेल की विश्लेषणात्मक रूप रचना करने के लिए पर्याप्त भूल और सुधार से काम लेना होता है। प्रयोगात्मक खेल का लक्ष्य यह नहीं होता कि स्थित परिकल्पनाओं की सत्यता को परखा जाय वरन् इसके द्वारा नवीन परिकल्पनायें बनायी जाती हैं।

सौदेबाजी की विचारधारा बहुत कुछ रूढ़िवादी खेल सिद्धांत का एक प्रसार है। दोनों के तरीके प्राय एक जैसे हैं तथा दोनों की मूल मान्यतायें एक जैसी ही हैं। जे सी हरसान्यी ने इन सिद्धांतों की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार बौद्धिकता की दो मान्यतायें हैं जो मौलिक होते हुए भी कमजोर हैं इसलिये इन मान्यताओं के साथ अन्य चार को और जोड़ दिया जाता है। हरसान्यी (J C Harsanyi) महाशय के कथनानुसार ये छः बौद्धिक मान्यतायें हैं—

(१) व्यक्तिगत योग्यता का आधिक्य (Individual Utility Maximization);

(२) कार्यकुशलता (Efficiency);

(३) उच्च क्षतिपूर्ति की स्वीकृति (Acceptance of Higher Pay off),

(४) सुडौलपन (Symmetry);

(५) परिवर्तनियों का प्रतिबन्ध (Restriction of Variables) तथा

(६) पारस्परिक रूप से प्रत्याशित बौद्धिकता (Mutually expected Rationality)।

इन मान्यताओं के बीच कितना तार्किक सम्बन्ध है, यह एक विवाद का विषय है।

खेल सिद्धांत का मूल्यांकन
(Evaluation of Game Theory)

खेल सिद्धात का व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने के लिए केवल बौद्धिक चिंतन की परिधियों मे सीमित रहने की स्थिति से विचारकों को बाहर निकालता है तथा उनको व्यावहारिक निरीक्षण के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकालने के अवसर प्रदान करता है। इसके मुख्य उपयोग निम्न प्रकार हैं—

(१) जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विश्व युद्ध के बाद स्पष्ट रूप से दो गुटों मे विभाजित हो गई तो इन गुटों के बीच बहुत कुछ ऐसा ही खेल खेला गया था जैसा कि खेल सिद्धात के प्रयोगों मे खेला जाता है। नाटो शक्तियां, साम्यवादी शक्तियां एवं असंलग्न शक्तियां–ये इस खेल के तीन खिलाड़ी थे। यदि इस खेल का विश्लेषण किया जाये तो हमे अत्यन्त महत्वपूर्ण सूचनायें प्राप्त होंगी जिनको बाद मे हम सैद्धान्तिक मॉडल के रूप का आधार बना सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे इस सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानने वालों का यह दावा है कि जितनी सूचना तथ्यपूर्ण रूप में एक खेल से प्राप्त हो सकती है वह साहित्यिक विश्लेषण द्वारा कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। साहित्यिक विश्लेषण से प्राप्त सूचना को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

(२) खेल सिद्धान्त की यह विशेषता है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय घटना का इसके आधार पर विश्लेषण करने के बाद दूसरी अन्य घटनाओं को समझने का मार्ग आसान बन जाता है।

(३) यह सिद्धान्त अनुभव पर आधारित (Empirical) है; इस कारण इसमें भविष्यवाणियां की जा सकती हैं, समस्या के लिए समाधान ढूंढे जा सकते हैं।

उक्त लाभों का वर्णन करते हुए भी खेल सिद्धान्त के समर्थक यह स्वीकार करते हैं कि विश्व के रंगमंच पर स्थित संश्लिष्ट समस्याओं पर अभी तक इसे लागू नहीं किया गया है। दूसरे कुछ विचारकों द्वारा खेल सिद्धान्त को ऐसी ही दृष्टि से देखा जाता है जैसे कि वे एक खेल को देखते हैं अर्थात् विद्वानों के बीच यह सिद्धान्त कोई गम्भीर समर्थन प्राप्त नहीं कर सका। अधिकांश के विचार से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं जो गम्भीर, संश्लिष्ट तथा उलझी हुई होती हैं, इस सिद्धांत द्वारा नहीं समझी जा सकती। जैसा कि क्विन्सी राइट (Quincy Wright) का विचार है यदि हम शीत युद्ध का विश्लेषण इस सिद्धान्त के आधार पर करें और तब अपने देश की विदेश नीति का निर्धारण करें तो वह नीति न तो विजय प्राप्त करा सकेगी और न ही हमें निरपेक्ष रख सकेगी वरन् यह तो पूरी देश की हत्या का कारण बन जायेगी, ऐसी हत्या जिसे उसने स्वयं ही चुना है।

खेल सिद्धांत अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझने तथा उनका समाधान करने का एक अपूर्ण माध्यम है। इसमें समय तथा शक्ति इतनी बरबाद होती है कि उनकी तुलना में इससे प्राप्त होने वाले परिणाम नगण्य रह जाते हैं। इस सिद्धान्त की अपनी कुछ समस्याएं भी हैं जिनके कारण इसे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में लागू नहीं किया जा सकता। इसे वैज्ञानिक कहने को भी अनेक विद्वान तैयार नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त
(A Realistic Theory of International Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्तों की रचना के दो तरीके हो सकते हैं जो परस्पर विरोधी हैं। पहले तरीके के अनुसार सिद्धान्त शास्त्री कुछ मान्यताओं के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की जांच करता है। अपनी निर्धारित कसौटियों के ऊपर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को कस कर वह कुछ निष्कर्षों पर आता है तथा इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों की रचना

करता है किन्तु आलोचकों द्वारा इस तरीके को अयथार्थ घोषित करके इसकी अवहेलना की जाती है। इसे पूर्व कल्पित अमूर्त सिद्धांतों एवं मान्यताओं पर आधारित माना जाता है जिसका वास्तविक जगत की घटनाओं से कोई सीधा संबंध नहीं होता। सिद्धान्त रचना का दूसरा तरीका पूर्ण रूप से तथ्यों एवं विश्व की वास्तविक घटनाओं पर आधारित है। इस तरीके में अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त को दो तत्वों में से निकलना पड़ता है—पहला है अनुभववादी (Empirical) तथा दूसरा है तार्किक (Logical)। किसी भी सिद्धान्त के तथ्यों का उनके वास्तविक स्वरूप में ही अध्ययन करना चाहिए तथा उस अध्ययन के बाद जो तर्क संगत निष्कर्ष प्राप्त हों उन्हीं को सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जाय। इस प्रकार का सिद्धान्त यथार्थता के गुण से परिपूर्ण होगा। इसमें पूर्व मान्यताओं को तथा अमूर्त आदर्शों को कोई स्थान नहीं दिया जायगा। इस प्रकार का सिद्धान्त यथार्थवादी सिद्धांत (Realistic Theory) कहा जाता है। ऐसा सिद्धान्त तथ्यों के साथ एकरूप (Consistent) होता है। मार्गेन्थो (Morgenthau) महाशय ने इस सिद्धांत को ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए उपयुक्त माना है।

मनुष्य, समाज तथा राजनीति के सम्बन्ध में यथार्थवादी सिद्धांत की अपनी स्वयं की मान्यतायें हैं। इसका विश्वास है कि बौद्धिक दृष्टि से अपूर्ण यह संसार उन शक्तियों का परिणाम है जो मनुष्य की प्रकृति में पाई जाती हैं। यदि आप विश्व का सुधार करना चाहते हैं तो इन शक्तियों के साथ मिल कर आपको काम करना होगा। इस संसार में परस्पर विरोधी अनेक स्वार्थ वर्तमान हैं; इनके बीच सदैव संघर्ष होता रहता है। स्वार्थों के बीच संतुलन की स्थापना करके इस संघर्ष को कुछ अस्थायी समय के लिए दबाया जा सकता है। इस अपूर्ण संसार में नैतिक सिद्धांतों को पूर्ण रूप से कभी नहीं अपनाया जा सकता। इस प्रकार अवरोध तथा संतुलन (Checks and balances) ही एक सार्वभौम सिद्धांत है जो सभी बहुलवादी समाजों पर लागू होता है। यह सिद्धांत अमूर्त मान्यताओं के स्थान पर ऐतिहासिक घटनाओं को अपना आधार बनाता है। इसका उद्देश्य पूर्ण शुभ को प्राप्त करना नहीं है क्योंकि वह तो प्राप्त ही नहीं हो सकता, यह तो केवल कम बुराई को ही ग्रहण करना चाहता है। जैसा कि मार्गेन्थो का कहना है, यह सिद्धान्त मनुष्य की प्रकृति को उसी रूप में देखता है जैसी कि वह है, तथा ऐतिहासिक प्रतिक्रियाओं को उसी रूप में लेता है जिस रूप में कि वे घटित हुई थीं। इन कारणों से ही इस सिद्धान्त को 'यथार्थवादी' (Realist) की संज्ञा प्रदान की जाती है।[1] इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर धीरे-

1. Morgenthau, Hans J. : Politics among Nations P. 4

धीरे एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता जा रहा है। किसी भी देश की विदेश नीति की सबसे कड़ी आलोचना यह हो सकती है कि वह नीति यथार्थवादी (Realistic) नहीं है।

यथार्थवादी सिद्धांत के तत्व

(Elements of Realist Theory)

कुछ ऐसे तत्व होते हैं जो किसी देश की विदेश नीति को यथार्थवादी बनाते हैं तथा जिनका अभाव होने पर उस देश की विदेश नीति को आलोचकों के करारे प्रहार सहने को मजबूर होना पड़ता है। इन तत्वों को हम यथार्थवाद का स्वरूप अथवा उसकी विशेषतायें भी कह सकते हैं। ये विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

(१) यथार्थवादी सिद्धान्त बौद्धिक है (Realistic theory is Rational)—यह सिद्धान्त मानवीय व्यवहारों की बौद्धिक व्याख्या करता है। यह उन वस्तुगत कानूनों (Objective laws) की खोज करता है जिनके आधार पर समस्त राजनीति संचालित होती है। इन कानूनों की जड़ें मानवीय प्रकृति में होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में किसी प्रकार का सुधार करने का प्रयास करने से पूर्व इन कानूनों को समझ लेना परम आवश्यक होता है। यथार्थवाद में एक बौद्धिक सिद्धान्त की रचना की जाती है जिसके आधार पर इन वस्तुगत कानूनों का ज्ञान प्राप्त किया जा सके। वैसे यह ज्ञान पूर्ण एवं समग्र नहीं हो सकता। इस विचारधारा के अनुसार 'सत्य' वस्तुगत एवं बौद्धिक होता है। यह प्रमाणों द्वारा समर्थित एवं बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है। मत (Opinion) को कभी भी सत्य (Truth) नहीं मानना चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त को आप 'सत्य' बनाना चाहते हैं तो उसको बुद्धि और अनुभव—इन दो मापदण्डों पर कसना चाहिए।

हम तथ्यों का सकलन तथा परीक्षण तो करना है किन्तु केवल यही पर्याप्त नहीं है। इनकी बौद्धिक व्याख्या करके इनको अर्थ प्रदान करना भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए मानो कि आप एक राजनीतिज्ञ हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण आपके सामने विदेश नीति से सम्बन्धित कुछ समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। अब आप यह देखिये कि इन्हीं परिस्थितियों में इसी प्रकार की समस्या उत्पन्न होने पर भूतकालीन राजनीतिज्ञ के सामने कौन-कौन से बुद्धिसगत विकल्प थे तथा इन बुद्धिसगत विकल्पों में से इन परिस्थितियों में कार्य करते हुए उसे कौन सा विकल्प चुनना चाहिए था। इस प्रकार एक तथ्य का बौद्धिक विश्लेपण करने के बाद हम उसे कुछ अर्थ

प्रदान कर सकते हैं और इस प्रकार एक सिद्धान्त की रचना को संभव बना सकते हैं।

(२) शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाओं का मुख्य प्रेरक है (Concept of Interest defined in terms of Power is main signpost)—यथार्थवादी यह मानते हैं कि शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ (अर्थात् अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करना ही राष्ट्रीय स्वार्थ है) एक ऐसा तत्व है जो राजनैतिक तथ्यों के बीच एक विभाजन रेखा खींचता है। जो तथ्य शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ [redacted] प्रभावित होते हैं वे राजनैतिक हैं और जो प्रभावित नहीं हैं वे राजनैतिक नहीं हैं। हम उनको नैतिक, धार्मिक या मानवीय आदि और कुछ भी कह सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्त का निर्माण करने के लिए तथ्यों का संकलन एवं परीक्षण करने के बाद हमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए उनकी बौद्धिक व्याख्या करनी होगी किन्तु यह बौद्धिक व्याख्या किस दृष्टि से की जाय इसका जवाब हमें शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ की मान्यता से प्राप्त होता है। यह मान्यता ही वह आधार है जिसके विरुद्ध या उदासीन होने पर एक कार्य गलत ठहराया जा सकता है तथा जिसके पक्ष में या सहायक होने पर उसे यथार्थवादी कहा जा सकता है।

इतिहास के उदाहरणों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ 'शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ' की दिशा में ही सोचता है व कार्य करता है। इस आधार पर हम यह मान सकते हैं कि राजनैतिक रंगमंच पर राजनीतिज्ञों द्वारा जो कुछ कदम उठाये गये, उठाये जा रहे हैं या उठाये जायेंगे वे 'स्वार्थ' (Interest) की प्राप्ति की दिशा में ही होंगे। राजनीतिज्ञ जो भी बोलता है, सोचता है अथवा लिखता है उसको समझने के लिए हमें यह ध्यान रखना होगा कि वह सब करते समय उसका उद्देश्य अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करना है। इसी ढंग से हम उसकी क्रियाओं का मूल्यांकन कर सकेंगे। 'शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ' के आधार पर ही हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सैद्धान्तिक रूप प्रदान कर सकते हैं। यही कारण है कि एक देश की विदेश नीति के मूल तत्व प्रायः एक से ही रहते हैं। यद्यपि समय-समय पर उस देश के राजनीतिज्ञों का बौद्धिक स्तर, उद्देश्य, प्राथमिकतायें तथा नैतिक गुण भिन्न होते हैं। इस दृष्टि से एक यथार्थवादी सिद्धान्त को अपने आपको दो भ्रमों से बचाये रखना चाहिए। वे हैं—अभिप्राय (Motives) तथा वैचारिक प्राथमिकतायें (Ideological preferences)। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक परिस्थिति विशेष

में एक देश क्या कदम उठायेगा यह इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि उसके अभिप्राय (Motives) क्या हैं वह किस विचारधारा (Ideology) को अधिक महत्व देता है। वह देश केवल वही कदम उठायेगा जो शक्ति के रूप में परिभाषित उसके स्वार्थ के अनुरूप होगा।

(३) यथार्थवादी सिद्धान्त अभिप्रायों की अपेक्षा परिणामों को देखता है (The Realistic Theory stresses upon results than Motives)—राजनीतिज्ञ का अभिप्राय देख कर ही यदि आप एक देश की विदेश-नीति को समझने का प्रयास करेंगे तो आप असफल रहेंगे और धोखा खायेंगे। अभिप्राय (Motives) एक ऐसी मनोवैज्ञानिक चीज है जिसका रूप कर्ता एवं दर्शक दोनों के स्वार्थों एवं भावनाओं से प्रभावित होता रहता है। हम स्वयं अपने ही अभिप्रायों को समझने में भूल कर जाते हैं दूसरों की तो बात ही क्या है।

केवल अच्छे अभिप्रायों (Motives) के आधार पर हम यह निर्णय नहीं ले सकते कि एक राजनीतिज्ञ की विदेश नीति नैतिक दृष्टि से प्रशंसनीय तथा, राजनैतिक दृष्टि से सफल रहेगी। विश्व शांति एवं भ्रातृत्व की भावना का उद्देश्य लेकर चलने वाली नेहरू की विदेश नीति को अयथार्थवादी कह कर आलोचना का विषय बनाया जाता है। इस प्रकार यथार्थवादी दृष्टिकोण वह है जो किसी कार्य का नैतिक एवं राजनैतिक स्तर उसके अभिप्रायों में नहीं वरन् उसके परिणामों में देखता है। नेवाइल चेम्बरलेन की सन्तुष्टीकरण की नीति का उद्देश्य था विश्व में शान्ति बनाये रखना, किन्तु आज का विद्यार्थी जब द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों का अध्ययन करता है तो उसमें यह नीति भी उसके अध्ययन का विषय बन जाती है। दूसरी ओर चर्चिल (Winston Churchill) की विदेश नीति मानव कल्याण की अपेक्षा सकुचित स्वार्थ का अभिप्राय (Motive) लेकर चली थी किन्तु उसके जो परिणाम हुए वे चेम्बरलेन (Nevill Chamberlain) की अपेक्षा नैतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से ऊंचे स्तर के थे। एक राजनैतिक सिद्धांत को राजनीतिज्ञ के अभिप्रायों की अपेक्षा उसकी बुद्धि, सकल्प तथा क्रिया के राजनैतिक स्तर पर निर्णय देना चाहिए।

(४) सैद्धांतिक प्राथमिकतायें गौण होती हैं (Ideological differences are immaterial)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए यह देखना बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि एक राजनीतिज्ञ की दार्शनिक एवं राजनैतिक सद्भावनायें किसके साथ हैं। आजकल यह सामान्य परम्परा

रो बन गई है कि प्रत्येक देश अपनी विदेश नीति को सैद्धांतिक आवरण पहना कर उसे लुभावना बना देता है ताकि नवयुवा जनमत उसकी रूप राशि की ओर खिचता चला जाय। उदाहरण के लिए साम्यवादी चीन की युद्धप्रिय एवं विस्तारवादी नीतियाँ विश्व के विनाश का मार्ग-प्रशस्त कर रही हैं किन्तु वह इन्हें साम्राज्यवाद विरोधी, साम्यवाद का समर्थक, पूंजीवादी शोषण का विध्वंसक और भी न जाने क्या क्या आदर्शों की उपलब्धि का प्रयास उद्घोषित करता है और एशिया तथा अफ्रीका के कुछ देश उसके सूपणखा जैसे इस मायाविनी रूप की ओर आकर्षित हो गये हैं।

राजनैतिक यथार्थवाद राजनैतिक आदर्शों एवं नैतिक सिद्धान्तों का विरोधी नहीं है। वह मानता है कि इनका भी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में थोड़ा महत्व रहता है किन्तु हमें यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि एक देश जो करना चाहता है तथा जो वह कर रहा है इन दोनों के बीच भारी अन्तर रहता है। प्रत्येक स्थान पर तथा प्रत्येक समय हमें जो कार्य करने चाहिए (Desirable) उनमें तथा एक स्थान विशेष व समय विशेष में क्या किया जा सकता है (Possible)—इन दोनों बातों में भारी अन्तर रहता है। यथार्थवादी सिद्धान्त इस अन्तर की अवहेलना नहीं करता।

बौद्धिक विश्लेषण करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि विदेश नीतियों का आधार हमेशा ही बौद्धिक, वस्तुगत तथा अ-भावनात्मक नहीं रहता। विदेश नीतियों पर व्यक्तित्व, विषयगत प्राथमिकतायें (Subjective Preferences) तथा बुद्धि व संकल्प की सारी कमजोरियाँ प्रभाव डालती हैं और इस प्रकार विदेश नीतियाँ केवल बौद्धिक नहीं रह जातीं। प्रजातंत्र में इन अबौद्धिक तत्वों का प्रभाव अधिक होता है।

(५) 'स्वार्थ' तथा 'शक्ति' की यथार्थवादी परिभाषायें (The Realist definitions of "Interest" and 'Power")—'स्वार्थ' की मान्यता परिस्थितियों से प्रभावित न होते हुए भी समस्त राजनीतिक क्रियाओं का आधार रहेगी। मित्रता और वैर 'स्वार्थ' की भावना से ही किये जाते हैं। यह बात राज्य के जीवन में भी उतनी ही सच है जितनी कि एक व्यक्ति के जीवन में। किन्तु राष्ट्रीय स्वार्थ क्या है? इस प्रश्न का ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता जो देश-काल के परिवर्तन होने पर भी सत्य बना रहे। यथार्थवाद यह मानता है कि इतिहास के एक विशेष समय में एक राष्ट्र का क्या हित है, यह उन राजनैतिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों पर आधारित है जिनमें उस राष्ट्र की विदेश नीति का निर्माण किया गया है।

'शक्ति' (Power) के प्रयोग का ढंग तथा रूप भी राजनैतिक एवं सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित होता है। किन्हीं परिस्थितियों में एक देश आर्थिक प्रतिबन्धों (Economic Sanctions) के द्वारा ही दूसरे देश को प्रभावित कर लेता है जबकि अन्य में उसे युद्ध की चुनौती देने को भी मजबूर होना पड़ सकता है। शक्ति उस प्रत्येक चीज को कहा जा सकता है जो एक मनुष्य का दूसरे पर नियंत्रण सम्भव बना दे। इस परिभाषा के अनुसार शक्ति के कई रूप हो सकते हैं। यह शारीरिक हिंसा से लेकर मनोवैज्ञानिक पवित्र बन्धनों तक कुछ भी हो सकती है। शक्ति का उद्देश्य (नैतिक अथवा दमनकारी) तथा रूप (हिंसात्मक या सद्भावनापूर्ण अनुबन्ध) विभिन्न प्रकारों के हो सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त यह मानता है कि बड़े पैमाने की हिंसा की जो धमकी वर्तमान विश्व के सामने है उसको दूर किया जा सकता है। आज जो राष्ट्रीय-राज्य स्थित हैं वे इतिहास की उपज हैं। ऐतिहासिक विकास के क्रम में ये भी जिन्दा नहीं रह सकते। यथार्थवादी सिद्धान्त की यह मान्यता है कि कुछ तकनीकी कारणों से तथा वर्तमान विश्व की कुछ नैतिक मांगों के कारण राष्ट्रीय राज्य विलीन हो जायेंगे। इसका स्थान एक बड़ी इकाई ग्रहण कर लेगी जिसकी प्रकृति इन राष्ट्रीय राज्यों से भिन्न होगी।

(६) **नैतिक सिद्धांतों के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण (Realistic attitude towards Moral Principles)**—यथार्थवादी यह मानते हैं कि नैतिक सिद्धान्तों का भी राजनीतिक प्रक्रियाओं में महत्व होता है किन्तु इन सिद्धांतों को अमूर्त एवं सार्वभौमिक रूप को राज्य के कार्यों में व्यवहृत नहीं किया जा सकता। इसके लिए इन्हें समय तथा परिस्थिति के अनुरूप बनना होगा। एक व्यक्ति नैतिक सिद्धान्तों के ऊपर सब कुछ न्योछावर कर सकता है किन्तु 'राज्य' के बारे में यह सच नहीं है। एक व्यक्ति यह कह सकता है कि 'न्याय की विजय होनी चाहिए चाहे उसके पीछे दुनिया नष्ट हो जाय' किन्तु एक राज्य जिसमें अनेकों नागरिक रहते हैं तथा जिसके सामने राष्ट्रीय अस्तित्व (National Survival) का नैतिक कर्तव्य भी है, ऐसा नहीं कह सकता। राजनैतिक नैतिकता किन्हीं अमूर्त एवं सार्वभौमिक कानूनों पर आधारित नहीं है, इसका निर्णय राजनैतिक परिणामों के आधार पर ही किया जा सकता है।

(७) **यथार्थवादी सत्य और कल्पना के बीच अन्तर करता है (Realist distinguishes between Truth Idolatry)**—यथार्थवादी

सिद्धान्त की यह मान्यता है कि एक सार्वभौम नैतिक कानून का पालन एक देश विशेष के लिए आवश्यक रूप से लाभदायक होगा, यह सच नहीं है। हो सकता है कि वह उसके लिए भयंकर परिणाम पैदा कर दे। नैतिक सिद्धान्तों की रक्षा के लिए अपने देश के हितों को बलिदान कर देने वाला व्यक्ति राजनैतिक दृष्टि से बुद्धिमान नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए नैतिकता को तिलांजलि देना भी इतिहासकारों की लेखनी से प्रशंसा नहीं पा सकता। ये दोनों ही अतियाँ (Extremes) हैं। इनसे बचने का एक मार्ग है वह यह कि प्रत्येक राष्ट्र का अपने राष्ट्रीय स्वार्थ (जो कि 'शक्ति' के रूप में परिभाषित है) की दिशा में ही अग्रसर होना चाहिए।

(८) यथार्थवादी केवल राजनैतिक पहलू पर ही अधिक ध्यान देता है (It maintains the autonomy of the political sphere)—यथार्थवादी विचारधारा अपने आपको राष्ट्रीय जीवन के अन्य पहलुओं में न उलझा कर केवल राजनैतिक समस्याओं से ही संबंधित रख कर उनका हल ढूंढना चाहती है, और इस प्रकार से यह विचारधारा बौद्धिक रूप से राजनैतिक क्षेत्र में स्वायत्तता (autonomy) की स्थापना करती है जैसे कि कानूनवेत्ता का सम्बन्ध वैधानिक कानूनों से, अर्थशास्त्री का सम्बन्ध उपयोगिता से तथा नीतिशास्त्री का सम्बन्धी नैतिक नियमों से होता है ठीक इसी प्रकार एक यथार्थवादी विचारक शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ ('Interest' defined as power) के आधार पर ही अपने अध्ययन को आगे बढ़ाता है। वह किसी भी घटना अथवा नीति पर विचार करते समय यही ध्यान रखता है कि इसका उस राष्ट्र शक्ति के ऊपर कैसा असर पड़ने वाला है।

राजनैतिक यथार्थवादी के मस्तिष्क में अन्य विषयों के आदर्श भी रहते हैं किन्तु उन सबको राजनैतिक आदर्शों के अधीन बना दिया जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि किसी समस्या पर निर्णय लेते समय यथार्थवादी दृष्टिकोण यह तो अवश्य देखेगा कि नैतिक दृष्टि से उसे आखिर करना क्या चाहिये किन्तु वह इस प्रकार का कोई कदम न उठायेगा जो उसके राष्ट्रीय स्वार्थ के विरुद्ध जाता हो। इस प्रकार यथार्थवादी सिद्धान्त समस्याओं के प्रति वैधानिक व नैतिक दृष्टिकोण (Legalistic-Moralistic Approach) अपनाने का पक्षपाती है।

ऊपर वर्णित समस्त विशेषताओं को यथार्थवादी सिद्धान्त अपने आप में समाविष्ट करता है। यह मनुष्य के बहुवादी (Pluralistic) रूप को लेकर

चलता है जिसके अनुसार मनुष्य के राजनैतिक पक्ष के अलावा नैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक पक्ष भी होते हैं। मनुष्य को केवल राजनीतिक मानने वाला जंगली है तथा उसे केवल नैतिक कहने वाला मूर्ख (fool) है—ज्ञान एकपक्षीय नहीं होता। मानव जीवन के सभी पहलुओं का अध्ययन ही ज्ञान को पूर्ण बना सकता है।

यथार्थवादी सिद्धान्त का मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यथार्थवादी सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन को वैज्ञानिकता, निश्चितता तथा भविष्यवाणी करने की सामर्थ्य आदि गुणों से विभूषित करना चाहता है। एक देश की घटनाओं का वास्तविक रूप में अध्ययन करके ही उनके आधार पर अपनी विदेश नीति निर्धारित करनी चाहिए तभी उनका प्रयास सफल हो सकता है।

'प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थ की पूर्ति में संलग्न है तथा उसका स्वार्थ यह है कि वह अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करे' इस बात पर जोर देकर यथार्थवादी विचारधारा दो प्रमुख संदेश प्रदान करती है, जिनको अपनी विदेश नीति निर्धारित करते समय प्रत्येक राष्ट्र को ध्यान में रखना चाहिए। पहला संदेश तो यह है कि विदेश नीति ऐसी बनाई जाय जो शक्ति बढ़ाने एवं बनाये रखने में हमारे राष्ट्र की अधिक से अधिक सहायता कर सके। दूसरा संदेश, जो इसी से सम्बन्धित है, यह है कि हम अपनी विदेशनीति का निर्माण करते समय यह भी ध्यान रखें कि दूसरे देश का राष्ट्रीय स्वार्थ क्या है तथा वह हमारे राष्ट्रीय स्वार्थ से (जहाँ तक सम्भव हो सके) टकराये नहीं।

इसके अतिरिक्त क्योंकि यथार्थवादी सिद्धान्त का आधार बुद्धि है अतः इससे प्रभावित विदेश नीति भी बुद्धि तथा तर्क पर आधारित होगी। ऐसी विदेश नीति में खतरा (Risk) लेने का स्थान कम रहता है तथा अधिकांश बातें एक योजना के अनुसार ही होती चली जाती हैं। इस प्रकार की विदेश नीति राजनैतिक रूप से सफल होती है तथा नैतिक रूप से भी इसकी प्रशंसा की जाती है। यह एक विदेश नीति का सबसे बड़ा गुण माना जाता है कि वह यथार्थवादी (Realistic) है।

२

राज्य व्यवस्था
(THE STATE SYSTEM)

अतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन क्षेत्र विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सबध होते हैं। ये राज्य अतर्राष्ट्रीय राजनीति की इकाइया होती हैं तथा अतर्राष्ट्रीय घटना चक्र के सही रूप को समझने के लिए इन राज्यो की वास्तविक प्रकृति उनके अर्थ, उनके आवश्यक तत्व, उनके विकास एव वर्तमान रूप का अध्ययन करना जरूरी बन जाता है। राज्यो के मूल तत्वो का सही ज्ञान होने के अभाव मे यह सम्भव नही होता कि उसके भावी व्यवहार के बारे मे पहले से ही अनुमान लगा लिया जाए। राज्य किन तत्वो से प्रभावित होते हैं, उनके आदर्श एव आकाक्षाए क्या होती हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में वे क्यों प्रयत्नशील होते हैं आदि बातें तभी समझ मे आ सकती हैं जब कि राज्य व्यवस्था का सही चित्र हमारे सामने हो। आज के युग को अतर्राष्ट्रीयता वाद अथवा विश्व समाज की स्थापना का युग कहा और माना जाता है। इस युग के सभी राज्यों से पारस्परिक सहयोग के साथ जीवन व्यतीत करने की आशा की जाती है। इसके बिना उनकी सुरक्षा एव अच्छा जीवन दोनो ही बात खटाई में पड जाती हैं। विश्व के पटल पर आज १२२ से भी अधिक राज्य हैं। इनमें से कुछ तो आर्थिक पराधयता के कारण दूसरो के साथ बधे हुए हैं तथा दूसरो के पारस्परिक सबधो को घनिष्ठ बनाने मे विगत जीवन का इतिहास, भूगोल, भाषा, जाति, धर्म अथवा राजनीतिक सस्थायें पर्याप्त प्रभाव डालती हैं। अतर्राष्ट्रीय सबधो को और भी घनिष्ठ बनाने के लिए सयुक्त राष्ट्र सघ आदि विभिन्न विश्व सगठनो द्वारा प्रयास किया जाता

है। कुल मिला कर विश्व की स्थिति ने आज जो रूप धारण कर लिया है उसे देख कर यह कहा जा सकता है विश्व समाज ने जन्म ले लिया है किन्तु यह अभी संक्रमण काल मे चल रहा है। पामर तथा परकिन्स का यह कहना पूर्णत उपयुक्त है कि इस विश्व समाज का आधार राज्य, अथवा यों कहिए कि राज्य व्यवस्था है इसलिए विश्व समाज एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन का प्रारम्भ यहीं से करना चाहिए।[1]

राज्य व्यवस्था का अर्थ
(The Meaning of State System)

राज्य व्यवस्था ने तीन शताब्दियों से भी अधिक समय से अंतर्राष्ट्रीय जीवन के तरीकों को ढालने मे आधार का काम किया है। 'राज्य-व्यवस्था' को पाश्चात्य राज्य व्यवस्था, राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था, राष्ट्र-राज्य व्यवस्था आदि विभिन्न संज्ञाओं से भी संबोधित किया जा सकता है। राज्य व्यवस्था को परिभाषित करते हुए पामर तथा परकिन्स लिखते हैं कि यह राजनैतिक जीवन का वह तरीका है जिसमे कि लोग सम्प्रभु राज्यों में पृथक रूप से सगठित हो जाते हैं। इन राज्यो का एक साथ मिलकर रहना होता है। राज्य व्यवस्था मे एक प्रमुख समस्या इस विरोधाभास पूर्ण स्थिति के कारण उत्पन्न हो जाती है कि एक ओर तो प्रत्येक राज्य सम्प्रभु है तथा कानूनी रूप से उसे पूर्ण शक्तियां प्राप्त है, किन्तु दूसरी ओर उसे विश्व मे दूसरे राज्यों के साथ संबंध बनाकर चलना होता है। उसे अन्य राज्यो को कई क्षेत्रो में छूट देनी पड़ती है तथा समायोजन करते समय कई बार दबना भी पड़ता है। हर राष्ट्र का अपना राष्ट्रीय सम्मान होता है तथा उसके स्वयं के स्वार्थ होते हैं। इनकी रक्षा के लिए तथा अपनी सम्प्रभुता को बनाये रखने के लिए उसे दमनकारी शक्ति का सगठन करना होता है। वह अपनी राष्ट्रीय शक्ति (National Power) के विकास के लिए हर सम्भव प्रयास करता है। अपने हितों की रक्षा के लिए पहले तो यह शान्तिपूर्ण साधनों को अपनाता है किन्तु उनके निरर्थक सिद्ध हो जाने पर यह विध्वंसक शक्ति, यहा तक कि युद्ध को भी अपना सकता है। हितो को लेकर उठने वाले वाद-विवाद राज्यों के बीच कई बार युद्ध का कारण बन जाते हैं। युद्ध का मार्ग अपनाने से राज्यों को कोई रोक भी नहीं सकता क्योंकि वे सम्प्रभुता-सम्पन्न कोई भी निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्र होते हैं।

1. Palmer and Perkins, op cit, P 1

राज्य व्यवस्था आज के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के युग में भी एक प्रभावपूर्ण तत्व है। अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों का कोई भी विद्यार्थी राज्यों की प्रकृति, उनके अन्तर, वर्गीकरण ऐतिहासिक विकास तथा राज्य व्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं के अध्ययन की अवहेलना नहीं कर सकता। 'राज्य व्यवस्था' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वह आधारशिला है जिस पर कि समस्त विचारधारायें एवं उनके व्यावहारिक प्रयोग आश्रित रहते हैं। इससे पूर्व कि हम राज्य व्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन करें, यह उपयोगी रहेगा कि राज्य के अर्थ, वर्गीकरण, विभिन्नता आदि का संक्षेप में उल्लेख कर दिया जाये।

राजनीति शास्त्र के विद्वानों ने समय-समय पर राज्य को परिभाषित किया है। इन परिभाषाओं को व्यक्त करने के तरीके तथा शब्दों के प्रयोग में अन्तर रह सकता है किन्तु मूलतः उन सभी की मान्यतायें एक गहरा साम्य रखती हैं। एक परिभाषा के अनुसार राज्य जनता के उस निकाय को कहा जा सकता है जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता है तथा एक सरकार के आधीन राजनैतिक रूप से संगठित है। प्रायः सभी विचारक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि राज्य के चार तत्व होते हैं—भूमि, जनता, जनसंख्या एवं सम्प्रभुता। राज्य एक वैधानिक इकाई होती है तथा मुख्य रूप से इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है। वैसे राष्ट्र, राज्य एवं देश—तीन अलग-अलग पद हैं जिनके अर्थों में भी भिन्नता रहती है किन्तु फिर भी इनका एक दूसरे के लिए प्रयोग कर लिया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये पद समानार्थक हैं किन्तु एक ही शब्द को बार-बार लाना अच्छा प्रतीत नहीं होता अतः ऐसा कर दिया जाता है।

सभी राज्यों के पास सम्प्रभु शक्ति रहती है और इसलिए उनको एक जैसा ही माना जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून सभी राज्यों को समान स्तर प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की धारा दो के अनुसार यह संस्था इसके समस्त सदस्यों की समान सम्प्रभु शक्ति के सिद्धान्त पर आधारित है। वास्तविक व्यवहार में यह समानता देखने को नहीं मिलती। अनेक छोटे, शक्तिहीन एवं साधनहीन राष्ट्र बड़े सम्पन्न एवं शक्तिशाली राष्ट्रों पर अवलम्बित रहते हैं। राज्यों के बीच जनसंख्या, आकार, संस्कृति, सैनिक शक्ति, सरकार के रूप, आर्थिक स्थिति, प्राकृतिक स्रोत आदि के आधार पर अनेक अनेक असमानतायें देखी जा सकती हैं।

राज्यों का शक्ति-स्तर
(Power Status of the States)

राज्य का प्रमुख मूल तत्व उसकी सम्प्रभुता को माना जाता है जिसकी रक्षा के लिए वह अपनी सैनिक, आर्थिक, तथा राजनैतिक शक्तियों को बढ़ाने का प्रयास करता है। वैसे आधुनिक राज्यों का रूप और अन्तर्राष्ट्रीय समाज वर्तमान काल की ही उपज हैं। उनके इतिहास की तीन या चार शताब्दियां मानवीय इतिहास के उन सात हजार से अधिक वर्षों का एक छोटा सा भाग है जिनका कि ऐतिहासिक अभिलेख प्राप्त होता है। राज्य व्यवस्था का छोटा जीवन होने के बावजूद भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का प्रचलन बहुत पूर्व हो चुका था। कुछ विचारकों का कहना है कि आधुनिक राज्य व्यवस्था सम्भवतः धर्म सुधार आन्दोलन के युग से प्रारम्भ होती है जब कि फ्रांस, इंगलैण्ड, जर्मनी, आदि राज्यों के सामयिक राजाओं ने तथा यूरोप की छोटी शक्तियों ने धर्म युद्धों के कारण उत्पन्न अराजकता का लाभ उठाया और अपनी सीमाओं में रह कर अपनी सत्ता को स्थापित किया। वे धार्मिक मामलों में पोप की सत्ता के आगे झुकते थे और धर्म निपेक्ष मामलों में रोमन साम्राज्य के बादशाह के आगे, किन्तु अपनी राजधानियों में वे शक्तिशाली सामन्तों को चुनौती देते थे। इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता या सम्प्रभुता प्रादेशिक राज्य को प्राप्त होती थी जिसके अधिकार, स्वतन्त्रता और शक्ति, आदि सारी चीजें प्रादेशिक रूप से प्राप्त होती थीं। एक बार स्थापित हो जाने के बाद सम्प्रभुता द्वारा प्रत्येक राज्य को यह अधिकार सौंप दिया जाता था कि वह अपनी जनता और साधनों को जिस रूप में चाहे उस रूप में रखे और बिना किसी राजनैतिक उच्चाधिकारी के मातहत हुए अपनी राष्ट्रीय सीमाओं में कार्य करे। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसी दुनिया सामने आई जिसमें कि सम्प्रभु एवं स्वतन्त्र राज्य थे जो सभी सैद्धान्तिक रूप से समान थे किन्तु वास्तविक शक्ति की दृष्टि से उनके बीच भारी अन्तर था। उनमें से प्रत्येक अपने अस्तित्व के लिए अपने साधनों पर निर्भर करता था। इसके बाद से व्यक्तिगत सुरक्षा, कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, युद्ध, व्यापार और संस्कृति एवं सभ्यता का विकास, आदि राष्ट्र राज्य को सर्वोच्च सम्प्रभु राजनैतिक इकाई मान कर रूप धारण करने लगे।

स्पष्टतः सभी राज्य आकार या साधनों की दृष्टि से समान नहीं हैं। शक्ति के वितरण में इस असमानता ने उस व्यवस्था की कार्यवाही को गहन रूप से प्रभावित व परिवर्तित किया जो प्रत्येक सम्प्रभु राज्य की सैद्धान्तिक

समानता पर आधारित है। राज्यों के बीच प्राप्त इस अन्तर की स्थिति को सैम्यूयल ग्राफ्टन (Samuel Grafton) ने बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। उनके कथनानुसार यदि आप गिलहरी को एक प्रमाण-पत्र दे दें कि वह भी इतनी ही बड़ी है कि जितना बड़ा कोई हाथी होता है तो भी वह छोटी ही रहेगी तथा प्रत्येक गिलहरी एवं सभी हाथी इस तथ्य से परिचित रहेंगे।[1] फाक्स महोदय (T. R. Fox) ने यह सिद्ध किया है कि पश्चिमी राज्य व्यवस्था सदैव ही कुछ बड़े राज्यों द्वारा प्रभावित रही है। राज्यों के बीच असमान शक्ति का वितरण होने के कारण ही उनको बड़ी शक्ति एवं छोटी शक्ति के रूप में वर्गीकृत किया जाता है।

बड़ी शक्ति और प्रभावशील शक्ति के बीच अन्तर होता है। बड़ी शक्ति उसे कहते हैं जो अन्य किसी भी शक्ति को अपने साथ लेने की सामर्थ्य रखती है और प्रभावशील शक्ति वह होती है जो दूसरी शक्तियों के समर्थन को अपने साथ लेकर चल सके।[2] शक्तियों के आधार पर राज्यों का जो वर्गीकरण किया जाता है उसमें सर्वोच्च शक्ति की श्रेणी को भी ले सकते हैं। टी० आर० फाक्स के मतानुसार सर्वोच्च शक्ति (Super Power) वह होती है जो बड़ी शक्ति होने के साथ साथ शक्ति पाने के भी अनेक साधन रखती है। सन् १६४५ में देखा गया था सर्वोच्च शक्तियां तीन थीं—संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत रूस और ग्रेट ब्रिटेन। किन्तु युद्धोत्तर घटनाओं ने ग्रेट ब्रिटेन को शक्ति हीन बना दिया। शक्तियों के आधार पर राज्य का यह वर्गीकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है क्योंकि राष्ट्रों के बीच शक्ति के वितरण की प्रवृत्तियों के द्वारा ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के रूप के विकास को निर्धारित किया जाता है। यदि हम यह जान लें कि सर्वोच्च शक्तियां और महान शक्तियां कौन हैं तो यह आसानी से ज्ञात कर सकते हैं कि बड़े स्तर की अन्तर्राष्ट्रीय हिंसा की सम्भावना की आशा किससे की जा सकती है क्योंकि कोई भी छोटी शक्ति केवल छोटे मोटे संघर्षों एवं युद्धों का ही कारण बन सकती है। बड़े स्तर का युद्ध उस समय तक प्रारम्भ नहीं हो सकता जब तक बड़े राष्ट्र इसमें संलग्न न हों।

1 Samuel Grafton, quoted in William T R Fox The Super-Powers, 1944, P 3

2 Martin Wight, Power Politics, Royal Institute of International Affairs, London, 1956, PP 18-27

परम्परागत रूप से राष्ट्र राज्यों पर किसी सर्वोच्च सम्प्रभु का नियंत्रण नहीं रहता और वे अपने ही प्रयासों से उन सम्बन्धों को विनियमित करते हैं जो उन्हें सुरक्षा प्रदान कर सकें। ऐसी स्थिति में शक्ति की राजनीति का विकास होता है जिसके अनुसार प्रत्येक देश अपनी रक्षा के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, हॉब्स द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था जैसी खतरनाक स्थिति से बचने के लिए राज्य सन्धियों की नीतियों में सलग्न होते हैं। इन सन्धियों के द्वारा राज्यों की शक्तियों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में शक्ति-सन्तुलन बना रहे। साथ ही सम्भावित खतरों से सदस्य राज्यों को सामूहिक सुरक्षा का आश्वासन देते हैं। राष्ट्रीय शक्ति के आधार पर हम विश्व के राज्यों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से चार श्रेणियों में कर सकते हैं—

(१) बड़ी या प्रधान शक्ति (Great or major power)—बड़ी शक्ति प्रायः उस राष्ट्र को कहा जाता है जिसके स्वार्थ बहुत अधिक फैले हुए रहते हैं, विश्व के अनेक राज्यों से वह सलग्न रहता है तथा अपने स्वार्थों एवं विदेशों में किए गए समझौतों को क्रियान्वित करने की उसके पास शक्ति रहती है। कभी कभी बड़ी शक्ति (Great power) उस देश को भी कह दिया जाता है जिसे कि सुरक्षा परिषद में स्थायी प्रतिनिधित्व मिला हुआ रहता है। ऐसे देश पांच हैं—अमेरिका, राष्ट्रवादी चीन, सोवियत रूस, फ्रांस व ब्रिटेन। बड़ी शक्तियों का यह नामकरण उचित प्रतीत नहीं होता। अनेक विचारकों के मतानुसार फ्रांस व राष्ट्रवादी चीन को महान् शक्ति कहने की अपेक्षा यदि मध्यस्तर की शक्ति (Middle power) कहा जाय तो अधिक उचित रहेगा। ये विचारक भारत को भी मध्यस्तर की शक्ति मानते हैं।

(२) लघु या छोटी शक्ति (Small or lesser power)—मार्टिन वाइट (Martin Wight) महोदय के मतानुसार इस श्रेणी में हम उन देशों को ले सकते हैं जिनके स्वार्थ सीमित होते हैं तथा केवल इन सीमित स्वार्थों की पूर्ति के योग्य शक्ति ही उनके पास रहती है।[1] इस श्रेणी के देशों के नाम गिनाना सरल नहीं है अतः अन्य श्रेणियों में से बचे राष्ट्रों को हम इनके अधीन रख सकते हैं। पामर तथा परकिन्स के मत में लघु देशों के स्वार्थों का सीमित होना आवश्यक नहीं है, इसके अपवाद भी हो सकते हैं।

(३) शक्ति का अनिश्चित स्तर (Uncertain status of Power)—पामर तथा परकिन्स महोदय ने जर्मनी तथा जापान दो राष्ट्रों को इस श्रेणी

1. Martin Wight, Power Politics, P. 11

के अन्तर्गत रखा है। यह दोनों ही देश द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व महान शक्तियो मे गिनी जाती थीं किन्तु युद्ध के दुष्परिणाम सबसे ज्यादा इन्हीं दो देशों को भुगताना पड़ा। एक के तो दो टुकड़े हो गए और दूसरे की शक्ति को उसके ऊपर की गई भयंकर बमबारी ने घटा दिया। किन्तु अब भी दोनों देशो मे बड़ी शक्ति बनने का लक्षण विद्यमान है अत इनके स्तर को अभी से निश्चित करना उचित प्रतीत नही होता।

(४) विश्व शक्ति (World Power)—'विश्व शक्ति' (World Power) की सज्ञा प्राय दो अर्थों मे प्रयोग की जाती है। एक अर्थ मे तो यह उन देशो की ओर इशारा करती है जिनका सम्बन्ध तथा अधिकार विश्व भर मे फैला है उदाहरण के लिए फ्रास, अमेरिका, ब्रिटेन आदि। दूसरे अर्थ मे विश्व शक्ति (World power) उन राष्ट्रों को कहा जाता है जिनका अधिकार एव सबन्ध विश्व भर मे व्याप्त हो और साथ ही असाधारण सैनिक शक्ति भी उसके पास हो, जैसे अमेरिका आदि। सर्वोच्च शक्ति (Supreme power) शब्द का प्रयोग द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उदित रूस, अमेरिका आदि शक्तियों के लिए किया जाता है जिनके पास असाधारण शक्ति साधन हैं।

राज्य व्यवस्था का विकास
(The Development of State System)

राज्य व्यवस्था का वर्तमान रूप एक लम्बे विकास का परिणाम है। इसका प्रारम्भ अरस्तु के इस कथन से सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वभाव से एक राजनैतिक प्राणी है। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य व्यवस्था भी इतनी ही पुरानी है जितना कि स्वय इन्सान। विकास के प्रत्येक चरण पर लोगों की ऐसी आवश्यकताए एव मागें रही हैं जिनको वे स्वय सन्तुष्ट नही कर सकते और इसलिए वे सामाजिक समूहो की रचना करते हैं। ये समूह परिस्थितियों के अनुसार प्रकृति और क्षेत्र की दृष्टि से भिन्न प्रकार के होते हैं। इन समूहो की रचना के अनुसार इनमे अनेक सगठनात्मक समस्याए उठती हैं। पहली समस्या तो यह उठती है कि उद्देश्यो की दृष्टि से उनका सही आकार क्या रखा जाए। प्लेटो तथा अरस्तु ने यह सीमा नगर राज्यों के रूप मे बताई किन्तु आधुनिक समाज शास्त्री उस आकार को आदर्श मानते हैं जिसमें सामाजिक सचार की विचारधाराए विकसित हो सकें। मानवीय सगठनो के अधिकाश अध्ययन प्राकृतिक अवस्था से आरम्भ होते हैं। वे इसे या तो अज्ञान से पूर्ण, या हॉब्स की तरह प्रत्येक का प्रत्येक से युद्ध अथवा

स्वर्ण युग के रूप में वर्णित करते हैं। राज्य की स्थापना से पूर्व की प्राकृतिक अवस्था क्या थी ? किस तरह की थी ? और इसके व्यक्ति का जीवन कैसा था ? आदि बातें प्रागैतिहासिक काल की हैं। अत इनके सम्बन्ध में वाद विवाद करना उपयोगी प्रतीत नहीं होता। ऐसा लगता है कि जिस समय मानवीय समूहों की सख्या कम थी सम्भवत उस समय उनके बीच कोई सम्पर्क नहीं होगा किन्तु यह कल्पना की जाती है कि ज्यों ज्यों इन समूहों की सख्या बढ़ती गई और उनके बीच की जटिलताए बढ़ती चली गई त्यों-त्यों उनका पारस्परिक सम्बन्ध विकसित हुआ। यह कल्पना की जाती है कि समूहों के सम्पर्क हिंसा पर आधारित रहे होंगे और बाद में इन्होंने अहिंसात्मक तथा सहयोग पूर्ण रूप धारण किया होगा।

ऐतिहासिक विकास के काल में इन सम्बन्धों को ऐतिह सिक बनाया गया तथा ऐसी व्यापारिक लेन-देन विकसित की गई जो सभी समूहों के लिए उपयोगी हो। एक बार जब इस प्रकार के सम्बन्ध व्यापक बन गये तो वे कार्य कुशल केन्द्रीय सरकार के सगठन की आवश्यकता को जन्म देने लगे जो उन पर नियन्त्रण रख सके। इस प्रकार राज्य की स्थापना हुई तथा सम्प्रभु शक्ति ने जन्म लिया। यह कहा जाता है कि सर्व प्रथम बड़े स्तर के राजनैतिक सगठन राज्य अथवा राज्य व्यवस्था जिनका कि हमारे पास लेख है वे ईसा से ५००० वर्ष पूर्व विकसित हुए होंगे। ये जहां पर विकसित हुए थे वह कोई अवसर की बात नहीं थी वरन् इन क्षेत्रों की सामान्य सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम था। इन राजनैतिक सगठनों में ऐस शक्तिशाली केन्द्रीय सगठन की आवश्यकता हुई जो सिचाई व्यवस्था का प्रबध कर सके। धीरे धीरे इन क्षेत्रों में सभ्यता का विकास होने लगा और राजनैतिक व्यवस्था उन्नत बनती चली गई। ये प्रारम्भिक राज्य व्यवस्थाए अपनी सीमाओं की दृष्टि से बदलती रहती थीं। इन्होंने आंतरिक रूप से सांस्कृतिक एव राजनैतिक एक रूपता का विकास किया। राज्य व्यवस्था के विकास को राजनीति शास्त्र के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न कालों में विभाजित किया है। इन कालों की स्वय की विशेषताए थी और इन्होंने राज्य के स्वरूप को बदलने में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया। इस विकास पर अनेक परिस्थितियों एव अवस्थाओं ने प्रभाव डाला है। विकास के परिणामस्वरूप जो हम आज सामने है उस पर अतीत का पूरा प्रभाव है। सिंधु घाटी, नील नदी तथा अन्य नदियों के मुहानों पर जो सभ्यता विकसित हुई थी उसे वर्तमान राज्य व्यवस्था का रूप धारण करते कई मोड़ों से गुजरना पड़ा है। प्रारम्भिक सभ्यताओं के बीच पारस्परिक लेन-देन तथा सचार की व्यवस्था

थी, साथ ही सुरक्षा एवं विजय के लिए विभिन्न लड़ाइयां लड़ी जाती थी। पर पश्चिमी संसार में व्यक्तिगत जीवन पद्रहवी शताब्दी तक ऐसा बना रहा जिसने पूर्वी दुनिया के साथ कोई सम्पर्क नही रखा। इतिहास के प्रारम्भ मे भारत मध्य पूर्व मैक्सीको एवं दक्षिणी अमरीका के कुछ भागों की सभ्यता उस स्तर पर पहुच चुकी थी जहा पर कि पश्चिमी यूरोप को पहुँचने मे बहुत समय लगा। किंतु पश्चिमी यूरोप की संस्कृति पिछले पाच सौ वर्षों में जितनी विकसित हुई है उतना विकास अन्य समाज अब तक नहीं कर पाए।

मध्य युग में पश्चिमी समाज का जो रूप था वह स्वतन्त्र राज्यों एवं उनके आपसी सम्बन्धों के विकास के कारण परिवर्तित हुआ। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारक पाश्चात्य सभ्यता एवं समाज के रूप को महत्व प्रदान करते हैं क्योंकि शेष संसार इससे बहुत प्रभावित रहा है। पाश्चात्य सभ्यता की जड़ें मध्य युग के माध्यम से प्राचीन यूनान और रोम तक फैली हुई हैं। यूनानी लोगों का जन्म एवं संस्कृति सामान्य होते हुए भी उनमें राजनीतिक एकता नहीं थी। वे अनेक नगर राज्यों में बटे हुए थे, उनका आपसी सम्बध बहुत कुछ ऐसा था जैसा आज के राज्यों के बीच पाया जाता है।

पश्चिमी जगत मे रोमन साम्राज्य का प्रारम्भ ईसा से ३५० वर्ष पूर्व हुआ जब कि रोम के नगर राज्यों ने इटली के भागों को जीतना प्रारम्भ किया। रोमन साम्राज्य के आधीन एक नई राजनैतिक व्यवस्था का चित्र खींचा गया। प्रारम्भ में रोम वालों के अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध यूनानियों जैसे थे किन्तु शीघ्र ही रोम वाले दूसरे लोगों को अपने बराबर समझने की अपेक्षा अपनी प्रजा मानने लगे। ज्यों ज्यों साम्राज्य बढ़ता गया, त्यों-त्यों सम्बद्ध क्षेत्र आश्रित उपनिवेश बनते चले गए। रोम वालो की एक सबसे बड़ी सफलता एवं विरासत सामान्यतः उनके कानून की व्यवस्था को माना जाता है। कानून की एक शाखा जस जेन्टियम (Jus gentum) कहलाती है जो मौलिक रूप से परम्पराओं का एक संग्रह था जिसे गैर रोम वालों पर लागू किया जाता था। बाद में इसे रोम के नागरिकों पर भी लागू किया गया। अंतर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक लेखक और प्राकृतिक कानून की मान्यता पर जोर देते हैं, प्राकृतिक कानून को जानने के लिए जस जेन्टियम को आधार बनाया।

रोमन साम्राज्य ईसा के बाद चौथी शताब्दी में समाप्त हो गया और इसके बाद जो अर्ध जंगली वातावरण पनपा, उससे अव्यवस्था पैदा हो गई।

इस स्थिति मे धीरे-धीरे सामनवाद की व्यवस्था का विकास हुआ । सैद्धांतिक रूप से सामतवाद एक पद सोपान की व्यवस्था होती है जिसमे सबसे नीचे के स्तर पर भूमिहर (Serf) रहता है उसके बाद लार्ड, बैरन, राजा और शीर्ष पर बादशाह होता था, किंतु यथार्थ मे यह व्यक्तिगत प्रबंधो की एक उलझी हुई तथा भ्रमपूर्ण व्यवस्था थी । इस व्यवस्था मे सत्ता, अर्थ-व्यवस्था एवं जीवन को सामान्य रूप से विकेन्द्रीकृत कर दिया गया । सामतवादी युग मे एकता का आधार राष्ट्रीयता की भावना न होकर धार्मिक भावना थी । चर्च का लोगो के मस्तिष्क पर पूरा प्रभाव था तथा इसने मुख्य एकीकरण की शक्ति का काम किया । यद्यपि सामतवाद ने व्यवस्था एवं स्थायित्व की स्थापना करके एक उपयोगी कार्य को सम्पन्न किया किंतु चौदहवीं शताब्दी मे यह उन नई शक्तियो से प्रभावित होने लगा जो परिवर्तन चाहती थीं । बढते हुए मध्यम वर्ग ने उन शक्तिशाली-व्यक्तियो का समर्थन किया जो सामतवाद के विरोधी थे । इन विरोधी शक्तियों के मिल जाने के कारण सामतवादी लोग उदित होते हुये राज्यों में अपने आपको समायोजित नहीं कर सके । दूसरी ओर पोप तथा बादशाह ने जिस रूप मे इसे चुनौती दी उनका भी यह सामना नहीं कर सके ।

चौदहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक यूरोप विश्व की घटनाओ का एक केन्द्रीय रंगमंच बना रहा । विश्व की प्रभावपूर्ण शक्तियां इसी क्षेत्र मे स्थित थी और दूसरी जगह होने वाली महत्वपूर्ण घटनाओ मे इनकी मुख्य रुचि व योगदान रहता था । सन् १५०० तक कुछ राज्य, जिनके नाम और क्षेत्र बीसवीं शताब्दी के राज्यो के नाम और क्षेत्रो जैसे थे, यूरोप की सीमा मे विकसित हुए । इनमे इंगलैंड, फ्रांस स्पेन और पुर्तगाल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । सन् १८१५ तक यह शक्तियां यूरोप मे तथा समुद्र पार की नई दुनिया मे संघर्षरत बनी रहीं । बड़े-बड़े साम्राज्य जीते गये, हारे गए और एक शक्ति से दूसरी शक्ति को हस्तांतरित किए गये । इसके साथ ही साथ व्यापारिक क्रांति ने स्थानीकृत सामन्तवादी अर्थ व्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया, छापेखाने और बन्दूक की शक्ति का अधिक से अधिक प्रयोग होने लगा । नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने तकनीकी विकास का मार्ग प्रशस्त किया । इन परिस्थितियों मे यदि कोई शक्तिशाली आक्रमणकारी राज्य शक्ति के वितरण को अस्त व्यस्त करने की धमकी देता या अन्य राज्यों को पराधीन बनाने की चेष्टा करता तो छोटे राज्य संघिबद्ध होकर उसे हराने का प्रयास करने लगते । आधुनिक काल मे राज्य व्यवस्था का विकास निम्न क्रम से हुआ —

पहला काल

राज्य व्यवस्था के विकास का प्रारम्भ विचारकों ने १६४८ से माना है जबकि वेस्ट फेलिया (West Phalia) की सन्धि के अधीन ब्रिटेन, फ्रांस तथा स्पेन का राष्ट्रीय राज्यों के रूप में उदय हो चुका था। राजनीति पर से धर्म का प्रभाव हटने लगा। इस समय के विचारक मैकियावेली (Machiavelli), बोदां (Bodin), ग्रोसियस (Grotius) आदि की रचनाओं में धर्म निरपेक्ष स्वतन्त्र राज्य का समर्थन किया गया। यद्यपि इस काल से पहले भी राज्य एवं उनका आपसी सम्बन्ध वर्तमान था किन्तु ये राज्य न तो राष्ट्रीय थे और न इनके पास सम्प्रभुता जैसी कोई चीज ही थी। वेस्ट फेलिया की सन्धि में राज्य व्यवस्था का जो रूप पैदा हुआ वह आज भी स्थित है, अर्थात् 'एक ही विश्व में अनेकों सम्प्रभु राज्यों का अस्तित्व' आज भी पूर्ववत् बना हुआ है। समय के अनुसार इस राज्य व्यवस्था में अनेकों परिवर्तन व प्रभाव पड़े जिनके कारण यह विकसित होती चली गई। पामर तथा परकिन्स के मत में राज्य व्यवस्था पर प्रभाव डालने वाले मुख्य मुख्य विकास [Developments] हैं—प्रतिनिधि सरकार, औद्योगिक क्रांति, जनसंख्या का परिवर्तन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास, कूटनीतिक तरीकों का विकास, राष्ट्रों की आर्थिक परनिर्भरता, झगड़ों के निपटारे के शांतिपूर्ण साधनों की स्थापना, आदि आदि।

दूसरा काल

राज्य व्यवस्था के विकास का दूसरा काल वेस्ट फेलिया व यूट्रेक्ट (Utrecht) की सन्धि के बीच का काल (१६४८–१७१३) है। लुई १४ वें (Louis XIV) ने इस काल में फ्रांस को सर्वोच्च शक्ति बनाने की अपनी महत्वाकांक्षा को क्रियान्वित करने के प्रयास किये। इस समय फ्रांस, ब्रिटेन, हालैंड तथा स्पेन के बीच औपनिवेशिक सर्वोच्चता (Colonial Supremacy) प्राप्त करने के लिए बहुत संघर्ष हुआ। ब्रिटेन ने योरोप में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने के लिए महाद्वीपीय राज्यों से सन्धियां कर लीं तथा इस प्रकार उसने फ्रांस के पर काट दिये। फ्रांस को यूट्रेक्ट (Utrecht) की सन्धि के अधीन बहुत नुकसान उठाना पड़ा था। इस सन्धि ने योरोपीय राज्यों को एक दूसरे से इतना बांध दिया कि दूसरों की प्रतिक्रिया का विचार किये बिना कोई राष्ट्र एक कदम भी नहीं चल सकता था।

तीसरा काल

यूट्रेक्ट सन्धि से लेकर वियना (Viena) की सन्धि (१८१५) तक

का समय राज्य-व्यवस्था के विकास का तीसरा काल है। इस सन्धि के अनुसार जिन राष्ट्रों को प्रथम स्तर की शक्ति माना गया वे थे—ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया, रशिया, फ्रास, प्रू सिया, स्वीडन, पुर्तगाल तथा स्पेन। इस काल मे एक योरोपीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीय रगमच से अपदस्थ हो गया। पोलैंड का विभाजन करके प्रू सिया, रशिया और आस्ट्रिया में उसे बाट दिया गया काल मे पश्चिमी गोलार्द्ध से एक नये राष्ट्र का उदय हुआ। अमेरिकन क्रांति के बाद सयुक्त राज्य अमेरिका का जन्म हुआ। ब्रिटेन, रशिया, प्रू सिया, आस्ट्रिया तथा फ्राम प्रमुख शक्ति बने रहे जबकि स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैण्ड और स्वीडन की शक्ति गिर गई, वे कम शक्ति वाले (Lesser powers) राष्ट्र बन गये। यूट्रेक्ट की सन्धि मे जिस शक्ति सतुलन की स्थापना की गई थी, समय समय पर उसको अस्त-व्यस्त तो किया गया किन्तु पूरी तरह उसको नष्ट न किया गया। योरोप पर प्रभाव जमाने की सामर्थ्य किसी भी देश में न थी।

चौथा काल

सन् १८१५ से १९१४ तक के काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा निर्मित शक्ति-सतुलन बना रहा। क्रीमियन युद्ध तथा फ्राको-प्रू सियन युद्ध द्वारा प्रमुख शक्तियों को दो बार चुनौती दी गई। किन्तु योरोप के शक्ति सतुलन को ये चुनौतियां अव्यवस्थित न कर सकी। इस काल के कुछ प्रमुख परिवर्तन इस प्रकार हैं—

(i) बिस्मार्क की 'लोहा और खून' (Blood and Iron) की नीति के अधीन एकीकृत जर्मनी का उदय हुआ जिसने महाद्वीप पर से फ्रांस के प्रभाव को हटा कर उसका स्थान स्वय ग्रहण कर लिया।

(ii) बलकान्स (Balkans) मे तुर्की की शक्ति घट जाने के कारण अनेक पराधीन व दास राज्यो को अपनी स्वतन्त्रता का स्वप्न पूरा करने का अवसर मिला, उनमे राष्ट्रीयता की भावना उदित होने लगी।

(iii) समुद्र पार (Overseas) के अनेक नवोदित राज्यों के समुदाय ने पश्चिमी गोलार्द्ध में अमेरिका का दामन पकड लिया।

(iv) सुदूर पूर्व मे जापान को सामन्तशाही से छुटकारा मिला। जापान की ब्रिटेन के साथ सन्धि थी, चीन तथा रूस को उसने हरा दिया था, पश्चिमी तौर-तरीकों को जापान ने अपना लिया था, इन सभी कारणों से जापान पूर्व का उगता हुआ सूर्य (The Rising Sun of the East) बन गया।

(v) विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने पर बड़ी शक्तियों के स्वार्थ एक से न रहे। प्रत्येक का स्वार्थ अलग-अलग हो गया। जिन शक्तियों के स्वार्थ विरोधी न थे तथा साथ ही विरोधी के विरोधी थे वे शक्तियाँ आपस में मिल गईं और इस प्रकार विश्व रंगमंच पर एक दूसरे के खून के प्यासे दो गुट बन गये। एक था ट्रिपिल एलाइन्स (Triple Alliance) जिसमें आस्ट्रिया, जर्मनी और इटली शामिल थे। दूसरा ट्रिपिल आंता (Triple Entente) कहलाया। इसमें ब्रिटेन, फ्रांस व रूस मिले हुए थे। पहली १८८२ में तथा दूसरी १९०७ में बन ई गई थी। अमेरिका अभी तक विश्व राजनीति से उदासीन होकर बैठा था, ब्रिटेन को यह बात खलती थी। जापान से सन्धि करके तथा अन्य अनेक प्रयास करके उसने अमेरिका को रंगमंच पर उतारने का सफल प्रयत्न किया।

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व राज्य-व्यवस्था (State System) केवल योरोप महाद्वीप तक ही सीमित थी किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद विभिन्न सन्धि-विग्रहों ने राज्य व्यवस्था को विश्व-व्यापी (World-wide) बना दिया। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार योरोप अब भी एक दृष्टि [redacted] राज्य व्यवस्था का केन्द्र बना हुआ है किन्तु आज जो तीन सबसे शक्तिशाली राज्य हैं उनमें से एक भी पूरी तरह योरोपियन शक्ति नहीं है और इस अर्थ में यह कहा जा सकता है कि योरोपीय राज्य व्यवस्था अब अतीत की गाथा बन गई है तथा उसका स्थान अब विश्व-व्यापी राज्य व्यवस्था द्वारा ग्रहण कर लिया गया है।

अतीत की योरोपियन राज्य व्यवस्था और आज की विश्व-व्यापी राज्य व्यवस्था के बीच कुछ भिन्नतायें वर्तमान हैं जैसे कि योरोपियन राज्य-व्यवस्था में बड़ी शक्तियों की संख्या ६ या ८ होती थी तथा इन शक्तियों के स्वार्थ महाद्वीपीय या क्षेत्रीय सीमाओं में घिरे रहते थे। किन्तु आज की विश्व-व्यापी राज्य-व्यवस्था में केवल दो या तीन ही सर्वोच्च शक्तियाँ (Super-powers) हैं। इन शक्तियों के स्वार्थ भी क्षेत्रीय न होकर विश्व व्यापी (Universal) हैं। यह अन्तर रहने पर भी अनेक विचारकों का मत है कि *राज्य-सरकार का मूल ढांचा (Basic Design) पहले जैसा ही है।* उनका कहना है कि आज भी राज्यों की एक बड़ी संख्या सहअस्तित्व पर आधारित है, सभी राष्ट्र अपने विशेष स्वार्थों और भावनाओं से प्रभावित होकर कार्य करते हैं, सभी सम्प्रभुता के सिद्धान्त को मानते व जोर देते हैं। इसके साथ ही सभी राष्ट्रों की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय शक्ति का विकास

करना होता है। ये सब विशेषतायें राज्य व्यवस्था अथवा राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था में पहले भी थी और अब भी हैं।

प्रादेशिक राज्य का जन्म और अन्त
(The Rise and Fall of the Territorial States)

परम्परागत रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की सास्कृतिक व्यवस्था या आधुनिक राज्य व्यवस्था को अराजकतापूर्ण समझा जाता है। इसका कारण यह है कि इसका आधार असमान रूप से वितरित शक्ति थी। इसकी इकाइया स्वतन्त्र और सम्प्रभु राष्ट्र राज्य थे जिनको मजबूत शक्तियो द्वारा सदैव धमकिया दी जाती रही हैं तथा ये शक्ति सतुलन की व्यवस्था के आधार पर ही अपने अस्तित्व को बनाये रख सके। मध्यकालीन व्यवस्था मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की इकाइया उच्च सत्ता एव उच्च कानून के अधीन रहती थी। दूसरी ओर आधुनिक राज्य व्यवस्था वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियो के अधीन रहती है। इस व्यवस्था मे राष्ट्रो की सामूहिक सुरक्षा तथा कानून के शासन का प्रमुख स्थान है। आधुनिक राष्ट्र राज्य मे जो एकरूपता एव सम्बद्धता पायी जाती है वह उसे उन राष्ट्र राज्यों से पृथक बना देती है जो पृथक स्वतन्त्र एव सम्प्रभु शक्ति युक्त थे। यह देखा जाता है कि राष्ट्र राज्य की एकरूपता एव एकरसता का कारण न तो कानून का क्षेत्र है और न ही राजनैतिक। वरन् यह एकता उस राज्यपन के कारण पैदा होती है जो इसकी भौतिक सीमाओ तथा प्रादेशिक घेरे के कारण पैदा होता है। राज्य अपनी रक्षात्मक आवश्यकताओ के कारण जो किलेबन्दी करता है उसके द्वारा वह एक निश्चित प्रदेश मे सीमित बन जाता है और इसके आधार पर उसे पहचानना सरल हो जाता है। इसे हम आज के राज्य की प्रादेशिकता कह सकते हैं। एक राज्य के चारों ओर सीमा रेखायें होती हैं जिनके कारण वह विदेशी घुसपैठ से अपने आपको सुरक्षित रख सकता है और इस प्रकार इसे वह अपनी सीमाओं मे रहने वालो के लिये सुरक्षा की एक अन्तिम इकाई बना देता है।

इतिहास के दौरान जिस इकाई ने मनुष्यों को सुरक्षा प्रदान की वही मूल राजनैतिक इकाई बन गई। कालान्तर मे लोग केवल उस सत्ता को ही सत्ता मानते हैं जो उन्हे सुरक्षा प्रदान करती है। अणु शक्ति के विकास ने राष्ट्र राज्य की पुरानी सीमाओं को तोड दिया है। अतरमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र के आविष्कार ने राज्यो की किलेबन्दी और उसके आधार पर की

जाने वाली सुरक्षा की आशाओं को समाप्त कर दिया है। इस विकास के कारण परम्परावादी शक्ति की मान्यतायें बदली हैं। इस प्रकार प्रादेशिकता का युग निकल चुका है और इसलिये इससे सम्बन्धित स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता आदि मान्यताओं की उपयोगिता भी सन्देहशील बन जाती है। कुछ विचारकों का कहना है कि वैज्ञानिक प्रगति व अणुशक्ति के विकास ने राज्यों की शक्ति स्थिति में परिवर्तन अवश्य किया है किन्तु इससे अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता, शक्ति सन्तुलन या शक्ति की राजनीति आदि की मान्यताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये सारी बातें राज्यों की प्रादेशिक बनावट के क्षेत्र में आती हैं और इनको राज्यों के परम्परागत रूप से भिन्न नहीं समझना चाहिये वरन् उसी के विकास की आगे की सीढ़ियां माननी चाहिये। एक नये युग का सूत्रपात हम उस समय मान सकते हैं जब प्रादेशिक शक्ति का आधार और सुरक्षात्मकता समाप्त हो जाय। ऐसा इस युग में हो रहा है किन्तु इस वर्तमान को समझने के लिए हमें पुरातन व्यवस्था की प्रकृति एवं जन्म का अधिक निकट से अध्ययन करना होगा।

वर्तमान प्रादेशिक राज्यों के जन्म से हमारा मतलब यह है कि विभिन्न देशों में सामन्तवादी अराजकता के स्थान पर पूर्ण व्यवस्थित केन्द्रीयकरण आने लगा। इसने अपने निश्चित प्रदेश पर नौकरशाही सेना और कर लगाने की शक्ति की सहायता से शासन किया। विदेश सम्बन्धों की दृष्टि से इस युग में शक्ति और सत्ता के मध्यकालीन पद सोपान के स्थान पर असुरक्षा और अव्यवस्था का प्रभाव रहा। इस अव्यवस्था और असुरक्षा को शक्ति सन्तुलन द्वारा कुछ कम किया गया किन्तु शक्ति सन्तुलन को सदैव ही चुनौती दी जाती रही।

मध्य युग में जब सम्राट शांति की स्थापना में असमर्थ सिद्ध हुआ तब तक यह विचार पर्याप्त फैल चुका था कि राज्यों का प्रादेशिक सहअस्तित्व पवित्र रोमन साम्राज्य की अपेक्षा शांति की अधिक गारन्टी दे सकता है किन्तु इस विचार के दौरान प्रादेशिकता मुश्किल से रह सकती थी क्योंकि जिस प्रकार मध्य युगीन नगर अपनी चहारदीवारी के अन्तर्गत आक्रमण से स्वतन्त्र रह सकता था उस तरह यहां स्वतन्त्रता नहीं थी। सैनिक तकनीकी में होने वाले नवीन विकासों की भांति बन्दूक के पाउडर की क्रांति ने आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक सम्बन्धों की बनावट में एक बड़ी क्रांति का प्रादुर्भाव किया क्योंकि इसका रक्षा एवं सुरक्षा की इकाइयों पर भारी प्रभाव पड़ा। सारे यूरोप में असुरक्षा की भावना व्याप्त हो गई। नये या पुराने सम्प्रभुओं को बड़े क्षेत्रों का प्रशासक मानने से पूर्व यह जानना जरूरी था कि

वे अपनी सैनिक शक्ति के आधार पर पूरे प्रदेश का नियन्त्रण कर सकेंगे या नहीं। पहले किलेबन्दी से पूर्ण नगरों को जो स्थान प्राप्त था वह अब बड़े आकार के राज्यों ने ले लिया किन्तु नयी इकाइयों को उस समय तक एकीकृत नहीं समझा जा सकता जब तक इसके अन्दर की सभी स्वतन्त्र किलेबन्दियाँ समाप्त न हो जाय और उनके स्थान पर नई केन्द्रीय शक्ति द्वारा सीमाओं की पक्तियाँ निर्धारित न कर दी जायें। इस नवीन व्यवस्था के आधीन शांति और सुरक्षा की व्यवस्था हुई। युद्ध एक विनियमित सैनिक प्रक्रिया बन गया। एक देश दूसरे देश के आन्तरिक मामलों में केवल तभी हस्तक्षेप कर सकता था जब वह उसकी सीमाओं का उल्लंघन का प्रयास करे। इस प्रकार प्रादेशिक राज्य के मूल ढांचे की स्थापना की गई जो वर्तमान राज्य व्यवस्था के आधुनिक समय के दौरान चलता रहा। इस आधार भूमि पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक नई व्यवस्था व मान्यतायें जन्म ले सकती थीं। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रादेशिक राज्य के आधार पर नई मान्यतायें विकसित की गई।

प्रादेशिकता के परिणामस्वरूप ऐसी मान्यताओं एवं संस्थाओं ने जन्म लिया जो आधुनिक राज्य व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्धों की विशेषता है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून वर्तमान परिस्थितियों में विकसित हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की भांति ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून मूलत विरोधाभासपूर्ण समझा जाता है क्योंकि यह कानून सम्प्रभु इकाइयों को बांधने का दावा करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल तभी क्रियान्वित हो सकता है जब सम्प्रभु स्वतन्त्र राज्यों का अस्तित्व रहे। आधुनिक युग में इसका विकास तभी सम्भव है जब यह उनकी प्रादेशिकता को अभिव्यक्त करे और उनकी सम्प्रभुता को ध्यान में रखे।

परम्परागत राज्य व्यवस्था की एक अन्य विशेषता शक्ति का सन्तुलन है। वर्तमान काल में सन्तुलन के निषेधात्मक पहलुओं के एकपक्षीय रूप पर जोर देने की प्रवृत्ति बदलती जा रही है। अब इसके सकारात्मक पहलू की ओर जोर दिया जाता है जिसके अनुसार एक शक्ति की प्रसारवादी सामर्थ्य को दूसरी शक्ति को पूर्णत समाप्त करने से रोका जाता है। पुरातन व्यवस्था के रूढ़िवादी रूप की अधिक मौलिक विशेषता उसका समाज के रूप में चरित्र था। उस समय के सभी देश परस्पर एक परिवार की इकाई के रूप में रहते थे। पुरानी व्यवस्था की एक अन्य विशेषता यह थी कि उसमें ऐसे उदाहरणों का अभाव था जिनमें युद्ध के कारण अथवा शक्ति राजनीति की घटनाओं के परिणामस्वरूप कोई देश पूरी तरह समाप्त हो गया हो। राष्ट्रवाद का जन्म

होते ही विश्व समाज की इकाइयों का आत्मनिर्णायिक एवं राष्ट्रीय समूहों के रूप में वैयक्तिकरण हो गया। कई स्थानों पर राष्ट्रवाद के जन्म के कारण नये राज्यों की उत्पत्ति हुई। यह नये राज्य बहु राष्ट्रीय या उपनिवेशवादी साम्राज्यों से अलग हुए थे।

राष्ट्र राज्यों की व्यवस्था के कारण नई समस्यायें सामने आयीं। अब सुरक्षा के लिए संशोधित व्यवस्था की आवश्यकता महसूस होने लगी। अब यह समझा जाने लगा कि पुरानी व्यवस्था का सुरक्षात्मक कार्य केवल सापेक्षिक वरदान था। राष्ट्रवाद ने राज्यों के निरन्तर अस्तित्व का आश्वासन दिया। पुराने और नये राष्ट्रों को सामूहिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए नई व्यवस्था की मांग की जाने लगी। वैसे सामूहिक सुरक्षा को शक्ति की राजनीति का स्पष्टत विरोधी तत्व नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह प्रादेशिक राज्यों को अधिक सुरक्षा प्रदान करने का एक प्रयास था।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही ऐसी प्रवृत्तियां सामने आयीं जो परम्परागत व्यवस्था के व्यवहार के लिए खतरनाक थीं। प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से ये प्रादेशिक राज्य की उस विशेषता पर प्रभाव रखती थी जो समान प्रकृति के अन्य राज्यों के साथ इसके स्वतन्त्र सह-अस्तित्व की सर्वाधिक गारन्टी थी। इनमें से अनेक प्रवृत्तियों का सबंध युद्ध से अथवा युद्ध सचालन के तरीकों से था। सम्पूर्ण युद्ध की स्थिति के कारण राज्यों की परम्परागत सुरक्षा की दीवारें मिटने लगी। ऐसा होने के बाद युद्ध तथा प्रादेशिक शक्ति और सम्प्रभुता के बीच का सबंध बदल गया। वर्तमान काल के नये तथ्यों को प्रभावशीलता के आधार पर क्रमश. चार भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम, आर्थिक घेरे की सम्भावना, दूसरे, सैद्धान्तिक व राजनैतिक प्रवेश, तीसरे हवाई-युद्ध और चौथे अणु-युद्ध। प्रादेशिक राज्य के पतन के बाद सारी मान्यतायें और कथन निरर्थक बन गये जो दीवाल खींच कर तथा खाइयां खोदकर जनता की रक्षा का उपदेश देते थे।

राष्ट्र राज्यों की स्थापना
(The Establishment of Nation State)

अनेक स्थानों और समयों में विभिन्न जातियों ने जनता के रूप में अपने आपको विलीन कर लिया और जनता राष्ट्रों के रूप में उदित हुई। कुछ राष्ट्रों ने साम्राज्य बना लिये। बाद में साम्राज्य छोटे-छोटे भागों में बंट गये और उनकी जनसंख्या ने बड़ी इकाइयां बनाने का प्रयास किया। इस

प्रकार से यह प्रतिक्रिया अधिकांश इतिहास में पायी जाती है। राष्ट्र राज्यों को परम्परागत रूप से अपने सम्बन्ध नियमित करने तथा अपनी सुरक्षा बनाये रखने के लिए स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है और उनके ऊपर कोई सर्वोच्च सम्प्रभु नहीं होता। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में संयुक्त राज्य अमरीका और जापान ने अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में भाग लेना प्रारम्भ किया उससे पूर्व राष्ट्र-राज्य व्यवस्था केवल योरोप तक सीमित थी। उस समय राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को जो आदर प्रदान किया जाता था उसके कारण शक्ति की राजनीति के होते हुए भी राष्ट्रीय व्यवहार पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये गये। वैसे योरोप की सुरक्षा की नींव मौलिक स्वायत्तता और प्रत्येक राष्ट्रीय प्रदेश की सुरक्षात्मकता पर आधारित थी। उस समय प्रत्येक राज्य इतना बड़ा था कि वह अपने नागरिकों को रहने की जगह प्रदान कर सके और आक्रमण का विरोध कर सके। उस समय असीमित प्रसार के लिए न तो अवसर थे और न ही आवश्यकता। इसलिए योरोप के राज्य अपने कार्यों को सीमित युद्ध एवं शक्ति संतुलन के प्रयासों आदि के द्वारा विनियमित कर लेते थे।

कुछ विचारकों का कथन है कि १९वीं शताब्दी के योरोप में कुछ छोटे मोटे संघ को छोड़ कर मूलतः एक सुरक्षा का वातावरण व्याप्त था और इस कारण अधिकांश यूरोपीय राष्ट्रों ने सुरक्षा की दृष्टि से अपनी जनता की क्रियाओं को संगठित करने का प्रयास नहीं किया। योरोपीय शक्तियां धीरे-धीरे समुद्र पार के क्षेत्रों में भी बढ़ती जा रही थीं इससे उनकी सुरक्षा को सहारा मिल रहा था। दूसरी ओर ऐसे भी विचारक हैं जो मानते हैं कि उन्नीसवीं सदी में अनेक नवीन प्रवृत्तियां ऐसी थीं जिन्होंने प्रादेशिक राज्य के रूप को समाप्त करने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान किया। इन प्रवृत्तियों ने आत्मनिर्णय का सिद्धांत लागू करने में कठिनाई उत्पन्न की।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद योरोपीय शक्ति व्यवस्था खण्डित हो गई। सन् १९३० में उग्र राष्ट्रवाद ने जो अराजकता की स्थिति पैदा की उसका सामना राष्ट्र संघ के सामूहिक सुरक्षा सिद्धांत द्वारा नहीं किया जा सका। नये राष्ट्रीय राज्यों एवं उनके अल्पमतवर्गों के बीच संघर्ष होने लगा और इटली तथा जर्मनी आदि अंतर्राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं से पूर्ण संशोधनवादी शक्तियों ने शीघ्र ही उसमें हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। जर्मनी में राष्ट्रवाद की भावना इतनी उग्र हो गयी जिसका योरोप में कहीं उदाहरण नहीं मिलता। औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न निराशा

और असुरक्षा, धर्माय की रुचि का असतोष, साम्यवाद का खतरा एवं वाइमर गणराज्य की क्रियाहीनता ने जर्मनी के लोगों को एडोल्फ हिटलर के हाथों में सौंपने के लिए प्रेरित किया। हिटलर ने जातीय राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का उपदेश दिया जिसके आधार पर जर्मनी के लोगों को अधिकार-प्रभुत्वपूर्ण सामाजिक अस्तित्व प्रदान किया जा सके। सन् १६३० के मध्य-काल तक राष्ट्रवाद पर आधारित राजनैतिक व्यवस्था का दिवालियापन सामने आ गया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सर्वोच्च शक्तियों के बीच जो मन-मुटाव पैदा हुआ उसने अनेक राष्ट्रों के इस दावे की सीमाएं सामने रख दी कि वे राजनैतिक सम्प्रभुता की दृष्टि से समान अधिकार रखते हैं। इस धारणा पर आधारित किसी भी विश्लेषण का भी विरोध किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राष्ट्र राज्य अब भी अभिनेताओं की तरह काम करते रहे किन्तु उनके बीच स्थित शक्ति की असमानता ने उस व्यवस्था का रूप बदल दिया जिसमें राज्यों को समान राजनैतिक इकाई माना जाता है।

सर्वोच्च शक्तियों तथा अन्य राज्यों के बीच स्थित शक्ति की असमानता के कारण शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था दो गुटों की व्यवस्था (Bipolar System) में परिवर्तित हो गई। इसके परिणामस्वरूप वर्तमान व्यवस्था में अस्थायित्व बढ़ गया है। विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का रूप जिन दो गुटों में बंटा उनमें शान्ति के लिए किसी प्रकार के समझौते पर पहुंचने की कोई इच्छा नहीं थी तथा सहअस्तित्व के लिए वे बिल्कुल भी तैयार नहीं थे। इसी स्थिति ने एक लेखक को राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था के स्थान पर गुट के कलाकार शब्द का प्रयोग करने के लिए प्रेरित किया है। इस गुटबाजी के काल में यदि सभी नहीं तो अधिकांश देश यह सोचते थे कि उनकी सुरक्षा केवल तभी बनी रह सकती है जबकि वे गुट के प्रभाव-शील या निर्देशक देश की सहमति के अनुसार कार्य करें एवं अपने व्यवहार को एकीकृत कर लें। जब एक बार कोई सदस्य किसी गुट में शामिल हो जाता है तो उस गुट से निकलना उसके लिए एक कठिन काम बन जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसा करने में वह सुरक्षा का अनुभव नहीं करता। लचकदार शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था से भिन्न दो गुट की व्यवस्था में प्रत्येक गुट अपने विरोधी को नीचा दिखाने के लिए सदैव संघर्षरत रहता है। इससे प्रभाव के क्षेत्र तथा प्रत्येक गुट के नए सदस्यों की स्थापना खतरे में पड़ जाती है। यह कहा जाता है कि जब देश ढीले-ढाले रूप से गुट के रूप में एकीकृत होते हैं तो इनके विभिन्न राष्ट्रीय मूल्य प्रायः मन-मुटाव और असहमति के स्रोत

बन जाते हैं। सन् १९५६ के स्वेज नहर-विवाद मे, इस समय के वियतनाम विवाद में तथा अरब-इजरायली संघर्ष में पश्चिमी गुट के विभिन्न देशों ने जो रुख अपनाया वह इस बात का प्रतीक है। यहां तक कि साम्यवादी गुट मे भी इतने मतभेद व और विभिन्नताए आ गई है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध दो विरोधियो की भाँति कटु बन गए है। राष्ट्रीय राज्य की भावना ने यूगोस्लाविया, पोलैण्ड, अलबानिया, चीन आदि राज्यो को अलग अलग रूप से प्रभावित किया है।

दो गुटों की राजनीति के समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में राज्यों की दो अतिरिक्त श्रेणियां भी वर्तमान थी। पहली श्रेणी असलग्नता की और दूसरी निष्पक्ष राष्ट्रो की श्रेणी थी। स्विट्जरलैण्ड और स्वीडन जैसे निष्पक्ष देशो ने यह सोचा कि वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा अपनी प्राकृतिक शक्ति पर निर्भर रह कर, कर सकेंगे और आक्रमण का विरोध कर सकेंगे। दूसरी ओर भारत, मिस्र, इन्डोनेशिया, अरब संघ आदि असंलग्न शक्तियों ने शीत युद्ध को महाशक्तियो के बीच स्वार्थ पर आधारित एक संघर्ष माना और इसमें स्वयं को उलझाने की आवश्यकता महसूस नहीं की। आजकल गुटबन्दी की व्यवस्था का रूप पर्याप्त बदल चुका है। गुटो मे एकता के स्थान पर अनेकता आ गई है और दो गुटो का स्थान विभिन्न क्षेत्रीय संगठनो ने ले लिया है। अणुशक्ति के विकास के कारण राष्ट्र राज्य व्यवस्था पर्याप्त प्रभावित हुई। इसके कारण महाशक्तियां और अधिक शक्ति-सम्पन्न बनी हैं तथा अप्रधान देश भी इसे अपनाकर प्रधानता की ओर उन्मुख हो रहे हैं। अणुशक्ति के विकास ने दो गुट की राजनीति को विरोधी रूप से प्रभावित किया और राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था के विकास मे एक नया मोड़ दिया।

राज्य व्यवस्था की विशेषताएं
(The Features of State System)

राज्य व्यवस्था को जब व्यावहारिक रूप प्रदान किया जाता है तो उसकी कई एक विशेषताएं सामने आती हैं। इनमे से कुछ विशेषताएं ऐसी हैं जिनको राज्य व्यवस्था से अलग नहीं किया जा सकता। इन विशेषताओं के अभाव में स्वय राज्य व्यवस्था ही समाप्त हो जायगी। राज्य जब दूसरे राज्यों से सन्धियां करता है या वह उनके साथ युद्ध मे उलझता है तो इसके पीछे कई एक कारण होते हैं। इन कारणों की प्रकृति एवं प्रसार सामान्य होता है। ये कारण या तत्व किसी भी राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय

व्यवहार की प्रेरणा अथवा आधार होते हैं। पामर तथा पर्किन्स के मतानुसार राज्य व्यवस्था की तीन प्रमुख विशेषताएं हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में विभिन्न राज्यों के व्यवहार को संचालित, निर्देशित, नियन्त्रित और प्रेरित करती हैं।[1] आपकी परिस्थितियों में भी इन विशेषताओं का महत्वपूर्ण स्थान है। जब हम किसी अन्तर्राष्ट्रीय घटना का कारण या परिणाम जानने तथा मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं तो उन्हें इन विशेषताओं में देखा जाना आवश्यक तथा उपयोगी बन जाता है। इन तीन विशेषताओं में प्रथम राष्ट्रवाद का सिद्धान्त है। राष्ट्रवाद को मनोवैज्ञानिक, तार्किक या भावनात्मक गुण माना जा सकता है। यह एक राज्य के लोगों को एकता के सूत्र में बांधता है और उन बातों का समर्थन करने के लिए उस देश के लोगों को प्रभावित करता है जिन्हें हम राष्ट्रीय हित कह सकते हैं। राज्य व्यवस्था की दूसरी विशेषता सम्प्रभुता की मान्यता (The Concept of Sovereignty) है। यह एक कानूनी विचारधारा होती है। सम्प्रभुता के द्वारा एक देश को उसके घरेलू मामलों में तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में एक असीमित शक्ति प्रदान की जाती है। राज्य व्यवस्था की तीसरी विशेषता राष्ट्रीय शक्ति का सिद्धान्त (The Principle of National Power) है। राष्ट्रीय शक्ति एक देश की ताकत होती है। इसके द्वारा राज्य को वह कार्य करने की सामर्थ्य प्रदान की जाती है जिन्हें वह करना चाहता है। राष्ट्रीय शक्ति अनेक तत्वों से मिल कर बनती है। ये तत्व दिखाई देने वाले और दिखाई न देने वाले दोनों ही प्रकार के होते हैं। राज्य व्यवस्था की ये तीन प्रमुख विशेषताएं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तीन आधार शिलाएं हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन को सुगम एवं ग्राह्य बनाने के लिए इन विशेषताओं का अर्थ, प्रकृति, भेद एवं इतिहास जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण रहेगा।

राष्ट्रवाद का सिद्धान्त
(The Doctrine of Nationalism)

राष्ट्रीय समाज अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की इकाइयां होते हैं। राज्य को इस राष्ट्रीय समाज का राजनैतिक संगठन माना जाता है। पैडिल फोर्ड तथा लिंकन (Padelford and Lincoln) के कथनानुसार राष्ट्रवाद विश्व की घटनाओं में राजनैतिक परिवर्तन और क्रियाओं की प्रमुख प्रेरणात्मक शक्ति

1. Palmer and Perkins, op. cit., P 2.

होता है। राष्ट्रवाद यूरोप और अमरीका के राष्ट्रों की रूप रचना में एक प्रमुख तत्व रहा है तथा इसने अनेक युद्धों की जड़ का काम किया है। आधुनिक काल में राष्ट्रवाद ने उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय साम्राज्यवाद को समाप्त कर दिया है। राष्ट्रवाद के सहारे ही एशिया, अफ्रीका और मध्य पूर्व के देश सम्प्रभु स्वतन्त्रता के अधिकार का दावा करने लगे हैं। राष्ट्रवाद के माध्यम से एक प्रदेश की जनता ने अपने आपको एकीकृत किया और स्वतन्त्रता प्राप्त की। दूसरी ओर राष्ट्रवाद ने विभाजनशील दृष्टिकोण की रचना को प्रोत्साहित किया है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, सचार एव सहयोग में प्रतिरोधक का कार्य किया है। राष्ट्रवाद की मान्यता को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन के लिए मूल तत्व माना जाता है। शार्प तथा किर्क (Sharp and Kirk) के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिए राष्ट्रवाद की जानकारी उतनी ही अपरिहार्य है जितना एक घर के सारे कमरों में प्रवेश करने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिए उसके मुख्य द्वार की चाबी लेना जरूरी है। वर्तमान काल में यद्यपि प्रादेशिक राज्य एक भौतिक इकाई के रूप में नहीं रह पाया है क्योंकि अणुशक्ति के विकास ने उसकी प्रादेशिक सीमाओं को महत्वहीन बना दिया है। इतने पर भी एक राष्ट्र के लोग अपने राष्ट्र के प्रति पूरी स्वामीभक्ति रखते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का लक्ष्य, व्यवहार, नीति एव रूप सम्प्रभु राज्यों के व्यवहार का कार्य बन जाए। यदि हम राष्ट्र राज्य व्यवस्था के कार्यों को समझना चाहते हैं तो हमें पहले उन परिस्थितियों को समझना चाहिए जो राष्ट्र राज्य को मौलिक इकाई बना देती हैं। उसके बाद उस प्रभाव की परीक्षा करनी चाहिए जो इन इकाइयों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर रखा जाता है। मैकलेलन ऑलसन तथा सोन्डरमैन (Mc Lellan, Olsan, and Sondermann) के कथनानुसार यदि मनुष्य राष्ट्रों के रूप में सगठित नहीं होते और अपनी सरकारों की आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार और इच्छुक नहीं होते तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अस्तित्व नहीं होता। राष्ट्रवाद का सिद्धान्त इतना प्रचलित और सामान्य बन चुका है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से सम्बन्धित किसी गम्भीर वाद-विवाद में इसका उल्लेख न किया जाए तो इसका कारण यही समझा जाता है कि इसके महत्व को समझा जा चुका है। प्राय प्रत्येक देश के नेता राष्ट्रीय हित को और राष्ट्र के प्रति स्वामीभक्ति को दुनियां की हर चीज से अधिक मूल्यवान समझते हैं।

कभी कभी तो राष्ट्रवाद धर्म और नैतिकता से भी ऊपर उठ जाता है। राष्ट्रवाद में रखे जाने वाले विश्वास की मात्रा के आधार पर इसे प्रायः धर्म की संज्ञा भी दी जाती है। कुछ लेखक इसको धर्म-निर्पेक्ष धर्म (Secular Religion) कह कर पुकारते हैं। विज्ञान की प्रगति के कारण मनुष्य का धर्म से विश्वास उठ चुका है किन्तु इस नये धर्म अर्थात राष्ट्रवाद के प्रति उसकी पूरी स्वामीभक्ति है। जिस प्रकार पहले धर्म के नाम पर जानवरों की हत्या को पवित्र माना जाता था उसी प्रकार आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत के अनेक अमानवीय कार्यों को राष्ट्रवाद के नाम पर उचित सिद्ध किया जाता है।

राष्ट्र और राष्ट्रवाद
(Nation and Nationalism)

अंग्रेजी के नेशन (Nation) शब्द की उत्पत्ति लेटिन शब्द नेशियो (Natio) से हुई है जिसका अर्थ होता है 'जन्म या जाति'। आज राष्ट्रवाद केवल जनसंख्या को ही इंगित नहीं करता। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय राष्ट्र शब्द को बहुत लोकप्रियता प्राप्त हो गई तथा इसका प्रयोग देशभक्ति (Patriotism) के अर्थ में किया जाने लगा, किन्तु हमें यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि राष्ट्रवाद का अर्थ राष्ट्र (Nation), राष्ट्र राज्य (Nation-State), देश-प्रेम (Patriotism) आदि से भिन्नता रखता है। राष्ट्र और राष्ट्रवाद के अर्थों के बारे में भी प्रायः भ्रम पैदा हो जाया करता है। 'राष्ट्र' शब्द मुख्यतः राजनैतिक पहलू पर जोर देता है तथा एक ऐसे जन-समुदाय का चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है जो राजनैतिक दृष्टि से या तो स्वतन्त्र हो अथवा स्वतन्त्रता पाने के लिए छटपटा रहा हो। दूसरी ओर राष्ट्रवाद एक मनोवैज्ञानिक धारणा है। राजनीति से इसका सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। एक सी संस्कृति तथा नैतिक मान्यताओं वाले जन समुदाय में एक ही राष्ट्रीयता का होना माना जायगा। इस अर्थ में एक राष्ट्र के अन्दर अनेक राष्ट्रीयताओं का निवास सम्भव है। अर्थात् यह हो सकता है कि एक राष्ट्रीयता विदेशी शासन के अधीन रह रही हो क्योंकि सम्प्रभुता एवं स्वतन्त्रता जो 'राष्ट्र' की आत्मा होती है, राष्ट्रीयता के अस्तित्व के लिए उतनी आवश्यक नहीं होती। सोवियत रूस तथा ग्रेट ब्रिटेन के उदाहरणों को ध्यान में रखने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। ब्रिटेन एक राष्ट्र है किन्तु उसमें चार राष्ट्रीयतायें निवास करती हैं—अंग्रेज, स्काच, उत्तरी आयरिस तथा वेल्स। इस प्रसंग में हेज (C. J. H. Hayes) महोदय का कथन युक्ति संगत है। वे लिखते हैं—"एक राष्ट्रीय राज्य (Nation State) सदा ही

राष्ट्रीयता पर अवलम्बित रहता है, किन्तु राष्ट्रीयता का अस्तित्व राष्ट्रीय राज्य के बिना भी हो सकता है। राज्य मूलत राजनैतिक होता है जबकि राष्ट्रीयता मुख्य रूप से सांस्कृतिक होती है और संयोगवश वह राजनैतिक हो जाती है।"

राष्ट्रवाद का अर्थ एवं प्रकृति
(The Meaning and Nature of Nationalism)

राष्ट्रवाद एक भावनात्मक तत्व है जो मानवीय व्यवहार में प्रदर्शित होता है। इस भावना से प्रभावित होकर लोग जो निर्णय लेते हैं अथवा जो कार्य करते हैं उसके आधार पर राष्ट्रवाद की प्रकृति का एक रेखाचित्र खींचा जा सकता है किन्तु यह रेखाचित्र अत्यन्त धुंधला, अनिश्चित एवं अस्थिर होता है क्योंकि मनुष्य का व्यवहार अध्ययन की दृष्टि से एक अत्यन्त जटिल विषय होता है। राष्ट्रवाद की परिभाषायें देने वाले विचारक भी यह स्वीकार करते हैं कि इसकी किसी सतोषजनक परिभाषा पर पहुंचना बहुत कठिन है। वैसे 'राष्ट्र' हम व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो एकीकरण की भावना से युक्त होता है तथा जिसमें दूसरों से पृथकता की चेतना रहती है। 'राष्ट्र' को या तो उसके व्यक्तिगत सदस्यों की वस्तुगत विशेषताओं के माध्यम से परिभाषित किया जा सकता है अथवा इन सदस्यों की विषयगत भावनाओं के माध्यम से या दोनों ही तरीकों के संयोग से। अतर्राष्ट्रीय सबधों के रायल इन्सटीट्यूट ने राष्ट्रवाद पर सन् १६३६ में दी गई अपनी रिपोर्ट में उन विशेषताओं का उल्लेख किया है जो सभी में नहीं तो अधिकांश राष्ट्रों में तो पाई ही जाती हैं। ये विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

१ राष्ट्र में एक सामान्य सरकार का विचार रहता है चाहे यह वर्तमान या अतीत की वास्तविकता के रूप में हो अथवा भविष्य की आकांक्षा के रूप में।

२ समस्त व्यक्तिगत सदस्यों के बीच कुछ घनिष्ठता रहती है। जिन भागों के बीच इस प्रकार सम्पर्क नहीं रहता वे किसी राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते।

३. थोड़ा बहुत परिभाषित प्रदेश होता है। इजराइल की स्थापना से पूर्व यहूदियों को इस विशेषता का एक अपवाद माना जाता था।

४. कई ऐसी विशेषतायें भी होती हैं जो एक राष्ट्र को अन्य राष्ट्रों से तथा गैर-राष्ट्रीय समूहों से अलग करती हैं। भाषा को इन विशेषताओं में मुख्य माना जाता है। वैसे अनेक अपवाद ऐसे हैं जहां पर अनेक भाषायें बोली

जाती है। दूसरी ओर कुछ भाषायें ऐसी हैं जिनको कई राष्ट्रों मे बोला जाता है। जाति, धर्म एवं राष्ट्रीय चरित्र आदि कुछ विशेषतायें राष्ट्रीयता की सामान्य विशेषताओं के उदाहरण हैं।

५ राष्ट्र मे कुछ हित (Interests) ऐसे होते हैं जो सभी व्यक्तिगत सदस्यो के लिए सामान्य होते हैं। राज्य के साधन द्वारा राष्ट्र अनेक सामाजिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का कार्य करता है। एक राष्ट्र के होने का अर्थ है अनेक सामान्य हितों का भागीदार बनना।

६ एक राष्ट्र के व्यक्तिगत सदस्यो के मस्तिष्क मे राष्ट्र के चित्र से सबधित सामान्य भावना या इच्छा का कुछ मात्रा मे अस्तित्व रहता है।

विषयगत (Subjective) परिभाषाओं के अनुसार राष्ट्रवाद मस्तिष्क की एक स्थिति है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक प्रतिनिधि सरकार (Representative Government) मे यह बताया है कि एक राष्ट्र के सदस्यो के बीच सामान्य सद्भावना रहती है जिसके कारण वे एक दूसरे के साथ सहयोग करने के लिए स्वेच्छा से तैयार रहते हैं। वे एक ही सरकार के आधीन रहना चाहते हैं तथा यह इच्छा रखते हैं कि यह सरकार स्वय उनके द्वारा या उन्ही के किसी भाग की होनी चाहिये। रेनन (Renan) ने १८८२ मे राष्ट्र को एक 'आत्मा' तथा 'आध्यात्मिक सिद्धात' कहा था। पेडिलफोर्ड तथा लिंकन (Padleford and Lincoln) के कथनानुसार एक राजनैतिक शक्ति के रूप मे 'राष्ट्रवाद' राष्ट्रीयता के विचार के बारे मे एक विचारधारा तथा उस विचारधारा के राजनैतिक सस्थाकरण का राष्ट्रीय राज्य मे सयोग है।[1] राष्ट्रवाद की शक्ति का आधार राष्ट्रीय एकता की भावना होती है। यह भावना जाति, भाषा, सामान्य इतिहास एव अनुभव या धर्म आदि से पनपती है। राष्ट्रीय राज्य अपने सदस्यो के राजनैतिक एव सामाजिक सगठन को प्रतिबिम्बित करता है। यह राज्य अपने सदस्यो पर दमनकारी शक्ति रखता है तथा उनके नाम पर उस प्रदेश में सम्प्रभुता का दावा करता है जहा पर वे रहते हैं।

राष्ट्रवाद को परिभाषित करने की एक कठिनाई यह भी है कि इसके अनेक रूप होते हैं। मूलत यह एक भावना है जो राष्ट्रीय चेतना को प्रतिबिम्बित करती है तथा एक व्यक्ति मे उसके देश के प्रति स्वामी भक्ति को

---

1 Padleford and Lincoln, The Dynamics of International Politics, PP. 70–71

प्रेरित करती है। एक व्यक्ति अपने राष्ट्र के प्रति क्यों स्वामिभक्त होता है, इसके पीछे अनेक कारण हैं। इसका मूल कारण है कि व्यक्ति अपने राष्ट्र के साथ अपने अच्छे जीवन का एकाकार कर लेता है। वह यह समझने लगता है कि उसका जीवन उस समय अधिक अर्थपूर्ण बन जायेगा जबकि वह अपने राष्ट्र के उद्देश्यों, सफलताओं और यहां तक कि असफलताओं में भागीदार बनेगा। राष्ट्रवाद एक ऐसी चेतना है जो लोगों के समूहों के बीच एक डोरे का काम करती है।

बार्कर महोदय ने 'राष्ट्र' को परिभाषित करते हुए राष्ट्र के जिन मूल तत्वों का वर्णन किया है वे हैं—निश्चित भूमि, निवासियों के एक से विचार, एक सा इतिहास, एक सा धर्म, एक सी भाषा, एक सा ही सकल्प और उस सकल्प को साकार करने के लिए एक पृथक राज्य का होना।[1] इस परिभाषा में से यदि राज्य (State) शब्द को अलग कर दिया जाय तो यही परिभाषा राष्ट्र की न रह कर राष्ट्रवाद की बन जाती है।

राष्ट्रीयता की दूसरी परिभाषा जिमर्न (A E Zimern) की है जिनके अनुसार "धर्म की भांति राष्ट्रीयता भी आत्मपरक (Subjective) है मनोवैज्ञानिक है। यह मन की एक स्थिति है तथा एक आध्यात्मिक धारणा है। यह भावना, विचार और जीवन की एक प्रणाली है।"

जे एच रोज के मतानुसार "राष्ट्रीयता दिलो की एकता का नाम है जो एक बार बन जाती है तो कभी टूटती नहीं।" बोइड शेफर ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रवाद कल्पना और सत्य' (Nationalism Myth and Reality) में यह बताया है कि राष्ट्रवाद की आत्मा में कई चीजें समाहित होती हैं। उदाहरण के लिए प्रदेश की कुछ परिभाषित इकाई सामान्य इतिहास में विश्वास, सामान्य उद्गम में विश्वास तथा यह आशा कि राष्ट्र का भविष्य महान् होगा, इसके प्रदेश का विस्तार होगा आदि आदि। राष्ट्रवाद के द्वारा एक देश के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्य सर्वोच्च बन जाते हैं। स्वामिभक्ति को देशभक्ति के द्वारा मापा जाता है। जो लोग पराधीन होते हैं उनके लिए राष्ट्रवाद का मुख्य उद्देश्य स्वतन्त्र राज्य होता है। एक राजनैतिक आंदोलन के रूप में राष्ट्रवाद एक देश के लोगों को अपने तरीके से अपना जीवन व्यतीत करने का अधिकार देता है।

हैन्स कोहन (Hans Kohn) के अनुसार राष्ट्रीयता मुख्य रूप से

---

1 Ernest Barker National Character and the Factors in its Formation 1927, P 17

एक मन स्थिति है, यह अंतरात्मा का कार्य है। स्नाइडर (Snyder) ने भी माना है कि राष्ट्रीयता की जड़े अवचेतन दुनिया में रहती हैं जो तर्कहीन, बुद्धिहीन तथा हवाई किले के समान स्वप्निल होती हैं। स्नाइडर महोदय द्वारा राष्ट्रीयता की जो परिभाषा दी गई है उसे कम आपत्तिजनक समझा जाता है। इनका कहना है कि राष्ट्रवाद (Nationalism) समय समय पर राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक और बौद्धिक तत्वों से प्रभावित होता है। यह ऐसे जन समुदाय के मन, भाव और सवेगों की स्थिति है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है, एक सी भाषा बोलता है, जिसके पास राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं को व्यक्त करने वाला साहित्य होता है, जो एक से रीतिरिवाज और परम्पराओं को मानता है, अपने नेताओं के गुणगान करता है तथा कुछ स्थितियों में एक धर्म में विश्वास करता है।

श्लाइशर (Charles P Schleicher) महोदय ने राष्ट्रवाद को एक जनसमूह की मानस चेतना (Consciousness) तथा उसके सवेगों का वर्तमान तत्व माना है जो एक व्यक्ति के भाग्य को प्राप्त या अप्राप्त राष्ट्र राज्य के भाग्य के साथ मिलाने में सदैव प्रयत्नशील रहता है।

राष्ट्रवाद की उक्त सभी परिभाषाओं को देखने के पश्चात् हमारे सामने यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीयता का अर्थ एवं प्रकृति क्या है। राष्ट्रीयता की भावना को कभी-कभी युद्ध एवं सघर्षों का कारण भी मान लिया जाता है। इसे अनेक बार विदेशी आक्रमणों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। इस आरोप को पूरी तरह झूठा नहीं बताया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कई बार राष्ट्रवाद के नाम पर युद्ध एवं आक्रमण हो जाया करते हैं किंतु आक्रमण या युद्ध राष्ट्रवाद का उद्देश्य नहीं है यह तो इस भावना का दुरुपयोग ही माना जायगा। सच्चा राष्ट्रवाद प्रारम्भ में एक स्वतंत्र राष्ट्र के निर्माण में प्रयत्नशील रहता है और इसके प्राप्त हो जाने पर इस राष्ट्र के बहुमुखी विकास में लग जाता है।

राष्ट्रवाद की जड़
(The Roots of Nationalism)

राष्ट्रवाद एक भावनात्मक तत्व है जो अपने आपको अनेक प्रकार से सामने लाता है। एक राष्ट्रवादी व्यक्ति प्रतर्दशक होता है तथा वह बाहरी समूहों के लिए या तो उदासीन होता है अथवा विरोधी होता है। वह अपने देश को ससार का सर्वोच्च देश मानता है। हिंदुस्तानी राष्ट्रवादी की रग-रग में यह व्याप्त रहता है कि "सारे जहां से अच्छा हिंदोस्ता हमारा।"

कभी कभी उसमे अपने राष्ट्रवासियों के प्रति सेवा के भाव उभर आते हैं। कई बार दो राष्ट्रीयताओं के बीच संघर्ष के भाव भी पैदा हो जाते हैं। फ्लोरियन जेनिकी (Florian Znanicki) के कथनानुसार राष्ट्रीयतायें एक दूसरे से उस समय झगड़ती हैं जबकि एक राष्ट्रीयता दूसरी की कीमत पर जानबूझ कर अपना प्रसार करे अथवा दो राष्ट्रीयतायें अपना प्रसार इस प्रकार करें कि दोनों को एक दूसरे के प्रसार मे हस्तक्षेप करना पड़ जाये। यह आक्रमणकारी प्रसार, जो आगे चल कर संघर्ष का कारण बनता है, चार प्रकार का हो सकता है—भौगोलिक, आर्थिक, सैद्धान्तिक और संयुक्तीकरण करने वाला। राष्ट्रवाद के अभिव्यक्तिकरण के इन विभिन्न रूपों की प्रखरता इस बात पर निर्भर करती है कि राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति मे उग्रता की मात्रा कितनी है तथा उग्रता की मात्रा का निश्चय बहुत कुछ इस बात से किया जाता है कि उसकी जड़ें कितनी गहरी एवं सशक्त हैं।

राष्ट्रवाद की जड़ों से हमारा अर्थ उन अनेक तत्वों से है जो राष्ट्रीयता की भावना अथवा राष्ट्रवाद को पनपाते हैं एवं उसको आश्रय प्रदान करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने इन तत्वों का विशद रूप मे विवेचन किया है। श्लाइशर (Schleicher) महाशय मानव प्रकृति, भूगोल, जाति, धर्म, भाषा आदि तत्वों को राष्ट्रवाद की जड़ मानते हैं। ये वे तत्व हैं जिनमे राष्ट्रीयता की भावना जन्म लेती तथा पनपती हैं। वैसे इनमे से कोई भी तत्व ऐसा नहीं है जिसके न होने पर राष्ट्रवाद न रहे किन्तु कई तत्वों के अभाव मे यह भावना मन्द अवश्य पड़ जायेगी, ठीक इसी प्रकार जैसे कि जड़ कट जाने पर या सूख जाने पर पौधा सूख जाता है। राष्ट्रीयता की भावना के इन तत्वों में से किसी का भी अभाव होने पर असंतुलन पैदा हो जाता है, संतुलन की पुन: स्थापना करने के लिए दूसरे अन्य तत्वों को शक्तिशाली बनाना आवश्यक बन जाता है। राष्ट्रवाद को बनाये रखने वाले एवं बढ़ावा देने वाले तत्व निम्न प्रकार हैं—

(१) भौगोलिक एकता (A Definite territory)—भौगोलिक विशेषताएं एक राज्य के निवासियों मे एकता की भावना लाती हैं तथा दूसरे समुदायों से उनमे भेद स्थापित करती हैं। एक देश की प्राकृतिक सीमाएं राष्ट्रवाद को बनाये रखने तथा विकसित करने मे बड़ी महत्वपूर्ण सिद्ध होती हैं। जब इन सीमाओं का कोई दूसरा राज्य अतिक्रमण करना चाहता है तो दोनों देश युद्ध की आग मे कूद पड़ते हैं। चीन के विरुद्ध हिमालय की रक्षा [redacted] लिए भारतीयों ने भारी बलिदान किये हैं तथा अब करने को तैयार हैं। रामजे म्योर ने लिखा है कि "जिन देशों की सीमाएं निश्चित होती हैं उनमे

भौगोलिक एकता आ जाती है और यह तत्व भी आंशिक रूप से वहां राष्ट्रपन (Nationhood) का कारण बन जाता है।"[1] मातृभूमि का होना राष्ट्रवाद की भावना के लिए एक स्थूल आधार प्रदान करता है। इसके अभाव में जिप्सी तथा कजर मारे-मारे फिरते हैं, उनमें राष्ट्रीयता की भावना के विकास का प्रश्न ही नहीं उठता।

भौगोलिक एकता एक ऐसा तत्व है जो अन्य अनेक एकताओं को जन्म देता है। एक सी जलवायु, वातावरण एवं प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच पले व्यक्तियों की शारीरिक विशेषतायें प्राय समान होती हैं, उनकी अधिकांश समस्यायें एक सी होती हैं। इसी कारण उनके बीच परस्पर सहयोग एवं सहानुभूति के भाव पनपते हैं। वह पूरे प्रदेश के हित में अपना हित देखता है। प्राय यह कहा जाता है कि "राजनीति हमें विभाजित करती है, धर्म हमारे बीच दीवार खड़ी करता है, संस्कृति हमें टुकड़ों में बाटती है, पर हमारा देश और धरती का प्यार हमें एक सूत्र में बांध सकता है।" प्रो० हेज इस विचार-प्रवाह का मछली की भांति विरोध करते हैं। उनका स्वयं का मत यह है कि जातियों के बीच प्राकृतिक सीमाओं का विचार एक कोरी कल्पना है किन्तु हम जानते हैं कि हाल के भारत पाक संघर्ष ने स्पष्ट कर दिया है कि स्वयं हेज (Hayes) महोदय का कथन ही कल्पना था। भारत के मुसलमानों ने मातृभूमि की रक्षा के लिए उतना ही बलिदान किया जितना कि अन्य किसी, धर्म या जाति के भारतीयों ने किया था।

(२) एक-सी जाति (Common Race)—जाति और राष्ट्रवाद के बीच एक गहेरा सम्बन्ध पाया जाता है। किसी भी राज्य में राष्ट्रवाद की भावना अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती, यदि उसमें स्थित जातियों तथा वर्गों के बीच गहरा मतभेद वर्तमान है। जिमर्न (A E Zimmern) तथा ब्राइस (Bryce) राष्ट्रीयता की भावना के विकास में जाति का महत्वपूर्ण योगदान मानते हैं। दूसरी ओर मेजिनी (Mazzine), रेनन (Renan), रोज (J H. Rose) तथा हेज (Hayes) आदि विचारक हैं जो राष्ट्रीयता की भावना पर एक जाति का प्रभाव मानने को तैयार नहीं हैं। इनका तर्क जैसा कि मुसोलिनी भी कहा करता था, यह है कि जीवशास्त्र की दृष्टि से आज कहीं भी कोई शुद्ध जाति नहीं है। पिल्सबरी (Pilsburry) का कहना है कि साधारणतया राष्ट्रीयता के निर्माण में जाति का अब कोई

1 Ramsay Muir, Nationalism and Internationalism, P. 917

महत्व नहीं है। किसी भी राष्ट्र में कोई भी शुद्ध जाति नहीं है। प्रत्येक मनुष्य वर्ण शंकर है। आलोचकों का मत आंशिक रूप से सच है। वास्तविकता तो यह है कि जाति एक भावना है, वास्तविकता नहीं। भारतीय प्रशासन में पक्षपात व भ्रष्टाचार के लिए जातिवाद को बहुत कुछ उत्तरदायी ठहराया जाता है। जाति के नाम पर हिटलर ने अपनी नीतियों पर पूरे जर्मनी का समर्थन प्राप्त कर लिया था। अमरीका और दक्षिणी अफ्रीका में जातिभेद व रंगभेद की नीति के कारण अनेकों उपद्रव होते रहते हैं। रोडेशिया की समस्या पर विश्व को सर न खपाना पड़ता यदि इयान स्मिथ (Ian Smith) भी उसी जाति व रंग के होते जिसका वहां का बहुमत है। स्पष्ट है जातीय एकता भी राष्ट्रीयता की भावना पर प्रभाव डालती है। हेज (Hayes) महोदय के मतानुसार राष्ट्रवाद प्रायः जाति की सीमायें तोड़ जाता है किन्तु फिर भी जातीय एकता राष्ट्रीयताओं का निर्माण करने व पक्का बनाने में सदैव प्रभावकारी शक्ति रही है।[1]

(३) एक सी संस्कृति (Common Culture)—राष्ट्रवाद को एक सांस्कृतिक धारणा माना जाता है। एक देश में पाये जाने वाले कला, साहित्य, सामान्य परम्परायें, लोकगीत, काव्य आदि कृतियां एक बड़े पैमाने पर नागरिकों के बीच एकता की स्थापना करने में बल देती हैं। उदाहरण के लिए हम साहित्य को ले सकते हैं। राष्ट्रभक्तिपूर्ण ओजस्वी साहित्य ऐसे नागरिक बना सकते हैं जो राष्ट्रीयता के नाम पर खुशी से अपने प्राणों का बलिदान कर दें। स्वतन्त्रता से पूर्व भी 'वन्देमातरम्' गीत भारतीयों के हृदय में हिलोरें उठा देता था। जोसेफ (B Joseph) महोदय का विचार है कि अंग्रेजों के व्यवहार में कुछ समानताएं पाई जाती हैं जैसे, चाय पीना, राष्ट्रीय नौसेना पर गर्व करना तथा खेल आदि। ये समानताएं देखने में तो साधारण सी प्रतीत होती हैं किन्तु इन्होंने राष्ट्रीयता को सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण रूप से कार्य किया है।

(४) एक सी भाषा (Common Language)—भाषा भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। एक भाषा भाषी दो व्यक्ति जब ऐसे प्रदेश में मिलते हैं जहां की भाषा उनसे भिन्न है तो दोनों के दिलों में परस्पर प्यार उमड़ पड़ता है। समान भाषा के अभाव में व्यक्ति अपने विचारों को जिस रूप में व्यक्त कर सकता था न कर सकेगा और समझने वाला जिस

1. C J H Hayes, Essays on Nationalism, 1926, P. 8.

प्रकार समझा सकता है न समझ सकेगा। भारत में राष्ट्रीयता के उदय के कारणों का जब अध्ययन किया जाता है तो अंग्रेजी भाषा को भी एक महत्व-पूर्ण स्थान दिया जाता है जिसने भारत के विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के लोगों में एकता की स्थापना की तथा उसे मजबूत बनाया। ग्लाइसर महोदय ने भाषा को एकता के निर्माण का एक मुख्य तत्व माना है।

(५) समान धर्म (Common Religion)—एक ही धर्म की व्यक्तियों के बीच एकता के निर्माण में कितना सहायक होता है इस बात को हम भारतीय अच्छी तरह जानते हैं। संसार का इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम का राजनीतिज्ञों द्वारा प्रारम्भ से ही दुरुपयोग किया गया। अपने साम्राज्यवाद के निर्माण की महत्वाकांक्षाओं को उन्होंने धर्म की सजीली वेशभूषा से सुसज्जित कर दिया। जनसाधारण धर्म के नाम की चकाचौंध में अंधा होकर एक झंडे के नीचे आया और विधर्मियों का खून बहाने में राज-नीतिज्ञों का मातहत बन गया।

धर्म और राष्ट्रवाद के बीच बहुत गहरा सम्बन्ध है। इस तथ्य को समझ लेने के बाद ही भारत में राष्ट्रीयता की ज्योति जलाने तथा उसे स्थायी बनाने के लिए ही अनेकों धर्म सुधार आन्दोलन किये गये। अधिकांश संस्थाओं द्वारा हिन्दू धर्म के प्राचीन गौरव का गुणगान किया गया। भारत की भूमि के दो टुकड़े करने वालों के मस्तिष्क में धर्म ही राष्ट्रीयता के प्रधान आधार के रूप में था। धर्म के आधार पर ही आज पाकिस्तान भारत के अभिन्न अंग कश्मीर को हड़पना चाहता है। धर्म के नाम पर ही वहां की जनता सरकार की इन अनुचित नीतियों को सहन करती है। ग्लाइसर महोदय का विचार है कि धार्मिक समानता व असमानता से एक राष्ट्र की एकता बढ़ती व कम होती है। संकट काल के समय एक संगठित धर्म प्रायः राष्ट्रीय नीतियों का समर्थन करता है।

राष्ट्रीयता की भावना अथवा राष्ट्रवाद को बढ़ाने, विकसित करने एवं बनाये रखने में उक्त तत्वों का बड़ा महत्वपूर्ण योग रहता है। इसके अतिरिक्त यदि एक जनसमुदाय के आर्थिक हित समान हों, एक सुदृढ़ शासन के वह अधीन रहे, एक सी समस्याएं एवं कष्ट उसके सामने हों तथा एक राष्ट्र बनाने की उसकी इच्छा हो तो उस जनसमुदाय में शीघ्र ही राष्ट्रीयता के भाव पैदा हो जायेंगे।

(६) संघर्ष के समय राष्ट्रीय एकता (National Unity in Time of Conflict)—योरोप में जिस राष्ट्रवाद का उदय हुआ था उसकी रूप रचना

करने मे सामन्तवादी एव राजाशाही युद्धो ने महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया है। इन्होंने स्वामिभक्ति को सशक्त किया, नेतृत्व को विकसित किया तथा सामूहिक भावना की प्रतिष्ठा की। युद्धो ने लोगो को एक साथ कार्य करने के लिए प्रेरित किया ताकि वे अपने राष्ट्रीय अस्तित्व की रक्षा कर सकें तथा देश की असुरक्षा मे हिस्सेदार बन कर एकता की भावना विकसित कर सकें। योरोप के अनेक राष्ट्रो की रचना युद्धो के बाद तथा उन परिस्थितियो के विकसित होने पर हुई जिन्होंने कि अठारवी और उन्नीसवी शताब्दियो मे राष्ट्रवाद के विकास का समर्थन किया। अमरीका मे राष्ट्रवाद का उदय १८१२ के युद्ध, मैक्सीकन युद्ध तथा पश्चिमी सीमा पर सघर्ष आदि के बाद हुआ। मैक्सीकन युद्ध ने मैक्सीको मे भी राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन दिया। भारत मे अनेक जातियों एव धर्मों के अस्तित्व के कारण राष्ट्रीय एकता की समस्या रहती है और इस समस्या का सतोषजनक समाधान अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है किन्तु फिर भी यहा सकट के समय जो एकता दिखाई देती है वह अद्वितीय होती है। सन् १९६२ के चीन के आक्रमण के समय तथा सन् १९६५ के पाकिस्तानी आक्रमण के समय भारत की जनता अपने धार्मिक, जातीय, भाषाई, वर्गीय, क्षेत्रीय आदि समस्त भेदभावो को भूल कर एक स्वर से सरकार की नीति का सहारा बन गई। पेडलफोर्ड तथा लिंकन का यह कथन पूर्णत सत्य है कि युद्ध और आक्रमण की धमकी प्राय प्रत्येक जगह राष्ट्रीय भावनाओ को उभारने मे तथा नये राष्ट्रो की रचना मे महत्वपूर्ण तत्व रहते हैं।[1] इस बात के उदाहरणो की इतिहास मे कमी नही रहती। जब पेलेस्टाइन (Palestine) को विभाजित करके इज़रायल राज्य बनाया गया तो भय, सदेह एव शत्रुता के कारण यहूदियो एव अरबियो के बीच लडाई प्रारम्भ हो गई। इस सघर्ष के परिणामस्वरूप अरब और यहूदी दोनों का राष्ट्रवाद पर्याप्त पनपा है।

(७) राष्ट्र का अादि भौतिक रूप (The Metaphysical Form of Nation)—जब दार्शनिकों, विचारकों एव लेखकों ने राष्ट्र की प्रकृति को आदि भौतिक रूप मे वर्णित किया तो सामान्य जनता पर इसका भारी प्रभाव हुआ। एक भावना के रूप मे राष्ट्रीयता का आधार 'विश्वास' होता है। बुद्धि के स्तर पर लाने से यह भावना समाप्त या प्रभावहीन हो जाती है। इसके विपरीत विश्वास को जितना सशक्त बनाया जायेगा यह भावना भी उतनी ही विकसित होगी। यही कारण है कि जब विद्वानो ने राष्ट्र के

1. Padlford and Lincoln, op. cit. P 74

ईश्वरीय गुणों को कल्पनात्मक ढंग से वर्णित किया तो इस धर्म में लोगों का विश्वास दृढ़ बन गया। जर्मनी में फिक्टे (Fichte) तथा इटली में मेजिनी (Mazzini) आदि दार्शनिकों ने यह बताया कि राष्ट्र की रचना ईश्वर द्वारा की गई है। यह शान्ति एवं सहयोग की ईश्वरीय योजना का एक भाग है। हीगल ने इसको आध्यात्मिक अंग रचना (Spiritual Organism) माना तथा रेनन (Renan) ने इसको आत्मा, एक आध्यात्मिक सिद्धांत कहा।

(८) राष्ट्रवाद और उसके प्रतीक (Nationalism and its Symbols)—एक राष्ट्रीयता के लोग अपने आपको एक रूप तभी समझ सकते हैं जबकि सामूहिक संचार एवं संयुक्तीकरण की व्यवस्था हो। यह व्यवस्था प्रतीकों के माध्यम से तथा संचार की कला के विकास द्वारा की जा सकती है। कला, साहित्य, समूहगान एवं संगीत के द्वारा ऐतिहासिक स्मृतियों को सजग एवं अमिट बनाया जाता है और इस प्रकार उनको एक विशेष राष्ट्रीय अर्थ तथा तेज प्रदान किया जाता है। राष्ट्रीय नेताओं एवं महापुरुषों के यशोगान द्वारा राष्ट्रीय भावना का प्रसार होता है। भारत में महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री, अमरीका में वाशिंगटन, जैफर्सन तथा लिंकन; इटली में मेजिनी और गारीबाल्डी (Garibaldi), फ्रांस में नेपोलियन इंगलैंड में नेल्सन आदि नेताओं के गुणगान द्वारा राष्ट्रीयता की भावना को एक सम्पत्ति में प्रविष्ट किया जाता है। राष्ट्रीय महत्त्व के दर्शनीय स्थल, धार्मिक पर्व एवं उत्सव अनेक समाधियां आदि राष्ट्रीयता के विचार का प्रसार करती हैं अनेक नारे जैसे—स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व या सत्य, शिव, सुन्दरम् राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गीत, तथा सैनिक पोशाक आदि के माध्यम से एक राष्ट्र के लोगों में परस्पर अपनत्व की भावना पनपती है।

(९) राष्ट्रीय चरित्र और जीवन का तरीका (National Character and Way of Life)—यह कहना बहुत कुछ सत्य है कि राष्ट्रों का अपना एक विशेष राष्ट्रीय चरित्र होता है तथा उनके जीवनयापन का एक विशेष तरीका होता है। एक प्रदत्त वातावरण कुछ ऐतिहासिक अनुभव, सामाजिक एवं राजनी संस्थाओं का एक निश्चित रूप आदि बातें सामूहिक एकता की स्थापना की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। जब एक समूह समान क्षेत्रीय सीमाओं में बहुत समय तक रहता है तो उसमें राष्ट्रीय चरित्र के कुछ विशेष लक्षण विकसित हो जाते हैं। यह भी हो सकता है कई राष्ट्रों के एक जैसे मूल्य तथा लक्ष्य हों। राष्ट्रीय जीवन का तरीका यह निश्चित

करता है कि एक राष्ट्र अपनी समस्याओं को हल करने के लिए क्या तरीका अपनायेगा।

राष्ट्रवाद का ऐतिहासिक विकास (The Historical Development of Nationalism)—*यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयता के विचार की जड़ें इतिहास मे निहित हैं किन्तु फिर भी वर्तमान राष्ट्रीयता एव राष्ट्रवाद का जन्म पश्चिमी दुनिया मे सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियो मे हुआ था।* २० वी शताब्दी की घटनाओ ने राष्ट्रवाद को मान्यता को गति प्रदान की तथा स्पष्ट हो गया कि हर जगह के लोग चाहे वे सामाजिक, राजनैतिक तथा सास्कृतिक विकास के किसी भी स्तर पर क्यों न हो, इसको अपना सकते हैं। आज राष्ट्रवाद का जो रूप हमे प्राप्त होता है उसका विकास कई एक सोपानो मे होकर गुजरा है। जिस सामाजिक प्रक्रिया के द्वारा लोगो मे राष्ट्रीयता की भावना पनपती है तथा एक साथ रहने की चेतना तथा अपनत्व की भावना आती है वह बहुत पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी। *वैसे निश्चित* रूप से यह नही कहा जा सकता कि फ्रांस और इगलैंड कब राष्ट्र-राज्य बन गये और उन्होने राजा या महारानी की अपेक्षा राष्ट्रीय स्वामिभक्ति का कब अपनी भावनाओ पर आश्रित किया। राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे अनेक तत्वो ने प्रभाव डाला है जैसे-सुधरी हुई सचार व्यवस्था, बढते हुए सामाजिक सम्पर्क, आर्थिक लाभो की आशा तथा दमन के सामान्य तरीके का विकास आदि। राष्ट्रवाद अपने आप ही प्रकट नही हो गया था क्योंकि भावनाओ के बीज व्यक्तियों के दिलों मे ही प्रस्फुटित होते हैं। आर्थिक एव सामाजिक परिवर्तन के दौरान जनसख्या नये विचारो को अपनाने की दिशा मे उन्मुख बन जाती है तथा नये नेताओं द्वारा जब उसे आश्वासित भूमि को प्राप्त करने की ओर सचालित किया जाता है तो राष्ट्रवाद की भावना पनपती है। राष्ट्रवाद के विकास की प्रारम्भिक स्थिति म क्रियाशील अल्पसख्यकों को तथा नय नेताओं को सजग प्रयास करना होता है। जब निष्क्रिय बहुमत का विश्वास राष्ट्रवाद से प्रभावित हो जाता है तो वह मूल्यो एव स्वामिभक्ति की *नयी व्यवस्था अर्थात् राष्ट्रवाद को सहर्ष अपना लेता है।* इस प्रकार राष्ट्रवाद की जडें अबौद्धिक तत्वो पर आधारित हैं। जब एक बार राष्ट्रीय चेतना की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तो सास्कृतिक सिद्धान्तों एव सामान्य अनुभव की विरासत द्वारा एव राष्ट्रीय एकता की विरासत के द्वारा इसे प्रोत्साहित किया जाता है।

राष्ट्रीयता की प्रकृति का एक धर्म के रूप में होना भी इसके विकास म एक प्रभावशील तत्व रहा है। प्रत्यक राष्ट्र मे राष्ट्रवाद एक बहुत बड़े

बहुमत के लिए आधुनिक धर्म बन गया है क्योंकि यह उसके लिए मनोवैज्ञानिक एवं भौतिक रूप में सुरक्षा व अच्छा जीवन-प्रस्तुत करता है। राष्ट्र के प्रति स्वामिभक्ति का कारण मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, राजनैतिक, मानवीय या कुछ भी हो सकता है किन्तु इन कारणों का विकास भी ऐतिहासिक कालक्रम की ही उपज है। राष्ट्रवाद की भावना से प्रभावित होकर ही लोग क्षेत्रीय अथवा विश्व संगठन के लिए अपनी स्वामिभक्ति प्रदान कर सकते हैं किन्तु ऐसा केवल तभी होगा जबकि इससे उनकी राष्ट्रीय स्वामिभक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

राष्ट्रवाद के प्रकार (Types of Nationalism)—राष्ट्रवाद के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि राष्ट्रवाद पहले फ्रांस, इंगलैंड, स्कॉटलैंड, स्पेन आदि पश्चिमी योरोप के देशों में फैला और उसके बाद यह शेष योरोप एवं पश्चिमी क्षेत्रों में धीरे-धीरे व्याप्त हुआ। अन्य महाद्वीपों में तो इसका प्रचलन आधुनिक काल में ही हुआ है। जिस प्रकार समाजवाद या व्यापार संघवाद या अन्य कोई विचार अथवा संस्था समय-समय अपना रूप बदलती रही है, उसी प्रकार राष्ट्रवाद का अर्थ भी परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहा है। एक समय राष्ट्रवाद का अर्थ कुछ और था तो दूसरे समय की बदली हुई परिस्थितियों ने यह कुछ और हो गया। इतिहास के एक काल में राष्ट्रवादी व्यक्ति से कुछ और आशा की जाती थी तो दूसरे काल में कुछ और। ऐसी स्थिति में जब कभी राष्ट्रवाद के बारे में सामान्यीकरण कर दिया जाता है तो पर्याप्त भ्रम पैदा हो जाता है।

राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में कोई भी सामान्यीकरण करने से पूर्व यह जरूरी है कि उसके विभिन्न रूपों तथा उनके मध्य स्थित अन्तरों की जानकारी प्राप्त कर ली जाये। प्रसग में राष्ट्रवाद का अर्थ समझने के लिए भी हमें उसकी परिभाषाओं का अध्ययन करने की अपेक्षा उसके रूपों का वर्णन करना चाहिए। राष्ट्रवाद को अनेक प्रकार का बताया जाता है। कुछ लोग राष्ट्रवाद को अच्छी चीज मानते हैं जबकि दूसरे इसे एक बुरी भावना कहते हैं, कुछ के मतानुसार राष्ट्रवाद का रूप सृजनात्मक होता है जबकि दूसरों के अनुसार इसका रूप विध्वंसात्मक है। विचारकों के बीच भौतिक या आध्यात्मिक चेतन या अचेतन राष्ट्रवाद के रूपों के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। हैन्स काहन (Hans Kohn) ने राष्ट्रवाद के रूपों का वर्गीकरण भौगोलिक आधार पर किया है। वे पश्चिमी जगत में प्राप्त राष्ट्रवाद और पश्चिमी जगत से बाहर प्राप्त राष्ट्रवाद के बीच अन्तर करते हैं। इस अन्तर के आधार पर ही

यह देखना सम्भव होता है कि गैर योरोपीय क्षेत्रों में राष्ट्रवाद के विकास की प्रक्रिया पर पड़ने वाले सांस्कृतिक प्रभाव एवं विरोध क्या थे। वैसे राष्ट्रवाद का अध्ययन प्रत्येक देश के अनुसार भी किया जा सकता है किन्तु यह प्रक्रिया जटिल तथा श्रम पूर्ण है। राष्ट्रवाद के अध्ययन का एक मूल्यवान दृष्टिकोण कालक्रम के अनुसार इसकी जानकारी प्राप्त करना समझा जाता है। कार्लटन हेज (Carlton Hayes) ने राष्ट्रवाद के विकास के पांच स्तरों का वर्णन किया है। पांचों ही स्तरों पर राष्ट्रवाद का रूप अलग अलग था और इन रूपों की विशेषतायें भिन्न भिन्न थी। ये रूप हैं—

१. मानवतावादी राष्ट्रवाद (Humanitarian Nationalism)
२ उदार राष्ट्रवाद (Liberal Nationalism)
३ प्रजानायक राष्ट्रवाद (Jacobin Nationalism)
४ परम्परागत राष्ट्रवाद (Traditional Nationalism)
५ एकीकृत राष्ट्रवाद (Integral Nationalism)

राष्ट्रवाद के प्रथम चार प्रकार अठारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए। मानवतावादी राष्ट्रवाद का प्रभाव १८वीं शताब्दी के दौरान रहा। फ्रांस की क्रांति के समय प्रजानायक राष्ट्रवाद के रूप का प्रभाव था। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में परम्परागत राष्ट्रवाद और १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में उदार राष्ट्रवाद का प्रभाव रहा। राष्ट्रवाद के अन्तिम रूप अर्थात् एकीकृत राष्ट्रवाद को मुख्य रूप से बीसवीं शताब्दी की उपज कहा जाता है। यह राष्ट्रवाद सम्पूर्णवादी राज्यों की नीतियों का समर्थन करता है वैसे इसके अनेक समर्थक ऐसे भी रहे जो कि सचेत होकर सम्पूर्णवादी राज्य का समर्थन नहीं करते। अनेक प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में इसके लक्षण देखने को मिलते हैं।

उदार राष्ट्रवाद का जन्म काल १७वीं और अठारहवीं शताब्दी के संगम को माना जाता है। ये दोनों शताब्दियां जागरण के युग या बुद्धि का युग मानी जाती हैं। इस युग के दार्शनिक, जैसे—मोंटेस्क्यू, वाल्टेयर, लॉक, रूसो एवं जेफरसन आदि राजा के दैवीय अधिकारों की सामन्तवादी विचारों का विरोध करते थे तथा इनका विचार था कि मनुष्य को प्राकृतिक कानून द्वारा प्रशासित होना चाहिए क्योंकि अधिकार तथा सामाजिक एवं राजनैतिक उत्तरदायित्वों का स्रोत प्राकृतिक अधिकार ही होते हैं। ये विचारक संविधानवाद एवं व्यक्तिगत अधिकारों पर जोर देते थे तथा राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व को व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए अपरिहार्य मानते थे। इन विचारकों की रचनायें पाश्चात्य उदार या मानवीय राष्ट्रवाद के स्रोत मानी जा

सकती है और इस प्रकार इनमे प्रजातन्त्रात्मक विचार के बीज उपलब्ध थे। स्वतन्त्रता के अमरीकी घोषणापत्र मे जेफर्सन (Thomas Jefferson) की भाषा ने इन मान्यताओ को राजनैतिक अभिव्यक्ति प्रदान की। इस घोषणा-पत्र मे सभी व्यक्तियो की समानता पर बल दिया गया तथा स्वतन्त्रता, जीवन एव प्रसन्नता आदि को व्यक्ति के ऐसे अधिकार बताया गया जो कि उससे छीने न जा सकें। सरकार का उद्देश्य इन अधिकारो की रक्षा करना है तथा सरकार की शक्ति का स्रोत प्रशासितो की स्वीकृति है। जब कभी सरकार इन लक्ष्यो के विपरीत व्यवहार करें तो जनता को यह अधिकार है कि इसे समाप्त करके नई सरकार की रचना करे। सरकार की नीव के सिद्धात तथा इसकी शक्तियो के सगठन का रूप इस प्रकार का होना है कि वह जनता की सुरक्षा और प्रसन्नता को प्रभावित कर सके। उदार राष्ट्रवाद उस समाज की अभिव्यक्ति है जो राष्ट्रवाद के मूल्यो को अन्य लोगो के लिए उपलब्ध बनाने हेतु अचेत-चेतन रूप से लग जाता है। जब यह समाज स्वतन्त्रता और आत्म-निर्णय के मूल्यो को दूसरो तक पहुचाने का निर्णय ले लेता है तो इसका दृष्टिकोण सत्तावादी एव प्रसारवादी बन जाता है।

१६वी शताब्दी के साथ ही राष्ट्रवाद का यह रूप भी समाप्त हो गया। राष्ट्रवाद के इस रूप का समर्थन करने वाले विचारक उच्च बौद्धिक स्तर के तथा शान्तिवादी थे। किन्तु योरोप मे इस काल मे प्रतिक्रियावादियो का प्रभाव था इसलिए शान्तिपूर्ण साधनो से इन लक्ष्यो को प्राप्त करना सम्भव न हो सका। प्रो० हेज के कथनानुसार उदार राष्ट्रवाद असफल हो गया क्योकि यह योरोप की राज्य व्यवस्था को अपने शातिवाद के आदर्श को बलिदान किये बिना राष्ट्रीयता पर आधारित नही कर सका। इसलिए लडाई सास्कृतिक राष्ट्रवाद को राजनैतिक राष्ट्रवाद मे परिवर्तित करने का एक व्यावहारिक साधन बन गई। १६वीं शताब्दी के अन्त मे तथा २०वी शताब्दी के प्रारम्भ मे महाशक्तियो के बीच सघर्ष बढने लगा। यह सघर्ष व्यापारिक, औद्योगिक, सैनिक आदि अनेक कारणो पर आधारित था। ये शक्तिया अपने मित्रो के लिए, अपने उपनिवेशो के लिए तथा अपनी समुद्र शक्ति की उच्चता दिखाने के लिए लडती रहती थी। ऐसी स्थिति मे उदार राष्ट्रवाद असामयिक बन गया और इसका स्थान सम्पूर्णतावादी राष्ट्रवाद द्वारा ले लिया गया।

जेकोबियन (Jacobian) या प्रजानायक राष्ट्रवाद १७६२ को कन्वेंसन द्वारा प्रारम्भ किया गया तथा इसे नेपोलियन द्वारा अपनाया गया। यह राष्ट्रवाद सरकार के परम्परागत रूपों को तथा अन्तर्राष्ट्रीय यथा स्थिति (Status-quo) को बदलने का एक आक्रमणकारी साधन बताया जाता है। पामर

तथा परकिन्स के कथनानुसार कुछ अर्थों में यह क्रान्तिकारी एव प्रजातन्त्रात्मक था। मैकलेलन तथा अन्य ने कर्नल नासिर के अरब एकता के प्रयासों को जेकोबियन राष्ट्रवाद का आधुनिक सस्करण कहा है क्योकि कर्नल नासिर मिस्र की नई व्यवस्था के ल म को अन्य अरब राज्यो तक फैलाना चाहता है। प्रोफेसर हेज का मत है कि राष्ट्रवाद का यह रूप केवल एक सीमित एव कार्यकारी रूप मे ही प्रजातन्त्रात्मक कहा जा सकता है। विकास के क्रम मे जेकोबियन राष्ट्रवाद अधिक से अधिक सैनिक होता चला गया। इसका उद्भव प्रजातन्त्रात्मक रूप मे हुआ था किन्तु बाद मे इसने नेपोलियन की तानाशाही का मार्ग प्रशस्त किया। नेपोलियन वैसे स्वय राष्ट्रवादी नही था किन्तु इसने राष्ट्रवाद के झडे को उठाया और इसी के नीचे अधिकाश योरोप पर फ्रास की सेनाओ का नेतृत्व किया तथा दूसरे देशो की जनता की स्वतन्त्रता का हरण किया। बाद म राष्ट्रवाद की शक्ति ने ही उसकी शक्ति को समाप्त किया।

नेपोलियन के आक्रमणों के कारण उसके विरोधियो मे राष्ट्रवाद का जो रूप पनपा उसे प्रोफेसर हेज ने परम्परागत राष्ट्रवाद का नाम दिया है। यह जेकोबियन राष्ट्रवाद का ठीक विपरीत था। यह प्रजातन्त्रात्मक न होकर कुलीनतन्त्री था। इसकी प्रकृति विकासशील एव रूढ़िवादी थी। इसने यथास्थिति को बदलने या नष्ट करने की अपेक्षा उसकी सुरक्षा का प्रयास किया। यद्यपि यह जेकोबियन राष्ट्रवाद के विरोधी के रूप मे विकसित हुआ था किन्तु बाद मे चल कर इसका स्वरूप हिंसात्मक हो गया। वाटरलू की लड़ाई मे परम्परागत राष्ट्रवाद का प्रभाव देखने म आया। रूस का जार सन् १८१५ में परम्परागत राष्ट्रवाद की आशा के रूप में उदित हुआ। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध में फ्रास परम्परागत राष्ट्रवाद का समर्थक रहा। इस समर्थन के पीछे मूल कारण यह था कि वह जर्मनी के सामने अपनी राष्ट्रीय शक्ति के कम होने की भावना से पीडित था। सयुक्त राज्य अमरीका में जेकोबियन राष्ट्रवाद को भारी समर्थन प्राप्त हुआ। सोवियत सघ बहुत पहले से ही राष्ट्रीयता के आन्दोलन का समर्थक रहा है किन्तु उसका दृष्टिकोण इसके प्रति विशेष प्रकार का था। स्टालिन के कथनानुसार राष्ट्रवाद को किसी राष्ट्र की कृषक या मजदूर जनता का आत्मनिर्णय का अधिकार समझना चाहिए। यह उस देश की पूजीवादी जनता का अधिकार नही है। आत्मनिर्णय का सिद्धात समाजवाद के लिए संघर्ष के साधन के रूप मे प्रयुक्त किया जाना चाहिए तथा इसे समाजवाद के सिद्धातों के मातहत रहना चाहिए।[1]

---

1 Quoted in Isaac Deutscher, Stalin: A Political Biography, Oxford University Press, London, 1935, P. 185

एकीकृत राष्ट्रवाद का रूप परम्परागत राष्ट्रवाद का ठीक उल्टा है। इसमे व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खो देता है तथा समाज का अस्तित्व एव जीवन एक प्रमुख लक्ष्य बन जाता है। राष्ट्रवाद का यह रूप अधिक आक्रमणात्मक तथा प्रसारवादी होता है। एकीकृत राष्ट्रवाद प्राय समाज के सम्पूर्णतावादी सगठन की व्यवस्था करता था तथा सभी नागरिको पर राष्ट्रीय सर्वोच्चता के नाम पर प्रभुत्व रखने का कार्यक्रम बना देता है। इस राष्ट्रीयता से प्रभावित लोगो से किस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार की आशा की जानी चाहिए यह बात अधिक अस्पष्ट नही है। एकीकृत राष्ट्रवाद बीसवीं शताब्दी की विशेषता है। चार्ल्स मोरेस ने एकीकृत राष्ट्रवाद का अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया है कि यह राष्ट्रीय नीतियो की एक सतत खोज है तथा यह राष्ट्रीय शक्ति की निरन्तर वृद्धि है। एक राष्ट्र जब सैनिक शक्ति खो देता है तो वह स्वय भी समाप्त होने लगता है।[1] मोरेस ने जिस आन्दोलन का सूत्रपात किया वह फ्रास मे एकीकृत राष्ट्रवाद को फैलाने का आधार बन गया है। यह आन्दोलन अनेक तत्वो से मिलकर बना था, जैसे बोनापार्टवाद, शाही विचारो का प्रभाव प्रान्तवाद एव कैथोलिकवाद आदि। इस आदोलन ने वर्साय की सधि को फ्रास के लिए एक बेइज्जती माना तथा उस मुसोलिनी को प्रशसा की जो वास्तव मे फ्रास का दुश्मन था। इसने फ्रान्को तथा स्पेन की सत्तावादी सरकार का समर्थन किया और साथ ही विची सरकार का पक्ष पोषण किया। मोरेस (Maurras) प्रजातन्त्र विरोधी तथा अग्रेज विरोधी होने के साथ-साथ जर्मनी का भी पक्का विरोधी था। इसने विनाश के दिनो में फ्रास के हितो की रक्षा का नारा बुलन्द किया। युद्ध के बाद एक फ्रासीसी न्यायालय ने उस पर राजद्रोह का दाव लगाया और उसे जीवन-पर्यन्त कारावास का दण्ड दिया गया। घृणा की राजनीति (Politics of Hate) के साथ इसका नाम जुडा हुआ है।

सम्पूर्णतावादी राष्ट्रवाद (Totalitarian Nationalism के विकास के लिए उदार राष्ट्रवाद द्वारा मार्ग प्रशस्त किया गया था। १९वीं शताब्दी के अन्त मे मजबूत राष्ट्रीय सरकारो का उदय हुआ तथा ज्यो ही राष्ट्रवाद ने जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए सामाजिक रचना मे प्रवेश करना प्रारम्भ किया त्यो ही अनेक राष्ट्र कम उदार बन गये तथा अधिक राष्ट्रवादी हो गये। उदार राष्ट्रवादियो ने एक ऐसी विश्व व्यवस्था के गठन का प्रयास किया जिसमे ऐसी स्वतन्त्र सवैधानिक सरकारें हो जो व्यक्तिगत सम्पत्ति

1. Maurras, quoted in Hayes, Historical Evolution, P. 165.

और स्वतन्त्र उद्यम की रक्षा कर सकें तथा स्वतन्त्र व्यापार की अनुमति प्रदान कर सकें। इस प्रकार दो विश्व युद्धों के बीच के समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सुरक्षावाद एवं आर्थिक राष्ट्रवाद का विषय बन गया। प्रथम विश्व युद्ध ने राष्ट्रवाद के रूप निर्धारण में महत्त्वपूर्ण रूप से भाग लिया। असल में राष्ट्रवाद इस युद्ध का कारण भी था और परिणाम भी। एक कारण के रूप में राष्ट्रवाद ने राजनीतिज्ञों का मार्ग प्रशस्त किया तथा युद्ध के लिए लोगों के मस्तिष्क को बनाया। यह विश्व युद्ध न केवल राष्ट्रवाद से प्रसारित ही हुआ था वरन् इसने अधिक व्यापक राष्ट्रवाद का नेतृत्व भी किया।[1] पेडिलफोर्ड तथा लिंकन का कहना है कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ में साम्यवाद का उदय, इटली में फासीवाद की स्थापना तथा जर्मनी में राष्ट्रीय समाजवाद का अभ्युदय आदि ने राष्ट्रवाद की सम्पूर्णतावादी व्यवस्था की स्थापना की। इन सभी ने राज्य को शक्ति को सर्वोच्च साधन माना तथा व्यक्तिगत अधिकारों को उसके मातहत रखा। उदार राष्ट्रवादियों के मानवतावादी विचारों का स्थान तानाशाही शासन ने ले लिया। जर्मनी में सम्पूर्णतावाद ने नाजी शासन की पाशविकता के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इटली में भी बेनिटो मुसोलिनी तथा उनके काली कमीज वाले फासिस्टों ने तानाशाही शासन स्थापित किया। जर्मनी में यह राष्ट्रवाद यहाँ तक पहुँच गया कि सभी लोगों को खून की प्यास तथा आक्रमणकारी युद्धों को जीवन का वांछित लक्ष्य मानने के लिए बाध्य किया गया। राष्ट्रवाद के इस रूप का नशा केवल उसी समय ढीला हो पाया जबकि संसार विश्व युद्ध में पुनः उलझ गया तथा मानव का वर्षों तक रक्तपात होता गया। सम्पूर्णतावाद का एक अन्य उदाहरण, जो आज भी प्राप्त होता है, साम्यवादी देशों के राष्ट्रवाद को माना जाता है। सोवियत संघ उसके पड़ोसी देश तथा लाल चीन इसी प्रकार के राष्ट्रवाद से प्रभावित हैं।

पामर तथा परकिन्स का कहना है कि साम्यवाद को सम्पूर्णतावादी राष्ट्रवाद का एक रूप मानना शब्दों का विरोध है क्योंकि साम्यवाद कोई राष्ट्रीय धर्म नहीं है वरन् यह एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है किन्तु फासीवाद ऐसा नहीं था।

साम्यवाद और राष्ट्रवाद
(Communism and Nationalism)

सैद्धान्तिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय आंदोलन होते हुए भी व्यावहारिक रूप

1. Hayes, Nationalism P 247

मे साम्यवादी शासन व्यवस्था अधिकाधिक राष्ट्रवादी हो गई है। रूस के नेताओ ने एशिया मे राष्ट्रवाद के उदय की नीतियो को अपनाया जो कि उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध थी। इनसे साम्यवाद को वहा की राष्ट्रीय महत्वाकाक्षाओ के साथ एकाकार करने मे सफलता प्राप्त हुई। इन महाद्वीपो के साम्यवादी नेताओ ने राष्ट्रीय आदोलनों को अपने हाथ मे ले लिया अथवा उसका अपने हित में उपयोग किया।

राष्ट्रवाद के प्रति सोवियत रूस का एक विशेष दृष्टिकोण रहा है। बोल्शेविक क्राति के कुछ समय बाद ही लेनिन ने सोवियत सघ की विभिन्न राष्ट्रीयताओ के लिए आत्मनिर्णय की एक घोषणा प्रसारित की। रूसीकरण करने की जारशाही नीतियों को कुछ समय के लिए रोक दिया गया। रूस की लगभग १५० राष्ट्रीयताओं को औपचारिक रूप से राष्ट्रीय अभिव्यक्ति की स्वीकृति प्रदान की गई किन्तु राजनैतिक रूप से वे सभी सरकार और साम्यवादी दल की आज्ञाओ के आधीन थीं। स्टालिन ने गणराज्यो की स्वायत्तता को समाप्त कर दिया तथा अपने विरोधियो को समाप्त किया। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब जर्मनी की सेनाओं ने रूस के पश्चिमी भाग पर कब्जा कर लिया तो रूस के लोगो से उनकी मातृभूमि की रक्षा के लिए अपील की गई। उस समय साम्यवाद या विश्व क्राति का विचार पीछे रह गया। इस समय स्टालिन ने सोवियत रूस की सेनाओ से यह आशा प्रकट की थी कि हमारे पूर्वजो का साहसपूर्ण चित्र युद्ध मे उन्हें प्रेरित करे। जब साम्यवाद की सुरक्षा का नारा विरोध को प्रोत्साहित करने के लिए अपर्याप्त सिद्ध हुआ तो स्टालिन ने मातृदेश के लिए असीमित स्वामिभक्ति की दुहाई दी। रूसी इतिहास के भूले हुए नेताओ की याद को ताजा किया गया, सत्तावादी जारों तक का गुणगान हुआ राष्ट्रवाद की भावनाओं को प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक प्रकार का प्रयास किया गया।

सोवियत देशभक्ति मे मार्क्सवाद–लेनिनवाद की विचारधारा तथा रूस के ऐतिहासिक चरित्रो का अद्भुत समन्वय है। देश भक्ति की भावना का प्रसार प्रेस, रेडियो, साहित्य, प्रतीक एव उन सभी माध्यमो से किया जाता है जो राज्य एव दल की सामर्थ्य के अन्तर्गत हैं। सोवियत रूस का विश्व की साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व करने का दावा यहा के प्रखर राष्ट्रवाद की ही अभिव्यक्ति माना जाता है।

मार्शल टीटो ने जब मास्को की आधीनस्थता स्वीकार करने से मना कर दिया तो एक नया तथ्य सामने आया। यूगोस्लाविया एक ऐसे देश का जीता जागता उदाहरण बन गया जो साम्यवादी की अपेक्षा राष्ट्रवादी अधिक

था। शेष साम्यवादी संसार से अलग होने के बाद मार्शल टीटो ने मुख्य रूप से अपने देश के राष्ट्रवाद पर भरोसा किया तथा गैर–साम्यवादी देशों से सहायता प्राप्त की।

साम्यवाद का राष्ट्रवादी रूप पूर्वी यूरोप में उस समय देखने को मिला जबकि स्टालिन की मृत्यु के बाद रूस–चीन विवाद गम्भीर बन गया। मार्शल टीटो के बाद अन्य साम्यवादी देश भी उतनी स्वतन्त्रता पर जोर देने लगे जिसे स्टालिन कभी भी देने के लिए इच्छुक नहीं था। सन् १९५६ की बीसवीं कान्फ्रेंस में जब ख्रुश्चेव ने स्टालिन के अपराधों का भण्डाफोड़ किया तो पोलैण्ड तथा हंगरी आदि देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन भड़के। इमरेनेगी (Imre-Nagy) के नेतृत्व में जब गैर-साम्यवादी नेता सरकार में आ गये तथा हंगरी ने वार्सा सन्धि को मानने से मना कर दिया तो सोवियत टैंक एवं सेना ने हंगरी को रौंद डाला। फलत: इस देश के राष्ट्रवादी दबा दिये गये किन्तु विश्व यहां के देशभक्तों एवं स्वतन्त्रता प्रेमियों के बलिदान की स्मृतियों को कभी नहीं भुला सकता।

रूमानिया में राष्ट्रवाद की भावना के प्रभाव ने नौकरशाही के नियन्त्रण को कम किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं साम्यवाद को प्रोत्साहित किया। यहां के राष्ट्रीय साम्यवादी अपनी सीमाओं पर स्थित सोवियत सशस्त्र सेनाओं की धमकी के प्रति सजग थे तो भी उन्होंने इस नीति का अनुगमन किया। पूर्वी योरोप के साम्यवादी शीघ्र ही यह जान गये कि वे रूस पर कितने आश्रित हैं तथा विश्व राजनीति में कितनी अनिश्चितता पाई जाती है।

चीन में जिस राष्ट्रवाद का विकास हुआ वह एक राष्ट्र राज्य के राजनैतिक विचारों पर आश्रित होने की अपेक्षा आचार शास्त्र के तत्वों पर निर्भर है। यहां के लोगों में सर्वोच्चता का एक परम्परागत दृष्टिकोण है जिसके परिणामस्वरूप यह देश अपनी मूल भूमि का अधिक से अधिक प्रसार करना चाहता है। साम्यवादी चीन अपनी सीमाओं के बाहर दक्षिण एशिया में सोवियत केन्द्रीय एशिया के कुछ भागों में, सोवियत जलसेना प्रान्तों में तथा ताईवान आदि में अनेक प्रदेशों पर अपना दावा करता है। चीन का यह विश्वास है कि कोई न कोई देश सदैव ही उसका विरोधी रहता है। कन्फ्यू-शियसवाद का स्थान आज माओवाद ने ले लिया है तथा यह चीन का एक मुख्य सिद्धान्त बन गया है।

सोवियत रूस तथा साम्यवादी चीन के बीच अनेक सैद्धान्तिक बातों में तीव्र मतभेद हैं। मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद, आर्थिक प्रगति के कार्यक्रम तथा

पश्चिमी शक्तियों के प्रति नीतियों के विषय में इन दोनों देशों के भिन्न एवं विरोधी विचार हैं। यह मतभेद अनेक कारणों से पनपा है जैसे आर्थिक विकास एवं औद्योगीकरण के अन्तर तथा उनकी क्रान्तियों की वयस्कता आदि। इस संघर्ष के मूल कारणों में राष्ट्रवाद भी एक है। मास्को तथा पीकिंग के बीच की वार्ता दोनों देशों के सर्वोच्चता के दावे को सामने रखती है। रूस-चीन विवाद की जड़ में राष्ट्रीय महत्वाकांक्षायें, गर्व ऐतिहासिक शत्रुता आदि वर्तमान हैं।

साम्यवादी देशों का गैर-साम्यवादी देशों के साथ जो सम्बन्ध है उससे उनके सम्मान, शक्ति एवं प्रभाव की राष्ट्रवादी विशेषतायें स्पष्ट रूप से झलकती हैं। कुछ विचारकों का यहाँ तक कहना है कि साम्यवादी राज्यों में जो मनमुटाव है तथा रूस एवं चीन के बीच जो खुला संघर्ष है उसके देखने के बाद यह शक होने लगता है कि पहले राष्ट्रीय साम्यवादी नीतियाँ राष्ट्रीय लक्ष्यों की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के हित में प्रेरित थीं भी अथवा नहीं।

राष्ट्रवाद का नया रूप
(The New form of Nationalism)

राष्ट्रवाद की जिस शक्ति ने योरोपीय शक्तियों को एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों में साम्राज्य बनाने के लिए प्रेरित किया था उसी शक्ति ने उनके उपनिवेशों को समाप्त कर दिया। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका में जो राष्ट्रवादी क्रान्ति फैली उसकी कुछ अपनी विशेषतायें थी जो उसको उदार एवं सम्पूर्णतावादी राष्ट्रवाद से अलग करती थी। इसकी प्रथम विशेषता यह थी कि स्वतन्त्रता एवं आत्म-सम्मान पर यह बहुत जोर देता था। दूसरे, यह इस बात पर जोर देता था कि राजनैतिक एकता को मान्यता प्रदान की जानी चाहिये। तीसरे, घरेलू नीतियाँ निर्धारित करने के लिए यह स्थानीय नेताओं को स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में था। उपनिवेशवादी शासन की पुनः स्थापना को रोकने की दृष्टि से उपनिवेशवाद का विरोध अब भी नये राष्ट्रवाद की विशेषता बना रहा। ये देश उन सरकारों तथा बड़े निगमों की नीतियों को संदेह की दृष्टि से देखने लगे जो बाजार से कच्चा माल या नवीन सुविधायें प्राप्त करने का प्रयास करते थे।

उपनिवेश विरोधी आन्दोलन के सफल हो जाने के बाद यह निश्चित नहीं रहता था कि प्राप्त की गई स्वतन्त्रता का स्थायित्व बना रहेगा।

अफ्रीका के अनेक देशो को इस बात का अनुभव है कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद उन्हें किस राजनैतिक कमजोरी आन्तरिक असतोष, शोषण एव दबावो का सामना करना पडा। चीन जैसे साम्यवादी देश अफ्रीका के देशों की स्थिति को क्रान्ति की ओर प्रेरित करने का प्रयास करते हैं। ये देश नवोदित एव स्वतन्त्रता प्राप्त देशों के मामलो को शीघ्र ही अपने हाथों मे लेने का प्रयास करते है।

नये स्वतन्त्रता प्राप्त देशों के नेता एव समूह पर्याप्त प्रभावशील होते हैं किन्तु इन देशो का राष्ट्रवाद कमजोर होता है। जिन देशों में लोगो का जीवन परिवार, जाति, गाव, वर्ग आदि के आधार पर बटा रहता है वहां राष्ट्रीय चेतना जागृत करना बडा कठिन बन जाता है। इन देशों मे उपनिवेशवाद का विरोध राजनैतिक एकाग्रता एव समानता के अतिरिक्त कुछ ही मूल्य ऐसे होते हैं जिनमे सभी का विश्वास हो।

पश्चिमी योरोपीय एव उत्तरी अटलाटिक क्षेत्रो मे राष्ट्रवाद उस सस्कृति मे मिला दिया गया जिसे औद्योगिक क्रान्ति द्वारा पहले ही बदला जा चुका था। यह राष्ट्रवाद उन सभी मूलो का स्थान देता है जिनमे सभी सामाजिक वर्गों का विश्वास है। अधिकाश अफ्रीका महाद्वीप ऐसा है जहा कि स्वतन्त्रता एव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर जोर देने का कोई आधार ही नही है तथा कुछ ही अतीत के चरित्र ऐसे हैं जिनका गुणगान करके राष्ट्रीय भावना को जागृत किया जा सके। मध्यपूर्व एव एशिया के अनेक भागो मे राष्ट्रवाद का समर्थन मध्यम वर्ग एव बौद्धिक, व्यावसायिक तथा राजनैतिक वर्ग द्वारा किया जाता है। अशिक्षित किसानो की एक बहुत बडी सख्या राजनैतिक दृष्टि से उदासीन रहती है। नये देशो की अधिकाश राजनैतिक एव आर्थिक सस्थायें स्वदेशी नही है वरन् पूर्व प्रशासकों से ग्रहण की गई हैं।

हाल ही म स्वतन्त्रता प्राप्त देशो मे से अधिकाश में राजनैतिक विकास के लिये उपनिवेशवादी शक्तियों ने किसी प्रकार की योजना नही बनाई। इसके विपरीत उन्होने राजनैतिक गतिविधि को हतोत्साहित किया तथा स्वदेशी नेताओं को जेल में रखा। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि इन देशों की स्थानीय परिस्थितियां प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओं के लिए उपयुक्त नही हो और न ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकें। जिन राजनैतिक एव आर्थिक सस्थाओं के माध्यम से एक प्रजातन्त्रात्मक एव बहुलवादी समाजवाद कार्य करता है, वे एक लम्बे सामाजिक विकास का परिणाम होती हैं। यही

कारण है कि इनमे से अधिकांश देशो मे सत्तावादी तानाशाही सरकारें कायम हो गई । केवल कुछ ही देश ऐसे हैं जहा पर राष्ट्रीय सरकार मे योगदान की परम्परा लागू की गई या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिगत अधिकारो को सुरक्षा प्रदान की गई है । इन देशो मे जातीय स्वामिभक्ति की जडें काफी गहरी हैं। यहा विदेशियो तथा केन्द्रीय नियत्रण को सदेह की दृष्टि से देखा जाता है । इन कारणों से प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक संस्थाओ का विकास रुक जाता है ।

नया राष्ट्रवाद यह निश्चित नहीं करता कि आर्थिक विकास किस रूप मे किया जाना चाहिये । उपनिवेशवाद तथा विदेशी प्रभाव के डर से ये देश विदेशी सामान, योग्यता एव पूजी को डर की भावना से देखते हैं और इस प्रकार आर्थिक विकास मे बाधा पहुचाते हैं ।

नये राष्ट्रवाद मे नेतृत्व का मुख्य स्थान है । नये राष्ट्रवाद से सम्बन्धित कुछ नेताओ ने अपने व्यक्तित्व मे अनेक रहस्यमय विशेषतायें समाहित कर ली हैं । यदि इन देशो म सार्वजनिक शिक्षा के आधार पर प्रजातन्त्र का विकास न किया गया तो यह नेतृत्व तानाशाही बन सकता है । अशिक्षा, गरीबी तथा उत्तरदायी सरकार मे अनुभव का अभाव आदि बातें क्रान्तियों एवं बलवो का कारण बनती हैं तथा तानाशाहो की नियुक्ति का आधार प्रस्तुत करती हैं । एक दलीय शासन के होने पर रहस्यमय नेतृत्व एक नये देश के लिये लाभकारी भी हो सकता है और नुकसानदायक भी । इस प्रकार का नेता प्राय अपने आपको महत्वपूर्ण मान लेता है तथा यह सोचता है कि उसके देश के लिए क्या सबसे अच्छा है यह बात वह सदैव जानता है । नेतृत्व का यह रूप उस देश के लिये स्वाभाविक होता है जो सक्रमण काल मे होकर गुजर रहा है तथा जहा अधिकांश जनसख्या अशिक्षित है । इतने पर भी इससे भविष्य मे राजनैतिक एवं आर्थिक कठिनाइया बढ सकती है ।

एशिया और अफ्रीका के अधिकांश नेताओ ने पश्चिम मे शिक्षा प्राप्त की है तथा वहा उदारवाद का अध्ययन किया है किन्तु फिर भी उनका विश्वास है कि यह व्यवस्था एवं स्वतन्त्र उद्यम व्यवस्था उनके देश के लिए उपयुक्त नही है क्योंकि यहा सामाजिक एव आर्थिक समस्यायें अधिक तथा तात्कालिक महत्व की हैं जिनको समाजवादी व्यवस्था द्वारा ही सुलझाया जा सकता है । इस व्यवस्था मे सरकारी नियोजन एवं नियत्रण आवश्यक बन जाते हैं । पिछले कुछ वर्षों से सोवियत सघ ने इन देशों मे राष्ट्रीय आन्दोलनो

का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया है। साम्यवादी चीन ने भी इन देशों को उपनिवेशवाद विरोधी भावनाओं के साथ मिल कर चलना प्रारम्भ कर दिया है। रूस एवं चीन आदि देशों द्वारा इन देशों के विद्यार्थियों को पूरा व्यय देकर आमन्त्रित किया जाता है। उनके विचारों को साम्यवादी रंग में रंग दिया जाता है और इस प्रकार उनको उनके देश में क्रान्ति के लिए प्रयास करने को कहा जाता है।

राष्ट्रवाद के उक्त रूपों के क्रम एवं नामकरण के सम्बन्ध में सभी विचारक एक मत नहीं है। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने राष्ट्रवाद के पांच रूपों का वर्णन किया है। ये हैं—मध्यकालीन राष्ट्रवाद (Mediaeval Nationalism), राजतन्त्रीय राष्ट्रवाद (Monarchical Nationalism), क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद (Revolutionary Nationalism), उदार राष्ट्रवाद (Liberal Nationalism) तथा सर्वाधिकारवादी राष्ट्रवाद (Totalitarian Nationalism)। राष्ट्रवाद के इन विभिन्न रूपों में धार्मिक राष्ट्रवाद को कोई स्थान प्रदान नहीं किया गया है। स्नाइडर (Snyder) महोदय राष्ट्रवाद को कालक्रम के अनुसार चार भागों में विभाजित करते हैं। ये हैं—एकीकृत राष्ट्रवाद (Integrated Nationalism) १८१५–७१, विच्छिन्न राष्ट्रवाद (Disruptive Nationalism) १८७१–९०, आक्रमणकारी राष्ट्रवाद (Aggressive Nationalism) १९००–४५ तथा वर्तमान राष्ट्रवाद (Contemporary Nationalism) १९४५ से अब तक।

राष्ट्रवाद का मूल्यांकन
(Evaluation of Nationalism)

राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में इतना रम चुका है कि उसे अलग करके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नहीं समझा जा सकता। राष्ट्रवाद के समर्थक और आलोचक दोनों ही हैं। एक ओर तो वे विचारक हैं जिनके मतानुसार राष्ट्रवाद की भावना एक जनसमुदाय के लिए वरदान के समान है। इन विचारकों को राष्ट्रवाद में केवल गुण और अच्छाइयां ही दृष्टिगत होती हैं। दूसरी ओर विचारकों का एक ऐसा समुदाय बनता जा रहा है जो राष्ट्रवाद की भावना को मानवता के लिए अभिशाप मानता है। ये विचारक मुख्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के समर्थक हैं। दोनों ही पक्षों द्वारा अनेकों तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं।

(१), राष्ट्रवाद एक वरदान है—राष्ट्रवाद की भावना को हम उस सूत्र की उपमा प्रदान कर सकते हैं जो बिखरे हुए सुमनों को इकट्ठा करके

एक मान्य का रूप प्रदान करता है। मनुष्य-मनुष्य के बीच शारीरिक व मानसिक अनेको प्रकार की असमानताएं पाई जाती हैं। इन असमानताओं के होते हुए भी सामूहिक हित के लिए वे व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देने के लिए तैयार होते हैं, यह केवल राष्ट्रवाद की भावना को विकसित करने पर ही सम्भव होता है।

राष्ट्रवाद एक देश के लोगो मे उनकी संस्कृति धर्म, सभ्यता, साहित्य, कला आदि के प्रति गर्व की भावना का उदय करता है। उनमे आत्म सम्मान कि भावो को जाग्रत करता है। अतीत की गौरव-गाथाएं भविष्य के निर्माण की प्रेरणायें बन जाती है। राष्ट्रवाद के अभाव मे एक देश के निवासियों के दिलों मे जो हीनता की भावना आ जाती हैं उसके होते हुए वह देश प्रगति नही कर सकता। वह अपनी स्वतन्त्रता भी अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रख सकता।

राष्ट्रीयता की भावना साम्राज्यवाद के बन्धनो को काटने मे रामबाण का कार्य करती है। साम्राज्यवादी देशो का सदैव यही प्रयास रहता है कि पराधीन देश मे जहा तक सम्भव हो, राष्ट्रीयता की भावना का विकास न होने दिया जाय क्योकि राष्ट्रीयता प्राय: स्वतन्त्र राज्य की माग करती है।

राष्ट्रीयता के दो रूप हैं—एक नकारात्मक (Negative) और दूसरा सकारात्मक (Positive)। अपने सकारात्मक (Positive) रूप मे राष्ट्रीयता की भावना एक देश के बहुमुखी विकास मे प्रयत्नशील रहने के साथ-साथ विश्व के अन्य देशों के साथ सहयोग व सहानुभूति के साथ रहने का भी प्रयास करती है।[1]

राष्ट्रवाद एक मनोवैज्ञानिक तत्व है। व्यक्ति की अनेक मानसिक प्रवृत्तियो को राष्ट्रवाद के उपवन मे आश्रय प्राप्त होता है जो अपने विकृत रूप मे समाज विरोधी भी सिद्ध हो सकती है।

(२) राष्ट्रवाद के खतरे—राष्ट्रवाद का दूसरा पक्ष इतना भयकर है कि उसकी तुलना में राष्ट्रवाद की अच्छाइयों वाला पलडा शोचनीय रूप मे हल्का पड जाता है। आज तक के इतिहास में जो लड़ाइया लडी गयीं; यदि हम उनके मूल कारणों की खोज करें तो पायेंगे कि सबके मूल में मिलती-जुलती सी ही भावनायें थीं। ये ही राष्ट्रवाद के विभिन्न रूप थे।

1. Schleicher, International Relations, PP. 67–68

राष्ट्रवाद अपने देश की उपलब्धियो पर गर्व करना ही नही सिखाता वरन् यह दूसरे देशो की उपलब्धियों पर जलन करना भी सिखाता है। इस जलन के परिणामस्वरूप दूसरे देश को बर्बाद करके अपने आपको समृद्ध करने की दृष्टि से उस देश पर आक्रमण किये जाते हैं। भीषण नर सहार होता है। सदियों की संचित सभ्यता, संस्कृति एव कला की विरासतें इन युद्धो की आग की आहुति बन कर स्वाहा हो जाती हैं। प्रो० हेज (Hayes) ने राष्ट्रीयता की आलोचना इसी आधार पर की है। यह हमको अपने राष्ट्र या जाति के बारे मे अभिमान या गर्व करना सिखाता है तथा दूसरे राष्ट्रो के प्रति तुच्छता और विद्वेष के भाव भर देता है।

राष्ट्रीयता की भावना साम्राज्यवाद की प्रेरक व पालक है। यह देश को आक्रमणकारी बना देती है, उसे असहनशील बना देती है। इसी कारण इसे एक बुराई के रूप मे तिरस्कृत किया जाता है। हेज के मतानुसार राष्ट्रवाद के दो रूप हैं, एक है—ऐतिहासिक तथ्यो के रूप मे तथा दूसरा है विश्वास के रूप में। हेज के विचारानुसार विश्वास के रूप में राष्ट्रीयता और कुछ नहीं वरन् एक अभिशाप है। मानवतावादी, अन्तर्राष्ट्रीयतावादी एव विश्वबन्धुत्व मे विश्वास रखने वाले प्राय सभी विचारक राष्ट्रवाद को अपने मार्ग का एक रोडा मानते हैं जिसे हटाना परम आवश्यक है। १९वीं शताब्दी [illegible] एक रूसी दार्शनिक व्लादीमीर सोलोवी (Vladimir Solovyev) के मतानुसार राष्ट्रवाद अपने उग्र रूप में राष्ट्र को ही समाप्त कर देता है। यह मनुष्य जाति का शत्रु है। विक्टर गोलेन्ज (Victor Gollancz) ने लिखा है कि मैं सभी बुराइयों से घृणा करता हू, मैं सोचता [illegible] कि राष्ट्रवाद से मुझे सबसे अधिक घृणा है।

जॉन ड्रीवेट (John Drewett) ने लिखा है कि कट्टर राष्ट्रवाद मूर्तिपूजा के समान होता है। यह देश प्रेम के स्थान पर राज्य की पूजा कराना चाहता है। दूसरो की घृणा पर आधारित यह उनके अस्तित्व की एक चिरन्तन धमकी है। वर्तमान विश्व मे समान रूप से इसी प्रकार का राष्ट्रवाद पाया जाता है। यह हमारे विश्व की समझने योग्य विशेषता है। आगे उन्होने कहा है कि 'राष्ट्रीयतावाद असुरक्षा और हीनता की भावनाओं पर पनपता है और इसीलिए युद्ध तथा अशान्ति के समय इसे फैलाने का अच्छा अवसर प्राप्त होता है।" ड्रीवेट (Drewett) महोदय राष्ट्रवाद को मनुष्य का एक दूसरा धर्म (Man's other religion) मानते हैं। उनके मतानुसार मनुष्य की तीन मौलिक आध्यात्मिक आवश्यकतायें होती हैं —

(१) एक उद्देश्य का ज्ञान (A sense of purpose)
(२) महत्व की आवश्यकता (Need for Significance)
(३) सुरक्षा की आवश्यकता (Need for Security)

धर्म में इन तीनों आवश्यकताओं को पूरा करने की सामर्थ्य थी किन्तु आज धर्म में से विश्वास उठ गया। बुद्धि का युग आ गया है, धर्म निरपेक्ष राज्य बढ़ते जा रहे हैं, साम्यवादी देशों ने तो धर्म की हत्या ही कर डाली है। यही कारण है कि इन तीनों मूल आवश्यकताओं को राष्ट्रवाद की भावना के आश्रय में जाना पड़ा। वहां इनकी पूर्ति हुई। राष्ट्रवाद व्यक्ति को तीन मुख्य कारणों से प्रभावित करता है—

(१) यह राष्ट्रीय समुदाय की सेवा करने का स्पष्ट उद्देश्य उसके सामने रख देता है।

(२) राष्ट्रवाद व्यक्ति को यह सोचने के अवसर देता है कि व्यक्ति के जीवन का भी कुछ महत्व है।

(३) राष्ट्रवाद व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करता है। उसके अपने हित का रक्षक व्यक्ति अकेला ही नहीं वरन् पूरा राष्ट्र है।

राष्ट्रवाद में कितने भी गुण हों किन्तु यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के सर पर सदैव लटकी रहने वाली डेमोक्लीज की तलवार की तरह है। यह विश्व सरकार के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। पामर तथा परकिन्स ने राष्ट्रवाद को हमारे युग की एक महान समस्या स्वीकार किया है।

राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त
(Principle of National Self-determination)

इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक राष्ट्रीयता को यह अधिकार प्रदान किया जाता है कि वह स्वयं ही (आत्म) यह निर्णय ले कि क्या उसे पृथक से अपने लिए एक राज्य बना लेना चाहिये अथवा जिस राज्य में वह इस समय है उसी में उसको रहना चाहिये। कुछ विचारकों के मतानुसार प्रत्येक राष्ट्रीयता को यह अधिकार है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार स्वशासित, सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य की स्थापना कर ले। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्रीयता के पास उसका अपना एक राज्य हो जायगा। इस सिद्धान्त के समर्थकों का यह कहना है कि यदि एक ही राज्य में कई राष्ट्रीयताओं के व्यक्तियों को रखा गया तो वह राज्य अपने नागरिकों की समान भक्ति प्राप्त करने में कदापि

सफल नहीं हो सकेगा। आये दिन उपद्रव तथा झगडो के कारण आन्तरिक शान्ति खतरे मे पड जायगी। इसे दूसरी तरह भी देखा जा सकता है अर्थात् यह माना गया कि यदि एक ही राष्ट्रीयता के लोग एक राज्य मे न रहकर अनेक राज्यो मे रहें तो उनका विकास उतना तथा उतने समय मे नही हो सकता जो उनके एक ही राज्य मे निवास करने पर हो सकता था। इन बिखरी हुई राष्ट्रीयताओ को प्राय विकलाक सामाजिक सगठन (Dismembered Social Organisation) की सज्ञा प्रदान की जाती है। विकलाग व्यक्ति की भाँति ऐसा समाज निष्क्रिय बन जाता है या बहुत धीमी गति से विकास के मार्ग पर कदम बढाता हुआ चलता है। यही कारण है कि विभिन्न विचारको द्वारा यह प्रतिपादित किया गया कि राज्य तथा राष्ट्रीयता की सीमायें एक ही होनी चाहिये। मिल (J S Mill) के मतानुसार ऐसा होना स्वतन्त्रता के हित मे है।

दूसरी ओर विचारको का एक ऐसा समुदाय भी है जो राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त का विरोध करता है। इन विचारको ने अपने पक्ष के समर्थन मे तर्क प्रस्तुत किये हैं। यह कहा जाता है कि इस सिद्धान्त को मान लेने पर विश्व मे सघर्ष तथा झगडे छिड जायेंगे क्योंकि वे राष्ट्रीयतायें जो इस समय एक राज्य के अधीन सुख एव आनन्द से जीवन-यापन कर रही हैं अपना अलग राज्य बसाने की माग करेंगी। गृह-युद्ध बढ जायेंगे और इस प्रकार यह सिद्धान्त देशभक्ति की भावना को मजबूत बनाने की अपेक्षा उसे खण्डित कर देगा।

इन विचारको का दूसरा तर्क, जैसा कि जोसेफ ने भी माना है, यह है कि राष्ट्रीयता और राज्य दो भिन्न चीजें हैं, इनको एकाकार करने का प्रयास निरर्थक एव अनुपयोगी है। एक राज्य मे अनेक राष्ट्रीयतायें आसानी से रह सकती हैं जैसा कि ब्रिटेन और सोवियत रूस में देखा जा सकता है। इसी प्रकार एक राष्ट्रीयता भी अनेक देशो मे बिखरी रह सकती है। सारे मुसलमान पाकिस्तान मे ही नहीं बैठ गये हैं वे विश्व के अन्य देशों में भी बिखरे पडे हैं, इनकी देश-भक्ति की भावना के बारे मे शका नही की जा सकती। भारत पाक युद्ध मे भारत की ओर से लडने वाले मुसलमान सैनिक अपने देश के लिए व अपनी मातृभूमि के लिए खून बहा रहे थे, उनके दिलों मे भारत के प्रति देश प्रेम कूट कूट कर भरा था। उन्होने यह जानने की चेष्टा न की कि दुश्मन की राष्ट्रीयता क्या है। दुश्मन विदेशी है और आक्रमणकारी देश का नागरिक है, यही जानना उसके लिए काफी था। राष्ट्रीयता का अर्थ, जैसाकि जोसेफ ने भी माना है, सास्कृतिक और सामाजिक जीवन

में स्वाधीनता से है। भारत जैसे धर्म निरपेक्ष राज्य में सभी राष्ट्रीयताओं को रहने की स्वाधीनता है। इस उदाहरण को देखकर हम यह कह सकते हैं कि अनेक राष्ट्रीयताएं एक ही राज्य में शांति व सहयोग के साथ निवास कर सकती हैं तथा उनमें से प्रत्येक अपने राष्ट्रीय जीवन का पालन कर सकती हैं।

इन तर्कों के आधार पर जोसेफ (Bernard Joseph) ने माना है कि एक राष्ट्रीयता एवं एक राज्य का सिद्धान्त एक खतरनाक सिद्धान्त है जो विश्व की प्रगति में मुख्य बाधा है। लार्ड एक्टन (Lord Acton) ने इस सिद्धांत को समाजवाद के सिद्धांत से भी अधिक अर्थहीन तथा अपराधमूलक बताया है।

इस सिद्धांत के सम्बन्ध में विचारकों का एक तीसरा समुदाय और भी है जो उक्त दोनों पक्षों के बीच का मार्ग अपनाता है। इस समुदाय के विचारकों का मत है कि अधिकार एकांगी नहीं होते, उनके साथ कुछ कर्त्तव्य भी जुड़े रहते हैं। साथ ही अधिकार किसी की बपौती नहीं होते वे तो कुछ शर्तें पूरी करने के बाद स्वत. ही प्राप्त हो जाते हैं। हॉकिंग ने कहा है कि किसी भी राष्ट्रीयता अथवा जाति को यह जन्म सिद्ध अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह एक राज्य बन ही जाय। रामजेम्योर ने इसी बात को और स्पष्ट करते हुए कहा है कि मोटे तौर पर ही यह बात सही है कि प्रत्येक राष्ट्र या जाति को स्वाधीनता और एकता का अधिकार होता है। व्यक्तियों की भांति राष्ट्रों या जातियों को भी अपने अधिकारों का अर्जन करना होता है।

डा० आशीर्वादम के मतानुसार कोई भी राष्ट्र स्वतन्त्र या सम्प्रभु बने इससे पहले उसे निम्न शर्तें पूरी करनी चाहिए—

(१) उसमें अपनी सम्पत्ति की व्यवस्था करने की और अपने प्राकृतिक साधनों तथा पूंजी का विकास करने की क्षमता होनी चाहिये।

(२) उसे अच्छे कानूनों का निर्माण तथा न्याय की उचित व्यवस्था करनी चाहिये। देश से बाहर के न्यायालयों में जाने की आवश्यकता न रहे।

(३) वह एक उपयुक्त ढंग की सरकार बनाये।

(४) उसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपनी जिम्मेदारी पूरी करनी चाहिये।

(५) यात्रा, व्यापार आदि करने को स्वतन्त्रता देनी चाहिये।

(६) वह विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो।

उक्त पूर्व शर्तों को पूरा करने पर ही एक राष्ट्रीयता को स्वतंत्र न

सम्प्रभु राष्ट्र बनाने का अधिकार प्रदान किया जा सकता है। इसके अभाव मे दिये गये अधिकार का दुरुपयोग भी हो सकता है।

सम्प्रभुता की मान्यता
(The Concept of Sovereignty)

राष्ट्रवाद की भाति सम्प्रभुता भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक आवश्यक तत्व है। सम्प्रभुता राज्य के उन तत्वो मे प्रधान है जिसके अभाव मे राज्य का अस्तित्व भी खतरे मे पड़ जाता है। मैकल्वेन (Mc Ilwain) के शब्दो मे यह वह केन्द्रीय सूत्र है जिसके अधीन हम हमारे राजनैतिक जीवन के उलझे हुये तथ्यो को बौद्धिक बनाने का प्रयास करते है।[1] सम्प्रभुता के रूप, प्रकृति एव अर्थ के बारे मे विचारको मे मतैक्य नही है। इसके सबध में सबसे अधिक विवाद तथा भ्रमो की स्थिति है।

सम्प्रभुता का अर्थ

अग्रेजी भाषा के शब्द Sovereignty (सम्प्रभुता) की व्युत्पत्ति लेटिन शब्द 'Superanus' से हुई है जिसका अर्थ है सर्वोच्च (Supreme)। सम्प्रभुता के सिद्धान्त की प्रारम्भिक व्याख्या करने वालो मे बोदा, हॉब्स, लॉक व रूसो का नाम उल्लेखनीय है। आधुनिक काल में जेलीनेक (Jellineck), डुग्वी (Duguit), केल्सन (Kelsen) और लास्की ने सम्प्रभुता के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट किये है। सम्प्रभुता के ये विभिन्न विचारक अलग-अलग कर्मों की भाति थे जिनमे ढल कर सम्प्रभुता को समय-समय पर नये रूप मिलते रहे। कभी इसने स्वेच्छाचारी राजा का समर्थन किया तो कभी जनतान्त्रिक सरकार का, कभी इसका रूप अन्तर्राष्ट्रीय बन गया तो कभी यह उग्र राष्ट्रवाद की उत्तेजक बनी। बहुलवादी विचारको ने तो इसका अस्तित्व ही मिटा देने का बीड़ा उठाया था। कोकर (Coker) महोदय के मतानुसार राजनीति शास्त्र मे कोई भी शब्द इस प्रकार से विभिन्न अर्थों मे प्रयुक्त नही किया गया है।

सम्प्रभुता की वर्तमान विचारधारा का जन्मदाता १६वी सदी का राजनैतिक विचारक बोदां (Jean Bodin) था, बोदा के अनुसार सम्प्रभुता नागरिकों पर और प्रजा पर एक ऐसी सर्वोच्च सत्ता है जिस पर कानून का

---

1. C. H Mc Ilwain, Constitutionalism and Changing World, P. 47

नियन्त्रण नहीं होता। सम्प्रभुता के रूप की व्याख्या करते समय बोदा के मस्तिष्क पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव था। उस समय उसने जैसा आवश्यक समझा उसी रूप में सम्प्रभुता को परिभाषित किया। सम्प्रभुता की इस परिभाषा के दो महत्वपूर्ण प्रभाव हुए—(१) इसने ऐसे राज्य की स्थापना की जो पूर्ण तथा असीम था तथा जिसकी सत्ता को कोई भी मानवीय शक्ति चुनौती नहीं दे सकती। (२) इसने पोप के सार्वभौमिक अधिकार पर प्रहार करके साम्राज्यशाही तथा एकता को विच्छिन्न करने वाली सामन्तवादी प्रवृत्तियों का विरोध किया। बोदा नहीं चाहता था कि उसकी सम्प्रभुता की परिभाषा एक स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश राजा का सृजन करे और इसी कारण उसने राजा की सर्वोच्च शक्ति पर नैतिक तथा परम्परागत अधिकारों के प्रतिबन्ध लगाये।

एक दूसरे विचारक ग्रोशियस ने अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय (International Community) का समर्थन करते हुए सम्प्रभुता को इसके कानूनों से सीमित माना। उसके अनुसार सम्प्रभुता एक सर्वोच्च राजनैतिक शक्ति थी। इसे वह ऐसे व्यक्ति में निहित करता है जिसके कार्य किसी दूसरे के अधीन न हों तथा जिसकी इच्छा का कोई उल्लंघन या अतिक्रमण न कर सके। उसने माना था कि वह किसी राज्य पर शासन करने की एक नैतिक शक्ति होती है। ग्रोशियस ने राष्ट्रीय सम्प्रभुता को अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रभुता से एकाकार किया। इसका उद्देश्य सम्भवतः यह था कि राज्य की सत्ता को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक सार्वभौमिक मान्यता प्राप्त हो जाय।

एक फ्रांसीसी विचारक ड्यूगी (Duguit) का विचार है कि सम्प्रभुता राज्य की वह शक्ति है जिसके अनुसार वह अपने राज्य व प्रदेश में रहने वाले सभी व्यक्तियों को बिना किसी शर्त के आदेश दे सके। सम्प्रभुता राष्ट्र की इच्छा है जो एक राज्य में संगठित होती है।

राजनीति के वर्तमान विचारकों की दृष्टि में सम्प्रभुता का रूप लगभग एक समान है। ओपेनहिम (Oppenh m), विलोबी (Willoughby) तथा केलसन (Kelsen) आदि विचारक सम्प्रभुता को एकमत होकर सर्वोच्च शक्ति मानते हैं जो किसी प्रकार की मर्यादाओं को नहीं जानती। अमरीकन लेखक बर्गेस (Burgess) ने माना है कि सब व्यक्तियों और व्यक्तियों के संघों पर मौलिक स्वेच्छाचारी और अमर्यादित शक्ति का नाम सम्प्रभुता है। लास्की, जो सम्प्रभुता के सिद्धांत पर आक्रमण करने वालों के अगुआ माने जाते हैं, यह मानते हैं कि वैध रूप से राज्यसत्ता प्रत्येक व्यक्ति और

समुदाय से उच्चतर है, इसके नाम पर राजा विनाशकारी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। पोलक महोदय ने सम्प्रभुता के रूप को सरल शब्दों में प्रकट किया है। वे मानते हैं कि सम्प्रभुता एक स्थायी शक्ति है, वह किसी दूसरे द्वारा नहीं दी जाती तथा वह किसी ऐसे नियम के अधीन नहीं है जिसे बदलने की शक्ति उसमें न हो।

सम्प्रभुता के सिद्धांत के जन्मदाता बोदां ने उसके ऊपर नीति और परम्पराओं की जो सीमायें लगाई थीं, हाब्स ने उन सबको तोड़ दिया। हाब्स का सम्प्रभु पूर्ण रूप से निरंकुश है। सम्प्रभु के ऊपर केवल ईश्वर तथा ईश्वरीय नियमों का प्रतिबंध रहता है। किन्तु व्यवहार में यह प्रतिबन्ध न के बराबर है। सम्प्रभु स्वयं ही इन नियमों में संशोधन एवं परिवर्तन करता रहता है। हाब्स की परिभाषा के अनुसार राज्य की सत्ता की तुलना में अन्य सभी सत्तायें शक्तिहीन हैं। राजा कानून का निर्माता है। इस प्रकार हाब्स तथा बोदां दोनों ही विचारक सम्प्रभुता का निवास राजा में मानते हैं। रूसो के काल में जबकि राजतन्त्र का स्थान लोकतन्त्र लेता जा रहा था सम्प्रभुता का आश्रय एक व्यक्ति या राजा न रह कर जनता या बहुमत बन गया। आदर्शवादी विचारकों ने पुनः एक बार सम्प्रभुता राजा के हाथों में सौंप दी क्योंकि उनकी दृष्टि में सर्वोच्च समाज तथा संसार का रक्षक और मनुष्य के नैतिक एवं सुसंस्कृत जीवन का मूल था। बाद में बेन्थम जैसे उपयोगितावादी विचारकों ने सम्प्रभुता को संसद को सौंप दिया जो इतनी शक्तिशाली बन गई कि पुरुष को नारी और नारी को पुरुष में परिवर्तित कर सके।

बोदां के बाद सम्प्रभुता के सिद्धांत की विशद व्याख्या करने वाला तथा उसका वैधानिक विश्लेषण-कर्ता जॉन आस्टिन (John Austine) था। उसने बताया कि यदि किसी समाज का अधिकतर भाग सामान्यतः एक निश्चित प्रमुख व्यक्ति की आज्ञाओं का पालन करता हो और उस निश्चित व्यक्ति को किसी दूसरे प्रधान की आज्ञा मानने का अभ्यास न हो, तो वह निश्चित व्यक्ति उस समाज में सम्प्रभु है तथा वह समाज (उस प्रधान सहित) एक स्वाधीन राज्य है। आस्टिन की इस परिभाषा की हेनरीमेन, लास्की एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीयतावादी व बहुलवादी विचारकों ने करारी आलोचनाएं की है। ये विचारक सम्प्रभुता जैसी किसी चीज का अस्तित्व न तो आवश्यक ही मानते हैं और न उपयोगी ही।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सम्प्रभुता
(The Concept of Sovereignty in International Politics)

सम्प्रभुता के अध्ययन से यहां हमारा तात्पर्य यह जानना है कि

अतर्राष्ट्रीय राजनीति पर इस मान्यता का कितना और कैसा प्रभाव पड़ता है तथा उस प्रभाव को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। सम्प्रभुता के व्याख्याकारों ने इसका अविभाज्य, स्थायी, असीमित, सर्वोच्च एवं विधि के स्रोत का जो रूप हमारे सामने प्रस्तुत किया है उसे देखकर यह आशंका करना निराधार न होगा कि सम्प्रभुता अंतर्राष्ट्रीय कानून, अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए एक घातक मान्यता है। अब प्रश्न यह है कि क्या सम्प्रभुता को समाप्त कर दिया जाय ? बहुलवादी विचारक ऐसा करने को शीघ्र ही तैयार हो जायगा। बहुलवाद के विचारकों ने सम्प्रभुता के प्रभाव में रहने वाली राज्य व समाज व्यवस्था का चित्र भी हमारे सामने रखा है। कहा जाता है कि राज्य सम्प्रभुता के बिना रह ही नहीं सकता क्योंकि सम्प्रभुता राज्य की आत्म शक्ति है। बहुलवादी इससे चिंतित नहीं होता। उसकी दृष्टि से यह उपयुक्त है कि प्रातनीय, शोषणकर्त्ता एवं हिंसात्मक इतिहास से रंजित राज्य नाम की संस्था को यथाशीघ्र अतीत की गाथा बना दिया जाय। यह सुझाव व्यावहारिक जगत में मान्यता प्राप्त न कर पाया क्योंकि यह असम्भव था।

सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(Sovereignty and International law)

सम्प्रभुता का निरंकुश, अविभाजनीय तथा असीमित रूप अंतर्राष्ट्रीय कानून के मूल आधार को ही नष्ट कर देता है। अंतर्राष्ट्रीय कानून का लक्ष्य विश्व के राज्यों के बीच के सम्बन्धों को उच्छृंखल, आक्रमणकारी तथा विध्वंसक होने से रोक कर विश्व-कल्याण की दृष्टि से उसका नियमन करना है। यह एक राज्य को मनमानी करने से रोकता है, उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना चाहता है। किन्तु इन प्रतिबन्धों व कानूनों, को वह सम्प्रभु जो किसी की आज्ञा मानने का अभ्यस्त नहीं होता, कभी स्वीकार न करेगा। जेम्स मार्टिन का कथन है कि सम्प्रभुता के समर्थकों के अनुसार प्रत्येक सम्प्रभु राष्ट्र 'राष्ट्रों के समुदाय' (Community of Nations) से ऊपर है और पूरी तरह से वह स्वतन्त्र है और इस प्रकार किसी भी अंतर्राष्ट्रीय कानून का जो राज्यों को प्रतिबंधित करता है, पालन नहीं किया जा सकता।

सम्प्रभुता और विश्व-शांति तथा सहयोग
(Sovereignty and World-peace and Co-operation)

सम्प्रभुता का सिद्धांत विश्व-शांति के लिए खतरा है। सम्प्रभुता की भावना राष्ट्रीयता की भावना के साथ मिलकर साम्राज्यवाद और युद्धों को

बढ़ावा देती है। आज की परिस्थितियों मे बढ़ते हुए अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का उचित सचालन करने के लिए राज्य की सम्प्रभुता को सीमित करना आवश्यक हो गया है। लास्की का मत था कि 'दूसरे राष्ट्रों के साथ एक राष्ट्र को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना है' यह एक ऐसा विषय है जिसका निर्णय कि वह अकेला ही नहीं हो सकता। यदि एक राष्ट्र अपनी मनमानी करना चाहेगा तथा अपनी सम्प्रभुता के नाम पर अतर्राष्ट्रीय कानून या अन्य देशो के प्रभाव को मानने से इन्कार कर देगा तो यह स्वाभाविक है कि विश्व के राज्यो के बीच सघर्ष और तनाव उत्पन्न होगा। यही तनाव बढकर एक दिन विश्व युद्ध का रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार व्यक्ति की स्वतत्रता समाज की परम्पराओ को तथा राज्य के कानूनो को मानने मे है उसी प्रकार राज्य को भी विश्व समाज के कानूनो का पालन करना चाहिए। स्वतन्त्रता कभी निर्बाध नहीं होती। यही बात आज राष्ट्रीय सम्प्रभुता के बारे मे भी कही जा सकती है। अतर्राष्ट्रीय जगत मे राष्ट्रीय सम्प्रभुता नाम की कोई चीज न है और न रह सकती है। सर्वोच्च सम्प्रभु तो केवल एक ही रह सकता है, अनेक नहीं। ससार में सहयोग एव शांति कायम रखने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सम्प्रभुता की पुरानी परिभाषा को बदला जाय, जैसा कि पामर तथा परकिन्स का विचार है, या तो नई परिभाषा विकसित की जाय या पूरी मान्यता को ही ठुकरा दिया जाय। जब तक सम्प्रभुता पर कानून की सीमायें लगाकर उनको व्यवहार मे नहीं लाया जाता तब तक शांतिपूर्ण अतर्राष्ट्रीय समाज की आशायें कम ही दिखाई देती हैं।

सम्प्रभुता के कुछ रूप
(Some Aspects of Sovereignty)

आजकल के अतर्राष्ट्रीय जगत मे कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सहायता व सहयोग के बिना नहीं रह सकता। इसके लिए राज्यो को समझौते व सन्धियां भी करनी पड़ती हैं। फलत प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यो के प्रभावों सन्धियो, वायदों तथा आश्वासनो से बंध जाता है। ऐसी स्थिति में उसे बोदा अथवा आस्टीन का सम्प्रभु समझना गलत रहेगा। सच तो यह है कि आज सम्प्रभुता के दो रूप बन गये हैं—राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय। राष्ट्रीय क्षेत्र मे सम्प्रभुता का रूप सर्वोच्च, स्थाई एव अविभाज्य रह सकता है किन्तु अत-र्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उस पर अनेक सीमायें एव प्रतिबंध लग जाते हैं। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के मतानुसार म्युनिसिपल कानून की दृष्टि से सम्प्रभुता एक ऐसी इकाई है जिसे सीमित अथवा विभाजित नहीं किया जा

सकता किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से इसे विकेन्द्रित, विभाजित तथा सीमित किया जा सकता है।

क्लाइड ईगलटन (Clyde Eagleton) के मतानुसार सम्प्रभुता अपने पूर्ण रूप में कभी नहीं रह सकती। उनका कहना है कि सम्प्रभुता को पूर्ण (Absolute) तथा निर्बाध (Unrestrained) मानना अथवा यह कहना कि सम्प्रभुता को छोड़ दिया जाय या मिला दिया जाय, ये दोनों ही कथन मूर्खतापूर्ण हैं। इस समय समस्या सम्प्रभुता को फेंकने की नहीं है। यह आवश्यकता नहीं है कि सम्प्रभुता की मान्यता को ही नष्ट कर दिया जाय वरन् आवश्यकता यह है कि कुछ विषय जो अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के हैं उन पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित किया जाय तथा अन्य पर राष्ट्र स्वयं ही नियन्त्रण रखें। इस प्रकार दूसरे शब्दों में ईगलटन महोदय सम्प्रभुता का विभाजन करने के पक्षपाती हैं।

दूसरी ओर मार्गेन्थो (Morgenthau) आदि विचारकों के मत में सम्प्रभुता अविभाज्य है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से पूरी सम्प्रभुता अथवा उसके किसी रूप को त्याग देना सैद्धान्तिक दृष्टि से अस्थिर तथा व्यावहारिक रूप से असम्भव है।

क्विन्सी राइट (Quincy Wright) महोदय ने सम्प्रभुता को आंशिक व पूर्ण (Partial and Full) तथा राजनैतिक व वैधानिक (Political and legal) आदि रूपों में विभक्त किया है। उनके मतानुसार सम्प्रभुता के तीन क्षेत्रों में सीमायें लगाना अति आवश्यक है—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में स्वयं निर्णय देने की शक्ति (The power of self judgement in international controversies)

(२) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सशस्त्र सैनिक शक्ति का निर्माण एवं प्रयोग की शक्ति (The power to prepare and use armed Forces in international relations)

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर मनमाने प्रतिबन्ध लगाने की शक्ति (The power to impose arbitrary barriers to international trade)

प्रत्येक राष्ट्र की इन तीनों ही शक्तियों का प्रतिबन्धित एवं सीमित करना आवश्यक बन गया है। कोहेन (E.H Cohen) के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व सम्प्रभुता को हमारे सामने तीन रूपों में रखता है—

(१) सम्मिलित सम्प्रभुता की मान्यता (Concept of Joint Sovereignty) इसका प्रयोग सभी राष्ट्र मिलकर समान रूप से कर सकते हैं। (२) विभाजित सम्प्रभुता (Divided Sovereignty), इसके अनुसार सम्प्रभुता आन्तरिक व बाह्य दो रूपों में बट जाती है। (३) अन्तर्राष्ट्रीय निगमों की सम्प्रभुता (Sovereignty of International Corporation)। इन तीनों ही शक्तियों का उपयोग करते समय यदि राष्ट्र अपनी स्वतंत्र एवं निर्बाध इच्छा का प्रयोग करेंगे तो स्वाभाविक है कि यह उनके राष्ट्रीय हित के लिए अधिक उपयोगी होगा। किन्तु जहां तक सम्पूर्ण विश्व की शान्ति एवं सहयोगपूर्ण जीवन का सम्बन्ध है यह व्यवहार इसके लिए घातक रहेगा। संसार से सघर्षों एवं युद्धों की सम्भावना को दूर करने के लिए इन तीनों शक्तियों के प्रयोग में प्रत्येक राष्ट्र पर कुछ प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक है। इन प्रतिबन्धों को लगाते समय भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इनका उद्देश्य विश्व-हित हो न कि किसी गुट विशेष या देश विशेष के स्वार्थों की पूर्ति।

सम्प्रभुता पर चारों ओर से आघात किये गये। विचारों के क्षेत्र में इस विषय ने एक हलचल सी मचा दी। बहुलवादियों के तर्कों के प्रकाशन के बाद ऐसा लगने लगा कि शायद सम्प्रभुता की मान्यता सदा के लिए राजनीति शास्त्र के कोष से निकाल दी जावेगी। किन्तु ऐसा न हुआ। बहुलवादी एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों की आलोचनाओं एवं प्रहारों ने राज्य की शक्ति की निरंकुशता को कम किया। अन्य संस्थाओं का मनुष्य के जीवन में महत्व समझा जाने लगा। किन्तु राज्य का स्थान ग्रहण करने वाला कोई व्यावहारिक विकल्प सम्मुख न होने के कारण सम्प्रभुता पूर्ववत् बनी रही। कोहन (H. E Cohen) महोदय के मतानुसार सम्प्रभुता की विचारधारा (Theory of Sovereignty) कभी समाप्त नहीं हो सकती। यह शक्ति या शक्ति के स्तर को परिभाषित करने वाले पद (Term) के रूप में या वैधानिक व्यवस्था या उस व्यवस्था के किसी भाग के स्तर को या उस व्यवस्था की सर्वाधिकारता को परिभाषित करने वाले पद के रूप में सदैव बनी ही रहेगी। यह हो सकता है कि यदि आलोचकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप शब्द 'सम्प्रभुता' को मिटा दिया जाये, किन्तु सम्प्रभुता की जो मूल विशेषतायें हैं वे सदा बनी ही रहेंगी। समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए जब तक मनुष्यों में शासक और शासित तथा नेता और समर्थकों का भेद रहेगा तब तक सम्प्रभुता की मान्यता भी बनी रहेगी। शक्ति की आवश्यकता और उपयोगिता जब तक रहेगी तब तक सम्प्रभुता भी विलीन नहीं हो सकती। महात्मा गांधी ने भी अपने रामराज्य के सिद्धांत में इस तथ्य को स्वीकार कर लिया था। वे मानते थे

कि राज्य हिंसा तथा विध्वसकारी शक्तियो पर आधारित है, यह मनुष्यो को मनुष्य के रूप मे देखने मे असमर्थ है किन्तु फिर भी स्थितियाँ अभी ऐसी नही कि राज्य को नष्ट किया जा सके या उसकी सम्प्रभुता को कुचला जा सके। पामर तथा परकिन्स ने माना है कि जब तक अतर्राष्ट्रीय समाज मे प्रभावशील रूप राष्ट्र राज्य व्यवस्था ही रहेगी तब तक सम्प्रभुता बनी रहेगी।

राष्ट्रीयतावाद और सम्प्रभुता की मान्यता दो ऐसे सिद्धात हैं जिन्होंने अतर्राष्ट्रीय जगत मे हलचलो को पैदा दी है। इन दोनो का उपयोग विध्वसक तथा रचनात्मक दोनो ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। अब समस्या यह है कि यदि ये दोनो विध्वसक रूप धारण कर लें तो फिर क्या होगा तथा उस समय की स्थिति को किस प्रकार नियत्रित किया जा सकेगा। इसके प्रतिरोधात्मक एव प्रतिशोधात्मक दोनो ही प्रकार के कदम उठाना आवश्यक है। विश्व संस्था (U N O) अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अतर्राष्ट्रीय सम्मेलन, सदव्यवहार एव अतर्राष्ट्रीय नैतिकता आदि साधनों द्वारा इन दोनो तत्वो के चारो ओर ऐसी बाड लगा दी जाय कि इनको उच्छृखल बनने का अवसर ही प्राप्त न हो सके। अतर्राष्ट्रीय राजनीति के इन दो प्रभावकारी तत्वो के बारे में यह कहना उचित एव तर्कसगत न होगा कि इनकी प्रकृति सुनिश्चित है तथा उसमे किसी प्रकार की परिवर्तन की गुंजाइश नही है। इतिहास साक्षी है कि समय की परिस्थितियो के अनुसार इन दोनो की प्रकृति मे भी समय-समय महत्वपूर्ण मोड आते रहे हैं। विचारको ने इसी कारण इनको लचीले सिद्धात (*Flexible doctrines*) की सज्ञा प्रदान की है।

राष्ट्रवाद एव सम्प्रभुता दोनो ही सिद्धात अपने आप मे न अच्छे हैं न बुरे, न नैतिक हैं और न अनैतिक। ये तो एक छुरी के समान नैतिक दृष्टि से उदासीन हैं। यह आपकी इच्छा एव मानसिक स्तर पर निर्भर करता है कि आप उसका प्रयोग अपने फल काटने मे करते हैं अथवा किसी का गला। सम्भावनायें दोनो ही मौजूद हैं। असल मे राष्ट्रवाद एव सम्प्रभुता दोनो ही दोष रहित हैं। यदि उनका इतिहास रक्त-रजित और काला रहा है तो इनका उत्तरदायित्व इन भावनाओ पर डालना अधिक सगत नहीं कहा जा सकता। यह कुछ चुने हुए राजनीतिज्ञो के कारनामे हैं जिनकी महत्वाकाक्षायें कई बार मानव सभ्यता के विकास के मार्ग की बाधायें बनी हैं। बुरे इरादे तथा सीमित स्वार्थ का दृष्टिकोण होने पर वरदान भी अभिशाप मे बदल जाया करते हैं। शिव और भस्मासुर की पौराणिक कथा इसी भाव को अभिव्यक्त करती है। अत म हम पामर तथा परकिन्स महोदय के शब्दो को दुहराते हुए यह कह सकते हैं कि ये दोनो अनियन्त्रित रहे या इनका दुरुपयोग किया गया तो ये

आततायी शासन का या युद्ध का मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं और यदि इन्हें रचनात्मक लक्ष्यों की ओर मोड़ा गया तो ये शुभ लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक अनेक कल्याणकारी मानवीय भावों को उत्प्रेरित कर देंगी।

सम्प्रभुता सम्बन्धी रूसी विचार
(Russian Views on Sovereignty)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रत्येक देश अपने राष्ट्रीय स्वार्थ (National interest) की दृष्टि से ही कोई कार्य करता है अथवा किसी दृष्टिकोण को अपनाता है। सम्प्रभुता के सम्बन्ध उसके राष्ट्रीय स्वार्थ से प्रभावित सोवियत रूस की धारणायें विश्व के अन्य देशों से इतनी भिन्न हैं कि उनका उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

सोवियत रूस राष्ट्रीयता की भावना का पक्का समर्थक है। इसका पक्षपात करते हुए वह यह चाहता है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता को बनाये रखे। सम्प्रभुता को सीमित करने अथवा उसका समर्पण करने का रूस सदैव ही विरोध करता रहा है। राष्ट्रीय सम्प्रभुता पर इतना जोर देने के कारण ही रूस ने सुरक्षा परिषद में बड़ी शक्तियों के एक मत होने की आवश्यकता का पूरा-पूरा समर्थन किया। जब भी कभी निषेधाधिकार (Veto power) को सीमित करने का प्रश्न आया, सोवियत रूस न उस पर विचार करना भी उचित नहीं समझा क्योंकि यह उसकी सम्प्रभुता और सर्वोच्चता के विपरीत जाता था।

साम्यवादी रूस के चारों ओर पश्चिमी गुट ने सैनिक गठबन्धनों के आधार पर एक घेरा सा बना लिया था ताकि साम्यवाद का आगे प्रसार रुक जाय तथा उस घेरे के भीतर उसका दम घुट जाय। सम्प्रभुता के समर्पण की रूसी राजनीतिज्ञों द्वारा जो व्याख्या की जाती है उसके अनुसार यह पश्चिमी देशों की एक चाल है तथा उनके साम्राज्यवादी भावनाओं की इसमें अभिव्यक्ति होती है। यदि एक देश जो आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक एवं अन्य दृष्टियों से अविकसित है अपनी सम्प्रभुता का समर्पित कर दे तो उसका परिणाम क्या होगा? रूसी विचारकों के मतानुसार वह देश पूरी तरह से शक्तिशाली राज्यों के हाथ में चला जायगा, एक बिना डोरी की कठपुतली बन जायगा।

राष्ट्रवाद की भाँति सम्प्रभुता भी एक ऐसी धारणा है जो पराधीन राष्ट्रों को साम्राज्यवादी देशों के चंगुल से छुड़ाती है तथा स्वतन्त्रता प्राप्त नवोदित राष्ट्रों को उनके प्रभाव से दूर रख सकती है। अविकसित देशों से विभा

भी प्रकार का प्रलोभन देकर या आदर्शों के महल दिखाकर छीन लिया गया तो शोषण के विरुद्ध प्रारम्भ की गई क्रान्ति की गति बहुत धीमी पड़ जायगी। कोरोविन (E A Korovin) जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सोवियत दृष्टिकोण के माहिर हैं, के मतानुसार एक राज्य जहां वास्तविक प्रजातन्त्र स्थित है, अपनी सम्प्रभुता को सीमित करने के लिए कभी राजी न होगा। अपनी इच्छा से की गई सन्धियां, समझौते आदि सम्प्रभुता को सीमित नहीं करते, इसकी सीमाएं तो एक पक्षीय रूप में ऊपर से थोपी जाती हैं।

सम्प्रभुता को सीमित करने वाली हरेक चेष्टा के प्रति रूस का दख सशंकित हो जाता है। उसे लगता है कि यह उसकी पूर्ण सम्प्रभुता को एक चुनौती दी गई है। रूस द्वारा सीमित सम्प्रभुता का विरोध करने के मुख्य कारण दो हैं—

(i) पूंजीवादी राष्ट्रों से घिरा हुआ रूस सम्प्रभुता के समर्थन के नाम पर अपने आदर्शों के विरोधी राजनैतिक व आर्थिक तत्वों को बढ़ावा नहीं देना चाहता क्योंकि ऐसा करने से समाजवादी क्रांति में विलंब हो जायगा तथा रूस के सम्भावित मित्रों की संख्या घट जायगी।

(ii) सम्प्रभुता का अर्थ, रूस की निगाहों में, यह नहीं कि एक राज्य मनमाने ढंग से निरंकुश शक्ति का प्रयोग करे। रूस सम्प्रभुता को घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में आत्मनिर्णय (Self determination) का सिद्धान्त मानता है। सम्प्रभुता एक प्रकार की वैधानिक दीवार है जो साम्राज्यवादियों के सैनिक तथा आर्थिक आक्रमणों से राष्ट्रों की रक्षा करती है। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार असीमित सम्प्रभुता (Unlimited Sovereignty) रूसी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ऐसी विशेषता है जो उससे अलग नहीं हो सकती।

—:—o—:—

PART—II

International Politics as a struggle for power : Concept of National Power; Essence and elements of National Power: Geography, natural resources, population, technology, Ideologies, morale, leadership : Evolution of national Power.

अध्याय ३—राज्य-शक्ति का सामान्य विचार
[The concept of National Power]

अध्याय ४—राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : भूगोल और प्राकृतिक तत्व
[The Elements of National Power :
Geography and Natural Resources]

अध्याय ५—राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : जनसंख्या और तकनीकी
[The Elements of National Power :
Population and Technology]

अध्याय ६—राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : विचारधारा, मोरेल और नेतृत्व
[The Elements of National Power :
Ideology, Morale and Leadership]

"राजनीतिक संदर्भ में शक्ति का अर्थ है—मनुष्य की शक्ति जो दूसरे मनुष्यों के मस्तिष्क और कार्यों के ऊपर हो।"

—मोरगेन्थो

"भौतिक भूगोल विश्व राजनीति को अधिक निरन्तर रूप से प्रभावित करने वाला तत्व है। यह उन आवश्यकताओं, लक्ष्यों, नीतियों एवं शक्ति को प्रभावित करता है जिनको राज्य अपने हितों की दृष्टि से मानाते हैं।"

—पैडलफोर्ड तथा लिंकन

"वैसे जनसंख्या के आकार तथा एक देश की शक्ति के बीच कोई आवश्यक एवं एकरूप सम्बन्ध नहीं है किन्तु फिर भी इतना तो सच है कि छोटी सी जनसंख्या वाला कोई देश बड़ी शक्ति नहीं बन सकता।"

—जोसेफ फ्रैंकल

"अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक अनुशासन के रूप में तकनीकी एक ऐसा विज्ञान है जो आविष्कार और भौतिक संस्कृति की प्रगति को विश्व राजनीति से सम्बन्धित करती है। यह यान्त्रिक प्रयासों के विकास की कथा है जो युद्ध, कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, यात्रा और संचार में इसका प्रयोग करती है।"

—क्विन्सी राइट

"विचारधारा आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक मूल्यों तथा लक्ष्यों से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये कार्यों की योजना तैयार करती है।"

—पैडिलफोर्ड तथा लिंकन

"राष्ट्रीय मनोबल (Morale) निश्चय का वह अनुपात है जिसके अनुसार एक राष्ट्र शान्ति एवं युद्ध के समय अपनी सरकार की विदेश नीति का समर्थन करता है। मनोबल में राष्ट्र की सारी क्रियायें—औद्योगिक व कृषि उत्पादन तथा सैनिक तैयारियां और कूटनीतिक सेवायें, समाहित होती हैं।"

—मार्गेन्थो

३

राष्ट्रीय शक्ति का सामान्य विचार
(THE CONCEPT OF NATIONAL POWER)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन की सबसे बड़ी एवं कठिन समस्या यह स्पष्ट करना मानी जाती है कि एक राष्ट्र ने जिस रूप में व्यवहार किया है, उसने उसी रूप में क्यों किया, अन्य रूप में क्यों नहीं किया। विचारकों द्वारा इस स्पष्टीकरण के लिए अनेक कारण प्रस्तुत किये जाते हैं। कोई 'शक्ति' को प्रमुखता देता है तो कोई राष्ट्रीय हित को, जबकि कुछ लोग दोनों को एक साथ मिला कर प्रस्तुत करते हैं। कुछ एक विचारकों का मत है कि विचार-धारा राष्ट्रीय व्यवहार की सबसे बड़ी प्रेरक होती है। अन्य लोग राष्ट्रीय व्यवहार का वीक्षीकरण उस राष्ट्र के उपलब्ध साधनों, महत्वाकांक्षाओं, राष्ट्रीय चरित्र, आर्थिक स्थिति एवं भौगोलिक स्थिति आदि के आधार पर करने का प्रयास करते हैं। किन्तु वर्तमान काल में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को शक्ति के आधार पर समझने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। अधिकांश विद्वान् यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्पन्न किया गया प्रत्येक कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शक्ति प्राप्त करने, प्राप्त शक्ति को बढ़ाने, शक्ति का प्रदर्शन करने आदि से सम्बन्ध रखता है। ये विचारक इस तर्क को सुनना पसन्द नहीं करते कि जर्मनी ने प्रथम विश्व युद्ध में भाग इसलिए लिया था क्योंकि वहां के लोग लड़ाकू होते हैं अथवा जर्मनी का अस्तित्व खतरे में पड़ गया था। वे इसका वास्तविक कारण जानना चाहते हैं जो शक्ति की राजनीति का ही एक पहलू है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की एकरूपता एवं मानवीय व्यवहार को शक्ति के आधार पर ही परिभाषित किया जा सकता है।

'शक्ति' का अर्थ प्राय उस तत्व से लिया जाता है जिसके आधार पर एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के मन, कर्म तथा विचार पर प्रभाव एव नियत्रण रखने का अवसर प्राप्त होता है। शक्ति का यह रूप सभ्यता के प्रारम्भ से ही मानव-समाज में अपना अस्तित्व बनाये हुए है। मानव सभ्यता के आदि काल मे शक्ति का स्वरूप एव प्रकृति तो यही थी किन्तु उसका क्षेत्र आज की भाति विस्तृत न होकर सकुचित था। आज 'शक्ति' का क्षेत्र केवल व्यक्तिगत न रह कर राष्ट्रीय सीमाओं को पार करके अन्तर्राष्ट्रीय बन गया है तथा इसकी इकाइया केवल व्यक्ति न रह कर राष्ट्र बन गये हैं। राष्ट्रीय शक्ति एक राष्ट्र की आशाओं और महत्वाकाक्षाओं को परिपूर्ण करने का उसके हाथों में एक ऐसा यन्त्र है जिसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में उसका स्तर, महत्व एव स्थान आका जाता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय शक्ति एक मापदण्ड का कार्य करती है जिसके आधार पर हम किसी भी राष्ट्र के अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर पड़ने वाले प्रभाव का मूल्याकन कर सकते हैं और इस प्रकार अन्य देशों को भी अपनी विदेश नीति में तदनुकूल समायोजन (adjustment) करने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने राष्ट्रीय शक्ति (National Power) को एक राष्ट्र का सबसे बड़ा केन्द्र बिन्दु माना है जिसके चारों ओर उसकी विदेश नीति के विभिन्न पहलू चक्कर काटते रहते हैं। सभी विद्वान् एकमत होकर यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक राज्य अपन स्वार्थ कि दृष्टि से ही क्रियाओं का सचालन करता है। एक राज्य का सबसे बड़ा स्वार्थ यह है कि वह अधिक से अधिक राष्ट्रीय शक्ति का अर्जन करे, जिन साधनों एव तत्वों के द्वारा राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाया जा सकता है उनकी ओर वह पर्याप्त ध्यान दे तथा उनके विकास एव अभिवर्धन मे अपना सारा ध्यान केन्द्रित करे। यदि कोई भी राष्ट्र इस सिद्धात के विपरीत आचरण करके अपनी राष्ट्रीय शक्ति को कमजोर बनाता है तो इसका अर्थ यह होगा कि वह स्वय ही अपने विनाश के बीज बो रहा है। ये बीज धीरे धीरे अकुरित एव प्रस्फुटित होकर उस देश की स्वतन्त्रता के लिए एक गम्भीर समस्या बन जायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान (Realist theory) इस बात पर अधिक जोर देता है कि प्रत्येक राष्ट्र शक्ति के रूप में परिभाषित स्वार्थ की दृष्टि से ही सोचता है।

एक राष्ट्र में रहने वाले व्यक्तियों की एक इकाई के रूप मे जो शक्ति होती है वह उस राज्य की राष्ट्रीय शक्ति के समरूप नहीं होती क्योंकि 'राष्ट्र' जैसा कि कि मार्गेन्थो महोदय का कथन है, एक निगूढ़ (Abstract) तत्व है

जो समान विशेषतायें रखने वाले उस देश के सभी निवासियों से पृथक होता है ।[1] कारण यह है कि उस देश के निवासी कुछ समान राष्ट्रीय विशेषताओं का पालन करने के अतिरिक्त अन्य अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि संस्थाओं के भी सदस्य होते हैं तथा तदनुकूल व्यवहार करते हैं । राष्ट्र की विदेश नीति का संचालन एवं राष्ट्र की शक्ति का प्रयोग प्रत्येक निवासी की सामर्थ्य एवं योग्यता के बाहर का विषय है । यह उस राष्ट्र के चुने हुए नेताओं के हाथ में रहती है और इसीलिए एक राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि का तात्पर्य यह नहीं होता कि अब उसका प्रत्येक व्यक्ति शक्तिशाली हो गया है किन्तु केवल वे लोग जो अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर होने वाले अभिनय में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं वे ही एक राष्ट्र की बढ़ती हुई शक्ति से लाभान्वित हो सकते हैं । यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारतवर्ष का स्थान ऊँचा है तो निश्चय ही उसके राजनीतिज्ञों का स्थान भी सम्मानीय एवं उत्कृष्ट समझा जायगा । यहां यह प्रश्न हो सकता है कि जब एक व्यक्ति पर उसके राष्ट्र की शक्ति एवं विदेश नीति का सीधा प्रभाव नहीं होता तो वह किस आधार पर अपने आपको उनके समरूप मान लेता है । इस प्रश्न का उत्तर एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा दिया जा सकता है जिसके अनुसार अधिकांश व्यक्तियों को उनके राष्ट्रीय जीवन में कोई सम्मान और इज्जत प्राप्त नहीं हो पाती जिसके लिये वह सदैव प्रयत्न करता रहता है । अपने इस अभाव की पूर्ति वह दूसरे रूप में कर लेता है अर्थात् उसके देश के प्रतिनिधियों को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जो सम्मान प्राप्त होता है उसको वह स्वयं का सम्मान मान लेता है । जिस शक्ति को व्यक्तिगत जीवन में एक बुराई माना जाता है तथा जिसे प्रजातन्त्र, समानता व स्वतन्त्रता के विरुद्ध माना जाता है उसी शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है तथा शक्ति प्राप्त करने के सभी प्रयासों को न्यायोचित ठहराया जाता है । राष्ट्रीय शक्ति के साथ अपनी शक्ति को समरूप बनाने वाले लोग प्रायः मध्यमवर्गीय परिवारों के होते हैं जिनके पास शक्ति की मात्रा प्रायः अपर्याप्त रहती है तथा जो अपने आपको असुरक्षित अनुभव करते हैं ।

राष्ट्रीय शक्ति का रूप एवं स्तर का निर्धारण हमेशा तुलनात्मक रूप से ही किया जाता है । एक राष्ट्र कमजोर है यह कहते समय हमारे मस्तिष्क में एक दूसरे राष्ट्र का चित्र भी रहता है जो इससे अपेक्षाकृत शक्तिशाली होता है । इसी प्रकार एक राष्ट्र को शक्तिशाली कहते समय हमारे

1 Morgenthau, Hans J Politics among Nations, P 93

ध्यान में कमजोर राष्ट्र की पूर्ति रहती है। इस प्रकार की तुलना करते समय यह ध्यान रहना चाहिये कि हम एक राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्व की तुलना दूसरे राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति के उसी तत्व के साथ ही कर सकते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति की पहली विशेषता उसका 'तुलनात्मक रूप' होता है। इसकी दूसरी विशेषता के अनुसार राष्ट्र शक्ति का चरित्र स्थायी नहीं होता। उसके विभिन्न तत्वों का रूप एवं स्तर समय-समय पर बदलता रहता है। इसकी तीसरी विशेषता यह है कि इसके सभी तत्वों का महत्व समान होता है। राष्ट्रीय शक्ति के किसी एक तत्व को अधिक महत्व देकर उसके आधार पर ही यदि एक देश अपनी विदेश नीति का निर्माण कर लेगा तो उसे निश्चय ही असफलता प्राप्त होगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्राय भूगोल की राजनीति (Geopolitics), राष्ट्रवाद (Nationalism) और सैनिकवाद (Militarism) पर अधिक जोर दिया जाता है जो राष्ट्रीय शक्ति के प्रतिनिधि न होकर उसके केवल एक तत्व के परिचायक मात्र हैं।

कुछ विद्वानों के मतानुसार एक देश के व्यवहार रहन-सहन, निर्णय लेने की प्रक्रिया पर दूसरे देश का जो प्रभाव पड़ता है वह भी शक्ति का एक रूप माना जायेगा क्योंकि शक्ति आवश्यक रूप से अपने आपको हिंसात्मक रूप में ही प्रकट करती हो, यह बात नहीं है। वह शान्तिपूर्ण तरीके से 'प्रभाव' के रूप में हो सकती है। आज के युग में विश्व जनमत (World public opinion) का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भारी प्रभाव होता जा रहा है। अनेक देशों को अपनी विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णय केवल इसी कारण बदलने पड़े हैं क्योंकि विश्व जनमत ऐसा होने के पक्ष में था। विश्व जनमत को बनाने के लिये प्रत्येक देश प्रचार के साधनों का समुचित विकास करता है ताकि विश्व के अन्य देश भी उसकी नीतियों का समर्थन कर सकें। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आज विश्व जनमत को भी शक्ति के रूप में उतना ही महत्वपूर्ण माना जाता है जितना कि सैनिक शक्ति को। यथार्थ में शक्ति एक अविभाजित इकाई है जिसे व्यावहारिक रूप से कभी विभाजित नहीं किया जा सकता।

शक्ति–राजनीति इस तथ्य को मान कर चलती है कि आज राज्यों के आपसी सम्बन्ध अराजकतापूर्ण हैं। इसके मुख्य रूप से तीन कारण हैं–प्रथम, राज्यों की तथाकथित सम्प्रभु स्वतन्त्रता, दूसरे, उच्च सत्ता का अभाव और तीसरे, बाहरी अवरोधों से स्वतन्त्रता।[1] इस अराजकता की स्थिति में

१. Nicholas Spykman, America s Strategy in world Politics, P. 16

एक देश अपने शत्रु के बराबर शक्ति प्राप्त करने मात्र से ही सुरक्षित नहीं बन जाता, वह केवल तभी सुरक्षित रह सकता है जबकि वह उससे कुछ अधिक शक्तिशाली होगा। निरन्तर शक्ति प्राप्ति का प्रयास ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वास्तविकता है। राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की शक्ति भी एक ऐसा तत्व है जिसे राज्य-व्यवस्था से पृथक नहीं किया जा सकता। प्रस्तुत अध्याय में हम राष्ट्रीय शक्ति के सामान्य रूप इसकी आवश्यकता, इसके आधार तथा इससे सम्बन्धित यथार्थवादी एवं आदर्शवादी विचारधारा का अवलोकन करेंगे।

राष्ट्रीय शक्ति का स्वरूप
(The Nature of National Power)

राष्ट्रीय शक्ति का विश्व राजनीति के क्षेत्र में जितना महत्व एवं प्रभाव है उसे देखते हुये इस विषय पर किया जाने वाला बौद्धिक विचार विमर्श का परिणाम बहुत कम है। 'शक्ति' को राजनीति का एक मूल तत्व माना जाता है। शक्ति प्राप्त करने के लिये संघर्ष किया जाता है और संघर्ष करने के लिये शक्ति प्राप्त की जाती है। यह प्रक्रिया प्रत्येक काल में तथा प्रत्येक स्थान पर चलती रही है। यह एक ऐसा तत्व है जो अनुभव पर आधारित है और जिसके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ लेखक तो यहां तक कहने को तैयार हैं कि शक्ति के बिना कोई राजनीति रह ही नहीं सकती। जिस प्रकार डार्विन महोदय ने जीव के विकास में अस्तित्व के लिये संघर्ष (Struggle for existance) एवं योग्यतम की विजय (Survival of the Fittest) के नियमों का प्रतिपादन किया है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारक विश्व राजनीति के विकास में भी इन नियमों को लागू करने का प्रयास करते हैं। डार्विन के विकास की प्रक्रिया की इकाई जीव था जबकि इन विचारकों के अध्ययन में विकास की इकाई राज्य है। यह कहा जाता है कि राज्य शक्ति के लिए संघर्ष में केवल इसलिए उलझते हैं क्योंकि वे अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं। यहां तक कि अनेक देशों द्वारा क्षेत्रीय प्रसार एवं युद्ध की जो नीतियां अपनाई जाती हैं उनके पीछे भी सुरक्षा की भावना प्रेरक के रूप में कार्य करती है। वैसे राइनहोल्ड नीबर (Reinhold Niebuhr) की तो यह मान्यता है कि जीने की इच्छा और शक्ति प्राप्त करने की इच्छा के बीच अन्तर नहीं किया जा सकता।[1] एक देश

1. Reinhold Niebuhr, Moral man and Immoral society, 1933 P. 42

किसी व्यवहार विशेष के समय अपने अस्तित्व की आकांक्षा से प्रेरित हुए हैं अथवा शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा से, यह निर्णय करना कई बार असम्भव बन जाता है। प्रत्येक राज्य का यह अधिकार होता है कि वह शक्ति प्राप्त करे क्योंकि इसके बिना वह अपने नागरिकों की रक्षा एवं विकास के उत्तरदायित्व को पूरा नहीं कर सकता। शक्ति का दुरुपयोग भी किया जा सकता है और किया जाता है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि एक राज्य को शक्ति प्राप्ति का प्रयास ही नहीं करना चाहिए। दूसरे राज्य द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावनायें एक राज्य के शक्ति प्राप्त करने के अधिकार को और भी अधिक आवश्यक बना देती है।

राष्ट्रीय शक्ति का आधार सम्प्रभुता की मान्यता को माना जाता है। जब राज्य अपने नागरिकों के विकास का उत्तरदायित्व सम्भाल लेता है तो वह इस दायित्व की पूर्ति के लिए अपनाई गई नीतियों पर किसी भी बाहरी सत्ता का हस्तक्षेप नहीं चाहता। सम्प्रभुता की मान्यता राज्य को अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने की ओर प्रेरित करती है, साथ ही यह चुनौती देती है कि यदि उसने शक्ति प्राप्ति के प्रयासों में ढील की तो उसका स्वयं का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। शक्ति को सम्प्रभुता की एक आवश्यक विशेषता माना जाता है और कोई भी राज्य सम्प्रभुता के बिना नहीं रह सकता, इसलिए यह स्वाभाविक है कि कोई भी राज्य शक्ति के बिना नहीं रह सकता। राष्ट्रीय शक्ति को सम्प्रभुता की मान्यता द्वारा एक कानूनी औचित्य प्रदान किया जाता है दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की यथार्थतायें भी इसे अपरिहार्य तत्व बना देती हैं।

राष्ट्रीय शक्ति की तुलना किसी भी अन्य संस्था या व्यक्ति की शक्ति से नहीं की जा सकती। इसका कारण यह है कि राज्य की शक्ति से ऊपर कोई भी सैद्धांतिक सीमा नहीं होती। राज्य के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, व्यावसायिक आदि संस्थायें भी अपने पीछे कुछ शक्ति एवं दबाव रखती हैं, किन्तु इनमें से प्रत्येक संस्था की शक्तियों पर सीमायें तथा प्रतिबंध हैं जबकि राज्य की दमनकारी शक्ति कोई मर्यादा नहीं जानती। इस अर्थ में राज्य अपने प्रकार की एक अलग ही संस्था है तथा राष्ट्रीय शक्ति इसकी प्राणवायु है। राज्य द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों के परिणामस्वरूप उसकी शक्तियों पर अन्य किसी राज्य की शक्ति की मर्यादायें भी प्रभावी नहीं हो सकतीं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि जब एक राज्य के पास

सैनिक शक्ति की मात्रा कम होती है तो उसकी शक्तियों पर अधिक सैनिक शक्ति वाले राज्य द्वारा सीमा लगाई जा सकती है।

इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति के कानून एवं नैतिक दो आधार बन जाते हैं। कानूनी आधार सम्प्रभुता की मान्यता द्वारा प्रतिपादित किया गया है और नैतिक आधार राज्य के उस उत्तरदायित्व से प्रकट होता है जिसके अनुसार वह अपने नागरिकों के अच्छे जीवन की प्राप्ति में सहायता करता है। राष्ट्रीय शक्ति को प्राप्त करने एवं उसे अधिक से अधिक बढ़ाने के लिये किये जाने वाले राज्य के प्रयासों का पहला कारण यह है कि वर्तमान राष्ट्र-राज्य व्यवस्था में शक्ति ही सुरक्षा का एक मात्र साधन है। इसका दूसरा कारण शक्ति का आकर्षक रूप है। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं शांतिवादी बर्ट्रेण्ड रसल (Bertrand Russel) का कहना है कि यदि सम्भव हो तो प्रत्येक व्यक्ति यह चाहेगा कि वह ईश्वर बन जाये। कुछ लोग तो इस बात की असम्भवता को स्वीकार करने में भी कठिनाई अनुभव करते हैं। अर्थात् वे सचमुच ही ईश्वर बनने का प्रयास करते हैं तथा उनका यह विश्वास रहता है कि वे इस प्रयास में सफल हो जायगे। शक्ति राजनीति का यह एक रोचक पहलू है कि जब भी किसी देश से यह पूछा जाता है कि वह अपनी शक्ति को क्यों बढ़ा रहा है तो इस प्रश्न का जवाब वह हमेशा यही देता है कि विदेशी आक्रमण से अपनी रक्षा के लिए वह ऐसा कर रहा है। वर्तमान परिस्थितियों के सदर्भ में यह बात भारत, पाकिस्तान और साम्यवादी चीन के उदाहरणों में देखी जा सकती है। चीन व पाकिस्तान की सैनिक तैयारियां देख कर भारत को अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई देती है अतः वह भी सैनिक तैयारी करता है। भारत की सैनिक तैयारी में पाकिस्तान व चीन को असुरक्षा की अनुभूति होती है और इसलिए वे अपने प्रयासों की गति को और भी बढ़ा देते हैं। इस प्रकार शस्त्रों की होड़ लग जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रायः ऐसा होता रहता है। शस्त्रों की होड़ के अतिरिक्त मानसिक, नैतिक एवं क्षेत्रीय आधार पर मतमुटाव, तनाव और विवाद बढ़ता है। इसकी वृद्धि निरन्तर रूप से होती है और एक दिन युद्ध के रूप में सामने आती है। यह शक्ति राजनीति का एक स्पष्ट तथ्य है।

राष्ट्रीय शक्ति के अनेक रूप होते हैं। ई एच. कार ने इसे तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। ये हैं—सैनिक शक्ति, आर्थिक शक्ति तथा मत (Opinion) पर शक्ति। शक्ति प्रदर्शन के इन रूपों के अतिरिक्त हत्या एवं आतंक आदि राजनैतिक युद्ध के कुछ रूपों का भी उल्लेख किया जा सकता है। सैनिक शक्ति का महत्व इसलिए है क्योंकि वह एक अन्तिम साधन है।

जब एक राज्य शक्ति के अन्य रूपों का प्रयोग करके अपने लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाता तो वह युद्ध को अपनाता हैं। यह एक प्रकार से ब्रह्मास्त्र है जिसका प्रयोग बहुत कम तथा मजबूरी की अवस्था में ही किया जाता हैं। मि. कार का कहना है कि शक्ति के क्षेत्र में राज्य का प्रत्येक कार्य युद्ध की दिशा में सचालित होता है किन्तु वह युद्ध को एक वाछनीय हथियार नहीं मानता किन्तु एक ऐसा हथियार मानता हैं जिसका प्रयोग वह अन्य कोई उपाय शेष न रहने पर करे।

'राष्ट्रीय शक्ति' मूल रूप से सैनिक शक्ति ही हैं किन्तु इस शक्ति की रचना में अनेक तत्व कार्य करते है और इसलिए वे भी शक्ति के प्रतीक कहे जा सकते हैं। कई बार ये प्रतीक ही राज्य के लक्ष्य की पूर्ति में सफल हो जाते हैं और युद्ध का मार्ग ही नही अपनाना होता। उदाहरण के लिए हम एक देश की आर्थिक शक्ति को ले सकते हैं। सैनिक शक्ति के प्रसार के लिए इसका होना परम आवश्यक हैं। यह कहा जाता हैं कि युद्धों के वर्तमान स्वरूप को देखते हुए आर्थिक शक्ति ही सैनिक शक्ति हैं। यह कथन चाहे अतिशयोक्ति के दोष से पूर्ण हो किन्तु इतना तो स्पष्ट हैं कि करोड़ों रुपये प्रतिदिन का भार डालने वाले युद्ध में कोई भी देश उस समय तक प्रवृत्त नहीं हो सकता जब तक कि उसके आर्थिक आधार मजबूत न हों। लोक मत पर प्रभाव की शक्ति प्रचार [redacted] माध्यम से सम्भव होती हैं। प्रचार के द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय मोरेल की स्थापना का प्रयास किया जाता हैं और विदेशों में इसे मनोवैज्ञानिक युद्ध के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जाता हैं। प्रचार को भी राष्ट्रीय शक्ति के अन्य रूपों से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि यह देश में उत्पादन बढ़ाने तथा बलिदान करने की तत्परता पर जोर देता हैं तथा विदेशों में मैत्री बढ़ाने तथा दुश्मनी को कम करने का प्रयास करता हैं।

कूटनीति को भी राष्ट्रीय शक्ति का एक रूप माना जाता हैं। अधिकांश लेखकों [redacted] कथनानुसार यह राष्ट्रीय शक्ति का स्रोत एवं रूप दोनों ही हैं।

शक्ति के लिए संघर्ष के आधार
(The Bases of Struggle for Power)

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शक्ति का संघर्ष अकारण ही नहीं होता, उसके कुछ आधार होते है। इस संघर्ष के प्रथम आधार की प्रकृति मानवीय हैं। इसके अनुसार किसी भी देश की सुरक्षा और एकता अक्षुण्ण, जीवन की एक शर्त होती है। यदि उस देश की स्वतन्त्रता के लिए कोई धमकी दी जाती हैं

तो इसका अर्थ यह होगा कि उसके जीने के तरीके को तथा उसके मूल्यों को धमकी दी जा रही है। अतः राज्य का यह एक मुख्य कर्तव्य माना जाता है कि वह अपने नागरिकों को शांति का वातावरण एवं सम्पन्नता के अवसर प्रदान करे। राष्ट्र राज्य व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संघर्ष का एक प्रमुख कारण है किन्तु यह एक मात्र कारण नहीं है। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस के बीच अनेक प्रश्नों पर जो मतभेद हैं उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक एवं राजनैतिक संगठनों तथा विश्वासों के बीच स्थित भिन्नतायें अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के मुख्य कारण हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि विचारधारा (Ideology) कभी-कभी तो राष्ट्रीयता की भावना से भी ऊपर उठ जाती है। एक देश के लोग दूसरे देश का समर्थन केवल इसी बात के आधार पर करने लगते हैं कि वहां के लोगों के विचार तथा विश्वास उन्हीं के जैसे हैं। विचारधारा के आधार पर ही विभिन्न राज्यों के अन्तर्गत जो संघर्ष या गृह युद्ध प्रारम्भ होते हैं वे बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप धारण कर लेते हैं। इस दृष्टि से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद प्रारम्भ होने वाला शीत युद्ध दो नैतिक दर्शनों के मध्य छिड़ने वाला एक झगड़ा था। मार्गेन्थो महाशय इस मत [redacted] समर्थक नहीं हैं। उनका कहना है कि राज्य जो भी कार्य करता है या जो भी निर्णय लेता है उसका मुख्य उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना है। वह विचारधाराओं के आधार पर तो अपने व्यवहार एवं निर्णयों का औचित्य मात्र सिद्ध करता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का एक तीसरा आधार मूल्यों को माना जाता है। क्लाइड क्लखोन (Clyde Kluckhohn) आदि जाति शास्त्र के विद्वानों का मत है कि सघर्षपूर्ण नैतिक मूल्य मनमुटाव के प्रधान स्रोत होते हैं। मूल्यों के द्वारा व्यवहार को प्रभावित किया जाता है और कभी कभी तो उसे निर्णीत भी किया जाता है।

विचारधारा एवं विश्वास के आधार पर मनुष्य की बौद्धिक एवं मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को सहारा दिया जाता है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि व्यक्ति किस दिशा में जा रहा है तथा वह जो कुछ कर रहा है वह ठीक है अथवा नहीं। मूल्य व्यवस्था को चुनौती देने का अर्थ होता है एक ऐसी चीज को चुनौती देना जो मानव जाति के लिए गहरा अर्थ रखती है। इस प्रकार का व्यवहार नैतिक सुरक्षा एवं निश्चितता को खतरे में डाल देता है। एक देश की विदेश नीति पर वहां के लोगों के सामाजिक मूल्यों का पर्याप्त प्रभाव रहता है। कुछ लोगों का तो यहां तक कहना है कि नैतिक एवं सैद्धान्तिक विश्वासों के अतिरिक्त लोगों का या राज्य का कोई हित ही नहीं होता। अपने स्वीकृत नैतिक विचारों के दृष्टिकोण से ही वे यह तय करते हैं कि उनके

हित क्या है ।[1] विदेश नीति के सम्बन्ध में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिल जाते हैं । जब एक देश यह मान लेता है कि पूंजीवादी व्यवस्था की अपरिहार्य गति के कारण संघर्ष का होना अनिवार्य है अत. वह यह नीति अपनाता है कि गैर साम्यवादी देशों की यथा शक्ति सहायता करे ताकि वे यथा स्थिति को बनाये रखें तथा क्रांति का विरोध करें । सैद्धांतिक मूल्यों को विदेश नीति का अन्तिम निर्णायक माना जावे अथवा नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर अधिकांश विचारकों के बीच मतभेद है । वैसे अधिक लेखक एवं विचारक यह मानते हैं कि कोई भी राजनीतिज्ञ उन मूल्यों की अवहेलना नहीं कर सकता जो उसके अनेक देशवासियों द्वारा स्वीकृत हैं । दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बंधों की कोई भी ऐसी विचारधारा यथार्थवादी नहीं कही जा सकती जो विरोधी मूल्यों पर गम्भीर रूप से विचार करने में असमर्थ रही हो ।

कोई भी देश जब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उतरता है तो उसके व्यवहार को प्रभावित करने में उक्त तत्वों के अतिरिक्त समाज के दबाव समूह भी पर्याप्त महत्व रखते हैं । एक देश में रहने वाले विभिन्न सामाजिक समूह एवं बुद्धि वर्ग अलग-अलग आर्थिक एवं राजनैतिक स्वार्थ रखते हैं और उसी के अनुरूप वे देश की विदेश नीति को प्रभावित करना चाहते हैं । प्रत्येक समाज में ऐसे अनेक लोग होते हैं जिनकी स्वामीभक्ति उनके देश की अपेक्षा उनके धार्मिक, व्यावसायिक अथवा ऐसे ही अन्य संगठनों के प्रति अधिक रहती है । जब ये लोग अपने देश की विदेश नीति के लक्ष्यों का मूल्यांकन करने लगते हैं तो दृष्टिकोण भिन्न प्रकार का होता है ।

लेनिन ने राज्यों के व्यवहार एवं शक्ति संघर्ष के लिए एक अन्य आधार को उत्तरदायी ठहराया है । उनका कहना है कि 'साम्राज्यवाद' पूंजीवाद का दूसरा सोपान है । पूंजीवादी देश अपने अतिरिक्त उत्पादन के लिए एक सुरक्षित बाजार चाहता है । अपने देश में उसे यह प्राप्त नहीं हो पाता । लेनिन की व्याख्या चाहे वैज्ञानिक थी अथवा नहीं थी यह बात अलग है किन्तु इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक औद्योगिक एवं बैंक की संस्थाओं को देश की राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करना होता है । लेनिन ने इस तथ्य का उद्घाटन किया कि प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे लोग या वर्ग होते हैं जो दूसरे लोगों की जमीन, जीवन एवं भूमि पर अपनी राष्ट्रीय सत्ता का प्रसार करना चाहते हैं ।

---

1. Partridge, Paths to Peace, P. 102

शक्ति की राजनीति पर यथार्थवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण
(Realist and Idealist Views about Power Politics)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन जिस रूप में होता है उसका वर्णन करने के लिए कई एक विचारधारायें विकसित की गई हैं। इन विचारधाराओं में यथार्थवादी एवं आदर्शवादी विचारधारायें प्रमुख हैं जो शक्ति के लिए संघर्ष के व्यवहार की सकारण व्याख्या करती हैं। यथार्थवादी विचारधारा मुख्य रूप से इस मान्यता पर आधारित है कि राज्य अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करते हैं। इस छोटे से कथन में ही यथार्थवादी विचारधारा का मूल निहित है। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर 'राज्य' मुख्य अभिनेता का कार्य करते हैं। ये सभी सम्प्रभु इकाई होते हैं और इस प्रकार वह राज्य व्यवस्था की स्थापना करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की तुलना शतरंज के खेल से की जाती है जिसमें प्रत्येक इकाई यदि सर्वाधिक शक्ति की प्राप्ति का नहीं तो कम से कम आगे बढ़ने रहने का प्रयास तो करती ही है। इस प्रकार सभी राज्य प्रायः एक जैसी इच्छा एवं उद्देश्य को लेकर आगे बढ़ते हैं। उनका व्यवहार एक प्रकार से उन राजाओं की भांति होता है जिनका वर्णन मैकियावेली ने किया है। राजाओं की तरह ये राज्य भी एक दूसरे से पूरी तरह स्वतन्त्र होते हैं। समाज का उनके ऊपर ऐसा कोई नियन्त्रण नहीं होता जो शक्ति की साधना में रत उनके अहंकारपूर्ण प्रयासों पर रोक लगा सके। आर्नोल्ड वाल्फर्स (Arnold Wolfers) का कथन है कि राज्य-शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्वी होते हैं तथा अपने अस्तित्व के लिए निरन्तर रूप से अपरिहार्य संघर्ष में रत रहते हैं। ऐसी स्थिति में वे राज्य एक दूसरे के सम्भावित शत्रु बन जाते हैं। उनके बीच हम किसी प्रकार की मैत्री की सम्भावना नहीं देख सकते जब तक कि उनको किसी सामान्य शत्रु के विरुद्ध सन्धि बद्ध होने के लिए मजबूर न होना पड़े। ऐसी स्थिति में हिंसात्मक व्यवहार की सम्भावनायें सदैव ही उपस्थित रहती हैं। यदि इस तथ्य को भुला दिया जाये अथवा कोई राज्य शक्ति प्राप्त करने की दिशा में प्रयास करना ही छोड़ दे तो इसका परिणाम उसके लिए पर्याप्त घातक हो सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य को निरन्तर रूप में संघर्ष में लगे रहना चाहिए क्योंकि यह उस समय तक संभव नहीं हो सकता जब तक दूसरे पक्ष के पास में विरोध करने के लिए पर्याप्त शक्ति है। यद्यपि कोई भी राज्य शक्ति को सतुलित करने में रुचि नहीं लेता किन्तु फिर भी यह हो सकता है कि अपनी शक्ति को बढ़ाने के राज्यों के प्रयास के परिणामस्वरूप शक्ति सन्तुलन स्थापित हो जाए।

जब राज्यों की शक्ति के बीच सन्तुलन रहता है तो प्रायः शान्ति की अवस्था रहती है। यदि विश्व में शान्ति स्थापित करनी है तो इसका एकमात्र उपाय यह बताया जाता है कि राज्यों के बीच शक्ति सन्तुलन स्थापित कर दिया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के बारे में अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्ष या शान्ति की स्थापना के लिए शक्ति सन्तुलन की स्थापना के बारे में जो विचार प्रकट किए गए थे वे आज की बदली हुई परिस्थितियों में उपयोगी प्रतीत नहीं होते। कुछ विचारकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को शुद्ध रूप से शक्ति के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता किन्तु फिर भी यह प्रयास राज्यों के व्यवहार के सम्बन्ध में एक यथार्थवादी प्रयास दिखता है। दूसरी ओर विचारकों का मत है कि शक्ति सन्तुलन के अतिरिक्त भी शान्ति की नीतियाँ होती हैं और इनकी सफलता के अवसर भी पर्याप्त होते हैं।

यथार्थवादी विचारकों द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि राज्य एक निश्चित तरीके से व्यवहार क्यों करते हैं। ऐसा करने के लिए उन्हें किसके द्वारा बाध्य किया जाता है। यथार्थवादियों के मतानुसार इसके दो कारण हैं। इसका पहला कारण यह है कि मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार व्यक्ति-गत रूप से एवं एक राष्ट्रीय रूप में इस प्रकार व्यवहार करते हैं जिस प्रकार कि जंगली जानवर अर्थात् उनमें सदैव ही शक्ति प्राप्ति की इच्छा प्रधान रहती है। जब शक्ति की इच्छा को व्यक्तिगत स्तर से राज्य के स्तर पर लाया जाता है तो उसका क्षेत्र व्यापक बन जाता है और इस व्यापक क्षेत्र के अनुसार राज्यों के द्वारा अपने अस्तित्व के लिए निरन्तर संघर्ष किया जाता है। इसका दूसरा कारण यह बताया जाता है कि राज्य शक्ति की खोज में इसलिए नहीं लगे रहते कि उनमें शक्ति की कामना होती है वरन् इसलिए लगे रहते हैं क्योंकि वे अपनी सुरक्षा चाहते हैं। वर्तमान राज्य व्यवस्था में प्रत्येक राज्य अपने आपको असुरक्षित समझता है क्योंकि कोई एक केन्द्रीय सत्ता नहीं है और अनेक सम्प्रभु राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्तमान हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राज्य यह चाहता है कि उसके पास अधिक से अधिक शक्ति हो ताकि दूसरे राज्य उस पर आक्रमण न कर सकें। यद्यपि एक राज्य [illegible] अधिकारी शक्ति प्राप्त करने के प्रयास में कई बार उसके मूल उद्देश्य के विपरीत भी बन जाते हैं। जब सभी राज्य अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे हैं और शक्ति को बढ़ा रहे हैं, तो इससे और भी असुरक्षा उत्पन्न हो जाती है। यथार्थवादी विचारक राज्यों के व्यवहार में एकरूपता देखते हैं क्योंकि वे सभी राज्य शक्ति की भावना में रत हैं। इतने पर भी आगे चलकर वे यह मानने

लगे कि शक्ति के प्रति राज्यों का दृष्टिकोण एक जैसा नहीं होता और इसके आधार पर राज्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। मारगेन्थो (Morgenthau) के मतानुसार पहली श्रेणी उन राज्यों की है जो यथा स्थिति चाहते हैं। इन राज्यों की नीतियां शक्ति के वितरण को बदलने की दिशा में नहीं चलती वरन् शक्ति के स्तर को यथावत बनाए रखने का प्रयास करती हैं। दूसरी श्रेणी के राज्य साम्राज्यवादी कहे जा सकते हैं। इनका उद्देश्य अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने का होता है। फ्रेड्रिक शूमा (Frederick Schuman) ने भी प्रारम्भ में इस बात पर जोर दिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति अपने आपमें एक लक्ष्य होती है किन्तु बाद में शूमा महोदय ने भी शक्ति के आधार पर राज्यों को दो भागों में वितरित किया। उन्होंने बताया कि जिन राज्यों को स्थापित वस्तु स्थिति से लाभ होता है वे उसे बनाये रखना चाहते हैं और दूसरी ओर जो लोग यथास्थिति से असन्तुष्ट हैं वे उसे बदलना चाहते हैं।

यथार्थवादी विचारधारा के अतिरिक्त राष्ट्रीय शक्ति के महत्व एवं कार्यों के सबंध में एक अन्य विचार आदर्शवादी विचारकों द्वारा रखा गया है। आदर्शवादी विचारकों का मुख्य ध्यान शांति की नीतियों की ओर तथा एक अच्छी दुनिया बनाने की ओर है। ये विचारक जिन नीतियों को लागू करना चाहते हैं उनका वर्णन करने से पूर्व इन्हें वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करना होता है। आदर्शवादियों ने अन्तर्राष्ट्रीय- राजनीति का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह यथार्थवादी दृष्टिकोण से भिन्न ही नहीं वरन् विपरीत है। आदर्शवादी विचारक राज्यों को अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाते वरन् व्यक्तियों को, जनता को अथवा मानव जाति को अपने अध्ययन का आधार बनाते हैं। आदर्शवादी यह मानकर नहीं चलते कि अंतर्राष्ट्रीय जगत में वह राज्य व्यवस्था है जिसमें अलग-अलग राष्ट्रीयताएं पाई जाती हैं; किन्तु ये तो विश्व समाज को अपने अध्ययन का आधार बनाते हैं और उन लोगों से सबंध रखते हैं जो विश्व समाज के सदस्य हैं। इस प्रकार आदर्शवादी विचारक यथार्थवादियों की भांति इस बात पर जोर नहीं देते कि प्रत्येक राष्ट्र शक्ति के लिए संघर्ष करता रहता है अथवा राज्यों के बीच सदैव ही संघर्ष रहता है। इन विचारकों द्वारा मानव जाति के सामान्य उद्देश्य अथवा व्यक्तिगत रूप में मनुष्य के सामान्य मूल्यों का अध्ययन किया जाता है। इनका कहना है कि अधिकांश लोग प्रायः एक जैसी चीजों को मूल्यवान मानते हैं, उदाहरण के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, स्वप्रशासन का अधिकार, अपनी मातृभूमि की रक्षा और इन सबके अतिरिक्त हिंसा का

अभाव आदि। इस प्रकार के मूल्यो के होते हुए यह कहना गलत होगा कि राष्ट्रो के बीच निरन्तर संघर्ष बना रहता है। यदि राष्ट्रो के बीच गलत फहमिया न हो तथा एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करे तो अंतर्राष्ट्रीय जगत मे शांति एव सहयोग रहेगा और राष्ट्रीय शक्ति का पूर्ण अभाव रहेगा। एक बार राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था कि कोई भी जनता किसी दूसरे देश की जनता के विरुद्ध कभी भी युद्धरत नही हुई किन्तु फिर भी सरकारें एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध करती हैं। राष्ट्रपति विल्सन का यह कथन आदर्शवादी विचारधारा के आधार को ही नष्ट कर देता है क्योंकि आदर्शवादी विचारक अपने अध्ययन का आधार उस जनता को बनाते हैं जो कभी युद्ध नही करती और उन सरकारों को अध्ययन के क्षेत्र से बाहर रखते हैं जिनके कारण युद्ध होता है।

आदर्शवादी विचारधारा को हम एक स्पष्ट दृष्टा नहीं मान सकते क्योंकि यह इस बात को पूरी तरह नही भुला देती कि विश्व मे स्वतन्त्र राष्ट्र हैं जिनके बीच संघर्ष रहता है और जो शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। आदर्शवादी लोग शक्ति की राजनीति की चुनौती से सदैव सजग रहते हैं। यद्यपि वे यथार्थ का अध्ययन करते हैं किन्तु फिर भी उनका मुख्य ध्यान इस बात पर रहता है कि क्या होना चाहिए और क्या होगा। आदर्शवादी विचारक उन घातक शक्तियो का भी ज्ञान रखते हैं जो समाज के कानूनो और विश्व की शांति को तोडते हैं। इन शक्तियों की प्रकृति के बारे म उनको किसी प्रकार का सदेह नही है। ये शक्तिया उस युग के अराजकतावादी अवशेष हैं जो अब समाप्त हो रहा है। यह युग कुछ स्वेच्छाचारी शासको का युग था जो राष्ट्रो के भाग्य को स्वय नियन्त्रित करते थे किन्तु अब नियन्त्रण की यह शक्ति जनता के हाथो में आती जा रही है। स्वेच्छाचारी शासको के युग म जनता के हितों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था और शासकवर्ग अपनी महत्वाकांक्षाओ के लिए शक्ति की राजनीति मे उनका कर शक्ति के खेल खेलता था। जहां कहीं और जब कभी इस प्रकार की स्वेच्छाचारी शक्तिया प्रभाव मे आती हैं वही शांतिप्रिय राष्ट्रों का समाज इनकी आक्रमणकारी शक्ति एव हिंसा का शिकार बन जाता है। [redacted] प्रकार विश्व राजनीति के रूप में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गए हैं। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों की स्थापना के बाद से राष्ट्रीय शक्ति का रूप और उद्देश्य दोनों में भारी परिवर्तन आ गया है। आज यदि विश्व मे संघर्ष हैं या लडाइयां होती हैं तो उनका कारण कुछ राज्यों के शासकों की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियां एव व्यक्तिगत स्वाभिमान आदि हैं। वैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शांतिप्रिय राज्यों

से पूर्ण हैं। आज यदि संघर्ष भी होता है तो उसका रूप पहले से भिन्न है। पहले तो प्रत्येक राष्ट्र के विरुद्ध युद्ध की स्थिति थी किन्तु आज केवल कुछ आक्रमणकारी एवं तानाशाही देश ही विश्व शांति को भंग करते हैं और उनका विरोध करने के लिए शांतिप्रिय राष्ट्रों की सामूहिक शक्ति कार्य करती है।

आदर्शवादी विचारधारा के आलोचकों का कहना है कि इसके द्वारा वर्तमान विश्व की जो व्याख्या की गई है उसमें से अधिकांश की प्रकृति कल्पनात्मक है। यह पहल से ही कुछ मान्यताएं लेकर चलती है और मानवीय प्रकृति तथा हितों के सामन्जस्य के बारे में इसकी ये मान्यताएं अत्यधिक आशावादी हैं। आदर्शवादी लोगों ने आक्रमण को भी संकीर्ण रूप में परिभाषित किया है।

शक्ति की राजनीति के बारे में यथार्थवादी एवं आदर्शवादी विचारकों ने जो मत प्रस्तुत किए हैं वे अनेक दृष्टियों से एक दूसरे के विपरीत हैं तथा पर्याप्त भिन्नता रखते हैं। इतने पर भी दोनों विचारधाराएं कई क्षेत्रों में गहरा सम्बन्ध रखती हैं। आर्नोल्ड वाल्फर्स (Arnold Wolfers) के कथनानुसार दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समान स्तर पर देखती हैं, जिसे शक्ति का स्तर कहा जा सकता है यद्यपि वे इसको विरोधी सिरों से देखती हैं। यदि हम इन दोनों विचारधाराओं के अन्तरों का सरलीकरण करना चाहें तो कह सकते हैं कि यथार्थवादी विचारक मुख्य रूप से शक्ति की खोज में रुचि लेते हैं और हिंसात्मक रूप में इसकी अभिव्यक्ति को राष्ट्रों के मध्य स्थित राजनीति का मूल तत्व मानते हैं। दूसरी ओर आदर्शवादी इसको समाप्त करने में रुचि लेते हैं। इस स्तर पर दोनों के बीच कोई मेल नहीं हो सकता। आदर्शवादियों का यह विचार पर्याप्त सार्थक प्रतीत होता है कि शक्ति दूसरे लक्ष्यों के लिए साधन होती है। यह अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है। यदि लक्ष्यों के बिना ही शक्ति पर विचार किया जाए तो यह उसका एक निषेधात्मक पहलू होगा। आदर्शवादी विचारधारा को इस अर्थ में भी सही माना जा सकता है कि मनुष्य सामान्य रूप से शांति को मूल्य प्रदान करते हैं और उनके इस मूल्यांकन का नीति निर्माताओं के निर्णयों पर प्रभाव हो सकता है। जब शांति प्रिय व्यक्तियों की अधिकतम संख्या प्रभाव डालती है तो राजनीतिज्ञों को कुछ परिस्थितियों में बाध्य होकर अपनी राष्ट्रीय मांगों को शक्ति के साधन द्वारा पूरा कराने का मार्ग छोड़ना पड़ता है अथवा मांगें कम करनी पड़ती हैं। दूसरी ओर यथार्थवादी विचारधारा का भी

अपना महत्व है क्योंकि इसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति के महत्व का वर्णन किया है; यद्यपि इसने उन नीति सम्बन्धी लक्ष्यो पर कम ध्यान दिया जो शक्ति की खोज की प्रेरणा बनते है । इसने यह माना कि बहुराज्य व्यवस्था शक्ति के लिए सघर्ष की ओर लगी हुई है । असल मे आदर्शवादी और यथार्थवादी विचारधाराए शक्ति की राजनीति के सम्बन्ध मे जो विचार प्रस्तुत करती है वे दो ध्रुवो की भांति विपरीत है । एक विचारधारा शक्ति के लिए सघर्ष मे उलझने के लिए कहती है तो दूसरी विचारधारा शक्ति की ओर से पूर्णत उदासीन होने का उपदेश देती है । वैसे दोनों का उद्देश्य समान है और वह है शान्ति की स्थापना । एक उसे शक्ति को सन्तुलित करके पाना चाहता है जबकि दूसरा सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था द्वारा ।

शक्ति सघर्ष के रूप
(The Forms of Struggle for Power)

मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने शक्ति सघर्ष के तीन मुख्य-मुख्य रूपो का वर्णन किया है । ये रूप शक्ति के प्रति रहने वाले विशेष दृष्टिकोण से प्रभावित रहते हैं । शक्ति के ये तीन मूल रूप निम्न प्रकार हैं—

(१) शक्ति को बनाये रखना (To keep power)—शक्ति का यह वह रूप (Pattern) है जिसमे एक देश शक्ति स्थिति को ज्यों की त्यो रखना चाहता है । शक्ति के इस रूप से प्रभावित विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य यह होता है कि विश्व के देशो की शक्ति स्थिति इस समय जैसी है वह वैसी ही बनी रहे; उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन न आये । यह नीति यथास्थिति (Status quo) की नीति कही जाती है ।

(२) शक्ति मे अभिवृद्धि करना (To increase power)—कुछ देशों की विदेश नीति का लक्ष्य वर्तमान शक्ति स्थिति को पलटना होता है । ऐसे देशो के पास जितनी शक्ति होती है वे उसे और भी अधिक बढाना चाहते है । शक्ति स्थिति मे ये देश ऐसा परिवर्तन करना चाहते है जो उनके पक्ष में हो । ऐसे देश साम्राज्यवाद की नीति को अपनाते है ।

(३) शक्ति का प्रदर्शन करना (To demonstrate power)— बहुत से देश ऐसी नीति अपनाते है जिसके अनुसार उनको शक्ति का प्रदर्शन करने का अधिक से अधिक अवसर प्राप्त हो सके । यह प्रदर्शन शक्ति को ज्यों की

स्यो बनाये रखना तथा उसे बढ़ाने, इन [redacted] लक्ष्यो की पूर्ति के लिए किया जा सकता है। इस नीति को सम्मान को [redacted] कहते हैं।

उक्त तीनो ही रूपो मे शक्ति के विभिन्न खेल समय-समय पर खेले जाते हैं तथा ये ही अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को नियमित भी करते है। अंतर्राष्ट्रीय जगत मे पाया जाने वाला शक्ति का संघर्ष हमे डार्विन के अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence) तथा योग्यतम की विजय आदि सिद्धान्तों का स्मरण कराता है जिनका उल्लेख जीव विकास के प्रसंग मे किया गया था किन्तु यह राज्य व्यवस्था के विकास पर पूरी तरह से लागू होता है। विश्व के राज्यो के हित आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं सैनिक आदि विभिन्न क्षेत्रों मे जब परस्पर टकराते हैं तो एक संघर्ष की सी स्थिति पैदा हो जाती है। इस संघर्ष मे जो राष्ट्र विजयी होता है वह आगे बढ जाता है, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उसको सम्मानीय पद प्राप्त हो जाता है। इस पद की प्राप्ति के लिए प्रायः सभी राष्ट्र समान रूप से लालायित रहते है।



४

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : भूगोल और प्राकृतिक स्रोत
[THE ELEMENTS OF NATIONAL POWER: GEOGRAPHY AND NATURAL RESOURCES]

एक राष्ट्र की शक्ति उसकी वह सामर्थ्य होती है जिसके आधार पर वह अन्य राष्ट्रों पर अपने प्रभाव का प्रयोग कर सकता है। शक्ति प्रत्येक राज्य का मूल आधार है। शक्ति के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। विभिन्न राज्यों के पास रहने वाली शक्ति के अनुपात में पर्याप्त असमानता रहती है। साथ ही उनकी शक्ति के रूप भी अलग-अलग होते हैं। ऐसी स्थिति में जब भी कभी हम राष्ट्रीय शक्ति का अध्ययन करें तो यह मान कर चलना चाहिये कि हम एक अत्यन्त जटिल विषय का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस विषय की परिधियां इतनी अस्पष्ट हैं कि प्रत्यक्ष रूप से देखने पर ज्ञात नहीं हो पाती। जब एक राष्ट्र अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करता है तो वे आसानी से दिखाई दे जाती हैं किन्तु जब वह अन्य असैनिक साधनों के द्वारा शक्ति का प्रदर्शन करता है तो देखने वाला तुरन्त ही पहचान नहीं पाता। इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति के दर्शनीय एवं अदर्शनीय दो प्रकार के तत्व हैं। इसके अदर्शनीय तत्वों में भूगोल, तकनीक एवं मोरेल का नाम लिया जा सकता है। ये तत्व प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय शक्ति पर प्रभाव डालने वाले नहीं लगते किन्तु असल में इनका पर्याप्त प्रभाव रहता है। राष्ट्रीय शक्ति के समस्त तत्व एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं।

यदि एक राष्ट्र एक तत्व की दृष्टि से सम्पन्न है तो वह अन्य तत्व की दृष्टि से भी कुछ विकसित अवस्था मे होगा। जिस प्रकार बिना तेल के इंजिन बेकार हो जाता है उसी प्रकार बिना प्राकृतिक साधनो के तकनीकी विकास पर्याप्त उपयोगी नहीं रह जाता। शक्ति के विभिन्न तत्वो के पारस्परिक सम्बन्ध को देखकर कई बार यह कहा जाता है कि शक्ति एक अविभाज्य चीज है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के क्षेत्र में शक्ति की समस्या मूल रूप से एक सापेक्षिक तत्व है। किसी भी देश की राष्ट्रीय शक्ति उस देश की जनसख्या, कच्चा माल एव अन्य मात्रात्मक तत्वो से भिन्न होती है। एक राष्ट्र की शक्ति को निर्धारित करने वाले कुछ गुणात्मक तत्व भी होते हैं। उदाहरण के लिये उस राष्ट्र के सम्भावित मित्रो की सख्या उसकी संस्थाओं की लचीली प्रकृति, उस देश के लोगो का तकनीकी ज्ञान आदि। किसी भी देश की राष्ट्रीय शक्ति को मापना एक अत्यन्त ही जटिल कार्य है। राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वो का अध्ययन करना ही इस दृष्टि से उपयोगी रहेगा। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्राय सभी विचारक इन तत्वो के अस्तित्व के बारे म एकमत ह किन्तु उनके वर्णन करने का तरीका अलग अलग है। राष्ट्रीय शक्ति के इन तत्वो का विकास जिस देश मे जितना अधिक होता है उसे राष्ट्रीय शक्ति से उतना ही सम्पन्न माना जाता है। प्रत्येक देश की विदेश नीति इस प्रकार निश्चित की जाती है ताकि वह इन तत्वो के अधिकाधिक विकास को ध्यान मे रख कर चल सके।

राष्ट्रीय शक्ति के इन तत्वो को मार्गेन्थो महाशय ने दो मुख्य श्रेणियों मे वर्गीकृत किया है। प्रथम वर्ग को वे स्थायी तत्व (Relatively Stable Elements) कहते हैं और दूसरे वर्ग को अस्थायी तत्व (Elements Subject to Constant Change) कहते हैं। इन दोनो ही वर्गों में आने वाले राष्ट्रीय शक्ति के तत्व मार्गेन्थो के मतानुसार जो होते हैं वो ये हैं —

१. भूगोल (Geography)
२. प्राकृतिक साधन (Natural Resources)
३ औद्योगिक क्षमता (Industrial Capacity)
४ सैनिक तैयारियां (Military Preparedness)
५. जनसख्या (Population)
६. राष्ट्रीय चरित्र (National Character)
७ राष्ट्रीय मोरेल (National Morale)
८. कूटनीति का गुण (Quality of Diplomacy), तथा
९. सरकार का गुण (The quality of Government)

पामर तथा पारकिन्स ने राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों को गैर-मानवीय एवं मानवीय वर्गों में विभाजित किया है। गैर-मानवीय तत्वों में वे भूगोल तथा प्राकृतिक साधनों का वर्णन करते हैं और मानवीय तत्वों में वे पाच का उल्लेख करते हैं। ये हैं—

१ जनसख्या (Population)
२ तकनीकी ज्ञान (Technology)
३ विचारधारायें (Ideologies)
४ मोरेल (Morale), तथा
५ नेतृत्व (Leadership)

राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का वर्णन अन्य अनेक लेखकों द्वारा भी किया गया है। इनके बीच थोडा बहुत अन्तर ही वर्तमान है। उदाहरण के लिये श्लाइसर महाशय ने अन्य तत्वों के अतिरिक्त उत्पादन क्षमता (Productive Capacity) एव आर्थिक तथा राजनैतिक सस्थाओं (Economic and Political Institutions) का भी नामोल्लेख किया है।

मार्गेन्थो (Morgenthau) की भांति श्लाइसर (Schleicher) महोदय भी यह स्वीकार करते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों के बीच स्थायित्व (Stability) की दृष्टि से अन्तर रहता है। कुछ तत्व दूसरों की अपेक्षा अधिक स्थायी होते हैं तथा उनको मापना भी सरल होता है। उदाहरण के लिए भूगोल तथा प्राकृतिक साधनो में स्थायित्व तथा मापे जाने की सम्भावनायें जनसख्या की सस्थाओं एव गुणो की तुलना में अधिक होती हैं। ये सभी तत्व मिलकर एक देश को तीन प्रकार की सामर्थ्य प्रदान करते हैं—

(१) आर्थिक सामर्थ्य (Economic Capacity)
(२) मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य (Psychology Capacity) तथा
(३) भौतिक सामर्थ्य (Physical Capacity)

राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों का महत्व सदा एकसा नहीं रहता है, यह समय की परिस्थितियों के साथ बदलता रहता है। उदाहरण के लिए आज से दो सौ वर्ष पूर्व जनसख्या का राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से जो महत्व था वह आज नहीं है। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन की भौगोलिक स्थितियां पहले उसकी शक्ति को बढ़ाने में जो योगदान करती थीं वह आज के वैज्ञानिक युग में उतनी महत्वपूर्ण नहीं रह गई है। राष्ट्रीय शक्तियों के विभिन्न तत्वों के परिचय तथा महत्व के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के

एक छात्र के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि गणित के सवाल करने से पूर्व गिनती का ज्ञान होना आवश्यक होता है।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का विश्लेषण करना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिए परम आवश्यक होते हुए भी इनके सम्बन्ध में यह बात सदैव ही ध्यान में रखनी होती है कि इन तत्वों का योगमात्र ही एक राज्य की शक्ति की मात्रा को व्यक्त नहीं कर पाता। राज्य की शक्ति को असल में उसके व्यवहार के माध्यम से ही परखा जा सकता है। राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अध्ययन करने के बाद हम इस योग्य हो जाते हैं कि किसी कार्य को करने की एक राज्य की सामर्थ्य का अनुमान लगा सकें। जब भी किसी राज्य की शक्ति के किसी तत्व का विश्लेषण किया जाये तो उसके सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें ध्यान में रखनी चाहिए। इस सम्बन्ध में पहली बात यह है कि शक्ति के सभी तत्व सापेक्षिक महत्व रखते हैं। उनका मूल्यांकन करते समय अन्य राज्यों, विशेषतः पड़ोसियों एवं सम्भावित विरोधियों के ऐसे ही तत्वों को भी ध्यान में रखना चाहिए। जैसे यदि हम यह कहें कि ग्रेट ब्रिटेन की जनसंख्या ५३ मिलियन है तो यह कथन उस समय तक उसके शक्ति सम्बन्धों की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता जब तक कि उसके आसपास के देशों की जनसंख्या को न देखा जावे तथा महा शक्तियों की जनसंख्या को न देखा जाये।

2 दूसरे, राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों की मात्रा का उल्लेख मात्र कर देना भी अर्थहीन होगा। हमें यह भी देखना होगा कि ५३ मिलियन जनसंख्या में कितने लोग वयस्क हैं, कितने वृद्ध हैं, कितने बालक हैं, कितने रोगी, अपाहिज तथा असमर्थ हैं? कुल जनसंख्या में स्त्रियों की संख्या क्या है तथा पुरुषों की संख्या क्या है? इनमें भी शिक्षित लोग कितने हैं और अशिक्षित कितने? आदि आदि। इन सारी बातों का स्पष्टीकरण करने के बाद ही जनसंख्या के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि एक विशेष देश की राष्ट्रीय शक्ति कितनी है।

/5 तीसरे, राष्ट्रीय शक्ति के तत्व अपने आप में कोई महत्व नहीं रखते। उनकी उपयोगिता एवं सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि उनके लिए शक्ति के अन्य तत्वों का कितना सहारा प्राप्त है। जब भी कभी हम एक तत्व का मूल्यांकन करने लगें तो इसके लिए दूसरे तत्वों की स्थिति की भी जानकारी प्राप्त करनी होगी। यदि शक्ति के अन्य तत्वों का एक राज्य में अभाव है तो किसी भी एक तत्व की पर्याप्त मात्रा को वहां सार्थक नहीं माना जा सकता और इसलिए वह भी महत्वहीन बन जायेगा। उदाहरण के लिए

यदि एक देश सैनिक तैयारियों की दृष्टि से पर्याप्त आगे है किन्तु उसके पास पर्याप्त जनसंख्या एवं औद्योगिक स्रोत नहीं है तो वह अपने उस शत्रु के सामने भी नहीं टिक सकेगा जिसकी सैनिक तैयारियां उतनी अधिक नहीं थीं। इसका कारण यह है कि जब उस विशेष देश को युद्ध में क्षति होगी तो वह उसकी पूर्ति करने में अपने आपको असमर्थ पायेगा। जब एक देश के पास अतिरिक्त साधन होते हैं तो उनका महत्व भविष्य की रणनीति की दृष्टि से होता है किन्तु तत्काल में उनको राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि का एक आवश्यक साधन नहीं माना जा सकता। भारतवर्ष एवं साम्यवादी चीन की जनसंख्या एक दृष्टि से देखने पर उनकी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाते हैं किन्तु दूसरी दृष्टि से वे उनकी कमजोरी के कारण हैं क्योंकि इन देशों के पास इतने साधन स्रोत नहीं हैं कि वे अपनी जनसंख्या का स्वमेव ही भरण-पोषण कर सकें। सच तो यह है कि जिसे एक स्थिति में शक्ति का तत्व माना जाता है, वही दूसरी स्थिति में एक भार बन सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक देश अन्य तत्वों की दृष्टि से गरीब है किन्तु उसके प्राकृतिक स्रोत पर्याप्त सम्पन्न हैं तो वह देश बड़ी शक्तियों की ललचाई नजरों का शिकार बन जायेगा और अपनी स्वतन्त्रता को खोकर साम्राज्यवादी शक्तियों का उपनिवेश मात्र रह जायगा।

चौथे, शक्ति के तत्वों का प्रयोग कम कुशलता के साथ भी किया जा सकता है और अधिक कुशलता के साथ भी। एक विशेष देश में किसी विशेष समय पर शक्ति का एक तत्व अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है जबकि दूसरे समय में उसका महत्व इतना नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए, हम दो देशों को ले सकते हैं जिनमें एक का स्टील का उत्पादन दूसरे से कम है; किन्तु इस आधार पर हम एक देश को कम शक्तिशाली नहीं कह सकते क्योंकि यह हो सकता है कि उस देश के उद्योगों की मांग ही कम हो; जबकि अधिक स्टील उत्पादन वाले देश में यदि उद्योगों की 'मांग' पूर्ति से भी अधिक है तो वह अधिक मात्रा भी देश की कमजोरी का कारण ही समझी जायेगी। इसी प्रकार एक हथियार का शक्ति मूल्य भी इस बात पर निर्भर करता है कि वह रणनीति में किस स्थान पर कार्य कर रहा है। मई १९४० में जब फ्रांस पर हिटलर का आक्रमण हुआ तो उस समय एक टैंक का मूल्य जर्मनी के हाथों [illegible] रहने पर अधिक या अपेक्षाकृत वैसे ही उस टैंक के जो फ्रांस [illegible] हाथों

पांचवें, हम जिस युग में रह रहे हैं वह तकनीकी विकास का युग है। इस काल में परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से हो रहे हैं। शक्ति के विभिन्न तत्व जो कभी पर्याप्त महत्वपूर्ण थे आज उतने महत्वपूर्ण नहीं रहे हैं तथा अन्य

नये महत्वपूर्ण तत्वो का विकास होता जा रहा है। पहले कोयले को ईंधन का मुख्य स्रोत माना जाता था किंतु बाद में इसका स्थान तेल ने ले लिया। तेल का स्थान यूरेनियम लेता जा रहा है। यह भी सम्भव है कि विज्ञान के विकास, यूरेनियम को भी महत्वहीन बना दें। ठीक इसी प्रकार हथियार भी असामयिक बन जाते हैं। विज्ञान एवं तकनीक का विकास नये नये आविष्कार करता है और पुरानो को महत्वहीन बना देता है। विज्ञान एव तकनीकी विकास के साथ-साथ शक्ति के कम दृष्य तत्वो मे भी परिवर्तन होता रहता है। जब कभी सरकार की कुशलता एव जनता के मोरेल मे महत्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं तो इसके कारण शक्ति-सम्बन्धो मे भी गम्भीर परिवर्तन आ जाते हैं।

छठे, तैयारी के पहलू को भी नही भुलाया जाना चाहिए। यहा तक कि अतीत काल मे भी रणनीतियां तय करते समय सिपाहियों के बीच इस आधार पर भेद किया जाता था कि वे हथियारो से लैस तथा युद्ध के लिए तैयार हैं अथवा नही है। जो सैनिक सशस्त्र खडे हैं वे उनसे अधिक मूल्यवान हैं जिनको कि तैयार होने मे समय लगेगा। आज का जमाना बटन को दबा कर युद्ध करने का जमाना है। ऐसी स्थिति मे बमबारी करने वाला वह जहाज जिसे उडने के लिए कुछ घण्टे चाहिए, उस जहाज से भिन्न है जो बमबारी के लिए बिल्कुल तैयार है। यदि अचानक ही आक्रमण कर दिया जाये तो वह बम-वर्षक जहाज निरर्थक रहेगा जिसे तैयार होने के लिए कुछ समय की जरूरत थी। यही बात शक्ति के अन्य तत्वो पर भी इसी प्रकार लागू होती है। यदि वे क्रियान्वित होने के लिए तैयार हैं तब तो ठीक है वरना उनका महत्व एव प्रभाव उतना नही रहेगा।

इस प्रकार जब भी कभी किसी राष्ट्रीय शक्ति का अध्ययन किया जाये तो उसके विश्लेषण को केवल प्राप्त आकडो तक ही सीमित नही करना चाहिए वरन् उनको भावी प्रवृत्तियो के सन्दर्भ मे देखना चाहिए। यहा एक समस्या यह उठती है कि विश्वसनीय सांख्यिकीय एव अनुमानो तथा उनके समय के बीच किस प्रकार सम्बन्ध स्थापित किया जाये। राष्ट्रीय शक्ति की प्रकृति सापेक्षिक होने के कारण एक अन्य समस्या यह उठती है कि दूसरे देश की शक्ति को किस प्रकार जाना जाये। केवल अनुमानो एवं मान्यताओं के आधार पर किया गया मूल्यांकन कई बार गलत साबित होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूगोल का योगदान
(The Role of Geography in International Politics)

किसी देश का भूगोल उसकी शक्ति के विभिन्न तत्वो में सर्वाधिक

स्थायी होता है। नेपोलियन ने एक बार कहा था—एक देश की विदेश नीति उसके भूगोल द्वारा निर्धारित की जाती है। आलोचकों के मतानुसार नेपोलियन का यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण है क्योंकि वस्तुस्थिति के अनुसार भूगोल के अतिरिक्त अन्य तत्व भी होते हैं जो प्रभाव डालते हैं। इतने पर भी यह निर्विवाद सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भूगोल का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। यूनानी सभ्यता के काल से ही मनुष्य ने प्रकृति एवं उसके प्रभावों का मानवीय संस्थाओं के साथ सम्बन्ध का अध्ययन किया है। अरस्तू ने बताया कि वातावरण एवं मानवीय चरित्र के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करके राज्य की आवश्यकताओं का पता लगाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों को जानने के लिए जिज्ञासु को ऐतिहासिक के साथ साथ भौगोलिक दृष्टिकोण भी अपनाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सक्रिय कार्यकर्त्ताओं एवं पर्यवेक्षकों को एक ऐसे मानचित्र की आवश्यकता होती है जो जनसंख्या, कच्चा माल, संचार के रास्ते आदि बातों का दिग्दर्शन करा सकें। भूगोल के प्रति राष्ट्रीय चेतना का स्रोत प्रायः उस देश का इतिहास होता है, पड़ौसियों के साथ उसके सम्बन्ध होते हैं तथा धार्मिक क्रियायें होती हैं। इन सभी स्रोतों के द्वारा संसार का जो रूप प्रदर्शित किया जाता है वह गलत भी हो सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका शताब्दियों तक अपने आपको भौगोलिक दृष्टि से योरोप से अलग समझता रहा। यही कारण है कि उसने पार्थक्य की नीति को अपनाया जो आज के अनेक निष्पक्ष देशों द्वारा अपनायी जा रही है। भूगोल प्रादेशिक राज्यों के व्यवहार पर प्रभाव डालने वाला इतना महत्वपूर्ण तत्व है कि अनेक विचारक केवल भौगोलिक प्रभावों के आधार पर ही एक देश की विदेश नीति का स्पष्टीकरण करने का प्रयास करते हैं। पेडलफोर्ड तथा लिंकन (Padelford & Lincoln) के कथनानुसार भौतिक भूगोल विश्व राजनीति को अधिक निरन्तर रूप से प्रभावित करने वाला तत्व है। यह उन आवश्यकताओं, लक्ष्यों, नीतियों एवं शक्ति को प्रभावित करता है जिनको राज्य अपने हितों की दृष्टि से अपनाते हैं। अनेक विचारक यह मानते हैं कि एक देश के प्रदेश के आकार तथा उसकी शक्ति के बीच संबंध अवश्य रहता है। विश्व का राजनैतिक नक्शा बदलता रहता है उसमें अनेक परिवर्तन आ जाते हैं। विकास के क्रम में व्यक्ति अब तो अन्तरिक्ष एवं अन्य ग्रहों का भी स्वामित्व करने की योजनायें बना रहा है। इतने पर भी जलवायु, वातावरण एवं भौतिक विशेषतायें अपने आपको बहुत कम बदलती हैं। भूगोल की कुछ मान्यताओं एवं तथ्यों का अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर लागू करने की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जाना अत्यन्त

अनिवार्य है। भूगोल के अर्थ एव प्रभाव को अन्य तत्वो के सन्दर्भ मे देखा जाना चाहिए, उदाहरण के लिए, दृष्टिकोण, सामाजिक एव राजनैतिक सस्थायें, आर्थिक तत्व, तकनीकी एव जनसख्या आदि। ये सभी तत्व परिवर्तित प्रकृति वाले होते हैं इसलिए भूगोल का प्रभाव भी गत्यात्मक बन जाता है। एक सी ही जलवायु अलग-अलग समय एव परिस्थितियो मे अलग-अलग प्रकार का प्रभाव डालती है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर भौगोलिक दृष्टिकोण
(The Geographical Approach towards International Affairs)

बीसवीं शताब्दी से पूर्व विचारको ने भूगोल और राज्य के कार्यों के बीच सम्बन्धो की एक व्यवस्थित मान्यता को विकसित करना प्रारम्भ कर दिया। भौगोलिक-राजनीति (Geo-Politics) का सन् १६४५ से पूर्व पर्याप्त प्रभाव था किन्तु पिछले कुछ दिनो से यह प्रभाव कम हो गया है। भूगोल मे रुचि कम होने के कारण अनेक गैर भौगोलिक तत्वो का विकास हुआ, जैसे कि विचारधारा तकनीकी राष्ट्रवाद एव नेतृत्व आदि। आज यह भी माना जाने लगा है कि अतर्राष्ट्रीय सबधो मे कोई भी एक तत्व प्रभावपूर्ण नही होता। भूगोलशास्त्री इस बात को स्वीकार नहीं करते कि प्रकृति मानवीय क्रियाओ को निर्धारित करती है। किन्तु वे यह अवश्य मानते हैं कि वातावरण और राजनीति के बीच एक घनिष्ठ सम्बन्ध है और इससे व्यक्ति एव राज्यों के कार्यों, मूल्यों तथा प्राथमिकताओ पर प्रभाव पडता है। यह कहा जाता है कि जब तक शक्ति अथवा शक्ति की कमी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नियमित करने वाला अन्तिम तत्व है तब तक कोई भी राज्य शक्ति के इस तत्व की अवहेलना नही कर सकता।

राष्ट्रीय शक्ति को निर्धारित करने वाली विचारधाराओ मे भूगोल के बराबर महत्वपूर्ण कार्य बहुत कम के द्वारा किया गया है। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व भौगोलिक स्थिति का राष्ट्रीय शक्ति से सम्बन्ध अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे सबसे अधिक स्थायी तत्व माना जाता था। यूरोप मे विशेष रूप से, वातावरण, जनसंख्या और साधनों का ऐसा उपयुक्त सयोग था कि उसकी आर्थिक, तकनीकी एव सामाजिक व्यवस्था ससार मे सर्वोच्च बन गई। ससार के प्राय सभी देश भूगोल और जलवायु के प्रभाव से सीमित रहते हैं। रुडाल्फ जैलिन (Rudolf Kjellen) ने सबसे पहले सन् १६१६ में भौगोलिक राजनीति (Geo-Politics) शब्द का प्रयोग किया। उन्होने अपनी पुस्तक

'राज्य-जीवन का एक रूप' (The State as a Form of Life) में भौगोलिक राजनीति को परिभाषित करते हुए बताया है कि यह राज्य की एक विचारधारा है जो उसे एक भौगोलिक आवयवी मानती है।

भौगोलिक-राजनीति के कुछ विचारकों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भूगोल की मुख्य मुख्य चीजों से सम्बद्ध रहते हैं। पेडिलफोर्ड तथा लिंकन के कथनानुसार भौगोलिक राजनीति भूमि विज्ञान और राजनीति विज्ञान के मध्य स्थित क्षेत्र को जोड़ने का एक प्रयास है। यह भौगोलिक सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, राष्ट्रीय हित और रणनीति के रूप में मूल्यांकित करने का प्रयास करती है। कुल मिला कर भौगोलिक-राजनीति (Geo-Politics) एक ऐसा शब्द है जो राज्यों की शक्ति और नीतियों के अध्ययन तथा विश्लेषण के प्रति एक दृष्टिकोण का द्योतक है।

(१) मैकाइन्डर के विचार
(The Ideas of Mackindar)

भौगोलिक राजनीति के आधुनिक विचारों के विकास के लिए सर हाल्फर्ड मैकाइन्डर (Sir Halford Mackinder) को उत्तरदायी बनाया जाता है जो इंगलैंड के भूगोलशास्त्री और राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने दुनिया की भूमियों की कुछ भौगोलिक विशेषताओं का विद्वतापूर्ण विश्लेषण किया और समुद्रों से उनका सम्बन्ध दिखाते हुए बताया कि कुछ भौगोलिक वास्तविकताएं भावी विश्व की घटनाओं के विकास को मोड़ने में महत्वपूर्ण कार्य करेंगी। मैकाइन्डर ने अपने विचार सर्वप्रथम सन् १९०४ में रखे और इनको सन् १९१९ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'प्रजातन्त्रात्मक आदर्श और यथार्थ' (Democratic Ideals and Realities) में परिवर्तित किया और सन् १९४३ में उनको पुन: समायोजित किया।

मैकाइन्डर ने यूरोप, एशिया और अफ्रीका को दुनिया के द्वीप के रूप में वर्गीकृत किया। उन्होंने इस प्रदेश की केन्द्रीय भूमि (Heart land) यूरेशिया के आन्तरिक क्षेत्र को बताया जो पश्चिम जर्मनी से चलकर सोवियत यूरोप में होता हुआ, केन्द्रीय साइबेरिया तक पहुंचा है। उन्होंने विश्व के अन्य भागों को भी आन्तरिक क्रीसेंट (Inner Crescent), रिमलैंड (Rim Land), बाहरी क्रीसेंट (Outer Crescent), आदि शीर्षकों में वर्गीकृत किया तथा उनकी अलग-अलग विशेषताओं एवं प्रभावों का वर्णन किया। मैकाइन्डर का विश्वास था कि प्रभावशील समुद्र शक्ति का युग समाप्त होने को है। उनका कहना था कि फैर कर मारे जाने वाले

शस्त्रों के आविष्कार से पूर्वी यूरेशियन मुख्य भूमि आक्रमणों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रहेगी और क्योंकि इस भूमि में प्राकृतिक साधन और मनुष्य शक्ति बहुतायत से प्राप्त होती है इसलिए यह महान शक्ति को उत्पन्न करने में सक्षम है। मैकाइन्डर का तर्क था कि यदि अन्य चीजें समान हैं तो मुख्य भूमि (Heart Land) दुनिया का मुख्य क्षेत्र है। उनका यह कहना था कि जो पूर्वी यूरोप पर शासन करता है वही मुख्य भूमि (Heart Land) पर अधिकार रखता है और जो मुख्य भूमि पर शासन करता है वह विश्व द्वीप पर अधिकार रखता है और जो विश्व द्वीप पर शासन करता है वह संसार पर अधिकार रखता है।

वार्साय के शांति सम्मेलन के दौरान मैकाइन्डर ने यह चेतावनी दी कि जर्मनी पुनः खड़ा होकर यूरोपीय रूस पर अधिकार कर सकता है और इस प्रकार मुख्य भूमि पर नियन्त्रण कर लेगा। सन् १९४३ में उन्होंने यह चेतावनी दी कि यदि रूस जर्मनी पर अधिकार कर लेता है तो वह मातरिक क्षेत्र को जीत सकता है और उसके बाद विश्व साम्राज्य बनाने की ओर अग्रसर हो सकता है। यह डर उस समय और अधिक बढ़ गया जब द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लाल सेनाओं ने केन्द्रीय यूरोप और पूर्वी जर्मनी पर अधिकार कर लिया। जब चैकोस्लोवाकिया में फरवरी सन् १९४८ में साम्यवादी क्रांति हो गई तो पश्चिमी योरोप के देश कनाडा, संयुक्त राज्य अमरीका आदि ने नाटो संधि की। ट्रूमैन प्रशासन की संधियों की नीति, ट्रूमैन सिद्धांत, नाटो, सिएटो, और सैन्टो आदि संधियां मैकाइन्डर के विश्लेषण के आधार पर ही बन रही थी ताकि रिमलैंड को मुख्य भूमि की शक्ति के द्वारा प्रशासित होने से रोका जा सके।

विश्व की घटनाओं को देखने तथा उनका अनुमान लगाने की दृष्टि से मैकाइन्डर के विचार पर्याप्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं। इसके आधार पर किसी भी देश की सम्भावित सामर्थ्य को देखा जा सकता है। मैकाइन्डर के विश्लेषण के आधार पर ही महाशक्तियां यूरोप से एशिया की ओर बढ़ रही हैं। यदि सोवियत संघ और चीन एक साथ मिल कर कार्य कर रहे होते तो शायद मैकाइन्डर की भविष्यवाणी पूरी हो गई होती। मैकाइन्डर का विचार मुख्यतः यूरोप से प्रभावित था और उन्होंने अमरीका को एक बड़ी शक्ति के रूप में नहीं देखा। बाद में उन्होंने उत्तरी अटलांटिक मुख्य भूमि के विकास को पहिचाना और उसके बाद सैनिक शक्ति पर जोर देना प्रारम्भ किया किन्तु फिर भी इतिहास उसके विश्लेषण को केवल अभिलेख मात्र नहीं बना सकता।

(२) समुद्र शक्ति पर माहन के विचार
(The Ideas of Mahan on Sea Power)

माहन ने भी एक विद्वत्तापूर्ण भौगोलिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है और समुद्र की शक्ति के महत्त्व पर जोर डाला है। माहन का दृष्टिकोण मैकाइन्डर के इस विचार से भिन्न है कि समुद्र शक्ति का महत्व घट रहा है। वैसे इन दोनों ही विचारकों ने यह कल्पना नहीं की थी कि भूमि, समुद्र, वायु और प्रक्षेपणास्त्रों की शक्ति को एक ही सैनिक शक्ति में एकीकृत किया जा सकता है। माहन के विचार इस मान्यता पर आधारित थे कि यूरोप या एशिया की कोई भी महाद्वीपीय शक्ति ब्रिटेन या अमरीका के नौ-सैनिक नेतृत्व को सफलतापूर्वक चुनौती नहीं दे सकती। माहन का विश्वास था कि कोई भी देश ऐसा नहीं है जिसके पड़ौसी फ्रांस, जर्मनी और रूस जैसे शक्तिशाली देश हों और फिर भी वह समुद्रों का नियन्त्रण कर सके। ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका ऐसे देश हैं जिनके पास ऐसी भूमि की सीमाएं नहीं हैं जिनकी वे रक्षा करें। इसलिए वे बड़ी नौ-सेना की स्थापना पर अपनी सुरक्षा क्रियाओं को केन्द्रित कर सकते हैं। माहन का विश्वास था कि समुद्र पर ही बड़े शक्ति युद्धों का निर्णय होता है। उसकी मान्यता थी कि ब्रिटेन अपनी नौ-सैनिक सर्वोच्चता को स्थाई रूप से बनाये नहीं रख सकता। इसलिए संयुक्त राज्य अमरीका को चाहिए कि बड़ी नौ-सेना का संगठन करे ताकि घर से बाहर भी किसी युद्ध में भाग ले सके। राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट माहन के विचारों में रुचि लेते थे किन्तु संयुक्त राज्य अमरीका की नीति इन विचारों पर आधारित नहीं थी। प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध में जो विजय प्राप्त हुई वह संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन की कुशल नौ-सेना पर आधारित थी जो अपने देश से दूर रह कर लड़ने में सक्षम थी। इस प्रकार माहन के विचारों में सार प्रकट हुआ। आधुनिक काल में होने वाले विकासों ने माहन के विचारों को कई दृष्टियों से सीमित कर दिया है। हवाई जहाज, अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र, आधुनिक औद्योगीकरण आदि के कारण माहन की कई मान्यताएं महत्वहीन बन गई हैं। माहन के विचारानुसार महाशक्ति बनने के लिए एक देश को ऐसी सैनिक शक्ति की रचना करनी चाहिए जो अपने देश से बाहर रह कर लड़ाई लड़ सके। यदि माहन ने वायु सेना और भूमि सेना को भी अपने विचारों में स्थान दे दिया होता तो उनका महत्व बढ़ जाता। माहन के विचारों का आज की दुनिया में प्रभाव ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका की नीतियों के द्वारा ही प्रकट नहीं होता वरन् द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी और जापान की शक्तिशाली नौ सेना और

वायुसेना और सन् १६४७ के बाद से सोवियत संघ की जल सेना एवं वायु-सेना का विकास उसके विचारों की उपयुक्तता सिद्ध करता है। यदि माहन ने आज की परिस्थितियों में लिखा होता तो वह थल सेना पर अधिक जोर देता।

(३) स्पाईक्मैन के विचार
(The Ideas of Spykman)

प्रोफेसर स्पाईकमैन (सन् १८६३ १६४३) का मुख्य सम्बन्ध यह देखने से था कि दुनियाँ के भौगोलिक एवं राजनैतिक तत्वों का संयुक्त राज्य अमरीका की रणनीति की स्थिति एवं विदेश नीति से क्या सम्बन्ध है। उनके विचारों में वायु एवं प्रक्षेपणास्त्रों के रणनीति सम्बन्धी महत्व को ध्यान में रखा गया है। स्पाईकमैन के मतानुसार भूगोल विदेश नीति की रचना में सर्वाधिक मौलिक रूप से प्रभाव डालने वाला तत्व है। उन्होंने यह बताया कि एक देश की सापेक्षिक शक्ति केवल उसकी सैनिक सामर्थ्य पर ही निर्भर नहीं करती वरन् यह अन्य अनेक तत्वों पर आश्रित रहता है जैसे प्रदेश का आकार, सीमाओं की प्रकृति, जनसंख्या, कच्चा माल, आर्थिक और तक्नीकी विकास, वित्तीय शक्ति, प्रभावशील सामाजिक एकता, राजनैतिक स्थायित्व एवं राष्ट्रीय भावना आदि आदि। जिस समय संयुक्त राज्य अमरीका पार्थक्य की नीति को अपना रहा था उस समय स्पाईकमैन महाशय ने इस बात पर जोर दिया कि यदि संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की शक्ति में संतुलन की स्थापना के लिए ग्रेट ब्रिटेन के साथ सहयोग करके अपनी क्षमता को प्रयुक्त नहीं करेगा तो पुरानी विश्व शक्तियाँ नए विश्व को घेरने के लिए संगठित हो सकती हैं। स्पाईक्मैन के विचारानुसार अमरीका की नीति प्रभावशील शक्तियों को यूरोप के महाद्वीपीय रिमलैंड में स्थापित होने से रोकना था। यदि यूरोप, मध्यपूर्व अफ्रीका, दक्षिण एशिया और सुदूरपूर्व रिमलैंड में से किसी भी क्षेत्र में कोई विरोधी महाशक्ति विकसित हो गई तो वह संयुक्त राज्य अमरीका के हितों के लिए एक चुनौती बन जायगी। संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन के पास पर्याप्त जलसेना है। यदि ये दोनों मित्र बन गए तो उस प्रदेश पर नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं जिसे मैकाइन्डर ने आन्तरिक क्रीसेन्ट कहा था और स्पाईकमैन उसे रिमलैण्ड कहते हैं। स्पाईक-मैन का विचार है कि जो रिमलैण्ड पर नियन्त्रण करता है वह यूरेशिया पर शासन करता है और जो यूरेशिया पर शासन करता है वह विश्व के भाग्य पर नियन्त्रण करता है। स्पाईकमैन के अध्ययन का उद्देश्य यह नहीं था कि संयुक्त राज्य अमरीका दुनिया पर शासन करे। वह विश्व में शांति चाहते

थे और इसके लिए यूरेशिया के अन्तर्गत शक्ति सतुलन को आवश्यक समझते थे। स्पाईकमैन के समय में ही यह स्पष्ट हो गया है कि कोई भी स्थानीय शक्ति सतुलन विश्व शक्ति सतुलन के अधीनस्थ होता है और सयुक्त राज्य अमरीका की शक्ति किसी भी शक्ति सतुलन के लिए परमावश्यक है।

(४) हाशोफर के विचार
(The Ideas of Haushofer)

जर्मनी के भूगोलशास्त्री कार्ल हाशोफर (१८६९–१९४६) ने भौगोलिक राजनीति पर बहुत कुछ लिखा है कि नाजी विचारों पर उसका बहुत प्रभाव था। हाशोफर तथा उसके अनुयायियों के मतानुसार भौगोलिक-राजनीति एक गुप्त वस्तु थी जो जेलेन (Kjollen) के इस विचार पर आधारित थी कि राज्य अपने आप में महत्वपूर्ण है तथा शक्ति राज्य का महत्वपूर्ण अंग है। इस आधार पर हाशोफर ने यह बताया कि जर्मनी के लोगों को उच्च जाति के रहने के लिए अलग से क्षेत्र की आवश्यकता है। इसे भौतिक स्रोतों की दृष्टि से आत्मनिर्भर होना चाहिए तथा योरोपीय मुख्य भूमि का नियन्त्रण करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के मार्ग में ग्रेट ब्रिटेन की नौ शक्ति एवं सोवियत सघ की थल-सेना आती थी, अत जर्मनी के सामने युद्ध करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं था। नाजी पार्टी की हार के साथ ही हाशोफर के विचारों का प्रभाव भी समाप्त हो गया। सक्षेप में उसने नाजी आक्रमण का समर्थन करने के लिए भूमि प्रसार की विचारधारा का पक्ष लिया तथा भौगोलिक राजनीति के विश्लेषण की अवहेलना की।

(५) भूगोल पर साम्यवादी विचार
(Communist Ideas on Geography)

साम्यवादी तरीके पूर्ण शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं किन्तु साम्यवादी लेखकों द्वारा कहीं भी भौगोलिक राजनीति के सिद्धात को स्वीकार नहीं किया गया है। इसके विपरीत उनका विश्वास इतिहास के विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में है तथा वे वर्ग युद्ध जीतने की मजदूरों की योग्यता में विश्वास करते हैं। साम्यवादी नेतृत्व भूगोल को रणनीति के दृष्टिकोण से समझता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के द्वारा प्रदान किये गये अवसरों का साम्यवादी रूस ने प्रयोग किया और पूर्वी योरोप में प्रभावित राज्यों की स्थापना की। इसके अतिरिक्त टर्की के दर्रे में, उत्तरी ईरान में, बोरनम द्वीप में तथा कालिम्पड में भी इसने अपने पाँव जमाने का प्रयास किया किन्तु सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इसी प्रकार साम्यवादी चीन भी दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व

एशिया में बढ़ता जा रहा है तथा इन क्षेत्रों से साम्राज्यवादी शक्तियों के हटने की निरन्तर माँग करता रहता है। वह भारत के कुछ भाग पर तथा आन्तरिक एशिया में कुछ प्रदेश पर सोवियत संघ से दावा कर रहा है। यह कहा जाता है कि साम्यवाद को पीकिंङ्ग से पेरिस पहुँचने के लिए जो रास्ता अपनाना होगा वह है यूरेशिन रिमलैंड (Eurasian Rimland) का। यदि इस मार्ग में अफ्रीका या संयुक्त राज्य अमेरिका ने टाँग फँसाई तो साम्यवाद की विजय लम्बी पड़ सकती है। सन् १६४५ में जापान के आत्म-समर्पण की वर्षगाँठ के अवसर पर साम्यवादी चीन के उप-प्रधानमन्त्री लिन पियाओ (Lin Piao) ने साम्यवादी विश्व विजय की राजनीति की एक रूपरेखा प्रस्तुत की। इस रूपरेखा में भौगोलिक रणनीति के कुछ तत्त्वों को स्थान दिया गया। यह बताया जाता है कि चीन में माओत्सेतुंग की साम्यवादी विजय की राजनीति केवल इसलिए सफल हो पाई थी क्योंकि उसने देहाती क्षेत्रों को क्रान्ति का आधार बनाया और बाद में शहरों की भी घेराबन्दी की गई। इसी नीति को विश्व में साम्यवादी क्रान्ति लाते समय काम में लाया जा सकता है। चीनी नेताओं के मतानुसार यदि हम सम्पूर्ण ग्लोब पर विचार करें तो उत्तरी अमेरिका एवं पश्चिमी यूरोप को 'दुनिया के नगर' माना जा सकता है तथा एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका को दुनिया के देहाती क्षेत्र कह सकते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी योरोप के पूँजीवादी देशों में मजदूरों का क्रान्तिकारी आन्दोलन कई कारणों से मन्द पड़ गया है जबकि एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका में जनता का आन्दोलन व्यापक रूप में बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार साम्यवादी विचारकों के मतानुसार विश्व का वर्तमान रूप वह चित्र प्रस्तुत करता है जिसमें शहरों के चारों ओर देहाती क्षेत्रों का घेरा डला हुआ है। देहाती क्षेत्रों की जनसंख्या अधिक है और वे ही विश्व में क्रान्ति ला सकते हैं। इस प्रकार चीन के नेता भौगोलिक राजनीति को एक विशेष रूप में लेकर चलते हैं। उनकी दुनिया की तस्वीर अलग है और जब तक उसको नहीं समझा जाता तब तक साम्यवादी देशों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को सही रूप में समझना कठिन होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भूगोल का प्रभाव
(The Influence of Geography upon International Politics)

वर्तमान काल में अधिकांश भूगोल शास्त्री भूगोल की सापेक्षिता के सम्बन्ध में पर्याप्त सजग हैं तथा यह मानते हैं कि भूगोल कोई निर्णायक तत्त्व

नहीं है, वरन् यह राज्य के व्यवहार को रूप देने वाले कई तत्वों में से एक है। भूगोल का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कितना प्रभाव है यह जानने के लिए मि० जेम्स (P E James) का यह कथन पर्याप्त उपयोगी प्रतीत होता है कि धरती का भौतिक चरित्र अलग अलग लोगों के लिए अलग-अलग अर्थ रखता है। अर्थात् भौतिक वातावरण का व्यक्ति के लिए क्या महत्व है यह तय करना उसके स्वयं के दृष्टिकोण, तकनीकी योग्यता एवं उद्देश्यों पर निर्भर करता है। मानवीय संस्कृति के इन तत्वों में से किसी में भी परिवर्तन होने पर धरती द्वारा प्रदत्त आधार का पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए। इस प्रकार शक्ति के तत्व के रूप में भूगोल का महत्व सापेक्षिक है, किन्तु इस तथ्य से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भूगोल का प्रभाव कम नहीं हो जाता क्योंकि शक्ति के प्रायः सभी तत्वों का महत्व सापेक्षिक है। यह सच है कि भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक स्रोत, जनसंख्या, वातावरण एवं उद्योग आदि के आंकड़ों का उल्लेख मात्र ही कोई महत्व नहीं रखता जब तक कि इस उद्देश्य के प्रसंग में इनको न देखा जाये जिसके लिए कि मनुष्य इनका प्रयोग करना चाहते हैं। मनुष्य अपने वातावरण को अलग अलग रूप से देखने और नियन्त्रित करने की क्षमता रखता है और इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से भूगोल का सम्बन्ध भी बदलता रहता है। अर्थात् स्पष्ट रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि भूगोल का क्या रूप एक देश के लिए उपयुक्त रहेगा तथा उसकी शक्ति को बढ़ाने का साधन होगा तथा किस प्रकार की भौगोलिक स्थितियां उसकी शक्तियों को कम कर देंगी।

भौगोलिक तत्व पर विचार करते समय उसकी सापेक्षिकता को तो ध्यान में रखना ही चाहिए किन्तु साथ ही यह तथ्य भी जान लेना चाहिए कि भूगोल राष्ट्रीय शक्ति एवं रणनीति से अनेक विशेष रूपों में सम्बन्ध रखता है। एक के बाद एक होने वाले तकनीकी विकासों के कारण विश्व में अनेक प्रकार के परिवर्तन आते रहते हैं किन्तु इसमें स्थिति, जलवायु आकार एवं मानचित्र का महत्व कम नहीं हुआ है। स्टीफेन जोन्स (Stephen B Jones) ने सुझाया है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भूगोल के प्रभाव को दो दृष्टिकोणों से देखा जाना चाहिए। प्रथम है गत्यात्मक चीजों की विस्तृत सूची (Inventory) और दूसरा है 'रणनीति' (Strategy)। जोन्स महाशय के मतानुसार इन्वेंट्री शब्द एक देश की उस सम्भावित शक्ति को इंगित करता है जो उसके आकार जनसंख्या, साधन स्रोत एवं औद्योगिक आधार के कारण उसे प्राप्त होती है। इसमें आकार एवं विकास का अधिकतम सम्मिश्रण होता है। यह शक्ति उत्पादित वस्तुओं के प्रकार के

आधार पर अनेक रूपों वाली हो सकती है। इसके अतिरिक्त उत्पादित वस्तुओं का वितरण इस प्रकार किया जाये कि ध्यय को अधिक से अधिक मात्रा सैनिक सामान में लगे। स्विट्जरलैण्ड में प्राकृतिक साधन आदि पर्याप्त हैं, उनको प्रयुक्त करने के साधनों की भी कमी नहीं है किन्तु फिर भी वहां ये सब चीजें लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने में ही सहायता कर सकती हैं। दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के पास पर्याप्त आर्थिक आधार हैं जिस पर शक्ति अन्तिम रूप से आश्रित रहती है। 'रणनीति' उन उलझनों की ओर इशारा करती है जो औद्योगिक स्थिति की तकनीकों से मिला देने पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रभाव स्थापित करने से उत्पन्न होती है।

यदि हम पिछली शताब्दी के ऐतिहासिक अभिलेखों पर दृष्टिपात करें तो इन्वेन्ट्री तथा रणनीति के मध्य स्थित अन्तर का विभेदनात्मक मूल्य स्पष्ट हो जायेगा। १६वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में जर्मनी के एकीकरण एवं इंग्लैण्ड में होने वाले औद्योगिक विकास ने उसके आर्थिक, जनसंख्या सम्बन्धी एवं औद्योगिक इन्वेन्ट्री को व्यापक रूप से बढ़ा दिया। इसके फलस्वरूप जर्मनी इस आशा और विश्वास के साथ दो बार विश्वयुद्ध में उलझा कि इसके कारण उसे योरोप में प्रभुत्व प्राप्त हो जायेगा। रणनीति की दृष्टि से जर्मनी के एकीकरण एवं औद्योगीकरण ने उसे औद्योगिक विच्छिन्नता की स्थिति के दुष्परिणामों से केन्द्रीकृत शक्ति के लाभों को प्राप्त करने की क्षमता प्रदान की। एक देश के प्रतिरक्षा पर स्थिति (Location) के रणनीति सम्बन्धी परिणाम क्या हो सकते हैं इसके लिए अन्य उदाहरण स्विट्जरलैण्ड तथा बेल्जियम आदि देशों द्वारा प्रदान किये जाते हैं। बेल्जियम एक ऐसी जगह बसा हुआ है जो तीन बड़ी शक्तियों—ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस एवं जर्मनी के लिए रणनीति की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है। अतः वह चाहते हुए भी निष्पक्ष (Neutral) नहीं रह सकता। दूसरी ओर स्विट्जरलैण्ड की स्थिति ऐसी है कि इस॰। पश्चिमी योरोप की इन बड़ी शक्तियों के लिए रणकौशल की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। यही कारण है कि यह देश अपने आप को दो विश्व युद्धों से दूर बचाये रख सका।

कनाडा एवं लेटिन अमेरिका के गणराज्यों में कुछ समय पूर्व तक न तो पर्याप्त जनसंख्या थी और न ही औद्योगिक आधार, कि इनको बड़ी शक्ति कहा जा सके। ये देश भौगोलिक रूप में शक्ति के मुख्य केन्द्रों से दूर थे और इसलिए वे आक्रमण से सुरक्षित बने रहे। संयुक्त राज्य अमेरिका एवं सोवियत संघ को सर्वोच्च शक्ति इसलिए माना जाता है क्योंकि वे राष्ट्रीय सम्पत्ति की

उपर्युक्त इन्वेन्ट्री एवं एक रणनीति युक्त स्थिति—दोनो ही भौगोलिक लाभों का उपभोग करते हैं। इन लाभो के संयोग के परिणामस्वरूप ही एक शताब्दी पूर्व डी टॉकविल ने यह भविष्यवाणी की थी कि एक दिन रूस और अमरीका आधी दुनिया के भाग्य को अपने हाथो मे कर लेंगे। मैकाइण्डर ने यद्यपि विश्व के आधुनिक विकासो को न देखा था और न ही इनकी कल्पना की थी किन्तु भौगोलिक आधार पर अध्ययन करने के बाद उसने जो निष्कर्ष निकाले वे आज भी सही ठहरते हैं और उसने संसार के जिन क्षेत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से महत्वपूर्ण बताया था उनमे [redacted] कई एक अब भी संघर्ष के केन्द्र हैं।

मध्यपूर्व एवं एशिया के जलवायु पर राष्ट्रीय शक्ति को बढाने की दृष्टि से कभी विचार नहीं किया गया जैसा कि योरोप मे किया गया है। इसके साथ ही इन क्षेत्रो में जनसंख्या की समस्या भी अधिक है इसलिए अरब एवं एशिया के राष्ट्र अपने स्रोतो का विकास नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप ये क्षेत्र शक्ति के केन्द्र रहने की अपेक्षा शक्ति से शून्य रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे भूगोल के महत्व के सम्बन्ध मे मेकलेसन एवं अन्य का यह कथन उचित ही है कि भूगोल वह नीव स्थापित करती है जिस पर कि सामर्थ्य पारस्परिक माध्यता एवं संघर्ष निर्भर रहते हैं। इसके महत्व को कम नहीं आंका जाना चाहिए।

भौगोलिक तत्व एवं विश्व राजनीति
(Geographical Elements and World Affairs)

भौगोलिक तत्वो का विश्व की घटनाओ पर किस प्रकार और कितना प्रभाव पड़ता है उसके सम्बन्ध मे लेखको ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वान प्रायः इस बात पर एक मत हैं कि एक देश का मानचित्र, उसका आकार, उसकी सीमायें, जलवायु, स्थिति बाह्य अन्तरिक्ष आदि का किसी न किसी रूप मे उस देश की विदेश नीति पर उल्लेखनीय प्रभाव रहता है। इन तत्वो का कौन सा रूप किस देश के लिए लाभदायक रहेगा और कितना लाभदायक रहेगा अथवा हानिकारक रहेगा यह बात उस देश मे अन्य शक्ति के तत्वो की स्थिति पर निर्भर करती है। ये तत्व निम्न प्रकार वर्णित किये जा सकते हैं।

(1) मानचित्र (Maps)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने के लिए सामान्य रूप से मानचित्रों का प्रयोग किया जाता है। कई बार एक

राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध की गई आक्रामक कार्यवाहियों को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए नक्शों का प्रयोग करता है। आक्रान्ता देश भी विश्व जनमत को अपने पक्ष में लाने व उसकी सद्भावना प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग कर सकता है। भारतीय सीमा संघर्ष के समय मैकमोहन रेखा' का प्रयोग तथा भारत-पाक युद्ध के दौरान समय-समय पर अखबारों में छपने वाले सीमाओं के मानचित्रों को याद करके हम यह समझ सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नक्शों का कितना महत्वपूर्ण कार्य है।

मानचित्र को प्रस्तुत करने के विभिन्न तरीके होते हैं। उदाहरण के लिए मरकेटर विधि (Mercator Projection), समान क्षेत्रीय मानचित्र (Equal area maps), ऊपरी दिखावे का प्रस्तुतीकरण (Orthographic projection) आदि। मानचित्र को प्रस्तुत करने का कोई भी एक तरीका पूर्णरूप से सतोषजनक नहीं माना जा सकता। प्रत्येक तरीके का एक लक्ष्य होता है और उस लक्ष्य की दृष्टि से हम उसे सही मान सकते हैं।

(ii) आकार (Size)—किसी भी देश का बड़ा आकार उसके लिए हितकारी एवं अहितकारी दोनों ही प्रकार का हो सकता है। श्लाइसर (Schleicher) महोदय के मतानुसार यदि अन्य बातें समान हैं तो एक देश जितना बड़ा होगा, सुरक्षात्मक शक्ति उसमें उतनी ही अधिक होगी। उदाहरण के लिए सन् १९३७ में तथा १९३९ में दो बार ऐसे अवसर आये कि जापान चीन को कुचल सकता था किन्तु चीन का आकार बड़ा था और इसी कारण दोनों बार उसकी सेनायें विशाल पश्चिमी क्षेत्र में पीछे हट गईं। अपने बड़े आकार के कारण ही रूस १८१२ में नेपोलियन के विरुद्ध तथा द्वितीय विश्व युद्ध के समय हिटलर के विरुद्ध अपनी रक्षा सफलतापूर्वक कर सका था। यदि एक देश का आकार बड़ा है तो आक्रमणकारी को सचार एवं यातायात में कठिनाई होती है, तथा आवश्यकता की चीजें समय पर प्राप्त नहीं हो पातीं। यदि देश के किसी भाग पर उसने अधिकार भी कर लिया तो यह प्रभावकारी तथा स्थायी नहीं रह सकता।

आकार में बड़ा होना यह सिद्ध नहीं करता कि वह देश शक्तिशाली होगा। असल में स्थिति यह है कि जब बेकार की भूमि जनसख्या के केन्द्रों को बाँट देती है तो उस देश का आकार एक रोड़ा बन जाता है जब तक कि एक प्रभावशाली संचार व्यवस्था कायम न की जाये। इस कथन के उदाहरणस्वरूप ऑस्ट्रेलिया का नाम लिया जा सकता है। देश की शक्ति पर आकार के अतिरिक्त स्थिति, उपजाऊपन, वर्षा की मात्रा, लोगों का

स्वभाव, नेतृत्व का स्तर, तकनीकी ज्ञान का स्तर आदि तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि १९०४-५ के रूसी-जापानी युद्ध के समय छोटे देश जापान ने बड़े देश रूस को चारों खाने चित कर दिया। रूस आकार की दृष्टि से बड़ा होने के कारण दूरस्थ साइबेरिया में सेना एवं समान को एकत्रित करने में असमर्थ रहा। एक देश का आकार बड़ा होने पर यातायात एवं संचार के साधनों का प्रयोग बड़ा महंगा तथा कठिन पड़ जाता है। जनसंख्या ऐसे देशों में फैली रहती है और इस कारण उसमें एकता का अभाव रहता है। फलतः उस देश की शक्ति घटती है, सांस्कृतिक एकता एवं प्रभावकारी प्रशासन का अभाव रहता है।

देश का आकार रक्षात्मक एवं आक्रमणकारी दोनों ही प्रकार के युद्धों पर प्रभाव डालता है, किन्तु यह प्रभाव कैसा व कितना पड़ेगा यह अन्य अनेक बातों पर निर्भर करता है जैसे उस देश के कूटनीतिज्ञ कितने दूरदर्शी हैं, उस देश का मौसम कैसा है, आवागमन के साधन कितने प्रभावकारी हैं, तथा सेना के नेताओं का मस्तिष्क कैसा है, आदि।

(iii) जलवायु (Climate)—एक देश के निवासियों का स्वास्थ्य तथा मानसिक एवं बौद्धिक स्तर बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि उस देश का जलवायु किस प्रकार का है। जलवायु से भूमि के उत्पादन तथा लोगों के चरित्र पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। ठण्डे देशों के लोग अधिक सक्रिय एवं परिश्रमी होते हैं, गर्म देशों के निवासी अपेक्षाकृत आलसी होते हैं। एक देश की जलवायु के आधार ही वहां की सस्कृतिक साधन (Natural resources) तथा कुछ सीमा तक राजनैतिक संगठन एवं सरकार के रूप का निर्धारण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर जलवायु का अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए यदि भारत में अनावृष्टि या अतिवृष्टि होती है तो यहां की खाद्य स्थिति शोचनीय बन जायेगी हमें विदेशों से सहायता लेनी पड़ेगी और यह सहायता भारत के विदेशों से सम्बन्धों को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करेगी। इस प्रकार जलवायु का देश के लोगों की शक्ति पर सीधा तथा राष्ट्रीय शक्ति पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। बहुत अधिक सर्दी तथा बहुत अधिक गर्मी एक देश की राष्ट्रीय शक्ति, उत्पादन क्षमता, एवं शक्ति के लिए बहुत हानिकारक होती है।

(iv) राष्ट्रीय सीमाएं (National boundaries)—प्रत्येक देश एक निश्चित क्षेत्र में बसा हुआ होता है। इस क्षेत्र की, सीमायें कभी-कभी प्रकृति द्वारा बना दी जाती है। प्राकृतिक चीजें जैसे पहाड़, नदियां, समुद्र आदि के

द्वारा दो देशों के बीच में सीमा रेखा खींच दी जाती है, उदाहरण के लिए फ्रांस और ब्रिटेन को विभाजित करने वाली प्राकृतिक शक्तियां ही हैं। जिन राष्ट्रों के बीच प्रकृति द्वारा सीमायें निर्धारित नहीं की जाती वहां पर प्राय. सीमा सघर्ष होते देखे जाते हैं। बहुत समय से हिमालय को भारत का उत्तरी प्रहरी माना जाता है। यह भारत की रक्षा के लिए निर्मित प्राकृतिक दीवार के समान है। यह सच है कि वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में इन प्राकृतिक सीमाओं का पूर्ववत् महत्व नहीं रहा है किन्तु यह नहीं माना जा सकता कि आज ये महत्वहीन हैं। आल्पस की पहाड़ियों द्वारा इटली की जो रक्षा रेखा खीची गई है उसने इतिहास में कई बार इटली की विदेशी आक्रमणों से रक्षा की है। इन पहाड़ियों का सैनिक एव राजनैतिक महत्व आज भी भुलाया नहीं जा सकता। राष्ट्रीय सीमाओं को लेकर आज विश्व में अनेक सघर्ष वर्तमान हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए गम्भीर खतरा बने हुए हैं, उदाहरण के लिए भारत चीन सघर्ष, भारत-पाक सघर्ष, उत्तरी एव दक्षिणी वियतनाम को लेकर अमरीका व चीन का सघर्ष, रूस तथा चीन का सघर्ष आदि-आदि।

प्रत्येक राज्य के पास भूमि का जो क्षेत्र होता है वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से एक मूल चीज मानी जाती है। प्रत्येक राज्य की सीमाएं उन देशों से मिली रहती है जो अन्य सम्प्रभु राज्यों के नियन्त्रण में हैं अथवा ये अन्तर्राष्ट्रीय जल को छूती हैं। प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश के ऊपर के मुक्त आकाश पर अधिकार होता है। ये राष्ट्रीय सीमाएं उस देश की राष्ट्रीय शक्ति और स्वतन्त्रता के प्रतीक होते हैं तथा अपनी सुरक्षा करने की राज्य की योग्यता को प्रदर्शित करते हैं। एक राष्ट्र की सीमाओं को लाघना अनेक गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय सकट उत्पन्न कर देता है और परम्परागत रूप से राष्ट्रीय सीमाएं झगड़े का कारण रही हैं। राष्ट्रीय सीमाओं को कई प्रकार से राष्ट्रीय सम्प्रभुता का प्रदर्शक सीमा कह सकते हैं। प्रत्येक राज्य अपनी सीमाओं पर रक्षा दल नियुक्त करता है जो दूसरे देशों के अनाधिकार आक्रमणों को रोक सके। ये सीमा के रक्षक प्रवेश करने वाले विदेशियों के उनके पासपोर्ट आदि को देखते हैं। कभी-कभी राष्ट्रीय सीमाओं की किलेबन्दी कर दी जाती है अथवा दीवाल खींच देते हैं या तार लगा देते हैं ताकि अनाधिकार रूप से कोई प्रवेश न करे। वर्तमान समय में क्षेत्रीयकरण की जो प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उसके कारण यूरोप तथा एशिया महाद्वीपों में इन राष्ट्रीय रुकावटों का महत्व कम हो गया है ताकि व्यापार का सचालन एव लोगों का आवागमन सुविधापूर्वक किया जा सके। रेडियो सचार के

माध्यम से राष्ट्रीय सीमाओं को बांधा जा सकता है। इसके अतिरिक्त अच्छी सडकों तथा आवागमन के साधनों के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय संघ को काफी प्रोत्साहन मिला है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सीमा सम्बन्धी अनेक गम्भीर झगड़े हैं। राष्ट्रों के बीच जो लडाइयां छिड़ती हैं उनका एक मूल कारण क्षेत्रीय सीमा विवाद होता है। रूस और चीन, चीन और भारत, मिस्र और इजरायल, भारत और पाकिस्तान आदि देशों के बीच सीमा सम्बन्धी गम्भीर विवाद हैं जो समय-समय पर सशस्त्र संघर्ष का रूप धारण कर लेते हैं। एशिया और अफ्रीका में नए राज्यों की रचना के समय उनके साथ ऐसी भूमि जोड़ दी गई जिस पर विश्व के दूसरे देश सहमत नहीं हैं। इन अपरिभाषित नई सीमाओं के परिणामस्वरूप काश्मीर समस्या अरब-इजरायली संघर्ष, सोमालीलैण्ड—इथोपिया—केन्या का संघर्ष आदि सामने आए। राष्ट्रीय सीमाएं प्राय इस प्रकार निर्धारित की जाती हैं कि सम्बन्धित राष्ट्र प्रदेश की प्राकृतिक विशेषताओं का पूरा पूरा लाभ उठा सके। राष्ट्रीय सीमाओं के लिए राजनैतिक या ऐतिहासिक स्पष्टीकरण ही मान्य समझे जाते हैं। कभी सैनिक शक्ति के आधार पर भी एक देश की सीमाएं बदली जा सकती हैं। जर्मनी का विभाजन उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सीमाएं, इटली एव यूगोस्लाविया की सीमाएं इसके कुछ उदाहरण हैं। प्रथम विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रीय सीमाओं को निर्धारित करने में जनता की आत्म निर्णय की मान्यता का पर्याप्त प्रभाव था। भारत और पाकिस्तान की सीमाएं, जो खींची गई उनका आधार मुख्य रूप से धार्मिक और साम्प्रदायिक था। वैसे जाति धर्म, सम्प्रदाय, आदि को कठोर रूप से राष्ट्रीय सीमाओं के निर्धारण का आधार नहीं बनाया जा सकता क्योंकि ये चीजें राष्ट्रीय सीमाओं को ध्यान में रखे बिना ही परस्पर संयुक्त रहती है। बदलती हुई परिस्थितियों के प्रसग में यह जरूरी बन जाता है कि राष्ट्रीय सीमाओं में परिवर्तन किया जाए। किन्तु यह परिवर्तन बड़ा कठिन होता है और प्राय शक्ति के माध्यम से ही किया जाता है। सन् १९५५ में सार के क्षेत्र में जनमत सग्रह को सीमा परिवर्तन का आधार बनाया गया। कुछ राज्यों ने सीमा विवादों पर विचार करने के तरीकों को परिभाषित करने के मार्ग अपना लिए हैं। वैसे सीमा विवाद आज भी अनेक क्षेत्रों में विश्व शान्ति के लिए गम्भीर खतरा बना हुआ है और अनेक जटिलताओं का कारण है।

(४) स्थिति (Location)—राष्ट्रीय शक्ति पर प्रभाव डालने वाला एक दूसरा भौगोलिक तत्व है स्थिति (Location)। स्थिति का अर्थ है

कि एक देश किस स्थान पर स्थित है। यद्यपि स्थिति को परिवर्तित करना किसी भी देश की शक्ति के बाहर है किन्तु स्थिति के कारण उत्पन्न समस्याओं का सामना करने के लिए तो उस देश को प्रयास करना ही पड़ेगा। स्थिति ही यह तय करती है कि उस देश में क्या पैदा हो सकता है, यहां कौन-कौन से खनिज पदार्थ प्राप्त हो सकेंगे, यहां का मौसम कैसा रहेगा, उद्योग-धन्धों के विकास के लिए यहां कितनी परिस्थितियां मौजूद हैं इत्यादि।

पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) के मतानुसार दूसरे प्रदेशों एवं राज्यों के साथ की क्षेत्रीय स्थिति एक देश की प्रकृति एवं अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करती है तथा उसकी आर्थिक एवं सैनिक शक्ति पर भी असर डालती है। अर्थव्यवस्था पर स्थिति का प्रभाव पड़ने का कारण यह है कि यातायात के मार्गों का निर्धारण स्थिति के द्वारा किया जाता है। एक देश की स्थिति ही उस देश के कूटनीतिक एवं युद्ध-कौशल के स्तर का निश्चय करती है। हो सकता है कि वह देश युद्धस्थल बन जाय और यह भी सम्भव है कि वह देश एक मिरोधक राज्य (Buffer State) बने। इस प्रकार स्थिति का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर एवं एक देश की शक्ति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्थिति के कारण ही अनेक देशों को न चाहते हुए भी युद्ध में शामिल हो जाना पड़ता है।

उक्त सभी भौगोलिक तत्वों का एक देश की शक्ति के ऊपर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। ये तत्व एक देश की कमजोरी का कारण भी बन सकते हैं तथा उसी प्रकार उसकी शक्तिशीलता के भी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का इतिहास यह स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखता है कि अतीत काल में भूगोल ने एक देश की शक्ति को किस प्रकार से प्रभावित किया था। राष्ट्रीय शक्ति के भौगोलिक तत्व का महत्व अन्य तत्वों की स्थिति में परिवर्तन के साथ-साथ बदलता रहता है। उदाहरण के लिए आवागमन एवं सचार के द्रुतगामी साधनों के द्वारा आज दूरी का महत्व बहुत कुछ दूर कर दिया गया है। फिर भी दूरी एवं आकार का सुरक्षात्मक दृष्टि से भारी महत्व है। वायु-मार्गी यानों के आविष्कारों ने इस महत्व को और भी बढ़ा दिया है। अनुकूल भौगोलिक परिस्थितियों का राष्ट्रीय शक्तियों के विकास के लिए उतना ही महत्व है जितना कि एक पौधे के विकास के लिए उपजाऊ भूमि एवं अनुकूल जलवायु का होता है।

(vi) बाह्य अन्तरिक्ष एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (Outer space and International Politics)—आज की स्थिति में दुनिया की समस्याएं

इतनी गम्भीर हैं कि उनको सुलझाने के लिए बैठा जाए तो पर्याप्त समय, शक्ति और श्रम लगेगा, किन्तु उसके बाद भी आवश्यक नहीं कि प्रयास सफल हो जाए। ऐसी हालत में बाह्य अन्तरिक्ष की समस्याओं पर ध्यान देना कई विचारकों के मतानुसार उपयुक्त नहीं है, किन्तु फिर भी विज्ञान और तकनीकी के विकास ने मनुष्य को जो क्षमता प्रदान की है उसने उसकी महत्वाकांक्षाओं का बढ़ा दिया है। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ अन्तरिक्ष की दौड़ में बेतहाशा लगे हुए हैं। चन्द्रमा, मंगल और शुक्र ग्रहों पर कृत्रिम उपग्रह भेजे जा रहे हैं और इस प्रकार मानवीय सभ्यता के विकास में नए अध्याय जोड़े जा रहे हैं। अन्तरिक्ष में किए जाने वाले विकासों का एक दूसरा रूप भी है जो राष्ट्रीय गोपनीयता को हटा कर आक्रमण को सम्भव बनाता है। पर्याप्त मानवीय और आर्थिक साधन इस प्रकार की तकनीकी पर खर्च किए जा रहे हैं। अन्तरिक्ष में रहने वाले अणु शस्त्रों ने एक गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी है क्योंकि उनकी उपस्थिति को आसानी से परखा नहीं जा सकता। अन्तरिक्ष की तकनीकी के विकास में दोनों ही सम्भावनाएं हैं। यह हमारी इच्छा पर निर्भर करता है कि हम उसका प्रयोग सैनिक उद्देश्य से करते हैं *अथवा शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिए। बाह्य अन्तरिक्ष में* किए जाने वाले विकासों ने विश्व राजनीति के रूप को एकदम बदल दिया है। फलतः व्यवहार के नए नए साधन विकसित होते जा रहे हैं। विश्व किस दिशा में मोड़ लेगा यह इन साधनों के प्रयोग पर निर्भर है।

प्राकृतिक स्रोत
(Natural resources)

राष्ट्रीय शक्ति में अभिवृद्धि करने वाले दूसरे प्रमुख तत्व प्राकृतिक स्रोतों को मूल्यवान तभी समझा जा सकता है जबकि उनसे उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का व्यक्ति उपयोग करने लग जाय। प्राकृतिक स्रोतों से चीज बनेंगी तथा काम में लायी जायेंगी यह बात उस देश की तकनीकी प्रगति के ऊपर बहुत कुछ निर्भर करती है। मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने इस तत्व को भी स्थाई प्रकृति का (Stable) होना स्वीकार किया है। पामर तथा परकिन्स ने प्राकृतिक स्रोतों को प्रकृति के उपहारों (Gifts of nature) के रूप में परिभाषित किया है। इन उपहारों की एक निश्चित उपयोगिता होती है। *अधिकांश खनिजों को, जलप्रपातों को तथा भूमि के उपजाऊपन को इस* प्रकार के उपहारों में ही गिना जा सकता है।

प्राकृतिक स्रोतो (Natural resources) तथा कच्चे माल (Raw material) के बीच प्राय अन्तर दिखाया जाता है। जलप्रपात एव उपजाऊ भूमि को प्राकृतिक स्रोत माना जा सकता है किन्तु उनको कच्चा माल नहीं कहा जा सकता।

प्राकृतिक स्रोतो का उपयोग एव महत्व समय और स्थान के साथ बदल जाता है। किसी भी वस्तु को तब तक प्राकृतिक स्रोत एव राष्ट्रीय शक्ति का तत्व नही माना जा सकता जब तक कि लोग उसका उपयोग करना प्रारम्भ न कर दें। अनजानी सोने की खान का इस दृष्टि से कोई महत्व नही है। कहा जाता है कि समुद्र मे से अनेको खनिज पदार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। इस ओर वैज्ञानिक खोजें की जा रही हैं। ये खोजें जब तक सफल न हो जायेंगी तब तक समुद्र को प्राकृतिक स्रोत नहीं माना जायेगा।

सम्भावित (Potential) और वास्तविक (Actual) प्राकृतिक स्रोत के बीच भेद करना भी आवश्यक है। वास्तविक स्रोत ही असल मे एक देश को शक्ति प्रदान करते हैं किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही होता कि सम्भावित स्रोत निरर्थक एव महत्वहीन होते हैं। कभी-कभी तो सम्भावित स्रोतो का भी उतना ही महत्वपूर्ण योगदान रहता है जितना कि वास्तविक स्रोत राष्ट्रीय शक्ति के विकास के लिए करते हैं।

प्राकृतिक स्रोतो को मार्गेन्थो ने दो प्रकारो मे विभाजित किया है—

(१) खाद्य (Food), और
(२) कच्चा माल (Raw Material)।

पामर तथा परकिन्स ने प्राकृतिक स्रोतो का वर्णन करते समय इसके निम्न रूपो का उल्लेख किया है—

(१) कच्चा माल (Raw material)
(२) खनिज पदार्थ (Minerals)
(३) औद्योगिक शक्ति के साधन
(Sources of Industrial Strength)
(४) खाद्य पदार्थ एव कृषि उत्पादन
(Food stuffs and Agricultural products)

श्नाइडर ने इन स्रोतो को तीन प्रकार (Types) का बताया है—

(१) खाद्य (Food)
(२) रचनात्मक पदार्थ (Construction materials)
(३) शक्ति उत्पादक (Energy producers)

प्रकृति द्वारा दिये गये उपहारों का उपयोग करके एक देश अपने आपको अधिकाधिक शक्तिशाली बना सकता है। जब तक एक देश द्वारा इनका प्रयोग नहीं किया जाता तब तक इन तत्वों का अपने आप में कोई महत्व नहीं होता। ये प्रकृति प्रदत्त उपहार अथवा प्राकृतिक स्रोत किस प्रकार के होते हैं तथा इनका राष्ट्रीय शक्ति के ऊपर कितना और कैसा प्रभाव पड़ता है, यह जानकारी करना उपयोगी रहेगा—

(१) खाद्यान्न (Food)—अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यह एक कहावत है कि 'सेनायें उनके उदरों पर यात्रा करती हैं' (Armies travel on their stomachs)। इसे दूसरे ढंग से इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सैनिक भूखे पेट रह कर नहीं लड़ सकते। खाद्य पदार्थों का अभाव एक राष्ट्र को धराशायी करने में सफल हो सकता है। भारत का इतिहास इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए अनेकों उदाहरण प्रस्तुत कर सकता है। यहां अनेक बार दुश्मन द्वारा किले को घेर लिया जाता था, रसद पहुंचाने के सारे रास्ते बन्द कर दिए जाते थे और फलतः आक्रमणकारी विजयी होता था। आक्रमणकारी के भय से जिन गांवों को खाली किया जाता था वहां किसी प्रकार की खाद्य वस्तुयें नहीं छोड़ी जाती थीं जिनका दुश्मन द्वारा उपयोग किया जा सके। स्थानीय स्तर की ये चालें (Tactics) अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी चलती हैं। पी० एल० ४८० के अधीन अमरीका भारत-पाक संघर्ष के दौरान भारत पर अपना अनुचित प्रभाव डालना चाहता था।

खाद्य पदार्थों के उत्पादन पर भूमि और जलवायु का भारी प्रभाव पड़ता है। विश्व के केवल कुछ देश ही खाद्य पदार्थों की दृष्टि से आत्मनिर्भर कहे जा सकते हैं। अनाज का निर्यात करने वाले देशों में अमेरिका, कनाडा, अर्जेन्टाइना, न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संयुक्त राज्य अमरीका में अनाज की अत्यधिक मात्रा होने के कारण कहा जाता है कि वहां भूख के कारण मौतें नहीं होतीं वरन् अधिक खा जाने के कारण होती हैं।

अनाज की कमी एक देश की शक्ति की सबसे बड़ी बाधा है, यह राष्ट्र के ध्यान को अपनी ओर खींच लेती है तथा अन्य विकास के कार्यों की ओर जाने से रोकती है। भूखा आदमी संतुलित बुद्धि से कोई भी कार्य करने में असमर्थ रहता है। मिलर (Miller) महोदय का मत है कि भूख आज विश्व की सबसे प्रमुख समस्या है। २० वीं शताब्दी की वास्तविक चुनौती मनुष्य तथा भूख के बीच होने वाली दौड़ है। इस दौड़ के परिणाम पर ही

मानव सभ्यता का अस्तित्व निर्भर करता है। वर्तमान मे तो प्राकृतिक एव मनुष्य निर्मित अनेक कारण ऐसे हैं जो इस दौड़ मे मनुष्य की विजय को असम्भव बना रहे हैं जैसे बढ़ती हुई जनसंख्या, अज्ञान और अन्धविश्वास, भ्रष्ट एवं असमर्थ नेतृत्व, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संदेह और अविश्वास, प्रकृति के प्रकोप आदि।

भारत पचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से खाद्य पदार्थों के क्षेत्र मे स्वावलम्बी बनने का प्रयास कर रहा है किन्तु चीन और पाकिस्तान जैसे पड़ौसी दुश्मनों ने इन प्रयासों की गति को मन्द कर दिया। भारत को आज भी विदेशों से अनाज का आयात करना पड़ता है। यदि भारत-वासी स्वाभिमानी न होते और एक समय का खाना छोड़ कर या भूखे मर कर भी अपनी सम्प्रभुता व स्वतन्त्रता की रक्षा का सकल्प न करते तो निश्चय ही भोजन के नाम पर भारत को ऐसी बातें मानने को मजबूर किया जा सकता था जो उसके हित के विरुद्ध थीं।

मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने माना है कि अनाज की दृष्टि से आत्मनिर्भर एक राष्ट्र उस राष्ट्र की तुलना में अनेक दृष्टियों से श्रेष्ठ है जो अनाज का आयात करते हैं, स्वयं नहीं उगा पाते या भूखों मरते हैं। जब तक एक देश अनाज की दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं हो जाता तब तक उस देश को महान शक्ति की उपाधि प्रदान नहीं की जाती और यदि वह अनाज की दृष्टि से लगातार अभावग्रस्त बना रहा तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी वह लगातार कमजोर ही बना रहेगा। किसी भी देश में अनाज की अभावग्रस्त अवस्था के मुख्य-मुख्य पहलू होते हैं—उस देश की निरन्तर बढ़ती हुई जनसख्या, जनसख्या के मुकाबले में उत्पादन की हीन मात्रा विदेशों से आयात के अवसरों की कमी अथवा निर्यात की जाने वाली उन वस्तुओं का अभाव जिनके बदले में अनाज-आयात किया जा सके आदि। एक देश को अनाज की दृष्टि से स्वावलम्बी बनाने के लिए आवश्यक है कि इन सभी पहलुओं पर यथेष्ट ध्यान दिया जाय।

राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्व के रूप मे खाद्यान्न एक स्थाई तत्व है तो भी विज्ञान की सहायता लेकर इस तत्व में भारी परिवर्तन किये जाने की सभावनायें हैं।

(२) कच्चा माल (Raw material)—कच्चा माल एक देश की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रभाव डालता है और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से वह राष्ट्रीय शक्ति को भी प्रभावित करता है। 'कच्चा माल' एक ऐसा शब्द है

जिसम हम अनेक चीजों को समाहित कर सकते हैं उदाहरण के लिए खनिज पदार्थ स वनस्पतिक उत्पादन (Vegetable Products) तथा जानवरो से उत्पादित कच्चा माल (Animal Products) आदि। वनस्पतिक उत्पादनो म अनेक खाद्यान्न, रुई रबड, कुछ तेल हर प्रकार की लकडिया, घास, बीज, नारियल, तारकोल आदि चीजें आती हैं। पशुओं स उत्पादित चीजा के उदाहरणस्वरूप माम दूध, अण्डे, ऊन, रेशम, कुछ तल, पखे आदि का नाम लिया जा सकता है। कच्चा माल औद्योगिक उत्पादन क लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। युद्ध सम्बन्धी अनक तैयारियां भी इसके बिना नहीं की जा सकतीं।

पुराने युग मे, जबकि युद्ध आमने-सामने खड़ होकर लडे जाते थे, योद्धाओं का महत्व अधिक था अपेक्षाकृत उनके हथियारों क, किन्तु आज समय बदल गया है। आज १६ वी शताब्दी की भांति एक देश की शक्ति को केवल उसके योद्धाओ व सिपाहियो की मात्रा एव सामर्थ्य के आधार पर ही नहीं आका जा सकता। आज तो चाहे शान्ति काल हो या युद्ध काल, एक राष्ट्र की शक्ति उसके द्वारा प्राप्त कच्चे माल की मात्रा एव किस्म के आधार पर आकी जायगी। सोवियत रूस और सयुक्त राज्य अमरिका को विश्व की महान शक्ति मानने क पीछे यही रहस्य है। य दोनो ही देश उस कच्चे माल की ओर से आत्मनिर्भर हैं जो औद्योगिक उत्पादन के लिए आवश्यक होता है। इस तथ्य स भारतीय विदेश नीति के जनक पंडित जवाहरलाल नेहरू भली भांति परिचित थे, जबकि उन्होंने असंलग्नता की नीति को भारतीय विदेश नीति का आधार बनाया और रक्षात्मक तैयारियां तथा सैनिक तैयारियो की अपेक्षा आर्थिक अवस्था एव औद्योगिक उत्पादन को सम्भालन की ओर अधिक ध्यान दिया था। आलोचकों के तर्क नेहरू की विदेश नीति को नगा कर सकते हैं किंतु उसके पीछे जो उद्देश्य था वह वास्तविक नीति से प्रभावित था।

उद्योग एव युद्ध की दृष्टि से तेल का महत्व भी भुलाया नहीं जा सकता। तेल उद्योगो की तो आत्मा होती ही है किंतु युद्ध का भी उसके बिना नहीं लड़ा जा सकता। विश्व म मध्य एशिया का महत्व बहुत कुछ केवल इसी कारण है कि वहां पर तेल का खजाना है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान क्लीमेंसो (Clemenceau) ने यह कहा था कि 'तेल की एक बूद हमारे सैनिकों क खून की एक बूद से भी अधिक मूल्यवान है।' रूस और अमरीका तेल की दृष्टि से बहुत कुछ आत्मनिर्भर हैं। जिन देशों म तेल की बहुतायत पाई जाती है उन देशा पर अपना प्रभाव जमाये रखने के लिए एक विश्व के

रंगमंच पर अनेक अभिनेताओं द्वारा प्रयास किये जाते रहे हैं। इन प्रयासों को 'तेल कूटनीति (Oil diplomacy)' की संज्ञा दी जाती है।

आज के अणुयुग मे यूरेनियम (Uranium) का कच्चे माल के रूप मे भारी महत्व हो गया है। यूरेनियम में जो शक्ति छिपी है उसने विभिन्न देशों के शक्ति स्तर को बदल कर रख दिया। पिछड़े देश अग्रगण्य बन गये तथा बड़ी शक्तियां दूसरी श्रेणी की शक्तियां बन गई। श्लाइमर (Schleicher) महोदय के शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि कोयला पेट्रोल, गैस, जलशक्ति तथा सम्भावित यूरेनियम शक्ति के सदम्य भण्डार हैं। ये पर्याप्त खाद्यान्न के उत्पादन के लिए यातायात के लिए तथा उद्योगों के पहियों को घुमाने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

केवल कच्चा माल अधिक होने से कोई भी देश सम्पन्न नहीं बन जाता यह सच है, किन्तु यह भी सच है कि कोई देश बिना कच्चे माल की यथेष्ट मात्रा के एक बड़ी शक्ति नहीं बन सकता। यदि एक देश की भौगोलिक स्थिति उपयुक्त है और साथ ही उसके पास प्राकृतिक स्रोत भी पर्याप्त मात्रा मे मौजूद है तो स्वभावतः ही दूसरे देशों का उसकी सहायता व सहयोग की आवश्यकता पड़ेगी। वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक केन्द्रीय स्थान प्राप्त कर लेगा वरना उसे ही दूसरे राज्यों पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। कच्चे माल की यथेष्ट मात्रा आर्थिक एवं सैनिक शक्ति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

कच्चे माल को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया गया है। ये हैं—खनिज पदार्थ, वनस्पतिक उत्पादन और पशु उत्पादन। खनिज पदार्थों को भी आगे कई विभागों मे विभाजित किया जा सकता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से यह विभाजन अधिक उपयोगिता नहीं रखता। कुछ खनिज पदार्थों की उपयोगिता सामान्य एवं सुविदित होती है। उसके बारे मे सभी जान जाते हैं जबकि अन्य खनिजों का उपयोग केवल विद्वानों के ही अध्ययन का विषय है। कच्चे माल के दूसरे समूहों मे वनस्पतिक उत्पादन आते हैं। इस शीर्षकों में हम अधिकांश भोजन सामग्री, रुई, रबड़, कुछ तेल, बीज, दवाइयाँ, रंग एवं वार्निश उत्पादन आदि को ले सकते हैं। पशु उत्पादनों के शीर्षकों में मांस, दूध, अण्डे, रेशम, कुछ तेल, पंखे, हाथी दांत, दवाइयां जैसे कुछ उत्पादन आते हैं।

दुनिया के देश कच्चे माल की दृष्टि से समान नहीं हैं और कोई भी देश ऐसा नहीं है जो सभी आवश्यक कच्चे माल की दृष्टि से आत्म निर्भर हो। तीन प्रधान औद्योगिक खनिज अर्थात् कोयला, लोहा और पेट्रोलियम

पर्याप्त असमान रूप से वितरित है । जिन देशो के पास इनका अभाव होता है वे इसकी पूर्ति किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध द्वारा करते हैं अथवा उसके विकल्प का विकास करते है । ऐसा करने के लिए व्यापक साधनो एव साख की जरूरत होती है । इसके अतिरिक्त आधुनिक औद्योगिक अर्थ व्यवस्था को सहारा देने के लिए भी पर्याप्त कच्चे माल की आवश्यकता है । अनेक खनिज पदार्थ हाल ही मे विकसित हुए हैं । यह कहा जाता है कि मशीनीकृत युद्ध का विकास होने के बाद केवल वे ही देश बडी शक्ति बन सकते है जिनमे कि गुणात्मक एव सख्यात्मक दृष्टि से पर्याप्त कल-कारखाने है क्योंकि खनिज पदार्थ कारखाने की क्षमता को तय करते हैं, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप मे वे प्रभावशाली सैनिक शक्ति की आवश्यक शर्त होते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के वर्तमान कालीन अध्ययन राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में खनिज पदार्थ पर पर्याप्त ध्यान देते हैं ।

कच्चा माल और राष्ट्रीय नीतियां :—प्रत्येक देश को अपने आयात की मात्रा को अपने देशों मे उत्पादित कच्चे माल से सन्तुलित करना होता है और इस प्रकार घरेलू राजनीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालती है । सयुक्त राज्य अमरिका पेट्रोल, लोहा, चीनी, ताम्बा, मैंगनीज, आदि बडी मात्रा मे आयात करता है यद्यपि वह स्वय भी उनका उत्पादन करता है । जब भी कभी इन सामानों की खरीद की कीमतो मे थोडा बहुत अन्तर कर दिया जाता है तो इससे सामान भेजने वाले देश पर गम्भीर प्रभाव पडता है । औद्योगीकृत देशों द्वारा कच्चे माल के सम्बन्ध मे जो नीतियां अपनाई जाती हैं वे दूसरे रूप में उनकी विदेशी नीतियां हैं । विदेशो से प्राप्त होने वाले सामान की उपलब्धता एव मूल्य समय और दूरी पर निर्भर करता है । किसी भी सामान को भेजने की प्रक्रिया आर्थिक या राजनैतिक कारणों या अथवा मतभेदों या अन्य दबावो से रुक सकती है । उदाहरण के लिए भारत के लिए जो सयुक्त राज्य अमरीका से गेहूँ आ रहा था वह अरब-इजरायली सघर्ष के कारण इसलिए देर से आया क्योंकि मिस्र द्वारा स्वेज नहर को बन्द कर दिया गया था । इसी सघर्ष के दौरान कई एक अरब राष्ट्रों ने पश्चिमी देशों को तेल भेजना बन्द कर दिया था । लम्बी दूरी को पार करने के लिए जल मार्ग अत्यन्त आवश्यक होता है क्योंकि इसके बिना अनेक महत्वपूर्ण कच्चे मालो को नहीं भेजा जा सकता है । कच्चे माल के आयात मे रोक आने की सम्भावना से ही देश उसका स्टाक रखते है ।

— —•— —

५

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : जनसंख्या और तकनीकी

[ELEMENTS OF NATIONAL POWER: POPULATION AND TECHNOLOGY]

जनसंख्या
(Population)

जनसंख्या एक राष्ट्र की शक्ति पर प्रभाव डालने वाला महत्वपूर्ण तत्व है। इस तत्व के द्वारा समय-समय पर राज्यों को एक विशेष प्रकार का निर्णय लेने तथा एक विशेष नीति अपनाने की प्रेरणा दी जाती रही है। संसार के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जबकि एक राज्य ने अपनी अधिक जनसंख्या को बसाने की समस्या सुलझाने के लिये अपने पड़ोसी राज्य पर आक्रमण कर दिया, उसके कुछ प्रदेशों को छीन लिया अथवा युद्ध को भड़का कर भीषण नरसंहार करके अपनी असहनीय खाद्य समस्या से राहत पायी। जनसंख्या अपने मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही पहलुओं से विश्व राजनीति को प्रभावित करती है।

जनसंख्या कम होने पर लोगों में एकता की भावना जल्दी पैदा की जा सकती है और देर तक बनाये रखी जा सकती है। कम जनसंख्या वाले राज्य की सरकार भी प्रायः कार्यकुशल होती है और वहां राष्ट्रीयता की भावना अपेक्षाकृत अधिक प्राप्त होती है। दूसरी ओर अधिक जनसंख्या वाले

राज्य मे मतभेद रहते हैं, राष्ट्रीय एकता की समस्या रहती है, कार्यों मे एक रूपता नही रहती, प्रशासनिक अकार्यकुशलता एव वस्तुओ का अपव्यय होता है और इस प्रकार यह देश सकट का मुकाबला करने मे दृढता के साथ कार्य नही कर सकता। कम जनसख्या एक देश की कमजोरी का भी प्रतीक बन जाती है क्योंकि वहा श्रम शक्ति एव सैनिक सामर्थ्य की मात्रा कम होती है। अधिक जनसख्या वाला देश इस दृष्टि से लाभ मे रहता है कि उसके पास मानव शक्ति पर्याप्त उपलब्ध रहती है। शक्ति तत्व के रूप मे पहले जिन दो तत्वो (भूगोल और प्राकृतिक स्रोत) का वर्णन किया गया है वे एक प्रकार से स्थायी तत्व होते है क्योंकि वे एक देश के लिये प्रदत्त चीजें हैं उनमे परिवर्तन बहुत कम ही किया जा सकता है। दूसरी ओर जनसख्या राष्ट्रीय शक्ति का ऐसा तत्व है जिसमे कि परिवर्तन होता रहता है तथा आवश्यकता के अनुसार किया भी जा सकता है।

वैसे जनसख्या के आकार तथा एक देश की शक्ति के बीच कोई प्रत्यक्ष एव एकरूप सम्बन्ध नही है किन्तु फिर भी इतना तो सच है कि छोटी सी जनसख्या वाला कोई देश बडी शक्ति नही बन सकता। पैडिलफोर्ड तथा लिंकन का कहना है कि यद्यपि बडी जनसख्या का अर्थ यह नही होता है कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ पर प्रभाव डालेगा किन्तु फिर भी कम जनसख्या वाले देश अधिक जनसख्या वाले देशो की तुलना मे नुकसान मे रहता है। विश्व के कम विकसित देश यदि अपने आर्थिक एव सामाजिक लक्ष्यो को प्राप्त कर लें तो वे निश्चय ही शक्तिशाली देश बन जायेंगे क्योंकि इन देशो की जनसख्या अधिक है।

एक समय ऐसा था जबकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के विद्यार्थी जनसख्या की नवीन प्रवृत्तियो का अध्ययन राष्ट्रीय शक्ति के परिशिष्ठ के रूप मे अलग से किया करते थे। प्रत्येक उम्र के स्त्री और पुरुषों की सख्या की विस्तृत जानकारी करने के बाद यह ज्ञात करना सम्भव बन जाता था कि सैनिक सेवा के लिये कितने लोग प्राप्त हो सकते हैं तथा औद्योगिक कार्यों के लिये कितने मजदूर प्राप्त हो सकते है। साथ ही यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आने वाले बीस या पच्चीस वर्षों मे क्या अनुपात रहेगा। यह कहा जाता है जब १६वी शताब्दी में जर्मनी की जन्म दर अधिक हो गई तो फ्रास का एक बडी शक्ति के रूप मे अस्तित्व घटने लगा। वर्तमान समय मे साम्यवादी चीन अपनी आक्रामक नीतियो के द्वारा जिस प्रकार विश्व मे स्थान बनाता जा रहा है उसके पीछे उसकी एक बडी जनसख्या का तत्व भी

काम कर रहा है। कम जनसंख्या की हानियों को अन्य प्रकार से कम किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में सोवियत संघ को अपने अनेक युवकों एवं प्रौढ़ों से हाथ धोना पड़ा था, किन्तु उसने अपनी जनसंख्या को एक श्रेणी की कमी को दूसरी श्रेणी से पूरा किया। वहां की औरतों में काम करने की क्षमता अधिक है और इस क्षमता के आधार पर ही रूस अपनी इस क्षति की पूर्ति कर सका।

जनसंख्या उन अनेक तत्वों में से ही एक है जो एक देश की शक्ति और सम्पन्नता की वृद्धि में भाग लेते हैं। यदि जनसंख्या का आकार स्थित उत्पादन के स्रोतों से अधिक होता है अथवा इन स्रोतों का पर्याप्त उपयोग नहीं किया जाता तो जनसंख्या की अधिकता, लाभ होने के स्थान पर हानि बन जाती है। समाज के स्रोतों एवं जनसंख्या के आकार के बीच एक संतुलन अथवा व्यवस्था रहनी चाहिये ताकि वह देश अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर सके और इस प्रकार महाशक्ति बनने की दिशा में अग्रसर हो सके। जब कभी भी हम जनसंख्या का राष्ट्रीय शक्ति के सदर्भ में मूल्यांकन करें तो उससे पूर्व हमें यह देखना चाहिये कि पूंजीगत व्यय तथा शिक्षा एवं विज्ञान के लिए धन किस अनुपात में उपलब्ध है, कितनी जनसंख्या शिक्षित है तथा तकनीकी परिवर्तनों के साथ समायोजित होने की उसमें कितनी क्षमता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिए जनसंख्या का महत्व शक्ति की दृष्टि से तो है ही, इसके अतिरिक्त भी है। आज की सबसे बड़ी समस्या यह है कि जनसंख्या और साधन स्रोतों के बीच गम्भीर असंतुलन बढ़ता जा रहा है। अर्ध-विकसित देशों में जनसंख्या को प्रकृति की देन माना जाता है तथा उसे रण कौशल की दृष्टि से महत्वहीन बताया जाता है, किन्तु विकसित देशों में जनसंख्या के नियन्त्रण की प्रक्रिया को सफलता के करीब ला दिया गया है अतिरिक्त उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करके ही ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका और सोवियत संघ महा शक्ति बन गये हैं।

जनसंख्या का संख्यात्मक पहलू
(The Numerical Aspect of Population)

प्रायः प्रत्येक विचारक इस बात को स्वीकार करता है कि अतीत-कालीन युद्धों में सेना की संख्या सदैव ही एक निर्णायक तत्व रही है, किन्तु उस समय भी युद्ध लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते थे, उनको अच्छा व अधिक भोजन प्राप्त हो जाता था तथा उनके पास अधिक पैने

हथियार रहते थे। इन सब के आधार पर लोगों के बीच बहुत कम ही अन्तर रहता था और इसलिए संख्या का महत्वपूर्ण स्थान था। आज का युग पूरी तरह से बदल गया है। आज युद्ध कौशल का रूप, विज्ञान एवं तकनीकी के विकास पर पर्याप्त आधारित हो गया है। युद्ध में एक देश अपने सभी साधन स्रोतों को लगा देता है। ऐसी स्थिति में किसी देश की शक्ति का अनुमान उसके निवासियों के सर गिन कर या कार्यकर्त्ताओं के हाथ गिन कर नहीं लगाया जा सकता। इसके लिए यह भी देखना होगा कि सर के भीतर कुछ है या नहीं और हाथों की शक्ति को काम में लाने के अवसर भी देश में उपलब्ध हैं या नहीं। देश के भूगोल, प्राकृतिक साधन जनसंख्या, तकनीकी विकास का स्तर, विचारधाराओं का प्रभाव, मोरेल, नेतृत्व का गुण आदि बातें भी ध्यान में रखनी होती हैं। इन सबके आधार पर किसी देश की शक्ति के सम्बन्ध में किये गये अनुमान भी युद्ध भूमि में कभी कभी गलत सिद्ध होते हैं क्योंकि शक्ति के अदृश्य तत्वों का प्रभाव भी कम नहीं होता।

अधिक जनसंख्या वाले कुछ देशों के शक्ति के स्तर को देखने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि जनसंख्या का राष्ट्रीय शक्ति से कुछ लेना देना नहीं होता। भारत और चीन की आबादी विश्व में सभी राज्यों से अधिक है किन्तु फिर भी सैनिक शक्ति की दृष्टि से वे सर्वोपरि नहीं हैं। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ की शक्ति के आगे वे अत्यन्त निम्न श्रेणी के हैं। दूसरी ओर यह भी देखने को मिलता है कि एक कम जनसंख्या वाला देश आवश्यक रूप से तीसरी श्रेणी की शक्ति नहीं बन जाता। वस्तुस्थिति का रूप यह होते हुए भी विचारकों का कहना है कि एक अधिक जनसंख्या वाला देश अपनी अधिकांश जनसंख्या का उपयोग कर भी सकता है और नहीं भी; किन्तु केवल एक अधिक जनसंख्या वाला देश ही प्रथम श्रेणी के सैनिक स्थापन के लिए मानवीय शक्ति एवं साधन प्रदान कर सकता है।

यदि कम जनसंख्या वाला छोटा देश भी आधुनिक हथियारों, फैक्ट्रियों एवं अच्छे नेतृत्व के गुणों से सम्पन्न है तो वह अधिक जनसंख्या वाले उस देश को आसानी से हरा सकता है जिसके पास ये सारी चीजें पर्याप्त मात्रा में नहीं हैं। इतिहास में इस सम्भावना के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। वह मुख्य बात जिसे हम बार-बार दोहराना भी अनावश्यक नहीं मानते वह यह है कि जनसंख्या तो राष्ट्रीय शक्ति के अनेक तत्वों में से एक है, केवल एकमात्र तत्व नहीं है। यदि दो देश अन्य सभी बातों में बराबर हैं और उनके बीच जनसंख्या की मात्रा का अन्तर है तो निश्चय [redacted] अधिक जनसंख्या वाला देश कम जनसंख्या वाले देश को पराजित कर देगा। फिर भी जो लोग जनसंख्या के आधिक्य

को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि आधुनिक तकनीकी के विकास ने जनसख्या की शक्ति को महत्वहीन सा बना दिया है ।

कुछ विचारको के मतानुसार जिस देश की जनसख्या बडी होती है वह शक्तिशाली होता है । वाल्टेयर कहा करता था कि ईश्वर सदैव सबसे बडी बटालियन के पक्ष मे रहता है (शायद उसने महाभारत को नही पढा था जिसमे कृष्ण ने कौरव सेना का साथ देने की अपेक्षा अर्जुन का सारथी बनना स्वीकार किया था) । श्लाइशर (Schleicher) महोदय ने भी इस मत की सत्यता मे विश्वास प्रकट करते हुए लिखा है कि उत्पादन तथा युद्ध के लिए मनुष्यो की आवश्यकता रहती है । यदि और तत्व समान रहे तो, जिस राज्य मे इन दो कार्यों को करने के लिए बडी सख्या मे लोग होगे वह राज्य शक्तिशाली बन जायेगा । यह कथन कुछ अशो मे सत्य है क्योकि जब तक एक देश के पास लोग न होगे जो औद्योगिक साधनो को सचालित कर सकें तब तक वह देश प्रगति नहीं कर पायेगा । युद्ध के समय भी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिए, उनका प्रयोग करने के लिए जल, थल एव वायु क्षेत्रो मे युद्ध लडने के लिए तथा योद्धाओ को उनकी जरूरत की चीजें पहुँचाने के लिए यथेष्ट जनसख्या न होगी तब तक कोई भी युद्ध नही जीता जा सकता । यही कारण है कि साम्राज्यवादी एव विस्तारवादी नीति को अपनाने वाले देश जनसख्या के प्रसार को रोकने की अपेक्षा बढावा देते हैं । जर्मनी के हिटलर तथा इटली के मुसोलिनी ने यही किया था । कहा जाता है कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी में अधिक से अधिक सन्तान उत्पन्न करना महिलाओ की अधिक राष्ट्र सेवा का प्रतीक माना जाता था । ब्रिटिश प्रधानमन्त्री सर विंस्टन चर्चिल ने २२ मार्च, सन् १९४३ के रेडियो भाषण में कहा था कि यदि यह देश विश्व के नेतृत्व में अपना उच्च स्थान बनाये रखना चाहता है तथा एक ऐसी बडी शक्ति के रूप में जिन्दा रहना चाहता है जो बाहरी दबावो के होते हुए भी स्वत्व में रह सके तो प्रत्येक साधन द्वारा हमारी जनता को बडे परिवार रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए । चर्चिल का यह कथन शक्ति-तत्व के रूप मे जनसख्या के महत्व को सामने लाता है । अधिक जनसख्या के राष्ट्रीय शक्ति की दृष्टि से निम्नलिखित लाभ हैं :—

(i) बडी जनसख्या लडने के लिए अधिक सिपाही तथा उत्पादन कार्य के लिए अधिकाधिक मजदूर प्रदान कर सकती है ।

(ii) अधिक जनसख्या होने पर अच्छे से अच्छे सैनिक छाटने की सुविधा रहती है ।

(iii) अधिक जनसंख्या का ज्ञान लोगों के आचरण या चरित्र (Morale) को ऊंचा उठाने में सहायक होता है।

(iv) जिस राज्य मे जनसंख्या अधिक होती है वहां असहयोग आन्दोलन एव छुपी हुई प्रक्रियाओं जैसे साधनो को अपना कर स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है।

(v) अधिक जनसंख्या एक राज्य को सैनिक एव आर्थिक शक्ति बढाने के लिए मजबूर कर सकती है ताकि उस अधिक जनसंख्या को बसाने के लिए दूसरे क्षेत्रों पर कब्जा किया जा सके। हो सकता है कि साम्यवादी चीन की विस्तारवादी नीति के पीछे यही कारण छिपा हो।

जनसंख्या की अधिक मात्रा केवल तभी लाभदायक रह सकती है जबकि और तत्व समान हों। किन्तु प्राय अन्य तत्वों के बीच सतुलन नहीं पाया जाता और यही कारण है कि व्यावहारिक जगत मे जनसंख्या की अधिक मात्रा राष्ट्रीय शक्ति पर उल्टा प्रभाव डालती है। इसी अर्थ में मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने कहा था कि यह कहना सही न होगा कि एक देश की जनसंख्या ज्यादा है अत उस देश की शक्ति भी अधिक होगी। अगर हम एक क्षण के लिए इस बात को सही भी मान लें तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि साम्यवादी चीन विश्व की सबसे बडी शक्ति माना जायेगा, जो तथ्यो के विरुद्ध होगा। जनसंख्या की अधिक मात्रा कभी-कभी राष्ट्रीय शक्ति के विपरीत भी चली जाती है। भारत, चीन एव अन्य देशों के अध्ययन करने के बाद हम पायेंगे कि वहा साधन तो कम हैं तथा उपयोग करने वाले लोगों की संख्या ज्यादा है। इन देशों मे खाने वाले मुह अधिक है तथा भोजन की मात्रा पर्याप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई भी देश उच्च शक्ति नहीं बन सकता। ये देश अति जनसंख्या (Over population) के रोग से पीडित हैं। यहा सैनिक एव औद्योगिक दृष्टि से इतने लोगो की आवश्यकता नहीं रहती जिसके कारण बेरोजगारी फैलती है, समाज में भ्रष्टाचार आदि बुराइयां फैलती हैं। अभाव की राजनीति (Politics of Scarcity) के दोषों के बीच रहता हुआ कोई भी देश विश्व राजनीति में अपना स्थान शक्तिपूर्ण नहीं बना सकता। अधिक जनसंख्या होने पर देश मे एकता कायम करना और उसे बनाये रखना बडा कठिन पड जायगा।

आज की बदलती हुई परिस्थिति एव विज्ञान के युग में यह सम्भव नहीं रहा है कि सैनिक शक्ति के संचालन को अधिक लोगों के हाथों मे छोडा जाय, यह आवश्यक भी नहीं है। कुछ थोडे से ही लोग विध्वसकारी अस्त्रों

का प्रयोग करके असख्य लोगो के परिश्रम के परिणामो को प्राप्त कर सकते है। आधुनिक तकनीकी ज्ञान के प्रसार से अधिक जनसख्या का होना निरर्थक बन गया है। राष्ट्रीय शक्ति के लिए इसका अधिक महत्व नही है।

जनसख्या का गुणात्मक पहलू
(The qualitative aspect of Population)

निवासियों की केवल अधिक सख्या का होना ही एक देश को शक्तिशाली नही बना देता, उन निवासियों की उम्र, लिंग, जन्म-दर की गति, जीवन का स्तर, स्वास्थ्य, शिक्षा, उत्पादन क्षमता, चातुर्यता, रीत-रिवाज, विश्वास, नैतिकता, धार्मिक विश्वास आदि बातो को भी ध्यान मे रखना आवश्यक है। श्लाइचर (Schleicher) महोदय के मतानुसार युद्ध और शान्ति दोनो ही समय यद्यपि जनसख्या की अधिक सख्या आवश्यक है किन्तु जनसख्या के गुण इससे भी अधिक अपेक्षित है। उद्योग धन्धों मे अप्रशिक्षित एव अकुशल कुलियो से काम नही चलता वहा कुशल मजदूरों की आवश्यकता होती है। उम्र के हिसाब से जिस देश के निवासियों मे १८ से ४५ तक के लोगों की संख्या अधिक होती है वहा पर मनुष्य शक्ति को अधिक कामों मे लगाया जा सकता है। एक परिपक्व औद्योगिक समाज मे वृद्धों की सख्या उस समाज की तुलना मे अधिक होती है जहा औद्योगीकरण अभी आरम्भ ही हुआ है।

लोगों की शक्ति, सामर्थ्य तथा उत्पादन-क्षमता निश्चित रूप से उनके जीवन स्तर, स्वास्थ्य, शिक्षा के स्तर तथा आर्थिक पहल करने की शक्ति पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त जलवायु, लोगो का चरित्र तथा लोगो के सामाजिक तथा धार्मिक मूल्य एव दृष्टिकोण भी महत्वपूर्ण हैं।

लोगों की जाति (Race) का भी राष्ट्रीय शक्ति पर भारी असर पडता है। एक जाति के लोगों के बीच विचारो की समानता, परम्पराओ की निकटता एव आपसी मेलजोल का भाव पाया जाता है। उनकी यह एकता राष्ट्र को शक्ति प्रदान करती है। यदि एक देश की जाति एव प्रजाति सबधी समुदायो का अध्ययन कर लिया जाये तो उस देश के चरित्र एव व्यवहार को समझना आसान हो सकता है। विभिन्न जाति एव प्रजातियो के रहने पर अल्पसख्यको के अधिकारो की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा होता है। अल्पमत तथा बहुमत के बीच झगडे उस देश की शक्ति मे दीमक का काम करते हैं और एक दिन उस देश का पतन हो जाता है। दक्षिण अफ्रीका के झगडो की जड जातियो की भिन्नता ही है। इसी प्रकार जातिगत (Racial) भेद ने

ही रोडेशिया में ऐसी समस्या निर्मित कर दी है जिसके प्रति आज विश्व का ध्यान बटा हुआ है। अल्पसंख्यक गोरी सरकार ने वहां जो एकतरफा स्वतन्त्रता की घोषणा करके इयान-स्मिथ के अधीन शासन की बागडोर समाली वह बहुसंख्यक लोगों को पसन्द नहीं है। दोनों के बीच आज जिस प्रकार का संघर्ष चल रहा है उसके होने पर कोई भी राष्ट्र शक्तिशाली नहीं बन सकता।

जनसंख्या का वितरण
(The Distribution of Population)

यदि हम जनसंख्या की दृष्टि से दुनियां का मानचित्र देखें तो पायेंगे कि कुछ क्षेत्रों में तो जनसंख्या बड़े घने रूप से बसी हुई है और अनेक बड़े क्षेत्रों में केवल कुछ ही लोग रहते हैं। अनुमानतः दुनिया की आधी जनसंख्या एशिया के दक्षिण पूर्वी कोने में रहती है जो दुनिया की कुल भूमि का लगभग दसवां भाग है। कुल जनसंख्या का पांचवां हिस्सा योरोप में रहता है। विश्व की जनसंख्या का लगभग छः प्रतिशत भाग कनाडा और अमरीका में रहता है। जनसंख्या के इस असमान वितरण के पीछे अनेक कारण रहते हैं। अधिकांश लोग प्रायः उन क्षेत्रों में रहना चाहते हैं जहां की भूमि उपजाऊ है तथा जल आसानी से प्राप्त हो जाता है। लोग वहां रहना पसन्द नहीं करते जहां कि कृषि या उद्योगों के आधार पर जीवन यापन करना कठिन हो अथवा असम्भव हो। उदाहरण के लिए सहारा अथवा अफगानिस्तान आदि स्थान। लोग प्रायः ऐसे स्थानों में बसना पसन्द करते हैं जहां आवागमन के साधन पर्याप्त अच्छे हैं, तथा घरेलू झगड़े कम होते हैं तथा युद्ध नहीं होते रहते। जो क्षेत्र कच्चे माल की दृष्टि से सम्पन्न होते हैं वहां भी लोग अधिक रहना चाहते हैं क्योंकि उनको वहां औद्योगिक विकास के अवसर प्राप्त होते हैं। वातावरण का भी लोगों की बसावट पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। किसी विशेष वातावरण में लोग बसेंगे या नहीं बसेंगे यह बात उन दृष्टिकोणों लक्ष्यों एवं तकनीकी योग्यताओं पर निर्भर करती है। इस प्रकार किसी विशेष क्षेत्र में अधिक लोग क्यों रहते हैं तथा दूसरे क्षेत्र में कम लोग क्यों रहते हैं इसके लिए कोई एक निश्चित स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। विश्व में जनसंख्या के वितरण की प्रवृत्तियां अनेक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक तत्वों से प्रभावित होती हैं तथा इनमें से कोई भी एक तत्व बसने या स्थानांतरण करने का कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं बन सकता।

जनसख्या का प्रकार एवं विकास
(Size and Growth of Population)

यह अनुमान लगाया जाता है कि सन् १७५० मे ससार की जनसख्या १०० मिलियन थी। एक सौ पचास वर्ष बाद यह संख्या दो गुनी हो गई और उसके पैंसठ साल बाद पुन दो गुनी हो गई। सयुक्त राष्ट्र सघ के जनसख्या सबधी अध्ययनो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जनसख्या की वृद्धि की वर्तमान दर को देखते हुए विश्व की ३.३ बिलियन जनसख्या आने वाले पैंतीस वर्षों मे दो गुनी हो जायेगी। यदि वर्तमान प्रवृत्तिया जारी रहीं तो सन् १९८० के बाद विश्व की जनसख्या मे प्रति वर्ष सौ मिलियन से भी अधिक की वृद्धि होगी तथा सन् २००० के बाद यह वृद्धि २०० मिलियन प्रति वर्ष के हिसाब से होने लगेगी। इस विषय के विशेषज्ञ इस तथ्य के प्रति सजग हैं कि जनसख्या के दो गुना होने का समय निरन्तर घटता ही जा रहा है और भावी जनसख्या के लिए भोजन, मकान, शिक्षा एव अन्य सुविधाओं की व्यवस्था की आवश्यकताएं बढती जा रही हैं। गणना के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि यदि विकास का झुकाव आज की तरह ही रहा तो सन् २००० तक विश्व की जनसख्या ६ बिलियन हो जायेगी।

जनसंख्या में जो भी वृद्धि होती है उसका लगभग ८५ प्रतिशत भाग लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के कम आय वाले देशो से सम्बन्ध रखता है। सन् २००० तक दुनियां की आबादी का लगभग ४/५ भाग इन क्षेत्रो मे रहने लगेगा। ऐसा होने पर उत्तरी अमरीका, योरोप, सोवियत सघ, जापान आदि उच्च आय वाले औद्योगीकृत देशो तथा इन विकसित देशो के मध्य स्थित अन्तर की खाई बढ जायेगी। विकसित देशो मे नियन्त्रित जन्मदर एव निम्न मृत्युदर के बीच लगभग सन्तुलन रखा गया है। विकासशील देशों मे सुधरी हुई मेडीकल सुविधाओ एव जन-स्वास्थ्य के प्रयासो के कारण प्रौढ मृत्युदर कम हो गई है जबकि जन्मदर अब भी उच्च बनी हुई है। विकासशील देशो मे भावी जनसख्या अत्यधिक होने हो जाएगी; यदि जन्मदर इसी तरह ऊँची बनी रही और मृत्युदर धीरे-धीरे घटती चली गई। जनसख्या की मात्रा मे वृद्धि ही इस बात का तय करेगी कि ससार आने वाली जनसख्या के लिए भोजन, वस्त्र और मकान का प्रबन्ध कर सकेगा या नहीं।

यद्यपि जनसख्या विश्व भर मे बढती जा रही है फिर भी जनसख्या के विशेषज्ञों का कहना है कि यह वृद्धि अर्ध-विकसित देशो मे तीव्र गति से हो रही है। ऐसी स्थिति मे २५ वर्ष या इससे भी कम समय मे उनकी जन-

सख्या दो गुनी हो जाती है। अफ्रीका के विभिन्न देशो मे जन सख्या की वृद्धि की दर अलग-अलग है, किंतु वहा भी आने वाले ३० से ३५ वर्षों मे जनसख्या दो गुनी हो जाती है। विज्ञान के विकास ने अनेक लाइलाज बीमारियों का सफल उपचार खोज दिया है। इसके अतिरिक्त टीका कीटाणुनाशक दवा, आदि के आविष्कार ने बीमारियों को कम कर दिया है और इन सबके परिणामस्वरूप मृत्यु दर घट गई है। भोजन मे सुधार होने से भी मृत्यु दर के घटने मे सहायता मिली है। वस्तुस्थिति इस प्रकार की होते हुए भी यदि एक देश चाहता है कि वह अपने नागरिको को सार्वजनिक रूप से शिक्षा प्रदान करे, सम्पत्ति की बचत करे तथा आधुनिक समाज एव अर्थ व्यवस्था और जीवनस्तर को ऊचा करने के लिये अन्य तत्वो की व्यवस्था करे तो उसे जनसख्या की वृद्धि को कम करना होगा।

जनसख्या की वृद्धि मे लिंग और उम्र का महत्व होता है। एक पत्नी विवाह वाले समाजो में सन्तानोत्पत्ति में सक्षम स्त्री और पुरुषो के बीच का सतुलन यह तय करेगा कि दूसरी पीढ़ी की जनसख्या क्या होगी। युद्धो के कारण जो मौतें होती हैं और जिस प्रकार जन्म दर घट जाती है उससे जन-सख्या के झुकाव मे परिवर्तन आ जाता है। द्वितीय विश्व युद्ध मे लड़ाई के परिणामस्वरूप सोवियत रूस मे यही हुआ। स्त्रिया अधिक होते हुए भी युवक पुरुषो की सख्या कम होने के कारण वहाँ जन्म दर घट गई। एक देश मे किस उम्र की जनसख्या अधिक है, यह बात भी जनसख्या के विकास पर प्रभाव डालती है। जिस देश मे सन्तानोत्पत्ति मे सक्षम उम्र वालो की सख्या अधिक होती है और कम उम्र वाले समूह अधिक होते हैं वहा आने वाले तीस वर्षों मे जनसख्या बहुत बढ जाती है। ऐसे देशों मे सन्तानोत्पत्ति अधिक होती है तथा मृत्यु दर घट जाने के कारण जनसख्या शीघ्र ही अधिक हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप शिक्षा भोजन, रोजगार आदि से सम्बन्धित गम्भीर समस्यायें पैदा होती हैं। विकासशील देशो मे एक बडी सख्या मे लोग इस उम्र तक पहुच रहे हैं जहा कि वे सैनिक सेवा मतदान एव औद्योगिक मजदूर के रूप मे काम कर सकें। चीन, दक्षिण पूर्वी एशिया, लेटिन अमेरिका के कुछ देश, अफ्रीका के कुछ भागो मे ऐसा ही हो रहा है। जनसख्या के इन समूहों द्वारा यहा शिक्षा एव लाभदायक रोजगार की विशेष समस्यायें पैदा की जा रही हैं। अधिक जनसख्या होने के कारण इन देशों में राजनैतिक अस्थिरता तथा राष्ट्रवाद की प्रवृत्तिया जोरो पर हैं। दूसरी ओर सयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत सघ मे ४६ वष से अधिक के लोगो का प्रतिशत पर्याप्त ऊचा है।

जनसंख्या की वृद्धि के साथ साथ राष्ट्रवाद की भावनायें भी एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमरीका के कुछ भागों में बढ़ती जा रही हैं। जनता को यह कहा गया था कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उनका जीवन स्तर बढ़ जायेगा। यदि जनसंख्या तीन प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ती है तो राष्ट्रीय उत्पादन भी उसी दर से बढ़ना चाहिये तभी हम वर्तमान निम्न जीवन स्तर को बनाये रख सकेंगे। उसे ऊंचा उठाने की बात तो अलग है। वास्तविक प्रगति प्राप्त करने के लिये उत्पादन की वृद्धि जनसंख्या की वृद्धि के अनुपात से दो गुनी होनी चाहिये।

जनसंख्या की वृद्धि के परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक परिवर्तन होते हैं। जिस औद्योगीकरण के कारण आर्थिक प्रगति होती है वह ग्रामीण जनसंख्या को शहरी केन्द्रों की ओर मोड़ने में सहायता करता है। इसके परिणामस्वरूप परम्परागत बन्धन ढीले हो जाते हैं और युवकों में एक अस्थिरता आ जाती है। टर्की, भारत और चीन आदि देशों में सम्भवतः काल की ये कठिनाइयाँ देखने को प्राप्त होती हैं। वस्तुस्थिति यह है कि विकासशील देशों को विकसित देशों द्वारा जो आर्थिक और तकनीकी सहयोग दिया जाता है, वे देश मेहनत करके जिन राष्ट्रीय योजनाओं को बनाते हैं उन सब का परिणाम प्राप्त होने से पहले से ही आर्थिक एवं अन्य सामाजिक विकास को जनसंख्या की वृद्धि द्वारा चुनौती दे दी जाती है। प्रधान मन्त्री नेहरू ने अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले कहा था कि यदि जनसंख्या अभी न पकड़ी जाने वाली गति से बढ़ती रही तो हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का कोई अर्थ नहीं होगा।

इस समस्या का आर्थिक विश्लेषण करने पर कुछ विशेष बातें सामने आती हैं। जन्म दर अधिक होने का अर्थ है कि जनसंख्या का एक बड़ा अनुपात १५ साल से नीचे का है, वह उपभोक्ता है और आर्थिक दृष्टि से शेष जनसंख्या पर आश्रित है। एशिया और सुदूर पूर्व के देशों की ४० प्रतिशत जनसंख्या १५ वर्ष से कम उम्र वाली है। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और जापान में इस उम्र वाली जनसंख्या की मात्रा तीस प्रतिशत है। यदि ये देश चाहते कि यहां आयात पूंजी बढ़े, अन्तर्देशीय बचत अधिक हो और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो तो इन्हें उत्पादन को जनसंख्या की मात्रा से दुगना करना पड़ेगा। गरीब देश जनसंख्या वृद्धि की तीव्र गति के कारण और गरीब होते जा रहे हैं। ये देश बचत करने में पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करते हैं। इन देशों को अपनी अतिरिक्त जनसंख्या की आवश्यकता पूरी करने में भी कठिनाई का अनुभव हो रहा है। यह कहा जाता है कि यदि विदेशी सहा-

यता का कुछ भाग जनसख्या नियन्त्रण में लगाया जाए तो इससे इन देशों के विकास में सहायता होगी।

जनसख्या में विकास की गति आर्थिक विकास को प्रभावित करती है। दूसरी ओर वह स्वयं भी आर्थिक विकास के स्तर से प्रभावित होती है। कृषि प्रधान देशों में जन्म-दर और मृत्यु दर प्रायः समान रूप से ऊंची होती है। औद्योगीकरण के बाद जन्म दर बढ़ जाती है और मृत्यु दर कम हो जाती है। जब औद्योगीकरण अपनी परिपक्वता की स्थिति में आ जाता है तो जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों ही कम हो जाती है। ऐसे देशों में वृद्धों की मात्रा अधिक बढ़ जाती है और जनसख्या के विकास की गति धीमी हो जाती है। जब जन्म दर बढ़ती है तो उस देश के लोगों का मारेल ऊंचा हो जाता है और पतन पर कम। बढ़ती हुई जनसख्या वाले देशों में उत्साह एवं शक्ति पर्याप्त मात्रा में देखी जाती है। बढ़ती हुई जनसख्या वाले देशों में युवकों की मात्रा अधिक होती है और इन देशों के आर्थिक एवं सैनिक विकास की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।

जनसख्या सम्बन्धी सक्रमण
(The Demographic Transition)

प्रत्येक देश का औद्योगिक विकास जिस प्रक्रिया एवं तरीके से हो रहा है वह जनसख्या सम्बन्धी सक्रमण की है। इस सक्रमण में पहला काल उच्च जीवन दर एवं उच्च मृत्यु दर का था और दूसरा काल निम्न जन्म दर, निम्न मृत्यु दर का है। इस परिवर्तन के दौरान जन्म दर मृत्यु दर की अपेक्षा अधिक ऊंची हो जाती है और यह उस समय तक ऐसी बनी रहती है जब तक कि दूसरे काल में न पहुंच जाए। इस परिवर्तन के द्वारा पर्याप्त कार्यकुशलता बढ़ती है। जब यह परिवर्तन पूरा हो जाता है तो युवक प्रौढ़ों की प्रत्येक नई पीढ़ी कम से कम सन्तानोत्पत्ति करती है और कम बच्चे मरते हैं तथा शिक्षा की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाता है। इस विकास की गति के बाद वाले संतानों में प्रजनन क्रिया कम हो जाने के कारण आश्रित व्यक्तियों की उम्र वाले लोग बढ़ जाते हैं। ये सब कारण जनसख्या सम्बन्धी सक्रमण औद्योगीकरण को लाने पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं।

विकास की यह गति वास्तविक होने की अपेक्षा अमूर्त अधिक है। सन् १९३० की आर्थिक मंदी के दौरान इन औद्योगिक देशों में पर्याप्त कठिनाइयां आयीं और उसके बाद में इन सभी देशों की जन्म दर बढ़ गई ताकि जनसख्या के विकास में नई लहर आ सके। कुछ भी हो किन्तु औद्योगिक

राष्ट्रों के जन्म दर की वृद्धि उन्नीसवीं सदी के स्तर पर नहीं पहुंच सकती। अधिकांश औद्योगिक देशों में तो जन्मदर गिर गई है। जापान में प्रजनन शक्ति घटने से यह सिद्ध हो गया कि पूर्वी देशों में भी औद्योगीकरण का वही प्रभाव होता है जो पश्चिमी देशों पर हुआ। संक्षेप में जनसंख्या सम्बन्धी संक्रमण का माडल अत्यन्त उपयोगी है। यह वास्तविकता की पूरी तरह व्याख्या करता है तथा यह हमें तथ्यों के देखने के साथ-साथ कुछ मूल अनुभव पर आधारित प्रश्न उठाने में भी सहायता करता है।

जनसंख्या के विकास की वर्तमान प्रवृत्तियां
(The Present Trends of Population Growth)

जनसंख्या के विकास के बारे में कई बार यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या आज के अर्धविकसित देश उस जनसंख्या सम्बन्धी संक्रमण को दुहरा रहे हैं जिसमें होकर वर्तमान औद्योगिक देश निकले हैं। यदि ऐसा ही हो रहा है तो हम उस समय का अनुमान लगा सकते हैं जो इन देशों को अपने विकास में व्यतीत करना होगा, किन्तु सच तो यह है कि इन देशों को विकास की उसी प्रक्रिया में होकर गुजरना नहीं पड़ रहा है। एक सबसे महत्वपूर्ण अन्तर तो यह है कि आज के अर्धविकसित देशों में प्राकृतिक वृद्धि इतनी नहीं हो रही है जितनी कि कभी आज के औद्योगिक देशों में हुई थी। असल में ये देश अधिक प्राकृतिक वृद्धि का दिग्दर्शन करा रहे हैं। इस वृद्धि की गति का उदाहरण मानव इतिहास में प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि आज इन देशों में जन्म दर बहुत ऊंची है और मृत्यु दर घट गई है। इन देशों की मृत्यु दर ऐसे समय में कम हो गई है जब कि ये आर्थिक विकास के प्रारम्भिक सोपानों को ही पार कर रहे हैं, आज के औद्योगिक देशों में यह कमी उस समय आई थी जबकि पर्याप्त सम्पन्नता के स्तर पर पहुंच गये। अर्धविकसित देशों में मृत्युदर इतनी शीघ्र कम हो जाने का कारण यह है कि इनको अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय एवं तकनीकी सहायता उपलब्ध है स्वास्थ्य की प्रक्रियाओं ने सामूहिक स्तर पर अपना महत्व सिद्ध कर दिया है। आज के औद्योगिक देशों के विकास की गति धीमी रही, क्योंकि उनको प्रत्येक चीज का प्रयोग करना पड़ा, उसका आविष्कार करना पड़ा। जब कि आज मृत्यु से लड़ने के सभी तरीके ईजाद हो चुके हैं, वर्तमान कृषि प्रधान देश अपनी वैज्ञानिक प्रगति या समझ के बिना ही इन आविष्कारों एवं प्रयोगों द्वारा लाभान्वित हो रहे हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि आयातित स्वस्थ प्रयासों के लिए सामाजिक संगठन में परिवर्तन करने

की आवश्यकता बहुत कम रहती है। इन देशों में जन्म निरोध या प्रजनन शक्ति को कम करने की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाये जाते, अतः जन्म दर पूर्ववत् उच्च ही बनी रहती है। इसके परिणामस्वरूप इन देशों में जनसंख्या की वृद्धि यहां के आर्थिक विकास का प्रतीक नहीं होती जैसा कि आज के औद्योगिक देशों में हुई थी किन्तु इसके विपरीत यह तो आर्थिक विकास की एक बाधा का काम करती है। इसके अतिरिक्त इन देशों में जनसंख्या वृद्धि की यह प्रक्रिया ऐसे समय में हो रही है जबकि संसार में इतने अधिक क्षेत्र नहीं बच गये हैं जहां पर कि अतिरिक्त जनसंख्या को बसाया जा सके तथा स्थानान्तरण द्वारा इस समस्या की गम्भीरता को कम किया जा सके। आज जो भी देश अपने आपको औद्योगीकृत बनाना चाहता है उसके सामने अनेक बाधायें आती हैं, औद्योगीकृत देशों के साथ प्रतियोगिता पैदा होती है तथा राजनैतिक रूप से इन देशों को हताश किया जाता है।

आज का संसार जिस अकल्पनीय एवं अपूर्व जनसंख्या वृद्धि की प्रक्रिया का अनुभव कर रहा है तथा इसके अधिकांश अनुपात का भार गरीब एवं अर्धविकसित राष्ट्रों पर पड़ रहा है इससे दो परिणाम उत्पन्न होते हैं प्रथम यह है कि अर्धविकसित देशों में जहां कि पहले से ही जनता घने रूप में बसी हुई है वहां जनसंख्या की वृद्धि अन्य परिहार्य बाधाओं के साथ मिल कर इन पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास की गति को धीमा कर रही है। दूसरी ओर अनेक कारणोंवश इन देशों की महत्वाकांक्षायें बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ रही हैं। राष्ट्रीय लक्ष्यों एवं राष्ट्रीय साधनों के बीच महान असमानता होने के कारण इन देशों में राजनैतिक अस्थिरता है। दूसरे, इन देशों की राजनैतिक अस्थिरता एवं उनके आर्थिक विकास की धीमी गति मिल कर इनको विकसित देशों की तुलना में अधिकतम कमजोर बनाती जा रही है। इस स्थिति से एक ऐसे रिक्त स्थान की रचना हो रही है जिसने कभी उपनिवेशवाद को जन्म दिया था।

अर्धविकसित देशों में मृत्यु दर कम होने के कारण वहां युवक जनसंख्या बहुत अधिक बढ़ गई। इससे आश्रित बालकों की संख्या बढ़ी जिसने आर्थिक समस्याओं को और भी अधिक जटिल बना दिया। जब युवकों का समुदाय रोजगार की तलाश करता है तो उनमें से सभी को इस कार्य में सफलता नहीं मिल पाती और अगर मिलती भी है तो सतोषप्रद रूप से नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में उनकी शक्तियां आन्दोलन, क्रान्ति एवं युद्ध की ओर मुड़ जाती हैं। भारतवर्ष की वर्तमान स्थिति को इसका एक जीता-जागता उदाहरण माना जा सकता है।

कृषि प्रधान देशों में जनसंख्या का प्रादेशिक वितरण उसके ठीक विपरीत रूप में हो रहा है जैसा कि औद्योगिक प्रगति के लिए होना चाहिए था। आर्थिक विकास के दौरान लोगों के रहने की स्थिति में भारी परिवर्तन आता है, वे शहरों की ओर दौड़ने लगते हैं। जो कोई भी तत्व इस गति को रोकता है वह एक प्रकार से आर्थिक विकास रोक रहा है। इस विकास मार्ग की एक बाधा तो यह तथ्य है कि अधिक प्रजनन शक्ति देहाती क्षेत्रों में ही पाई जाती है। इसके परिणामस्वरूप खेतों पर जनसंख्या अधिकाधिक घना रूप लेती जाती है तथा कृषि के आधुनिकीकरण को कठिन बना देती है। शहरी क्षेत्रों में बेरोजगारी के परिणाम देहाती क्षेत्रों के कम रोजगार की तुलना में इतने अधिक गम्भीर होते हैं कि सरकार प्रायः इस प्रकार की नीति अपनाती है जिससे कि अनेक प्रकार से शहरीकरण को हतोत्साहित किया जाता है। उदाहरण के लिए उद्योगों को विकेन्द्रित कर दिया जाता है, हस्तकला को प्रोत्साहन दिया जाता है, कृषि सुधार के प्रमापनों पर व्यय किया जाता है, आदि-आदि। ये प्रयास जिस सीमा तक सफल होते हैं वे उतनी ही देश के आर्थिक विकास पर रोक लगाते हैं तथा राष्ट्र की कमजोरी का प्रतीक बन जाते हैं।

अर्द्ध विकसित देशों में जो शहरीकरण हो रहा है, उसके पीछे दो कारण हैं। प्रथम तो यह आर्थिक विकास का परिणाम है और दूसरे यह देहाती क्षेत्रों में बढ़ी हुई जनसंख्या का परिणाम है। इसका राजनैतिक महत्व तो इस बात में निहित है कि इससे द्रुत प्रचार व्यवस्था के लिए सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। साथ ही सामूहिक कदम उठाना भी सम्भव बन जाता है। बढ़ती हुई आबादी वाले नगरों में अफवाहें बिजली की तरह फैलती हैं। विभिन्न वर्गों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क के कारण धार्मिक एवं सजातीय ईर्ष्या की भावना का उदय होता है। इन सब परिस्थितियों में अवहेलना, अपमान या अन्याय की प्रतिक्रिया बड़ी शीघ्र, व्यापक एवं हिंसात्मक होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में जनमत का स्थान
(The Role of Public Opinion in International Relations)

एक देश की विदेश नीति में जनमत द्वारा जो महत्वपूर्ण कार्य किया जाता है वह इस बात का द्योतक है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जनता का स्थान महत्वपूर्ण बनता जा रहा है। वैसे नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के प्रणेता सदा से ही इतिहास के निर्णायक तत्व रहे हैं; किन्तु फिर भी

इनका योगदान इतना महान कभी भी नहीं रहा जितना कि यह आधुनिक युग में पाया जाता है। आज का युग मजदूरों की क्रान्ति का युग कहलाता है जिसमें समाज के अधिकांश भागों को समाजवाद के रंग में रंगना एक उद्देश्य है। इस युग में जनसंख्या का महत्व अत्यधिक बढ़ गया है तथा कोई भी देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर निर्णय लेते समय जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता।

मजदूर वर्ग हमारे समय के सामाजिक विकास की एक मुख्य प्रेरक शक्ति है। मानव इतिहास में आज तक जिन वर्गों ने समाज की अध्यक्षता की है उनमें यह वर्ग संख्या में सभी से अधिक है तथा यह प्रायः सभी दलित वर्गों का नेतृत्व करने की क्षमता रखता है। लेनिन ने विश्व में होने वाले विकासों की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए यह बताया था कि साम्यवाद की विजय का कारण यह है कि सैंकड़ों और हजारों लोग धीरे-धीरे इसके समर्थक बन गये हैं। यह बहुमत अब जागृत हो चुका है तथा कुछ कर गुजरने के लिए आतुर है। इसको मजबूत से मजबूत और शक्तिशाली से शक्तिशाली सत्ताओं द्वारा भी रोका नहीं जा सकता।

मार्क्स और लेनिन के प्रयासों से मजदूर वर्ग में यह पहचानने की शक्ति आ गई है कि उनका हित क्या है तथा इसकी साधना वे किस प्रकार कर सकते हैं। राष्ट्रीय राजनीति में मजदूर वर्ग के योगदान के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी उनका प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में इसके प्रभाव से एक नया विकास यह हुआ है कि विदेश नीतियों का मानवीकरण हो गया है। आज युद्ध और शान्ति जैसे महत्वपूर्ण विषयों में जनता की रुचि बढ़ती जा रही है। वह विदेश नीति के विभिन्न पहलुओं में पर्याप्त रुचि लेती है। इस सबका परिणाम स्वरूप विदेश नीति को जनता की इच्छाओं से प्रभावित होना पड़ता है।

आरबेटोव (Y Arbatov) जैसे साम्यवादी लेखकों का कहना है कि सोवियत मजदूर वर्ग चुनावों में भाग लेता है इसके अतिरिक्त भी उसके पास कुछ साधन हैं जिनके माध्यम से वह विदेश नीति को प्रभावित कर सके। मजदूर वर्ग का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं भ्रातृत्व का विकास करना होता है। मार्क्स द्वारा दुनियां के मजदूरों को एक होने का जो नारा दिया गया उसमें साम्यवादियों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रुचि जाहिर होती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने के बाद ही साम्यवादी क्रान्ति के लक्ष्यों को पूरा किया जा सकता है। मजदूर वर्ग के पास

हड़ताल आदि के रूप में कई एक शक्तिशाली हथियार हैं जो यदि प्रयुक्त किये जायें तो पर्याप्त प्रभावशाली साबित हो सकते हैं।

आजकल के युद्ध केवल व्यावसायिक सेनाओं के माध्यम से ही नहीं लड़े जाते। लेनिन के कथनानुसार आज के युद्ध राष्ट्रों द्वारा लड़े जाते हैं। इन युद्धों के संचालन के लिए आवश्यक व्यापक संख्या में जो सेना नियुक्त की जाती है वह मूल रूप से काम करने वाली जनता के कन्धों पर बन्दूक रख कर ही चलती है। जनसंख्या का कार्य गृह स्तर पर भी बढ़ जाता है क्योंकि प्रत्येक सेना या राज्य उसके श्रम एवं मोरेल पर निर्भर करता है। यही कारण है कि युद्ध, शान्ति एवं विदेश नीति के बारे में बड़ी जनसंख्या के विचार एक महत्वपूर्ण तत्व बनते जा रहे हैं। ये एक देश की सैनिक सामर्थ्य का निश्चय करते हैं तथा सेना के मोरेल, अपने डिवीजन के गुण एवं गृह स्तर पर स्थायित्व आदि का निर्धारण करते हैं। यह कहा जाता है कि पिछले दो विश्व युद्धों के अनुभव के बाद यह बात सामने आई कि युद्धों एवं विदेश नीति के प्रति जनता का दृष्टिकोण केवल नैतिक तत्व तक ही मर्यादित नहीं है। यह उस वर्ग के शासन को भी समाप्त कर सकता है जो युद्ध में रत है। यह शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नवीन शक्ति के रूप में उदित हो रही है। इसके फलस्वरूप प्रजातन्त्रात्मक विदेश नीतियाँ बनने लगी हैं। इस दृष्टि से उपनिवेशों एवं आश्रित देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता मोर्चे हैं उनका भी अपने आप में पर्याप्त महत्व है।

यह माना जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जनसाधारण का जो महत्व बढ़ा है वह कोई अवसर की ही बात नहीं है और न ही यह राजनीतिज्ञों एवं कूटनीतिज्ञों के विषयगत गलत आकलन का ही परिणाम है। यह तो विषयगत ऐतिहासिक विकास का एक प्राकृतिक परिणाम है। यह एक सामाजिक वातावरण है जो मानवता की प्रगतिशील एवं शांतिवादी शक्तियों का पक्ष लेता है। विदेश नीति पर जनसाधारण का बढ़ता हुआ प्रभाव प्रतिक्रियावादी एवं आक्रमणकारी नीतियों तथा रूपों को सफल नहीं होने देता। यह आज की दुनिया की एक अद्वितीय प्राप्ति है। कोई भी देश इस प्राप्ति को छोड़ना नहीं चाहेगा।

बढ़ती हुई जनसंख्या पर विचार करने के मार्ग
(The ways of dealing with Population Increase)

जनसंख्या की वृद्धि का एक देश के ऊपर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय रूप में जो प्रभाव पड़ता है वह बहुधा हानिकारक होता है। ऐसी स्थिति में उन

तरीको की जानकारी उपयोगी रहेगी जो जनसख्या के बढ़ने पर उसके बु परिणामो को कम करने के लिए काम मे लाये जा सकते हैं। विचारको क कहना है कि बढती हुई जनसख्या के दबाव को रोकने के लिए तीन मा अपनाये जा सकते हैं। पहला, विस्थापन (Migration) दूसरा, उत्पादन म वृद्धि (विशेषकर कृषि उत्पादन मे) और तीसरा, जनसख्या नियन्त्रण (Population Control)। इन तीनो मार्गों का कुछ विस्तार के साथ अध्ययन किया जाना भी उपयोगी रहेगा।

(i) **विस्थापन (Migration) का तरीका**—जब से विचारधाराओं ने यह निश्चित किया है कि जनसख्या के दबाव प्रसारवादी नीतियों को प्रोत्साहित करते हैं तब से यह विश्वास किया जाने लगा है कि अधिक जनसख्या वाला देश पर्याप्त भूमि और साधन स्रोत प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उन्नीसवी शताब्दी की उपनिवेशवादी एव साम्राज्यवादी नीतियों को इन्ही विचारो का प्रतीक माना जा सकता है, यद्यपि उस समय समुद्र पार के प्रदेशो मे बहुत कम लोग जाकर बसे। सोवियत सघ और साम्यवादी चीन अपनी जनसख्या की समस्या को सुलझाने के लिए अपनी सीमाओं के क्षेत्रो मे लोगों को बसा रहे हैं। आस्ट्रेलिया तथा कनाडा जैसे देश अब भी यूरोप से कुशल कार्यकर्ताओं को अपने देश मे घुसने के लिए आकर्षित करते हैं किंतु वर्तमान प्रवृत्ति के अनुसार आजकल अधिकाश देश विस्थापितों को स्वीकार करने में अनिच्छा दिखाते हैं; इसका कारण चाहे बेरोजगारी हो अथवा आतरिक राजनैतिक तत्व। इसका एक कारण यह हुआ कि विस्थापन के द्वारा जनसख्या की समस्या को सुलझाने के आसार कम हो गए।

(ii) **खाद्य सामग्री का अधिक उत्पादन**—बढ़ी हुई जनसख्या को बसाने के लिए तथा उसकी समुचित व्यवस्था करने के लिए खाद्य सामग्री के उत्पादन को बढ़ाना परमावश्यक है। यह कहा जाता है कि दुनियां की लगभग दो-तिहाई जनसख्या कम भोजन से गुजर करती है। एक अनुमान के अनुसार दुनियां मे भोजन के उत्पादन मे वृद्धि कम से कम २.२५ प्रतिशत प्रति वर्ष होनी चाहिए। अनुमान के अनुसार सन् १९५० मे यह वृद्धि ०.१ प्रतिशत हुई थी। कृषि उत्पादन मे वृद्धि का अभिलेख सयुक्त राज्य अमरीका ने बनाया जहा २.२५ प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि हुई, किंतु इस देश को अतिरिक्त कृषि उत्पादन की इतनी आवश्यकता नही रहती। सयुक्त राज्य अमरीका के कृषि उद्योग की विशेषता यह है कि उसका मशीनीकरण हो गया है, श्रम बचाने वाले अनेक तरीके अपनाये जा रहे हैं, भारी

पूंजीगत व्यय किये जा रहे हैं, अनेक प्रकार की खाद का प्रयोग होता है। यदि ये बातें अर्द्धविकसित देशों में लागू की जायें तो इनके लिए पहले सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में भारी परिवर्तन करने होंगे और अनेक देश इन परिवर्तनों को आने वाली दशाब्दियों तक नहीं कर सकते चाहे उनको विदेशी सहायता दी जाए अथवा न दी जाए। चीन से प्राप्त होने वाले प्रतिवेदनों से साफ जाहिर है कि वहां मनुष्य शक्ति का व्यापक प्रयोग किए जाने के बाद भी भोजन की आवश्यकता को पूरा नहीं किया जा सका है और इस कमी को पूरा करने के लिए उसे आस्ट्रेलिया तथा कनाडा से भारी खाद्य सामग्री मांगनी होती है। खाद्यान्न की बढ़ी हुई मात्रा उसी समय प्राप्त की जा सकेगी जब प्रत्येक एकड़ जमीन पर अधिक अन्न उपजने लगेगा क्योंकि जितनी भी खाली जमीन है वह इस समय खेती के काम में ली जा रही है और ऐसी कोई जमीन शेष नहीं बची जो नए सिरे से खेती के काम ली जा सके।

खाद्य सामग्री का निर्यात धीरे-धीरे विश्व राजनीति में नीति का एक महत्वपूर्ण साधन बनता जा रहा है। संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया एवं कुछ अन्य देश यह शक्ति रखते हैं कि निर्यात किये जाने योग्य अतिरिक्त खाद्यान्न का उत्पादन कर सकें। संयुक्त राज्य अमरीका ने सार्वजनिक कानून ४८० (Public Law 480) के माध्यम से सरकारी स्वामित्व के अधीन पर्याप्त अतिरिक्त खाद्यान्न का संग्रह किया है। सन् १९५५ से लेकर सन् १९६५ तक अर्थात् दस वर्ष के काल में संयुक्त राज्य अमरीका ने केवल भारत को ही लगभग ३ बिलियन डालर के मूल्य का खाद्यान्न भेज दिया। एक अन्य कार्यक्रम के अधीन राष्ट्रपति जॉनसन ने प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी से तीन मिलियन टन अतिरिक्त खाद्यान्न देने का वायदा किया ताकि भारत की भूख को मिटाया जा सके। यह कहा जाता है कि जब तक वर्ष भर में प्रत्येक दिन पच्चीस हजार टन अनाज भारतीय बन्दरगाह पर न उतारा जाएगा तब तक भूख की समस्या का समाधान नहीं हो सकता। दूसरी ओर आस्ट्रेलिया और कनाडा अपने गेहूं के उत्पादन की अधिकांश मात्रा को विश्व बाजार में बिक्री या साख के आधार पर निकाल देते हैं। उनकी बिक्री की अधिकांश मात्रा रूस और साम्यवादी चीन को जाती है। खाद्य समस्या की गम्भीरता को पहचान कर विदेश सहायता कार्यक्रम कृषि उत्पादन को अधिक महत्व दे रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के खाद्य और कृषि संगठन के महा संचालक डा० बी० आर० सेन ने इस खतरे को स्पष्ट करते हुए बताया है कि कुछ अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों से गम्भीर अकाल को नहीं रोका जा सकता और यह एक सरल गणितीय निष्कर्ष है कि यदि खाद्य

उत्पादन को प्रत्येक जगह इसी मात्रा में रखा गया जिसमे कि वह अब है, तो इस शताब्दी के अन्त तक भूखे या अध भूखे लोगो की सख्या आज की तुलना मे दो गुनी हो जाएगी। पेडलफोर्ड तथा लिंकन के कथनानुसार विश्व-व्यवस्था को प्राप्त करने तथा बनाए रखने के मार्ग मे एक सबसे बडी कठिनाई यह है कि अनेक अर्द्ध विकसित देश विकसित देशो के खाद्यान्न के जहाजो पर आश्रित हैं। जिन देशों के पास खाद्य सामग्री की अतिरिक्त मात्रा है वे अपने व्यक्तिगत एव सामूहिक प्रयासो के बाद भी अकालग्रस्त एव अभावग्रस्त देशो की आवश्यकताओं को केवल आंशिक रूप से ही पूरा कर पा रहे हैं। इस आवश्यकता को सतुष्ट करने के लिए समस्या पर कई दिशाओ से विचार किया जाना चाहिए। आवश्यकतामन्द देशो में उत्पादन को बढाया जाय। जरूरतमन्द देशो को अधिक सामग्री भेजने का प्रबन्ध किया जाए। इसके अतिरिक्त समुद्र के पानी को सिंचाई के लिए और मानवीय प्रयोग के लिए अधिक रक्षित किया जाए। सूखाग्रस्त इलाको मे सिंचाई का उचित प्रबन्ध किया जाए और ऐसी शिक्षा प्रदान की जाए कि भूमि का अधिक प्रयोग किया जा सके, खेतो पर आश्रित लोगों की सख्या कम हो और साधनों का मित-व्ययता [redacted] साथ प्रयोग किया जा सके। वैसे इसमें कोई सन्देह नहीं कि खाद्य सङ्कट को दूर करने के लिए स्वय उस देश को ही प्रयास करना होगा। इसके अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र सघ के अभिकरण और विशेषीकृत क्षेत्रीय निकाय भी इस दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। कम आमदनी वाले देशो में खाद्य उत्पादन को बढाने के मार्ग मे अनेक बाधाए होती हैं उदाहरण के लिए सामाजिक एव शैक्षणिक बाधाए जो कृषि उत्पादन को परम्परागत बना देती हैं। यहा समस्या यह नहीं है कि तकनीकी का अभाव रहता है वरन् यह है कि उसका पर्याप्त उपयोग नही होता। गरीब और अशिक्षित लोग धीमी गति से काम करते हैं और अकार्यकुशल होते हैं। इन देशो मे बचत की मात्रा कम होती है और अनेक किसानों को भारी कर्ज भार के नीचे रह कर जीवन व्यतीत करना होता है। इस सबके परिणामस्वरूप वे कृषि के क्षेत्र मे प्रयोग नही कर पाते। इसके अतिरिक्त अच्छा खाद और अच्छे बीज भी नहीं खरीद पाते। इन सभी कमियों को विदेशी सहायता, तकनीकी सहयोग और योग्य नतृत्व के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है।

(iii) जनसख्या का नियन्त्रण—जनसख्या का नियन्त्रण इस समस्या पर विचार करने का एक तीसरा तरीका है। अर्द्ध विकसित देशो [redacted] सरकारी समर्थन के आधार पर इन कार्यक्रमो को सफल बनाया जाना चाहिए। विश्व बैंक के अध्यक्ष मि० लॅक ने सयुक्त राष्ट्र सघ की आर्थिक एव सामाजिक

समिति के सम्मुख कहा था कि जनसख्या की वृद्धि को रोकना ग़रीब देशो मे जीवन स्तर को सुधारने के लिए किये गये प्रयासो मे से एक है। जब तक जनसख्या की वृद्धि को नही रोका जाता, उस समय तक हम भीड से युक्त एशिया और मध्यपूर्व के देशो में आर्थिक उन्नति की आशा इस शताब्दी मे नहीं कर सकते। यह ऐसा क्षेत्र नही है जिसम अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण कुछ कर सकें।

जनसख्या के नियन्त्रण के प्रति दृष्टिकोण धीरे धीरे कम भावक होते जा रहे हैं और अधिकतर लोग यह समझने लगे हैं कि दुनिया की जनसख्या की वृद्धि का एक मात्र इलाज स्वाद एव विकास की स्थिति को सुधारने का प्रयास है। एक दर्जन से भी अधिक देशो की सरकारें जन्म दर को कम करने के कार्यक्रमो को अपना रही हैं। इस प्रकार के कुशल राष्ट्रीय कार्यक्रमो का प्रभाव जापान मे देखा जा सकता है जहा पर कि क्रमश, जन्म दर गिरती चली गई। भारत एव सोवियत सघ की सरकारें जनसख्या पर नियन्त्रण के प्रयास कर रही हैं, किन्तु भारत में यह कार्यक्रम बडी धीमी गति से चल रहा है। इसके लिए उत्तरदायी अनेक कारण हैं, जैसे डाक्टरो की कमी एव अशिक्षा आदि। अशिक्षा के कारण जनसख्या नियन्त्रण के कार्यक्रमो पर रोक लग जाती है क्योकि परम्परागत मूल्य एव रीति रिवाज अधिक से अधिक बडे परिवार का समर्थन करते हैं। जिन देशो मे अशिक्षा व्यापक मात्रा में पाई जाती है वहा जनसख्या वृद्धि अधिक होती है क्योकि इन क्षेत्रो मे किसी बात को सचालित करना अत्यन्त कठिन होता है और नये विचारो को प्रोत्साहन नही मिलता। इसीलिए छोटे परिवार की बात यहा अधिक प्रभाव नही डाल पाती। यह कहा जाता है कि साम्यवादी चीन मे जनसख्या नियन्त्रण की ऐसी नीति को अपनाया गया है जिसम तीन बच्चो से अधिक वाले परिवार को हतोत्साहित किया जाता है। यह कहा जाता है कि एक तानाशाही सरकार अशिक्षा के रहते हुए भी प्रभावशाली जनसख्या कार्यक्रम को लागू कर सकती है। सयुक्त राज्य अमरीका की सरकार एव अन्य व्यक्तिगत अभिकरण विदेशी सरकारो की सहायता कर रहे हैं ताकि उन्हें जनसख्या नियन्त्रण कार्यक्रमो मे सफलता प्राप्त हो सके। फिर भी इतना अवश्य है कि जन्म दर को कम करने जैसी समस्या को सुलझाने मे विदेशी सहायता कम उपयोगी सिद्ध होगी। जनसख्या नियन्त्रण की समस्या को अत्यन्त गम्भीर एव महत्वपूर्ण मान कर चलना चाहिए। यह कहा जाता है कि आर्थिक विकास और जनसख्या नियन्त्रण की दोहरी समस्या इतने बडे स्तर की

नियोजन एवं व्यापक दृष्टिकोण चाहती है जितना कि अणुबम के विकास की समस्या ने द्वितीय विश्व युद्ध के समय चाहा था।

राष्ट्रीय शक्ति के रूप मे तकनीकी
(Technology as an Element of National Power)

आज की दुनिया तकनीकी दुनिया है और इसमे अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं पर प्रायोगिक विज्ञानो का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। तकनीकी के कारण जनसंख्या मे परिवर्तन आता है, सुरक्षा के मार्ग बनते हैं और आर्थिक प्रगति का रास्ता खुलता है। वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास से पूर्व किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन को होने के लिए जितने समय की आवश्यकता थी वह एक व्यक्ति के जीवन से अधिक लम्बा होता था। ऐसी स्थिति मे मनुष्य जाति को निश्चित परिस्थितियो मे समायोजित होने के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। किन्तु आज यह समय मानव जीवन की अपेक्षा छोटा हो गया है इसलिए आज आवश्यकता इस बात की है कि हम व्यक्तियो को नए परिवर्तनो मे ढलने का अभ्यास करावें। यह अनुमान लगाया जाता है कि प्रति दस या पन्द्रह वर्षों के बाद विज्ञान की प्रगति दुगुनी हो जाती है। आज दुनिया के अधिकांश लोग तकनीकी का प्रयोग करने लगे हैं। इसलिए विश्व की घटनाओं पर भी तकनीकी के प्रभाव का अनुभव किया जाता है।

तकनीकी को कभी-कभी प्रायोगिक विकास के रूप मे परिभाषित किया जाता है। इसमे भौतिक विज्ञान एवं जीवशास्त्र को इन्जीनियरिंग, उद्योग एवं अन्य मानवीय क्रियाओ मे लागू किया जाता है। विज्ञान अपने शुद्ध रूप मे समाज एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव नहीं रखता किन्तु जब वह तकनीकी के रूप में परिणत हो जाता है, तो समाज प्रभावित होने लगता है। एक शुद्ध अनुसंधान विशेषज्ञ या विज्ञान का प्रोफेसर ज्ञान को ऐसे रूप मे परिणत नहीं कर सकता जिसे कि शक्ति के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। यह कार्य इन्जीनियर या तकनीकी अभ्यासकर्त्ता द्वारा किया जाता है।

तकनीकी समाज और दुनिया मे परिवर्तन लाती है। प्रोफेसर रेमण्ड सोन्टेग (Raymond Sontag) के कथनानुसार प्रथम विश्व युद्ध और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच की घटनायें तीन मुख्य विचारो से प्रभावित थी—राष्ट्रवाद, सन् १९१४ से १९१९ के बीच के गम्भीर परिवर्तन जिन्होंने इतिहास की प्रगति की धारा को रोक दिया एवं तकनीकी परिवर्तन। ये तीनों ही विचार द्वितीय विश्व युद्ध के बाद रुक गए और इनके स्थान पर अन्य विचार जुड़ गए,

जैसे साम्यवाद का उदय एव अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों का विकास। तकनीकी, राष्ट्रवाद, साम्यवाद एव अन्य शक्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्रों मे महत्वपूर्ण परिवर्तन किए।

तकनीकी ने मानव जीवन के सभी पहलुओं पर प्रभाव डाला है। इसके परिणामस्वरूप वे मूल्य जो कभी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डाला करते थे वे अब उतने ही महत्वपूर्ण नहीं रहे हैं। आज की दुनिया मे भौतिक सन्तोष की इच्छा धार्मिक एव सैद्धान्तिक लक्ष्यों से भी अधिक बढ गई है और राजनीति मे इनका प्रभाव अधिक हो गया है। आज जिस आधार पर सैनिक सुरक्षा की व्यवस्था की जाती है उसमे तकनीकी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यूरोप और अमरीका विश्व की राजनीति मे इसलिए प्रभावशील हो गए हैं क्योंकि इनका तकनीकी विकास बहुत बढ गया है। आजकल तकनीकी विकास गैर पश्चिमी देशो मे भी अपनाया जा रहा है। इसे वहा राष्ट्रवाद के साथ मिला दिया गया है। इस प्रकार यह विश्व राजनीति मे एक अनिश्चित शक्ति का स्रोत बन गया है। तकनीकी के क्षेत्र मे जो क्रातिकारी परिवर्तन हो रहे हैं उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो एव आर्थिक विकासों की प्रक्रिया पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। सोवियत रूस और अमरीका मे लाखो लोग इस क्षेत्र मे अनुसधान मे लगे हुए हैं। यह सम्भावना की जाती है कि इससे मानव शक्ति एव श्रम मे पाच प्रतिशत वृद्धि हो जाएगी। सयुक्त राज्य अमरीका के ६० प्रतिशत से अधिक प्रयास सैनिक एव अन्तरिक्ष क्षेत्रों मे किए जा रहे हैं। अन्य क्षेत्रों पर भी इसका प्रभाव हो रहा है। सयुक्त राज्य अमरीका की सरकार कुल अनुसधान एव विकास का ६५ प्रतिशत प्रदान करती है। किन्तु व्यक्तिगत उद्योग कुल कार्य के ७० प्रतिशत से अधिक के लिए भुगतान करते हैं। अन्य १३ प्रतिशत योगदान विश्वविद्यालयो द्वारा किया जाता है और शेष की पूर्ति सरकारी सस्थाये करती हैं। तकनीकी क्रान्ति ने विश्वविद्यालयो के अनुसधानो को सरकारी कोष पर आश्रित बना दिया है। तकनीकी विचारों पर सास्कृतिक एव भाषागत रुकावटो का प्रभाव बहुत कम होता है। तकनीकी मे यह क्षमता है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रवाहित हो सके। इसके लिए केवल शिक्षा और पर्याप्त सम्पत्ति की आवश्यकता है।

कुछ समय पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि पाश्चात्य देशों की जनता के अतिरिक्त लोग आधुनिक तकनीकी को काम मे नहीं ला सकते। इसी आधार पर दो विश्व युद्धों के बीच यह मान्यता रही कि जापान आधुनिक जगी जहाजों एव वायुयानो का निर्माण नहीं कर सकता। किन्तु आज जगी जहाज बनाने के कार्य मे जापान दुनिया का अगुवा है और इस बात मे कोई

संदेह नहीं है कि वह आधुनिक तकनीकी को प्रयोग में लाने की योग्यता रखता है। यदि अर्द्ध विकसित देशों में शिक्षा, सगठन एवं पर्याप्त पूंजी हो तो वे अपने और उन्नत पश्चिमी राज्यो के बीच स्थित तकनीकी अन्तर को कम कर सकते हैं। तकनीकी प्रगति के प्रभाव स्पष्ट होते हैं। आज दुनिया के देश अधिक पराश्रित बन गए हैं क्योंकि औद्योगिक तकनीकी का विकास विदेशी बाजार और विदेशी कच्चे माल की माग करता है। पहले यह माना जाता था कि राज्यो को कच्चा माल प्रदान करना चाहिए जबकि औद्योगीकृत पश्चिमी राज्यो को बनी हुई चीजें भेजनी चाहियें। आज औद्योगीकृत राज्यो एव गैर-सरकारी निगमो के बीच पिछड़े हुए राज्यो मे तकनीकी का विकास करने के लिए होड सी लगी हुई है क्योंकि इससे सुदूर भविष्य में राजनैतिक प्रभाव बढेगा और लाभ के अवसर प्राप्त होंगे। राज्यों के बीच परस्पर अन्तर एव राजनैतिक झगडे रहते हुए भी व्यक्तियो एवं निगमो के बीच तकनीकी सहयोग रह सकता है। वर्तमान युग मे तकनीकी एव आर्थिक सम्बन्धो की लहर बढती आ रही है इसके प्रभाव और रूप को परिमापित नहीं किया जा सकता, किन्तु पिछली शताब्दियों मे अन्तर्देशीय विवादों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव पडता था उनसे इसकी तुलना की जा सकती है। राज्यों के द्वारा जान बूझ कर यह प्रयास किया जाता है कि उनका तकनीकी ज्ञान दूसरे देशो मे न जाए। वे सैनिक तकनीकी को गोपनीय रखने का प्रयास करते हैं। आधुनिक तकनीकी का सम्बन्ध अणु अस्त्रों से है। सयुक्त राज्य अमरीका अपने मित्रो को इस बात के लिए प्रभावित करता है कि वे साम्यवादी देशो को लड़ाई के काम की चीजें न भेजें। दो शताब्दी पूर्व ग्रेट ब्रिटेन ने ऊनी कपडा बनाने की मशीन और तकनीकी के निर्यात पर रोक लगा दी। ऐसी कुछ नीतियां अल्पकालीन दृष्टि से उपयोगी होती हैं, किन्तु आगे चल कर तकनीकी राष्ट्रीय सीमाओं को तोड कर फैलने लगती है। जब एक बार वैज्ञानिकों को यह मालूम पड जाता है कि काम हो चुका है तो वे बडी शीघ्रता ही उसे पूरा कर लेते हैं।

आज के युग में बढती हुई आकांक्षाओं की क्रान्ति है। आज सरकारें यह आशा करती हैं कि उनका राज्य आधुनिक तकनीकी प्राप्त कर लेगा। उनकी यह आशा सैनिक हथियारों से आगे बढ़ कर औद्योगिक एवं संचार तकनीकी तक फैल जाती है। अर्द्ध-विकसित देश अपनी पराश्रयता को कम करने का प्रयास करते हैं और वहां स्टील उद्योग के विकास पर जोर दिया जाता है।

जनसंख्या की विशेषतायें, भूगोल के कुछ तत्व और अनेक आर्थिक तत्वों को नक्शों, आंकड़ों और चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है, किन्तु तकनीकी स्थिति इस प्रकार उपस्थित नहीं की जा सकती, किंतु इसका कुछ प्रतीकों के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है। इसका एक प्रतीक यह है कि उस देश की जनसंख्या का कितना अनुपात कृषि में लगा हुआ है। यदि कृषि कार्य में लगे हुए लोगों की संख्या बहुत अधिक है तो यह माना जाएगा कि कृषि तकनीकी बहुत पीछे है और औद्योगिक तकनीकी ने भी अपनी पिछड़ी स्थिति होने के कारण अधिक मजदूरों की मांग नहीं की। दूसरा सूचक यह है कि कुल राष्ट्रीय उत्पादन कितना होता है। तीसरा सूचक यह है प्रति व्यक्ति शक्ति का व्यय या खपत कितनी है। यह कहा जाता है कि संयुक्त राज्य अमरीका में शक्ति की प्रति व्यक्ति खपत पश्चिमी यूरोप और सोवियत रूस से तीन गुनी अधिक है। यह भारत से पचास गुनी अधिक है और जापान से छः गुनी अधिक है। किसी राज्य के स्तर को मापने के लिए यह जरूरी नहीं है कि इन सभी सूचकों का वर्णन किया जाए क्योंकि एक राज्य अपनी प्राथमिकता के आधार पर तकनीकी के किसी भी एक पहलू पर जोर दे सकता है और इस प्रकार उस क्षेत्र में प्रगति करके एक स्तर प्राप्त कर लेता है। उदाहरण के लिए साम्यवादी चीन ने हाईड्रोजन बम का विस्फोट कर लिया।

तकनीकी का अर्थ

(The Meaning of Technology)

तकनीकी शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है जिसमें लोहा, फौलाद एवं मशीनरी को तो लिया ही जाता है, किन्तु असल में प्रत्येक संगठित ज्ञान (Organized Knowledge) चाहे वह कृषि, रसायन शास्त्र या अन्य किसी भी विषय में हो, उसे हम तकनीकी के क्षेत्र में ले सकते हैं। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) के कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के एक अनुशासन के रूप में तकनीकी एक ऐसा विज्ञान है जो आविष्कार और भौतिक संस्कृति की प्रगति को विश्व राजनीति से सम्बन्धित करती है। यह यान्त्रिक प्रयासों के विकास की कला है जो युद्ध, कूटनीति, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, यात्रा और संचार में इसका प्रयोग करती है। प्रायः प्रत्येक देश की सरकार इस कला के विकास के लिए अधिक से अधिक आयोग, संस्थाएं एवं अन्य अभिकरण स्थापित करती है। सामान्य रूप से तकनीकी हम उस कला को कहते हैं जो पदार्थों, शक्तियों, प्रक्रियाओं एवं सम्बन्धों को मानवीय उद्देश्यों की सहायता के लिए मिलाती है और प्रयोग में लाती है। दूसरी ओर विज्ञान इस कला के व्यवहार के परिणामस्वरूप होने वाले आविष्कारों और तरीकों

ने मानवीय एव सामाजिक प्रभावो को नियन्त्रित करती है और उनके बारे मे भविष्यवाणी करती है। विज्ञान के अतगत आविष्कारो की रचना, विकास एव प्रयोग के इतिहास क अध्ययन किया जाता है और दार्शनिक अध्ययन जो सस्कृति, सभ्यता आदि के विकास के लिए तकनीकी के महत्व का मूल्याकन करते हैं वे भी विज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। तकनीकी शब्द सामाजिक और नैतिक आविष्कारो को अपने क्षेत्र से निकाल देता है। इन क्षेत्रों मे भी अनेक नए आविष्कार होते रहते हैं किंतु तकनीकी इनसे सम्बध नही रखती। जैसे भौतिक चीजों के विकास और नैतिक मान्यताओं के बीच हम विभाजक रेखा नही खीच सकते हैं क्योकि प्राय उन्ही चीजो का आविष्कार किया जाता है जिनको हम मूल्यवान मानते हैं और चीजें हम प्राय मूल्यवान इसलिए मानते हैं क्योंकि वे व्यवहार मे अभिव्यक्त हो चुकी हैं।

तकनीकी और राष्ट्रीय शक्ति
(Technology and National Power)

तकनीकी (Technology) मानव सभ्यता एव मनुष्य जाति के लिए एक वरदान है या अभिशाप है, यह एक विवादास्पद प्रश्न है जिस पर विद्वान शायद कभी एकमत नहीं हो सकते क्योकि दोनो पक्षो के तर्कों मे आशिक सत्यता वतमान है। किंतु यह तो मानना ही पड़गा कि तकनीकी का राष्ट्रीय शक्ति से गहरा सबध है। जिस देश के जनजीवन मे तकनीकी देनो की बहुतायत रहती है वहां का जनजीवन स्तर ऊचा रहता है तथा जिन राष्ट्रो के सैनिक उत्कृष्ट तकनीकी शस्त्रो से सुसज्जित रहते हैं वे उन राष्ट्रो की अपेक्षा शक्तिशाली होते हैं जिन राष्ट्रो के पास ये नहीं होते। तकनीकी हथियारो को अपनाने मे पहल करने वाले राष्ट्र उन राष्ट्रों की अपेक्षा लाभ मे रहते हैं जो इन अस्त्रो का प्रयोग अथवा इनसे बचाव के उपायों को काम मे लाना बाद मे जाकर सीखते हैं। उदाहरण के लिए प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी ने ब्रिटेन के विरुद्ध (Submarines) का प्रयोग करने मे पहल करके शत्रु को नीचा दिखाया। इसी प्रकार युद्ध के अन्तिम काल मे ब्रिटेन द्वारा प्रयुक्त टैंकों ने मित्र राष्ट्रो की विजय को सम्भव बनाया। द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ मे जर्मनी तथा जापान ने युद्ध की जिस चाल को अपनाया उसके अनुसार उन्होने अपनी वायु सेना को थल एव जल सेना का सहकारी बना दिया। इस प्रक्रिया द्वारा इन देशों को सर्वोच्चता प्राप्त हुई। द्वितीय विश्व युद्ध को अन्तिम पृष्ठ पर अणुबम की मार से जब जापान को दबा दिया गया तो अमरीका को एक सैनिक शक्ति के रूप मे सर्वोच्चता प्राप्त हो गई क्योंकि अणु शक्ति पर उसका एकाधिकार था।

वर्तमान भारत-पाक संघर्ष के समय तकनीकी का एक महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह माना जाता है कि पाकिस्तान को अमेरिका से प्राप्त टैंकों के ऊपर बड़ा भरोसा था और इसी भरोसे के आधार पर उसने दिल्ली के लाल किले पर पाकिस्तानी झंडा फहराने का शेखचिल्ली जैसा दिवास्वप्न देखा था। किन्तु भारतीय सेनायें इन टैंकों की शक्ति से परिचित थीं और इनके प्रतिकार स्वरूप सारे प्रबन्ध कर लिये गये थे। फलतः पाकिस्तान को युद्ध के मैदान में पीठ दिखानी पड़ी। भारतीय वायु सेना ने भी थल सेना के साथ जिस सहयोग से कार्य किया, उसने भी शत्रु के पैर उखाड़ दिये।

तकनीकी का विश्व की राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि एक देश की शक्ति को निर्धारित करने में इसका बड़ा हाथ रहता है। शक्ति एक देश को सुरक्षा की भावना प्रदान करती है। एक देश के निवासियों की सुरक्षा को सुदृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि उस देश की सेना को तकनीकी तरीकों से सुसज्जित किया जाये।

तकनीकी परिवर्तन की प्रक्रिया को हम आविष्कार, विकास एवं प्रयोग के स्तरों में विभाजित कर सकते हैं। कोई भी आविष्कार एक निश्चित समय और निश्चित स्थान पर होता है। वह आविष्कार स्वतन्त्र रूप से उसी समय अन्य स्थानों पर हो यह जरूरी नहीं है। आविष्कार एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। इस प्रक्रिया में पूर्व ज्ञान को ऐसी भौतिक स्थितियाँ बनाने में प्रयुक्त किया जाता है जो समाज के द्वारा आवश्यक समझी गई हैं। इस प्रकार आविष्कार तकनीकी सम्भावना और सामाजिक आवश्यकता का योग है। उदाहरण के लिए हवाई जहाज का आविष्कार उस समय तक नहीं हो सकता था जब तक शक्ति के पर्याप्त हल्के स्रोत का और आन्तरिक कम्बस्टन इंजिन का आविष्कार न हो जाता और रेल, मोटर आदि यातायात के साधनों की भाँति इस माँग को बढ़ावा न देती कि अधिक द्रुतगति का यातायात जरूरी है। जब कभी आविष्कार सामाजिक माँग से पहले ही कर लिये जाते हैं तो वे वर्षों तक यूँ ही पड़े रहते हैं। वर्तमान तकनीकी में जिन लोगों के हित उलझे हुए हैं वे भी आविष्कार का विरोध करते हैं। यह कहा जाता है कि चाहे सामाजिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो किन्तु आविष्कार अपने आप में एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें आविष्कार कर्ता अब तक के बिखरे हुए तत्वों को नए संयोग में मिला देता है। जब एक बार आविष्कार हो जाता है, और उसका प्रयोग आरम्भ हो जाता है तो संस्कृति और समाज के अन्य तत्वों को उसके अनुरूप बनाने की समस्या उठ खड़ी होती है। आवि-

प्रकारो के सामाजिक कारण होते हैं। उसी तरह सामाजिक परिणाम भी होते हैं।

तकनीकी की प्रकृति और प्रभाव
(The Nature and Influence of Technology)

तकनीकी को संस्कृति का एकीकृत तत्व माना जाता है। एक समूह की नैतिक और भौतिक संस्कृति उसके तकनीकी प्रयोग करने तथा आविष्कार करने की क्षमता को प्रभावित करती है। दूसरी ओर तकनीकी आविष्कारों के परिचय से सम्पूर्ण संस्कृति में परिवर्तन आ जाते हैं। संस्कृति के भौतिक एवं नैतिक पहलू अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। तकनीकी के द्वारा समाज की मूल्य व्यवस्था को प्रभावित किया जाता है। मानव सभ्यता पाषाण युग, चारागाह युग, कृषि युग, ताम्बा युग, लोहा युग, आदि में भिन्न-भिन्न सामाजिक मूल्यों को अपनाती रही है। लिखने के तरीके और सामूहिक सुधार के तरीकों को सामाजिक प्रगति का स्त्रीकरण करने में प्रमुख माना जाता है। यातायात के क्षेत्र में बैलगाड़ी, घोड़ा, पालकी, रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि साधन संस्कृति को प्रभावित करते रहे हैं। इसी प्रकार मानव शक्ति के अतिरिक्त शक्ति के अन्य रूपों के आविष्कार ने सभ्यता को भौतिक रूप से प्रभावित किया है।

कार्ल मार्क्स का कहना था कि तकनीकी अर्थ व्यवस्था के रूप को ढालने में अत्यन्त प्रभावशील है। अर्थ व्यवस्था के द्वारा धार्मिक, राजनैतिक नैतिक, सैद्धान्तिक आदि क्षेत्रों में समाज के जीवन को प्रभावित किया जाता है। इस प्रकार कार्ल मार्क्स ने भौतिक प्रगति के प्रभाव का महत्वपूर्ण बताते हुए सुझाया कि व्यक्ति को जैसा वातावरण दिया जायेगा वैसा ही बन जाएगा। इतिहासकारों ने युद्ध, तकनीकी एवं नैतिकता के पारस्परिक प्रभावों का वर्णन किया है। युद्ध के द्वारा तकनीकी के विकास को प्रोत्साहन दिया जाता है। किन्तु यह मूल विज्ञान की प्रगति को रोक देता है जिससे नई तकनीकी जन्म लेती है। तकनीकी प्रगति के द्वारा अतिरिक्त उत्पादन करके युद्ध को प्रोत्साहन भी दिया जा सकता है और यह शान्ति व नैतिक प्रगति के लिए उपयुक्त परिस्थितियां भी तैयार कर सकती है। एक देश की नैतिक स्थिति वहां युद्ध और आविष्कार दोनों की स्थिति को प्रभावित करती है।

तकनीकी का सभी संस्कृतियों पर एक सा प्रभाव नहीं होता। कुछ संस्कृतियां नए आविष्कारों को अपना कर छिन्न-भिन्न हो सकती हैं। इसलिए

वे उनको अपनाने से कतरायेंगी। दूसरी ओर आधुनिक सभ्यतायें आसानी से नई तकनीकी को ग्रहण कर लेती हैं यद्यपि संस्कृति के सभी पहलुओं पर इसका प्रभाव आगे चल कर गहरा होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि तकनीकी हल्के-फुल्के प्रयास नहीं है जिनसे कि सभी संस्कृतियां लाभान्वित हो सकें और जो कहीं भी जन्म ले सकें तथा आसानी से और तुरन्त बढ़ाई जा सकें। इसके विपरीत तकनीकी संस्कृति के सम्पूर्ण रूप से सम्बन्ध रखती है और इसका जन्म, प्रसार एवं प्रभाव उस संस्कृति के सन्दर्भ में ही समझा जाता है जहां जन्मी है और जहां इसका प्रयोग किया जा रहा है। यह सच है कि एक आविष्कार को सामाजिक मूल्यों को प्रोत्साहित करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है और उनको मिटाने के लिए भी, किन्तु फिर भी कुछ आविष्कार प्रकृति से ही सामाजिक मूल्यों को प्रोत्साहन देने वाले होते हैं और अन्य आविष्कार उन मूल्यों को मिटाने के काम करते हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि अणु शक्ति एवं अणु आयुधों का आविष्कार एक अनैतिक कार्य है। उनको यह डर है कि यदि ऐसे हथियार रहे तो इनका प्रयोग भी किया जाएगा और इस प्रयोग के द्वारा सम्पूर्ण मानव सभ्यता समाप्त हो सकती है। जब हम तकनीकी और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्धों को मान कर चलते हैं तो हम स्पष्ट रूप से तकनीकी की नैतिक निष्पक्षता को अस्वीकार करते हैं। यह सच है कि तकनीकी नैतिक रूप से तटस्थ नहीं होती। एक अनुशासन के रूप में तकनीकी नैतिक मापदण्डों और मूल्यों पर अपने प्रभाव को नहीं भुला सकती। इसे सभ्यता पर अपने तात्कालिक एवं अन्तिम परिणामों का ध्यान रखना चाहिए।

तकनीकी के सम्बन्ध में एक अन्य उल्लेखनीय बात यह है कि इसका प्रयोग इसके उद्देश्य से बाहर भी किया जा सकता है। आज के युग में प्रसार के साधनों का इतना विकास हो चुका है कि पर्याप्त गोपनीयता रखते हुए भी तकनीकी आविष्कार एक देश से शीघ्र ही दूसरे देशों में फैल जाते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका ने अणुबम बनाया और पर्याप्त प्रयास किया कि वह उसे गुप्त रखे, किन्तु सोवियत संघ शीघ्र ही इस तकनीक को अपनाने में सफल हो गया। वर्तमान समय इस तथ्य को ध्यान में रख कर अधिकांश देश यह चाहते हैं कि संसार में स्थित तकनीकी अन्तर को कम किया जाए। संयुक्त राज्य अमरीका और संयुक्त राष्ट्रसंघ तकनीकी सहायता कार्यक्रमों द्वारा राज्यों के बीच स्थित तकनीकी अन्तरों को यथासम्भव शीघ्र दूर करना चाहते हैं।

विज्ञान और तकनीकी का इतिहास एकरसता और निरन्तरता के साथ आगे बढ़ता रहा है। एक बार जो आविष्कार कर दिए जाते हैं उनको बाद में

भुलाया नहीं जाता। वे मनुष्य जीवन के अंग बन जाते हैं। यह समझना बड़ा मुश्किल है कि मनुष्य अणुबम या हवाई जहाज से कैसे छुटकारा पा सकता है। अनेक लोग वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकासों की आलोचना करते हैं, किंतु फिर भी इनका प्रयोग करने से अपने को तथा अपनी सन्तान को रोक नहीं सकते। यदि हम तकनीकी दृष्टिकोण से मानव इतिहास को लिखें तो यह इतिहास उतार-चढ़ाव का इतिहास नहीं होगा वरन् यह निरन्तर प्रगति का इतिहास है। राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक और कलात्मक इतिहास के उतार-चढ़ाव कभी कभी तकनीकी के इतिहास की गति को रोक देते हैं किंतु वे उसे पीछे नहीं ढकेल सकते। ऐसा नहीं होता कि व्यक्ति ने जो आविष्कार किए हैं वह उनको भूल जाए। आधुनिक युद्ध की विध्वंसकारी एवं सार्वभौमिक प्रकृति के कारण यह सम्भावना होने लगी है कि युद्ध अब तक की तकनीकी प्रगति को नष्ट करके मनुष्य को सभ्यता के प्रथम सोपान पर लौटा देगा। यह निराशापूर्ण दृष्टिकोण अणुबम के तकनीकी आलोचकों द्वारा प्रकट किया गया।

तकनीकी और वैज्ञानिक विकास का वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। कुछ लोगों का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मन-मुटाव बढ़ते जायेंगे और वे इतने उच्च स्तर पर पहुंच जाएंगे कि वहां अन्तर्राष्ट्रीय नियमन जरूरी तथा व्यावहारिक बन जायगा। जैसे बढ़ते हुए मन-मुटाव एवं बढ़ते हुए नियन्त्रण को प्रगति की सामान्य विशेषता समझा जाता है। मनुष्य जाति रीति-रिवाजों से पूर्ण प्रारम्भिक समाजों से निकल कर मतों से निर्देशित सभ्य समाजों में इसी विशेषता के कारण आ पाई। उच्च खिंचाव को प्रायः ऐसी स्थिति समझा जाता है जिसे कि मिटाया जा सके, किन्तु जब यह खिंचाव अतिशय की स्थिति में पहुंच जाता है तो वह युद्धों को जन्म देता है और यह युद्ध आज की स्थिति में सभ्यता को नष्ट कर देंगे। दूसरी ओर अत्यन्त कम खिंचाव व्यक्ति में आलस्य और निष्क्रियता ला देता है जो सभ्यता के विकास का एक रोड़ा है। उदाहरण के लिए एक बाइलर के उच्च दबाव को यदि नियन्त्रित एवं निर्देशित कर दिया जाये तो यह मनुष्य के लिए मूल्यवान साबित हो सकता है। उसी प्रकार यदि उच्च खिंचाव (High tension) को सामाजिक रूप से नियन्त्रित एवं निर्देशित कर दिया जाये तो यह प्रगति का जनक बन सकता है। इस प्रकार उच्च खिंचाव युद्ध एवं प्रगति दोनों का कारण बन सकता है। परिणाम दो में से क्या होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि नियन्त्रण

की दिशायें एवं प्रभाव क्या है। सामाजिक नियन्त्रण एवं निर्देशन संस्थाओं, कानूनों एवं संगठनों के माध्यम से किया जाना है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विवाद राष्ट्रों के बीच की सीमाओं पर जन्म लेता है तथा दोनों पक्षों की बढ़ती हुई शक्ति के अनुपात में बढ़ता जाता है। डि. ओगबर्न (Ogburn) का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय विवाद राजनैतिक एवं प्रशासकीय सीमाओं की कठोरता से विकसित होता है तथा परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति समायोजन न हो सकने के कारण बढ़ जाता है। परिवर्तित परिस्थिति का अर्थ उस दबाव से है जो प्रत्येक राज्य द्वारा सामान्य सीमाओं पर डाला जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों से राहत पाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की स्थापना करना जरूरी है ताकि सभी राष्ट्रों की शक्ति को सामान्य लक्ष्य के लिए प्रयुक्त किया जा सके। सघर्षपूर्ण साम्राज्यवादी दावों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना की जाये तथा राजनैतिक सीमाओं के पार भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाये। अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों पर पड़ने वाले तकनीकी के प्रभाव को जानने के लिए यह जरूरी है कि राज्य, राज्य व्यवस्था, विश्व की अर्थ व्यवस्था एवं विश्व राजनीति पर तकनीकी विकास के परिणाम को जाना जाये।

विश्व राजनीति और तकनीकी प्रगति
(World Affairs and the Progress of Technology)

तकनीकी विकास विश्व राजनीति को चार प्रकार से प्रभावित करता है। यह राज्य के रूप को बदल देता है, राज्य व्यवस्था में परिवर्तन लाता है, विश्व की अर्थव्यवस्था को परिवर्तित करता है तथा विश्व सरकार की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों को प्रभावित करता है।

(1) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारकों का कहना है कि इस बात में कोई सदेह नहीं किया जा सकता कि तकनीकी विकास एक राज्य के क्षेत्र एवं जनसंख्या को प्रभावित करता है। जिस समय संचार साधन पर्याप्त नहीं थे तथा आवागमन के साधनों का भी विकास नहीं हो पाया था उस समय व्यक्ति कुछ सौ वर्ग मील के प्रदेश में सामूहिक रूप से रहते थे। इनकी संख्या भी अधिक नहीं होती थी। आवागमन के साधनों के विकास ने लोगों को अधिक से अधिक क्षेत्र पर नियन्त्रण करने की ओर प्रेरित किया। तकनीक आविष्कारों से राज्य के बड़े आकार एवं जनसंख्या से मिलने का प्रयास किया गया। आवागमन व संचार के साधनों के विकास ने साम्राज्यों का आकार बढ़ा दिया।

तकनीकी विकास ने राज्यों के केन्द्रीयकरण एवं ठोसपन को बढ़ा दिया है। द्रुतगामी सचार के माध्यम से कूटनीतिज्ञ अपने विदेश कार्यालय से सीधा सम्पर्क बनाए रख सकते हैं और इस प्रकार विदेश नीति निर्माण का कार्य सरकार में केन्द्रित हो सकता है। दुनिया के प्रत्येक भाग में सरकार की नीति को दूसरे भागों से सम्बन्धित किया जा सकता है। एक उपयुक्त नीति को अपनाने के लिए आज विश्व भर के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों को मिला कर देखा जा सकता है तथा अपनाई गई नीति को साकार करने के लिए सैनिक, आर्थिक, प्रचार एवं कूटनीतिक साधनों का सहारा लिया जा सकता है। सचार के साधनों के क्षेत्र में तकनीकी प्रसार ने तथा सैनिक प्रसाधनों के जन्म ने घरेलू शान्ति की सम्भावनाओं को कम कर दिया है। साथ ही घरेलू प्रचार की प्रभावशीलता को बढ़ा दिया है तथा जनता अपनी सरकार पर अधिक से अधिक आश्रित होती जा रही है। इस प्रकार विदेश नीति एवं घरेलू नीति के व्यवहार में अधिक राष्ट्रीय एकता एवं ठोसपन सम्भव हो पाता है। तकनीकी विकास ने शक्ति के नये स्रोतों का आविष्कार किया है, उत्पादन के नये साधन दिये हैं तथा जनसंख्या नियन्त्रण के कार्यक्रम को प्रभावशील बनाया है, इन सबके कारण सामाजिक शक्ति में वृद्धि हुई है तथा रहन-सहन का स्तर ऊँचा हुआ है।

अधिक आकार वाले, शक्ति वाले एवं केन्द्रीयकरण वाले राज्य अधिक आशावादी होते हैं, अधिक विश्वासपूर्ण होते हैं तथा अधिक सम्प्रभु होते हैं। ऐसे राज्य अपने आपको अधिक शक्तिशाली एवं आत्मनिर्भर अनुभव करते हैं और इस प्रकार वे आक्रमणकारी बन जाते हैं। तकनीकी उन्नति राज्यों को शक्तिशाली एवं खतरनाक बना देती है।

(ii) तकनीकी विकास राज्यों की शक्ति स्थिति में परिवर्तन ला देता है। जब वायुयानों का विकास हो गया तो ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति पर इसका भारी प्रभाव पड़ा क्योंकि यह समुद्री सचार व्यवस्था पर आश्रित था तथा एक शक्तिशाली नौसेना का स्वामी होने के कारण उसे किसी के आक्रमण का भय नहीं था किन्तु वायुयानों के विकास ने उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रथम श्रेणी की शक्ति न रहने दिया। यदि विश्व इतिहास का ऊपरी तौर पर अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि प्रारम्भ में शक्ति उन देशों के हाथों में थी जो घोड़ों की पर्याप्त सख्या रखते थे एवं कृषि कार्य में संलग्न थे। मध्य युग में शक्ति का केन्द्र उत्तरी योरोप, पश्चिमी एशिया, भारत एवं चीन के कृषि क्षेत्र बन गये। पुनर्जागृति के बाद शक्ति उन देशों

के हाथ में आ गई जो विशाल जहाजी बेड़े के स्वामी थे। बाद में बन्दूक के पाउडर एवं छापाखाने के आविष्कार ने सरदारों की शक्ति को सामन्तों की शक्ति से अधिक बढ़ा दिया। लोहा और कोयले पर ग्रेट ब्रिटेन का नियंत्रण होने के कारण वह मशीन क्रान्ति को पहल करने लगा और उसने योरोप में शक्ति सन्तुलन स्थापित किया तथा १९वीं शताब्दी में गैर योरोपीय देशों पर प्रभुत्व रखा। वायुयान के विकास के कारण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ प्रभावशाली शक्ति बन गये।

तकनीकी आविष्कारों ने राज्यों की शक्ति स्थिति में जो परिवर्तन किया उनके अतिरिक्त इसने छोटे व बड़े राज्यों के बीच स्थित शक्ति के अन्तरों को भी अधिक बढ़ा दिया और इस प्रकार सभी राज्यों की सुरक्षा की शक्ति को घटा दिया। केवल वे राज्य ही आधुनिक युद्ध के उपकरण तैयार कर सकते हैं जिनकी जनसंख्या अधिक है तथा उद्योग धन्धे उच्च स्तर पर हैं। एक राज्य या क्षेत्र जितना छोटा होता है वह अपनी जनसंख्या एवं साधनों का केन्द्रीयकरण उतना ही कम कर पाता है और इस प्रकार वह वायु आक्रमण का शिकार बड़ी जल्दी ही बन सकता है।

तकनीकी विकास सामान्य रूप से एक देश की सुरक्षात्मक स्थिति की अपेक्षा आक्रमणकारी शक्ति को बढ़ा देता है। इस प्रकार सभी राज्यों की आक्रमण करने की शक्ति तथा विजय प्राप्त करने की क्षमता बढ़ जाती है। सैनिक क्षेत्र में किए गये आविष्कारों ने हथियारों को गतिशील बना दिया है और इस प्रकार आक्रमणकारी को लाभ पहुँचाया है। शस्त्रों की विध्वंसकारी शक्ति बड़ी तीव्र गति से बढ़ गई है। तलवार और धनुष-बाण के युद्ध में एक व्यक्ति एक ही व्यक्ति को मार पाता था। राइफल के आविष्कार के बाद शत्रु को विजेता की अपेक्षा अधिक हानि होने लगी। अणु बम का प्रयोग होने पर तो संहार का क्षेत्र और भी अधिक व्यापक हो गया। युद्ध के औद्योगीकरण ने लोगों के संहार की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा दिया है।

आज जो टैंक, जेट विमान, हाइड्रोजन बम आदि देखने में आते हैं उनका उदाहरण युद्ध के इतिहास में कहीं भी नहीं मिलता। आज आक्रान्ता यह नहीं देखता कि शत्रु की किलेबन्दी कैसी है अथवा उसके सुरक्षात्मक हथियार कितने प्रभावशाली हैं वरन् वह यह देखता है कि शत्रु के विरोध की क्षमता कितनी है अर्थात् वह विनाश के उत्तर में कितना विध्वंस करने की क्षमता रखता है। कुछ आशावादी तकनीकी विशेषज्ञ इस बात पर जोर

देते है कि हवाई अणु आक्रमण के विरुद्ध रक्षा के लिए राडार सचेतक व्यवस्था एव राज्य के चारो ओर रक्षायानो की व्यवस्था की जा सकती है। किन्तु दूसरी ओर राजनीतिज्ञों का यह विचार है कि इस व्यवस्था मे खर्च अधिक होना है और सीमाओं की लम्बाई और जेट विमानों की गति व ऊचाई को देखते हुए यह व्यवस्था अधिक प्रभावशाली नही दिखती ।

तकनीकी विकास ने युद्ध के रूप एव राज्यो के शक्ति स्तर को जिस हालत मे ला दिया है वहा शक्ति सतुलन मे स्थायित्व नही रहा है। इस प्रकार यहाँ एक विरोधाभास सा नजर आता है कि एक ओर तो राज्य अपने आपको अधिक शक्तिशाली, स्वतन्त्र एव सम्प्रभु अनुभव करते हैं। दूसरी ओर शक्ति का सतुलन बडी शीघ्रता से बदलता जाता है । सभी राज्य आक्रमण करने म सक्षम हो गये हैं । युद्ध के परिणाम सभ्यता के लिये भयानक हो गये हैं तथा अन्तिम परिणाम तो और भी अधिक समस्याजनक है । राज्य यद्यपि अपने आपको सम्प्रभु मानते हैं किन्तु वे असल मे बहुत कम सम्प्रभुता सम्पन्न हैं ।

(iii) जन साधारण की दृष्टि से तकनीकी विकास जीवन स्तर को ऊचा उठाने की आशाओं को बढा देता है। कृषि एव उद्योगों में होने वाले आविष्कार प्रकृति पर व्यक्ति के नियत्रण को बढा देते हैं तथा जन्म नियन्त्रण, दवाई एव सफाई के क्षेत्र मे होने वाले आविष्कार उसे जनसख्या के नियत्रण की क्षमता देते हैं । इस प्रकार जनसख्या एव भोजन के अनुपात को विनियमित किया जा सकता है तथा सभी लोग अधिक सम्पन्न हो सकते हैं । जो देश इन आविष्कारो का प्रयोग करता है उसकी शक्ति एव आशाए बढ जाती हैं । किन्तु ये सभी लाभ स्थायी शक्ति सतुलन के अभाव मे रहने वाली असुरक्षा द्वारा महत्वहीन बना दिये जाते हैं क्योंकि सैनिक तैयारी मे भारी व्यय करना होता है। तकनीकी विकास ने विश्वव्यापी आर्थिक एव सामाजिक सहयोग की भावनायें बढा दी है ।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे तीव्र गति से बदलती हुई शक्ति स्थिति से उत्पन्न राजनैतिक असुरक्षा की भावना, आक्रमण करने की सामान्य शक्ति तथा युद्ध मे आक्रमणकारी होने के लाभ आदि बातों ने मिल कर शक्ति को विश्व की मुख्य आवश्यकता बना दिया है । इसके अतिरिक्त तकनीकी विकास के साथ साथ विश्वव्यापी आर्थिक एव सामाजिक सहयोग की भावना भी परिपक्व होती है तथा शक्ति की स्थापना के लिए एक सार्वभौमिक सगठन की जरूरत को महसूस किया जाता है । इन दिशाओं मे किये जाने वाले आन्दोलनो को राष्ट्रीय राज्यो के उनकी सम्प्रभुता मे आत्मविश्वास एव उनकी

जनता की राष्ट्रीय भावनाओं द्वारा मन्द बना दिया जाता है। आज विकास ने प्रत्येक राज्य के सामने दो विकल्प उपस्थित कर दिये हैं। वह चाहे तो अपनी शक्ति स्थिति को सशक्त बनाने के लिए प्रयास करे ताकि आक्रमण को रोक सकें [redacted]र यदि युद्ध छिड़ जाये तो वह जीत सके। इस मार्ग को अपनाने के कारण खिंचाव बढ़ेगा और शक्ति की तुल्यभारता और भी अधिक अस्थायी बन जायेगी। राज्य के सामने एक अन्य विकल्प यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में अपना विश्वास जाहिर करे तथा सामूहिक सुरक्षा के विकास का प्रयास करे। इस मार्ग को अपनाने में आशंका यह है कि दूसरे राज्य सहयोग करने से मना करके सामूहिक सुरक्षा के विकास में रोक लगा देंगे। तकनीकी विकास ने यह जरूरी बना दिया है कि या तो दुनिया एक हो जाये अथवा वह नहीं रहेगी। जब तक दुनिया के सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सफल बनाने के लिए दिल से प्रयास नहीं करते तब तक 'एक विश्व' भी बहुत कम सुरक्षा प्रदान करेगा, किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार यह कम सुरक्षा भी वर्तमान स्थिति से तो अच्छी ही होगी; क्योंकि अब प्रत्येक राज्य अपनी सुरक्षा का प्रयास स्वयं ही करता है किन्तु असल में कोई भी राज्य सुरक्षित नहीं है।

इस प्रकार तकनीकी का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। पेडिलफोर्ड तथा लिंकन ने एक राष्ट्र के शेष विश्व के साथ सम्बन्धों पर पड़ने वाले मुख्य तकनीकी प्रभावों के वर्णन को पांच श्रेणियों में विभाजित किया है। ये निम्न प्रकार हैं—

प्रथम, तकनीकी के कारण एक देश अपनी मान्यताओं एवं लक्ष्यों को बदल लेता है। वैसे तकनीकी प्रगति के महत्व को तत्काल ही नहीं समझा जाता। संयुक्त राज्य अमरीका ने जिस समय अपनी पार्थक्यवादी नीति को छोड़ा उस समय नई तकनीकी के कारण देश की आक्रमण की क्षमता पर्याप्त बढ़ चुकी थी। तकनीकी ने सम्पूर्ण युद्ध को भयंकर बना दिया है इसलिए आज युद्ध को रोकना एक प्रमुख लक्ष्य बन गया है। आज तकनीकी ने दुनिया को एक बना दिया है। यह 'एक विश्व' उन आदर्शवादी स्वप्न द्रष्टाओं की कल्पना से भिन्न है जो विश्व शान्ति के लिए विश्व सरकार की स्थापना करना चाहते थे। आज की दुनिया इस अर्थ में एक है कि संचार के साधन विकसित हो चुके हैं, देशों की पराश्रयता बढ़ चुकी है और इसलिए संसार के किसी भी भाग में होने वाला छोटा-मोटा संघर्ष भी संसार के सभी देशों की रुचि का विषय बन जाता है। इस स्थिति में विश्व के राज्य अपना हित व्यापक बना लेते हैं और कभी कभी तो यह व्यापकता सम्पूर्ण धरती पर फैल जाती है।

तकनीकी के प्रभाव से हालत यह बन गई है कि कोई भी देश अपनी इच्छाओं को केवल शक्ति के माध्यम से क्रियान्वित नहीं कर सकता और न ही वह यह सोच सकता है कि पर्याप्त दूरी पर की समस्याओं का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरे, तकनीकी द्वारा अन्य विषयगत तत्वों जैसे आर्थिक तत्व, भौगोलिक तत्व एवं जनसंख्या आदि को भी प्रभावित किया जाता है। उदाहरण के लिए तेल का उत्पादन करने वाले क्षेत्रों को परम्परागत रूप से रणकौशल की दृष्टि से महत्व का समझा जाता था किन्तु अणु शक्ति का प्रसार हो जाने के बाद इन क्षेत्रों को दी जाने वाली प्राथमिकता घट सकती है। दूरी का भौगोलिक तत्व अपने परम्परागत अर्थ का बहुत कुछ भाग खो चुका है। आज खबर, समाचार एवं फोटो आदि को बड़ी शीघ्रता के साथ प्रसारित किया जा सकता है। कोई भी व्यक्ति कुछ ही समय में दुनिया के किसी कोने में पहुंच सकता है। जिन समुद्रों के द्वारा पहले दो देशों के बीच स्थापना के मार्ग में एक बाधा का काम किया जाता था वे ही समुद्र आज इस सम्पर्क को बढ़ाने व बन्धन को अधिक गहरा करने के प्रतीक बन गये हैं। आज 'टाक्यो' चीन की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमरीका के अधिक नजदीक है।

यदि हम जनसंख्या एवं तकनीकी के मध्य स्थित सम्बन्धों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि जनसंख्या का अर्थ एक महत्व ही उस समय होता है जबकि वह तकनीकी पर अधिकार रखती है। इस अधिकार को प्रति व्यक्ति के हिसाब से राष्ट्रीय उत्पादन की दर का नापा जा सकता है। केवल मात्र जनसंख्या अपनी सीमाओं से बाहर कोई प्रभाव नहीं रखती। इसी लिए जिन देशों को महाशक्ति बनना होता है वे तकनीकी की दौड़ में आगे बढ़ते हैं।

तीसरे, तकनीकी विदेश नीति की विषयवस्तु को प्रभावित करती है तथा इसके द्वारा समर्थित कार्यक्रमों पर भी प्रभाव डालती है। तकनीकी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय समन्वय किया जाता है, तकनीकी सहायता कार्यक्रम चलते रहते हैं, शस्त्रों के नियन्त्रण पर अधिक जोर दिया जाता है, तकनीकी ज्ञान का प्रसार करना होता है, बाह्य अन्तरिक्ष एवं संचार स्थलों को नियमित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास किया जाता है, तकनीकी आदान-प्रदान के द्वारा विदेशी मुद्रा कमाई जाती है, इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले ये विभिन्न कार्य तकनीकी से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।

चौथे तकनीकी राष्ट्रीय निर्माण में एक प्रमुख साधन है। यह औद्योगीकरण दशा को वह सामर्थ्य देता है जिसके आधार पर कि वे सम्पत्ति

की रचना कर सकें तथा उसका निर्यात कर सकें। यह अर्धविकसित देशों को पूंजी जोड़ने की सामर्थ्य प्रदान करता है। विश्व के देश राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय तकनीकी विशेषज्ञों का आदान प्रदान करते हैं और इस प्रकार मानवीय एवं लाभ के उद्देश्यों को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय तकनीकी क्रियायें सरकारी एवं गैर-सरकारी स्तरों पर विकसित होने लगती हैं। जो देश विकास की दिशा में अग्रसर हो रहे हैं वे राजनैतिक एवं सामाजिक प्रगति के अतिरिक्त तकनीकी के क्षेत्र में बेतहाशा दौड़ रहे हैं।

पांचवें, तकनीकी का विदेश नीति के संचालन के तरीकों पर क्रान्तिकारी रूप से प्रभाव पड़ा है। पहले जो कूटनीतिक तरीके काम में लाये जाते थे वे आज असामयिक बन गये हैं। रेडियो तथा टेलीविजन पर किया गया प्रचार, तकनीकी सहायता एवं वैज्ञानिक आदान-प्रदान, अन्तरिक्ष एवं अन्य प्रकार के कार्यक्रम आदि तरीकों ने विदेश नीति के आचरण का रूप ले लिया है। संचार साधनों की शक्ति में जो वृद्धि हुई है वह सचमुच एक क्रान्तिकारी परिवर्तन है।

यद्यपि तकनीकी का पर्याप्त नैतिक प्रभाव होता है और वह एक प्रकार से स्पष्ट भी है किन्तु फिर भी विश्व राजनीति की घटनाओं के विकास के पीछे कोई स्वीकृत बौद्धिक औचित्य नहीं है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि तकनीकी एक साधन होती है तथा साध्य नहीं होती। इसका स्वयं का कोई अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ नहीं होता किन्तु इसका मूल्यांकन तो अर्थशास्त्र, सुरक्षा एवं अन्य तत्वों के सदर्भ में करना होता है। वैसे यह मूल्यांकन अंतिम रूप से एक राजनैतिक निर्णय होता है। यह हो सकता है कि राजनीतिज्ञ अपने निर्णयों को लेने की दृष्टि से तकनीकी की पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लें किन्तु किसी व्यक्ति के एक अच्छा तकनीकी विशेषज्ञ होने का यह अर्थ नहीं होता कि वह एक कुशल राजनीतिज्ञ भी होगा।

प्रायोगिक विज्ञान का ज्ञान आज राज्यों का एक वांछनीय साधन बन गया है। मार्शल योजना, संयुक्त राज्य सहायता कार्यक्रम, संयुक्त राष्ट्र तकनीकी परामर्श कार्यक्रम, विदेशों में सोवियत तकनीकी विशेषज्ञ, अर्ध विकसित देशों के विद्यार्थियों को शिक्षा आदि सभी कार्यक्रम ऐसे होते हैं जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय हितों की साधना करना होता है। कुछ तकनीकी ज्ञान तुलनात्मक रूप से सरल एवं कम खर्चीला होता है, किन्तु अनेक तकनीकी ज्ञान अत्यन्त जटिल होते हैं तथा उनको केवल बड़ी औद्योगीकृत शक्तियों द्वारा ही अपनाया जा सकता है। नयी-नयी तकनीकी से काम लेने के लिए तथा पूंजीगत व्यय के

लिए दीर्घकालीन कार्यक्रम की आवश्यकता होती है किन्तु घरेलू राजनीति के प्रभाव के कारण देश केवल अल्पकालीन कार्यक्रम ही अपना पाता है।

यदि हम मनुष्य शक्ति एव साधन स्रोतो की दृष्टि से विचार करें तो पायेंगे कि आधुनिक तकनीकी पर्याप्त जटिल तथा खर्चीली है। जो देश इस खर्च को वहन करने के लिए तैयार रहता है केवल वही तकनीकी क्षेत्र मे आगे बढ सकता है। तकनीकी आविष्कारो को उपयोग मे लाते समय उनको वैज्ञानिक ज्ञान, तकनीकी कुशलता, व्यापक शोध कार्य, सुरक्षित पूंजीगत कोष आदि से मिलाना होता है। ये सारी बातें बडे तथा विकसित देशो मे स्थित बडे निगमो द्वारा ही उपलब्ध की जा सकती हैं।

आजकल अनेक प्रकार की तकनीकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर रही है। इनका अलग अलग विस्तार के साथ अध्ययन करने की अपेक्षा यहा केवल यही कहना पर्याप्त रहेगा कि तकनीकी एक महत्वपूर्ण तत्व है तथा इसका महत्व धीरे-धीरे बढता ही जा रहा है।

तकनीकी के मुख्य प्रकार व उनका महत्व
(Main Types of Technology and Their Importance)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाले तकनीकी के रूपो मे उल्लेखनीय हैं, सचार, औद्योगिक तकनीकी एव सैनिक तकनीकी। इनके अतिरिक्त भी तकनीकी के अन्य रूप विश्व राजनीति पर अपना प्रसर रखते हैं। स्वास्थ्य विज्ञानो का जनसख्या के विस्तार पर पर्याप्त प्रभाव पडता है और इस प्रकार यह जनसख्या नियत्रण एव भोजन की समस्याओ को अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज की मुख्य समस्याए बना देती है। तकनीकी के जिन दो प्रकारो को भविष्य की विश्व घटनाओ की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है वे हैं—कृषि एव जनसख्या नियत्रण। वर्तमान काल मे सामाजिक एव व्यावहारिक विज्ञानों को भी चाहिए कि वे बदलते हुए समय की आवश्यकताओ को देख कर उनके अनुरूप बनने का प्रयास करें।

(1) संचार के साधन (The Means of Communication)—आज के युग मे वायु मार्ग के यातायात एव विद्युत मार्गी सचार व प्रसारण आदि के क्षेत्र मे भारी प्रगति हो गयी है। सचार साधनो के द्वारा शक्ति, कूटनीति एव प्रचार के सामयिक प्रयोग पर विशेष प्रभाव डाला जाता है। यातायात के क्षेत्र में होने वाले नये विकासों ने नीति निर्माताओं को आश्चर्य में डाल दिया है। एक स्थान पर घटने वाली घटनाओ की सूचना शीघ्र ही

दूरस्थ देश तक पहुँच जाती है और उस देश को अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में उस सूचना के आधार पर कुछ निर्णय लेने होते हैं।

संचार एवं यातायात के साधनों के विकास के कारण ही संयुक्त राज्य अमरीका जैसे देश के लिए यह सम्भव हो जाता है कि वह पर्याप्त दूरी पर स्थित देशों की समस्याओं में सक्रिय रूप से उलझ सके, जैसे—कोरिया, उत्तरी अफ्रीका, वियतनाम आदि। संचार साधनों एवं यातायात के साधनों के द्रुतगामी हो जाने के कारण एक देश तक शीघ्र ही सेना भेजी जा सकती है, शीघ्र ही आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं, शीघ्र ही आयात-निर्यात की व्यवस्था परिवर्तित की जा सकती है और इस प्रकार किसी स्थानीय संघर्ष में हार-जीत का फैसला कुछ ही दिनों में किया जा सकता है। वायु यातायात के माध्यम से भी विश्व भर में सामान एवं श्रम का अद्वितीय आदान-प्रदान होता है।

इलेक्ट्रोनिक संचार एवं वायु यातायात के विकास के परिणाम-स्वरूप राजदूतों की कार्य करने की कूटनीतिक स्वतन्त्रता बढ़ गई है तथा उनको कुछ नये उत्तरदायित्व भी सौंप दिये गये हैं। पहले कूटनीतिज्ञों की व्यक्तिगत बातचीत पर जनता का जितना ध्यान जाता था उतना ही ध्यान अब प्रेस साक्षात्कार एवं रेडियो तथा टेलीविजन पर कही गई बातों पर जाता है। आज एक कुशल कूटनीतिज्ञ को तकनीकी का भी कुछ ज्ञान होना चाहिए। अनेक कूटनीतिज्ञ मिशनों में तकनीकी विशेषज्ञ होते हैं क्योंकि आज भी कूटनीति शस्त्र-नियन्त्रण एवं आर्थिक विकास जैसे तकनीकी विषयों से सम्बन्ध रखती है।

आजकल यह आम बात हो गई है कि एक राज्य के नेता दूसरे राज्य के नेता की अनुमति के बिना ही रेडियो और टेलीविजन के माध्यम से वहाँ की जनता से प्रत्यक्ष रूप से अपील करते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका का राज्य सचिव उत्तरी अटलांटिक में किसी के भी द्वारा टेलीविजन पर देखा जा सकता है कि वह लन्दन में रिपोर्टरों के सम्मुख वियतनाम से सम्बन्धित प्रश्नों का जवाब दे रहा है। यद्यपि विश्व के अनेक भागों के अधिकांश लोग अशिक्षित होते हैं किन्तु वे भी ट्रांजिस्टर रेडियो के माध्यम से खबर सुनते हैं। आजकल अन्तर-महाद्वीपीय टेलीविजनों का भी प्रचार होता जा रहा है। भारत के प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू की शव यात्रा को लोगों ने संयुक्त राज्य अमरीका में देखा। तकनीकी के विकास के कारण राज्यों की गोपनीयता समाप्त हो गई है। तीव्र गति से काम करने वाले छापेखाने के कारण यह सम्भव हो गया है कि बहुत सारी पुस्तकें,

परि-पत्र, समाचार आदि प्रचार के लिए और सांस्कृतिक सम्बन्धों के लिए वितरित किए जा सकें।

(ii) औद्योगिक तकनीकी (The Industrial Technology)—तकनीकी के विकास ने औद्योगिक क्रांति को विश्वव्यापी बना दिया है। इस सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण प्रश्न किए जा सकते हैं कि तकनीकी को अर्धविकसित देशों में किस प्रकार भेजा जाए और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर इसका क्या प्रभाव होगा? अतीतकाल में तकनीकी को अर्धविकसित भागों में व्यक्तिगत उद्यम एवं पहल द्वारा प्रसारित किया जाता था। यद्यपि औद्योगिक क्रांति धीरे-धीरे फैली किन्तु इसने उत्पादन और रहन-सहन के स्तर को बढ़ाया। यह कहा जाता है कि दुनिया के कम विकसित क्षेत्रों को जिन्होंने कि हाल ही में उपनिवेशवाद से छुटकारा पा कर स्वतन्त्रता प्राप्त की है, स्वयं की सहायता से ही विकास करना चाहिए, किन्तु यह सुझाव दो कारणों से उपयोगी नहीं रहता। प्रथम यह कि आज की तकनीकी अधिक जटिल बन गई है और प्रगति के लिए सामाजिक तथा आर्थिक दबाव पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावशील बन गए हैं।

औद्योगीकरण तकनीकी और लगाई जाने वाली पूँजी के सहयोगपूर्ण स्रोतों का परिणाम है। यद्यपि पूँजी लगाना और तकनीकी दोनों ही नीति को निर्धारित करने वाले साधन हैं, किंतु भविष्य के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर इनका प्रभाव अभी तक अनिश्चित है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तकनीकी का महत्व शक्ति की दृष्टि से पर्याप्त है। शक्ति को आर्थिक और सामाजिक प्रगति में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। यह उत्पादन को सामर्थ्य प्रदान करता है तथा समाज के छोटे व बड़े काम में सहायता देता है। यह शक्ति, कोयला, प्राकृतिक गैस, पानी और तेल से प्राप्त की जाती है। अब धीरे धीरे अणुशक्ति भी शक्ति के स्रोत के रूप में प्रभावशील बनती जा रही है, किन्तु जब तक इसका और अधिक विकास होगा तब तक पेट्रोल एवं उसके उत्पादन के क्षेत्र ही अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महत्वपूर्ण बने रहेंगे।

तकनीकी शक्ति को उत्पन्न करने वाला प्रमुख तत्व होता है और जब शक्ति उत्पन्न हो जाती है तो वह अधिक तकनीकी माँग करती है ताकि उसे उत्पादन के उद्देश्यों में प्रयुक्त किया जा सके। दुनिया के अविकसित भागों में आर्थिक नवीनीकरण की समस्या मुख्य रूप से शक्ति उत्पन्न करने और प्रयुक्त करने की समस्या है। एक राज्य की शक्ति भी बहुत कुछ अंश तक उसकी शक्ति बनाने और प्रयुक्त करने की सामर्थ्य पर निर्भर करती है। जब औद्योगिक तकनीकी बढ़ जाती है तो ऐसे देशों की संख्या भी बढ़ जाती

है जो कच्चे माल का आयात करना चाहते हैं। इस प्रकार कच्चे माल की कुछ माँग घट जाती है। दूसरी ओर विज्ञान और तकनीकी कच्चे माल का विकल्प खोज रहे हैं। तकनीकी के प्रचार का एक महत्वपूर्ण तत्व यह है कि इसे कम वतन वाले क्षेत्र में तुरन्त अपनाया जा सकता है। कुल मिला कर औद्योगिक तकनीकी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में महत्वपूर्ण गत्यात्मक तत्व है।

(iii) सैनिक तकनीकी (Military Technology)—वर्तमान तकनीकी का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि इसके द्वारा एक देश की सैनिक शक्ति पर पर्याप्त प्रभाव डाला जा सकता है। बीसवीं शताब्दी तक सैनिक तकनीकी में बहुत धीरे धीरे परिवर्तन हुआ। पहले यातायात का मुख्य साधन घोड़ा था जो लगभग तीन हजार वर्ष तक यह कार्य करता रहा। उस समय आक्रमणकारी एवं रक्षात्मक हथियारों और तरीकों के बीच सन्तुलन बना रहा। सैनिक शक्ति उस समय सीमित और स्थानीय थी। मुख्य नगर से घटना-स्थल की भौगोलिक दूरी जितनी बढ़ जाती थी उतनी ही इस सैनिक शक्ति का प्रभाव कम हो जाता था। औद्योगिक क्रान्ति के बाद से सैनिक शक्ति के स्रोत के रूप में तकनीकी पर अधिक विश्वास किया जाने लगा। यूरोप की सैनिक तकनीकी ने उन्नीसवीं शताब्दी में उसे बड़े उपनिवेशवादी साम्राज्य बनाने की स्वतन्त्रता प्रदान की। उन दिनों तकनीकी और सैनिक परिवर्तन विकास के मार्ग पर थे किन्तु आधुनिक काल में तकनीकी के प्रसार ने सैनिक शक्ति के अर्थ और प्रयोग को बिल्कुल बदल दिया है। आधुनिक तकनीकी ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को जिस रूप में प्रभावित किया उसे हम चार श्रेणियों में विभाजित करके देख सकते हैं—

(1) शस्त्रों की सामर्थ्य में परिवर्तन होते जा रहे हैं। किसी भी संघर्ष की रणकौशल सम्बन्धी पृष्ठभूमि बनाने के लिए जिन सैनिक विध्वंस की धमकी दी जाती है, उसका रूप भी बदल गया है। आज शस्त्रों की शक्ति बढ़ गई है तथा उन्हें कम समय में दूर ले जाना भी सम्भव हो गया है। इन हथियारों के प्रभाव के क्षेत्र में अर्थ व्यवस्था एवं नागरिक समाज भी आ जाता है। यदि इन शस्त्रों का प्रयोग नहीं भी किया जाता है तो भी इनकी सुरक्षा के लिए जो सामाजिक एवं आर्थिक प्रयत्न किये जाते हैं वे महत्वपूर्ण मूल्यों को समाप्त करने में सक्षम हैं।

आज के तकनीकी के विकास ने युद्ध सैनिक शक्ति के महत्व का मूल्यांकन करने में भूगोल को कम महत्वपूर्ण बना दिया है। आज विध्वंस-

मारी शक्ति को कुछ ही मिनटों में हजारों मील दूर भेजा जा सकता है। सुरक्षा सचिव मैकनामारा के अनुमान से यदि सन् १९७० में संयुक्त राज्य अमरीका पर न्यूक्लीयर आक्रमण किया गया तो इससे उसकी बीस से लेकर सत्तर प्रतिशत तक जनसंख्या समाप्त हो सकती है। आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की एक मुख्य विशेषता यह है कि यद्यपि राज्यों के पास आक्रमणकारी शक्ति बढ़ गई है, किन्तु वे सुरक्षात्मक प्रयासों की दिशा में इतने नहीं बढ़े हैं।

आज की सैनिक शक्ति यदि युद्ध में संलग्न है तो वह अत्यन्त भयानक है, क्योंकि सैनिक तकनीकी ने उसे कम समय में भारी विध्वंस करने की सामर्थ्य दे दी है। इस सम्बन्ध में डा० जेम्स शाटवेल (Dr. James Shatwell) का कहना पर्याप्त उचित है कि समाज की बदलती हुई प्रकृति ने युद्ध को नीति का न अपनाया जाने वाला साधन बना दिया है। अब युद्ध अपने प्रसार और दिशा में अनिश्चित है। यह राजनीतिज्ञता का सुरक्षित हथियार नहीं है। आज युद्ध का रूप एक छूत के रोग जैसा बन गया है जिसके फैलने पर उसे रोकना उस राज्य के बस की बात नहीं रह जाती जिसने कि इसे प्रारम्भ किया है। इस प्रकार इन अनियन्त्रित साधनों को अपनाना खतरे से खाली नहीं है।*

(ii) आज तकनीकी के विकास ने सीमित युद्ध की सामर्थ्य में भी भारी परिवर्तन कर दिया है। आज परम्परागत गोलाबारी के तरीकों एवं सैनिक सत्ता के शीघ्र कार्य करने के साधनों में विकास हो गया है। यद्यपि तकनीकी ने महान् विध्वंसकारी शस्त्र दिए हैं फिर भी इसने व्यक्तियों एवं परम्परागत सैनिक इकाइयों की गति तीव्रगामीतर, गोलाबारी की शक्ति एवं व्यावसायिकता पर भी पर्याप्त जोर दिया है। सैनिक एवं संचार तकनीकी के कारण आज सैनिक शक्ति स्थानीय नहीं रह गई है। दि इकनामिस्ट (The Economist) ने संयुक्त राज्य अमरीका के नये सैनिक वायु यातायात के साधन Sec 5 A के सम्बन्ध में बताया कि ऐसे तीन विमान सन् १९४९ में सम्पूर्ण बर्लिन की वायु सेना को उठा सकते थे और ऐसे बयालीस विमान आधे दिन में एक डिवीजन को यूरोप पहुंचा सकते हैं। इस कार्य में सन् १९६० से पूर्व ढाई दिन लगता था और २३४ वायुयानों की आवश्यकता थी। कुछ आधुनिक इतिहासकारों का यह कहना है कि सीमित उद्देश्यों के लिए शक्ति का सीमित प्रयोग सम्भव है क्योंकि अधिकांश देशों के पास अणु युद्ध के साधन नहीं हैं इसलिए उनके युद्ध अणु-युद्ध का कारण नहीं बनेंगे जब तक कि अणु शक्तियां विवाद में न उलझें। आज तकनीकी विकास ने स्थिति यह

बना दी है कि बड़ी शक्तियां किसी सङ्घर्ष में उलझने से पहले पर्याप्त सोचती और विचारती है किन्तु छोटे देश बड़ी जल्दी ही सैनिक कार्यवाही में उलझ जाते है ।

(iii) वैज्ञानिक क्रान्ति ने अपने विकास की गति से अनेक अनिश्चितताओं को जन्म दिया है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से सैनिक नीति के क्षेत्र में जो परिवर्तन हो रहे हैं वे इतनी जल्दी-जल्दी हो रहे हैं कि जब तक उनको समझा जाता है तब तक कोई नया विकास सामने आ जाता है। ऐसी स्थिति के दो परिणाम होते है। पहला यह कि शस्त्रों के निर्माण की कीमत ऊँची हो जाती है और दूसरे परम्परागत हथियार अप्रासंगिक बन जाते है। अप्रासंगिक होते हुए भी कुछ क्षेत्रों में इन हथियारों का पूरा सम्मान होता है और यहां इनको सैनिक दृष्टि से प्रभावशील माना जाता है। बड़ी शक्तियां इन हथियारों को छोटे देशों में वितरण करती हैं जिन देशों में औद्योगिक क्षमता इतनी नहीं है कि वे स्वयं इन हथियारों का उत्पादन कर सकें। थामस फिनलेटर (Thomas Finletter) ने बताया है कि सैनिक तकनीकी इतनी तीव्र गति से बदल रही है कि सैनिक व्यक्तियों का भविष्य की योजना बनाने का काम असम्भव बन गया है। सैनिक नियोजक भविष्य के इन तथ्यों की विवेचना करने के लिए प्रतीक्षा नहीं रोक सकता। कोई सैनिक संस्थान किसी विशेष हथियार के प्रभाव एव विशेषताओं को समझ पाता है उस समय तक नये प्रयोग व्यवहार में आ जाते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद स्थिति यह हो गई है कि एक देश किसी शस्त्र के विरुद्ध सुरक्षात्मक उपाय करता है तो कुछ समय बाद ही विरोधी पक्ष ऐसे हथियारों का आविष्कार कर लेता है कि यह सुरक्षात्मक कार्यवाही पर्याप्त महत्वहीन बन जाती है। एक देश की सुरक्षा हथियार व्यवस्था की आधुनिकता पर निर्भर करती है। जब एक राष्ट्र शस्त्रों की दौड़ में पिछड़ जाता है तो उसे अपनी सुरक्षा के लिए दो ही रास्ते अपनाने होते हैं या तो वह किसी तीसरे देश से आधुनिक शस्त्रों की खरीद करे अथवा अपने विरोधी की प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए आगे अनुसंधान, विकास एव शस्त्रों का उत्पादन करे।

(iv) तकनीकी विकास के परिणामस्वरूप सैनिक क्षेत्र में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रभाव यह होता है कि सुरक्षा के लिए राज्यों की परावलम्बता बढ़ जाती है। वैज्ञानिक एव औद्योगिक तकनीकी तथा उत्पादन के मूल्य के कारण आधुनिक हथियार केवल कुछ शक्तियों में एकाधिकार बन जाते हैं। किन्तु यदि उन्हें प्रदान कर दिया जाय तो अन्य देश इनका प्रयोग कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में सामूहिक सुरक्षा और अन्य पारस्परिक प्रबन्धों पर जोर दिया

जाता है। महाशक्तियाँ अपनी सैनिक शक्तियों का प्रयोग किसी तीसरे दल को शक्तिशाली बना कर करती है। क्योंकि यदि महाशक्तियों के बीच प्रत्यक्ष सङ्घर्ष छिड गया तो यह अत्यन्त खतरनाक रहेगा। इसके अतिरिक्त मित्रों के साथ सहयोग आज की आवश्यकता बन गया है। छोटे देश सैनिक कार्यक्रमों के न तो अनुसधान एव विकास मे ही प्रतियोगिता कर सकते है और न ही उसके सैनिक पहलू म। यहा तक कि कई औद्योगीकृत देश भी सैनिक तकनीकी के क्षेत्र म पर्याप्त आगे नही बढ पाते। विज्ञान, भूगोल, उद्योग, प्रशिक्षण, आदि की वास्तविकतायें, पर-निर्भरता एव सहयोग को प्रोत्साहन देती हैं। कोई भी राज्य शस्त्र प्राप्त करने की आवश्यकता को सन्तुष्ट करने के लिए आर्थिक एव राजनैतिक जोखिम उठाता है। उदाहरण के लिए भारत ने सोवियत सघ और पश्चिम दोनो से हथियार लिये इसी प्रकार पाकिस्तान ने चीन और अमरीका, आदि देशो से सहायता ली।

छोटे देशो की भाति सयुक्त राज्य अमरीका जैसे बडे राज्यो को भी सुरक्षा के लक्ष्यो की पूर्ति करनी होती है। तकनीकी ने सैनिक शक्ति को शीघ्रता के साथ चलने एव प्रयुक्त होने की शक्ति प्रदान की है। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न किया जाता है कि छोटे राज्यो को किस सीमा तक मित्र बनाया जाना चाहिए। क्या बडी शक्तिया अपनी सुरक्षा की दृष्टि से राजनैतिक तटस्थता का दृष्टिकोण नही अपना सकती ? भारत इस प्रश्न का एक जीता जागता उदाहरण है। उसने असलग्नता की नीति को अपनाया और जब उसकी उत्तरी सीमाओ पर साम्यवादी चीन का आक्रमण हुआ तो सयुक्त राज्य अमरीका ने शीघ्र ही उसकी सहायता की। तथ्य यह है कि जब एक राज्य को मित्र बनाने म तथा तटस्थ होने मे अधिक अन्तर नही दिखाई देता तो वह तटस्थ रहना चाहता है ताकि उसकी राजनैतिक स्वतन्त्रता तुल्यभारिता को सतुलित कर सके।

जो छोटे राज्य अपनी सुरक्षा की दृष्टि से बडे राज्यों के साथ मित्रता के बन्धन म औपचारिक रूप से बध गए थे उनके ऊपर अब दबाव और चुनौतियाँ डाली जा रही हैं। आज की स्थिति मे अणु युद्धो का रूप पूर्ण युद्ध का हो चुका है। ऐसी स्थिति म छोटे राज्यो को यह सोचने के लिए मजबूर होना पडता है कि एक मित्र देश आक्रमण के समय छोटे राज्य की मदद करने म कितना जोखिम उठाएगा। यह प्रश्न नाटो की शक्तियो की समस्या का एक भाग बन गया है। एक फ्रान्सीसी राजनीतिज्ञ पीयरे गैलाइस (Pierre Gallois) ने बताया है कि अणु शस्त्रों ने मित्रो को और सन्धियों को निरर्थक

ना दिया है क्योंकि कोई भी राज्य दूसरे की खातिर अपने अस्तित्व को संकट में न डालेगा।

पर निर्भरता के कारण छोटी शक्तियों की अपेक्षा बड़ी शक्तियों के सामने अधिक उलझनें आ जाती हैं। वे अपने मित्रों के बीच झगड़ा होने पर तीसरा पक्ष बन जाते हैं। तकनीकी विकास की तीव्र गति ने सामूहिक सुरक्षा के मार्ग को कुछ सरल बनाया है और कुछ जटिलतायें भी ला दी हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका यह अनुभव करने लगा है कि कुछ नाटो देशों का सैनिक दृष्टि से उसके लिए कोई महत्व नहीं है।

जब एक बड़ी शक्ति अल्पविकसित देशों को अस्त्र-शस्त्र भेजती है तो इससे यह उस देश की सशस्त्र सेना को प्रभावित करने की स्थिति में आ जाती है। इस प्रकार वह उस देश के सामाजिक एवं राजनैतिक ढांचों पर भी प्रभाव डाल पाती है।

विज्ञान, तकनीकी एवं विदेश नीति
(Science, Technology and Foreign Policy)

विज्ञान और तकनीकी के विकास ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रक्रिया के किसी भी प्रमुख तत्व को अछूता नहीं छोड़ा है। राज्य एवं राज्य व्यवस्था की बनावट, राज्य की नीति के लक्ष्य एवं आकांक्षायें तथा इनको प्राप्त करने के लिए उपलब्ध साधन आदि सभी को तकनीकी के विकास द्वारा प्रभावित किया गया है। विदेश नीति से विज्ञान का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप में रहता है। इसका कारण यह है कि समाज द्वारा नये वैज्ञानिक ज्ञान का अनुभव प्रायः तकनीकी के रूप में किया जाता है।

यह कहा जाता है कि तकनीकी विकास ने विदेश नीति के क्षेत्र में संचार साधनों का विकास करके जो कुछ भी एक हाथ से दिया है उसे दूसरे हाथ से ले लिया है, क्योंकि इससे निर्णय लेने के लिए समय नहीं छोड़ा है। तकनीकी विकास ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रक्रिया के विभिन्न तत्वों जैसे—अभिनेता, लक्ष्य, आशायें, साधन का क्षेत्र, आदि को जिस रूप में प्रभावित किया है वह पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इस प्रभाव की कुछ सामान्य विशेषतायें हैं अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर तकनीकी का पड़ने वाला प्रभाव स्वयं की कुछ एक विशेषतायें रखता है, वे निम्न प्रकार हैं :—

(1) जो तकनीकी विकास राजनैतिक परिवर्तन लाते हैं वे अकेले नहीं होते किन्तु उनकी प्रकृति बहुत होती है। किसी देश की विदेश नीति

सम्बन्ध में निर्णय लेते समय केवल एक ही तकनीकी आविष्कार से प्रभावित नहीं किया जाता वरन् अनेक आविष्कार एक साथ मिल कर उसे प्रभावित करते हैं।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति में जो प्रमुख परिवर्तन आये वे तकनीकी तत्वों के साथ-साथ अनेक गैर-तकनीकी तत्वों के परिणाम हैं। उदाहरण के लिए यदि हम १८वी शताब्दी के सीमित युद्ध की समाप्ति के कारणों का अध्ययन करें तो हमारे सामने कुछ तकनीकी कारण आयेंगे जैसे-अच्छे मार्ग, धातु के उत्पादन की वृद्धि, अग्नि आयुधों की बढ़ी हुई कार्य-कुशलता आदि। इसके अतिरिक्त अनेक गैर तकनीकी कारण भी बताये जा सकते हैं जैसे-राजनैतिक तत्वों में आलोचनात्मक परिवर्तन, सैनिक सिद्धान्त में परिवर्तन, तथा सामान्य संस्कृति के वातावरण में परिवर्तन आदि।

(iii) तकनीकी परिवर्तन के राजनैतिक लाभों को स्थायी एवं अस्थायी रूप से राज्यों के बीच असमान रूप में वितरित किया गया। एशिया तथा अफ्रीका के देशों में आज आर्थिक विकास जटिल बन गया है, क्योंकि यहाँ औद्योगीकरण को मृत्यु दर में कमी से उत्पन्न समस्याओं का सामना करना होगा। योरोप को ऐसा नहीं करना पड़ा था। आज समय और स्थान के क्षेत्र में होने वाले विकासों ने औद्योगिक सर्वोच्चता के महत्व को कम कर दिया है।

(iv) औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक वर्षों में तकनीकी का विकास उसके वैज्ञानिक ज्ञान से स्वतन्त्र रह कर हुआ। भाप के इंजिन का आविष्कार पहले ही हो गया और उनको प्रशासित करने वाले वैज्ञानिक नियम बाद में विकसित किये गये, किन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही तकनीकी का विकास भौतिक विज्ञान के मूल ज्ञान के विकास पर निर्भर रहने लगा है। अणु बम का आविष्कार न्यूक्लीयर भौतिक शास्त्र के अनुसंधानों पर निर्भर था। इस नये ज्ञान के अनेक व्यवहार स्वयं भौतिक शास्त्रियों के द्वारा सम्पन्न किये गये।

(v) तकनीकी आविष्कार एवं वैज्ञानिक ज्ञान प्रायः एक ही गति से आगे बढ़ते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान प्रत्येक दस से पन्द्रह साल के बाद दो गुना हो जाता है।

(vi) नये वैज्ञानिक ज्ञान की प्राप्ति एवं नये उत्पादन का खर्च पर्याप्त बढ़ जाता है। आज विकसित देशों के विश्व विद्यालयों का अनुसंधान बजट संघीय कोष पर आधारित हो गया है, क्योंकि इस कीमत को चुकाने

वाला और कोई भी स्रोत नहीं है। न्यूक्लीयर भौतिकी के क्षेत्र में इस व्यय की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए एक वैज्ञानिक ने बताया कि एक प्रश्न पूछने तक की कीमत एक मिलियन डालर हो जाती है। इन प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप यह स्थिति आ गई है कि महान् तकनीकी केवल महान् शक्तियों के पास ही रह सकती है तथा भविष्य में केवल महान् शक्तियां ही महान् विज्ञान सम्पन्न बन सकेंगी।

(vii) द्वितीय विश्व युद्ध में विज्ञान विदेश नीति के समर्थन में प्रथम बार प्रत्यक्ष रूप से उतरा। अपने शुद्ध रूप में विज्ञान 19वीं शताब्दी से विकसित होता हुआ मूलतः एक स्वायत्त सामाजिक संस्था बन गया। उस समय वैज्ञानिक समाज में अपने कार्य की अवस्थाओं के सम्बन्ध में स्वयं के कुछ नियम थे। उसका रूप अन्तर्राष्ट्रीय था अर्थात् प्रकृति के तथ्य उन सबों के लिए खुले हुए थे जो विज्ञान के तरीकों से उनको खोजना चाहें। विज्ञान का विकास अनुसंधान की स्वतन्त्रता पर आधारित था। वैज्ञानिक को अपने अनुसंधान के लिए कोई भी समस्या छाँटने की तथा अपने अनुसंधान के परिणामों को प्रकाशित करने की स्वतन्त्रता थी; किन्तु इस सबके पीछे सामान्य मान्यता यह थी कि नया ज्ञान अन्तिम रूप से मानव जाति के लिए लाभदायक होगा तथा वैज्ञानिक समाज का इन आविष्कारों के परिणामों से कोई सम्बन्ध नहीं होगा।

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में होने वाले विचारधारागत युद्धों के दौरान वैज्ञानिकों एवं उनके विचारों को स्वतन्त्रता पूर्वक राजनैतिक सीमायें पार करने की अनुमति दी गई। वे शान्ति एवं युद्ध दोनों कालों में इस स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते थे, किन्तु ज्यों ज्यों वैज्ञानिक ज्ञान की जटिलता बढ़ती गई तथा तकनीकी आविष्कार भयानक व विध्वंसक होते गये, त्यों त्यों इस क्षेत्र में प्रतिबन्ध बढ़ते चले गये।

अणु और राष्ट्रीय शक्ति
(The Atom and National Power)

अणुशक्ति का प्रयोग वर्तमान युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो पुराणों में वर्णित अग्निबाण और अन्य इसी प्रकार की कल्पनाओं को सत्य के धरातल पर ला देती है। अणुशक्ति के श्रीगणेश ने विश्व के सामने अनेक प्रश्न और समस्याएं लाकर रख दी हैं। उनमें से एक यह भी है कि इसने विश्व राजनीति को हिला दिया है तथा देशों की शक्ति स्थिति को बदल दिया है।

अणुशक्ति के विकास ने आक्रमण करने की सामर्थ्य को बढ़ा कर सर्वोच्च शक्तियों की शक्ति को और भी भारी बना दिया है। प्रारम्भ में अणुशक्ति के मालिक केवल दो ही देश थे—सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमरीका किन्तु आज ब्रिटेन, फ्रांस, साम्यवादी चीन, कनाडा आदि देशों ने भी इसी ओर कदम बढा दिये हैं। इण्डोनेशिया जैसे छोटे देश भी आज अणुबम बनाने की सोचने लगे है। अणु शक्ति की इस लोकप्रियता के कारण छोटे छोटे देश भी इतने साधन जुटाने में समर्थ हो जायेंगे कि एक बडी शक्ति को उन पर आक्रमण करने में भारी खर्च वहन करना पडेगा।

अणुबम ने सभी देशों को समान बनाने में बडा महत्वपूर्ण योगदान किया है। 'अणु शक्ति' कितनी विध्वंसक होगी यह बात किसी देश के आकार पर अथवा उस देश की जनसंख्या की मात्रा पर निर्भर नहीं करती। एक बम चाहे वह एक छोटे से देश द्वारा बनाया गया हो या एक बडे देश द्वारा जब काम में लाया जायगा तो समान रूप से विनाश करेगा और इस दृष्टि से देखने पर हम यह कह सकते हैं कि अणु शक्ति ने राष्ट्रों के बीच समानता की स्थापना कर दी है। सलजबरगर (Sulzberger) महोदय ने सन् १९५४ में अणु शक्ति के इस पहलू को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "एक दिन न केवल सर्वोच्च शक्तियां या बडी शक्तियां ही वरन् छोटे राष्ट्र भी अणु आयुधों से युक्त बन जायेंगे तथा वे इन आयुधों को परम्परागत मानने लगेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन तो आज बदल ही चुका है क्योंकि कमजोर राष्ट्रों को भी एक नया महत्व प्राप्त हो गया है। यह सतुलन उस समय तो बिल्कुल ही बदल जायगा जबकि छोटे छोटे भूमि खण्डों के पास ऐसे हथियार आ जायेंगे जो दुनिया को उडाने की शक्ति रखते हैं। इस समय 'अणुबम' राष्ट्रों को समान बनाने का कार्य (Equalizer) करेगा।

तकनीकी विकास का आधार
(The basis of Technological Progress)

राष्ट्रीय शक्ति का एक महत्वपूर्ण तत्व होने के कारण 'तकनीकी विकास' (Technical Progress) की ओर सभी राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित होने लगा है। प्रत्येक राष्ट्र यह प्रयास करता है कि वह अपने देश के उद्योग धंधे, अर्थ व्यवस्था, सैनिक तैयारियां आदि में तकनीकी ज्ञान का अधिकाधिक प्रयोग करके उच्चता के शिखर पर पहुँचने के मार्ग को सुगम बना दे, किन्तु व सभी राज्य आशा के अनुरूप परिणाम प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाते। इस असफलता का मुख्य कारण उस देश में स्थित

समाज की परम्परायें, सोचने के तरीके, रहने का ढंग तथा विकास के प्रति उसका दृष्टिकोण है। यदि हम विश्व के राष्ट्रों पर इसी दृष्टि से एक सरसरी निगाह डालें तो पायेंगे कि एक ओर सोवियत रूस और जापान जैसे राष्ट्र हैं जिन्होंने बहुत कम समय में ही तकनीकी क्षेत्र में इतना विकास कर लिया जिसे देख कर विश्व आश्चर्यान्वित रह जाता है। जापान ने अपने दृष्टिकोण एवं संस्थाओं में बिना कोई भारी परिवर्तन किये ही औद्योगिक उत्पादन एवं सैनिक संगठनों की पश्चिमी तकनीकी को अपना लिया है। किन्तु दूसरी ओर साम्यवादी चीन की स्थिति को देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि वहां तकनीकी ज्ञान का प्रसार इसी तेजी के साथ हुआ है या निकट भविष्य में हो सकता है।

रूस, जापान और साम्यवादी चीन के उदाहरणों को देखने के पश्चात् हम कुछ निष्कर्षों पर पहुंचते हैं जैसे कि—

(१) एक देश में होने वाले तकनीकी विकास पर उस देश की सरकार के रूप का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। तकनीकी विकास, दूसरे शब्दों में, पश्चिमी राष्ट्रों या प्रजातन्त्रात्मक देशों का एकाधिकार नहीं है, साम्यवादी देशों में भी यह हो सकता है।

(२) 'तकनीकी विकास साम्यवादी व्यवस्था में अधिक शीघ्रता से हो जाता है' यह मान्यता तथ्यों के विपरीत है। क्योंकि चीन में साम्यवादी शासन होते हुए भी तकनीकी की गति बड़ी धीमी है।

(३) तकनीकी विकास पर सरकार के रूपों का नहीं वरन् सामाजिक प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है। यदि समाज एवं परिवर्तनशील एवं विकासशील दृष्टिकोण (Radical attitude) वाला है तो तकनीकी विकास का मार्ग सुगम हो जायगा किन्तु परम्परावादी, रूढ़िवादी तथा पुराने विचारों से युक्त समाज में इसे अनेक बाधाओं एवं रुकावटों का सामना करना पड़ेगा।

जिस समाज का ढांचा वैज्ञानिक आधार से मेल नहीं खाता वह समाज पिछड़ जाता है। भारत के प्रधान मन्त्री स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू इस तथ्य से भली भांति परिचित थे। उन्होंने जीवन भर देश को जो मूल मन्त्र पढ़ाया, वह था 'विज्ञान तथा तकनीकी का महत्त्व'। उनके प्रत्येक जन-व्याख्यान (Public lecture) में श्रोताओं पर यह प्रभाव डाला जाता था कि हमारा धर्म, संस्कृति एवं परम्परायें ऊंचे हैं, महत्त्वपूर्ण हैं, उनको यदि हम छोड़ देंगे तो 'हम', हम न रहेंगे। किन्तु केवल इनसे चिपके रहना भी समयोचित नहीं है। इस युग की विशेषता विज्ञान तथा तकनीकी है इसे

यदि न अपनाया गया तो हम पिछड जायेंगे, सभ्यता की दौड में पीछे रह जायेंगे। प० नेहरू ने विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र मे जो कुछ किया, आने वाली पीढियां उसे कभी नही भुला सकती। नेहरू के कार्यो का महत्व आंकते समय यह नही देखना है कि भारत के पास कितनी वैज्ञानिक उपलब्धियां हैं, वरन् देखना यह है कि क्या भारतीय समाज विज्ञान के महत्व को समझने लगा है?

साम्यवादी चीन मे वैज्ञानिक एव तकनीकी विकास के मार्ग की बाधाओं का वर्णन करते हुए फेयरबैंक महोदय ने यह माना है कि ये बाधायें ये हैं-तर्क की व्यवस्था (System of logic), चरित्र-चित्रण (Character writing), सास्कृतिक शिक्षा (Classical Education), हाथ से किये गये श्रम का विरोध (Aversion of manual labour), अर्थ व्यवस्था पर राज्य का अधिकार (State monopoly of the economy), तिरस्कृत मनुष्य शक्ति (Abundant man power) और शक्तिशाली एव रूढिवादी नौकरशाही (The powerful and conservative bureaucracy)।

अन्तिम पंक्तियां
(The Final Lines)

तकनीकी परिवर्तन इतिहास मे निश्चय ही एक मुख्य तत्व रहा है। आविष्कारों ने मानव के इतिहास को बदलने मे महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की दृष्टि से सचार, यातायात, युद्ध, दवाई, भोजन की तैयारी एव रक्षा आदि के क्षेत्र मे किये गये आविष्कारो का अपना महत्व है। उनको सहारा देने के लिए शक्ति के क्षेत्र मे, कृषि के क्षेत्र मे, धातुओं के क्षेत्र मे तथा रचना के क्षेत्र में किये जाने वाले आविष्कारों ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया। यदि सम्पूर्ण मानव जाति की दृष्टि से विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि तकनीकी उन्नति के लिए एक व्यापक आन्दोलन चल रहा है। जो तकनीकें एक बार आविष्कृत हो जाती है बाद में उनको समाप्त नहीं किया जाता वरन् वे मानव जीवन का आवश्यक अग बन जाती है।

राष्ट्र और सभ्यतायें गिरती और उठती रहती हैं तथा शक्ति और सभ्यता के केन्द्र एक स्थान से दूसरे स्थान को बदलते रहते हैं किन्तु यह मनुष्य की सामान्य प्रकृति पाई जाती है कि प्रकृति की शक्तियों पर नियन्त्रण करे। इसके कारण लोग एक दूसरे के घनिष्ठ एव निकट सम्पर्क मे आये हैं, सारा ससार एक पडोसी जैसा बन गया है। दूसरी ओर प्रत्येक देश सैनिक, आर्थिक एव प्रचार की दृष्टि से आक्रमण करने में अधिक सक्षम बन गया है। प्रत्येक

देश दूरस्थ देश के साथ व्यापार, संस्कृति एवं सुरक्षा की दृष्टि से आश्रित हो गया है। देशों में बड़े एवं छोटे समूह बनते जा रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर तकनीकी, मस्यागत एवं सांस्कृतिक आदान प्रदान बढ़ता जा रहा है। देशों का व्यवहार सद्-प्रवृत्ति, परम्परा एवं आत्म चेतना से कम और मत से अधिक प्रभावित होने लगा है। तकनीकी का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक पहलू पर व्यापक तथा गहरा प्रभाव पड़ा है। इसने देशों की शक्ति का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया है।

इसी प्रकार जनसंख्या भी शक्ति तत्व के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करती है। जनसंख्या की मात्रा एवं जनसंख्या का गुण दोनों ही इस दृष्टि से अपना महत्व रखते हैं। गुण के बिना केवल मात्रा का होना एक राष्ट्र की शक्ति का प्रतीक होने की अपेक्षा उसकी कमजोरी का आधार भी बन सकता है। इसी प्रकार मात्रा के बिना जनसंख्या का केवल गुण तत्व अधिक उपयोगी नहीं हो पाता क्योंकि युद्ध काल में सैनिक तथा शांतिकाल में औद्योगिक श्रम तभी पर्याप्त उपलब्ध हो सकेगा जबकि देश में जनसंख्या की निश्चित मात्रा प्राप्त हो।

आज तकनीकी, भूगोल एवं जनसंख्या को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मुख्य विज्ञान माना जाता है। यह कहा जाता है कि इन विज्ञानों का अध्ययन करने के बाद जनसंख्या एवं तकनीकी का इस प्रकार नियमन हो सकेगा कि भौगोलिक सम्पदाओं एवं स्रोतों का पर्याप्त उपयोग किया जा सके। इस प्रकार सार्वभौमिक समाज की वह मौलिक नींव रखी जा सकेगी जिससे कि संस्कृति के आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षणिक, धार्मिक एवं अन्य तत्व विकसित होंगे।

---o---

६

राष्ट्रीय शक्ति के तत्व : विचारधारा, मोरेल और नेतृत्व

[ELEMENTS OF NATIONAL POWER : IDEOLOGY, MORALE AND LEADERSHIP]

पिछले अध्यायों में राष्ट्रीय शक्ति के जिन मूल तत्वों का हमने अध्ययन किया है उनकी प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि उनके अस्तित्व को देखा जा सकता है, मापा जा सकता है तथा उनके प्रभाव का भी स्पष्ट पर्यवेक्षण किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में उनका नियमन एवं नियन्त्रण भी आवश्यकता के अनुसार किया जा सकता है। इन तत्वों के अतिरिक्त राष्ट्रीय शक्ति के ऐसे तत्व भी होते हैं जो दिखाई नहीं देते और उनका अस्तित्व केवल अनुभव ही किया जा सकता है। इन तत्वों को पृथक करके देखना तथा परिभाषित करना निश्चय ही एक कठिन काम है किन्तु इसके कारण इन तत्वों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। ये तत्व असल में भौतिक तत्व न होकर मानवीय तत्व हैं जिनका प्रभाव भौतिक तत्वों को प्रयोग करने में एक निर्णायक का काम करता है। ये मानवीय तत्व विचारधारा (Ideology), मोरेल (Morale) तथा नेतृत्व (Leadership) हैं। इनका अध्ययन करना प्रस्तुत अध्याय का लक्ष्य है।

ये मानवीय तत्व मूल रूप से व्यक्ति के दृष्टिकोणों विश्वासों एवं उसके सामाजिक वातावरण से प्रभावित होते हैं। इन्हीं के परिप्रेक्ष में इनका

रूप उभरता और पनपता है। ये राज्यों के व्यवहार पर भी गहरा प्रभाव रखते हैं। एक देश के लोग अपने भौतिक एवं राजनैतिक वातावरण के प्रति किस प्रकार की प्रतिक्रिया करेंगे यह बात इन्हीं तत्वों के द्वारा निर्धारित की जाती है। सामाजिक वातावरण के रीति-रिवाज एवं परम्परायें दृष्टिकोणों को जन्म देती हैं जो कि आगे चल कर विश्वास बन जाते हैं। व्यक्ति के दृष्टिकोण और विश्वास मिल कर उन मूल्यों को परिभाषित करते हैं जिनको व्यक्ति रखता है और उन लक्ष्यों को स्पष्ट करते हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्नशील रहता है।

मूल्यों को हम ऐसे मापदण्ड कह सकते हैं जिनको व्यक्तियों द्वारा सही एवं वांछनीय समझा जाता है। इस प्रकार कोई भी राजनैतिक कार्य उनके द्वारा तथा उनके लिए संचालित हो सकता है। व्यक्ति स्वभावतः अपने वाह्य वातावरण के प्रति प्रतिक्रिया करता है। वह विशेष वातावरण की स्थितियों में अपने मूल्यों को समायोजित करता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक क्रिया का संचालन करता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि जो भी कोई अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक व्यवहार को समझना चाहे उसे इस मान्यता को स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए कि मानवीय समूहों के भिन्न भिन्न दृष्टिकोण, विश्वास एवं मूल्य होते हैं। अलग-अलग देशों के लोगों का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं मनोवैज्ञानिक वातावरण भी अलग प्रकार का होता है। वाह्य वातावरण के ये विभिन्न तत्व इस बात का निश्चय करते हैं कि उस देश की मित्रता किसके साथ होगी तथा शत्रुता किसके साथ होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करते समय यह जानना पर्याप्त महत्वपूर्ण समझा जाता है कि व्यक्ति कुछ मूल्यों को क्यों अपनाता है तथा अन्य संस्कृति तथा शक्तियों के प्रभाव से ये मूल्य कैसे तथा क्यों बदल जाते हैं। एक देश के विभिन्न सामाजिक समूह सामान्य दृष्टिकोण, मूल्य एवं लक्ष्यों में जितनी अधिक मात्रा में भाग लेते हैं वहां चेतना उतनी ही अधिक पायी जाती है तथा इससे वहां की राजनैतिक संस्थाओं को स्थायित्व प्राप्त होता है। जिन देशों के दृष्टिकोणों एवं मूल्यों में समानता रहती है उनके सम्बन्ध शांतिपूर्ण, सहयोगपूर्ण एवं मैत्रीपूर्ण रहेंगे। जिस देश में लोगों के दृष्टिकोण एवं मूल्यों के बीच एकरूपता नहीं रहती वहां प्रायः अस्थिरता एवं संघर्ष रहता है। यही बात दो देशों के पारस्परिक सम्बन्धों पर भी लागू होती है। राष्ट्रीय शक्ति के तत्व विचारधारा, मोरेल एवं नेतृत्व, जिनका वर्णन हम इस

अध्याय मे करने जा रहे हैं, एक देश के लोगों के दृष्टिकोणों, विश्वासो एव मूल्यो से पर्याप्त प्रभावित होते हैं।

विश्व राजनीति मे विचारधारा
(Ideology in World Politics)

विचारधारा के द्वारा एक देश की जनता अपने मूल्य तथा दृष्टिकोणों को अपने सामाजिक परिप्रेक्ष मे अभिव्यक्त करती है। पेडिलफोर्ड तथा लिंकन *(Padelford & Lincoln)* के कथनानुसार विचारधारा आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक मूल्यो तथा लक्ष्यो से सम्बन्धित विचारों का निकाय है जो कि इन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए कार्यों की योजना तैयार करती है। विचारधारा व्यक्ति एव समाज की प्रकृति के बारे में कुछ मान्यताओं पर आधारित रहती है। विचारधारा के द्वारा समाज की कठिन आर्थिक, सामाजिक एव राजनैतिक समस्याओं के लिए भी समाधान प्रस्तुत किये जाते हैं। विचारधारा व्यक्तियों एव समूहों को एक ऐसे समाज में बांध देती है जिसका सामान्य उद्देश्य होना है तथा उसे प्राप्त करने के लिए वे समान तरीकों में विश्वास करते हैं।

विचारधारायें एक देश की शक्ति पर अपना पर्याप्त प्रभाव रखती हैं। यह प्रभाव सीधा न होकर अप्रत्यक्ष होता है। जिस विचारधारा को एक देश मानता है उसी विचारधारा को मानने वाले दूसरे देशो की सद्भावना एव मैत्री उनके प्रति रहना स्वाभाविक है। व्यक्तिगत जीवन मे मित्रता दो समान विचार वाले व्यक्तियो के बीच ही मिल पाती है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे दो राष्ट्र प्रायः तभी साथी बनते हैं जबकि उनके राजनैतिक सिद्धात, आर्थिक नीतिया, विदेश नीतिया आदि बातें समान हो या कम से कम उनके बीच विरोध न हो। सोवियत रूस साम्यवाद का समर्थक है, 'साम्यवाद' सयुक्त राज्य अमेरिका के आदर्शों एव विचारो के विपरीत जाकर पड़ता है। यही कारण है कि दोनो देश न केवल मित्र हैं वरन् दोनों एक दूसरे के कट्टर शत्रु हैं, एक के अहित मे दूसरा अपना हित पाता है।

आजकल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे 'विचारधारा' (Ideology) शब्द पर्याप्त लोकप्रियता पा चुका है। यह कहा जाता है कि राष्ट्रों के बीच जो भेद पाया जाता है उसका मुख्य कारण विचारधाराओं की भिन्नता होती है। परस्पर विरोधी विचारधारायें अनेक बार युद्ध का कारण बन जाती हैं।

स्नाइडर तथा विलसन (Snyder & Wilson) महोदय ने विचारधारा की परिभाषा देते हुए कहा था कि "एक 'विचारधारा' जीवन, समाज, और सरकार से सम्बन्धित विचारों का वह समूह है जो प्रायः सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक नारों या युद्ध के नारों से उत्पन्न होती है तथा जिसका लगातार प्रयोग उसको एक विशेष समुदाय, दल या राष्ट्रीयता का प्रमुख विश्वास या सिद्धांत बना देता है।"[1] विचारधारा की एक दूसरी परिभाषा डलासर महोदय ने दी है। उनके मतानुसार विचारधारा व्यक्ति के प्रमुर्त विचारों की व्यवस्था है। ये विचार वास्तविकता को स्पष्ट करते हैं, मूल्यात्मक लक्ष्यों की अभिव्यक्ति करते हैं तथा इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने अथवा बनाये रखने का प्रयास करते हैं जिसमें उनके विश्वास के अनुसार लक्ष्यों को सर्वश्रेष्ठ रूप में साकार किया जा सकता है।

अनेक पश्चिमी देशों में लोगों के विश्वास और राजनैतिक जीवन के लक्ष्यों के प्रति समान दृष्टिकोण हैं। जब कभी दूसरे देश द्वारा चुनौती दी जाती है तो एकता प्राप्त करने के उद्देश्य से विभिन्नताओं के बीच समझौता किया जा सकता है। जब पूरे राष्ट्र की एक राय रहती है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अधिक से अधिक शक्ति का प्रयोग कर सकता है। बड़ी शक्तियां केवल तभी जन्म लेती हैं जबकि अनेक राष्ट्र समान विचारों एवं समान लक्ष्यों के साथ आगे बढ़ते हैं।

कुछ विचारकों का यह कहना है कि सत्तावादी समाजों में दल अथवा सरकार के पीछे जनता का सच्चा मत नहीं रहता। केन्द्रीय स्तर पर मजबूत नेतृत्व, व्यापक प्रचार, बड़े राजनैतिक यन्त्र एवं स्वामिभक्त अनुयायियों के कारण केन्द्रीय शासन के पीछे शक्ति को लेकर चल सकता है। सोवियत रूस, साम्यवादी चीन और युद्ध पूर्व के इटली तथा जर्मनी में यही बात देखने को मिलती है। सैद्धान्तिक विचारधारायें प्रायः वास्तविकता की कुछ मान्यताओं पर या पूर्व कल्पनाओं पर आधारित रहती हैं जिन्हें उनके अनुयायी सत्यता देने का प्रयास करते हैं। यदि ये पूर्व मान्यतायें बड़ा और व्यापक समर्थन रखती हैं तो सिद्धांत की प्रभावशीलता बढ़ जाती है।

साम्यवाद की सैद्धान्तिक शक्ति को इतिहास के वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के आधार पर बढ़ाया जाता है। इस विचारधारा के द्वारा पूंजीवाद एवं

1. Snyder & H. Hubert Wilson, Roots of Pol. Behaviour, P. 511.

साम्राज्यवाद पर मजदूर वर्ग की विजय का वायदा किया जाता है। साम्यवाद के ये वायदे अविकसित समाजों में पर्याप्त योगदान रखते हैं। इन समाजों में जनसधारण को गलत सूचनायें दी जाती हैं और इन सूचनाओं को वे बिना किसी वाद विवाद के स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि उन्हें अपनी दशा को सुधारने की आकांक्षा रहती है। वैसे सच्चा साम्यवादी राज्य तो शायद साम्यवादी रूस और चीन के नेताओं के जीवन काल में भी प्राप्त नहीं हो सकता, किन्तु फिर भी वे इसको अपना उद्देश्य मान कर चलते हैं। सिद्धांत की शक्ति को व्यापक संचार के साधनों द्वारा कई गुना बना दिया जाता है। अनेक विकसित देशों में उन नए विचारों एवं लोकप्रिय आन्दोलनों के लिए पर्याप्त उपजाऊ परिस्थितियां होती हैं जो कि सुधार एवं तुरन्त परिवर्तन का वायदा करते हैं। तुरन्त परिवर्तन के लिये सार्वजनिक समर्थन प्राप्त करने के हेतु साम्यवादी विचारधारा एक उपयुक्त सिद्धांत प्रतीत होती है। सरकार के नए रूप की स्थापना के लिए, उपनिवेशवादी शासन को समाप्त करने के लिए तथा आर्थिक कमी को पूरा करने के लिये यह विचारधारा अनेक वायदे करती है। व्यापक महत्वाकांक्षायें एवं शीघ्र प्राप्त किए जाने वाले परिणाम, आज्ञाकारिता एवं अनुशासन की मांग करते हैं और यह साम्यवादी विचारधारा में सम्भव हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथार्थवादी सिद्धांत के प्रणेता शक्ति के लिये संघर्ष को महत्वपूर्ण मानते हैं और उनके मतानुसार सिद्धान्त इसी की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है। विश्व राजनीति में जो वास्तविकता है और जो दिखाई देता है उन दोनों के बीच पर्याप्त अन्तर है। राष्ट्र शक्ति प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियां निर्धारित करते हैं, किन्तु ये नीतियां उनके द्वारा नैतिक, कानूनी या जीव शास्त्रीय अर्थ में अभिव्यक्त की जाती हैं। कहने का अर्थ यह है कि नीति के सही रूप को सैद्धांतिक न्यायोचितता एवं बौद्धिकता के द्वारा छिपा लिया जाता है। मारगेन्थो के मतानुसार जो लोग शक्ति संघर्ष में जितने उलझे रहते हैं वे इस बात को उतना ही कम देख पाते हैं कि यह शक्ति संघर्ष किस लिए हो रहा है। राजनैतिक रंगमंच के अभिनेता, राजनैतिक विचारधारा के पीछे जो राजनैतिक क्रियाओं की सच्ची प्रकृति होती है उसे छिपाने का प्रयास करते हैं। एक व्यक्ति शक्ति के संघर्ष से जितना अधिक दूर होता है वह उसकी सही प्रकृति को समझने में उतना ही अधिक समर्थ होता है। इस आधार पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि एक देश विशेष की राजनीति को उसके मूल क्रियाशियों की अपेक्षा प्रायः विदेशी अधिक अच्छी तरह से समझ पाता है। साथ ही विद्वान अध्ययनकर्त्ता

राजनीतिज्ञों की अपेक्षा अधिक जानकारी हासिल कर लेता है। राजनीतिज्ञों की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं उसे छिपाना चाहते हैं और इसलिये अपने कार्यों को शक्ति की शब्दावली में सन्दर्भित न करके नैतिक और कानूनी सिद्धान्तों या जैविक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में करते हैं। मारगेन्थो ने शब्दों में जबकि समस्त राजनीति आवश्यक रूप से शक्ति की खोज है विचारधारायें इन शक्ति संघर्ष को ऐसा रूप देती हैं जो अभिनेताओं और उनके श्रोताओं के लिए मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक रूप से स्वीकार्य हो।

कानूनी एवं नैतिक सिद्धांत तथा जीवशास्त्रीय आवश्यकताएं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में दोहरा कार्य करती हैं; या तो राजनैतिक क्रिया का अन्तिम लक्ष्य है अथवा वे एक झूठे पर्दे का काम करती हैं जिसके पीछे कि शक्ति संघर्ष की वह स्थिति छिपी हुई है जो कि समस्त राजनीति की मुख्य विशेषता है। ये सिद्धान्त और आवश्यकताएं पहले अथवा दूसरे कार्य को अथवा दोनों कार्यों को एक साथ सम्पन्न करती हैं। उदाहरण के लिए न्याय का कानूनी और नैतिक सिद्धांत या पर्याप्त जीवन स्तर की जीवशास्त्री आवश्यकता विदेश नीति का लक्ष्य हो सकती है या एक विचारधारा हो सकती है अथवा एक ही समय में दोनों चीज हो सकती हैं। इस प्रकार नैतिक और कानूनी सिद्धांत तथा जीवशास्त्रीय आवश्यकताएं विचारधाराओं के कार्य सम्पन्न करती हैं। कहा जाता है कि यह राजनीति की प्रकृति में निहित है कि वह राजनैतिक रंगमंच के अभिनेता को अपने कार्यों के तत्कालीन लक्ष्य को छिपाने के लिए विचारधारा का प्रयोग करने के लिए बाध्य करती है। प्रत्येक राजनैतिक कार्य का तात्कालिक उद्देश्य शक्ति है और राजनैतिक शक्ति व्यक्तियों के कार्यों एवं मस्तिष्क पर शक्ति होती है। शक्ति की राजनीति में जो व्यक्ति दूसरों की शक्ति का विषय है वह दूसरों पर स्वयं भी शक्ति प्राप्त करना चाहता है। एक ही साथ ये दोनों कार्य होते हैं कि व्यक्ति दूसरों पर अपनी शक्ति जमाना चाहता है और दूसरे उस पर अपनी शक्ति जमाना चाहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः अपनी शक्ति प्राप्ति की इच्छा को कानूनी और न्यायोचित मानता है तथा दूसरों की ऐसी इच्छाओं को जो कि उसके ऊपर शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं वह अनुचित और अन्यायपूर्ण मानता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से सोवियत संघ ने जो नीति अपनाई उसे यह अपनी सुरक्षा की दृष्टि से न्यायोचित ठहराता है, किन्तु अमरीकी शक्ति के प्रसार को वह विश्व विजय की तैयारी या साम्राज्यवादी प्रयास कह कर आलोचना का विषय बनाता है। दूसरी ओर संयुक्त राज्य

अमरीका भी रूस की महत्वाकांक्षाओं को यही उपाधि प्रदान करता है और अपने अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यों को राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकतायें बताता है। मारगेन्थो द्वारा उद्धरित जान एडम्स के ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि शक्ति हमेशा यह सोचती है कि इसकी आत्मा महान है और इसके दृष्टिकोण व्यापक हैं तथा जिस समय ईश्वर के सारे कानूनों को तोड रही है उस समय यह ईश्वर की सेवा कर रही है।[1]

जब एक देश खुले रूप से यह स्वीकार कर लेता है कि वह शक्ति चाहता है और इसलिए दूसरे राष्ट्रों की ऐसी महत्वाकांक्षाओं का विरोध कर रहा है तो वह मुश्किल में पड़ जाएगा और उसे शक्ति संघर्ष में नुकसान होगा। स्पष्ट मान्यता के द्वारा एक ओर तो दूसरे देशों को इसके विरुद्ध एक बना देगी जो कि मिल कर उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करेंगे तथा उसे विदेश नीति के लक्ष्यों को पूरा न करने देंगे। दूसरी ओर स्पष्ट कथन के कारण वह सामान्य रूप से स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय समाज के नैतिक मापदण्डों को अस्वीकृत कर देगा और इस प्रकार वह ऐसी स्थिति में आ जाएगा जहाँ स्वयं की विदेश नीति को वह आधे दिल से या बुरी प्रारम्भ चलना व सम्पन्न करेगा। यह कहा जाता है कि अगर कोई सरकार जनता को विदेश नीति के पीछे लाना चाहती है या समस्त राष्ट्रीय शक्तियों को तथा साधनों को उसके पीछे लगा देना चाहती है तो उसे चाहिए कि जीवशास्त्रीय आवश्यकताओं पर जोर डाले, जैसे राष्ट्र का अस्तित्व आदि। नैतिक सिद्धांतों जैसे न्याय पर जोर डालना भी उपयोगी हो सकता है किन्तु उसे शक्ति की शब्दावली में नहीं बोलना चाहिए। केवल इसी मार्ग को अपना कर एक राष्ट्र बलिदान के लिए उत्साह एवं स्वेच्छा प्राप्त कर सकता है जिसके बिना उसकी विदेश नीति शक्ति के अन्तिम मापदण्ड से बाहर नहीं निकल सकती।

अनेक मनोवैज्ञानिक शक्तियाँ होती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों की विचारधाराओं को अपरिहार्य रूप से प्रभावित करती हैं तथा उन्हें शक्ति के संघर्ष में शस्त्र बना देती हैं। यदि हम उदाहरण के लिए दो सरकारों को लें जिनमें से एक सरकार अपनी विदेश नीति को बौद्धिक मान्यताओं एवं नैतिक मूल्यांकनों के आधार पर अपनी जनता में प्रसारित करती है और दूसरी सरकार ऐसा नहीं कर पाती तो निश्चय ही हम पहली सरकार को दूसरी की अपेक्षा अधिक लाभ में पायेंगे। मारगेन्थो ने सही लिखा है कि

1. John Adams, Quoted by Morgenthau, op cit, p 88

विचारधारायें समस्त विचारों की भांति ऐसे हथियार होते हैं जो कि राष्ट्रीय मारेल को उठा सकते हैं और इसके साथ ही एक राष्ट्र की शक्ति को बढ़ा सकते हैं। ऐसा करके व अपने विरोधी के मारेल को नीचा कर सकते हैं। कहा जाता है कि वुड्रो विल्सन के चौदह सूत्रीय कार्यक्रम ने प्रथम विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय में बहुत सहारा दिया क्योंकि इससे उनका मारेल बढ़ गया था और विरोधियों का मारेल नीचा हो गया था।

विचारधारा के प्रकार
(The Types of Ideology)

विचारधारा शब्द का जन्म हुए सौ वर्ष के आसपास हुए हैं। कुछ लोग कहते हैं कि इसका सर्वप्रथम प्रयोग डेस्टट डि ट्रेसी (Destutt de Tracy, 1754–1836) द्वारा किया गया जबकि अन्य लोगों के मतानुसार जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham) या नेपोलियन ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया। पामर तथा पर्किन्स का यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि यद्यपि विचारधारागत तत्व इतिहास की शताब्दियों तक सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन के निरन्तर तत्व रहे हैं किन्तु बीसवीं शताब्दी से पूर्व उनका कदाचित ही निर्णायक महत्व था। आज हम जिनको विचारधारा कहते हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नई जान फूंकने का काम कर रहे हैं। इस प्रसंग में जोसफ रोसिक (Joseph Roucek) का यह कथन भी समान रूप से महत्व रखता है कि हमारा युग ही वह पहला युग नहीं है जिसने कि विचारों की नवीन व्यवस्था को उत्पन्न किया है या जो कि विचारधारागत संघर्षों से युक्त है। किन्तु फिर भी सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक युद्धों को छोड़ कर ऐसा कोई युग नहीं रहा जबकि इतने प्रकार के सिद्धान्त हों।

विचारधारा को जिस रूप में परिभाषित किया गया है वह अपने आप में पर्याप्त महत्वपूर्ण है। विश्व राजनीति में विचारधाराओं का महत्व इसलिए बढ़ गया है क्योंकि ये राष्ट्रीय शक्तियों से सम्बन्ध रखती हैं। जिस प्रकार शक्ति महत्वाकांक्षी राष्ट्रवाद का साधन बनी उसी प्रकार से यह विचारधाराओं का साधन बन गई है। कैसे यथार्थवादी विचारकों की मान्यता इससे विपरीत है क्योंकि वे शक्ति को तत्व एवं विचारधाराओं को साधन कहते हैं, किन्तु दूसरे विचारकों के मतानुसार जब तक किसी प्रकार की शक्ति विचारधारा के साथ नहीं है उस समय तक यह विचारधारा निष्क्रिय एवं सम्बन्धित विचारों का हानि रहित योग मात्र रहेगा। इस मत के मानने वालों का यह दावा है कि साम्यवाद को ऊपर उठाने वाला मार्क्स

या लेनिन का उपदेश नहीं है वरन् सोवियत शक्ति है जो इनके पीछे कार्य कर रही है। शक्ति के बिना साम्यवाद एक निष्क्रिय मनोविश्लेषण मात्र बन जाएगा।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधाराओं के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करने से पूर्व यह उपयोगी रहेगा कि उसके बढ़ते हुए महत्व के कारणों का अध्ययन किया जाय। विचारकों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में विचारधारा के बढ़ते हुए महत्व के लिए दो उत्तरदायी कारण बताए गए हैं। प्रथम कारण यह है कि विचारधाराओं पर आधारित अनेक शक्तिशाली ऐसे राज्यों का विकास हो गया है जो कि उदारवादी परम्पराओं के पश्चिमी विश्व की परम्पराओं पर निर्भर, उदार एवं प्रजातन्त्रात्मक समाजों का स्पष्ट विरोध करते हैं। सन् १९१७ में रूसी साम्यवादी क्रान्ति और उसके बाद इटली की फासिस्टवादी और जर्मनी की नाजीवादी विश्व इतिहास की मुख्य घटनायें थी। इन विचारधाराओं का सम्बन्धित देशों की विदेश नीतियों पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा और इस प्रकार दूसरे देशों के साथ उनके सम्बन्धों में भी अनेक मोड़ आए। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नींव राष्ट्रवादी शक्ति सन्तुलन से विचारधारागत शक्ति सन्तुलन की ओर मुड़ गई है।

विचारधारा के महत्व का एक दूसरा कारण यह है कि आजकल नीति निर्माण पर जन साधारण का प्रभाव बढ़ गया है। विदेशी मामलों के क्षेत्र में सामान्य जन सक्रिय रूप से रुचि लेने लगे हैं। ई एच. कार (E. H Carr) के कथनानुसार सन् १९१४ के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का व्यवहार केवल उन लोगों की रुचि का विषय था जो व्यावसायिक रूप से संलग्न हैं। प्रजातन्त्रात्मक देशों में विदेश नीति को परम्परागत रूप से दलीय राजनीति के क्षेत्र से बाहर समझा जाता था तथा प्रतिनिधि संस्थायें विदेशी कार्यालयों के रहस्यपूर्ण व्यवहार पर कड़ा नियन्त्रण रखने में अपने आपको योग्य नहीं मानती थी।[1]

वैसे विदेश नीति के अनेक विषय ऐसे होते हैं जो विशेषज्ञों को सौंप जाने चाहिए। इनमें से कुछ विषयों पर तो लोगों का ध्यान ही नहीं जाता क्योंकि वे उनसे अनभिज्ञ रहते हैं। ये विषय संगठित समूहों के

1. Edward Hallett Carr, The Twenty Years Crisis, 1919-1939, 2nd ed , 1946, P. 1

विशेष हितों को प्रभावित नहीं करते तथा उन लोगों की सामान्य स्वीकृति पर आधारित रहते हैं जो कि राजनैतिक रूप से जागरूक हैं।

आज के युग में वैदेशिक मामले नागरिकों के जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित करते हैं। इतने पर भी जनता विदेश नीति के निर्धारकों पर निरन्तर रूप से अपना प्रभाव नहीं रख पाती। वह उपलब्ध विकल्पों के चयन में भी विशेष योगदान नहीं रखती। इतने पर भी नीति निर्माता सदैव ही जनमत को ध्यान में रखते हैं। जनता के दृष्टिकोणों, विश्वासों, मूल्यों एवं सद्यों की अवहेलना करके वे अधिक समय तक काम नहीं चला सकते। प्राचीन काल के तानाशाहों की भांति जनता की भावनाओं का विचार किए बिना ही आज महत्वपूर्ण निर्णय नहीं ले सकते। प्रजातन्त्रात्मक देशों में तो प्रजा का सहयोग अनिवार्य समझा ही जाता है, सम्पूर्णतावादी राज्यों में भी यह विशेषता महत्व रखती है। सम्पूर्णतावादी राज्य अपनी जनता के मतों की अवहेलना करने की अपेक्षा जनमत को अपनी नीतियों के अनुकूल ही रखने का प्रयास करते हैं। ऐसा करने के लिए उनके द्वारा दो मार्ग अपनाए जाते हैं। प्रथम यह कि जनता को वह सूचना प्रदान नहीं की जाती जो नेताओं द्वारा उनके हित के विपरीत मानी जाती है। दूसरे, वे इस सूचना को ऐसा सैद्धान्तिक रूप प्रदान कर देते हैं जो शासन के हित में होता है। यद्यपि प्रजातन्त्रात्मक सरकारें भी जनहित की दृष्टि से विचारों पर नियन्त्रण रखती हैं किन्तु उनके द्वारा रखे जाने वाले नियन्त्रण की मात्रा सम्पूर्णतावादी राज्यों की तुलना में कम होती है। यह कहा जाता है कि जनता की विचारधारा यद्यपि अत्यन्त अस्पष्ट और उलझी हुई होती है किन्तु यह विदेश नीति के निर्णयों के लिए कुछ व्यापक बाहरी सीमायें निर्धारित कर देती है। साथ ही यह एक ऐसे साधन का काम करती है जो सरकार द्वारा स्वीकृत नीतियों एवं लिए गए निर्णयों पर जनता का समर्थन प्राप्त कर सके। जिस समय विचारधारा को जनता का समर्थन प्राप्त करने के साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा हो उस समय इसका बौद्धिकीकरण (Rationalisation) किया जा सकता है; यथार्थ नीति के वास्तविक कारण को चेतन अथवा अचेतन रूप से छिपा दिया जाता है और उसका आधार विचारधारा को बता दिया जाता है। यह भी हो सकता है कि नीति यथार्थ में विचारधारा के कुछ पहलुओं से प्रेरित एवं निर्देशित हो।

विचारधारा के महत्व का एक अन्य आधार यह है कि राजनीतिज्ञों का कई चीजें विदेशों की जनता से भी छिपा कर रखनी होती है क्योंकि

उन देशो की विदेश नीति का प्रभाव उनके स्वय के निर्णयो पर पड सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे जो 'सूचना' कार्यक्रम का नया विकास हुआ है वह विकास कूटनीति के इस नए प्रसार का प्रमाण है। आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे देशो ने कुछ शब्दो को चुन लिया है जिनका प्रयोग करके वे अपने देश के आदर्श लक्ष्य एव मानवीय दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करते है तथा अपने विरोधियो की आलोचना करते हैं। विरोधी नीतियो को साम्राज्यवादी, उपनिवेशवादी, विस्तारवादी, विध्वसक आदि कह कर आलोचित किया जाता है और दूसरी ओर अपनी नीतियों को साम्राज्यवाद विरोधी, मानवीय, उपनिवेशवाद विरोधी बता कर उसके लिए सम्मान प्राप्त किया जाता है।

प्रचार कार्य की प्रभावशीलता के परिणामस्वरूप एक देश अपनी राष्ट्रीय शक्ति को पर्याप्त बढा लेता है। विचारधारा उसके इस प्रचार कार्य को सशक्त बना देती है। अधिक जनसख्या वाले नये विकासशील देशो मे लोगो के मस्तिष्को को प्रभावित करने की सम्भावनायें अधिक रहती हैं। यह यहा के लोग विचारधारा को अत्यधिक महत्व देते हैं। इन देशो की परम्परागत सामाजिक एव बौद्धिक नीव कमजोर पड जाती हैं तथा ये मन्थन की अवस्था मे रहते हैं। यहा पर राष्ट्रवाद एक बौद्धिक शक्ति के रूप मे कार्य करता है। यद्यपि राष्ट्रवाद ने इन प्रदेशो मे लोगो को एकीकृत करने मे पर्याप्त योगदान किया है तथा इन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त करने मे सहायता दी है किन्तु फिर भी श्लाइशर महाशय का विचार है कि यह राष्ट्रवाद तीन दृष्टियो से अपर्याप्त है। प्रथम, यह वास्तविकता का कोई पर्याप्त स्पष्टीकरण प्रदान नही करता, दूसरे, यह मूल्यो के सतोषजनक दर्शन के रूप मे अपर्याप्त है, और तीसरे, यह उन आवश्यक आर्थिक एव राजनैतिक सस्थाओ के बारे मे कुछ नही कहता जो कि जनता की बदलती हुई एव बढती हुई आकाक्षाओ को सन्तुष्ट कर सके। इस प्रकार इन देशो मे एक प्रकार का रिक्त स्थान है जिसकी पूर्ति के लिए विभिन्न विचारधारायें प्रयास करती हैं। एक विचारधारा तभी प्रभावशील हो सकती है जबकि वह स्थानीय आवश्यकताओ एव परिस्थितियो के अनुरूप हो। एक बात ध्यान मे रखने योग्य यह है कि इस विचारधारा को राष्ट्रवाद की भावनाओ का विरोध नहीं करना चाहिए। मार्क्स तथा लेनिन की विचारधारा को इन प्रदेशो के अनुकूल समझा जाता है क्योकि इनमे पर्याप्त लोचशीलता रहती है जो इसे परिस्थिति के अनुकूल परिभाषित होने की क्षमता प्रदान करती है। साम्यवादी विचारक साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद

का विरोध करने इन देशों के लोगों की भावनाओं को अपने साथ मिला लेते हैं। साथ ही वे इन देशों में फैली हुई गरीबी को मिटाने के लिए उपाय भी सुझाते हैं। साम्यवादी रूस और चीन ने थोड़े से समय में जो आर्थिक विकास किया है उसे उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके साम्यवाद इन देशों के आकर्षण का केन्द्र बन गया है। जो देश साम्यवाद के सर्वाधिकारवादी रूप में विश्वास नहीं करते वे भी यह तो स्वीकार करते हैं कि पश्चिमी प्रजातन्त्र की परम्परायें उनके वातावरण के अनुकूल नहीं हैं।

विचारधारा के रूपों के सम्बन्ध में यह बताया जाता है कि 'वाद' कहे जाने वाले समस्त विचारों को हम विचारधारा कह सकते हैं क्योंकि विचार जब 'वाद' का रूप धारण कर लेता है तो वह एक संगठित निकाय बन जाता है। इस दृष्टि से सर्वाधिकारवाद (Totalitarianism), साम्यवाद (Communism), फासिस्टवादी (Fascism), नाजीवादी (Nazism), समाजवाद (Socialism), उदारवाद (Liberalism), समष्टिवाद (Collectivism) आदि सभी को हम विचारधारा के विभिन्न रूप मान सकते हैं। पामर तथा परकिन्स ने तो प्रजातन्त्र, ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म को भी विचारधारा कहा है।

मार्गेन्थो महाशय ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विभिन्न विचारधाराओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है। उनके मतानुसार कुछ विचार-धारायें ऐसी हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यथास्थिति (Statusquo) बनाए रखना चाहती हैं। दूसरे प्रकार की विचारधारायें विस्तारवादी नीति अपनाती हैं और इसलिए उन्हें 'साम्राज्यवादी' कहा है। तीसरे प्रकार की विचारधारायें अनेकार्थक एवं अस्पष्ट होती हैं, उदाहरण के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि साम्राज्यवादी नीतियों पर हमेशा ही विचारधारा का पर्दा डाला जाता है। किन्तु यदि देश यथास्थिति का समर्थन कर रहा है तो वह अपनी नीतियों को अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत कर सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विचारधाराओं के कुछ प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के कुछ प्रकारों के साथ समन्वित रहते हैं।

यथास्थिति की विचारधारायें

जो देश यथास्थिति की नीति में विश्वास करता है वह अपने व्यवहार को विचारधाराओं के आवरण में छिपाना नहीं चाहता। इसका

कारण यह है कि वस्तुस्थिति का अस्तित्व होता है और इस आधार पर उसे कुछ नैतिक न्यायोचितता प्राप्त हो जाती है क्योंकि जिस चीज का अस्तित्व है उसमें कुछ न कुछ अच्छाइयां तो अवश्य ही होंगी वरना उसका अस्तित्व ही न रहता। जो देश यथास्थिति की नीति को अपनाता है वह उस शक्ति की रक्षा का प्रयास करता है जो कि उसने प्राप्त की हुई है। इसके लिए सम्भव है कि वह किसी को भी अपना शत्रु या मित्र न बनाए। ऐसा वह केवल तभी कर सकता है जबकि उसके क्षेत्रीय स्वामित्व को कोई कानूनी या नैतिक चुनौती नहीं दी जाती। स्विटजरलैण्ड, डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन आदि देश अपनी विदेश नीति को यथास्थिति बनाए रखने वाली नीति के रूप में परिभाषित कर सकते हैं क्योंकि उनकी यथास्थिति को न्यायोचित मान लिया गया है। अन्य देशों ने जैसे कि फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया एवं रूमानिया आदि ने दो विश्व युद्धों के बीच में यथास्थिति की नीति को अपनाया। किन्तु ये देश यह घोषणा नहीं कर सकते थे कि उनकी विदेश नीति का लक्ष्य उनकी प्राप्तियों की रक्षा करना है। इसका कारण यह था कि सन् १९१९ की वस्तुस्थिति को इन देशों में आन्तरिक रूप से एवं बाह्य रूप से चुनौती दी जाती थी। अतः इन देशों को इस चुनौती का सामना करने के लिए आदर्श सिद्धान्तों की रचना करनी पड़ी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं शान्ति के आदर्शों द्वारा उन्होंने इस उद्देश्य की पूर्ति की।

जो देश यथास्थिति की नीति को अपनाता है वह आवश्यक रूप से शांति एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समर्थक बन जाता है। दूसरी ओर साम्राज्यवादी नीतियां यथास्थिति में रद्दोबदल करने के लिए प्रायः युद्ध का मार्ग भी अपना लेती हैं और इस प्रकार वह युद्ध की सम्भावना को सदैव ध्यान में रखती हैं। जो विदेश नीति शान्तिवाद का समर्थन करती है, वह साम्राज्यवाद का विरोध करती है तथा यथास्थिति को बनाये रखने का पक्ष लेता है। जब एक राजनीतिज्ञ अपनी यथास्थिति की नीति के लक्ष्यों को शान्तिवादी रूप में अभिव्यक्त कर देता है तथा अपने साम्राज्यवादी विरोधियों पर युद्ध प्रेमी होने का आरोप लगाता है तो वह अपनी तथा अपने देशवासियों की नैतिक चेतना को उभार देता है और ऐसी स्थिति में वह उन सभी देशों का समर्थन प्राप्त करने की आशा कर सकता है जो कि यथास्थिति में विश्वास करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर्श भी यथास्थिति की नीति के लिए समान सैद्धान्तिक कार्य करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्य की सामाजिक

शक्ति होता है। यह कुछ अर्थों में शक्ति के वितरण को परिमापित करता है तथा कुछ ऐसे मापदण्ड प्रदान करता है जिनके द्वारा इसे प्रयुक्त किया जा सकता है।

यथास्थिति की नीति का समर्थन करने के लिए कभी-कभी राष्ट्र संघ जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को भी प्रयोग में लाया जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से ही इस नीति का समर्थन प्राय कानूनी विचारधाराओं के आधार पर ही किया जाता है। यथास्थिति का बनाये रखने का अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की रक्षा से लगाया जाता है। दोनों के बीच पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध बना कर ही इस नीति को मानने वाले अपने समर्थकों की संख्या बढाते हैं। यह नीति सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की ओर भी प्रेरित हो सकती है क्योंकि यथास्थिति को बनाये रखने के समर्थक देश इसे बदलने वाले देशों के विरुद्ध संगठित हो सकते हैं। यथास्थिति की नीति की एक अन्य विचारधारा यह है कि छोटे राष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा की जाय। यह विचारधारा इसलिए आवश्यक बन जाती है क्योंकि यथास्थिति में किये जाने वाले परिवर्तन प्राय छोटे राष्ट्रों की कीमत पर ही किये जाते हैं।

साम्राज्यवाद की विचारधारायें

जब कोई देश साम्राज्यवाद की नीति को अपनाता है तो उसे अवश्य ही एक विचारधारा की आवश्यकता पड़ती है। वे देश जिस विचारधारा को भी अपनाते हैं उसका औचित्य सिद्ध करना इन देशों का उत्तरदायित्व बन जाता है। इन देशों को यह सिद्ध करना होता है कि वे जिस यथास्थिति को बदलने जा रहे हैं उसे बदला जाना जरूरी एवं उचित है। इसके बाद जो शक्ति का नये सिरे से वितरण किया जायेगा वह नैतिक होगा तथा न्यायपूर्ण होगा। कोई भी युद्ध करने वाला देश अपने युद्ध का लक्ष्य सुरक्षा, सम्मान, सुविधा, उत्साह आदि किसी भी तत्व को बना सकता है।

साम्राज्यवाद की कुछ विचारधारायें कानूनी मान्यताओं का भी प्रयोग करती हैं, किन्तु ऐसा करते समय वे स्थित अन्तर्राष्ट्रीय कानून का हवाला नहीं देती। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की प्रकृति कठोर एवं अपरिवर्तनीय होती है अत उनको यथास्थिति का ही साथी मान लिया जाता है। दूसरी ओर साम्राज्यवाद की नीति गतिशील होती है। अत गतिशील विचारधारा की ही आवश्यकता रहती है। कहा जाता है कि प्राकृतिक कानून का सिद्धात साम्राज्यवाद के सैद्धांतिक आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त है।

साम्राज्यवादी राष्ट्र स्थित अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विरोध करते हैं क्योंकि वह यथास्थिति चाहता है; अतः उसे न्यायपूर्ण बताते हैं। उसके विरुद्ध उससे भी ऊंचा कानून बना देते हैं जो न्याय की मांगों को पूरा करता हो। नाजी जर्मनी ने वार्साय की सन्धि वाली यथास्थिति को जब बदलने की मांग की तो उसका आधार समानता को बताया और कहा कि वार्साय की सन्धि में समानता के सिद्धांत का उल्लंघन किया गया था।

नाजी जर्मनी का उदाहरण तो ऐसा उदाहरण है जहां कि एक साम्राज्यवादी देश ने युद्ध में हारे हुए अपने भागों को वापिस लेने की मांग की थी, किन्तु यदि ऐसी स्थिति न हो तो भी साम्राज्यवादी देश कमजोर देशों की सत्ता को स्वयं समाप्त करता है; और वह सब करते समय वह नैतिकता एवं मानवीयता के नाम की दुहाई देता है। वह इसे गोरे लोगों का दायित्व या ईसाइयों का कर्तव्य या राष्ट्रीय मिशन आदि कुछ कह कर न्यायपूर्ण सिद्ध करने का प्रयास करता है। उपनिवेशी साम्राज्यवाद को ऊंचे ऊंचे सैद्धान्तिक नारों के नीचे दबाने का प्रयास किया जाता है। अरब विस्तार के काल में अरब साम्राज्यवाद को यह कह कर न्यायोचित ठहराया जाता है कि यह धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए जरूरी था। इसी प्रकार नेपोलियन का साम्राज्यवाद, स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व के नाम पर योरोप भर में फैल गया। इसी प्रकार रूसी साम्राज्यवाद विश्व शान्ति एवं पूंजीवादी घेरे के विरुद्ध सुरक्षा के नाम पर फैल रहा है। अमरीकी साम्राज्यवाद भी साम्यवाद से सुरक्षा एवं स्वतन्त्र दुनिया के हितों की रक्षा के नाम पर बढ़ रहा है।

आधुनिक समय में डार्विन तथा स्पेन्सर के सामाजिक दर्शनों के प्रभाव में साम्राज्यवादी विचारधाराओं ने जीव शास्त्रीय तर्कों को प्राथमिकता प्रदान की। योग्यतम की विजय एवं अस्तित्व के लिए संघर्ष के सिद्धांतों को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में ला दिया गया है। इसके परिणामस्वरूप सैनिक शक्ति की दृष्टि से उच्च देशों को कमजोर देशों की अपेक्षा अधिक सम्मान दिया जाता है। इस दर्शन के अनुसार यदि शक्तिशाली राष्ट्र कमजोर राष्ट्रों पर प्रभाव नहीं रखता अथवा कमजोर राष्ट्र शक्तिशाली राष्ट्र के बराबर होने का प्रयास करता है तो यह बात प्रकृति के विरुद्ध मानी जायेगी क्योंकि प्रकृति के नियम के अनुसार तो शक्तिशाली एवं योग्यतम की विजय होनी ही चाहिए। शक्तिशाली राष्ट्र का स्थान सर्वोच्च है तथा वह पृथ्वी पर रत्न की भांति है। एक प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री का कहना था कि प्रथम विश्व युद्ध के समय में जर्मन हीरों की ब्रिटेन के दुकानदारों के ऊपर

जीत होना अवश्यम्भावी था। जो जातियां कमजोर व घटिया दर्जे की हैं उनको अपने से उच्च जातियों की सेवा करनी ही चाहिए। यह प्रकृति का कानून है और केवल दुष्ट व्यक्ति तथा मूर्ख ही इसका विरोध करेंगे।

ये जीवनशास्त्रीय तर्क फासीवाद, नाजीवाद एवं जापान के साम्राज्यवाद द्वारा दिये गये। इन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्रकृति ने इन राष्ट्रों को धरती का स्वामित्व करने के लिए भेजा है और जो इस कार्य में बाधा डाल रहा है वह प्रकृति के नियम का विरोध कर रहा है। इन तीनों राष्ट्रों ने बताया कि यद्यपि प्रकृति ने हमें विश्व का स्वामित्व करने के लिए भेजा है किन्तु कमजोर राष्ट्रों की चालाकी और हिंसा के कारण वे अपने निश्चित पद पर नहीं हैं। इन राष्ट्रों को उन पूंजीवादी राष्ट्रों से लड़ना चाहिए ताकि अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें तथा जर्मनी, जापान और इटली अत्यधिक जनसंख्या के कारण अपनी विचारधारा को प्रभावशील रूप में प्रस्तुत कर सकें। उनका कहना था कि जर्मनी के लोगों के पास रहने के लिए जगह नहीं है। यदि वे अतिरिक्त भूमि प्राप्त नहीं कर सकेंगे तो समाप्त हो जायेंगे। यदि उनको कच्चे माल के और स्रोत नहीं मिले तो वे भूखे मर जायेंगे। कुछ थोड़े बहुत अन्तर के साथ यही विचारधारा इटली और जापान द्वारा अपनी प्रसारवादी नीतियों को उचित ठहराने के लिए और साम्राज्यवादी लक्ष्यों को छिपाने के लिए प्रयुक्त की गई।

साम्राज्यवादी व्यवहार को न्यायोचित बताने तथा छिपाने के लिए देश साम्राज्यवाद विरोधी विचारधारा को अपनाते हैं। इस विचारधारा के अनुसार एक देश यह सिद्ध करता है कि दूसरे देश शक्ति प्राप्ति की महत्वाकांक्षा से प्रेरित होकर अपनी नीतियों को सचालित कर रहे हैं तथा उसकी स्वयं की नीतियां शुद्ध रूप से आदर्श उद्देश्यों की ओर प्रेरित हैं। इस विचारधारा को इसलिए अधिकतर प्रयुक्त किया जाता है क्योंकि यह साम्राज्यवाद की विचारधाराओं में सर्वाधिक प्रभावशील है। हुएलांग (Hueylong) के कथनानुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में 'फासीवाद' फासीवाद विरोधी के रूप में आएगा। इसी प्रकार अनेक देशों में 'साम्राज्यवाद' साम्राज्यवाद विरोधी पर्दे में छिप कर आता है। पिछले दोनों महायुद्धों में भाग लेने वाले दोनों पक्षों का दावा था कि वे दूसरे पक्ष के साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी रक्षा कर रहे हैं। जर्मनी ने जब सन् १९४१ में सोवियत रूस पर आक्रमण किया तो यह कहा था कि वह सोवियत संघ के साम्राज्यवादी इरादों को तोड़ने के लिए ऐसा कर रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से

साम्यवादी एव गैर-साम्यवादी दोनो गुटो के राष्ट्रो की विदेश नीतियां साम्राज्यवाद के विरुद्ध सचालित हो रही है। इस प्रकार के तर्कों के आधार पर एक देश अपनी जनता में सद्इच्छा एव विश्वास जागृत करके उनके कार्यों को न्यायोचित ठहराता है और इसके बाद वह जनता देश की विदेश नीति का सच्चे दिल से समर्थन करती है तथा इसके लिए सफलतापूर्वक लडती है।

अनेकार्थक एव अस्पष्ट विचारधारायें

साम्राज्यवाद विरोधी विचारधारा की प्रभावशीलता उसकी अस्पष्टता एवं अनेकार्थकता से आती है। इस विचारधारा मे देखने वाला निश्चित रूप से यह नही जान पाता कि वह साम्राज्यवादी विचारधारा पर विचार कर रहा है अथवा यथास्थिति की नीति की सच्ची अभिव्यक्ति पर विचार कर रहा है। ऐसा प्राय तब होता है जबकि एक विचारधारा किसी विशेष नीति को समर्पित करने के लिए नही अपनाई जाती और उसे यथास्थिति के समर्थकों एव साम्राज्यवाद के समर्थकों दोनों ही द्वारा अपना लिया जाता है। उदाहरण के लिए शक्ति सन्तुलन (The Balance of Power) को लिया जा सकता है। अठारहवीं एव उन्नीसवीं शताब्दी मे इसे यथास्थिति के समर्थको एव साम्राज्यवाद के समर्थकों-दोनो द्वारा एक सैद्धान्तिक हथियार के रूप मे प्रयुक्त किया गया। वर्तमान काल मे राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त और सयुक्त राष्ट्र सघ इस कार्य को निभा रहे हैं।

राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर केन्द्रीय एव पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रीयताओ की विदेशी प्रभावो से स्वतन्त्रता को उचित ठहराया गया। सैद्धान्तिक रूप से इसका विरोध किया गया था, किन्तु राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के आधार पर पुरानी साम्राज्यवादी व्यवस्था को मिटाना उचित बताया गया। पोलैण्ड, रूमानिया, यूगोस्लाविया आदि देशो मे पुरानी साम्राज्यवादी व्यवस्था टूट गई तो एक रिक्त स्थान बन गया। इस स्थान पर नवीन स्वतन्त्र राष्ट्र प्राप्त देश आने लगे। ज्यो ही उन्होने शक्ति प्राप्त की तो ये अपनी नई यथास्थिति की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन करने लगे।

हिटलर ने अपने प्रचार कार्य की प्रभावशीलता के कारण राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर करारी चोट की ताकि वह अपनी प्रादेशिक प्रसार की नीतियो को छिपा सके एव उचित ठहरा सके। चैकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड मे रहने वाले जर्मन अल्पसख्यक, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के झडे के नीचे इन देशो के राष्ट्रीय अस्तित्व को मिटाने के लिए वही कार्य करने लगे

था कि चैकोस्लोवाक और पोलिश राष्ट्रीयतावादियों ने इसी सैद्धान्तिक झण्डे के नीचे आस्ट्रिया हंगरी के साम्राज्य को मिटाने के लिए किया था। इस प्रकार वार्साय की सन्धि की यथास्थिति से लाभान्वित होने वाले देशों का सैद्धान्तिक हथियार उन्हीं के विरुद्ध चला गया। अब उनके पास यथास्थिति की रक्षा करने के लिए कोई विचारधारा नहीं रही और अब वे कानून और व्यवस्था की दुहाई देने लगे। चैकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में जो म्यूनिक समझौता हुआ उसमें भी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त उलझा हुआ था। इस काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में विचारधाराओं का जो महत्व एवं प्रभाव रहा उसका उदाहरण मानव इतिहास में कहीं नहीं मिलता। इस काल में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय को अस्पष्ट एवं अनेकार्थक विचारधारा का अधिकतम प्रयोग किया गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की जब स्थापना की गई तो उसे चीन, फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा यथास्थिति को बनाए रखने के लिए प्रयुक्त किया गया जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इन देशों की विजय के कारण बनी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त होने के कुछ ही दिन बाद विभिन्न राष्ट्रों के विरोधी दावों एवं व्याख्याओं के कारण यह सिद्ध हो गया कि यथास्थिति केवल सामयिक है। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र संघ की विचारधारा को इन देशों के द्वारा अपने लक्ष्यों को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए तथा अपने विरोधी दावों को छिपाने के लिए प्रयुक्त किया गया। अब सभी राष्ट्र अपने आपको संयुक्त राष्ट्र संघ का पक्का समर्थक कहने लगे और अपनी विदेश नीतियों के समर्थन में उसके चार्टर का उद्धरण देने लगे। इन देशों की नीतियाँ परस्पर विरोधी होती हैं किन्तु फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके चार्टर का सन्दर्भ एक विचारधारात्मक प्रयास बन गया जिसके द्वारा एक देश की नीतियाँ सामान्य रूप से स्वीकृत सिद्धान्तों के प्रकाश में सही सिद्ध की जा सकें और उनकी सही प्रकृति को छिपाया जा सके। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेकार्थक स्वरूप ने एक ऐसा हथियार प्रदान किया जिसके द्वारा शत्रुओं का विरोध और मित्रों का समर्थन किया जा सके।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से शांति की विचारधारा जो इस कार्य को सम्पन्न करने में योग दे रही है। आज वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के कारण युद्ध का स्वरूप पर्याप्त विध्वंसकारी बन गया है और कोई भी देश अपनी विदेश नीति पर अपनी जनता एवं दूसरे देशों का समर्थन उस समय तक प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि वह यह सिद्ध न कर दे कि उसके

अभिप्राय शांतिपूर्ण हैं। अपने विरोधियों को बदनाम करने के लिए आज उन्हें 'शांति विरोधी' 'शांति धाती' एवं 'शांति विध्वंसक' आदि कहने का रिवाज हो गया है। आज शांति की दुहाई देना और अपने उद्देश्यों को शांतिपूर्ण बताना बिल्कुल अर्थहीन बन गया है क्योंकि कोई भी देश शांतिवादी विदेश नीति को आज इसलिए नहीं अपनाता क्योंकि उसे शांति से प्यार है वरन् इसलिए अपनाता है, क्योंकि वह युद्ध छेड़ कर जोखिम नहीं लेना चाहता। वर्तमान युद्ध की अकल्पनीय विध्वंसता के कारण प्रत्येक देश अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को शांतिपूर्ण साधनों से प्राप्त करने का ही प्रयास करेगा। किन्तु फिर भी शांति का नाम लेकर एक देश दो महत्वपूर्ण राजनैतिक कार्य करता है। प्रथम, वह अपनी वास्तविक नीति के उद्देश्यों को छिपाना चाहता है और दूसरे, वह अपनी नीतियों के लिए सर्वत्र सद्भावना प्राप्त करना चाहता है।

प्रजातन्त्रात्मक एवं साम्यवादी विचारधारायें
(The Democratic and Communist Ideology)

यद्यपि प्रत्येक विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित कर सकती है किन्तु फिर भी जो विचारधारा एक संगठित आन्दोलन द्वारा समर्थित होती है अथवा जो राजनैतिक संस्थाओं का रूप ले लेती है उसका प्रभाव अधिक होता है। कुछ विचारधारायें अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों से दूर का रिश्ता रखती हैं अतः उनका प्रभाव भी अपेक्षाकृत कम होता है। किन्तु जो विचारधाराएं ऐसे मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं जिनका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है तो उनका प्रभाव अधिक होगा। इस दृष्टि से राष्ट्रवाद का नाम लिया जा सकता है क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय राज्य के मूल्यों को अभिव्यक्त करता है तथा साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के निर्देशक का भी काम करता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रवाद एक सार्वभौमिक विचारधारा है। यह अधिकांश साम्यवादियों, प्रजातन्त्रवादियों, फासीवादियों, आदि की विचारधाराओं का एक भाग है। राष्ट्रवाद के अतिरिक्त साम्यवाद भी अपने मित्रों, दुश्मनों एवं निष्पक्षों के मतानुसार एक सर्वाधिक प्रभावशील विचारधारा है। लगभग एक-तिहाई मानव जाति साम्यवाद के क्षेत्र में आती है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी राष्ट्रीय समाजों में साम्यवादियों का प्रभाव है। आज लगभग एक तिहाई संसार साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित है। यह मत सभी विचारकों को मान्य नहीं है। कुछ का कहना है कि यह सत्य न होकर केवल भ्रम है और इसका कारण यह है कि साम्यवादी नेता अपने देश में जनमत पर नियन्त्रण रखते हैं, उसकी अवहेलना करते हैं। एक

अन्य विचारधारा फासीवाद एवं नाजीवाद द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व इटली और जर्मनी में पनपी। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध में धुरी राष्ट्रों की हार के बाद एक सर्वाधिन शक्ति के रूप में यह समाप्त हो गई। बाद में कुछ देशों में इसे दूसरे नामों से तथा भिन्न मात्रा में अपनाया गया। फासीवाद और साम्यवाद अनेक अर्थों में एक जैसे धर्म हैं और दोनों के सिद्धांत पर्याप्त मेल खाते हैं किन्तु उदारवादी और प्रजातन्त्रात्मक विचारधारायें इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखतीं।

१९वीं शताब्दी के उदारवाद ने अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया था जो कि समाजवाद के ठीक विपरीत है। किन्तु आज इस नीति को हर जगह अस्वीकार कर दिया गया है और इसलिए समाजवादी भी यह दावा करने लगे हैं कि वे अधिक उदार हैं। आज के स्वतन्त्र समाज की विचारधाराओं को अभिव्यक्त करने के लिए पूंजीवाद, उदारवाद, कल्याणकारी पूंजीवाद, प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जिन देशों में प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था नहीं है वहां भी प्रजातन्त्र को अच्छी निगाह से देखा जाता है। साम्यवादी देश अपनी व्यवस्था के अतिरिक्त व्यवस्थाओं को प्रजातन्त्रात्मक मानने से इन्कार करते हैं। उनका यह दावा है कि केवल साम्यवादी देश में ही सच्चा प्रजातन्त्र रह सकता है—अन्य देश तो नाम के लिए ही प्रजातन्त्रात्मक हैं। वास्तविकता यह है कि वे प्रजातन्त्र के नाम से अपने पूंजीवादी रूप पर पर्दा डालना चाहते हैं जिसमें कि शोषण है, अन्याय है, असमानता है तथा अमानवीयता है। इस प्रकार वर्तमान विश्व मुख्य रूप से दो विचारधाराओं के प्रभाव में है—प्रजातन्त्र और साम्यवाद। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं तथा दोनों विरोधी लक्ष्यों की पूर्ति का साधन बन रही हैं। इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

(१) प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा (The Democratic Ideology)—यहां प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा से हमारा अर्थ संवैधानिक प्रजातन्त्र से है; क्योंकि वैसे तो साम्यवादी भी अपने आपको प्रजातन्त्रवादी कहते हैं तथा उनका दावा है कि उनके यहां प्रजातन्त्र का व्यवहार होता है, वह केवल कागज पर लिखे गये कुछ अधिकारों का संकलनमात्र नहीं है। संवैधानिक प्रजातन्त्र देश के संविधान को प्रजातन्त्रात्मक रूप देने पर अधिक जोर देता है और इसका विश्वास है कि ऐसा करने से प्रजातन्त्र धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप में स्वतः हो आ जायेगा।

प्रजातन्त्र को एक विचारधारा के रूप में तथा व्यवहार के एक तरीके के रूप में परिभाषित किया जाता है। उसे मूल्यों की व्यवस्था तथा

निर्णय लेने का एक तरीका माना जाता है। इस प्रकार 'प्रजातन्त्र' समाज की सामान्य प्रकृति का प्रदर्शन करता है। प्रजातन्त्र का केन्द्र बिन्दु प्रत्येक व्यक्ति की समानता एवं सम्मान को समझा जाता है। उदार संवैधानिक प्रजातन्त्र की वर्तमान विचारधारा का जन्म मानवतावादी एवं ईसाई धर्म की सामान्य पश्चिमी परम्पराओं में हुआ है। इसके विकास पर उन विचारों का प्रभाव पड़ा है जो कि १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका, आदि देश में पनपे तथा प्रचारित हुए। प्रजातन्त्र कोई एक संक्षिप्त धर्माचरण नहीं है जो कि किसी एक पुस्तक के कुछ पृष्ठों में पाया जाता हो जहाँ से पढ़ कर उसे समझा जा सके। इसके विपरीत प्रजातन्त्र तो उन अनेक सिद्धान्तों एवं मान्यताओं का सङ्कलन है जो कि वाशिंगटन, जैफर्सन, लिंकन, एवं रूजवेल्ट से लेकर आज तक के राजनैतिक विचारकों के लेखों में पाये जाते हैं। प्रजातन्त्र के ये सिद्धान्त अनेक महत्वपूर्ण अभिलेखों में पाये जाते हैं जैसे मैगनाकार्टा, स्वतन्त्रता का अमरीकी घोषणा-पत्र, संघीय संविधान एवं अधिकार विधेयक, नागरिक कानून अधिनियम आदि।

प्रजातन्त्र की मूल रूप-रचना में कुछ केन्द्रीय विश्वास होते हैं। इन विश्वासों की साधना में संलग्न व्यवस्था को ही प्रजातन्त्रात्मक माना जा सकता है और जो व्यवस्था इनकी प्रगति के मार्ग में बाधक बनती है वह अप्रजातन्त्रात्मक कही जाती है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था की ये मूल मान्यतायें निम्न प्रकार हैं—

१. प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत रूप से महत्व है। उसकी स्वतन्त्रता, सम्मान एवं कल्याण की रक्षा एवं अभिवृद्धि प्रत्येक राज्य का दायित्व है।

२ सरकार अपनी शक्तियाँ शासितों की स्वीकृति से प्राप्त करती है। ऐसी स्थिति में जनता अपना प्रशासन अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से स्वयं ही करती है। उसे अपनी सरकार के रूप के सम्बन्ध में चयन की पूरी स्वतन्त्रता है।

३ संवैधानिक व्यवस्था का यह उत्तरदायित्व है कि न्याय की अभिवृद्धि करे, कानून के शासन की स्थापना करे तथा व्यक्ति के न छीने जाने वाले अधिकारों की स्वेच्छाचारी आचरण के विरुद्ध रक्षा करे।

४ प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह शानदार आर्थिक और सामाजिक जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त करे। राज्य द्वारा उसे ऐसा अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।

५ व्यक्तियों तथा समूहों को अपने भिन्न मत एवं दृष्टिकोण प्रकट करने की स्वतन्त्रता रहनी चाहिए और राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस प्रकार की स्वतन्त्रता की रक्षा करे।

६ यह व्यवस्था अपने विकास के मार्ग पर है। यह नवीन परिस्थितियों में अपने मूल्यों को बनाए रखने के लिए नये रास्ते अपनाती रहती है।

७ प्रजातन्त्रात्मक मूल्य उन अधिकारों पर जोर देते हैं जिनको सार्वभौमिक माना गया है।

प्रजातन्त्र के ये विश्वास राजनैतिक जीवन का रूप ढालते हैं। इनके आधार पर कुछ मौलिक मूल्यों, लक्ष्यों तथा अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के समायोजन के साधनों को सामान्य स्वीकृति प्रदान की जाती है। इन विश्वासों की प्रकृति ही ऐसी है जो कि परिवर्तन के लिए अवसर प्रदान करती है। इससे राजनैतिक प्रक्रिया के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है। संघर्षों के समायोजन को शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा सम्पादित रूप प्रदान कर दिया जाता है।

प्रजातन्त्र की यह विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गहरा प्रभाव रखती है। समानता का प्रजातन्त्रात्मक आदर्श केवल राष्ट्रीय सीमाओं तक ही परिमित नहीं रह जाता, क्योंकि प्रजातन्त्र किसी एक देश विशेष के लोगों की समानता में ही विश्वास नहीं करता वरन् वह तो मनुष्य मात्र की समानता में विश्वास करता है। ऐसी स्थिति में इन आदर्शों को राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर भी लागू किया जा सकता है तथा किया जाना चाहिए। प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों को जब अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रयोग किया जाता है तो अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ आती हैं जो कि इसलिए उत्पन्न होती हैं कि राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर सामाजिक एकता एवं ठोसपन नहीं रहता; दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक समझौतों की तकनीकें प्रभावशील नहीं हैं, और तीसरे, राष्ट्रीय एकता की प्रक्रिया प्रत्येक देश में चलती रहती है। ग्लाइनर महोदय का यह कथन पर्याप्त अर्थपूर्ण है कि चाहे कारण कुछ भी हो किन्तु असमानता विरोधी प्रजातन्त्रात्मक आदर्श को प्रजातन्त्रात्मक सरकारों एवं लोगों को भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू करने में कठिनाई होती।

प्रजातन्त्रात्मक आदर्शों की राष्ट्रवाद के साथ भी कुछ असंगति बताई जाती है। यह कहा जाता है कि प्रजातन्त्र व्यक्ति को सर्वोच्च लक्ष्य मानता है तथा राज्य को मानवीय कल्याण का एक साधन मात्र कहता है। दूसरी

ओर राष्ट्रवाद राज्य को सर्वोच्च मूल्य प्रदान करता है। प्रजातन्त्र 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता' को भी उच्च मूल्य प्रदान करता है। प्रजातन्त्रात्मक देश का नागरिक अपने अधिकारों का पूरा ध्यान रखते हुए दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों को भी पूरा सम्मान देता है। वैसे पूर्ण स्वतन्त्रता तो एक अव्यावहारिक आदर्श है और आंशिक स्वतन्त्रता का अर्थ हमेशा कुछ लोगों की अधीनस्थता तथा कुछ लोगों का प्रभुत्व होता है। इन विरोधाभासों को कानून के अन्तर्गत स्वतन्त्रता की मान्यता द्वारा कम करने का प्रयास किया जाता है। स्वतन्त्रता केवल तभी रह सकती है जबकि एक मान्य व्यवस्था कायम की जाये।

प्रजातन्त्र का सम्बन्ध प्रत्येक जगह व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अधिक से अधिक बनाने से रहता है। अतः यह स्वतन्त्रता की प्रत्येक बाधा का विरोध करता है। दूसरी ओर 'राष्ट्रवाद' व्यक्ति को राज्य का अधीनस्थ बना देता है। राष्ट्रवादी द्वारा राष्ट्रीय सम्प्रभुता पर जोर दिया जाता है और इसलिये यह प्रत्येक बाहरी हस्तक्षेप का विरोध करता है, चाहे वह प्रजातन्त्र के अनुकूल हो अथवा न हो। इस प्रकार राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र दोनों अपने शुद्ध रूप में साथ साथ नहीं चल सकते। इसके लिये एक सुझाव यह दिया जाता है कि मानवीय अधिकारों के विषय को राज्यों के क्षेत्राधिकार से निकाल लिया जाये तथा उनको अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का विषय बना दिया जावे।

प्रजातन्त्र की विचारधारा साम्राज्यवाद के विरुद्ध है। प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में प्रत्येक उत्तरदायी व्यक्ति को निर्णय लेने में हाथ बटाने का अवसर प्रदान किया जाता है। यह स्वायत्त सरकार का एक मूल तत्व तथा आदर्श है। किन्तु साम्राज्यवादी व्यवस्था में केवल कुछ लोग अन्य सभी पर शासन करते हैं जिनको निर्णय लेने की प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर नहीं दिया जाता। साम्राज्यवादी व्यवस्था को प्रजातन्त्रात्मक केवल तभी बनाया जा सकता है जबकि निर्णय की प्रक्रिया में भाग लेने से वंचित किये गये पुरुषों को समान अधिकार प्रदान किया जाये।

यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रजातन्त्रात्मक व्यवहार के प्रभाव का अध्ययन करें तो पायेंगे कि यह अनेक प्रकार से इसके व्यवहार का रूप निर्धारण करती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रजातन्त्रात्मक व्यवहार यह चाहता है कि जातीय, धार्मिक, सामाजिक, एवं राष्ट्रीय स्तर की ओर ध्यान दिये बिना ही सभी व्यक्तियों के कल्याण का प्रयास करता है। इसके

प्रजातन्त्रात्मक रूप का अर्थ विशेष रूप से यह है कि किसी भी देश का कल्याण दूसरे देश के विरुद्ध नहीं किया जायेगा। एक को दबा कर अन्य को उठाना प्रजातन्त्रात्मक प्रक्रिया नहीं है। आदर्श तो यह है कि विश्व समाज का सामाजिक तथा आर्थिक एकीकरण कर दिया जाये।

दूसरे, एक राज्य का मूल्यांकन इस आधार पर किया जायेगा कि उसने व्यक्तिगत सम्मान और गौरव की अभिवृद्धि में कितना योगदान किया है। ऐसा करते समय केवल उस देश के नागरिकों की दृष्टि से ही विचार नहीं किया जायेगा वरन् सामान्य मानव जाति की दृष्टि से ही विचार किया जायेगा। राज्य अपने आपमें कोई लक्ष्य नहीं होता है और इसलिए यदि राज्य किसी व्यक्ति या समुदाय की स्वतन्त्रताओं पर प्रतिबन्ध लगाता है तो उसे ऐसा करते समय व्यक्ति की अधिक स्वतन्त्रता एवं मूल्यों की रक्षा को ध्यान में रखना चाहिए।

तीसरे, सम्प्रभुता मानवीय अधिकारों एवं अन्य मूल्यों की रक्षा के मार्ग में नहीं आनी चाहिए। उसे प्रजातन्त्रात्मक विचारों तथा विश्वासों के मार्ग की बाधा नहीं बनना चाहिए।

चौथे, प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा उन संस्थाओं की स्थापना में सहयोग देगी जो व्यक्ति को शान्तिपूर्ण साधनों से उन महत्वपूर्ण निर्णयों के लेने में योगदान का अवसर प्रदान कर सकें जो कि उनके हितों एवं मूल्यों को प्रभावित करते हैं। असमान व्यक्तियों द्वारा मनमाने शक्तियों के उपयोग के प्रत्येक प्रयास को रोका जायेगा। प्रत्येक समूह को प्रतिनिधि भेजने तथा मतदान करने का अधिकार उसी अनुपात में सौंपा जायेगा जितनी कि उसके सदस्यों की संख्या है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था अन्य व्यक्तियों पर कुछ व्यक्तियों के शासन का विरोध करती है अतः यह उपनिवेशवाद के प्रत्येक रूप का विरोध करेगी।

पांचवें, प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए उपयुक्त एवं अनुकूल वातावरण तैयार करती है। साथ ही यह बहुमत की इच्छानुसार शान्तिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास करती है। दूसरी ओर इसके द्वारा कुछ प्रश्नात्मक सुरक्षायें भी लगाई जायेंगी जिनके आधार पर अधिक से अधिक लोगों की सुरक्षा एवं कल्याण की व्यवस्था की जा सके।

ये कुछ प्रजातन्त्र की विशेषतायें हैं जो कि अपने प्रभावशील रूप द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित कर सकती हैं। कुछ विचारकों का यह कहना है कि प्रजातन्त्रात्मक मूल्यों को प्रभावशील बनाने का प्रयास करना

उपयोगी रहेगा या नही रहेगा–इसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मानवीय इतिहास मे ऐसे अनेक अत्याचारों के उदाहरण प्राप्त होते है जो कि अच्छे उद्देश्य की प्राप्ति के लिए किए गये थे। प्रजातन्त्र मे विश्वास रखने वाला व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोणो एवं व्यवहारो के प्रति सहनशील होता है। वह सभी सत्यो की ओर सदेहशील नजर से देखता है यहा तक कि स्वय के सत्य पर भी उसे पूरा विश्वास नही होता।

(२) साम्यवादी विचारधारा (The Communist Ideology)—साम्यवाद की विचारधारा का रूप एवं तत्व दोनों ही प्रजातन्त्र की विचारधारा से भिन्न होते हैं। साम्यवाद की प्रकृति मूल रूप से सत्तावादी होती है और इसलिए यह प्रजातन्त्र की अपेक्षा कम अस्पष्ट हो सकती है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का कोई ऐसा प्रणेता नही है जैसा कि हमको साम्यवाद मे देखने को मिलता है। इसी प्रकार प्रजातन्त्र की कोई ऐसी पुस्तक नही है जिसे 'दास कैपीटल' या 'साम्यवाद घोषणा-पत्र' की भांति गीता समझा जा सके। प्रजातन्त्र को लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव या माओत्सेतुङ्ग जैसे नेताओं द्वारा सत्तापूर्ण व्याख्यायें प्रदान नही की गई है। परिणामस्वरूप साम्यवाद के अनुयायी के लिए एक विशेष समय मे पूर्ण सत्य का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। किन्तु एक क्षण का उसका पूर्ण सत्य दूसरे ही क्षण का पूर्ण असत्य भी बन सकता है।

कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, माओत्सेतुङ्ग आदि के लेखों द्वारा साम्यवाद की जो विचारधारा सामने आई है उसकी अनेक मूल मान्यतायें हैं। इन मान्यताओ मे प्रथम यह है कि इतिहास एक निरन्तर सघर्ष की कहानी है जिसमें साम्यवाद की प्रगतिशील शक्तियो का पूञ्जीवाद की प्रतिक्रियावादी शक्तियो द्वारा विरोध किया गया है किन्तु वर्ग सघर्ष मे पूञ्जीवादी शक्तियां समाप्त कर दी जायेगी।

दूसरे, साम्यवाद और उदार सवैधानिक प्रजातन्त्र के बीच मूलभूत सघर्ष है और इसे केवल साम्यवाद की अन्तिम विजय द्वारा ही मिटाया जा सकता है। साम्यवादी दल तथा राज्य को अपने सारे साधन इस सघर्ष मे प्रयुक्त करने चाहिए। ऐसा करते समय लेनिन का यह कथन ध्यान मे रखना चाहिए कि जहा विजय अनिश्चित हो वहा निर्णयात्मक रूप से न उलझा जाये और जहा सोवियत सघ के भाग्य के लिए जोखिम है वहा पूर्णत निर्णयात्मक रूप से उलझना माना जायेगा।

तीसरे, साम्यवादी विचारधारा एक वर्गहीन समाज की रचना का समर्थन करती है तथा यह अन्तिम रूप से राज्य की समाप्ति के लिए प्रयत्न-

शील है। साम्यवाद के माध्यम से पूंजीगत धन का गरीब मजदूर वर्ग में पुनः वितरण किया जायेगा, आर्थिक विकास किया जायेगा तथा जनसाधारण का शोषण समाप्त किया जायेगा।

चौथे, साम्यवादी दल मजदूर वर्ग की तानाशाही का प्रतिनिधित्व करता है। यह सभी देशों में साम्यवाद की प्राप्ति का साधन है। साम्यवादी दल पूर्ण शुभ है। यह पूर्ण सत्तावादिता को न्यायोचित ठहराता है।

पांचवें, साम्यवाद के लक्ष्य एवं तरीकों की दृष्टि से शक्ति एवं शक्ति संघर्ष मूल मान्यतायें हैं। लेनिन, स्टालिन तथा माओत्सेतुङ्ग आदि ने मुख्य रूप से शक्ति प्राप्त करने एवं एकीकृत करने की रणनीति तथा तकनीकों का वर्णन किया है।

छठे, विचारधारागत एवं दलीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए उपायों की लोचशीलता की अनुमति प्रदान की गई है। अनुयायियों को साम्यवाद के लक्ष्यों की साधना के लिए कोई भी साधन अपनाने की स्वतन्त्रता है। गैर–साम्यवादी व्यवस्थाओं को समाप्त करने के लिए, विरोधियों के विरोधों का लाभ उठाने के लिए तथा क्रान्तिकारी दशाओं की रचना को प्रोत्साहन [redacted] के लिए साम्यवादी आन्दोलन के कर्ता कोई भी साधन अपना सकते हैं।

साम्यवादी रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों में साम्यवादी दल की शक्ति के एकाधिकार को विचारधारा के आधार पर न्यायोचित ठहराया जाता है। इसके द्वारा राजनीति एवं क्रियाओं की वैधानिकता तथा बौद्धिकता को सिद्ध किया जाता है। साम्यवादी छोटे देशों में राज्य की विचारधारा सोवियत प्रभाव एवं निर्देशन के साधन के रूप में कार्य करती है। गैर–साम्यवादी देशों में यह दल के पक्के समर्थक छांटने का कार्य करती है। रूस तथा अन्य साम्यवादी देशों में होने वाली सामाजिक तथा आर्थिक प्रगति ने साम्यवादी सिद्धांत की व्याख्या करने में पर्याप्त लोचशीलता ला दी है। किन्तु चीन के साम्यवादी नेता मार्क्स एवं लेनिन के कथनों के अनुसार चलना चाहते हैं और इन कथनों का जरा भी उल्लंघन करना उनकी दृष्टि से साम्यवाद के विरुद्ध है। सोवियत प्रवक्ताओं के द्वारा जो उदार व्याख्यायें प्रस्तुत की जाती हैं उनको चीनी नेता 'संशोधनवाद' कहते हैं तथा साम्यवाद के लक्ष्य से पीछे हट जाना मानते हैं। पहले साम्यवादी रूस तथा पश्चिमी शक्तियों के बीच एक स्पष्ट किन्तु कड़ी विभाजक रेखा थी तथा उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध, सन्धि या विचार-विमर्श की आशा ही नहीं की जाती थी, किन्तु आज रूस

का दृष्टिकोण कुछ उदार हो गया है। यद्यपि अब भी सोवियत संघ कुछ सीमाओं में रह कर ही पश्चिमी शक्तियों से बात करता है। साम्यवादी चीन की अपेक्षा रूस में अधिक सहनशीलता है।

प्रजातन्त्र एवं साम्यवाद का इन दोनों विचारधाराओं के बीच पारस्परिक आदान-प्रदान चाहे या अनचाहे रूप में अवश्य ही रहता है। फ्रांस, इटली आदि अनेक देशों में साम्यवादी दल कानूनी दल है तथा जनता के समर्थन को आकर्षित कर रहा है। यह सार्वजनिक असंतोष का लाभ उठा कर तथा अपने दल के पक्ष में प्रचार करके चुनावों के समय पर्याप्त मत प्राप्त कर लेता है। इतने पर भी यह आशा नहीं की जा सकती कि किसी पश्चिमी प्रजातन्त्र में सामान्य स्थिति के अन्तर्गत साम्यवादी शासन स्थापित हो जायेगा।

विश्व राजनीति के व्यापक पटल पर आज सोवियत संघ शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति का पक्षपाती बन गया है तथा पश्चिमी शक्तियों के साथ निःशस्त्रीकरण, आर्थिक सहयोग, विश्व शान्ति आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मिल कर चलने का प्रयास करता है। कुछ विचारकों का यह मत है कि सोवियत संघ की नीति में आये हुए इस परिवर्तन का कारण यह है कि वह पश्चिमी शक्तियों द्वारा उस पर रखी जाने वाली कड़ी नजर एवं सावधानी को ढीला करना चाहता है। दूसरे, वह नव स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्रों को यह दिखाना चाहता है कि उसने स्टालिन की आक्रमणकारी नीतियों को त्याग दिया है। ऐसा करके वह यथास्थिति को बनाये रखना चाहता है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि साम्यवाद ने पश्चिम के साथ अपने संघर्ष को समाप्त कर दिया है।

पश्चिम के साथ सोवियत संघ का संघर्ष आज भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से चल रहा है। प्रत्यक्ष रूप से यह आर्थिक, राजनैतिक एवं प्रचार के शस्त्रों द्वारा संघर्ष में रत है तथा अप्रत्यक्ष रूप से इसने विकासशील देशों में मनमुटाव पैदा किया है। इस संघर्ष का परिणाम बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि विकासशील देशों में क्या होता है। सहायता कार्यक्रम, सांस्कृतिक सम्बन्ध एवं राजनैतिक समर्थन आदि सभी कार्यों के पीछे एक ही लक्ष्य है और वह यह है कि इन देशों की मित्रता प्राप्त की जाये तथा भविष्य के लिए उनके प्रयासों को निर्देशित किया जाये।

साम्यवादी विचारधारा अब स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गई है। मास्को तथा पीकिंग के नेतृत्व के बीच जो संघर्ष की खाई बढ़ती जा

रही है उसकी कल्पना सन् १९५९ में नहीं की जा सकती थी। इस संघर्ष की व्यापकता एवं प्रभाव पर्याप्त हैं। चीन के नेता यह मानने से अस्वीकार करते हैं कि सोवियत रूस विश्व साम्यवाद का नेता तथा संचालक है। इस प्रकार इन दोनों देशों के बीच विरोध पैदा हो गया है—यह विरोध नेतृत्व के लिए विरोध है। इसने उस आधार को नष्ट कर दिया है जिस पर कि सोवियत संघ व साम्यवादी चीन के बीच सर्वप्रथम भाईचारे के बन्धन स्थापित हुए थे। इन दो महा शक्तियों के मतभेदों का प्रभाव केवल इनके पारस्परिक सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं रहता। यह विश्व साम्यवादी आन्दोलन में संघर्षों की रचना करता है। छोटे राज्यों का दलीय नेतृत्व भी एक कठिन स्थिति में आ जाता है क्योंकि वह यह नहीं समझ पाता कि किसके निर्देशनों को मानकर आगे बढ़े। इससे एशिया और अफ्रीका के देशों में दोनों देशों की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ जाती है। भारत पर चीनी आक्रमण के समय यह बात सिद्ध हो गई कि सोवियत संघ एवं साम्यवादी चीन दोनों एक ही विचारधारा को मानने वाले देश होते हुए भी एक दूसरे के संकट में कितने सहायक बन सकते हैं। भारत पर पाकिस्तानी आक्रमण के समय भी रूस द्वारा अपनाया जाने वाला रवैया साम्यवादी चीन द्वारा अपनाए जाने वाले रवैये से भिन्न था।

इस समय अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विचारधारा का प्रभाव उतना नहीं है जितना कि यह किसी समय था। विश्व राजनीति में राष्ट्रों के व्यवहार की प्रकृति महान्‌वित्र गुयान्ट के इस कथन से स्पष्ट हो जाती है कि देश मान की स्थिति में कुछ भावनायें प्रदर्शित करते हैं, कुछ कड़ी प्रतिक्रियायें, कुछ कठोरतायें और यहां तक कि कुछ अक्खड़पन भी।

साम्यवादी विचारधारा किस रूप में साम्यवादी राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करती है उसे निर्धारित करना बड़ा कठिन है। विभिन्न समयों एवं स्थानों पर इसके अर्थ अलग-अलग रहे हैं किन्तु फिर भी कुछ एक ऐसे तत्व हैं जो कि इस दृष्टि से महत्वपूर्ण माने जा सकते हैं। साम्यवादी दर्शन विश्व की घटनाओं को देखने के लिए एक विशेष दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह विचारधारा यह मान कर चलती है कि इतिहास कुछ ऐतिहासिक कानूनों को मान कर चलता है जिन्हें भौतिक दबावों द्वारा निर्धारित किया जाता है। संस्थायें तथा संस्कृति और कुछ भी नहीं है वरन् सामाजिक विकास के एक विशेष स्तर पर पाई जाने वाली भौतिक दशाओं की ही अभिव्यक्ति मात्र है। यद्यपि व्यक्ति ऐतिहासिक परिवर्तन के मूल रूप को नहीं बदल सकता किन्तु फिर भी वह अपरिहार्य को शीघ्र ला सकता है।

यदि साम्यवादी देशों के निर्णायक अपनी विचारधारा को गम्भीरता के साथ मान कर चलें तो उनका विश्व के प्रति दृष्टिकोण अनेक प्रकार से प्रभावित होगा। प्रथम, साम्यवादी एवं पुञ्जीवादी राज्यों के बीच संघर्ष को अपरिहार्य माना जायेगा। दूसरे, यह समझा जायेगा कि समय साम्यवाद के पक्ष में है तथा पुञ्जीवादी राज्यों के विरुद्ध है। तीसरे, चीन और सोवियत संघ प्रगतिशील शक्तियों के नेताओं के रूप में अपने राष्ट्र-राज्यों की ओर से ही नहीं लड़ रहे हैं वरन् प्रत्येक जगह रहने वाले सर्वहारा के लिए लड़ रहे हैं। वैसे लेनिन द्वारा विकसित साम्यवादी विचारधारा केवल यह कहती है कि पुञ्जीवाद में एकाधिकार के परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद आता है और साम्राज्यवाद के परिणामस्वरूप पुञ्जीवादी राज्यों के बीच अपरिहार्य रूप से युद्ध होते हैं। साम्यवादी विचारधारा कहीं भी यह नहीं कहती कि साम्यवादी राज्यों को अपने हितों की साधना के लिए युद्ध का मार्ग अपनाना चाहिए। इतने पर भी साम्यवादी लोग यह कहते हैं कि प्रगतिशील शक्तियों को आगे बढ़ाने के लिए न्यायपूर्ण युद्ध लड़ा जा सकता है। वैसे साम्यवादी लोग संघर्ष को अपरिहार्य मानते हैं किन्तु युद्ध को नहीं। इस प्रश्न पर ख्रुश्चेव तथा माओ त्से तुङ्ग के बीच पर्याप्त मतभेद था। माओ के मतानुसार पूञ्जीवाद के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का ख्रुश्चेव का विचार लेनिन के सिद्धान्तों से भ्रष्ट होना है। जब हम संघर्ष को अपरिहार्य मान रहे हैं और समय हमारे पक्ष में है तो युद्ध क्यों न किया जाए। दूसरे सोवियत रूस के विचारक यह कहते हैं कि विजय के लिए कोई कार्यक्रम या समय निश्चित नहीं है—कब हमें आगे बढ़ना है और कब पीछे हटना है, यह घटनाओं के द्वारा तय किया जाएगा। यदि पूञ्जीवादी प्रजातन्त्र अपरिहार्य को रोक सकें तो वे अपने अन्त को भी अनिश्चित काल के लिए रोक देंगी। साम्यवाद की विचारधारा के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग की सेवा करना मुख्य उद्देश्य है। इसलिए साम्यवादियों को प्रत्येक जगह नैतिक, प्राकृतिक एवं प्रगतिशील कर्तव्यों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद को मुख्य स्थान देना चाहिए तथा सोवियत संघ और अन्य साम्यवादी राज्यों के हितों की साधना करनी चाहिए न कि अपने पूञ्जीवादी स्वामियों की। साम्यवादी विचारधारा के अनुसार ऐसा करके वे साम्यवाद के उस उद्देश्य की पूर्ति करते हैं जिसकी साधना के लिए वर्तमान साम्यवादी राज्य प्रयास कर रहे हैं। स्लाइशर महोदय के कथनानुसार संक्षेप में साम्यवादी विचारधारा सच्चे रूप में अन्तर्राष्ट्रीय है, जिसका आधार वर्गवाद है। राष्ट्रवाद के लिए यह जो भी छूट प्रदान करती है वह अस्थायी है तथा इसकी रणनीति है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मूल्य और दृष्टिकोण
(Values and attitudes in International Relations)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक व्यवहार को समझने में रुचि लेने वाले को यह मान कर चलना चाहिए कि मानवीय समूहों में अनेक दृष्टिकोण, विश्वास एवं मूल्य पाये जाते हैं। मनुष्य भिन्न भिन्न सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और भौतिक वातावरण में रहते हैं। वातावरण की इन विशेषताओं द्वारा ही यह तय किया जाता है कि किसी व्यक्ति का मित्र कौन होगा और उसका शत्रु कौन होगा। व्यक्ति अपने उपलब्ध साधनों की सीमितता को भी जान लेता है जिनके साथ रहने के लिए समायोजन करना जरूरी है। राजनैतिक एवं सामाजिक मूल्य तथा सहयोग की परम्परायें इसी पृष्ठभूमि में विकसित होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यह विचार किया जाना जरूरी है कि व्यक्ति कुछ मूल्यों को क्यों अपनाता है और अन्य संस्कृति तथा शक्तियों के प्रभाव से वह इन्हें कैसे बदल लेता है। एक राष्ट्र के लोगों के दृष्टिकोणों, मूल्यों एवं उद्देश्यों की समानता यह निर्धारित करती है कि उनके बीच विभिन्न प्रश्नों पर कितना मतैक्य रहेगा। इसमें राजनैतिक सम्बन्धों का स्थायित्व प्राप्त होता है। जिन देशों के मूल्य और दृष्टिकोण मिल जाते हैं; उनके बीच सहयोग, शान्ति एवं विचार विमर्श की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। दूसरी ओर दृष्टिकोण और मूल्यों में भारी असमानता रहती है वहां सम्बन्धों की अस्थिरता एवं संघर्ष पाया जाता है।

विभिन्न राज्यों की जनता और नेता अनेक विषयों पर अपना मत निर्धारित करते हैं और यह मत उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार को प्रभावित करता है। शान्ति, युद्ध, साम्राज्यवाद, जातिवाद, पूंजीवाद, अणु शस्त्र एवं विदेशी सहायता आदि विषयों पर एक राज्य के लोगों तथा नेताओं का जो दृष्टिकोण होता है वही उसकी विदेश नीति को तय करता है। यह दृष्टिकोण उनके मूल्यों द्वारा निर्धारित किया जाता है और मूल्य व्यवस्था ही यह तय करती है कि उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह राज्य क्या साधन अपनाए। अतीत के अनुभव से इन दृष्टिकोणों एवं प्रतिक्रियाओं के निर्धारण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

दृष्टिकोण वास्तविकता को स्पष्ट कर सकते हैं अथवा उसे भ्रमित बना सकते हैं। व्यक्ति की प्रक्रिया उसके वातावरण द्वारा निर्धारित होती है। यदि व्यक्ति का एटलस यह कहता है कि पृथ्वी चपटी है तो वह उस जगह पर अपनी नाव नहीं चलायेगा जहां कि उसके मतानुसार किनारा है।

इस प्रकार वाल्टर लिपमैन ने यह सही फरमाया है कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह उसके प्रत्यक्ष या निश्चित ज्ञान पर आधारित नही वरन् उन चित्रों पर आधारित है जो कि उस ने स्वयं बनाए हैं [redacted] उसे दिये गए हैं।[1]

संसार को वस्तुगत रूप से देखने में दो चीजें हमारी योग्यता को सीमित करती हैं। पहली बात तो यह है कि तथ्यों को जानने की व्यक्ति की क्षमता सीमित होती है। उसका ज्ञान अपूर्ण होता है और तथ्यों के समझने की उसकी योग्यता, समय, अनुभव, सम्पर्क एवं कुशलता के अभाव के कारण सीमित रहती है। लिपमैन के ही कथनानुसार हमारे मन को एक व्यापक क्षेत्र से सम्पर्क रखना होता है, बहुत शीघ्र ही वस्तुस्थिति का पता लगाना होता है तथा इतनी सारी चीजें देखने को होती हैं जिनको हम प्रत्यक्ष रूप से देखने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में हमें बहुत कुछ इन बातों पर निर्भर रहना पड़ता है जो कि दूसरों के द्वारा कही गई हैं और हम जिनकी कल्पना कर सकते हैं। यह समस्या उस समय और भी कठिन बन जाती है जबकि समान तथ्यों वाले दो व्यक्ति निर्धारित कार्य के सम्बन्ध में विरोधी निष्कर्षों पर पहुंचते हैं।

सीमा निर्धारित करने वाली दूसरी बात अत्यन्त अस्पष्ट एवं उलझी हुई है। यह अनेक मनोवैज्ञानिक तत्वों का संयोग है। वास्तविकता को पहचानने की हमारी योग्यता, हमारे ज्ञान और दुराग्रह, हमारे पहले के प्रतीकों एवं हमारे तरीकों द्वारा सीमित होती है। व्यक्ति ने दुनिया के बारे में जो स्वयं की मान्यतायें बना रखी हैं वह अपने सीमित ज्ञान को उन्हीं में बैठाने की सोचता है। व्यक्ति की पूर्व मान्यतायें एक प्रकार से सुरक्षा यन्त्र का काम करती हैं जो कि दुनिया की तस्वीर को इस रूप में रखने में मदद करती हैं जिसके साथ वह समायोजित हो चुका है। व्यक्ति के मस्तिष्क में यह शक्ति है कि वह अपने ही विचारों और कार्यों के उद्देश्यों को छिपा सके। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी के लिए मनोविश्लेषण का महत्व [illegible] जाता है। राजनैतिक क्रियाओं को प्रभावित करने वाले सर्वाधिक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण वे होते हैं जिनको अपरिवर्तनशील प्रतिमाओं के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये वे निर्णय होते हैं जिनको एक व्यक्ति स्वयं निर्णय लेने में समर्थ होने से पहले ही दूसरों से प्राप्त कर लेता है। व्यक्ति जब विचार करता है तो उसके सामने ऐसे अनेक

1. *Walter Lippmann, Public Opinion, 1921, P. 17*

अपरिवर्तनीय 'स्टीरियो टाइप्स' होते हैं जैसे 'फासीसी', 'सैनिक मस्तिष्क' 'विदेशी', 'बॉलशेविक', 'युद्ध प्रेमी', आदि। इन शब्दों का अपना एक विशेष अर्थ होता है। इन अपरिवर्तनियों को तर्कपूर्ण मतो के स्थान पर रखा जाता है। व्यक्ति उन चीजों को तुरन्त ग्रहण कर लेता है जो कि उसको संस्कृति ने पहले से ही परिभाषित की हुई है। ये प्रतिमायें व्यक्तिगत जीवन की भांति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी घातक होती हैं।

विदेशियों तथा उनके लक्ष्यों के प्रति अविश्वास रहना लोगों की परम्परागत विशेषता है। इसमें व लोग अधिक विश्वास करते हैं जो कि विदेशी शासन या शोषण के शिकार रहे हैं अथवा रह रहे हैं। एशिया और अफ्रीका के देशों में जो तटस्थता की नीति अपनाई जा रही है उसका कारण केवल यह नहीं है कि ये देश युद्ध को दूर रखना चाहते हैं अथवा महा शक्तियों के युद्ध में तटस्थ रहना चाहते हैं। इस नीति की जड़ों में उन पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध स्वतन्त्रता जाहिर करने की कामना है जिन्होंने कि अतीत काल में एशिया और अफ्रीका पर शासन किया तथा शोषण किया था। अब ये देश पश्चिमी प्रभाव का विरोध करने के लिए राजनैतिक शक्ति का निर्माण करना चाहते हैं। लाज लैटिन अमरीका का संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति जो विषय या दृष्टिकोण है वह डर और ईर्ष्या से पूर्ण है। इसका आधार अतीत काल में संयुक्त राज्य अमरीका के हस्तक्षेप तथा उनके कुछ व्यावसायिक व्यवहार हैं। ये मतभेद और विरोध केवल ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर ही नहीं पनपते वरन् विभिन्न संस्कृतियों एवं सामाजिक रूपों पर आधारित भिन्न मूल्यों के कारण भी बढ़ते हैं।

दुराग्रह और प्राथमिकताएं (*Prejudices and Preferences*) भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना महत्वपूर्ण योगदान रखते हैं। पश्चिमी राज्यों ने अपने बीच घनिष्ट राजनैतिक एकता विकसित कर ली है। उनकी सामान्य, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परम्पराएं हैं। उनके मूल्यों तथा राजनैतिक व्यवस्थाओं में भी पर्याप्त एकरूपता देखने को मिलती है। दूसरी ओर साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित देश समाज की प्रकृति के सम्बन्ध में विरोधी मान्यताएं लेकर चलते हैं, वे आपस में भी मतभेद रख सकते हैं जैसा कि सोवियत संघ और चीन के बीच में पाया जाता है। जिन राज्यों के बीच इन विषयों पर मूल अन्तर रहते हैं उनकी मैत्री एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की कल्पना नहीं की जा सकती। उनका कोई समझौता अधिक दिनों तक नहीं चलेगा।

यह कहा जाता है कि सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण का मूल आधार 'वे' बनाम 'हम' की भावना है जो कि सामूहिक जीवन के द्वारा प्रभावित की जाती है। राष्ट्रवाद का विचार, आधुनिक संचार साधन, इतिहास, परम्पराएं तथा अन्य वैज्ञानिक तत्व भी इसमें सहयोग प्रदान करते हैं। प्रजातन्त्रीय समाजों में ये तत्व सरकार को पर्याप्त प्रभावित करके विदेश नीति के सम्बन्ध में उनकी स्वतन्त्रता को सीमित कर सकते हैं।

जो राज्य अपने पड़ोसियों की ओर से सुरक्षित अनुभव करते हैं वे प्रायः अपने अन्तरों को शान्तिपूर्ण साधनों से सुलझा लेते हैं। किन्तु जब एक राज्य के हितों को चुनौती दी जाती है और चुनौती देने वाले राज्य के साथ उसके सहयोग का कोई इतिहास या परम्परा नहीं होती तो उनके अन्तरों को मिटाना बड़ा कठिन बन जाता है। कनाडा और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की एक लम्बी परम्परा है और इसलिए उनको पारस्परिक प्रबन्ध करने में पर्याप्त सुविधा रहती है। दूसरी ओर रूस और टर्की के बीच औपचारिक सम्बन्ध हैं किन्तु फिर भी टर्की के दर्रे पर नियन्त्रण के लिए प्रतियोगिता के इतिहास ने टर्की को रूसी उद्देश्यों के प्रति सन्देहशील बना दिया है और इसलिए वह अपनी सुरक्षा के प्रति जागरूक है तथा नाटो की सदस्यता स्वीकार करता है। भारत और पाकिस्तान के बीच सहयोग की सम्भावनायें काश्मीर के ऊपर चलने वाले लम्बे झगड़े के कारण असम्भव बन गई हैं।

नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
(Morality and International Politics)

नैतिक एवं कानूनी नियम मनुष्य के व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवहार को नियमित करते हैं। इन्हें व्यवस्था के आधार कहा जा सकता है। यह प्रत्येक व्यक्ति पर दूसरों के अधिकारों का आदर करने का कर्तव्य डाल कर सभी की स्वतन्त्रता को बढ़ाते हैं। यदि नैतिक मापदण्ड पूरी तरह से प्रभावहीन रहे तो कानून अनावश्यक बन जायेंगे। नैतिक आचार संहिता सदैव ही कानूनी व्यवस्था को प्रभावित करती है। केवल तानाशाह ही अपने कानून द्वारा प्रशासन कर सकता है। हम समाज उसी को कहते हैं जो कि अच्छे और बुरे के सम्बन्ध में एकमत होता है तथा दूसरे के अधिकारों का आदर करता है। जो समाज सामान्य मापदण्ड नहीं रखता उसमें नैतिक दृष्टिकोणों पर थोड़ा ही समझौता रहता है। एक सच्चा समाज वह होता

है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार और कर्त्तव्य प्राय समान होते हैं कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का स्वामी या सेवक नहीं होता। आज हम जब 'अन्तर्राष्ट्रीय समाज' शब्द का प्रयोग करते हैं तो लगता है कि यह वास्तविकता का उद्घाटन होने की अपेक्षा केवल एक वाञ्छनीय आशा मात्र है। ऐसा इसलिए है क्योंकि इसमे इकाइयों की समानता का तत्व नहीं पाया जाता। अन्तर्राष्ट्रीय समाज (International Community) जैसी कोई चीज न होने की वजह से ही यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कोई नैतिक आचरण संहिता भी नहीं होती। कुछ लेखकों का विचार है कि एक राज्य के अधिकारी जब दूसरे राज्यों के साथ व्यवहार करते हैं तो उनको नैतिक निर्णयों के अनुसार चलना चाहिए।

नैतिकता की परिभाषा करना बड़ा कठिन है। नैतिकता की न तो कोई सर्वमान्य परिभाषा है और न ही इसका कोई सर्वमान्य व्यवहार है। व्यवहार के नैतिक मापदण्ड प्रत्येक संस्कृति एवं सभ्यता में अलग-अलग होते हैं। एक देश की सभ्यता तथा संस्कृति मे जो मापदण्ड तथा मूल्य प्रचलित हैं उनको दूसरे देश पर लागू नहीं किया जा सकता। संयुक्त राज्य अमरीका मे जिस चीज को आदर्श माना जाता है, यह जरूरी नहीं है कि अफ्रीका और एशिया के देशो मे भी उसे आदर्श माना जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे नैतिकता का वही अर्थ नहीं होता जो कि व्यक्तिगत सम्बन्धो मे हुआ करता है। एक देश के नेता जब विदेश नीति के सम्बन्ध मे निर्णय लेते हैं तो वे अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मापदण्डों से प्रभावित होते हैं। प्रत्येक देश अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को नैतिक तथा मानवीय सिद्ध करने का प्रयास करता है। नैतिकता प्राय सही आचरण को कहा जाता है किन्तु सही आचरण वास्तव मे क्या है, यह जानना बड़ा कठिन है। एक स्थिति मे एक आचरण एक व्यक्ति विशेष की दृष्टि से सही है किन्तु हो सकता है कि वह आचरण अन्य स्थिति मे उसके लिए अनैतिक हो अथवा उसी स्थिति मे अन्य व्यक्ति के लिए अनैतिक हो। नैतिकता के सम्बन्ध मे अनेक विचार हैं। इनमे से मुख्य दो निम्न प्रकार हैं—

१. कुछ लेखक यह मानते हैं कि एक सार्वभौमिक नैतिक मापदण्ड होता है और वही कार्य नैतिक कहा जा सकता है जो कि उसके अनुरूप हो। नैतिकता का मापदण्ड केवल एक ही होता है, अनेक नहीं होते। व्यक्ति यह जान सकता है कि नैतिक मापदण्ड उससे किस प्रकार के व्यवहार की आशा करता है। यह नैतिक मापदण्ड सभी व्यक्तियों पर समान रूप से

लागू होता है चाहे वे कुछ भी कार्य करते हो। इसके विरुद्ध किया गया आचरण अनैतिक है। इस पर समय तथा स्थान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि हत्या करना पाप है तो वह प्रत्येक परिस्थिति में पाप ही होगा।

२. नैतिकता के इस अर्थ की पर्याप्त आलोचना की जाती है। इसे आदर्शवादी तथा अव्यावहारिक बताया जाता है। दूसरे लेखकों का कहना है कि नैतिकता का केवल एक ही मापदण्ड नहीं होता। इतिहास एवं अनुभव के आधार पर इसमें परिवर्तन आते रहते हैं। एक व्यक्ति के लिए शत्रु को मार कर खा जाना एक अनैतिक कार्य है किन्तु वह यह सिद्ध नहीं कर सकता कि उसके मूल्य जंगली व्यक्ति के मूल्य से किस प्रकार उच्चतर हैं जो कि शत्रु तो क्या मित्र को भी मार कर खा जाता है। इन विचारकों की मान्यता है कि कार्य एवं स्थिति के अनुसार व्यक्ति के नैतिक आचरण का रूप भी बदल जाता है। यदि एक लखपति व्यक्ति चोरी नहीं करता तो हम उसको एक महान नैतिक व्यक्ति नहीं मान सकते। असल में उसका नैतिक स्तर उस व्यक्ति से भी नीचा है जो कि अपने बच्चों की भूख को मिटाने के लिए चोरी कर लेता है।

अन्तर्राष्ट्रीय आचार संहिता जैसी कोई चीज है अथवा नहीं है, इस सम्बन्ध में विचारकों के बीच मतभेद है। प्रत्येक देश अपने इतिहास, अनुभव एवं परम्पराओं के आधार पर स्वयं के नैतिक मापदण्ड बना लेता है और उसी के अनुसार आचरण करता है। इस प्रकार आचरण का कोई अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मापदण्ड होने की अपेक्षा प्रत्येक देश की विशेष आचरण संहिता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक आचरण संहिता के अस्तित्व से सम्बन्धित समस्या का समाधान अनेक रूपों में किया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई नैतिक आचरण की संहिता नहीं होती। दूसरे लोग कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए भी नैतिक मापदण्ड है। किन्तु यह मापदण्ड क्या है उसके सम्बन्ध में वे एकमत नहीं हैं। कुछ का कहना है कि यह आचरण संहिता ठीक ऐसी ही होती है जैसी कि व्यक्तिगत सम्बन्धों पर लागू होती है। अन्य का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के नैतिक मापदण्ड तो विशेष प्रकार के होते हैं।

नैतिक मापदण्ड के अस्तित्व की भांति इस प्रश्न पर भी विचारकों में पर्याप्त मतभेद है कि—क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार अनैतिक होता है? जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मापदण्ड के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं

करने उनके मतानुसार यह प्रश्न अप्रासंगिक है। अन्य के लिए यह प्रश्न जितना महत्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी है। इस सम्बन्ध में एक सामाजिक धारणा यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और कानून का जितना पालन किया जाता है उससे अधिक उसका उल्लंघन किया जाता है।

कुछ विचारक यह मानते हैं कि अधिकांश व्यक्ति प्राय अपराधी प्रकृति के होते हैं। केवल कुछ ही व्यक्ति ऐसे हैं जो उन नैतिक मापदण्डों का पालन करते हैं जिनका कि वे उपदेश देते हैं। कुछ नैतिक आचरण ऐसे होते हैं जिनको व्यक्ति समान परिस्थितियों मे अपना लेता है किन्तु असाधारण परिस्थितियों मे वह उनका पालन नहीं कर सकता और इस उल्लंघन को बुद्धिपूर्ण एवं न्यायोचित ठहराया जाना चाहिए। एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार आवश्यकता कोई कानून नहीं जानती। कुछ परिस्थितियों मे राजनीतिज्ञ केवल आवश्यकता से प्रभावित होकर ही व्यवहार करते हैं तथा ऐसे निर्णय लेते हैं जिनको वे दिल से नहीं लेना चाहते किन्तु उनके सामने कोई विकल्प नहीं है अत ले रहे हैं।

नैतिकता के इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए अन्य विचारक यह मत प्रकट करते हैं कि नैतिक आचरण और सुगमता का प्राय साथ नहीं रहता। आवश्यकता और मजबूरी यदि हमको नैतिकता के विरुद्ध कर देती है तो यह हमारी स्वयं की कमजोरी का प्रतीक है। आर्नोल्ड वुल्फर्स (Arnold Wolfers) के कथनानुसार यदि एक राजनीतिज्ञ यह निर्णय लेता है कि उसकी देश की सुरक्षा के लिए खतरा इतना महान है कि उसे युद्ध मे उलझना आवश्यक बन गया है तो यहां वह राष्ट्रीय सुरक्षा को अत्यधिक मूल्य प्रदान कर रहा है। कहने का अर्थ यह है कि कई बार मूल्यों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है और उस समय प्राथमिकता के आधार पर यह चुनना होता है कि किस मूल्य को महत्व दिया जाये। कुछ मूल्यों की साधना मे रत रहने पर युद्ध आवश्यक हो सकता है किन्तु तब निर्णायक को यह तय करना होगा कि क्या ये मूल्य इतने उच्च हैं कि उनके लिए अन्य मूल्यों को बलिदान किया जा सकता है। इस प्रकार आवश्यकता एवं मजबूरी का नाम लेना तो केवल बहाना मात्र है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई भी कार्य पूर्ण शुभ या अशुभ नहीं होगा वरन् प्रत्येक कार्य मे अच्छाई व बुराई दोनों के तत्व पाये जाते हैं। यह तय करना पड़ता है कि कम बुराई क्या है उसी को अपनाया जाये।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे नैतिकता का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। अधिकांश व्यक्ति आत्मरक्षा की खातिर दूसरों की हत्या कर देना ठीक मानते हैं। उनके मतानुसार न्यायपूर्ण युद्धों मे जो हत्यायें होती हैं वे ठीक [illegible] तथा

नैतिक है। एक देश जिस समय युद्ध कर रहा होता है उस समय उसका कोई भी नागरिक यह मानने को तैयार नहीं होता कि उसका देश अन्यायपूर्ण युद्ध में संलग्न है। प्राय सभी व्यक्ति इस बात में विश्वास करते हैं कि अपराधी को उसके दुष्कर्मों के लिए दण्ड दिया जाना चाहिए और गम्भीर अपराध के लिए व्यक्ति की जान भी ले ली जाये तो बुरा नहीं है। यह कार्य भी न्यायपूर्ण एवं नैतिक ही माना जायेगा, किन्तु यह व्यवहार उन कथनों के विरुद्ध जाता है कि 'तुम्हारे शत्रु को प्यार करो', 'बुराई का बदला बुराई से न दो' आदि। नैतिकता के समर्थकों का कहना तो यह है कि "भला करने वाले भलाई किये जा, बुराई के बदले दुआयें दिये जा।" नैतिकता का यह रूप आदर्श है किन्तु केवल व्यक्तिगत जीवन में ही इसे व्यवहृत किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नैतिकता को राष्ट्रीय हित से ऊपर नहीं रखा जा सकता। यहाँ विदेश नीति के निर्णायकों के हाथ में असंख्य लोगों का जन-जीवन होता है और उनके स्वयं के मूल्यों की खातिर वे इसकी बाजी लगाने का कोई अधिकार नहीं रखते। कभी-कभी अन्याय का विरोध करने के लिए हिंसात्मक साधनों को अपनाना जरूरी बन जाता है। जो लोग यथास्थिति से सतुष्ट हैं वे यह कहते हैं कि *यथास्थिति को बदलना और इसके लिए शक्ति* का प्रयोग करना अन्याय है, किन्तु वे ही लोग उस यथास्थिति को कायम रखने के लिए शक्ति के प्रयोग को न्यायोचित ठहराते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के पीछे दबाव रहता है जिसके कारण विभिन्न देश उसे मानने के लिए बाध्य होते हैं। विदेश नीति से सम्बन्धित *निर्णय लेने वालों को आन्तरिक या बाह्य दबाव के कारण अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक* आचरण को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। आन्तरिक दबावों में हम निर्णायकों की स्वयं की अन्तरात्मा एवं देशी लोकमत का नाम ले सकते हैं। वैसे लोगों की प्राय यह प्रवृत्ति रहती है कि वे अपनी सरकार की अपेक्षा दूसरे देशों की सरकार को भला बुरा कहते हैं, किन्तु उनके स्वयं के देश की सरकार भी उनकी आलोचना से बच नहीं पाती। संयुक्त राज्य अमरीका में वियतनाम युद्ध एवं बमबारी के विरुद्ध जो प्रदर्शन हो रहे हैं तथा जुलूस निकाले जा रहे हैं वे इसी बात के प्रमाण हैं। यह कहा जाता है कि सन् १९६१ में क्यूबा के विरुद्ध अमरीकी शक्ति के प्रयोग करने पर देश में भारी विरोध होने की आशंका थी और इसलिए यह प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त नहीं की गई।

जनमत की आलोचना एवं विरोध का भय होने के कारण ही आज के देश केवल सुरक्षात्मक एवं न्यायपूर्ण युद्ध ही करना चाहते हैं। इसके

अतिरिक्त अनेक कारणों से आज विश्व के अधिकांश देश एक स्थायी विश्व व्यवस्था चाहते हैं। ऐसी स्थिति में वे अपने दीर्घकालीन लक्ष्य को ध्यान में रख कर कुछ छोटी-मोटी इच्छाओं की अभिव्यक्ति की अवहेलना कर सकते हैं।

विदेश नीति के निर्णायकों पर विश्व जनमत का प्रभाव भी उल्लेखनीय रूप से पड़ता है। यही कारण है कि प्रत्येक देश संसार के सामने अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रतिमूर्ति रखना चाहता है। साथ ही वह अपने प्रत्येक कार्य को न्यायोचित ठहराने के लिए प्रचार साधनों का माध्यम लेता है। जिन लोगों का यह विश्वास है कि केवल शक्ति ही सब कुछ होती है वे भी इस तथ्य को छिपाये रखते हैं। प्रत्येक राज्य की सामर्थ्य उसकी सहित एवं स्वीकृति (Consent) पर निर्भर करती है। उसे जितनी अधिक स्वीकृति प्राप्त है उसे शक्ति की उतनी ही कम जरूरत होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विचारधारा के कार्य
(Functions of ideology in International Politics)

विचारधारा के पीछे राष्ट्रीय शक्ति होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विचारधाराओं के प्रभाव से अछूता नहीं रहता। ये प्रभाव अच्छे तथा बुरे दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। 'विचारधारा' विश्व के अलग-अलग भागों में बसे लोगों के बीच एकता, प्रेम और भाईचारे के भाव को जाग्रत कर सकती है, यह राष्ट्रों की एकता का कारण बनती है, लोगों में सामान्य उद्देश्यों की भावना जाग्रत करती है किन्तु दूसरी ओर विचारधारा संघर्षों, झगड़ों व विश्व युद्धों का कारण भी बन सकती है।

विचारधारायें प्रायः अबौद्धिक (Irrational) होती हैं; उनका आधार बुद्धि न होकर भावनायें होता है। विचारधाराओं की आड़ में परिस्थिति के तथ्यों को तथा महत्वाकांक्षी नेताओं के वास्तविक लक्ष्यों को छिपाने का प्रयास किया जा सकता है। विचारधारा का प्रयोग यदि पूरी कट्टरता से किया जाये तो इसके अनेक भयंकर परिणाम निकल सकते हैं जैसे—

(१) दो विरोधियों के बीच बौद्धिक समझौता तथा विचार-विमर्श कठिन और यहां तक कि असम्भव बन जायगा;

(२) समझौते के क्षेत्र ढूंढने के लिए जो प्रयास किये जायेंगे उनको निराशा मिलेगी,

(३) राष्ट्रीय सम्मान तथा इज्जत का अनुचित रूप से बलिदान किये बिना अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करना कठिन बन जायेगा;

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का प्रयोग कूटनीतिक लाभ प्राप्ति के अवसर के रूप में न किया जाकर अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए किया जायेगा।

पामर तथा परकिन्स ने भी यही विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि यदि दो देशों के बीच, जो अपनी-अपनी विचारधारा का कट्टरता के साथ प्रयोग कर रहे हैं, मनमुटाव पैदा हो गया तो वह एक अन्तर्राष्ट्रीय संकट बन कर रहेगा जिसे सुलझाना असम्भव है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्थित विचारधाराओं में प्रमुख हैं साम्यवादी विचारधारा तथा पश्चिमी राष्ट्रों की प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा। इन दोनों ही गुटों के बीच असंलग्नता की नीति अपनाने वाले राष्ट्रों की भी एक अलग विचारधारा सी बन गई है। उदाहरण के लिए भारत और अरब के सम्बन्धों का आधार बताते समय अरब लीग के प्रो० महमूद ने कहा था कि धर्मनिर्पेक्षता, साम्राज्यवाद का विरोध, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता व समानता पर बल और असंलग्नता की विदेशनीति आदि कुछ तत्व हैं जिनके कारण भारत-अरब सम्बन्ध बड़े गहरे व स्थाई हैं। इस प्रकार असंलग्नता की नीति (Policy of Non-alignment) भी देशों को निकट लाने में विचारधारा जैसा ही काम करती है। आजकल विश्व सरकार या विश्वराज्य समर्थन में एक नवीन विचारधारा और जोर पकड़ती जा रही है। वैसे तो साम्यवादी भी सार्वभौमिकता के विचारों से युक्त हैं तथा सारे संसार को लाल झण्डे के नीचे लाने के पक्ष में हैं। अनेक राष्ट्र न रहें एक ही विश्व रहे, विश्व-बन्धुत्व और वसुधैव कुटुम्बकम् जैसी भावनायें इस विचारधारा की जड़ में हैं।

मोरेल
(The Morale)

अंग्रेजी शब्द 'Morale' का हिन्दी रूपान्तर मानसिक या नैतिक अवस्था के रूप में किया जाता है। व्यवहार में इसका संकेत 'मनोबल' शब्द से भी कर देते हैं जो अन्य शब्दों से अधिक उपयुक्त लगता है।

मनोबल का अर्थ
(Meaning of the term morale)

मनोबल की परिभाषा देते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसिद्ध विचारक मार्गेन्थो ने बताया था कि राष्ट्रीय मनोबल निश्चय (determination) का वह अनुपात (Degree) है जिसके अनुसार एक राष्ट्र शान्ति एवं

युद्ध के समय अपनी सरकार की विदेश नीति का समर्थन करता है। मनोबल में राष्ट्र की सारी क्रियायें—औद्योगिक व कृषि उत्पादन तथा सैनिक तैयारियां और कूटनीतिक सेवायें, समाहित होती हैं। लोकमत के रूप में बदल कर राष्ट्रीय मनोबल सरकार की विदेश नीति को इतना प्रभावित करता है कि कभी कभी तो यदि दोनों के बीच मतभेद पैदा हो जाय तो या तो सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है अथवा सरकार को वह नीति लोकमत के अनुकूल परिवर्तित करनी पड़ती है। प्रजातन्त्रात्मक राज्यों में मनोबल या लोकमत का प्रभाव स्पष्ट एवं वास्तविक रूप से उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करता है जबकि दूसरे तानाशाही या राजतन्त्रात्मक राज्यों में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन राज्यों में मनोबल या लोकमत का कोई महत्व नहीं होता। हिटलर की विदेश नीति को जर्मनी की जनता का ६० प्रतिशत से भी अधिक समर्थन प्राप्त था।

यह कहा जाता है कि युद्ध केवल सेनाओं को रणक्षेत्र में भेजने से नहीं जीते जा सकते। जब तक कि जनता का पूरा सहयोग एवं हार्दिक सद्भावनायें अपने वीर सिपाहियों के उत्साह का वर्धन न करेंगी, तब तक वे अपनी पूरी शक्ति से नहीं लड़ सकते। वे अपनी कुर्बानी को मातृभूमि की सेवा में बलिदान न मान कर आत्म हत्या समझने लगेंगे। इस प्रकार जनता का मनोबल किसी भी युद्ध की सक्रियता, जोश एवं सफलता के लिए एक आवश्यक तत्व होता है।

मनोबल कभी कभी युद्ध के प्रतिरोधक (Deterent) के रूप में भी काम करता है अर्थात् जिस देश के लोगों में एकता होती है तथा वहां की सरकार की नीतियों के पीछे जनता का जोर रहता है-उस देश पर कोई भी दुश्मन देश आक्रमण करने का हौसला नहीं कर पाता, यदि करता भी है तो बहुत सोच समझ कर। इस प्रसंग में भारत पर किये पाक आक्रमण के कारणों पर, यदि गौर किया जाये तो हम पायेंगे कि पाकिस्तान ने जो दुःसाहस किया उसके प्रमुख कारणों में से एक यह भी था कि उसने भारत में अनेक समस्या एवं भेदभावों के होने से गलत अनुमान लगा लिया कि यहाँ का मनोबल ऊंचा नहीं है तथा सरकार की नीतियों को जनता का एकमत से समर्थन प्राप्त होना असम्भव है और ऐसी स्थिति में असंगठित भारत शीघ्र ही उसके कदमों में आ गिरेगा किन्तु भारतवासियों ने संकट के समय जो अद्वितीय एकता दिखाई वह आश्चर्यजनक थी। सरकार की नीतियों को सभी विरोधी दलों ने अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया। सभी भेदभावों को संकट

का मुकाबला करने के लिए भुला दिया गया। समय-समय पर सरकारी प्रवक्ताओं एवं विदेशी पत्रों ने यह स्वीकार कर लिया कि भारत का मनोबल बड़ा ऊंचा है। इस दृष्टि से गृहमन्त्री नन्दा तो पाकिस्तानी आक्रमण को एक परीक्षा की घड़ी कह कर यह मानने लगे थे कि इस संकट में से निकला हुआ भारत वैसा ही होगा जैसा कि आग से निकला हुआ खनिज सोना, उसमें कुन्दन जैसी ही चमक आ जायगी।

पामर तथा परकिन्स ने मोरेल (Morale) को परिभाषित करते हुए इसे आत्मा की एक चीज माना है जो स्वामिभक्ति, साहस तथा विश्वास से मिल कर बनती है, यह व्यक्तित्व एवं सम्मान की रक्षा की लालसा है, ज्ञात के प्रति 'भावना' है तथा अज्ञात के प्रति भय एवं अरुचि। यह आत्म-स्वार्थ है। आत्म-स्वार्थ यह इस अर्थ में है कि एक देश का मोरेल (Healthy frame of mind) उस देश के निवासियों में 'समात्मभाव' की स्थापना करता है। इसके अस्तित्व में वह समाज प्रेम, श्रद्धा, बलिदान, बन्धुत्व, दाम्पत्य, सख्य, वात्सल्य, भक्ति आदि के भावों से परिपूर्ण हो जाता है। स्थूल जगत में इन भावों के अनेक परिणाम परिलक्षित होते हैं। जब लोग सबके सुख में अपना सुख और सबके दुख में अपना दुख देखने लगते हैं तो स्वाभाविक रूप से ही उस देश की विकास योजनाओं की गति तीव्र हो जाती है। सभी लोग मिल कर सच्चे दिल से परिश्रम करते हैं, राष्ट्रीय हित के आगे वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान कर देते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि वह देश आर्थिक व्यवस्था, औद्योगिक उत्पादन, सैनिक तैयारी अथवा और जिस किसी भी क्षेत्र में कदम बढ़ाता है, वहीं सफलता उसके कदम चूमती है।

मनोबल के निर्माण के साधन
(Means for maintaining Morale)

किसी भी देश में मनोबल के निर्माण के समय कौन-कौन से तत्व प्रभाव डाल सकते हैं इस सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न मत हैं। कुछ विचारकों के मतानुसार तो मनोबल विकसित होता है, इसका निर्माण नहीं किया जा सकता। ये विचारक मानते हैं कि कोई सरकार या व्यक्ति विशेष यदि किसी भी कारण से देश में मनोबल का निर्माण करना चाहे तो वह ऐसा नहीं कर सकता। इसका कारण, जैसा कि पामर तथा परकिन्स महोदय ने बताया है, यह है कि राष्ट्रीय मनोबल (National Morale) कुछ निश्चित तथा अनेक अनिश्चित तत्वों का उलझनपूर्ण समवाय है।

दूसरी ओर विचारकों का एक समुदाय है जो उक्त मत के ऊपर दो आपत्तियां उठाता है। प्रथम, उसका कहना है कि यदि यह मान लिया जाये कि मनोबल निर्माण का नहीं वरन् विकास का परिणाम है तो भी क्या यह उपयुक्त न रहेगा कि इस विकास पर प्रभाव डालने वाले तत्वों की खोज की जाये। दूसरे, प्राय: यह देखा जाता है कि युद्ध के समय, संकट का मुकाबला करने की दृष्टि से राष्ट्रीय मनोबल एकाएक उठ खड़ा होता है, ऐसी अवस्था में उसे हम विकास का परिणाम न मान कर एक विशेष परिस्थिति की उपज कहेंगे। चीनी तथा पाकिस्तानी आक्रमणों के विरुद्ध भारत में जिस मनोबल का निर्माण हुआ था वह इतना तत्काल हुआ कि उसे विकसित मानना असंगत प्रतीत होता है।

उक्त बौद्धिक मतभेदों में अधिक उलझने की अपेक्षा यहां हमारे लिए यह उपयुक्त होगा कि राष्ट्रीय मनोबल (National Morale) के विकास या निर्माण पर अप्रभावित या वास्तविक रूप से प्रभाव डालने वाले तत्वों की संक्षिप्त जानकारी की जाय। ये तत्व निम्न प्रकार हैं—

(१) राष्ट्रीय चरित्र (National character)—राष्ट्रीय चरित्र का अर्थ उन मूल्यों तथा आदर्शों से है जिन्हें एक देश प्राथमिकता देता है, जबकि दूसरे देश उसे नहीं देते। एक देश के लोगों का चरित्र अर्थात् उनका रहन-सहन, विचार, भाषा, आदर्श, धर्म, संस्कृति आदि उस देश के मनोबल पर बड़ा प्रभाव डालते हैं। एक धर्म-प्रधान राष्ट्र के लोगों में युद्ध के विरुद्ध मनोबल तैयार करना एक दुरूह कार्य है। इसी प्रकार व्यक्तिवादी विचारधारा से प्रभावित देश के लोग अन्तर्राष्ट्रीय समाज के पक्ष में मनोबल का निर्माण नहीं होने देंगे।

पामर तथा परकिन्स के मत में राष्ट्रीय चरित्र एक देश के मनोबल (Morale) के निर्माण में बहुत कम असर डालता है। वे इतिहास के आधार पर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि समय-समय एक ही देश में दो विरोधी प्रकृति के मनोबल उभरते देखे गए हैं जो इस बात का प्रमाण है कि उस देश के चरित्र की दोनों में से किसी एक मनोबल के साथ एकरूपता नहीं होगी।

(२) संस्कृति (Culture)—संस्कृति एक देश के निवासियों के मानसिक एवं बौद्धिक स्तर को प्रभावित करती है। बदलती हुई संस्कृति के लोगों का सोचने एवं अनुभव करने का तरीका भी बदल जाता है। बहुत से विचार एवं व्यवहार जिन्हें प्राचीन-संस्कृति आदर्श मानती है, नवीन संस्कृति

उन्हें मर्यादा करती है तथा नवीन संस्कृति में जो आचार-विचार उपयुक्त माने जाते हैं प्राचीन संस्कृति उनको अमानवीय या मर्यादाहीन घोषित करती है।

कुछ विचारक यह सोचते हैं कि पुरानी संस्कृति से प्रभावित एक देश के मनोबल की प्रकृति तथा परिणाम उस देश के मनोबल की प्रकृति एवं परिणामों से विभिन्न प्रकार के होंगे जिनमें कि नवीन संस्कृति का प्रभाव है। किन्तु पामर तथा परकिन्स इस मत को भी नहीं मानते और इतिहास के आधार पर ही दोनों प्रकार के मनोबल में समानता दर्शाते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि सांस्कृतिक अन्तर एक देश के मनोबल को निश्चित करने के तत्व नहीं होते।

(३) नेतृत्व (Leadership)—एक राष्ट्र का मनोबल उस देश के महान् पुरुषों के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित होता है। भारत पाक संघर्ष के दौरान आकाशवाणी थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर उन वाक्यों को दोहराती थी जो नेहरू ने कभी संसद में कहे थे। यह प्रयत्न लाभकारी था क्योंकि जब एक भारत वासी को यह याद दिलाया जाता कि उसके एक स्वर्गीय नेता ने आजादी की रक्षा के लिए अपने प्राण न्योछावर करने को कहा था, तो उसकी नसों का रक्त प्रवाह उत्तेजित हो जाता है। वह मातृभूमि की रक्षा के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर देने में गौरव का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार देश में एक उच्च मनोबल की सृष्टि होती है। पामर तथा परकिन्स ने इसी विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि यदि एक नेता जनता में लोकप्रिय हो चुका है तो उसके विचारों का प्रभाव उस देश के मनोबल पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

ऊपर वर्णित राष्ट्रीय मनोबल पर प्रभाव डालने वाले तीनों ही तत्वों का स्वरूप 'सम्भावित' है अर्थात् ये तत्व प्रभाव डाल भी सकते हैं और नहीं भी। उपरोक्त के अलावा कुछ ऐसे भी तत्व हैं जो आवश्यक रूप से मनोबल पर प्रभाव डालते हैं। इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय दो हैं—सरकार का सक्रिय रूप और अवसर।

(४) अच्छी सरकार (A good Govt.)—एक राष्ट्र में स्वस्थ एवं सुगठित मनोबल का निर्माण करने के लिए यह आवश्यक है कि वहां की सरकार सक्रिय हो, गुणवान हो, तथा प्रजा की इच्छा एवं लोकमत के प्रभाव से संचालित हो। जिस देश की सरकार जनतांत्रिक तरीके से चलाई जाती है वहां जनता की महत्वाकांक्षाओं में तथा सरकार की नीतियों में

एकरूपता पाई जाती है। एक देश का मनोबल वहां की राष्ट्रीय शक्ति की अभिवृद्धि का साधन बन जाय यह बात वहां की सरकार के गुणों पर निर्भर करती है। जिन देशों की सरकार सुशासित होती है वहां का मनोबल उन देशों की तुलना में ऊंचा होता है जहां कि सरकार कमजोर है।

सरकार सुशासित न होकर यदि कमजोर होगी तो इसका प्रभाव राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों जैसे प्राकृतिक स्रोत, औद्योगिक सामर्थ्य, सैनिक तैयारियां आदि पर भी बुरा प्रभाव डालेगी और इस प्रकार उस देश को कमजोर बना देगी। मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय के मतानुसार राष्ट्रीय मनोबल को सुधारने का एकमात्र उपाय यह है कि सरकार के रूप को सुधार दिया जाय।

(६) परिस्थिति (Circumstances)—राष्ट्रीय मनोबल का निर्धारण करने वाले विभिन्न तत्वों में यह भी एक प्रमुख तत्व है जो प्रभावपूर्ण रूप में कार्य करता है। अनेक बार ऐसी परिस्थितियां तथा अवसर आ जाते हैं जो राष्ट्रीय मनोबल की वृद्धि का कारण बन जाते हैं। युद्ध में घटने वाली अनेक घटनायें राष्ट्र के मनोबल को उत्तेजित करती हैं। सितम्बर १९६५ में जब भारतीय सेनायें लगातार युद्ध विराम रेखा के उस पार बढ़ती जा रही थीं, भारतीय जनता में जोश की एक लहर आई हुई थी। प्रत्येक रेडियो के आगे भीड़ एक मेला-सा लग जाता था तथा प्रत्येक खबर के साथ जनता की करतल ध्वनि के नीचे रेडियो की आवाज भी दब जाती थी। सभी में एक अपूर्व उन्माद था। दुश्मन के उखड़ते हुए पंजों के चिन्हों को देखने में वे इतने खो गए कि उन्हें यह भी ध्यान न रहा कि उनकी स्वयं की कितनी क्षति हो रही है। राष्ट्र का मनोबल युद्ध की इन विजयों के कारण इतना बढ़ गया था कि कई, ओर से पूरे लाहौर पर अधिकार करने की या पाकिस्तान को दुनिया के नक्शे में हटाने की बातें की जाती थीं। मनोबल परिस्थितियों से बहुत प्रभावित होता है। मार्गेन्थो ने इसी अर्थ में कहा था कि यह सब अवसरों पर ही निर्भर करता है।

अवसर राष्ट्रीय मनोबल को गिरा भी सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि लड़ाई में हार हो जाये, कोई बड़ा नेता मर जाये, जहाज डूब जाये, कोई मित्र फूट जाये, शत्रु की शक्ति बढ़ जाये अथवा देश में ही फसल मारी जाये, हड़ताल हो जाये, बाढ़ आ जाये, रेल दुर्घटनायें हो जायें, बीमारी फैल

जाये तो देश का मनोबल गिर सकता है। कभी कभी जीत की खबर भी लोगो के उत्साह एव प्रयासो को ढीला कर देती है।

राष्ट्रीय मनोबल (National Morale) को एक देश की रीढ कहा जा सकता है जिसके टूटते ही राष्ट्र का सारा ढाचा धराशाही हो जायेगा। एक देश का गिरा हुआ मनोबल उठाना उतना ही कठिन तथा समय लेने वाला है जितना कि टूटी रीढ को पुन कार्य योग्य बनाने का प्रयास। मार्गेन्थो ने राष्ट्रीय मनोबल को राष्ट्र की शक्ति का एक अभिन्न भाग माना है जिसके बिना राष्ट्र की शक्ति एक निर्जीव शक्ति बन कर रह जायगी। यह केवल सम्भावित बन कर रह जावेगी जिसे कभी भी वास्तविक नही बनाया जा सकता।

नेतृत्व
(The Leadership)

राष्ट्रीय शक्ति का एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व नेतृत्व है। राज्य चाहे वह प्रजातन्त्रात्मक हो या राजतन्त्रात्मक, केवल कुछ लोगो द्वारा ही संचालित किया जाता है। स्विट्जरलैण्ड को अपवाद के रूप मे निकाल देने के बाद विश्व का कोई भी देश ऐसा नही रह जाता है जहा की सरकार के कार्य अथवा विदेश नीति के मामलो पर जनता का सीधा हस्तक्षेप हो। देश की बागडोर कुछ नेताओ के हाथो मे होती है। इन नेताओ के गुण एव महानता पर ही उस देश का भविष्य निर्भर रहता है। जितने कुशल नेता होगे तथा उनका जितना प्रभावकारी नेतृत्व होगा उतना ही अधिक शक्तिशाली वह देश बन जायेगा।

नेतृत्व के मुख्य रूप से दो कार्य हैं जिन्हे करके यह एक राष्ट्र की शक्ति को बढाने में सहायक होता है (1) प्रथम, नेतृत्व राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वो के बीच समन्वय की स्थापना करता है, (2) दूसरे राष्ट्र अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त कर सकें इसके लिए भी नेतृत्व का अस्तित्व आवश्यक होता है। मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय के शब्दो मे सैनिक नेतृत्व के गुण का राष्ट्रीय शक्ति पर बडा गहरा असर रहता है। उदाहरण के लिए १८वीं शताब्दी मे प्रशा (Prussia) फ्रेडरिक महान के नेतृत्व के अधीन था। उस समय उसकी शक्ति भी बढी चढी थी किन्तु उसकी मृत्यु होते ही प्रशा की शक्ति गिर गई और १८०६ म नेपोलियन द्वारा उसकी सेना को हरा दिया गया। इसी प्रकार हम जर्मनी के उदाहरण को देख सकते हैं जहा बिस्मार्क और हिटलर के नेतृत्व में इतनी राष्ट्रीय शक्ति सचित हो गई थी

कि जिसने संसार को चकित कर दिया। सही तथा प्रभावशाली नेतृत्व के होने पर एक देश के भूगोल, प्राकृतिक स्रोत, जनसंख्या आदि का प्रयोग इस प्रकार किया जायेगा कि ये सभी तत्व उस राष्ट्र को विश्व का सबसे बड़ा राष्ट्र बना दें। इस प्रकार नेतृत्व का राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्वों से बड़ा गहरा सम्बन्ध रहता है। नेतृत्व के अभाव में एक देश की सरकार कोई काम नहीं कर सकती, एक विकसित एवं सगठित तकनीक नहीं रह सकती, मनोबल भी इसके अभाव में महत्वहीन होता है। नेतृत्व ही वह तत्व है जो कि शक्ति के सम्भावित कारणों को वास्तविक रूप प्रदान करता है। नेतृत्व दूसरे लोगों के व्यवहार को प्रभावित करता है किन्तु दूसरे लोगों के व्यवहार से वह स्वयं अधिक प्रभावित नहीं होता। मैकाइवर और पेज ने नेतृत्व को एक व्यक्ति की ऐसी योग्यता माना था जो उसके पद से सम्बन्धित न होकर उसकी स्वयं की व्यक्तिगत होती है। इस योग्यता के आधार पर ही वह लोगों को प्रोत्साहित व निर्देशित करता है। गिब महोदय ने नेतृत्व को केवल व्यक्तिगत गुण न मान कर यह स्वीकार किया है कि उस पर सामाजिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है।

नेतृत्व के समय तथा स्थान के अनुसार भिन्न भिन्न रूप बदलते रहते हैं। युद्ध के समय किसी दूसरे प्रकार के नेतृत्व की आवश्यकता रहती है जबकि शान्तिकाल में किसी दूसरे ही प्रकार के नेतृत्व की।

नेतृत्व की विशेषतायें
(Characteristics of Leadership)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नेतृत्व के स्वरूप, महत्व एवं उत्तरदायित्वों के उक्त संक्षिप्त परिचय के बाद यह उचित रहेगा कि उसकी कुछ सामान्य विशेषताओं को भी समझ लिया जाय जिनके कारण एक नेतृत्व को अधिक से अधिक सक्रिय, सफल एवं प्रभावकारी होने के अवसर प्राप्त होते हैं। ये विशेषतायें मुख्यतः निम्न प्रकार हैं—

(१) नेतृत्व एक आन्तरिक एवं व्यक्तिगत गुण होता है; यह दूसरे व्यक्तियों को प्रेरित करने तथा उनको प्रभावित करने में कार्य करता है।

(२) नेतृत्व एक बहुमुखी व्यक्तित्व की माँग करता है। राष्ट्र के जीवन के प्रत्येक पहलू पर निर्देशन एवं मार्ग दर्शन की आवश्यकता रहती है। यह मार्गदर्शन किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यक्ति अपूर्ण है तथा उसकी योग्यता एवं ज्ञान की कुछ सीमायें भी होती हैं।

(३) उक्त कमी को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि उच्च शिखर पर राजनीतिज्ञों की सहायता के लिए विशेषज्ञ हो और इस प्रकार नेतृत्व किसी व्यक्ति विशेष का एकाधिकार न होकर विशेषज्ञ मण्डली के सामान्य निर्देशन के अधीन किया जाय।

इसी भाव को व्यक्त करते हुए पामर तथा परकिन्स ने यह कहा था कि नेतृत्व एक लचीला पद है इसका प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जा सकता है किन्तु जिस अर्थ मे यह राष्ट्रीय शक्ति का एक तत्व है, इसे अनेक ऐसे व्यक्तियों को समाहित करना चाहिए जिनके नेतृत्व के गुणों पर सैनिक सम्भावनाओं का विकास निर्भर करता है।

शान्तिकाल मे नेतृत्व
(Leadership in peace time)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे नेतृत्व का एक सर्वव्यापी महत्व है। दो राज्यों के बीच के सम्बन्धों को निर्धारित करने वाली इकाइया उन देशों के नेता होते है। सामान्य जनता समस्या एव परिस्थिति को न तो भली प्रकार समझ पाती है और न ही वह इतना समय एव योग्यता रखती है कि सरकार के निर्णयों को बदल सके। सरकार की कोई भी नीति यदि प्रजा के हितों पर सीधा आघात करती हो तो बात दूसरी है वरना देश के नेताओं ने जो नीतिया अपना ली हैं, प्रजा उनका समर्थन कर देती है।

नेतृत्व का यह उत्तरदायित्व है कि यह दूसरे देशों के साथ आर्थिक, सैनिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एव अन्य ऐसे सम्बन्ध स्थापित करे जिनके द्वारा उसके देश की राष्ट्रीय शक्ति घटे नही तथा बढ़ती चली जाये तथा राष्ट्रीय शक्ति के जो विभिन्न तत्व हैं वे परस्पर सहयोग के मार्ग पर बढ़ कर शक्ति के उच्चतम शिखर की ओर प्रयाण करें। यह सब करने के लिए नेतृत्व जिस नीति को अपनाता है वह कूटनीति कहलाती है।

जिस प्रकार राष्ट्रीय मनोबल एक देश की आत्मा होता है उसी प्रकार कूटनीति उस देश का मस्तिष्क होती है। इसके अभाव म राष्ट्र के पास चाहे कितने ही अन्य साधन क्यो न हो, वह स्थायी रूप से एक शक्तिशाली देश कभी नही बन पायेगा। कूटनीति (Diplomacy) का मुख्य कार्य जैसा कि मार्गेन्थो महोदय भी मानते हैं, यह है कि यह विदेश नीति के साध्य और साधनों को प्राप्त राष्ट्रीय शक्ति के स्रोतों के साथ एकरूप करती है। कूटनीति के माध्यम से उन सभी रास्तों को खोजा जाता है जिनके द्वारा उस राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाया जा सके। कूटनीति का व्यवहार करने के लिए एक कुशल नेतृत्व की आवश्यकता होती है।

शांति काल में नेतृत्व का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह कूटनीति के माध्यम से दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों को बढ़ावे, अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करे तथा राष्ट्रीय स्वार्थों की पूर्ति का भरसक प्रयास करे।

युद्ध काल में नेतृत्व
(Leadership in war time)

शान्तिकाल में राष्ट्र की शक्ति कूटनीति में रहती है जिसका संचालन नेतृत्व द्वारा किया जाता है। कूटनीति जहां असफल हो जाती है वहीं पर युद्ध आरम्भ हो जाते हैं। युद्ध कूटनीति की असफलता का परिणाम है और इस प्रकार यह नेतृत्व की नीतियों की कुछ अंशों में कमजोरी माना जायगा। युद्ध काल में नेतृत्व को जो उत्तरदायित्व सम्भालने पड़ते हैं वे गुण एवं अनुपात दोनों ही दृष्टियों से शान्तिकालीन उत्तरदायित्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

पुराने समय में युद्धकालीन नेतृत्व की प्रकृति आज से भिन्न थी क्योंकि युद्ध का स्वरूप भी उस समय आज जैसा न था। उदाहरण के लिए हम महाभारत से लेकर १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम तक के भारतीय युद्धों को ले सकते हैं। इनमें सेनायें आमने-सामने लड़ती थी, युद्ध की हार-जीत का निर्णय बहुत कुछ योद्धाओं की वीरता, शौर्य, कौशल एवं सेना-नायक के नेतृत्व की योग्यता पर निर्भर करता था। सेनापति के गुण और शक्ति को उसकी सेना का गुण एवं शक्ति माना जाता था। कुशल सेनापतित्व, मोर्चेबन्दी, घेरा डालना आदि योग्यताओं के साथ सेना का नेता विजय श्री को हासिल कर लेता था। उस समय के युद्ध सीमित थे, केवल सेनायें ही लड़ कर निर्णय कर लेती थीं कि कौन शासन करने का अधिकार रखता है।

आज के युद्ध इतने सीमित नहीं वरन् व्यापक प्रकृति के हैं। इसी कारण इनको सम्पूर्ण युद्ध (Total war) की संज्ञा प्रदान की जाती है। युद्ध के समय सारा राष्ट्र ही सक्रिय बन जाता है। राज्य के प्रत्येक स्रोत को सुरक्षित, विकसित करने एवं काम में लाने की आवश्यकता पड़ जाती है। देश के नेता का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह राष्ट्र की समस्त सामर्थ्य को तथा उसकी शक्ति के प्रत्येक पहलू को संगठित एवं नियोजित करे। इस प्रकार आज के युद्धों की प्रकृति को देखते हुए नेतृत्व का कार्य केवल यही नहीं रह गया है कि वह रणक्षेत्रों में जाकर सेना का सचालन करे अपितु आज उसे रणभूमि से अलग सामान्य नागरिक जीवन में समस्त देश की शक्तियों को सुसंगठित करना होगा।

राज्य चाहे वह प्रजातन्त्रात्मक हो या सर्वाधिकारवादी अथवा राजतंत्र, राज्य के नेतृत्व की शक्ति कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में ही केन्द्रित रहती है। ये चुने हुए लोग ही यह देखते हैं कि क्या देश के सारे साधन युद्ध में देश के पक्ष को शक्तिशाली बनाने में रत हैं अथवा नहीं। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार आज के युद्धों को सम्पूर्ण युद्ध (Total war) इसी कारण कहा जाता है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण स्रोतों की, सम्पूर्ण संगठन की तथा सम्पूर्ण प्रयत्नों की तथा कभी कभी सरकार की सारी शक्ति की आवश्यकता पड़ जाती है। राज्य के राजनैतिक नेताओं का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे राज्य की सारी शक्तियों का Coordination करें।

इस प्रकार चाहे शांति हो अथवा युद्ध, चाहे विकास योजनाओं को क्रियान्वित करना हो अथवा युद्ध की सामग्री का निर्माण, प्रत्येक देश को 'नेतृत्व' की आवश्यकता पड़ती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तीर्थ स्थानों की यात्रा करने के लिए प्रत्येक देश को नेतृत्व के रूप में एक 'श्रवणकुमार' की आवश्यकता होती है। 'नेतृत्व' राष्ट्रीय शक्ति के अन्य स्रोतों के सहारे देश का लेकर आगे बढ़ता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि किसी दशरथ द्वारा जाने या अनजाने एक देश के नेतृत्व की हत्या कर दी जाय तो वह देश शक्तिहीन हो जायेगा, उसके शक्ति के सारे स्रोत विसर्जित हो जायेंगे तथा अन्धदम्पत्ति की भांति वह रो-रोकर अपने आप को विनष्ट कर देगा।

राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन
(Evaluation of National Power)

राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्व भूगोल, प्राकृतिक स्रोत, जनसंख्या, तकनीकी, मनोबल, नेतृत्व आदि की विस्तृत जानकारी करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यदि एक राष्ट्र को शक्तिशाली बनना है तो उसे इन सभी की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा। इन सभी तत्वों का एक सन्तुलित रूप में समन्वय उपयुक्त ही नहीं आवश्यक भी है। राष्ट्रीय शक्ति के परिचय के अध्ययन को समाप्त करने से पूर्व इस अध्ययन को कुछ मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कर देना अधिक उपयुक्त रहेगा क्योंकि इन विशेषताओं पर ध्यान दिये बिना आगे बढ़ने पर हम गलत निष्कर्षों की ओर अग्रसर हो सकते हैं। शक्ति की दृष्टि से यदि हम एक राष्ट्र का स्तर मापने जा रहे हों तो, हम जिन बातों को ध्यान में रखना चाहिए उनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं—

(१) समन्वयात्मकता—किसी भी राष्ट्र की शक्ति का मूल्यांकन करते समय हमको सबसे पहले यह ध्यान रखना चाहिए कि राष्ट्रीय शक्ति के ऊपर वर्णित सभी तत्व परस्पर सम्बन्धित होते हैं; इन सबके बीच अन्तर्गे और लगडे का सा सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में अगर ये तत्व आपस में मिल कर एक समन्वित (Coordinated) रूप में कार्य करते हैं तो अवश्य ही एक राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य कर पायेंगे। किन्तु अलग-अलग रहने पर न केवल राष्ट्र को कमजोर करेंगे वरन् ये स्वयं का महत्व भी खो देंगे। पामर तथा परकिन्स महोदय ने राष्ट्रीय शक्ति के समस्त तत्वों को एक-एक करके लिया है तथा यह बताने की कोशिश की है कि यदि ये परस्पर सम्बन्धित न रहे तो नष्ट हो जायेंगे, प्रभावहीन रहेंगे। उनके मतानुसार यह कहना भी गलत होगा कि शक्ति केवल वहीं रहती है जहां कि ये सभी वर्तमान हों क्योंकि लोग बिना हथियार, नेतृत्व, मनोबल एवं देश के भी लड़ सकते हैं। तो भी यह तो सच है कि बिना तत्वों के कोई भी राष्ट्र उल्लेखनीय राष्ट्रीय शक्ति नहीं पा सकता।

(२) सापेक्षिकता—'शक्ति' अपने आप में पूर्ण नहीं होती या यों कहिये कि 'शक्ति' की कोई सीमा नहीं होती। आप किस देश को शक्तिशाली कहेंगे यह बात राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्वों की एक निश्चित मात्रा के स्वामित्व पर निर्भर नहीं करती। आवश्यक नहीं कि एक हाइड्रोजन बम रखने वाले राष्ट्र को हम शक्तिशाली कहें क्योंकि यदि सभी देशों के पास हाइड्रोजन बम हों तो एक राष्ट्र ऐसी स्थिति में शक्तिशाली न कहला कर सामान्य शक्ति वाला कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'शक्ति' एक सापेक्षिक विशेषण है जो उसी को शोभित कर सकता है जो कि तुलनात्मक दृष्टि से औरों की अपेक्षा शक्ति के तत्वों की अधिक मात्रा का स्वामी है। पामर तथा परकिन्स ने इस बात को बड़े रोचक ढंग से व्यक्त करते हुए बताया है कि एक ४० वर्ष का व्यक्ति १० वर्ष के बालक के सामने तो बड़ा समझा जायगा किन्तु ८० वर्ष के वृद्ध की तुलना में हम उसको युवक ही कहेंगे। इस प्रकार 'यह देश शक्तिशाली है' यह कथन अर्थहीन है जब तक कि यह उल्लेख न किया जाय कि कौन-कौन से देश इससे कमजोर हैं। इस प्रकार कमजोर राष्ट्र को जानने के लिए भी उसे दूसरे राष्ट्रों की शक्ति की कसौटी पर कसना पड़ेगा।

(३) परिवर्तनशीलता—शक्ति के विभिन्न तत्वों की स्थिति समय के अनुसार बदलती रहती है। एक देश कल यदि सर्वोच्च शक्ति था तो आवश्यक नहीं कि आज अथवा आने वाले समय में भी वह शक्तिशाली बना

PART III

Instruments for the promotion of national interest, Diplomacy, *Propaganda and Political Warfare* : Economic Instruments for National Policy, Imperialism and Colonialism, War as an instrument of National policy.

अध्याय ७—राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन : कूटनीति, प्रचार और राजनैतिक युद्ध
(Instruments for the Promotion of National Interest : Diplomacy, Propaganda and Political Warfare)

अध्याय ८—राष्ट्रीय नीति की अभिवृद्धि के साधन : आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद एवं युद्ध
(Instruments for the promotion of National Interest : Economic Instruments, Imperialism, Colonialism and War)

"अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार के सभी साधन एवं तकनीकें मैत्रीपूर्ण तथा झगड़ेपूर्ण, सम्बन्धों मे, शान्ति एवं युद्ध दोनों ही कालों मे प्रयुक्त की जा सकती है। यद्यपि इतना अवश्य है कि इनमे से कुछ की प्रकृति अधिक समझाने बुझाने की है जबकि अन्य दबावकारी हैं।"

—फ्रैंकेल

"कूटनीति अथवा राज्य स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धों के सचालन मे बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग करने को कहते हैं जो कभी-कभी उनके अधिनस्थ राज्यों से उनके सम्बन्धों के लिए भी लागू होता है।"

—सर अरनेस्ट सेटा

"जब कभी राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आर्थिक नीतियाँ बनाई जाती है, चाहे वे दूसरे देशों का अहित करती हो अथवा नही, वे राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन है।"

—पामर तथा परकिन्स

"साम्राज्यवाद मे दूसरे देशो को जीतने का प्रयास निहित रहता है किन्तु दूसरे देशो को जीतने की नीति को ही हम साम्राज्यवाद नही कह सकते।"

—बुकरिन

"उपनिवेशवाद अपने सर्वश्रेष्ठ रूप मे राष्ट्रीयता का स्वाभाविक प्रति-प्रवाह (over-flow) है। इसकी परीक्षा उपनिवेशियों की वह शक्ति है जिसके द्वारा वे अपनी सभ्यता को अपने नवीन सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण के अनुसार ढाल सकें।"

—हाब्सन

"अगर तुम शान्ति चाहते हो तो पहले युद्ध को समझो।"

—लिडेल हार्ट

७

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के साधन : कूटनीति, प्रचार और राजनैतिक युद्ध

[INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL INTEREST DIPLOMACY, PROPAGANDA AND POLITICAL WARFARE]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के दो रूप हैं । पहला रूप सहयोग (Co-operation) है । यह वहां पाया जाता है जहां पर कि झगड़ा या संघर्ष नहीं होता । दूसरा रूप लड़ाई है । यह तब उत्पन्न होती है जब कि संघर्ष में समझौते की गुञ्जाइश न रह जावे तथा विरोधी को नष्ट करना ही एकमात्र लक्ष्य रह जाये । वैसे अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार इन दोनों ही अतिशयों के बीच में रहता है । इस स्थिति को हम प्रतियोगिता कह सकते हैं । राष्ट्रों के बीच सदैव किसी न किसी विषय पर संघर्ष की स्थिति रहती है किन्तु यह संघर्ष अधिक नहीं बढ़ पाता और प्राय समझौते में इसका अन्त होता है । राज्यों के मध्य स्थित व्यवहारों को राज्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज दोनों की ही प्रकृति के द्वारा प्रशासित किया जाता है । राज्यों की एक मुख्य विशेषता यह होती है कि वे मानवीय संगठनों का सर्वोच्च रूप होते हैं, वे अपने ऊपर किसी भी सर्वोच्च को नहीं देखना चाहते और प्राय आत्म-हित की दृष्टि से ही कार्य करते हैं । यह आत्म हित ही उनका राष्ट्रीय हित है । अन्तर्राष्ट्रीय समाज राज्यों के ऊपर अधिकारपूर्ण शक्ति का प्रयोग नहीं करता, वह उनके व्यवहार के लिए केवल कुछ नियम मात्र प्रस्तावित कर सकता है ।

इन नियमों का पालन ये राज्य अपने राष्ट्रीय हित (National Interest) को दृष्टि से करते हैं। आज का अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार प्रत्येक स्तर पर संघर्ष का प्रदर्शन करता है। युद्ध एवं हिंसा की धमकियाँ लगातार दी जाती हैं।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का क्षेत्र बहुत कुछ ऐसी स्थिति में आ गया है जिस स्थिति में कि हाब्स के कथनानुसार व्यक्ति राज्य की स्थापना से पूर्व रहता था। इस अराजकता एवं अव्यवस्था की स्थिति से कैसे बाहर आया जाये? यह एक भिन्न प्रश्न है। यहाँ हम इस प्रश्न की गम्भीरता या इसके समाधानों पर विचार नहीं कर रहे हैं वरन इस अध्याय में तथा अगले अध्याय में हम उन विभिन्न साधनों का अध्ययन करेंगे जिनके द्वारा एक राज्य अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने का प्रयास करता है। राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाना आज प्रत्येक राज्य का सब प्रमुख राष्ट्रीय हित है। राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ा कर वह अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चल रहे निरन्तर संघर्ष में विजय पाने की चेष्टा करता है तथा अपने अस्तित्व एवं विकास के लक्ष्यों की साधना करता है।

अपने राष्ट्रीय हित (शक्ति की अभिवृद्धि) की प्राप्ति के लिए एक राज्य अनेक साधन अपनाता है। स्वयं की सामर्थ्य एवं योग्यता तथा अवसर की अनुकूलता के आधार पर वह यह तय करता है कि उसे किस साधन को किस राज्य के साथ और कब अपनाना चाहिए। राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के लिए विश्व के राज्य जिन साधनों को अपनाते हैं तथा अपना सकते हैं वे मुख्य रूप से ये हैं—

(i) कूटनीति (Diplomacy)
(ii) प्रचार एवं राजनैतिक युद्ध
(Propaganda and Political Warfare)
(iii) आर्थिक साधन (Economic Instruments)
(iv) साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद
(Imperialism and Colonialism)
(v) युद्ध (The war)

प्रत्येक देश अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इन साधनों में से कुछ को अथवा सभी को अपनाता है। कूटनीतिक सम्बन्ध तो सामान्य अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार की विशेषतायें हैं जो कि प्राय सदैव ही राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का आधार बनते हैं। प्रचार कार्य एवं राजनैतिक युद्ध के द्वारा राज्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में संलग्न कूटनीति की सहायता करता

है। धार्मिक साधन भी उसे कुछ ऐसा ही करने का अवसर प्रदान करते हैं। अपने राष्ट्रीय हितों को स्थायी रूप से सुरक्षित बनाने की खातिर एक देश प्रसारवादी नीतियां अपनाता है और साम्राज्य तथा उपनिवेश कायम करता है। जब कूटनीति एक राज्य के राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने में असफल हो जाती है तो वह राज्य युद्ध का मार्ग अपनाता है और जो कार्य वह वार्ता द्वारा नहीं कर सका उसे शक्ति द्वारा करने का प्रयास करता है। युद्ध के समय भी अन्य साधन सक्रिय रह सकते हैं और प्रायः रहते हैं किन्तु अन्य साधनों की सक्रियता के साथ युद्ध का रहना जरूरी नहीं है। यदा-कदा उसकी धमकी अवश्य प्रभावशाली सिद्ध हो सकती है। प्रस्तुत अध्याय में हम राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के प्रथम दो साधनों अर्थात् कूटनीति तथा प्रचार और राजनैतिक युद्ध का अध्ययन करेंगे, शेष के सम्बन्ध में अगला अध्याय विचार करेगा।

अन्तर्राज्यीय व्यवहार का बदलता रूप
(The Changing Pattern of Inter-State Behaviour)

राज्यों का पारस्परिक व्यवहार एक काल में सभी स्थानों पर और सभी कालों में एक स्थान पर कभी भी एक जैसा नहीं रहा है। स्थान तथा काल का अन्तर्राज्यीय व्यवहार पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है और इसलिए इसका रूप भी तदनुसार बदलता रहा है। ऐसी स्थिति में हम चाहें तो दो राज्यों के एक निश्चित काल के पारस्परिक व्यवहार को आसानी से जान सकते हैं। किन्तु इन सम्बन्धों में दूसरे बहुत से राज्य भी जोड़ दिये जायें तथा इसे एक लम्बे समय तक के लिए व्याप्त बना दिया जाये तो मुश्किल हो जायेगी। विभिन्न देशों एवं कालों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का रूप बहुत कुछ बदल जाता है। कई देश आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उभर आए जबकि तिब्बत और नेपाल जैसे हिमालय की तराई के देश वर्तमान शताब्दी तक पृथक बने हुए थे। हम किसी भी देश की विदेश नीति का मूल्यांकन उस समय तक नहीं कर सकते जब तक कि यह न जान लें कि वह दूसरे राज्यों के सम्बन्धों में कितना उलझा हुआ है। विदेश नीति के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्न एक देश के उलझने पर निर्भर करते हैं। कुछ देश शक्ति राजनीति के क्षेत्र में परम सक्रियता के साथ उलझे हुए हैं, जबकि दूसरे देश शक्ति राजनीति से अलग रह कर एक तटस्थ या असंलग्न दृष्टिकोण अपनाए हुए हैं।

परम्परागत रूप से प्रत्येक राज्य विदेशी सम्बन्धों में अत्यधिक उलझनों का जोखिम नहीं उठाना चाहता और इसलिए वह पृथक या तटस्थ रहना

चाहता है। आज की परिस्थितियों में पार्थक्यता की नीति प्राय समाप्त हो गई है और तटस्थता की नीति ने भी अपना अर्थ पूरी तरह से बदल दिया है। पार्थक्यवाद का अर्थ यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से एक देश अपना हाथ पूरी तरह खींच ले। भौगोलिक पार्थक्य के आधार पर यह नीति पहले सम्भव थी और इसीलिए यूरोपीय प्रभाव से पूर्व चीन तथा जापान इसे अपना सके, किन्तु आज की परिस्थितियां इसे असम्भव बना देती हैं।

आज से पचास वर्ष पूर्व तटस्थता को एक कानूनी मान्यता समझा जाता था जिसका अर्थ था युद्ध में भाग न लेना। यह नीति तटस्थ राज्य को कुछ अधिकार सौंपती थी और कुछ कर्त्तव्य डालती थी। आज की स्थिति में इसका अर्थ यह है कि दो प्रमुख गुटों के बीच असलग्न रहा जाए तथा सन्धियों की व्यवस्था में भाग न लिया जाए। आज के तटस्थ देश सोवियत रूस या संयुक्त राज्य अमरीका के गुट की किसी भी सैनिक शक्ति में सम्मिलित नहीं होते, वे किसी भी प्रश्न पर किसी एक पक्ष का समर्थन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। इसके अतिरिक्त वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यापक रूप से भाग ले सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्ययन करते समय यह जरूरी है कि एक राज्य की सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में दृष्टिकोण को जाना जाए और दूसरे किसी एक राज्य से सम्बन्धित उसके दृष्टिकोण को जाना जाए। इस दृष्टि से हम राज्यों को कई भागों में विभाजित कर सकते हैं। कुछ राज्य यथास्थिति के समर्थक होते हैं। ये राज्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के स्थायित्व को सुरक्षित रखना चाहते हैं क्योंकि उनके मतानुसार इससे उनके हितों की रक्षा होती है। दूसरे राज्य यह अनुभव करते हैं कि विश्व व्यवस्था उनके राष्ट्र हित के विरुद्ध है और इसे बदलने पर उन्हें शान्ति होगी। ये देश संशोधन वाले देश कहलाते हैं। ये सकारात्मक एवं निषेधात्मक दृष्टिकोण व्यापकता एवं निश्चय की दृष्टि से पर्याप्त भिन्नता रखते हैं। कहने का अर्थ यह है कि यथास्थिति के सभी समर्थक विश्व व्यवस्था की रक्षा के लिए समान रूप से तैयार नहीं हैं और इसी प्रकार संशोधनवादी राज्य भी वर्तमान व्यवस्था को समाप्त करने के लिए समान रूप से दृढ़बद्ध नहीं हैं। दुनिया के राज्य अपने मित्रों के प्रति, अपने सम्भावित शत्रुओं के प्रति एवं तटस्थ देशों के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाते हैं उनके बीच पर्याप्त भिन्नता होती है। एक विशेष दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही वे यह तय करते हैं कि दूसरे राज्य से सम्बन्ध रखने के लिए कौन से साधन और तकनीक अपनायें।

कोई भी राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किन साधनों का प्रयोग करेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि शक्ति के विभिन्न तत्व वहां किस मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जो देश सैनिक दृष्टि से कमजोर हैं वे स्वतः ही अपने विदेश सम्बन्धों को गैर-सैनिक साधनों एवं तकनीकों के आधार पर विकसित करेंगे। जो राज्य आर्थिक दृष्टि से कमजोर है वह विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आर्थिक साधनों को नहीं अपना सकता। इस प्रकार यह राज्य की इच्छा मात्र का ही प्रश्न नहीं है क्योंकि यह उनके अन्य राज्य के प्रति सैद्धिक दृष्टिकोण तथा उसके साधनों की क्षमता पर निर्भर करता है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में कुछ अपरिहार्य तत्व भी पैदा हो जाते हैं। समय के साथ साथ प्रत्येक क्षेत्र में अवसर एवं चुनौतियां बदलती रहती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय तौर तरीके तथा अन्तर्राष्ट्रीय आदान प्रदान के खेल को प्रभावित करने वाले नियम स्थायी या अपरिवर्तनीय नहीं होते। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अमरीकी विदेश नीति की यह कह कर आलोचना की जाती है कि यह अणु हथियारों पर अत्यधिक आश्रित थी क्योंकि अमरीका इन हथियारों की दृष्टि से शक्तिशाली था किन्तु तथ्य यह है कि अनेक प्रश्नों पर ये हथियार बेकार थे तथा मुख्य सोवियत चुनौतियां धीरे धीरे सैद्धान्तिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में मानी जा रही थीं। ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रांस ने सन् १९५६ में स्वेज नहर विवाद के समय यह जान लिया कि बीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में कोई भी सैनिक हस्तक्षेप केवल तभी किया जाना चाहिए जबकि कम से कम एक बड़ी शक्ति या संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन प्राप्त हो।

प्रथम विश्व युद्ध तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध केवल दूसरी सरकारों के साथ ही संचालित किए जाते थे किन्तु उसके बाद से अन्य राज्य के लोगों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का महत्व बढ़ गया है। फलतः अन्तः-सरकारी सम्बन्धों के साधनों एवं तकनीकों को अब बदला जा रहा है तथा उनके स्थान पर ऐसी तकनीकें का लाया जा रहा है जो कि जनता में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उपयुक्त हैं। कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इन दोनों रूपों के बीच विरोध भी स्थापित हो जाता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका पूर्वी योरोप की गैर-याराना सरकारों के सम्बन्धों को निश्चित करने के लिए कभी-कभी उनकी आर्थिक कठिनाइयों में इस आशा से मदद कर देता है कि उनकी सद्भावना प्राप्त कर सके तथा सोवियत संघ के प्रति उनकी स्वामिभक्ति का कम कर सके। यह नीति अलगाव (D-tachment) की नीति कहलाती है। इसका विकल्प यह है कि इन देशों की जनता से अपील की जाये कि वे अपनी सरकारों का तख्ता पलट दें तथा उनके स्थान पर ऐसी

सरकारें स्थापित करें जो कि संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति अधिक मैत्री-पूर्ण हो। यह नीति संहार (Subversion) की नीति कहलाती है। स्पष्ट है कि ये दोनों प्रकार की नीतियां परस्पर विरोधी हैं।

एक राज्य की विदेश नीति दूसरे देश की सरकारों के प्रति केवल निर्देशित ही नहीं होती वरन् उनको अपने साधन के रूप में भी प्रयुक्त कर लेती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से यह प्रवृत्ति पर्याप्त बढ़ गई है कि महाशक्तियां स्वयं प्रत्यक्ष रूप से किसी संघर्ष में नहीं उलझती तथा किसी देश को अपने हितों की सिद्धि का सहारा बना कर उसे उलझा देती हैं तथा स्वयं पीछे से सहायता करती रहती है। यह बात साम्यवादी गुट में अधिक देखने को मिलती है क्योंकि साम्यवादी विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय क्रांति में विश्वास करती है अतः कोई भी साम्यवादी देश सोवियत संघ के हितों की साधना का माध्यम बनने में प्राय एतराज नहीं करता। चीन, यूगोस्लाविया आदि कुछ देशों को विदेश नीति का साधन नहीं बनाया जा सकता क्योंकि वहां राष्ट्रवाद की भावनायें उभर चुकी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का प्रभाव भी धीरे धीरे बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में यह लिखा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति का प्रयोग या शक्ति की धमकी से काम न लिया जाय। इस प्रावधान का यद्यपि सदैव ही पालन नहीं किया जाता किन्तु फिर भी राज्यों के व्यवहार पर इसका पर्याप्त प्रभाव होता है। सामान्य रूप से यदि अन्य बातें समान रहें तो राज्य उन साधनों एवं तकनीकों को अपनाना चाहेंगे जो कि चार्टर के अनुरूप हों तथा महासभा में अभिव्यक्त अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत की स्वीकृति प्राप्त कर सकें।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में मित्रों एवं शत्रुओं के बीच तथा समझाने-बुझाने एवं दबाव डालने के बीच स्पष्ट रूप से विभाजन नहीं होता। अनेक मामलों में सबंध कई प्रकार का होता है। अधिकतर मैत्रीपूर्ण सबंधों में भी दबाव की धमकी प्रायः दी जा सकती है तथा विचारधारागत रूप से विरोधी देश भी व्यापार के मामलों में प्रायः समझौता कर लेते हैं। शांतिकाल का अर्थ यह नहीं होता कि संघर्ष का अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार युद्ध का अर्थ भी यह नहीं होता कि अब दबावहीन साधन बेकार हो गये हैं। फॅक्स महाशय का यह कथन इस दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी एवं तथ्य संगत प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार के सभी साधन एवं तकनीकें, मैत्रीपूर्ण तथा झगड़ेपूर्ण सम्बन्धों में, शांति एवं युद्ध दोनों ही कालों में प्रयुक्त की जा सकती है। यद्यपि इतना

अवश्य है कि इनमें से कुछ की प्रकृति अधिक समझाने बुझाने की है जबकि अन्य दबावकारी हैं। वर्तमान काल में राष्ट्रीय नीति एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीति के बीच का अन्तर एवं दूरी भी कम होती जा रही है। अन्तर्राष्ट्रीय संबंध उन नीतियों से पर्याप्त प्रभावित होते हैं जिनको कि हम शुद्ध रूप से घरेलू नीति कहते हैं। उदाहरण के लिए एक बड़े देश की आर्थिक नीति उसका स्वयं का घरेलू मामला है किन्तु यह उन छोटे देशों के व्यापार एवं मुद्रा पर भारी प्रभाव डाल सकता है जो कि उस पर आश्रित हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव रखने वाले किसी भी राष्ट्रीय हित को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का समझा जा सकता है। भारत में रुपये का अवमूल्यन किया गया था। यह विषय शुद्ध रूप से उसकी घरेलू नीति का विषय था तथा विश्व के अन्य देशों को इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं था। इतने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि भारत की इस नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई प्रभाव न डाला अथवा यह उससे पूर्ण रूप से असम्बद्ध थी। भारत द्वारा निर्यात एवं आयात किए जाने वाले सामान के मूल्यों पर इसका भारी प्रभाव पड़ा। दूसरे देशों को भी इसके प्रभावों द्वारा उनकी अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना पड़ा।

राष्ट्रीय हित का अर्थ
(The Meaning of National Interest)

मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की भांति राष्ट्रीय जीवन में भी व्यवहार के दो पक्ष होते हैं—पहला स्वार्थ पक्ष और दूसरा परमार्थ पक्ष। पहले पक्ष के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र के प्रत्येक कार्य का प्रमुख लक्ष्य उसके स्वयं के स्वार्थों की पूर्ति करना होता है। इस दृष्टि से एक राष्ट्र का न तो कोई स्थायी मित्र होता है और न ही कोई स्थायी दुश्मन, केवल स्थायी स्वार्थ होते हैं। अन्य देश यदि उस राष्ट्र के इस स्वार्थ की पूर्ति में एक सहायक का कार्य करेंगे तो अवश्य ही गहरे मित्र बन जायेंगे किन्तु यह मित्रता केवल तभी तक स्थिर रहेगी जब तक कि इसका आधार 'स्वार्थ पूर्ति' कायम करता रहता है। इस आधार के समाप्त होते ही मित्रता का महत्व भी धराशायी हो जायगा और यह भी सम्भव है कि वे देश परस्पर उतने ही शत्रु बन जायें जितने कि पहले वे मित्र थे। विश्व का इतिहास एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का क्रम इस कथन की पुष्टि के लिए इतने प्रमाण दे सकता है कि यह कथन आजकल स्वयं सिद्ध सत्य सा बनता जा रहा है।

राष्ट्रीय क्रियाओं के परार्थमूलक पक्ष में उन सभी कार्यों को समाविष्ट किया जा सकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विश्व शान्ति एवं विश्व समाज में समानता, स्वतन्त्रता तथा भाईचारे (Liberty, Equality and Fraternity) के सिद्धांतों को सफल बनाने की दिशा में किये जाते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से अनेक राष्ट्र पिछड़े देशों के उत्थान के लिए अनेक प्रकार की सहायता प्रदान करते हैं। वे उनके शैक्षणिक, आर्थिक, तकनीकी, राजनैतिक आदि क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार सहयोग प्रदान करके वहां के जीवन स्तर को अपने समकक्ष बनाने में प्रयत्नशील हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनेक अभिकरण इन परार्थमूलक क्रियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (ILO), खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO), विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO), अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति अभिकरण (IAEA), विशेष अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक विकास की राशि (SUNFED), अन्तर्राष्ट्रीय विकास संस्था (IDA) *तथा बाल विकास की राशि (UNICEF) आदि महत्वपूर्ण* हैं।

राष्ट्रीय क्रियाओं के स्वार्थमूलक तथा परार्थमूलक पक्षों का तुलनात्मक महत्व आंकते समय प्रायः स्वार्थमूलक क्रियाओं को ही प्रभावशील ठहराया जाता है। अनेक विचारकों की यह मान्यता बहुत कुछ सत्य है कि परार्थमूलक क्रियायें अपने आप में साध्य नहीं हैं, वे साधन हैं तथा उनका परम लक्ष्य है उस राष्ट्र के स्वार्थों की पूर्ति। उदाहरण के लिए हम भारत की विदेश नीति के समर्थकों के तर्कों को ले सकते हैं। यह कहा जाता है कि भारत की शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व पर आधारित असंलग्नता की विदेश नीति को केवल आदर्शवादी मानना भ्रमपूर्ण है क्योंकि देश के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए विश्व में शान्ति बनाये रखना परम आवश्यक है। भारतीय विदेश नीति विश्व शांति एवं विश्व सहयोग की अभिवृद्धि का प्रयास करती है और इस प्रकार यह राष्ट्रीय हित (National Interest) की उपेक्षणीय या गौण नहीं बनाती वरन् सच्चे अर्थों में उसे प्राप्त करने का प्रयास करती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को सहयोग एवं सहायता इसलिए देता है कि वह उसके स्वयं के दूरगामी हित में है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक व्यापार के समान है जिसमें कोई भी खर्चा उससे दुगनी आमदनी की आशा में किया जाता है। मूल रूप में क्रूर स्वार्थ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों का प्रेरक है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रों के बीच युद्ध हुए, झगड़े हुए, शान्ति हुई, सन्धियां हुई,

इन सबके पीछे एक ही मूल कारण था जो कि सारे घटनाचक्र को घुमाने के लिये उत्तरदायी रहा और वह था प्रभावशील राष्ट्रो का अपना-अपना स्वार्थ ।

यदि यह मान लिया जाय कि राष्ट्रीय हित ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सब कुछ है तो अब समस्या यह आती है कि आखिर इस 'हित' की प्रकृति एव स्वरूप क्या है । किन-किन बातो को इस शब्द की परिधि मे समाहित किया जाय और किस आधार पर । दूसरे शब्दो मे राष्ट्रीय हित को परिभाषित करने की समस्या उठ खडी होती है । राष्ट्रीय हित कोई स्थिर या शाश्वत वस्तु नहीं है, वह तो एक परिवर्तनशील तत्व है जिसे गत्यात्मक (Dynamic element) कहा गया है । लम्बे इतिहास मे एक समय ब्रिटेन का स्वार्थ भारतवर्ष मे अपना साम्राज्य बनाये रखना हो सकता है तो दूसरे चरण मे उसका यह कार्य हित साधक की अपेक्षा हित का विरोधी भी हो सकता है । राष्ट्रीय हित स्थान एव काल (Time and Place) के परिवर्तन के साथ अपने स्वरूप को बदलता रहता है । एक राष्ट्र के एक ही समय मे अनेक हित हो सकते हैं । इन हितों के बीच परस्पर विरोधाभास भी रह सकता है । ऐसी अवस्था मे जो हित महत्व एव प्रभाव की दृष्टि से उच्च स्तर का होता है उसको वह राष्ट्र प्राथमिकता प्रदान करता है । निम्न-स्तर वाले राष्ट्रीय हितो को प्राथमिकता देने के कारण अनेक बार राष्ट्रो की राजनीति को असफल होते देखा गया है ।

राष्ट्रीय हित (या हितो) के स्वरूप मे भिन्नता, अस्थिरता, विरोधाभास, स्वरो की असमानता आदि अनेक विशेषतायें देखने को मिलती हैं । मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय के मतानुसार राष्ट्रीय हित मे प्राय दो तत्व निहित होते हैं-एक तो यह कि यह तार्किक रूप से वाछनीय है और इस प्रकार आवश्यक भी । दूसरे, यह अस्थिर तथा परिस्थितियो द्वारा निर्धारित होता है । राष्ट्रीय स्वार्थ को आवश्यक मानने से उनका अर्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपनी भौतिक, राजनैतिक एव सास्कृतिक एकरूपता (Identity) की रक्षा करना आवश्यक बन जाता है । इसके अभाव मे उनका स्वय का अस्तित्व भी मिट सकता है । एक देश का राष्ट्रीय हित दूसरे देश के राष्ट्रीय हित के अनुकूल भी हो सकता है और विरोधी भी, किन्तु आज के सम्पूर्ण युद्ध (Total War) के युग मे एक राष्ट्र के अस्तित्व के लिए तथा राजनैतिक नैतिकता को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह राष्ट्र अपने स्वार्थों को निर्धारित करते समय दूसरे राष्ट्रो के हितों को भी ध्यान मे रखे तथा दोनो के बीच अनुरूपता को स्था-

पना का प्रयास करे। राष्ट्रीय हितो की मान्यता यह मान कर नही चलती कि विश्व मे सहयोग रहेगा तथा ससार मे शान्ति बनी रहेगी और न ही यह मान कर चलती है कि ससार मे अशान्ति एव युद्ध छिड़ जायगा वरन् इसका यह विश्वास है कि संसार में हमेशा सघर्ष तथा झगडे बने-ही-रहेगे तथा ये झगडे युद्ध का रूप धारण न कर लें इसके लिए कूटनीति (Diplomacy) के माध्यम से इन सघर्षों के बीच सतुलन की स्थापना कर ली जायगी।

राष्ट्रीय स्वार्थ अथवा राष्ट्रीय हित के उपरोक्त रूप को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रीय हित के साधनों को जानना यदि असम्भव नही तो कठिन अवश्य है।

राष्ट्रीय शक्ति के रूप मे परिभाषित राष्ट्रीय हित
(National Interest defined in terms of National Power)

राष्ट्रीय हित की प्रकृति एव स्वरूप के सम्बन्ध मे जो विचार ऊपर व्यक्त किये गए है यदि उनको मान कर अपने अध्ययन को हम आगे बढ़ायें तो मार्ग मे अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ेगा। राष्ट्रीय हित को प्राप्त करने का मुख्य साधन 'शक्ति' है। राष्ट्र के हित या चाहे कोई भी रूप एव लक्ष्य क्यों न हो एक देश उसे तभी प्राप्त कर सकता है जबकि उसके पास ऐसा करने के लिए पर्याप्त शक्ति होगी। शक्ति अनेक प्रकार की हो सकती है जैसे आर्थिक शक्ति, राजनैतिक शक्ति, भौगोलिक शक्ति, सैनिक शक्ति आदि। शक्ति के इन विभिन्न रूपों का वर्णन राष्ट्रीय शक्ति के तत्वों का अध्ययन करते समय किया जा चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के गणमान्य विद्वानों के मत मे राष्ट्रीय शक्ति और राष्ट्रीय हित के बीच इतना गहरा एव अभिन्न सम्बन्ध है कि दोनों को पृथक करने से दोनों का ही अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। इन विचारकों के मतानुसार यदि राष्ट्रीय शक्ति को ही राष्ट्रीय हित मान लिया जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। यह मत सही भी है क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र शक्तिशाली बनने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है और शक्ति का सघर्ष ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास का मूल तत्व है। 'शक्ति' यद्यपि एक साधन है जिसका प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करना, उन्हें सम्भव बनाना तथा राष्ट्र को विश्व समाज मे उच्च स्थान प्रदान कराना है किन्तु फिर भी ये समस्त बातें आज इतनी प्रचलित हो चुकी है कि आज शक्ति एक साधन मात्र न रह कर साध्य बन गयी है। यही कारण है कि अनेक राष्ट्र शक्ति प्राप्त करने की धुन मे अपने अस्तित्व तक को दाव पर लगा देते हैं। हिटलर के जर्मनी और मुसोलिनी के इटली को देखने पर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि राष्ट्रीय शक्ति एक राष्ट्र का सबसे प्रमुख 'राष्ट्रीय हित' (National Interest) है जिसे प्राप्त करने के बाद ही अन्य हितों को प्राप्त करना भी सम्भव होता है। राष्ट्रीय शक्ति के विभिन्न तत्व यदि एक देश में संतुलित एवं सुविकसित रूप में प्राप्त होते हैं तो स्पष्ट है कि वह देश उन देशों की अपेक्षा शक्तिशाली माना जायगा जिनके पास इन तत्वों के ऐसे रूप का अभाव है। एक राष्ट्र का यह सबसे बड़ा हित होगा कि राष्ट्रीय शक्ति के इन तत्वों का संतुलित विकास किया जाय और उन सभी बाधाओं को दूर किया जाय जो कि राष्ट्रीय शक्ति को उच्च शिखर तक पहुचने में रोक लगाते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक देश की आर्थिक शक्ति को हम बढ़ाना चाहते हैं तो वहां औद्योगीकरण करना पड़ेगा। जिस देश में औद्योगीकरण (Industrialization) किया जाता है वे देश अविकसित होंगे कि जो मुख्यतः कृषि व्यवसाय करते हैं तथा वे उन सभी दृष्टिकोणों, सामाजिक संगठनों एवं सरकारों का विरोध करते हैं जिनको एक औद्योगिक समाज की विशेषता माना जाता है। ऐसी स्थिति में तीव्र गति से औद्योगीकरण नहीं किया जा सकेगा तो भी उस देश का प्रधान राष्ट्रीय हित होता है। इस हित को प्राप्त करने के लिए जनता में शिक्षा का प्रचार किया जायेगा, वहां के जीवन स्तर को ऊंचा उठाया जायेगा तथा साथ ही विकसित राष्ट्रों से उनका सम्पर्क स्थापित किया जायगा। किन्तु यह सब करने के लिए पूञ्जी की आवश्यकता होती है। बिना पूञ्जी के एक अर्धविकसित (*Semideveloped*) देश के नागरिकों को ऐसा बनाना असम्भव है कि वे परिवर्तन के लिए पहल कर सकें। साथ ही पूञ्जी का औद्योगीकरण की प्रक्रिया में भी महत्व है। यहां आकर पूञ्जी प्राप्त करना उस देश का राष्ट्रीय हित बन जाता है। पूञ्जी प्राप्त करने के मुख्य रूप से तीन तरीके हो सकते हैं—

प्रथम, पूञ्जी दूसरे देशों से *सहायता एवं* कर्ज के रूप में प्राप्त की जाय।

द्वितीय, पूञ्जी अपने देश में ही उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर प्राप्त की जाय; और

तृतीय, पूञ्जी बढ़ाने का तीसरा उपाय निषेधात्मक है अर्थात् देश की खपत (Consumption) को कम कर दिया जाय—जैसा कि खाद्य स्थिति में स्वावलम्बन प्राप्त करने के लिए भारत सरकार द्वारा एक समय का खाना छोड़ने एवं इसी प्रकार के अन्य प्रतिबन्ध लगा कर किया जा रहा है।

जहां तक पूञ्जी को विदेशों से प्राप्त करने का प्रश्न है वह किया जाना चाहिए और उसके बिना आगे बढ़ा भी नहीं जा सकता किन्तु साथ ही केवल

विदेशी सहायता पर निर्भर रह कर ही एक देश अपना समुचित विकास (आत्मसम्मान के साथ) नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक बन जाता है कि देश की पैदावार को बढ़ाया जाय। साम्यवादी चीन में मनुष्य शक्ति का जो अमानवीय रूप से प्रयोग किया गया वह इसी तथ्य को लेकर किया गया है। इस प्रकार औद्योगीकरण की प्रक्रिया में एक देश का जीवन स्तर प्रारम्भ में तो बढ़ने की अपेक्षा घटता है और यह जीवन स्तर की कसौटी अप्रत्यक्ष रूप से उस देश का राष्ट्रीय हित (National interest) है।

असल में राष्ट्रीय हित गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है क्योंकि परिस्थितियां एवं समय की आवश्यकतायें उसे जैसा चाहती हैं मोड़ देती हैं किन्तु फिर भी यह एक सार्वकालिक सत्य (Universal truth) है कि राष्ट्रीय हित को बिना शक्ति के प्राप्त नहीं किया जा सकता इसलिए अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करना एक राष्ट्र का ऐसा हित है जो कि सभी कालों में एवं सभी स्थानों में स्थिर रहता है। परिस्थितियों में उतार-चढ़ाव आते हैं और चले जाते हैं किन्तु एक राष्ट्र की 'राष्ट्रीय शक्ति' में वृद्धि की अभिलाषा अप्रभावित बनी रहती है। अब तक के अनुभवों में ऐसा प्रतीत होता है कि 'राष्ट्रीय शक्ति' के रूप में परिभाषित 'राष्ट्रीय हित (National interest defined in terms of national power) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक सर्वकालीन अपरिवर्तनशील सत्य है और शायद इसी कारण मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने यथार्थवाद के समर्थकों को अपनी विदेश नीति का निर्धारण करते समय दूसरे देश के 'शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित' को ध्यान में रखने का परामर्श दिया है। राष्ट्रीय हित के रूपों को ध्यान में रख कर यदि अध्ययन किया जाय तो हम एक देश के व्यवहार तथा एक विशेष प्रश्न पर उसके दृष्टिकोण के बारे में भविष्यवाणियां कर सकते हैं।

राजनय या कूटनीति
(Diplomacy)

एक देश के दूसरे देशों के साथ सम्बन्धों का सचालन एक अधिकारी वर्ग द्वारा किया जाता है जिसे कूटनीतिज्ञ कहा जाता है। इस वर्ग के कार्यों की प्रणाली एवं उनके परिणामों पर उस देश का विकास एवं भाग्य निर्भर करता है। दो देशों के बीच थोड़ा मतभेद रहने पर भी सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का काम इन कूटनीतिज्ञों द्वारा किया जाता है। प्रसिद्ध इतिहासकार टेलर (Taylor) के मतानुसार यदि कूटनीतिज्ञ इतिहास के कार्यों को देखा जाय तो हमें कूटनीति का महत्व ज्ञात हो जायगा। यह कहना पर्याप्त

होगा कि जब-जब भी व्यक्ति ने ऐसा चाहा है, कूटनीतिक मनुष्यों ने शांति में रहने में सहायता की है। इस प्रकार कूटनीति का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्व है क्योंकि यह शान्ति बनाये रखने में सहायता करती है, देशों की हित पूर्ति का साधन बनती है और शक्ति संघर्ष के बीच सामंजस्य पैदा करती है।

कूटनीति का अर्थ और परिभाषायें
(Meaning and Definitions of Diplomacy)

कूटनीति को परिभाषित करते समय विभिन्न विद्वानों ने इसके अलग अलग अर्थ बताये हैं। कूटनीति (*Diplomacy*) के प्रसिद्ध विचारक हैरल्ड निकल्सन (*Harold Nicolson*) के मतानुसार कूटनीति शब्द का प्रयोग पाँच भिन्न भिन्न अर्थों में किया जाता है। इसका प्रयोग विदेश नीति (Foreign policy), समझौता (Negotiation), समझौते की प्रक्रिया (The process and machinery by which such negotiation is carried out), विदेश सेवा की एक शाखा (A branch of Foreign Service) आदि अर्थों में किया जाता है। निकल्सन महोदय के मतानुसार कूटनीति का पांचवें अर्थ में प्रयोग बड़ा दुर्भाग्यशाली है। इन अर्थों में सबसे अच्छा रूप वह है जबकि यह शब्द समझौते (Negotiations) करने की बुद्धि के लिए प्रयुक्त किया जाय तथा इसका सबसे बुरा रूप वह है जबकि इसे एक कपटपूर्ण कार्य (Guildful aspect of fact) के लिए प्रयोग में लाया जाये।

ऑर्गेन्स्की (Organski) महोदय ने निकल्सन द्वारा बताये गये कूटनीति (Diplomacy) के उक्त अर्थों में से कुछ को अस्वीकार किया है। उनके कथनानुसार कुशलता, चतुराई और कपट एक अच्छी कूटनीति के लक्षण भले ही हो सकते हैं किन्तु इनको कूटनीति को परिभाषित करने वाली विशेषता नहीं कहा जा सकता। कूटनीति को विदेश नीति के समरूप भी नहीं माना जा सकता। 'कूटनीति' विदेश नीति का एक ऐसा अंग है जिसके द्वारा स्वयं विदेश नीति का निर्माण एवं नियन्त्रण किया जाता है। ऑर्गेन्स्की ने कूटनीति को परिभाषित करते हुए उसे "दो या दो से अधिक देशों के प्रतिनिधियों के बीच होने वाले समझौतों की प्रक्रिया माना है।"[1]

मैकलेलन, ओलसन तथा सोण्डरमैन के कथनानुसार "कूटनीति की एक सर्वाधिक मूल परिभाषा यह है कि वह प्रत्येक राज्य के स्थाई प्रतिनिधित्व पर आधारित राष्ट्रों के मध्य स्थित सम्पर्क का एक रूप है।"

विक्सी राइट के कथनानुसार "लोकप्रिय रूप में कूटनीति का अर्थ है किसी सौदे मे या लेन-देन मे चातुरी, धोखेबाजी तथा कुशलता का प्रयोग। अपने विशेष अर्थ मे जिसमे कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रयुक्त की जाती है यह सौदेबाजी की वह कला है जो राजनीति की उस व्यवस्था मे कम मूल्य मे अधिक से अधिक सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करती है जिसमे कि युद्ध एक सम्भावना है।"

कूटनीति (Diplomacy) एक अनेकार्थक शब्द है जिसकी कोई सामान्य और सन्तोषजनक, सर्वसम्मत परिभाषा सम्भव नहीं हो सकती। आक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्द कोष के अनुसार 'कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समझौतों (Negotiations) द्वारा प्रबन्ध है।" एक दूसरे विचारक सर अर्नेस्ट सैटो (Sir Ernest Satow) के शब्दों में "कूटनीति" स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि (Intelligence) और चातुर्य (tact) का प्रयोग करने को कहा जाता है। कूटनीति की प्रकृति समझाते हुए पनिक्कर (K M Panikkar) महोदय ने महाभारत के एक वृत्तान्त का उद्धरण दिया है जिसमें युद्ध से पूर्व समझौते के लिए कौरवों के दरबार में जाने वाले श्रीकृष्ण से द्रौपदी ने उनके जाने के महत्व पर संदेह प्रकट किया था। उस समय श्रीकृष्ण का उत्तर था कि— मैं कौरवों को तुम्हारा पक्ष सही रूप में समझाने जा रहा हूं, मैं प्रयत्न करूंगा कि वे तुम्हारी मांगों को स्वीकार कर लें। किन्तु यदि ऐसा न हुआ और युद्ध करना पड़ा तो दुनिया यह समझ जायेगी कि गलत कौन था और इस प्रकार वह हमारे बारे में गलत निर्णय नहीं देगी।" कूटनीति का पूरा रहस्य पनिक्कर के मतानुसार कृष्ण के इस कथन में निहित है। श्री पनिक्कर के कथनानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त 'कूटनीति' अपने हितों को दूसरे देशों से अग्रिम रखने की एक कला है।"

पामर तथा परकिन्स (Palmer & Perkins) ने सर अर्नेस्ट सैटो द्वारा की गई परिभाषा में संदेह प्रकट करते हुए यह प्रश्न किया है कि यदि राज्यों के सम्बन्धों के बीच बुद्धि और चातुर्य न रहे तो क्या ऐसी अवस्था में कूटनीति असम्भव बन जायेगी? उन्होंने कूटनीति की कुछ विशेषताओं का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार है—

(१) कूटनीति अपने आप में एक मशीन की तरह न नैतिक होती है और न अनैतिक। इसका मूल्य तो इसे प्रयोग करने वाले के अभिप्रायों व योग्यताओं पर निर्भर करता है।

(२) 'कूटनीति' विदेशी आफिसों, दूतावासों, दूतकर्मों (Legations), राजदूतों (Consulates) तथा विश्वव्यापी विशेष मिशनों के माध्यम से कार्य करती [redacted] ।

(३) कूटनीति प्रधान रूप से द्विपक्षीय (Bilateral) है, अर्थात् यह दो राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों का ही कार्य करती है।

(४) आज अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, क्षेत्रीय प्रबन्धों और सामूहिक सुरक्षा प्रयत्नों का महत्व बढ़ जाने के कारण कूटनीति के बहुपक्षीय (Multilateral) रूप का महत्व बढ़ गया है।

(५) कूटनीति राष्ट्रों के बीच साधारण मामले से लेकर शान्ति और युद्ध जैसे बड़े-बड़े सभी मामलों पर विचार करती है। जब यह टूट जाती है तो युद्ध या कम से कम एक बड़े संकट का खतरा पैदा हो जाता है।

सैडिलफोर्ड तथा लिंकन के शब्दों में— कूटनीति को प्रतिनिधित्व एवं मोलतोल की प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा राज्य परम्परागत रूप से शान्तिकाल में परस्पर सम्बन्ध रखते हैं।"

तकनीकी अर्थ में कूटनीति की व्याख्या राजदूत जार्ज के शब्दों में की जा सकती है कि यह सरकारों के बीच संवाद का व्यापार है।

कूटनीति के विकास का इतिहास
(Development of Diplomacy)

'कूटनीति' अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सार है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए स्वाभाविक एवं इतनी आवश्यक है कि इसके बिना राज्यों के बीच परस्पर सम्बन्धों की स्थापना होना सम्भव ही नहीं है। श्री पनिक्कर (K. M. Panikkar) का कहना है कि "जब से संगठित राज्य का अस्तित्व है तभी से कूटनीति एवं कूटनीतिज्ञों का अस्तित्व रहा होगा क्योंकि राज्य एक दूसरे से सम्पर्क रखे बिना नहीं रह सकते।"[1] किन्तु फिर भी कूटनीति के संगठित रूप का प्रारम्भ प्राचीन यूनान के नगर राज्यों [redacted] समय से ही माना जाता है। थ्यूसीडाइडस (Thucydides) ने यूनानियों में प्रचलित कूटनीति के बारे में बहुत कुछ लिखा है। उसने ईसा के जन्म से पूर्व स्पार्टा में होने वाले एक सम्मेलन का उल्लेख किया है जिसमें स्पार्टा के निवासियों

1 K. M. Panikkar, The Principles and Practice of Diplomacy, P 3.

एव उनके मित्रों ने एथेन्स वालो के विरुद्ध उठाए जाने वाले कदमो के बारे मे विचार-विमर्श किया था।

रोम वालो ने समझौते द्वारा कूटनीति (Diplomacy by negotiation) की दिशा मे बहुत कम उन्नति की किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International law) के क्षेत्र मे उनकी देन बडी महत्वपूर्ण है। रोमन युग मे पूर्व के सम्राटो के प्रतिनिधि दूसरे देशो मे भेजे जाते थे जिनका कार्य अच्छा से अच्छा प्रतिवेदन (Report) देने के साथ-साथ अच्छा प्रतिनिधित्व करना भी होता था।

मध्य युग मे उत्तराधिकारी राजाओं और पोप के प्रमुख के अधीन पहली बार अनुभव एव परम्पराओ पर आधारित कूटनीति का व्यवहार एक विज्ञान के रूप मे सामने आया।[1]

कूटनीति के आधुनिक रूप का सूत्रपात इटली मे उत्तर-मध्यकाल मे किया गया। इस युग के प्रधान राजनैतिक विचारक एव 'दी प्रिंस' (The Prince) के अमर रचयिता निकोलो मैकियावेली (Machiavelly) को कूटनीति का पिता माना जाता है। इस विचारक ने तत्कालीन इटली मे स्थित नगर-राज्यो के बीच सघर्ष तथा उनसे छुटकारा पाने के विभिन्न उपायो का वर्णन बडे कुशलतापूर्वक ढग से किया है। इन्ही दिनो स्थाई कूटनीतिक प्रतिनिधि रखने की प्रथा का भी प्रचलन हो गया था जिसे कि आज की कूटनीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता माना जाता है।

आगे आने वाले तीन सौ वर्षों तक कूटनीति न तो पर्याप्त थी और न ही स्तरबद्ध। यह केवल दरबारो तक ही सीमित थी। इस समय सम्प्रभु द्वारा विदेशी राज दरबारों मे जिस प्रतिनिधि को भेजा जाता था वह सही या गलत, नैतिक या अनैतिक सभी तरीको से अपने सम्प्रभु के हितो की रक्षा करने का प्रयास करता था। १७वी शताब्दी मे वेस्टफेलिया (Westphalia) की सन्धि के साथ राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था का विकास हुआ और इसके साथ ही कूटनीतिक मिशनो का स्थाई रूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अभिन्न अङ्ग बन गया।

अठारहवी शताब्दी मे कूटनीतिक व्यवहार को नियमबद्ध कर दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे अमरीकन व फ्रांसीसी औद्योगीकरण ने कूटनीति के इतिहास को एक नया मोड़ दिया। राजाओ और

1. See Nicolson, Diplomacy, P. 27.

सम्राटो के हाथ से निकल कर शासन सत्ता के प्रजा के हाथों में जाने का सूत्रपात हो गया। अब कूटनीतिज्ञ न केवल अपने सम्प्रभु का वरन् पूरे राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने लगा तथा अब उसका कार्य केवल शासक की इच्छा देखना न होकर लोकमत की दिशा को देखना बना। इस प्रकार उसके कार्यों का क्षेत्र जटिल तथा दुरूह बनता चला गया।

समय के परिवर्तन के साथ-साथ कूटनीति के रूप एवं व्यवहार में भी परिवर्तन आए। इससे सम्बन्धित ऐसे नियमों का निर्माण किया गया जो प्राय सर्वमान्य बन गए। वियना की कांग्रेस (Congress of Vienna) की इस क्षेत्र मे बडी महत्वपूर्ण देन रही है। इस कांग्रेस ने व्यवहार के कुछ नियम बनाए जिनको आज भी माना जाता है।

कूटनीति का उद्देश्य
(Objectives of Diplomacy)

कूटनीति का सबसे बडा उद्देश्य एक राष्ट्र के हितों की रक्षा करना तथा उनको बढाना है। सामान्य रूप मे एक देश के हितों की पूर्ति एव विकास शान्ति काल मे ही हो पाता है इसलिए कूटनीति शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा ही राष्ट्रीय हित को साधने का प्रयास करती है। यदि कूटनीति का अन्त युद्ध मे जाकर होता है तो मार्गेन्था महोदय इसे उसकी असफलता का द्योतक मानेंगे।[1] कूटनीति के भारतीय पण्डित आचार्य चाणक्य के मतानुसार कूटनीति का उद्देश्य अच्छे परिणाम प्रदान करना है। उनके विचार में कूटनीति का आदर्शों के साथ कोई सम्बन्ध नही है। इसका सम्बन्ध तो राज्य के लिए व्यावहारिक परिणाम प्राप्त करने से है। पनिक्कर (K. M Panikkar) के मतानुसार 'कूटनीति का कार्य राज्य की भौगोलिक, राजनैतिक और आर्थिक अखण्डता को बनाए रखना है।'' कूटनीतिक व्यवहार का मुख्य रूप समझौता (Negotiation) होता है। इसके माध्यम से एक देश दूसरे देशो को अपना मित्र एव साथी बनाने का कार्य करता है। पनिक्कर ने राज्यों के कूटनीतिक व्यवहार के मुख्य-मुख्य लक्ष्यों का विवरण किया है। इन लक्ष्यों का हम सक्षेप मे निम्न प्रकार कह सकते हैं—

(१) मित्र राष्ट्रो के साथ सम्बन्धों को मजबूत बनाना तथा जिन देशो के साथ मतभेद हो उनसे तटस्थ रहना।

1. Morgenthau Hans J, Politics among Nations, P. 505

(२) अपने राष्ट्रीय हित की विरोधी शक्तियों का तटस्थ बनाये रखना।

(३) अपने विरुद्ध दूसरे राष्ट्रों का एक गुट बनने से रोकना।

(४) यदि दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपने हितों की रक्षा करते समय साम दाम और भेद ये तीनों ही नीतियां असफल हो ही चली जायें तो युद्ध का सहारा लिया जाए। किन्तु कूटनीति का कार्य है कि युद्ध ऐसी परिस्थिति में तथा एस रूप में अपनाया जाय कि दूसरे देश यह समझ जायें कि तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण है तथा तुम अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ रहे हो और आक्रमणकारी तुम नहीं वरन् दूसरा पक्ष है।

(५) चाणक्य का मत था कि यदि युद्ध और शान्ति दोनों से समान परिणाम प्राप्त होता हो तो शान्ति को अपनाओ, तथा युद्ध और निष्पक्षता का समान लाभ मिल रहा हो तो निष्पक्षता को। युद्ध को तो केवल तभी अपनाना चाहिए जबकि अन्य सभी साधन असफल हो जायें।

(६) युद्ध कूटनीति की असफलता का द्योतक है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिए कि युद्ध के समय कूटनीति ही समाप्त हो जाती है वरन् सच तो यह है कि बिना कूटनीति के न तो युद्ध किये जा सकते हैं और न ही जीत जा सकते हैं। युद्ध से पूर्व गलत कूटनीतिक तैयारियां तथा युद्ध के समय की प्रभावहीन कूटनीति हार को स्वाभाविक बना कर शक्तिशाली राष्ट्रों का भी विध्वंस कर देती है।

मार्गेन्थो (Morgenthau) महाशय ने कूटनीति के चार कार्य बताये हैं। इनके अनुसार पहला कार्य तो यह है कि कूटनीति अपने लिए कुछ लक्ष्य (Objects) निर्धारित करे। ये लक्ष्य वास्तविक (Actual) और सम्भावित (Potential) शक्ति का ध्यान में रख कर ही निर्धारित किये जायें ताकि उनको प्राप्त किया जा सके।

दूसरे कूटनीति को दूसरे देशों के लक्ष्यों को जानना चाहिए तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए उनके पास सम्भावित एवं वास्तविक शक्ति कितनी है यह भी देखना चाहिए।

तीसरे कूटनीति को यह देखना चाहिए कि ये उद्देश्य किस सीमा तक एक दूसरे के अनुरूप हैं।

चौथे कूटनीति को अपने उद्देश्यों (Objectives) को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त साधन प्रयुक्त करने चाहिए। मार्गेन्थो के कथनानुसार इन चारों

पक्षों में से एक की भी असफलता एक राष्ट्र की विदेश नीति की सफलता का तथा विश्व की शान्ति को खतरे में डाल देगी।[1]

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कूटनीति निम्न तीन साधनों को काम में ला सकती है—

(i) समझाना (Persuasion);
(ii) समझौता करना (Compromise);
(iii) शक्ति प्रयोग की धमकी देना (Threat of Force)।

एक सफल कूटनीति को चाहिए कि जहा तक सम्भव हो सके वह प्रथम दो साधनों के माध्यम से ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करे क्योंकि कोई भी कूटनीति जो केवल शक्ति की धमकी देकर ही काम निकालना चाहती है, न तो शान्तिप्रिय कही जायगी और न ही बुद्धिपूर्ण। किन्तु कभी-कभी ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जबकि शक्ति का प्रयोग आवश्यक हो जाये। कूटनीति की कला इसी बात में है कि वह समय व परिस्थिति के अनुसार ही तीनों में से किसी का प्रयोग करे।[2]

आधुनिक कूटनीति के अभिनेता
(The Actors of Modern Diplomacy)

आज की कूटनीति के अभिनेताओं में हम जिनको सम्मिलित कर सकते हैं उनमें सरकार के अध्यक्ष, विदेश सचिव तथा उनके विदेश अधिकारी, स्टाफ, दूसरे देशों में स्थित कूटनीतिज्ञ कर्मचारी वर्ग एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने वाले सैनिक तथा अन्य विशेषज्ञ सेवी वर्ग आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अन्य राजपुरुष भी होते हैं जैसे भ्रमणशील राजदूत, व्यक्तिगत प्रतिनिधि एवं सैलानी लोग।

राज्य के नाम मात्र के अध्यक्ष जैसे ग्रेट ब्रिटेन के राजा या रानी, भारत का राष्ट्रपति आदि विदेशी मामलों में मूलतः औपचारिक योगदान करते हैं। वे जब विदेश भ्रमण जाते हैं तो इनका उद्देश्य मुख्यतः सद्भावना की अभिवृद्धि होता है। दूसरी ओर सरकारों के अध्यक्ष अपने देश की कूटनीति में व्यक्तिगत रूप से भाग लेते हैं। अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन, ट्रूमैन, रूजवेल्ट, आईजनहोवर, कैनेडी तथा जानसन आदि सभी अपने देश की

1. Morgenthau, op. cit, P. 506.
2. Morgenthau, op. cit, P. 507.

सरकार के अध्यक्ष होने के साथ-साथ देश तथा विदेश में सन्धि समझौतों के कार्यों में संलग्न रहे हैं। यही बात भारत के प्रधानमन्त्री नेहरू फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाल, ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल, रूस के प्रधानमन्त्री स्टालिन आदि के बारे में भी कही जा सकती है।

कूटनीति के क्षेत्रों में तानाशाही द्वारा जो कार्य किया जाता है वह कुछ भिन्न प्रकार का होता है। तानाशाह किसी अन्य के माध्यम से अपने लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयास करते हैं। वैसे स्टालिन ने मित्र राष्ट्रों के साथ तेहरान, याल्टा, पोटस्डम आदि सम्मेलनों में भाग लिया था किन्तु वह साधारणतः पृष्ठभूमि में रहता था और अपने विदेश मन्त्री मोलोटोव (Molotov) के माध्यम से विदेशी मामलों पर नियन्त्रण रखता था। दूसरी ओर प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव विश्व राजनीति के क्षेत्र में स्वयं सक्रिय रुचि लेते थे। इसी प्रकार संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने मिस्री कूटनीति का उत्तरदायित्व सम्भाला और एक अरब नेता के रूप में मान्यता प्राप्त करने की कोशिश की ताकि वह एक तटस्थ गुट संगठित कर सके जो महाशक्तियों के साथ सौदेबाजी करने में सक्षम हो।

जैसे को तैसा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कूटनीतिज्ञ सिद्धान्त है जो सरकार के अध्यक्षों को एक की पहल पर कूटनीति में खींच लाता है। इस सिद्धान्त के क्रियान्वित रहते हुए यह सम्भावना की जाती है कि सरकार के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी नेता कूटनीति में आज की भांति ही सक्रिय रहेंगे। इस नीति का एक उदाहरण हम प्रधानमन्त्री कोसीगिन के आमन्त्रण को मान सकते हैं जो उन्होंने भारतीय प्रधानमन्त्री श्री शास्त्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब खां को उनके आपसी मतभेद मिटाने के लिए ताशकन्द में आने के लिए भेजा था। इस आमन्त्रण को दोनों ही देश के नेता नहीं ठुकरा सके।

कूटनीति के क्षेत्र में सर्वाधिक सक्रिय अभिनेता विदेशी मामलों के राज्य सचिव होते हैं। विदेश सम्बन्ध उनका मुख्य कार्य है। वे अपने पूरे जीवन भर कूटनीतिज्ञ वार्तालाप करते रहते हैं, अन्य देशों के दौरे करते रहते हैं, सम्मेलनों में उपस्थित होते हैं तथा महत्वपूर्ण सौदेबाजियों की तैयारी करते हैं। वे अपने राज्याध्यक्षों को परामर्श देने के लिए उत्तरदायी होते हैं तथा विदेशी मामलों के सम्बन्ध में उनको सूचित करते हैं। अपने विदेश कार्यालय एवं विदेश सेवा की बहुत बड़ी नौकरशाही को प्रशासित करना भी उनका उत्तरदायित्व है। वे मन्त्रिमण्डल तथा अन्य नीति सम्बन्धी बैठकों में उपस्थित होते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के विदेश सचिवों ने सन् १९४५

के बाद से अपना अधिकांश समय अपने कार्यालय से दूर रह कर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को उपस्थित करने में व्यतीत किया। अनुमानतः यह कहा जाता है कि जान फास्टर डलेस (John Foster Dulles) ने अपने पांच वर्ष के कार्य काल में प्रति वर्ष एक लाख हवाई मीलों से भी अधिक की यात्रा की। इतनी लम्बी यात्रा करके वह चांद तक जाकर वापस आ सकते थे। यह सारी यात्रा इन्होंने दुनिया के अन्य नेताओं के साथ बातचीत के लिए की। ब्रिटेश सचिव डीन रस्क ने स्वयं अधिक यात्रा करने की अपेक्षा यह उचित समझा कि दूसरे लोग ही वाशिंगटन आ जायें।

आज कूटनीति में सलग्न अनेक लोग ऐसे हैं जिनको हम व्यावसायिक विशेषज्ञ कह सकते हैं। इनमें हम उन नागरिक सेवकों एवं विशेषज्ञों को सम्मिलित करेंगे जो विदेशों में दूतावासों एवं राजदूत्य कार्यालय तथा देश में विदेश कार्यालय में कार्य करते हैं। ये अधिकारी विदेश सम्बन्धों के प्रचलित पहलुओं को सम्पादित करते हैं। ये अध्ययन, प्रतिवेदन एवं निर्देशन तैयार करते हैं। वे दूसरे देशों के अधीनस्थ अधिकारियों के साथ विचार करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में जाने वाले प्रतिनिधि मण्डल के स्टाफ का काम करते हैं। इनके कार्य मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं। प्रथम यह कि अपने मालिकों के काम को सम्पन्न करें और दूसरा यह कि दूसरों के कार्यों की खोज करें। व्यावसायिक विशेषज्ञों का यह दल एक दिन में सगठित नहीं हो जाता। आज के युग की परिस्थितियों में एक योग्य विदेश सेवा के विकास के लिए पर्याप्त समय एवं अनुभव की आवश्यकता है।

सरकारें समय समय पर विशेष गुप्त सन्देशवाहक (Emmissary) नियुक्त कर सकती हैं जो महत्वपूर्ण अवसरों पर विशेष समझौते करें तथा सरकार का प्रतिनिधित्व करें। अमरीका में राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी रूजवेल्ट ने हैरी हापकिन्स (Harry Hopkins) को अपना विश्वास प्रदान किया और राज्य सचिव तथा सम्बन्धित राजधानियों के राजदूतों की अवहेलना करके कई बार चर्चिल और स्टालिन के पास गुप्त वार्ता के लिए भेजा। इसी प्रकार राष्ट्रपति आइजनहोवर ने अपने भाई मिल्टन आइजनहोवर को अनेक विशेष अवसरों पर प्रयुक्त किया। राजदूत एवरल हेरीमैन (Averell Harriman) को राष्ट्रपति ट्रूमैन, कैनेडी और जानसन द्वारा अनेक विशेष अवसरों पर प्रयुक्त किया गया। राज्य सचिव बनने से तीन वर्ष पूर्व जान फास्टर डलेस को जापान की शान्ति सन्धि में वार्तालाप का काम सौंपा गया। ये सारी नियुक्तियां राज्य के अध्यक्ष के विशेषाधिकार हैं। यह हो सकता है कि कुछ देशों को प्रभावित करने वाले क्षेत्र की किसी विशेष समस्या में गुप्त सदेश-

बाहर राजदूत की अपेक्षा अधिक कुशल हो। किन्तु फिर भी सम्भावना यह रहती है कि वह उस देश के राजदूत की प्रभावशीलता एवं सम्मान को कम कर देगा और ऐसी स्थिति मे इस तकनीकी का प्रयोग सावधानी के साथ किया जाना चाहिए।

आज के जटिल वातावरण मे राज्यो के आपसी सम्बन्ध राजनैतिक, आर्थिक, सुरक्षा एवं वैज्ञानिक अनेक विषयो से युक्त हो गए है। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक है कि सरकारो के विभिन्न विभागो के सेवीवर्ग को कूटनीतिक सम्बन्धो मे तथा नीति-निर्माण म भाग लेने का अवसर दिया जाए। अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे सर्वाधिक सक्रिय रूप से भाग लेने वालो मे सशस्त्र सेनाओ एवं सुरक्षा स्थापनो के सदस्य होते हैं। नाटो देशो के सुरक्षा सचिव तथा उनके अधीनस्थ अधिकारी जब नाटो की बैठको मे नए सुरक्षा प्रबन्धो पर विचार करते हैं तो एक प्रकार से कूटनीति मे उलझ जाते हैं। इसी प्रकार जब जन स्वास्थ्य अधिकारी विश्व स्वास्थ्य सगठन (W H O) की बैठक म भाग लेते है या राजकोष के प्रतिनिधि विश्व बैंक की बैठक मे भाग लेते है तो वे भी कूटनीति म उलझते हैं। इसी प्रकार से पारस्परिक सुरक्षा, सास्कृतिक सम्बन्ध, आर्थिक एवं तकनीकी सहायता कार्य आदि को किसी न किसी प्रकार से कूटनीति से सम्बन्ध रखते है। पीयरसन के कथनानुसार अफगानिस्तान म सयुक्त राज्य अमरीका का भूमि वैज्ञानिक सयुक्त राज्य अमरीका की नीति के बारे मे अफगानिस्तान के मत को अच्छे या बुरे के लिए अधिक प्रभावित कर सकता है अपेक्षाकृत अमरीकी राजदूत के।

कूटनीतिक विशेषाधिकार एवं स्वतन्त्रताए
(Diplomatic Previleges and Immunities)

कूटनीतिज्ञो को कुछ विशेषाधिकार एवं स्वतन्त्रतायें सौंपी जाती हैं जो अन्य व्यक्तियो को प्रदान नही की जाती। पामर तथा पर्किन्स के मतानुसार इन विशेषाधिकार एवं स्वतन्त्रताओ को प्रदान करने के पीछे दो महत्वपूर्ण कारण हैं। प्रथम यह कि कूटनीतिज्ञ अपने राज्य के अध्यक्षो के व्यक्तिगत प्रतिनिधि होते हैं। साथ ही वे अपनी सरकार और अपने देश की जनता के भी प्रतिनिधि होते हैं। दूसरे वे अपने कर्तव्यो को सन्तोषजनक रूप मे तभी सम्पन्न कर सकते हैं जबकि स्थानीय कानून द्वारा लगाई गई कुछ बाध्यताओं से उन्हे मुक्त किया जाए। साधारणतः रूप से वे अभ्यर्पण कर एवं बन्दरगाह आदि से मुक्त रहते हैं। वे जिस देश मे रह रहे हैं उसके दीवानी एवं फौज-

दारी क्षेत्राधिकार मे मुक्त रहते हैं। अमल मे वे विदेशी राज्य के कानूनो से अप्रभावित रहते है। उनके ऊपर, उनके परिवार के ऊपर और उनके स्टाफ के सदस्यो के ऊपर व्यक्तिगत रूप से कोई न्यायिक कार्यवाही नही की जा सकती। दूतावास, उनकी समस्त सामग्रियो एव सग्रहालयो को उन देशो की राष्ट्रीय सम्पत्ति समझा जाता है जिनका कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधित्व कर रहे हैं इसलिए उन पर राज्य के अधिकारियो द्वारा तथा स्थानीय सत्ताओ द्वारा कर नही लगाया जा सकता। यही अधिकार और विशेषाधिकार राष्ट्र सघ के अधिकारियो एव प्रतिनिधियो को दिए जाते थे और अब सयुक्त राष्ट्र सघ के अधिकारियो एव प्रतिनिधियो को दिए जाते हैं।

राजपुरुषो (Consuls) को सामान्यतः इतने अधिकार एव विशेषाधिकार नही सौंपे जाते जितने कूटनीतिज्ञो को सौंपे जाते हैं। इन राजपुरुषो का स्तर दो देशो की सरकारें समझौतें द्वारा तय करती हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सुस्थापित नियमों द्वारा तय नही किए जाते। कुछ उदाहरणो मे इन राजपुरुषो को वे सब विशेषाधिकार एव स्वतन्त्रतायें दे दी जाती हैं जो कूटनीतिज्ञो को प्रदान की जाती हैं। ऐसा उस समय होता है जबकि राजपुरुष कूटनीतिज्ञो का भी काम कर रहे हो। अन्य राजपुरुषों को बहुत कम स्वतन्त्रतायें प्रदान की जाती हैं। राजपुरुषो का कार्यालय एव सग्रहालय को उनके देश की राष्ट्रीय सम्पत्ति माना जाता है और इस प्रकार यह राज्य के क्षेत्राधिकार से बाहर है। इनको प्राय स्थानीय करो एव कस्टम से मुक्त रखा जाता है किन्तु वे उस राज्य के कानूनो के अधीन होते हैं जिसमे कि वे रह रहे हैं।

कूटनीतिज्ञ तथा राजपुरुष अधिकारियो के सामान्यत मान्य स्तर मे अनेक भिन्नतायें तथा अपवाद हैं। सन् १६२८ की हवाना कनवेन्शन मे यह प्रयास किया गया था कि इन अधिकारियो के स्तर के सम्बन्ध मे सामान्य रूप से स्वीकृत नियम बना दिए जायें। किन्तु ये कनवेन्शन भी सामान्य स्वीकृति नहीं प्राप्त कर सके। ऐसे अनेक मामले सामने आते हैं जहा कि कूटनीतिज्ञों या राजपुरुषो ने अपने विशेषाधिकारों का दुरुपयोग किया अथवा राज्य ने इन प्रतिनिधियो या उनके साथ वालो के विशेषाधिकारो को तोडा। सयुक्त राज्य अमरीका ने सयुक्त राष्ट्र सघ के अधिकारियो एव प्रतिनिधियो को पूरे कूटनीतिज्ञ विशेषाधिकार एव स्वतन्त्रतायें सौंपे हुए हैं, यद्यपि देश के कुछ लोग तथा कांग्रेस के कुछ सदस्य इसका विरोध करते हैं। दूसरी ओर सोवियत दूतावास से सम्बन्धित विभिन्न कार्यालय षडयन्त्रकारी कार्यवाहियो के केन्द्र प्रतीत होते हैं इसलिए उनके ऊपर कडी देखभाल रखी जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राजनयिक अधिकारियों को किसी षडयंत्र में सम्मिलित होने से मना किया गया है।

कूटनीतिक कार्यों का स्वरूप
(The nature of diplomatic functions)

एक देश की कूटनीति के संचालन का उत्तरदायित्व एक पृथक् आफिस को ही सौंपा जाता है जो विदेशों में स्थायी रूप से निवास करता है। इस आफिस के कार्यकर्त्ता विभिन्न स्तरों के होते हैं, पदश्रेणी के अनुसार इस आफिस का गठन किया जाता है। इस आफिस के प्रत्येक कर्मचारी के कुछ निर्धारित विशेषाधिकार एवं स्वतन्त्रतायें होती हैं, साथ ही इनके कार्य संचालन के कुछ निश्चित नियम और तरीके भी होते हैं।[1]

कूटनीतिज्ञ को अनेक बार एक देश का दूसरे देश में स्थित आँख और कान भी कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि कूटनीतिज्ञ के माध्यम से एक देश दूसरे देश की घटनाओं को देख कर तथा सुन कर बहुत शीघ्र ही जानकारी प्राप्त कर सकता है। एक सफल एवं श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ का व्यवहार कैसा होना चाहिए, इस सम्बन्ध में चाणक्य और मैकियावेली से लेकर आज तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। चाणक्य ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में दूत के निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है—

(१) अपनी सरकार के दृष्टिकोणों का आदान प्रदान करना,

(२) सन्धियाँ करना;

(३) अपने राज्य के दावों (Claims) को मनवाने के लिए विभिन्न तरीके अपनाना। इसके लिए यदि आवश्यकता हो तो ताकत की धमकी भी दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उसे अपने मित्र बढ़ाने चाहिए उस देश में कलह के बीज बोने चाहिए, गुप्त संगठनों का निर्माण करना चाहिए, सिपाहियों के आंदोलनों की सूचना एकत्रित करनी चाहिए उन सन्धियों की अवहेलना करनी चाहिए जो उसके देश के हितों के विपरीत हों, उस देश के सरकारी अधिकारियों को अपनी ओर मिला लेना चाहिए। ये सभी एक दूत के कार्य हैं।

(४) दूत को मुख्यतः उन सरकारी अधिकारियों से मित्रता बढ़ानी चाहिए जिनके अधिकार में जंगलात, सीमावर्ती क्षेत्र आदि विषय होते हैं।

1. Palmer & Perkins, op cit. Pp 100–7

(५) दूत को यह जानकारी रहनी चाहिए कि उस देश के किलो का क्षेत्र व प्राकार क्या है तथा मूल्यवान चीजों के खजाने किधर स्थित हैं।

चाणक्य द्वारा ईसा [redacted] ४ शताब्दी पूर्व बताये गये दूत के उक्त कार्य आज भी उसी प्रकार से सत्य एवं उपयोगी हैं। चातुर्य, कुशलता एवं कपट आदि को एक सफल कूटनीतिज्ञ के गुण माना जाता है। जोसेफ स्टालिन ने कूटनीति को एक प्रकार की कला माना है। उसके अनुसार एक कूटनीतिज्ञ के शब्दों का उसके कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये वरना यह कूटनीति ही कैसी ? कहनी एक चीज है और करनी दूसरी। अच्छे शब्द बुरे कार्यों को छुपाने में ढाल का काम करते हैं। एक निष्कपट कूटनीति (Sincere diplomacy) उसी तरह असम्भव है जितना कि 'सूखा पानी' या 'नरम लोहा'।[1] इस प्रकार स्टालिन ने कूटनीति का जो रूप प्रस्तुत किया है उसके अनुसार कूटनीति एक देश के वास्तविक उद्देश्यों को छुपाने का साधन है। यह उसके कार्यों के सही रूप पर पर्दा डाल देती है। कूटनीतिज्ञ के चरित्र से सम्बन्धित एक दूसरी कहावत के अनुसार यदि कूटनीतिज्ञ किसी विषय पर सहमति प्रकट करे तो समझिये कि सम्भवतः वह विषय से सहमत है। यदि वह सहमत होने की सम्भावना प्रकट करे तो समझिये कि वह विषय [redacted] असहमत है और यदि वह असहमति प्रकट करता है तो वह सच्चे अर्थों में एक कूटनीतिज्ञ नहीं माना जा सकता। कूटनीतिज्ञ की स्थिति एक स्त्री से पूर्णतः विपरीत होती है। किसी भी सम्भव बात के लिए वह 'नहीं' कहती है तथा अपनी स्वीकृति को सम्भव शब्द से जाहिर करती है। यदि वह 'हां' कह दे तो सच्चे अर्थों में वह एक स्त्री नहीं है।[2] मैकियावेली (Machiavelli) ने अपने ग्रन्थ 'दी प्रिंस' (The Prince) में भी राजा के लिये तथा उसके प्रतिनिधियों के लिये व्यवहार से सम्बन्धित अनेक उपयोगी परामर्श दिये हैं।

दूसरी ओर ऐसे विचारक भी हैं जिनके अनुसार चाणक्य, मैकियावेली, स्टालिन आदि नेता एवं विचारकों द्वारा कूटनीति पर व्यक्त किये गये सुझाव एवं व्यावहारिक से दिखने वाले विचार उचित नहीं हैं। पनिक्कर महोदय के मतानुसार चातुर्यपूर्ण कूटनीति एक देश की उसके लक्ष्यों की प्राप्ति में बहुत कम सहायता कर पाती है।[3] कारण यह है कि कूटनीति का एक लक्ष्य यह

1. Joseph Stalin, Quoted in David Dallin, the Real Soviet Russia 1944, P. 71
2. Quincy Wright, op cit., P. 165
3. K M Panikkar, Ibid, P. 39

है कि वह उस देश के प्रति दूसरे देशों की शुभ इच्छा सगृहीत करे। यह चार प्रकार से हो सकता है—दूसरे देश उस देश की नीतियों को ठीक प्रकार से समझें एवं उसके प्रति सम्मान के भाव रखें, वह देश दूसरे देशों की जनता के न्यायोचित हितों को जानें, सबसे ऊपर, वह ईमानदारी से व्यवहार करें। ये सारी चीजें निष्पक्ष और ईमानदार व्यवहार द्वारा ही प्राप्त की जा सकती हैं। यह सच है कि आप बहुत से लोगों को बहुत समय तक धोखे में नहीं रख सकते और इस दृष्टि से चातुर्य, कुशलता और कपट से पूर्ण कूटनीति के पर्दे में जब छिद्र हो जायेंगे और उस देश की नीति का सही रूप सामने आयेगा तो विश्व समाज में उस देश का क्या स्तर रह जायगा। व्यक्तिगत जीवन की भांति, ये विचारक यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी ईमानदारी सबसे अच्छी नीति होती है।

हिन्दू नीति-शास्त्रों में कूटनीति के साधन और उपाय चार प्रकार के बताये गये हैं—साम दाम, दंड और भेद। 'साम' के अनुसार एक देश मित्रता-पूर्ण व्यवहार, सुभाव एवं बौद्धिक तर्कों के द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों को साधने का प्रयास करता है। 'दाम' के अनुसार एक देश अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये धन व्यय करता है। ऐसे समझौते करता है जिसमें स्वयं की आर्थिक हानि हो और दूसरे पक्ष का लाभ हो। कुछ महत्वपूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये कुछ देना, कुछ व्यय करना भी आवश्यक बन जाता है। यह समझौते का एक तरीका है। जहां साम और दाम से काम बनता न दीखता हो वहां 'भेद' का सहारा लेना होता है अर्थात् शत्रु के शत्रु से मेल कर लेना और शत्रु के मित्रों में आपस में फूट डाल देना आवश्यक बन जाता है। कूटनीति का सबसे अन्तिम हथियार शक्ति' है। जब सभी अन्य साधन असफल हो जायें तो कूटनीति को युद्ध अपनाना पड़ता है। पामर तथा परकिन्स के कथनानुसार विदेश-नीति की भांति कूटनीति का यह लक्ष्य है कि वह जहां तक सम्भव हो शांतिपूर्ण साधनों से देश की रक्षा करे किन्तु यदि युद्ध अपरिहार्य बन जाये तो सैनिक तैयारी द्वारा ऐसा करे। यदि कृष्ण के अनुनय विनय के बाद भी कौरवों का यही उत्तर रहे कि वे बिना लड़े एक सुई के बराबर भूमि भी देने को तैयार नहीं हैं तो मजबूर होकर महाभारत का युद्ध करना ही पड़ेगा। युद्ध के समय 'शांतिकालीन कूटनीति' का रूपान्तरण यह युद्ध की अवस्थाओं के अनुकूल बन जाता है। किन्सी राइट का कहना है कि कूटनीति युद्ध से भिन्न इसलिए है क्योंकि यह सौनिक हथियारों के स्थान पर शब्दों का प्रयोग करती है। शक्ति का प्रदर्शन एवं युद्ध की धमकी कूटनीति के

ही साधन हैं। किन्तु यदि युद्ध छिड़ जाता है तो आक्रमणकारियों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध टूट जाता है।

चार्ल्डस महोदय ने कूटनीतिज्ञ के कार्यों को मुख्यतः चार भागों में बांटा है, वे निम्न प्रकार हैं—

१ प्रतिनिधित्व करना (Representation)
२ समझौता करना (*Negotiations*)
३ प्रतिवेदन प्रस्तुत करना (Reporting)

४ विदेशी भूमि में अपने देश के नागरिकों तथा देश के हितों की रक्षा करना (The protection of the interests of the nation and of its citizens in foreign lands)

कूटनीतिज्ञ को उक्त चारों ही कार्य करने होते हैं। ये कार्य एक प्रकार से कूटनीति की सीढ़ियां हैं। इनका अन्तिम लक्ष्य तो एक देश के आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक, सैनिक एवं अन्य हितों की रक्षा करना होता है। कूटनीतिक व्यवहार के मार्ग में कुछ बुराइयां आ जाती हैं। एक कूटनीतिज्ञ को चाहिए कि वह अपने अनुभव के द्वारा इन बुराइयों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करे। प्रथमतः यदि एक कूटनीतिज्ञ ने बहुत ईर्ष्या के दृष्टिकोण को प्रखर कर काम किया तो उसका मार्ग अवरुद्ध हो जायगा। कूटनीतिज्ञ को यह ध्यान में रखना होगा कि कूटनीति के प्रत्येक कार्य में शक्ति का प्रश्न किसी न किसी रूप में अवश्य प्रभाव डालता है। यदि आप शक्तिशाली हैं तो दूसरे देशों का व्यवहार आपके साथ भिन्न प्रकार का होगा और यदि आप शक्तिहीन या कमजोर हैं तो उस व्यवहार का रूप भी बदल जायगा।

कूटनीतिज्ञ जिस स्थान पर रहता है वहां के वातावरण का, व्यवहार का एवं समस्याओं का प्रभाव उसके व्यवहार पर भी पड़ता है। राजदूतों की कालोनी में रहने वाले अन्य लोगों के साथ उसके सम्बन्धों में घृणा, प्रेम, संघर्ष, मैत्री, ईर्ष्या, झगड़े आदि सभी तत्वों को स्थान प्राप्त होता है। ये सभी उसके व्यवहार को भी प्रभावित करते हैं। यह देखते हुए एक कूटनीतिज्ञ को स्वतन्त्र विचारों वाला होना चाहिये जो स्थिति को अधिक से अधिक *निष्पक्ष (Objective)* रूप में देख सके।

एक दूसरी बाधा अपने आपको हमेशा ठीक मानने की है। इसके अनुसार कूटनीतिज्ञ का दृष्टिकोण ऐसा नहीं होना चाहिए कि जो चीज उसकी रुचि व बुद्धि के अनुकूल है उसे उचित माने और जो विरुद्ध है उसे अनुचित माने। दूसरे शब्दों में उसे सहनशील होना चाहिए। सहनशीलता कूटनीति-

के व्यवहार का विशेष गुण है। यदि आप एक देश की कूटनीति की सफलता जानना चाहते हैं तो यह ज्ञात कीजिए कि क्या इसने देश के हितों को प्राप्त किया, क्या इसने मित्र देशों की शुभकामनायें या अमित्र देशों से आदर प्राप्त किया ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है तो कूटनीति असफल मानी जायेगी वरना वह सफल है।

पैडिलफोर्ड तथा लिंकन ने कूटनीति के मुख्य रूप से चार कार्य बताए हैं, ये हैं—सुरक्षा, प्रतिनिधित्व, पर्यवेक्षण एवं प्रतिवेदन और वार्तालाप करना। इसके अतिरिक्त आज कूटनीतिज्ञ पदों पर रहने वाले प्रतिनिधि अनेक अर्द्ध कूटनीतिज्ञ कार्य भी करते हैं क्योंकि उनके राष्ट्र क्षेत्रीय या पारस्परिक सुरक्षा प्रबन्धों में, विदेश सहायता कार्यक्रमों में या अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों में भाग लेते हैं। इन विचारकों द्वारा वर्णित कूटनीतिज्ञों के प्रमुख कार्यों का विवरण निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

सुरक्षा (Protection)—एक कूटनीतिज्ञ का यह प्रमुख कार्य माना जाता है कि वह अपने देश के अधिकारों एवं हितों की रक्षा करे और प्रोत्साहन दे तथा विदेशों में रहने वाले अपनी राष्ट्रीयता वालों के अधिकारों की रक्षा करें। उसे हमेशा दी जाने वाली धमकियों अथवा की जाने वाली असमानताओं के प्रति जागरूक रहना चाहिए तथा यह देखना चाहिए कि उनके देश के सम्मान के प्रति कोई धोखेबाजी न की जाए। यह उत्तरदायित्व प्रतिनिधित्व, समझौता, सन्धि एवं कार्यपालिका की सहमतियों के द्वारा पूरा किया जा सकता है। कूटनीतिक मिशन के अधिकारियों को उन लोगों से बातचीत करनी होती है जो सहायता की मांग करते हैं तथा जहां यहां इनके अधिकारों को छीना गया है, सम्पत्ति को ले लिया गया है या उनके व्यक्ति हताहत हुए हैं अथवा उन्हें कानून की पूरी सुरक्षा प्रदान नहीं की गई है तो ये कूटनीतिज्ञ उनके कष्टों को दूर करने में पूरा सहयोग देते हैं। जब राजनैतिक परिस्थितियां अस्त-व्यस्त होती हैं तो यह सुरक्षात्मक कार्य एक भारी उत्तरदायित्व बन जाता है। ऐसी स्थिति में दूतावास को शरणार्थियों का स्वागत करना होता है। जिस समय गृह युद्ध या अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध की सम्भावना हो अथवा छिड़ रहा हो उस समय कूटनीतिक मिशनों से उनकी शक्ति भर वह सब करने की आशा की जाती है जिससे उनके राष्ट्रीयता के लोग अपने घर लौट जाए अथवा सुरक्षा के स्थानों को पहुँच जाए। जब युद्धरत देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध टूट जाते हैं तो परम्परागत रूप से तटस्थ देशों के राजनयिकों से यह कहा जाता है कि वे प्रत्येक पक्ष की राष्ट्रीयता वाले लोगों के हितों की दूसरे क्षेत्र के देशों में

रक्षा करें। प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय स्वीट्जरलैण्ड तथा स्वीडन ने यह सुरक्षात्मक एवं मध्यस्थता का कार्य किया।

प्रतिनिधित्व (Representation)—प्रत्येक कूटनीतिक का यह उत्तरदायित्व है कि उसे चाहे दूसरे राज्यों में भेजा जाए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में, वह अपने देश का प्रतिनिधित्व करेगा और अपनी सरकार तथा जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करेगा। एक प्रतिनिधि के रूप में कूटनीतिज्ञ अपने राज्य और सरकार का प्रतीक होता है और उनके विचारों को स्पष्ट करता है। यदि दूसरे देश के अधिकारी या गैर सरकारी व्यक्ति एवं समूह एक देश के दृष्टिकोण तथा अभिप्रायों को जानना चाहें तो उन्हें कूटनीतिज्ञ से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। कूटनीतिज्ञ अपने देश के दृष्टिकोण एवं अभिप्रायों को बड़ी चतुरता, स्पष्टता एवं संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करता है। उसके व्यक्तिगत विचार चाहे कुछ भी हों किन्तु दूसरे देशवासियों को वह उन्हीं विचारों को बतलाएगा जो उसके देश की सरकार के हैं। अपनी सरकार के प्रतीक और प्रवक्ता के रूप में कार्य करते हुए राजदूत विदेश में अपने देश के लिए मित्रता को बढ़ाता है और इसके लिए वह सरकार के नेताओं एवं व्यापार, समाज, शिक्षा और राजनैतिक जीवन के नेताओं के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क विकसित करता है। एक कूटनीतिज्ञ के उत्तरदायित्व का वर्णन करते हुए जोसेफ सी० सी० क्रयू (Joseph C Crew) ने कहा है कि "उसे सबसे पहले और सबसे प्रमुख रूप से एक व्याख्याता (Interpreter) होना चाहिए। वह व्याख्याता का कार्य दोनों तरीकों से कर सकता है। प्रथम, वह जिस देश में कार्य कर रहा हो उस देश को समझेगा, उसकी परिस्थितियों, उसकी मनोदशा, उसके कार्य, और उसके मूल अभिप्रायों को जानने के बाद यह इन चीजों को अपनी सरकार के लिए स्पष्ट करेगा। दूसरी ओर वह जिस देश में रह रहा है उसकी सरकार और जनता को अपने मूल देश के उद्देश्य, आशा एवं इच्छाओं से अवगत कराएगा। यह उन विचारों और शक्तियों के बीच पारस्परिक सामञ्जस्य स्थापित करने वाला एक माध्यम है जिनके आधार पर राष्ट्र कार्य करते हैं। प्रतिनिधित्व का अर्थ होता है कि कूटनीति मिशन के सदस्य अपने स्वयं के देश के बारे में अच्छी प्रकार से सूचित हों और जहां आवश्यकता हो वे निरन्तर और तुरन्त सूचना प्रदान कर सकें। जब कभी वह सार्वजनिक सभाओं में बोलने का अवसर प्राप्त करे तभी उसे व्यापार एवं गृह नीति निर्माण के सम्बन्ध में अपनी नीतियां स्पष्ट करनी चाहिए और सरकारी तथा गैर सरकारी गोष्ठियों में

अपनी प्रगति का वर्णन करना चाहिए तथा अपने देश की कला की मुख्य विशेषताओं का दर्शन कराना चाहिए।

वरिष्ठ कूटनीतिज्ञ एवं कूटनीतिक मिशन के अध्यक्ष महत्त्वपूर्ण अवसरों पर अपने देश का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे यात्रा के माध्यम से पूरे देश की जानकारी प्राप्त कर लेते हैं। वे अन्य राजदूतों के सम्मान में स्वयं भोज देते हैं और दूसरों द्वारा दिए जाने वाले भोजों में सम्मिलित होते हैं। इस सम्बन्ध में यह सावधानी रखनी होती है कि जिन्होंने उन्हें निमन्त्रित किया था उन्हें जरूर निमन्त्रित किया जाए और सरकार के तथा वाणिज्य के महत्त्वपूर्ण सदस्यों को निमन्त्रित किया जाए। हेरल्ड सीमर (Harold Seymour) ने कहा है कि एक अच्छा भोज कूटनीति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

अधिकांश देश अपने कूटनीतिज्ञों को खर्च करने के लिए पर्याप्त धन देते हैं ताकि वे अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर सकें। संयुक्त राज्य अमरीका में पहले इस बात पर बहुत जोर दिया जाता था और इसलिए कूटनीतिक पद उन व्यक्तियों को सौंपे जाते थे जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हों। किन्तु अब किए जाने वाले समारोहों के साथ अन्य अधिकारी भी इन पदों को सम्भाल सकते हैं। परम्परागत रूप से अपने देश का सर्वोच्च प्रतिनिधि अधिकारी होने के नाते राजदूत प्रायः मुख्य प्रशासकीय एवं प्रबन्धात्मक उत्तरदायित्वों को पूरा करता है। संयुक्त राज्य अमरीका के राजदूत को अनेक अमरीकी अभिकरणों की क्रियाओं का पर्यवेक्षण करना होता है तथा सैकड़ों अधिकारियों का प्रशासकीय उत्तरदायित्व व सम्भालना होता है। इन कार्यों के परिणामस्वरूप उसके समय पर पर्याप्त भार पड़ जाता है।

(२) पर्यवेक्षण एवं प्रतिवेदन (Observation and Reporting)—कूटनीतिज्ञों को विदेशों में स्थित एक देश के आँख और कान कहा जाता है। वे अपनी सरकार को विदेशी मामलों का बुद्धिपूर्वक मूल्यांकन करने की क्षमता देते हैं तथा उन्हें इस बात की भी जानकारी देते हैं कि कौन उनके मित्र हैं और कौन उनके विरोधी हैं। विदेशों में काम करने वालों प्रत्येक मिशन का यह प्रधान कर्त्तव्य होता है कि वह अपने देश को निरन्तर प्रतिवेदन भेजता रहे। ये प्रतिवेदन अनेक विषयों पर भेजे जाते हैं, जैसे, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सैनिक परिस्थितियाँ विचाराधीन व्यवस्थापन, कृषि उत्पादन एवं उद्योग, तकनीकी प्रगतियाँ तथा शिक्षा में आने वाले परिवर्तन आदि।

वाले हैं किन्तु फिर भी यह सम्भव है कि एक देश की कूटनीति में उक्त में से कुछ रूप एक साथ प्राप्त हो सकें। उदाहरण के लिए एक कूटनीति प्रजातन्त्रात्मक होने के साथ-साथ प्रचार द्वारा, खुली, सम्मेलनों द्वारा एवं दूकानदार जैसी भी हो सकती है। इस दृष्टि से यदि कूटनीति के उपर्युक्त विभिन्न भेदों को 'भेद' की संज्ञा न देकर केवल कूटनीति की विशेषतायें कह कर पुकारें तो भी अनुचित न होगा। इन विशेषताओं अथवा भेदों का संक्षिप्त वर्णन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति
(Democratic diplomacy)

बीसवीं शताब्दी को 'प्रजातन्त्र' के जन्म एवं विकास का स्वर्ण युग माना जाता है। इस समय शासन सत्ता राजा और सम्राटों के हाथ से निकल कर सामान्य जनता के हाथों में आ गई। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्णायक एक देश का शासन मात्र न रह कर पूरी जनता बन गई। प्रजातन्त्रात्मक प्रतिनिधियों के माध्यम से जनता ने कूटनीतिक व्यवहार पर प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया। कूटनीतिज्ञ अप्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी बन गये, किन्तु जैसा कि पामर तथा परकिन्स का विचार है, कूटनीतिक कार्यों पर आज भी उन्हीं लोगों का अधिकार है जिनके हाथ में शक्ति, प्रभाव और धन है। प्राचीन भारत के अनेक राजा, महाराजा और जागीरदार स्वतन्त्र भारत के राजदूतों का पद सम्भाले हुए हैं।

प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति की कुछ विशेषतायें हैं जैसे—

१. कूटनीतिज्ञों को केवल अपने देश के शासकों की रुचि का ध्यान रखना ही पर्याप्त नहीं है किन्तु उन्हें लोक-रुचि और लोक-हित का ध्यान रखना होता है।

२. कूटनीतिक स्तर पर किये गये सभी सन्धि एवं समझौतों से सामान्य जनता को परिचित रखना आवश्यक है ताकि जनता उन पर अपनी इच्छा अभिव्यक्त कर सके।

३. जनता के अनेक समुदाय एवं संस्थायें भाषण, प्रचार, आन्दोलन एवं जुलूसों द्वारा विदेशों से किये गये सन्धि या समझौतों का विरोध या समर्थन कर सकते हैं। उदाहरण के लिए कच्छ पर किये गये भारत-पाक समझौते पर जनमत आदि दलों के रुख को लिया जा सकता है।

४. प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति एक देश की स्वतन्त्र प्रेस, भाषण की स्वतन्त्रता, सरकारी अधिकारियों पर जनमत का प्रभाव, विभिन्न संस्थाओं

एव सगठनो के विशेष हितों आदि के साचो मे ढलने के बाद रूप ग्रहण करती है तथा कूटनीति के इस रूप का लक्ष्य होता है सम्पूर्ण देश का सामान्य हित।

प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति के अब तक के अनुभव अधिक अच्छे नही रहे हैं। निकल्सन (Harold Nicolson) महोदय ने अपनी पुस्तक 'कूटनीति' (Diplomacy) के पाचवें अध्याय मे प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति के अनेक दोषो का वर्णन किया है। प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति का प्रथम दोष यह है कि इसमे 'सम्प्रभु जनता' अनुत्तरदायी होती है। कूटनीतिक कार्यों पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालना जनता का अधिकार समझा जाता है किन्तु उन कार्यों से होने वाले दुष्परिणामो के लिए वह जिम्मेदार नही बनना चाहती।

इसका दूसरा दोष यह है कि सामान्य नागरिक विदेश नीति से सम्बन्धित निर्णय लेने मे अक्षम रहता है। यदि उसके सामने सभी तथ्य यथाविधि प्रस्तुत कर दिये जायें तो भी वह विश्व राजनीति का एक सतोष-जनक चित्र अपने मस्तिष्क पर नही उतार सकता और न ही वह उसके आगामी परिवर्तनो का अनुमान लगा सकता है।

तीसरा दोष यह है कि आशिक रूप से सूचित लोग विदेश नीति के उलझे हुए प्रश्नो पर शीघ्रतापूर्ण विधायी (Positive) निर्णय ले लेते हैं। यह उन लोगो के लिए एक दुःखद स्थिति पैदा कर देता है जो तथ्यो के आधार पर कुछ बौद्धिक निर्णय लेना चाहते हैं।

चौथा दोष यह है कि प्रजातन्त्र मे लोकमत द्वारा एक सीमा निर्धारित कर दी जाती है जिसके आधार पर एक देश की विदेश नीति को चलना चाहिए। इस सीमा के अनेक लाभ हैं किन्तु सबसे बड़ा दोष यह है कि देश के नेता अवसर के अनुकूल कोई निर्णय तत्काल नही ले पाते। पामर तथा परकिन्स के कथनानुसार प्रजातन्त्रीय देशो को 'बहुत कम और बहुत देर की नीति' (too little and too late) अपनाने के लिए आलोचित किया जाता है। समय पर कोई कदम न उठाने से बाद मे अनेक दिक्कतें खड़ी हो जाती हैं।

पाचवा दोष यह है कि कथनी और करनी के बीच भारी अन्तर रहने लगा है। वार्तालाप, भाषण एव कार्यों द्वारा यही प्रयास किया जाता है कि नीति का वास्तविक स्वरूप लोगों की आखो से ओझल रहे। एक कूटनीतिज्ञ जब किसी आम सभा में बोलता है तो वह कम से कम बोलता है और जो भी बोलता है उसे बड़े लुभावने ढग से। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि

प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति के कार्यों में निश्चितता एवं यथार्थता की अपेक्षा अनिश्चितता (Vagueness) अधिक है।

(२) सर्वाधिकारवादी कूटनीति
(*Totalitarian diplomacy*)

बीसवीं शताब्दी का ही एक दूसरा विकास सर्वाधिकारवाद है जो प्रजातन्त्र के विपरीत तानाशाही प्रवृत्तियों को अपनाता है। इस व्यवस्था में देश की कूटनीति के संचालक उच्च स्तर के कुछ गणमान्य नेता होते हैं। प्रचार एवं प्रसार के माध्यम से ये देश में अपनी महत्वाकांक्षाओं एवं सही लक्ष्यों को एक पर्दे के पीछे डाल देते हैं। सर्वाधिकारी राज्यों के आदर्श, विश्वास, लक्ष्य एवं कार्य भिन्न होने के कारण उनकी कूटनीति का रूप भी प्रजातन्त्रात्मक देशों से भिन्न रहता है। इस कूटनीति की विशेषतायें निम्न प्रकार हैं—

१ यह कूटनीति विचारधारा (Ideology) को आधार बना कर आगे बढ़ती है तथा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए जातीय बड़प्पन, भौतिकतावाद, सैनिकवाद आदि का सहारा लेती है।

२ सर्वाधिकारी कूटनीतिज्ञों का उद्देश्य शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्माण करना नहीं है वरन् उनका मूल उद्देश्य अपनी विचारधारा का प्रसार करना है। इसके लिए दूसरे देशों में वे विशेष दलों का निर्माण, पोषण एवं समर्थन करते हैं।

३. सर्वाधिकारी कूटनीतिज्ञ कूटनीति के सामान्य नियमों का पालन तभी तक करते हैं जब तक वह उनके स्वामियों की योजनाओं से मेल खाता हो।

४ ये खुले रूप से यह घोषणा करते हैं कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि एवं दौत्य को इच्छा के अनुसार तोड़ा या अस्वीकृत किया जा सकता है।

५ ये कूटनीतिज्ञ यह प्रचार करते हैं कि साम्यवादी एवं पूंजीवादी राज्यों के बीच का संघर्ष एवं मतभेद सदा रहने वाला तथा कभी न मिटने वाला है।

६ दूसरे देशों के मित्रतापूर्ण व्यवहार को ये उस देश की कमजोरी, चापलूसीपूर्ण नीति एवं बुरे इरादों का प्रतीक मानते हैं तथा विश्व संस्था को अपने प्रचार का केन्द्र बना लेते हैं।

७. सर्वाधिकारी राज्यों के साथ दूसरे राज्यों के सम्बन्ध इतने भेदपूर्ण एवं संघर्षपूर्ण हैं कि कूटनीति का व्यवहार असम्भव सा बन गया है क्योंकि कूटनीति वहीं पर कार्यान्वित हो सकती है जहां कि दो राज्यों के बीच कुछ बातों पर तो मेल या एक जैसी राय हो। शीतयुद्ध की स्थिति में कूटनीतिक व्यवहार नहीं चल सकता। अब ज्यों-ज्यों शीतयुद्ध समाप्त होता जा रहा है त्यों-त्यों दोनों दलों के बीच समझौतों की मात्रा बढ़ती जा रही है और समझौते कूटनीति की आत्मा होते जा रहे हैं।

(३) सम्मेलनों द्वारा कूटनीति
(Diplomacy by Conference)

कूटनीति के रूप में प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एक महत्वपूर्ण मोड़ आया। इस समय में लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना की गई और इससे विश्व के राष्ट्रों को मिल कर तथा सम्मेलनों के रूप में विचार करके अपनी समस्याओं को सुलझाने का विचार सूझा। समय के अनुसार यह विचार व्यवहार में लोकप्रिय बनता चला गया और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सम्मेलनों के माध्यम से कूटनीतिक व्यवहारों को संचालित करना एक साधारण बात बन गई। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार आजकल प्रति वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के ६ हजार से १० हजार तक सेशन होते हैं।

सम्मेलन दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे सम्मेलन जो महत्वपूर्ण तथा तकनीकी मामलों पर विचार विमर्श करते हैं। ऐसे सम्मेलनों में भाग लेने वाले सदस्यों की संख्या थोड़ी ही होती है। केवल विशेषज्ञ ही भाग लेते हैं। दूसरे प्रकार के वे सामान्य सम्मेलन होते हैं जिनमें सैकड़ों व्यक्ति भाग लेते हैं। ऐसे सम्मेलन प्रायः संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में आमन्त्रित किये जाते हैं तथा उच्च स्तर के कूटनीतिज्ञ भी इनमें भाग लेते हैं।

लार्ड जॉर्ज के युद्ध मन्त्रिमण्डल के एक सदस्य मॉरिस हेन्के (Lord Maurice Hankey) ने 'सम्मेलन द्वारा कूटनीति' को युद्ध रोकने का एक महत्वपूर्ण उपाय माना है। उनके अनुसार ऐसी कूटनीति के अनेक लाभ हैं जैसे—इसकी प्रक्रिया लचीली होती है, अनौपचारिकता रहती है, सदस्य एक दूसरे से परिचित रहते हैं, सिद्धान्तों के बीच मैत्री रहती है, गुप्त प्रक्रियाओं एवं प्रकाशित परिणामों के बीच एक सामंजस्य रहता है, सचिव एवं व्याख्याता विश्वासजनक होते हैं।[1]

1 Lord Maurice Hankey, Diplomacy by Conference (1946) Pp 37-8

अनेक क्षेत्रीय तथा अन्य प्रकार के समूह जैसे नाटो (NATO), अमरीकी राज्यों का संगठन (OAS) तथा योरोपीय एकता आंदोलन आदि को भी सम्मेलन की कूटनीति के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इन सीमित समूहों के बीच समझौते की वार्ता कभी-कभी पर्याप्त कठिन हो जाती है क्योंकि इन देशों के बीच का सम्बन्ध पर्याप्त निकट का है। पेडिलफोर्ड तथा लिंकन का यह कथन पर्याप्त तथ्य-सम्मत है कि राजनैतिक विपक्षियों एवं विरोधियों की अपेक्षा कई बार मित्रों के साथ लेन देन की बात करना अधिक कठिन बन जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जब से जनता रुचि लेने लगी है तब से सम्मेलन की कूटनीति अधिक लोकप्रिय हो गई है। अब महाशक्तियां छोटे राज्यों की आवाज को महत्व देने लगी हैं तथा उनको बराबर का मत प्रदान किया गया है। ऐसी स्थिति में वे इन राज्यों के समर्थन की आवश्यकता को जानने लगी हैं। इस प्रकार के प्रबन्ध में एक समस्या यह उठ खड़ी हुई है कि जब बड़े राज्य किसी प्रभावशील निर्णय को लेना चाहते हैं तो छोटी शक्तियां यह मांग कर सकती हैं कि किसी राज्य की आलोचना करने या बुरा भला कहने से पूर्व इसके लिए मतदान करा लिया जाये। इस प्रकार बड़ी शक्तियां बड़ी अटपटी स्थिति में आ जाती हैं जहां कि वे छोटे राज्यों पर आक्रमण करने की अपनी इच्छा को पूरी नहीं कर पाती। इसीलिए वे कभी-कभी इस प्रकार के मतदान की उपयुक्तता के बारे में सन्देह प्रकट करती हैं। सम्मेलन की कूटनीति, संयुक्त नियोजन एवं क्रिया का प्रयोग करके विशेष क्षेत्रों में सहयोग को बढ़ाती है। उदाहरण के लिए नाटो की एक महत्वपूर्ण प्राप्ति यह है कि इसने शान्तिकालीन सैनिक सहयोग का विकास किया है। यद्यपि अनेक न सुलझाई जाने वाली समस्यायें हैं किन्तु फिर भी नाटो संगठन सम्मिलित विचार, संयुक्त क्रियायें एवं कार्यों की हिस्सेदारी को विकसित करने में पर्याप्त सफल हुआ है और इसलिए उत्तरी एटलांटिक समाज के लिए परमावश्यक है।

सम्मेलन की कूटनीति का एक दूसरा विकास समाज की मान्यता का विकास है। यह यूरोपीय आर्थिक समाज तथा इससे सम्बद्ध निकायों की रचना करके प्रोत्साहित किया गया है। सम्मेलन की कूटनीति ने संसदीय कूटनीति को जन्म दिया जो आज के कूटनीतिक रूप की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गई है।

सम्मेलन की कूटनीति हमेशा एक खुली कूटनीति होती है। जिस प्रकार खुले समझौते खुले में किए जा सकते हैं उसी प्रकार खुले मतभेद भी

खुले मे ही प्रदर्शित किए जायेंगे। इससे यह सम्भावना है कि सम्बन्धित दोनो पक्षों के हितो का नुकसान हो और उस सम्मेलन या सगठन का नुकसान हो जिसमे कि ये किए गए हैं। कभी कभी वाद विवाद और असहमति का जनता की आखो से ओभल रखना अच्छा समझा जाता है क्योकि इससे समस्या स्पष्ट होती है और विवादपूर्ण समस्याओं पर विचार-विमर्श अच्छी प्रकार किया जा सकता है। आज से सौ साल पूर्व ऐसा कोई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन नहीं था जो कि निरन्तर रूप से मिलता हो। आज सयुक्त राज्य अमरीका प्रति वर्ष लगभग ४०० सम्मेलनों में भाग लेता है। इनमे से अनेक तकनीकी विचार विमर्श होते हैं और जिनमे सरकारी विभागों के विभिन्न अधिकारी भाग लेते हैं। इस प्रकार के प्रयास से राष्ट्रों की कूटनीतिक सेवाओं पर पर्याप्त भार बढ़ गया है। यदि सम्मेलनों के लिए पर्याप्त तैयारी न की जाए तो उनका परिणाम असफलतापूर्ण होगा। सम्मेलन की कूटनीति को कभी कभी प्रचार के उद्देश्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह प्रवृत्ति अत्यन्त खतरनाक है क्योकि इससे कोई भी देश अपनी शक्ति बढाने और अन्य की शक्ति को कम करने का प्रयास करता है।

सम्मेलन की कूटनीति की अनेक सीमायें हैं। कूटनीति को इस प्रकार का समर्थन इसलिए किया जाता है क्योकि यह ऐसी ही प्रक्रिया दिखाई देती है जैसी कि किसी राज्य की व्यवस्थापिका की बैठक मे रहती है किन्तु असल मे किसी व्यवस्थापिका की बैठक तथा सम्प्रभु राज्यों के सम्मेलनो के बीच पर्याप्त अन्तर रहता है। पहला अन्तर तो यही है कि विभिन्न राज्यों की शक्ति और महत्व के बीच पर्याप्त अन्तर रहता है। इसके अतिरिक्त इन राज्यो के प्रतिनिधि स्वतन्त्र एजेन्ट नही होते। किन्तु अपनी सरकारो के निर्देशनो से बधे रहते हैं और उनका काम होता है अपने राज्य के हितों की रक्षा एव अभिवृद्धि करना।

साम्यवादी राज्यो एव पश्चिमी शक्तियो के बीच सम्मेलन की कूटनीति के लिए कुछ बातो पर मित्र राष्ट्रो के बीच समझौता होना जरूरी है कि किस विषय पर समझौता वार्ता की जाए? कब की जाए? क्या समझौते तथा युक्तियां की जा सकती हैं? और कब वहा दृष्टिकोण अपनाया जा सकता है? जो भी महत्वपूर्ण समझौते किए जायें वे सम्बन्धित सरकार द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। कुछ स्थितियों मे महत्वपूर्ण समझौते व्यवस्थापको के सम्मुख स्पष्ट करने होते हैं क्योंकि उनकी स्वीकृति परमावश्यक है। जेम्स रेस्टन (James Reston) का कहना है कि इन समझौतों को करते समय प्रेस पर भी आंख रखनी होती है क्योकि प्रजातन्त्र मे प्रेस पर्याप्त साधन

सम्पन्न होती है और वह यह मान कर कार्य करती है कि सभी कूटनीतिक प्रयास समाचार होते हैं।

सर्वाधिकारी राज्यों के अधिकारियों को राजनीतिक स्थिति एवं प्रेस के इतने दबावों के अधीन कार्य नहीं करना होगा। ये देश किए गए समझौतों को किसी भी समय बिना किसी परेशानी के बदल सकते हैं। इसके अतिरिक्त यहां की प्रेस भी उपयुक्त सत्ता की स्वीकृति प्राप्त किए बिना सम्मेलन के वार्तालाप को प्रकाशित नहीं करती। इसके अतिरिक्त प्रेस द्वारा निर्णय लेने वालों के मध्य स्थित विवादों को भी प्रकाशित नहीं करती और न ही यह प्रकाशित करती है कि निर्णायकों द्वारा अपनी बात मनवाने के लिए किस प्रकार प्रयास किया गया, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसा करने से विरोधियों को बल मिलेगा। सन् १९६१ के बर्लिन संकट के दौरान जब पश्चिमी विदेश मन्त्री सोवियत विदेश मन्त्री से बात करने से पूर्व मिल रहे थे तो जेम्स रेस्टन ने न्यूयार्क टाइम्स में इस पर अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि सोवियत विदेश मन्त्री जब बात के लिए आयेंगे तो उनके हाथ के कार्ड छिपे हुए रहेंगे। वह जब राज्य सचिव रस्क से मिलेंगे तो उन समझौतों के बारे में बहुत कुछ जानने के बाद मिलेंगे जो किए जा चुके होंगे तथा उनके लिए पूरी तरह से तैयार होंगे। यह व्यवस्था स्पष्टतः एक असमान व्यवस्था है और उस समाज के पक्ष में है जो पर्याप्त गोपनीयता रखता है और तब तक ऐसा रहेगा जब तक पश्चिमी देश अपने हित की दृष्टि से कूटनीति के संचालन की कोई नई प्रक्रिया नहीं खोज लेते।

(४) व्यक्तिगत कूटनीति
(Personal Diplomacy)

कूटनीति के इस रूप के अनुसार दो देशों के कूटनीतिक विषयों का संचालन स्वयं उन देशों के विदेश मन्त्रियों, प्रधानों एवं प्रमुखों के द्वारा किया जाता है न कि उनके कुछ प्रतिनिधियों के द्वारा। कूटनीति के इस रूप का प्रयोग यद्यपि पहले भी होता था किन्तु वर्तमान युग में तो यह एक सामान्य प्रक्रिया बन गई है। अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर इन उत्तरदायी व्यक्तियों द्वारा ही निर्णय लिये जाते हैं। जेनेवा सम्मेलन, बाण्डुग सम्मेलन, यल्टा सम्मेलन एवं अन्य अनेक शिखर सम्मेलनों को इस प्रकार की कूटनीति के उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान एवं उसके बाद भी बड़ी शक्तियों के विदेश मन्त्री अनेक महत्वपूर्ण मामलों पर विचार-विमर्श करने को मिले थे। शीत युद्ध के काल में नाटो (NATO) शक्तियों

के विदेश मन्त्री अपने सामान्य हित के मामलों पर विचार करने के लिए कई बार मिल चुके हैं।

व्यक्तिगत कूटनीति को क्रियान्वित करने के लिए कई बार एक देश के प्रधानमन्त्री एवं विदेश मन्त्रियों द्वारा प्रतिनिधियों का सहारा लिया जाता है। स्वयं के कार्य को हल्का करने एवं कार्य की सम्पन्नता में समय की बचत करने के लिये ऐसा किया जाता है। भारत पाक संघर्ष के दौरान भारत ने अनेक मन्त्रियों एवं महत्वपूर्ण व्यक्तियों को कार्यकारिणी के एजेन्ट अथवा प्रधानमन्त्री के व्यक्तिगत प्रतिनिधि के रूप में विदेशों में भेजा था, क्योंकि इस संघर्ष में भारत के पक्ष को स्पष्ट करना तथा दूसरे देशों की सहानुभूति एवं सहयोग प्राप्त करना शीघ्र ही आवश्यक था। ताशकन्द में ४ जनवरी, ६५ को निश्चित शास्त्री-अयूब का मिलन भी व्यक्तिगत कूटनीति का ही एक रूप कहा जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के अभिनेता चर्चिल और रूजवेल्ट प्रायः अनौपचारिक एवं व्यक्तिगत रूप से ही मिला करते थे।

व्यक्तिगत कूटनीति, कुछ विचारकों के मतानुसार, नुकसानदायक है। इन विचारकों का कहना है कि प्रधानमन्त्री एवं विदेशमन्त्री आदि उच्च स्तर के पुरुषों का काम नीति का निर्माण करना है न कि समझौते करना, यह काम तो कूटनीतिज्ञ विशेषज्ञों को सौंप देना चाहिये। कारण यह है कि उच्च स्तर के अधिकारी समझौते करने के लिये योग्य नहीं होते। साथ ही डर रहता है कि वे विषय को विषयी (Subjective) दृष्टि से देखेंगे जो राष्ट्रीय हित के विपरीत भी जा सकता है। लार्ड वन्सिटार्ट (Lord Vansittart) के मत में ऐसी कूटनीति का व्यवहार कभी कभी ही सफल हो पाता है क्योंकि 'परामर्श' की प्रत्येक को आवश्यकता रहती है। हेरल्ड निकल्सन (Harold Nicolson) तथा सिसली हाडल्स्टन (Sisley Huddleston) आदि का विचार भी व्यक्तिगत कूटनीति के विरुद्ध जाता है।

दूसरी ओर लार्ड हेन्की (Lord Hankey) आदि के विचार से व्यक्तिगत कूटनीति का अपना महत्व है क्योंकि कई समस्याओं का समाधान इतना कठिन हो सकता है कि कूटनीतिज्ञों के पास जो साधन हैं वे उसके लिये अपर्याप्त रह जायें। इन विचारकों के मत में संसदात्मक प्रजातन्त्र के युग में मध्यस्थों पर निर्भर रहना उपयुक्त नहीं है।

(५) दूकानदार जैसी कूटनीति बनाम युद्धप्रिय कूटनीति
(Shopkeeper diplomacy Vs Warrior diplomacy)

यदि हम विभिन्न देशों की कूटनीति पर एक विहंगम दृष्टिपात करें

तो पायेंगे कि उन सबकी अपनी-अपनी विशेषतायें हैं। निकल्सन (Nicolson) महोदय ने ग्रेट ब्रिटेन की कूटनीति में वे सभी गुण पाये हैं जो कि एक व्यापार में पाये जाते हैं।[1] जो कूटनीति बुद्धिपूर्ण समझौते करने को तैयार रहती है, दूसरे राष्ट्रों के साथ प्रेम बढ़ाती है तथा विभिन्न सन्धियों के द्वारा शान्ति निर्माण में प्रयत्नशील रहती है, वही कूटनीति व्यवहार में आकांक्षित परिणामों को प्राप्त कर पाती है। एक दूकानदार जैसी यह कूटनीति महत्वपूर्ण एवं लाभदायक है क्योंकि यह अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक नैतिक है तथा उन रूपों की तुलना में अधिक सफलता प्राप्त करने में समर्थ रहती है। एक देश की सफलता एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाज में उसका स्थान मुख्यतः तीन बातों पर निर्भर करता है—वह देश किस प्रकार की कूटनीति अपना रहा है, उस देश की राष्ट्रीय नीति कैसी है, तथा समझौता वार्ताओं का व्यक्तित्व कैसा है।

कूटनीति का एक दूसरा रूप जो उपर्युक्त से पूर्णतः भिन्न प्रकृति का है, युद्धप्रिय रूप है। यह समझौतों में विश्वास नहीं करता तथा युद्ध के वातावरण को अधिकाधिक उत्तेजित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। कुछ विचारक यह मानते हैं तथा इतिहास का हवाला देते हुए कहते हैं कि इस प्रकार की कूटनीति को मानने वाला देश अन्त में स्वयं ही नष्ट हो गया तथा कोई सन्तोषजनक सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहा।

दूकानदार जैसी एवं युद्धप्रिय कूटनीतियों के बीच अनेक भिन्नतायें हैं। दोनों ही विशेषतायें परस्पर विरोधी हैं। यदि हम इनके व्यवहार की जानकारी प्राप्त करने के लिए इतिहास के पृष्ठ उलटें तो पायेंगे कि जो देश स्थित व्यवस्था को ज्यों का त्यों बनाये रखने के पक्ष में हैं वे पहली को तथा जो देश स्थित व्यवस्था को चुनौतियां देते हैं तथा बदलने की टोह में रहते हैं वे दूसरी को अपनाते हैं। इस दृष्टि से यदि हम पश्चिमी प्रजातन्त्रों की कूटनीति को देखें तो हमें ज्ञात हो जायेगा कि उसमें वे सभी विशेषतायें वर्तमान हैं जो एक दूकानदार जैसी कूटनीति की वर्णित की गई हैं। दूसरी ओर साम्यवादी देशों की कूटनीति में हमें युद्धप्रियता का आभास मिलता है विशेषतः साम्यवादी चीन की कूटनीति में।

दोनों ही प्रकार की कूटनीतियों का आधार परिस्थितियां, राज्य का स्वरूप एवं विचारधारा है अतः दोनों का ही अपना महत्व है। दूकानदार जैसी कूटनीति को क्रियान्वित करते समय ब्रिटेन ने चातुर्य, कुशलता एवं स्पष्ट

1. Horot Nicolson, Diplomacy, P. 132

से भी कई बार काम लिया है। इसमे उसे सफलता और असफलता दोनों ही प्राप्त हुई है। एक देश कूटनीति के किस रूप को अपनाता है तथा उस रूप को अपनाने मे उसे सफलता कितनी प्राप्त होती है, इन दोनो ही प्रश्नो का उत्तर इस तथ्य पर निर्भर करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय पदश्रेणी में वह देश कौन सा स्थान रखता है तथा उस देश की शक्ति कितनी है। प्रारम्भ से ही ब्रिटेन की कूटनीति सफल होती चली आई इसका कारण उसकी शक्ति थी। मिस्र के मामले पर उसे पीछे हटना पडा; इसका कारण यह है कि अब वह दूसरी श्रेणी की शक्ति बन गया है।

युद्धप्रिय तथा दूकानदार जैसी कूटनीतियो के बीच का मुख्य अन्तर इस प्रकार है —

(१) युद्धप्रिय कूटनीति जब समझौते करने बैठती है तो अबौद्धिक (Unreasonable) बन जाती है क्योंकि बौद्धिक रूप से सोचने पर स्थित व्यवस्था को बदला नही जा सकता। इसके विपरित दूकानदार जैसी कूटनीति बुद्धिपूर्ण समझौते करती है।

(२) प्रभावशील (Dominant) देशो की माग थोडी होती है, तथा बुद्धिपूर्ण होती है। वे स्थित व्यवस्था से सतुष्ट रहते हैं और इसलिए शक्ति के प्रयोग के प्रत्येक रूप को बुरा मानते हैं। वे समझौतो को आवश्यक मानते हैं। इसके विपरीत चीन जैसे देश युद्ध को अपने लक्ष्यो की प्राप्ति का आवश्यक साधन मानते हैं।

(३) प्रभावशील देशों की (जो स्थित व्यवस्था के हिमायती हैं) कूटनीति अस्पष्ट रहती है। उनके कूटनीतिक समझौतों का कोई स्पष्ट उद्देश्य नही रहता।

(४) प्रभावशील देश ऐसी किसी चीज की माग नही करते जो उनके पास नही है। साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि दूसरे देश भी उन चीजो की मांग बन्द कर दें जो कि उनके पास नही हैं। ये देश स्थित विश्व व्यवस्था से सतुष्ट रहते हैं अत स्पष्टत नही जान पाते कि उनकी आवश्यकतायें क्या हैं।

(५) युद्धप्रिय कूटनीति को अपनाने वाले देशों के कुछ निश्चित लक्ष्य होते हैं। वे वर्तमान को बदल कर अपने अनुकूल विश्व बनाना चाहते हैं जहा उनके हितों को सन्तुष्ट किया जा सके। इस नये विश्व का मानचित्र उनके मस्तिष्क मे रहता है। जैसे साम्यवादी चीन सारे ससार को लाल झडे के नीचे लाने के स्वप्न मे मस्त है।

(६) युद्धप्रिय कूटनीति अपनाने वाले देश प्रायः गरीब, कम शक्ति वाले तथा असन्तुष्ट होते हैं, शक्ति के अभाव में उनको कूटनीतिक सफलतायें कम मिल पाती हैं, विश्व समाज में भी उनका स्तर अधिक ऊँचा नहीं रहता। यही कारण है कि वे वर्तमान व्यवस्था को बदलने के लिए युद्ध और संघर्ष का सहारा लेते हैं, क्योंकि समझौतों से घाटे रहते हैं। दुकानदार जैसी कूटनीति अपनाने वालों का स्वभाव व लक्ष्य इसके विपरीत होता है।

(६) खुली कूटनीति बनाम गुप्त कूटनीति
(Open Diplomacy Vs Secret Diplomacy)

प्रजातन्त्रात्मक कूटनीति का वर्णन करते समय प्रसंगवश यह बताया गया था कि आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में जनसाधारण यह अपना अधिकार मानने लगा है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो भी सन्धियां, समझौते अथवा कूटनीतिक व्यवहार किये जायें उन सबकी जानकारी उनको दी जानी चाहिए। खुली कूटनीति का समर्थन नैतिक एवं आदर्शात्मक दृष्टिकोणों से भी किया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इस प्रकार की कूटनीति की मांग बढ़ती गई। वुडरो विलसन के १४ सिद्धान्तों में से पहला सिद्धान्त था कि सभी शान्तिपूर्ण समझौते खुले रूप में किये जाने चाहिए। कूटनीति हमेशा जनता के दृष्टिकोण से एवं स्पष्ट रूप से संचालित की जाये न कि व्यक्तिगत दृष्टिकोणों के आधार पर।[1] खुली कूटनीति के समर्थक अपने पक्ष के प्रतिपादन में निम्नलिखित तर्क प्रदान करते हैं—

(१) एक राष्ट्र के लोगों को यह अधिकार है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सरकार द्वारा किये गये समझौतों को जानें क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर धन और जीवन का बलिदान वे ही करते हैं।

(२) प्रजातन्त्र में सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है यह उत्तरदायित्व तब तक क्रियान्वित नहीं किया जा सकता जब तक कि जनता को तथ्यों से परिचित न रखा जाये।

(३) कूटनीतिज्ञों द्वारा जिन विध्वंसकारी युद्धों का वातावरण तैयार किया जाता है तथा जिसमें लोगों को मजबूर करके झोंक दिया जाता है, वह सब न हो यदि जनता का कूटनीतिक कार्यों पर नियन्त्रण रहे।

(४) खुली कूटनीति का अर्थ जैसा कि स्वयं विलसन ने सीनेट को लिखा था, यह कदापि नहीं है कि महत्त्वपूर्ण मामलों पर व्यक्तिगत रूप से

1. Woodrow Wilson, Message to Congress on Jan. 8th, 1918

विचार-विमर्श ही न किया जाय। इसका अर्थ तो यह है कि कोई समझौता गुप्त न रखा जाय, तय करने के बाद सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्पष्ट कर देने चाहिए, प्रकाशित कर देने चाहिए।

उक्त तर्कों का विरोध करते हुए गुप्त कूटनीति के समर्थक अपने पक्ष के प्रतिपादन मे जो तर्क प्रस्तुत करते हैं उनमे से मुख्य इस प्रकार हैं—

(१) एक सफल कूटनीति के लिए गुप्त रहने की आवश्यकता है।

(२) गुप्त रूप से जो समझौते किए जाते हैं उनमे स्पष्टता (Frankness) रहती है तथा कूटनीतिज्ञ उन सुविधाओं को देने के लिए भी राजी हो जाते हैं जिनको वे तब नही दे सकते जबकि जनता उनसे परिचित हो।

(३) प्रकाशन की परम्परा से 'कूटनीतिज्ञ' प्रचारक (Propagandist) बन जायेंगे तथा वे जनता के क्षणिक दुराग्रहो से भी प्रभावित किये जायेंगे।

दोनों ही पक्षों के तर्कों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमे से प्रत्येक सन्तोषजनक नहीं है। खुली कूटनीति के समर्थकों का सबसे बड़ा तर्क यह है कि उनके द्वारा समर्थित कूटनीति प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था के अनुकूल है। ये विचारक मानते है कि कूटनीति अपने आप मे एक लक्ष्य होती है। कूटनीति को प्रजातन्त्रात्मक बनाने का लाभ इन विचारकों के मत मे यह है कि इससे युद्ध का खतरा टल जायगा तथा शान्ति की जड़ें गहरी होगी। किन्तु यह मत दीखने मे जितना मानने योग्य लगता है, व्यवहार मे हवाई किले से अधिक सत्य नही है।

गुप्त कूटनीति के समर्थकों का मुख्य विश्वास यह है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों को प्रकाशित कर दिया गया तो इससे समझौता करने वालो मे लचीलापन नहीं रह पायेगा। वर्तमान समय के अधिकांश सम्मेलनो मे समझौता करने वालों मे लचीलापन नहीं रहता। इसका कारण यही माना जाता है कि उनको प्रकाशित कर दिया जाता है। किन्तु इस विश्वास के पीछे कोई प्रमाण नहीं है, अत यह भ्रामक है। गुप्त कूटनीति के पक्ष मे एक तर्क यह भी दिया जाता है कि आज खुली होने के कारण कूटनीति असफल हो गई है। पहले कूटनीति सफल थी क्योंकि वह गुप्त होती थी। यह तर्क भी सगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि कूटनीति की असफलता के अन्य दूसरे कारण बहुत हैं।

कूटनीति को प्रजातन्त्रात्मक होने के लिये खुला होना न आवश्यक है और न उपयोगी ही। पामर तथा परकिन्स के विचार से जनता का भला इसमें है कि समझौते के परिणामों एवं उद्देश्यों के लिये नेताओं को उत्तरदायी ठहराया जावे न कि इसमें कि समझौते ही टेलीविजन के पर्दे पर किये जायें।[1]

(७) प्रचार द्वारा कूटनीति
(Diplomacy by Propaganda)

कूटनीतिक निर्णयों को अपने हितों के अनुकूल बनाने में प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य है। रेडियो, प्रेस तथा प्रचार व अन्य साधनों द्वारा जनता को एक विशेष नीति के सम्बन्ध में प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। जार्ज वी० एलेन (George V Allen) के मतानुसार प्रचार कूटनीति का एक सचेतन (Conscious) हथियार बन गया है। बिस्मार्क द्वारा इस हथियार का प्रयोग बड़ी सफलतापूर्वक किया जाता था। ब्रेस्ट लिटोस्क (Brest Litvst) में ट्राटस्की ने भी समझौते के तरीके के रूप में प्रचार का प्रयोग किया था। बाद में यह व्यवस्था साधारण बन गई तथा अनेक देश इसे अपनाने लगे। कूटनीति में प्रचार दो प्रकार से सहायक बनता है—

(१) प्रचार द्वारा समझौते पर विचार करने योग्य वातावरण तैयार किया जाता है।

(२) जब समझौता हो रहा हो तो उसे प्रभावित करके अपने हित के अनुकूल बनाया जाता है।

जहाँ तक पहले कार्य का सम्बन्ध है, प्रचार उपयोगी है और इसलिए प्रत्येक देश प्रशासन एवं प्रचार पर बहुत धन खर्च करता है। किन्तु दूसरे कार्य का जहाँ तक सम्बन्ध है प्रचार बहुत कम ही सफल हो पाता है। प्रचार कार्य गुप्त रूप से विदेश मन्त्री या अन्य राजनीतिज्ञों द्वारा किया जाता है न कि दूतों द्वारा। यद्यपि प्रचार के द्वारा जनता में अनेक मिथ्या विश्वास एवं भ्रम पैदा होते हैं किन्तु आज की परिस्थितियों में यह अपरिहार्य बन गया है। पनिक्कर (K M Panikkar) महोदय ने समझौते (Negotiation) को एक गुप्त तरीका माना है। उनके मतानुसार जिस समय समझौते चल रहे हों उस समय प्रचार बड़ा खतरनाक होता है।[2]

1 Palmer and Perkins, op cit, P. 115
2 K M Panikkar, op cit, P 93

दिया है कि आज कूटनीति का क्रियान्वित होना कठिन बन गया है। कूटनीति के महत्व को गिराने में तथा उनके सफल सचालन के मार्ग में प्रभाव डालने वाले कुछ नवीन विकास भी हैं।

कूटनीति पर प्रभाव डालने वाले कुछ नए विकास
(New developments responsible for changing role of diplomacy)

आज कूटनीति द्वारा विश्व राजनीति में उस कार्य का सम्पादन नहीं किया जा रहा है जो वह विश्व युद्धों के पूर्व करती थी। मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय के मतानुसार "द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कूटनीति अपना महत्व खो चुकी है। इसके कार्य अब जितने कम रह गए हैं इतने राज्य व्यवस्था के इतिहास में कभी नहीं रहे थे।" कूटनीति का महत्व घटाने लिए उन्होंने ५ कारणों को उत्तरदायी ठहराया है। ये निम्न प्रकार हैं—

१ सचार के साधनों का विकास (Development of Communications)

२ कूटनीति का अवमूल्यन (Depreciation of diplomacy)

३. ससदात्मक प्रक्रिया द्वारा कूटनीति (Diplomacy by Parliamentary Procedure)

४ सर्वोच्च शक्तियां—कूटनीति में नवागतुक (The superpowers Newcomers in Diplomacy)

५. वर्तमान विश्व राजनीति का स्वरूप (The nature of contemporary world politics)

उक्त कारणो से कूटनीति का व्यवहार कठिन बन गया है। विचारधारा के आधार पर ससार के दो गुटो में बट जाने से सबसे बडा खतरा कूटनीति को ही हुआ है। जैसा कि पहले भी एक बार कहा जा चुका है कूटनीतिक व्यवहार केवल वहीं सभव होता है जहाँ कि इसकी इकाइयों के बीच कुछ बातो में तो समानता हो। समझौते का प्रश्न ही वहीं उठता है जहा कि कुछ बातो में दोनों पक्ष सहमत हों तथा कुछ बातो पर उनमे मतभेद हो। समझौता इस मतभेद को मिटाने का प्रयास करता है किन्तु जिन देशो के बीच प्रत्येक बात में अन्तर एव विरोध हो वहाँ समझौता सम्भव ही नहीं हो सकता। पनिक्कर महोदय के मतानुसार "विश्व के दो प्रधान गुटों के

बीच इतनी गहरी खाई है कि उनके बीच कूटनीतिक सम्बन्ध रह ही नहीं सकते।"

एक ओर तो विभिन्न कारणों के फलस्वरूप कूटनीति का व्यवहार आज के युग में दुरूह बन गया है और दूसरी ओर उसकी आवश्यकता जितनी आज के अणुयुग में है उतनी शायद ही किसी युग में रही होगी। विश्व में शक्ति के लिए सदैव संघर्ष होता रहता है, इस संघर्ष को सीमित एवं संतुलित बना कर कूटनीति विश्व में शान्ति-स्थापना का एक प्रमुख साधन बनता है। कूटनीति के अभाव का अर्थ होगा युद्ध और युद्ध का अर्थ होगा प्रलय तथा मानव सभ्यता और संस्कृति का विनाश। इस खतरे को टालने के लिए उन तत्वों की खोज करना आवश्यक है जो कि वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में भी कूटनीति को सम्भव बना सके। कूटनीति को पुनः स्थापित करने के लिए पहले तो उन सभी तत्वों को मिटाना होगा या कम करना होगा जो कि पुरानी कूटनीति के पतन का कारण माने जाते हैं। हेरल्ड निकलसन (Harold Nicolson) के मतानुसार तीन ऐसे विकास हैं जिन्होंने कूटनीति के सिद्धांत एवं व्यवहार को प्रभावित किया है, वे हैं—

१. राष्ट्रीय समुदाय के प्रति बढ़ती हुई चेतना (Growing Sense of the community of nations)
२. लोकमत का बढ़ता हुआ महत्व (Increasing appreciation of the importance of public opinion)
३. संचार के साधनों का विकास (Rapid increase in Communications)

मार्गेन्थो महोदय के मतानुसार आज की परिस्थितियों में एक देश की कूटनीति को सफल रूप से कार्य करने के लिए नौ नियमों का पालन करना चाहिए। इनमें चार मौलिक नियम निम्न प्रकार हैं—

१. कूटनीति को आन्दोलन करने वाली विचारधारा से पृथक रखा जाय। इस नियम का उल्लंघन करने पर युद्ध का खतरा बढ़ जाता है।
२. विदेश नीति को राष्ट्रीय हित के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए तथा राष्ट्रीय शक्ति द्वारा उसे समर्थित किया जाना चाहिये।
३. कूटनीति को चाहिए कि वह राजनैतिक दृश्य को दूसरे देशों के दृष्टिकोण से देखे।

४ एक राष्ट्र को उन सभी विषयों पर समझौता करने को तैयार रहना चाहिए जो उसके लिए अधिक महत्व नहीं रखते हैं।

समझौते में सफल होने के लिए पाच अन्य नियमों का पालन करना चाहिए। ये इस प्रकार हैं—

१ राजीनामा करते समय शत्रु की तरफ ध्यान न देकर जनता के हित की ओर ही ध्यान दिया जाना चाहिए।

२ ऐसी स्थिति में कभी मत रहो जहा से पीछे हटने के लिए तुम्हें अपमानित होना पड़े तथा आगे बढ़ने के लिए गम्भीर आपत्ति का सामना करने पड़े।

३ कमजोर मित्र राष्ट्र को अपने लिए निर्णय बनाने का अवसर न दो।

४ सशस्त्र सेना विदेश नीति का साधन होती है, उसका स्वामी नहीं। एक विदेश नीति, जो सैनिकों द्वारा सैनिक कला के नियमों के अनुसार चलाई जाती है, हमेशा युद्ध का ही कारण बनती है, क्योंकि जैसा बीज बोया जाता है वैसे ही फल भी खाने को मिलते हैं।

५ सरकार जनमत का नेतृत्व करती है न कि गुलामी का। लोकमत के पीछे भागने वाली कूटनीति सफल नहीं हो पाती क्योंकि लोकमत बौद्धिक की अपेक्षा भावात्मक अधिक होता है।

कूटनीति के विषय पर अपना निष्कर्ष देते हुए मार्गेन्थो महोदय ने बताया है कि अब तक के इतिहास में कूटनीति सफल ही रही है। प्राचीन समय में राजाओं द्वारा युद्ध रोकने नहीं वरन् युद्ध करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता था अतः यह अपने लक्ष्य में सफल रही, यद्यपि शान्ति की दृष्टि से यह असफलता थी। किन्तु कूटनीति तो एक साधन मात्र है जिसे एक राष्ट्र अपने हितों की रक्षा व अभिवृद्धि के लिए अपनाता है। कूटनीति का रूप एवं परिणाम इसे प्रयोग करने वालों की योग्यता एवं उद्देश्यों पर निर्भर करता है।

संसदीय कूटनीति
(Parliamentary Diplomacy)

संसदीय कूटनीति शब्द के प्रचलन का श्रेय डीन रस्क को दिया जाता है। इनके मतानुसार संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकें राष्ट्रीय संसद से मिलती-

उपयोगी है क्योंकि उनमें जो प्रक्रिया के नियमों के अनुसार कार्य किया जाता है। प्रारोपित प्रस्तावों पर संयुक्त राष्ट्र संघ में जो वाद-विवाद एवं कार्य होता है, अधिकारियों के चुनाव होते हैं, बजट का निर्धारण होता है और महासचिव का वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है वह राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की प्रक्रियाओं से मेल खाती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रक्रिया और तथा उस प्रक्रिया के परिणामों को प्रभावित करने को क्षेत्रीय तथा राजनैतिक गुट ऐसे ही प्रयास करते हैं जैसे कि राष्ट्रीय व्यवस्था में राजनैतिक दलों, क्षेत्रीय गुटों एवं विशेष हित समूहों द्वारा संसदीय व्यवस्था में किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के बाहरी कक्षों में प्रतिनिधि मतों का आदान प्रदान करते हैं, अपनी स्थिति के सम्बन्ध में तर्क देते हैं और अपने पक्ष में मत प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठक के दौरान भी भोजन कक्षों में तथा प्रतिनिधियों के विश्राम कक्षों में विचार-विमर्श होते हैं। महा सभा के सत्र के दौरान तथा अन्तर्राष्ट्रीय संकट के समय न्यूयार्क नगर में विश्व की किसी राजधानी की अपेक्षा अधिक कूटनीतिक क्रियायें होती हैं।

संसदीय कूटनीति की अपनी कुछ सीमायें हैं। यह इस बात पर जोर देती है कि एक मामले को सबके सामने लाने में तथा उस पर वाद-विवाद करने एवं प्रस्ताव पास करने मात्र से सुलझाया जा सकता। किन्तु यह एक भ्रम मात्र है। व्यावहारिक रूप में इस प्रकार के प्रयासों के परिणामस्वरूप मतभेद और राष्ट्रीय भावनायें उभरती हैं। यह भी सम्भव है कि एक राज्य बिना प्रश्न को समझे हुए तथा उसके परिणामों पर विचार के ही प्रस्तावित प्रारूप पर मत प्रदान कर दे। जब पूर्ण मतदान होता है तो उसमें अनुपस्थित रहने वालों की सत्ता का भी महत्व हो जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ में गुट की राजनीति शक्ति राजनीति का रूप धारण कर सकती है जो कि अपने उत्तरदायित्वों से असम्बद्ध रहे।

संसदीय कूटनीति उपयोगी भी हो सकती है क्योंकि यह विश्व जनमत को जोर देने के पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकती है। यह अनेक देशों के सहयोग को सुविधाजनक बनाती है तथा सामूहिक कार्य के लिए नींव तैयार करती है। इस प्रकार की कूटनीति को अन्य प्रकार की कूटनीति का विकल्प नहीं माना जा सकता।

सोवियत कूटनीति के कुछ रूप
(Some Styles of Soviet Diplomacy)

सोवियत संघ द्वारा अपने अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जिस कूटनीति का प्रयोग किया गया है वह अनेक दृष्टियों से पश्चिमी राष्ट्रों से भिन्नता रखती है। बोल्शविक क्रांति के बाद से ही सोवियत संघ विश्व की सरकारों को ध्वस्त करने में उस समय आगा पीछा नहीं देखता जबकि ऐसा करने से उसके हितों की साधना होती हो। सन् १९४५ में पोलैंड, सन् १९४८ में चेकोस्लोवाकिया और सन् १९५६ में हंगरी में किए गए उसके प्रयास इस बात के उदाहरण हैं। सोवियत संघ ने पश्चिमी शक्तियों के प्रति एक अस्पष्ट रण नीति को अपनाया है ताकि इन राष्ट्रों की प्रतिक्रिया अनुकूल न हो सके। सोवियत संघ द्वारा अपनाई गई सरकारों को उखाड़ने की नीति *(Policy of Subversion)* का संयुक्त राज्य अमरीका ने कई प्रयासों से जवाब दिया है। मार्शल योजना एवं नाटो का संगठन आदि प्रयास उसकी प्रतिक्रिया के उदाहरण हैं। बर्लिन के प्रति भी सोवियत संघ की कूटनीति पर्याप्त अस्पष्ट थी। उसने कई बार बर्लिन के घेरे की तथा दीवार की रचना की धमकी दी और जब भी कभी शक्ति प्रदर्शन का अवसर आया वह पीछे हट गया।

सोवियत कूटनीति की एक अन्य विशेषता यह है कि वह सन्धिया एवं समझौते करते समय शब्दों व परम्परागत अर्थों-पर विवाद करता है और इस प्रकार संघर्ष को लम्बा बना देता है। याल्टा समझौते पर जो मतभेद रहा, उसका मूल कारण बहुत कुछ यह था कि सोवियत संघ फासिस्ट एवं डेमोक्रेटिक *(Fascist and Democratic)* शब्दों के प्रयोग पर मतभेद रखता था। सोवियत संघ ने अपनी विचारधारा को एक रूप रखते हुए गैर-साम्यवादी सरकारों को फासीवादी कहा और उनको हटाकर साम्यवादी सरकार की स्थापना के कार्य को न्यायोचित ठहराया। सोवियत संघ के मतानुसार साम्यवादी सरकारें ही प्रजातन्त्रात्मक थी। याल्टा समझौता इन पदों का निश्चित अर्थ नहीं बता पाया इसलिए सोवियत संघ के तर्कों पर विचार किया जाना मुश्किल हो गया।

सोवियत कूटनीति के ढंग की एक अन्य विशेषता यह है कि वह अपने विरोधी को बदनाम करने की खातिर तर्कों को बहुत दूर तक ले जाती है। सोवियत संघ की ओर से समझौता वार्ता करने वाले लोग अपनी स्थिति में उस समय तक परिवर्तन नहीं कर सकते जब तक कि पालिट ब्यूरो की एमी

स्थिति का ज्ञान न करा दें अथवा नए निर्देशन न प्राप्त कर लें। विदेश मन्त्री मालोटोव सोवियत कूटनीति की नोकझोंकता का एक प्रतीक माना जाता है। कुछ समय से सोवियत कूटनीति ने अपने कठोर दृष्टिकोण को कम कर दिया है।

निन्दा करना एवं झूठे आरोप लगाना सोवियत कूटनीति का एक दूसरा तरीका है। इस प्रक्रिया से एक बार अमरीकी राज्य सचिव जार्ज सी० मार्शल (George C Marshall) इतने नाराज हो गए कि वह स्वतियों से युक्त एक सम्मेलन से उठ कर चले गए और फिर कभी वापस नहीं गए। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी सोवियत कूटनीतिज्ञों ने अनेक बार परम्परागत कूटनीति सदाचार की अवहेलना की है, जैसे एक बार गुस्सेव ने अपने जूते द्वारा मेज को बजाया।

सन् १९६० के मध्य तक सोवियत कूटनीति ने जो दृष्टिकोण अपनाया वह अन्तर-राज्य व्यवस्था के प्रति सामान्यतः विरोधपूर्ण एवं विदेशियों के प्रति सन्देहपूर्ण था। फिर भी सन् १९६६ के प्रारम्भ में सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन ने कुशलता एवं धैर्य के साथ अपने पद का सदुपयोग करते हुए भारत और पाकिस्तान के बीच समझौता कराने का प्रयास किया। उस समय सोवियत संघ एक महा शक्ति के रूप में कार्य करते हुए शान्ति स्थापना के अपने उत्तरदायित्व को समझ रहा था।

सोवियत संघ पहले जिन परम्परागत कूटनीतिक तरीकों को पूँजीवादी कह कर ठुकराता था आज वह उनको स्वीकार करने लगा है तथा आदर देने लगा है। यह बात सन् १९६६ के एक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत की जा सकती है। इस वर्ष साम्यवादी चीन में पीकिंग स्थित सोवियत दूतावास के सामने सङ्गठित रूप से प्रदर्शन किया गया। सर्वहारा वर्ग की सांस्कृतिक क्रान्ति के अधीन चीन के वयस्कों ने सोवियत तरीकों के प्रति विरोध प्रकट किया। मास्को ने इसके प्रति चीन की सरकार से विरुद्ध कड़ा विरोध प्रकट किया और कहा कि सोवियत दूतावास के सामने की जाने वाली नारेबाजी और दंगे अनुचित थे। इसके अतिरिक्त सोवियत झंडे से युक्त एक कार को रोका जाना भी गलत था क्योंकि उसमें सरकारी कार्यवश चार्ज डी अफेयर्स यात्रा कर रहा था। इस समय पश्चिमी कूटनीति की भाषा को अपनाते हुए सोवियत संघ ने चीन को परामर्श दिया कि इस प्रकार के कार्य अन्तर्राष्ट्रीय नियम के सामान्य रूप से स्वीकृत मापदण्ड के प्रत्यक्ष उल्लंघन हैं। राज्यों को कूटनीतिक दूतावास के अधिकारियों के प्रति उपयुक्त सम्मान प्रदर्शित करना होता है तथा उनकी

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सम्मान के विरुद्ध किए जाने वाले प्रत्येक कार्य को रोकना होता है।

मित्रतापूर्ण समझौता-वार्ता करने के लिए तथा समझौता-वार्ता से न सुलझने वाले विषयों को निकालने के लिए यह तरीका भी अपनाया जा सकता है कि समझौता-वार्ता करने वाले को समाप्त कर दिया जाए अथवा सरकार को समाप्त कर दिया जाए अथवा उसके प्रभावशील तत्वों को मिटा दिया जाए। हत्या और षड्यन्त्र को वस्तुतः कूटनीति के परम्परागत तरीके नहीं हैं किन्तु फिर भी इनका प्रयोग किया जाता है। हत्या द्वारा कूटनीति (Diplomacy by Assassination) का प्रचलन पुनर्जागृति काल में इटली के राज्यों के बीच था और आज भी इसका पूर्णतः अभाव नहीं है। वैसे विदेशी प्रभाव द्वारा की गई हत्या को स्पष्टतः कम ही सिद्ध किया जा सकता है। फिर भी ऐसे दोषारोपणों के उदाहरण अनेक प्राप्त हो जाते हैं। कई बार अरब राज्यों द्वारा मिस्र पर ये आरोप लगाए गए कि उसने हत्या की कार्यवाहियों का समर्थन किया है। सन् १९५० में कुछ लैटिन अमरीकी राज्यों के अध्यक्षों ने ऐसा ही दोष ट्रूजीलो (Trujillo) के विरुद्ध भी लगाया जो डोमीनिकन गणराज्य का तानाशाह था और जिसकी बाद में हत्या कर दी गई। हत्या के साधन को वियतनाम द्वारा बहुत प्रयुक्त किया गया है किन्तु उन्होंने इसे सरकार के उच्च स्तर पर प्रयुक्त करने की अपेक्षा ग्रामीण अधिकारियों के स्तर पर ही प्रयुक्त किया है। इन्डोनेशिया में सन् १९६५ में साम्यवादी षड्यन्त्र इसलिए सफल नहीं हो पाया क्योंकि जिन सैनिक नेताओं की हत्या की योजना बनाई गई थी वह न की जा सकी।

सरकार को बदल देना साम्यवादी नीति का एक आम साधन रहा है। साम्यवादी देश यह दावा करते हैं कि गैर साम्यवादी सरकारों को शक्तिहीन बना देना अथवा समाप्त कर देना उनके स्वयं के हित में है और न्यायोचित भी है। ऐसा करके वे अपने एजेन्टों को सरकार की शक्ति सौंप देते हैं और अपने तरीके से समाज का रूप बना लेते हैं। साम्यवादी देश आन्तरिक उपद्रव कराने में, गृह युद्ध छेड़ने में तथा राजनैतिक षड्यन्त्र रचने में नहीं हिचकिचाते।

साम्यवादी देश समझौता-वार्ता की पृष्ठभूमि में शक्ति की धमकी को रखते हैं। उनकी कूटनीति के पीछे सैनिक शक्ति हमेशा उपस्थित रहती है और राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिए तथा सीमित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जब भी कभी जरूरत समझी जाए, इसे प्रयुक्त किया जाता है। साम्यवादी राज्य जिस प्रकार की सुरक्षा या सन्तोष चाहते हैं यदि वह प्रदान न किया

जाए तो वे सशस्त्र सेना का प्रयोग करने पर उतारू हो जाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में चीन और जापान को व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए उनकी भूमि खोलने को बाध्य करने के हेतु शक्ति प्रदर्शन का मार्ग अपनाया गया। इसके बाद चीन में नौ-सेना कूटनीति का तरीका विदेशियों के लिए विशेषाधिकार प्राप्त करने का एक लोकप्रिय ढंग बन गया। बीसवीं शताब्दी में भी इसका पर्याप्त प्रयोग किया जाता है। सन् १९५६ में लाल सेना को हंगरी भेजा गया था ताकि सोवियत संघ के सम्बन्धों को चुनौती देने वाले का जवाब दिया जा सके। वर्तमान अरब इजरायल संघर्ष में सशस्त्र सोवियत संघ के जो युद्धपोत पोर्ट सईद के बन्दरगाह पर रखे गये हैं वे इसी बात के प्रतीक हैं कि अरब राष्ट्रों की शक्ति के साथ वे भी शामिल हैं तथा या तो सोवियत संघ के सुझावों को मान्यता दी जाय नहीं तो ये युद्धपोत किसी भी समय विपक्ष के विरुद्ध सक्रिय हो सकते हैं।

सफल कूटनीति के प्रतीक
(The Symbols of Successful Diplomacy)

वर्तमान समय में कूटनीति अधिक से अधिक जटिल होती जा रही है क्योंकि प्रायः प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोगी बनना चाहता है। कूटनीति की सफलता के लिए यह जरूरी है कि उपयुक्त नीति अपनाई जाय तथा उसे प्राप्त करने के लिए प्रभावशील साधन अपनाया जाय। एक कूटनीतिक कार्य के लिए एक ही साथ अनेक देशों की राजधानियों तथा सम्बद्ध राष्ट्र संघ में काम किया जाना जरूरी है। प्रभावशाली कूटनीति में समय एकरूपता रखती है। इसमें यह ध्यान रखा जाता है कि एक कार्य द्वारा दूसरे कार्य का समापन न कर दिया जाये अथवा दो कार्यों के बीच विरोध पैदा न हो जाय। उचित स्थान पर उचित कदम उठाने के लिए पहले से ही समय निश्चित कर लेना उचित रहेगा। कार्य की सम्पन्नता के लिए विशेष कुशलता जरूरी है और कभी-कभी तो सामूहिक सशस्त्र सेना का प्रयोग भी जरूरी बन जाता है। आधुनिक कूटनीतिज्ञ के कार्यों की पूर्ती सम्मेलनों में बातचीत से भी हो सकती है। कूटनीतिज्ञ का यह एक प्रमुख कार्य होता है कि वह मैत्रीपूर्ण तथा पारस्परिक लाभदायक सम्बन्धों की स्थापना करे और इस कार्य की अवहेलना कोई भी कूटनीतिज्ञ नहीं कर सकता।

कूटनीतिज्ञ द्वारा जो भी समझौते किये जायें उनके अनुसार उचित कार्यवाही की जानी चाहिए नहीं तो वह प्रभावशील नहीं हो पायेगा। समझौते को क्रियान्विति में हम सन्धियों की स्वीकृति, समझौतों की मान्यता, तथा

कार्यक्रम की क्रियान्विति को ले सकते हैं। इसके अतिरिक्त कूटनीति की सफलता के लिए जहा भी जरूरी हो वहा तकनीकी तथा आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाना चाहिए। जहा कही उपयोगी समझा जाये वहा प्रचार यन्त्र को सक्रिय करना चाहिए तथा नीति के कूटनीतिक साधन के समर्थन के लिए सैनिक शक्ति रखनी चाहिए। इन सभी दृष्टियो से कार्यक्रम कूटनीतिज्ञ के शब्दों को जान देता है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था मे जनमत को भी सरकारी नीति का समर्थक बनाना चाहिए।

तकनीकी तथा कार्यक्रमो को बदली हुई परिस्थितियों के साथ समायोजित करने की योग्यता को भी सफल कूटनीति का एक चिह्न माना जाता है। विश्व के एक भाग मे यदि विदेश सहायता का कार्यक्रम सक्रिय है तो इसका अर्थ यह नही होता कि विश्व के अन्य भागों में इससे यह नीति अपने लक्ष्य प्राप्त कर सकेगी। युद्धोत्तर योरोप के लिए मार्शल योजना उपयुक्त थी किन्तु एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमरीका के देशों को अन्य प्रकार का सहयोग चाहिए। योरोप मे नाटो के अधीन एक सगठित सेना का होना ठीक था किन्तु सीएटो मे यह प्रक्रिया सम्भव नही थी। प्रभावशाली राजनीतिज्ञता वह होती है जो स्थिति व स्थान के अनुसार तकनीकों के चयन मे पर्याप्त सावधानी बरतती है।

इन सब बातो के अतिरिक्त एक सफल कूटनीति के लिए राजनीतिज्ञो को भी कुछ गुण विकसित करने होते हैं। जब वह दूसरो से बातें करे तो इस रूप मे करे कि जैसे वही अन्तिम शब्द कह रहा है। उसे अपने हित की साधना धीरज, प्रेम, एव शान्ति के साथ करनी चाहिए तथा उसमे अपनी सफलता के प्रति विश्वास होना चाहिए। उसमे यह जानने की क्षमता हो कि वह सौदेबाजी की सीमा को जान सके तथा अपनी कमजोरी को शक्ति मे बदल सके। वह अनिश्चय एव सघर्ष की दुनिया में रहता हुआ भी धीरजयुक्त होना चाहिए। उसे यह मान कर चलना चाहिए कि ये तो विश्व राजनीति की सर्वकालीन विशेषतायें हैं। उसे यह भी जानना चाहिए कि कब अन्य राज्यो को अपनी सन्धियो तथा नीति के समर्थन मे खडा करे।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसी क्रिया और प्रतिक्रिया की धारा होते हैं जिसमे समस्यायें उठती हैं, समायोजित होती हैं, सुलझती हैं और उसके बाद नवीन उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ ही समस्यायें ऐसी होती हैं जो पूरी तरह से सुरझा ली जायें। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सचालन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि कूटनीति अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र बिन्दु है

किन्तु फिर भी इसकी सफलता अन्य अनेक तत्वों पर निर्भर करती है जैसे आर्थिक, राजनैतिक एवं सैनिक शक्ति तथा इन शक्तियों का उचित रूप से उपयोग करने की राजनीतिज्ञों की योग्यता एवं क्षमता आदि। लेसर पीयरसन (Lester Pearson) ने उचित ही कहा है कि शक्ति कुशल कूटनीतिक क्रिया के बिना आपको सीधे पत्थर की दीवाल से टकरा सकती है। किन्तु यदि कूटनीति के पीछे शक्ति नहीं है तो यह एक उद्देश्यहीन कसरत मात्र बन जायेगी।

प्रचार एवं राजनैतिक युद्ध
(Propaganda and Political War-fare)

राष्ट्रीय हित के साधन के रूप में प्रचार एक बहुत ही प्रभावशाली शस्त्र है। इसका दो रूपों में महत्व है। प्रथम तो यह कि प्रचार द्वारा राष्ट्रीय हित के अन्य साधन जैसे कूटनीति, आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद, युद्ध आदि को अधिक सफलतापूर्वक तथा अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्रयुक्त किया जा सकता है। दूसरे, प्रचार स्वयं में भी इतना सक्रिय तथा मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाला है कि बिना इसके शक्तिशाली रूप के कोई भी देश आगे नहीं बढ़ सकता, वह विश्व समाज में एक उच्च स्तर प्राप्त नहीं कर सकता। आज के प्रजातन्त्र के युग ने भी प्रचार के महत्व को कई गुना कर दिया है क्योंकि वर्तमान युग में अपनी नीतियों के प्रति दूसरे देशों की सक्रिय, सद्भावना प्राप्त करने के लिए यही पर्याप्त नहीं है कि आप उस देश के शासन के कुछ व्यक्तियों को प्रसन्न करके अपनी ओर कर लें वरन् आज तो प्रचार के समस्त साधनों द्वारा उस देश की जनता को प्रभावित किया जाता है। अपने देश की नीतियों के पक्ष में वहां जनमत तैयार किया जाता है तब कहीं जाकर उस देश की सरकार को अपने पक्ष में लिया जा सकता है। साम्यवादी देशों द्वारा प्रचार के साधन का उपयोग पूरी शक्ति द्वारा किया जाता है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि वर्तमान व्यवस्था को परिवर्तित करके एक नयी व्यवस्था कायम करने वाले देशों को प्रचार के हथियार की अधिक आवश्यकता पड़ती है। कारण यह है कि उनका कार्य वस्तुस्थिति को बनाये रखने वालों की अपेक्षा दूना है। एक ओर तो उन्हें यह सिद्ध करना पड़ता है कि वर्तमान स्थिति की क्या बुराइयां हैं तथा इसे किस प्रकार बदला जा सकता है और दूसरी ओर उन्हें अपनी आदर्श योजना का चित्र भी खींचना होता है। इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए साम्यवादी देश प्रचार के प्रभावशाली यन्त्रों का प्रयोग करते हैं।

प्रचार के प्रभावशाली यन्त्र कोई सुनिश्चित नहीं होते वरन् समय की आवश्यकता एवं नवीन आविष्कारों के प्रवाह में उनका प्रभाव एवं महत्व घटता-बढ़ता रहता है। आज के युग में छापाखाना, रेडियो, टेलीफोन, टेलीविजन, सस्ती पत्रिकायें, अखबार, चलचित्र आदि साधनों को प्रचार के काम में लाया जाता है। साम्यवादी देशों को अपने प्रचार में बड़ी सुविधा रहती है जो एक आत्मप्रसारी को रहती है। वे प्रचार द्वारा स्थित व्यवस्था की कड़ी से कड़ी आलोचना कर सकते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से उनके प्रचार का प्रभाव विश्व के छोटे देशों पर अधिक होता है जो शक्तिहीन तथा कमजोर हैं तथा साम्यवाद का तात्कालिक आर्थिक उनको बड़ा लुभावना प्रतीत होता है। दूसरी ओर पश्चिमी प्रजातन्त्रों के पास ऐसा कोई प्रभावोत्पादक आर्थिक नहीं है और उनका साम्राज्यवादी इतिहास भी विश्व के देशों से छिपा नहीं है। इस प्रकार पश्चिमी प्रजातन्त्रों के प्रचार का प्रभाव इतना अधिक नहीं होता। दूसरी ओर साम्यवादी देशों की अपेक्षा इन देशों को प्रचार की इतनी आवश्यकता भी नहीं रहती इनके प्रचार का केवल एक ही लक्ष्य होता है और वह है साम्यवाद के प्रचार को रोकना। अपने प्रचार के यन्त्रों का प्रयोग वे केवल असाम्यवादी देशों में ही कर सकते हैं क्योंकि साम्यवादी व्यवस्था में लोहे का पर्दा किसी भी साम्यवाद विरोधी विचार एवं प्रक्रिया को आने से रोकता है। ऐसी समस्या साम्यवादी देशों के प्रचार मार्ग में नहीं आती।

आज की परिस्थितियों में विश्व का कोई भी देश प्रचार की अवहेलना नहीं कर सकता। एक देश चाहे अथवा न चाहे प्रचार का मार्ग उसको अपनाना पड़ेगा, नहीं तो शक्ति के संघर्ष में वह देश पिछड़ जायगा, हो सकता है कि उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाय।

प्रचार का अर्थ एवं परिभाषा

(The meaning and definition of Propaganda)

प्रचार की आवश्यकता देश में राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए तथा विदेशों में अपनी नीतियों पर समर्थन प्राप्त करने के लिए आज इतनी बढ़ चुकी है तथा व्यक्तिगत, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में प्रचार इतना सार्वप्रिय हो चुका है कि इसका अर्थ एवं परिभाषा देने का कोई महत्व नहीं रह जाता। "२०वीं शताब्दी में राष्ट्रीय नीतियों का यह प्रमुख अस्त्र बन गया है।" इसके रूप से सम्बन्धित विभिन्न विचारकों के कथनों को देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचार (Propaganda) से

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभाव डालने वाला प्रचार केवल एक देश की सरकार द्वारा ही किया जाता हो ऐसी बात नहीं है। गैर सरकारी स्रोतों से भी प्रचार के इस रूप का पोषण हो सकता है। अनेक व्यक्ति, व्यापारिक हित, विशेष उद्देश्यों को लेकर बनाये गये असंख्य संगठन इस प्रचार के कार्य में सक्रिय सहयोग दे सकते हैं। विभिन्न राजनैतिक दल दूसरे देशों में प्रचार द्वारा अपने राष्ट्र के हित के लिए समर्थन प्राप्त करते हैं। समय के अनुसार प्रचार के नये-नये साधनों का विकास होता रहता है।

प्रचार के उद्देश्यों पर यदि हम विचार करें तो पायेंगे कि मूल रूप में सभी प्रचार सम्बन्धी कृत्य राष्ट्रीय हित को ध्यान में रख कर ही क्रियान्वित किये जाते हैं। ऐसा अनेक रूपों में हो सकता है। उदाहरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय समझौते जिस समय होते हैं उनको अपने हित में मोड़ने के लिए एक देश प्रचार का सहारा ले सकता है। दूसरे, किसी समस्या या विशेष प्रश्न पर विचार करने के लिए कोई सम्मेलन बुलाने के उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए भी प्रचार का सहारा ले सकता है। तीसरे, प्रचार के द्वारा विचारधारा का प्रसार भी किया जाता है। एक देश के राजनीतिज्ञ सदैव इस बात में प्रयत्नशील रहते हैं कि जिस विचारधारा पर उनका देश आरूढ़ है उसी को दूसरे देश भी मानें, क्योंकि मैत्री एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का दृढ़ आधार विचारों की एकता होती है। चौथे, प्रचार का सहारा अपनी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों पर समर्थन प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है। प्रचार का महत्व युद्ध से पूर्व एवं युद्ध के दौरान बहुत बढ़ जाता है। शान्तिकाल की भांति संकटकाल एवं युद्धकाल में भी प्रचार द्वारा विभिन्न तरीके अपना कर राष्ट्रीय हित की साधना की जाती है। कूटनीति और युद्ध के बीच में जो संघर्षपूर्ण स्थिति रहती है उसमें दो देशों के बीच बड़े कटुतापूर्ण सम्बन्ध रहते हैं। दोनों पक्षों की ओर से एक दूसरे पर विषवमन किया जाता है। दूसरे को गलत ठहरा कर अपनी नीति का औचित्य प्रस्तुत किया जाता है। इस स्थिति को राजनैतिक युद्ध की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक राज्य के सामने ऐसे अवसर आते हैं जबकि वह दूसरे राज्यों पर प्रभाव डाल सके। यह प्रभाव अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। इन अवसरों पर प्रचार का सहारा लिया जाता है। प्रचार द्वारा कभी कभी राजनैतिक युद्ध (Political warfare) की सी स्थिति पैदा कर दी जाती है किन्तु, जैसा कि पामर तथा परकिन्स का कहना है, इन दोनों के बीच अभिन्नता का सम्बन्ध नहीं है। प्रचार का प्रयोग करने पर आवश्यक नहीं कि राजनैतिक युद्ध (Political warfare) की सी स्थिति पैदा हो जाय तथा राजनैतिक युद्ध भी

प्रचार का रूप ले और नहीं भी लें, दोनों ही बातें सम्भव हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का इतिहास हमें बतलाता है कि प्रचार के माध्यम से युद्ध के परिणामों को भी बदला जा सकता है।

प्रचार के तरीके
(Techniques and methods of propaganda)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी प्रचार के ये ही तरीके हैं जो व्यापार में विज्ञापन करते समय अपनाये जाते हैं। विज्ञापनबाजी में लोगों की रुचि का तथा मांग का भारी ख्याल रखना पड़ता है। लोगों के मनोविज्ञान का काफी ध्यान रखा जाता है। प्रचार की विधि अपनाते समय यह सदैव मस्तिष्क में रहता है कि लोगों की इच्छायें, भय तथा कमजोरियां क्या होती हैं। इन सब के अनुकूल ही फिर नीति तैयार की जाती है। प्रचार करने की विधियां अथवा तरीके अनेक होते हैं। हार्टर तथा सूलीवान (Harter and Sullivan) महोदय ने प्रचार के तरीकों की संख्या बारह बताई है। इन सभी तरीकों को पामर तथा परकिन्स ने चार शीर्षकों में विभाजित किया है। उनके मतानुसार प्रचार की विधियां निम्न प्रकार हैं—

१ प्रस्तुत करने की विधि (Method of Presentation)

२ ध्यान ग्रहण करने की युक्ति (Techniques for gaining attention)

३. उत्तर प्राप्त करने की युक्ति (Devices for gaining response)

४. स्वीकृति पाने के साधन (Methods of gaining acceptance)

उक्त चारों विधियों को अपना कर एक देश द्वारा प्रचार की मशीन का उपयोग किया जाता है।

प्रस्तुत करने की विधि

पहली विधि के अनुसार प्रचारकर्ता देश एक समस्या को प्रस्तुत करते समय उसका पूरा विवरण नहीं देता, वह केवल उसी पक्ष का दिग्दर्शन करता है जो उसके हित में होता है। उदाहरण के लिए भारत पाक संघर्ष के समय किये जाने वाले पाकिस्तानी प्रचार को लिया जा सकता है। काश्मीर समस्या के बारे में पाकिस्तानी अखबार तथा अन्य अधिकारी सूत्रों से बराबर यही प्रचार किया जाता रहा कि काश्मीर पाकिस्तान का अङ्ग है क्योंकि वहां

की जनता मुसलमान है और वहाँ के जनमत की माँग है कि कश्मीर पाकिस्तान का हिस्सा होना चाहिए, काश्मीर समस्या पर युद्ध छेड़ने का उत्तरदायित्व भारत का है न कि पाकिस्तान का आदि-आदि। इन कथनों के प्रमाणस्वरूप बहुत सी ऐसी घटना एवं निर्णयों का हवाला दिया जाता है जो यदि सही रूप में रखी जायें तो पाकिस्तान के दावे के विपरीत जायें किन्तु उनको तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है। ठीक उस वकील की तरह से जो अपने पक्ष के समर्थन के लिये किसी तथ्य के पूर्ण रूप को देखने की अपेक्षा उसके एक भाग को ही देखता है। कहा जाता है कि अब्राहम लिंकन जिन दिनों वकालत करते थे एक न्यायाधीश ने उनके तर्कों पर एतराज किया और कहा 'मि० लिंकन इस समय आप जो तर्क दे रहे हैं वे आपके द्वारा ही एक दूसरे केस में रख दिये हुए तर्कों के विपरीत हैं।" इस पर लिंकन का उत्तर था 'माई लार्ड, हो सकता है कि मैंने कल जो तर्क दिये थे वो गलत हो किन्तु मेरे ये तर्क पूर्णतः सत्य हैं।" प्रत्येक प्रचारक अब्राहम लिंकन के इस उत्तर को ध्यान में रख कर ही अपना कार्य करता है। वह उन सभी तथ्यों को छिपा लेता है जो उसके मामले के विपरीत जाते हों। काश्मीर को पाकिस्तान जिन कारणों से हथियाना चाहता है उनको न बता कर वह केवल भ्रम का ही आश्रय लेता है।

आंशिक सत्य से पूर्ण प्रचार द्वारा जर्मनी में बिस्मार्क तथा हिटलर ने कई बार अपने उद्देश्यों को बड़ी सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया था। इस प्रकार प्रचार के भी कई रूप हो सकते हैं, उदाहरण के लिए—

१. भूतकाल के किसी तथ्य को, जो अन्य किसी भी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है, आप इस तरह से तोड़-मरोड़ सकते हैं कि वर्तमान समय में आपके हितों के अनुसार परिणाम उससे प्राप्त किया जा सके।

२. प्रचार में ऐसी घटनाओं एवं प्रमाणों का अपने पक्ष समर्थन के लिए उपयोग किया जा सकता है जिसका उद्देश्य कुछ और ही होता है किन्तु आप उससे अपना उल्लू सीधा कर लेता है। उदाहरण के लिए हिटलर यहूदियों के विरुद्ध जर्मनों में रोष भड़काना चाहता था। उसने अनेकों कहानियाँ तथा पुस्तकें प्रस्तुत कीं और उनके आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि यहूदी लोग पूरे विश्व पर राज्य करने की योजना बना रहे हैं। इस प्रचार का तत्काल परिणाम हुआ। यहूदियों के प्रति जर्मनों में रोष की अग्नि भड़क उठी।

३ प्रचार करते समय झूठ और धोखे का मार्ग अपनाना केवल तानाशाही अथवा अधिनायकवादी राज्यों का एकाधिकार नहीं है, वरन् दूसरे प्रजातन्त्र कहे जाने वाले राष्ट्रों द्वारा भी प्रयोग में लाया जा सकता है। किन्तु दोनों व्यवस्थाओं द्वारा किया जाने वाला ऐसा प्रचार एक ही कोटि का नहीं कहा जा सकता। इन दोनों के बीच उद्देश्य का अन्तर रहता है। प्रजातन्त्रात्मक देशों का ऐसा प्रचार तानाशाही देशों की तुलना में अच्छे उद्देश्यों के लिए किया जायगा, ऐसी आशा की जाती है। वैसे अपवाद तो प्रत्येक मार्ग में मिल ही जाते हैं। इस प्रकार के प्रचार को अनैतिक या बुरा भी नहीं कहा जा सकता। महाभारत युद्ध के समय धर्मराज द्वारा भी अश्वत्थामा के मरने के समाचार का असत्य प्रचार किया गया था जिसको उद्देश्य की प्राप्ति में ठीक माना गया और नारायण का समर्थन प्राप्त हुआ।

४ घटनाओं के गलत रूप को भी प्रचार का विषय बनाया जा सकता है और यह भी सम्भव है कि ऐसा प्रचार काफी प्रभावकारी सिद्ध हो। वर्तमान संकट के समय में प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी एवं अन्य नेताओं द्वारा भारतीयों को चीन और पाकिस्तान के विरुद्ध सावधान रहने की चेतावनी दी जाती है। समाचारपत्रों में यह बार-बार दुहराया जाता है कि संकट अभी टला नहीं है, विद्वानों के अनुसार हमारा यह युद्ध एक लम्बे समय तक चल सकता है। यह प्रचार सत्य है और भारतीयों के रक्त की गर्मी को बनाये रखने में सहायक होता है। वे उन सभी कष्टों और कमियों को सहन करने के लिए तत्पर हैं जो इस संकट से उत्पन्न हैं।

५ साथ झूठी और मनगढ़न्त घटनाओं को युद्ध का कारण बना दिया जाता है। भारत चीन युद्ध के दौरान आक्रमणकारी चीन ने भारत पर नये पुराने कई महत्त्वहीन और बड़े आरोप लगाये और पूरा वातावरण बनाने का प्रयत्न किया कि वह जब चाहे तब भारत पर हमला कर सके। हमला करने का विचार तो उसने पहले बनाया और बाद में इन कपोलकल्पित घटनाओं को अपने इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए प्रचार का विषय बना लिया।

ध्यान ग्रहण करने की युक्ति

दूसरी विधि—यह विचार की प्रक्रिया की अगली सीढ़ी है। जब प्रचारक के मस्तिष्क में एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित हो जाता है तो उसे प्राप्त करने के लिए वह विभिन्न साधन अपनाना प्रारम्भ करता है ताकि दूसरे दलों का ध्यान भी उसकी ओर आकर्षित किया जा सके। अपने प्रचा-

रिक हितों पर दूसरे देशों का ध्यान आकर्षित करने के लिए एक देश द्वारा जो साधन अपनाये जाते हैं वे मुख्यतः निम्न प्रकार है—

(१) सरकारी प्रयत्न (Official devices)—दूसरे देश की सरकार के लिए समय-समय पर नोटस् (Notes) भेजे जाते हैं, विरोध प्रकट किया जाता है व राजनीतिज्ञों एवं नेताओं द्वारा दिये गये भाषण भेजे जाते हैं। भारत-चीन संघर्ष एवं भारत-पाक युद्ध के दौरान विरोध-पत्रों का आदान-प्रदान एक सामान्य बात बन गई थी।

(२) शक्ति का प्रदर्शन (Power demonstration)—अपनी मांगों तथा हितों की ओर दूसरे देशों का ध्यान आकर्षित करने का एक दूसरा तरीका यह भी है कि एक देश अपनी शक्ति बढ़ा ले तथा उसका प्रदर्शन करता फिरे, जल, थल, नभ सेना की पूरी तैयारी करने पर एक देश की ओर विश्व सशंकित दृष्टि से देखने लगेगा। प्रचार के इसी तरीके को अपना कर साम्यवादी चीन ने अक्टूबर १९६४ में अणुबम का विस्फोट किया ताकि सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका का नेतृत्व कर वह विश्व की महान् शक्तियों में स्थान पा सके।

(३) सांस्कृतिक कार्यक्रम (Cultural programme)—सांस्कृतिक कार्यक्रमों द्वारा एक देश की जनता को अपने पक्ष में किया जा सकता है। विभिन्न देशों के दूतावासों के द्वारा यह प्रबन्ध किया जाता है कि विभिन्न तरीकों द्वारा उनके देश की संस्कृति, रहन सहन, साहित्य, परम्परायें आदि से विदेशों को परिचित कराया जावे।

(४) राजनैतिक दौरे (Political visits)—विदेशों से मित्रता बढ़ाने का एक सफल साधन, जो अब पर्याप्त लोकप्रिय बनता जा रहा है, सरकार के अध्यक्षों के दौरे हैं। एक देश का नेता जब दूसरे देश में सद्भावना यात्रा के लिए जाता है तो उस देश की जनता और नेता दोनों के ऊपर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ता है। भारत को पाकिस्तानी आक्रमण के समय मित्रों की आवश्यकता पड़ी। जिनसे उसे आशायें थी वे पूर्ण न हो सकी। विदेश नीति पर पुनर्विचार के लिए दबाव डाला जाने लगा। इस सारा परिणाम यह हुआ कि नेताओं एवं राजनीतिज्ञों की विदेश यात्राओं की संख्या कई गुनी हो गई। २१ दिन तक नेपाल के महाराज सपरिवार भारत में रहेंगे, पूरे भारत का भ्रमण करेंगे तो यह स्वाभाविक हो जाता है कि भारत-नेपाल मैत्री दृढ़ हो जायगी। इसके अतिरिक्त विदेश मंत्री स्वर्ण-सिंह, प्रधानमंत्री श्री शास्त्री, राष्ट्रपति राधाकृष्णन् आदि नेताओं की विदेश

(२) प्रतीकों का प्रचलन (Symbolic devices)—नारों की भांति प्रतीक भी मनुष्य की भावनाओं को प्रभावित करने में बहुत सफल रहते हैं। प्रत्येक देश द्वारा चित्र, जानवर, संकेत, राष्ट्रगीत, झंडा एवं अनेक प्रकार के प्रतीकों का उपयोग देशवासियों में भावनात्मक एकता लाने एवं राष्ट्रीय नीतियों का समर्थन कराने के लिए किया जाता है। वर्तमान काल में प्रतीक के रूप में स्वस्तिक का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जर्मनी में हिटलर ने इसे नाजी पार्टी का चिन्ह बना दिया। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार स्वस्तिक का स्वाभाविक अर्थ (Intrinsic meaning) न तो नाजी पार्टी के लिए ही कुछ था और न उन दूसरे देशों के लिए ही जिन्होंने इसे बाद में अपनाया। इसे अपनाने का कारण केवल इसकी सरलता थी। साधारण एवं सरल होने के कारण इसे कहीं भी चित्रित किया जा सकता था। इस कथन में आंशिक सत्य है। पहली बात तो यह है कि इससे भी सरल 'क्रास' जब मौजूद था तो 'स्वस्तिक' को क्यों अपनाया गया जो अपेक्षाकृत टेढ़ा है। दूसरे स्वस्तिक का कोई आन्तरिक मूल्य (Intrinsic value) नहीं है। यह कथन भारतीय संस्कृति की अनभिज्ञता का द्योतक है। भारत में स्वस्तिक को एक अर्थ के साथ अपनाया गया था।

(३) विचारों का वैयक्तीकरण (Personification of ideas)—विचारों के साथ व्यक्ति को एकाकार कर दिया जाता है। एक व्यक्ति जब यह कहता है कि वह महात्मा गांधी का अनुयायी है तो तुरन्त ही हमारा मस्तिष्क यह स्वीकार कर लेता है कि उस व्यक्ति में शान्ति, अहिंसा और सत्य आदि गुणों के प्रति श्रद्धा है। असंलग्नता की विदेश नीति (Nonaligned foreign policy) का प्रसंग छिड़ते ही हमारे मानस-पटल पर स्वर्गीय पं० नेहरू का चित्र उभर आता है। व्यक्ति को प्रायः उस देश के साथ भी एकाकार कर दिया जाता है। महात्मा गांधी को राष्ट्रपिता मानने के पीछे यही भावना है।

(४) परिस्थिति और दृष्टिकोणों का उपयोग (Utilization of situations and attitudes)—जिस प्रकार एक कुशल कृषक वही होता है जो वातावरण, जलवायु और भूमि के अनुकूल ही बीज आरोपित करता है उसी प्रकार एक सफल प्रचारक वह माना जायेगा जो स्थित परिस्थितियों और दृष्टिकोणों का लाभ उठा कर उन्हें अपने हित में मोड़ ले और प्रचारित करे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद जर्मनी में सुरक्षा और आर्थिक संकट की जो स्थिति पैदा हुई उसके कारण वहां के लोग हिटलर की तानाशाही को स्वीकार करने के लिए राजी हो गए। साम्यवादी चीन ने भारत विरोधी

प्रचार करके पाकिस्तान की मैत्री प्राप्त कर ली। चीन-पाकिस्तान के इस गठबन्धन की जड़ें काश्मीर समस्या पर टिकी हुई हैं। इस प्रकार पामर तथा पार्किन्स के मत में "प्रत्येक प्रचारक स्थिर दृष्टिकोणों से लाभ उठाकर उन्हें ऐसी दिशा में मोड़ने का प्रयास करता है जिससे कि उसका हित साधन हो सके।"

स्वीकृति पाने के साधन

प्रचार प्रक्रिया की चौथी एवं अन्तिम सीढ़ी अपने प्रचारित तत्वों पर स्वीकृति प्राप्त करने की है। प्रचारक द्वारा ऐसे प्रयत्न किए जाते हैं जिनके द्वारा दूसरे देश उसकी नीतियों को स्वीकृति प्रदान करें। अपनी योजनाओं पर स्वीकृति प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रचार के विषय एवं वस्तु के बीच का भेद मिटा दिया जाये। आपका प्रचार तब तक महत्वहीन रहेगा जब तक कि उन लोगों के साथ आप एकाकार न हो जायें जिनमें प्रचार करना चाहते हों। इस तथ्य को महात्मा गांधी ने बड़ी अच्छी प्रकार समझा था। उन्होंने देखा कि कांग्रेस के कार्यकर्ताओं और जनता के बीच उतनी ही बड़ी खाई है जितनी कि एक भारतीय और अंग्रेज के बीच थी। फलतः उन्होंने अपने रहन-सहन के ढंग में सादगी बरती, खान-पान बदला, सारे ऊपरी आडम्बर जो आदमी-आदमी के बीच भेदभाव बढ़ा देते हैं, गांधीजी ने छोड़ दिये। यही कारण है कि वे जनता के एक सफल लोकप्रिय नेता बनने में सफल हो सके। भारतवासी उनकी बात पर जान देने को तैयार हो जाते थे।

प्रचार पर स्वीकृति प्राप्त करने का दूसरा तरीका है धर्म और जाति को प्रभावित करना। मनोवैज्ञानिक रूप से यह सच है कि यदि व्यक्ति आप में और अपने आप में समानता देखने लग जाये तो आपके लिए सब कुछ करने को तैयार हो जायेंगे। यह समानता धर्म और जाति के नाम पर भी स्थापित की जा सकती है। भारत पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान ने धर्म के नाम पर मुस्लिम देशों से सहायता प्राप्त करने की कोशिशें की थी। टर्की आदि देश उसके प्रचार के प्रभाव में आकर जिहाद का समर्थन करने को आगे आये भी थे। द्वितीय विश्व युद्ध के समय आर्य जाति के बड़प्पन का पाठ पढ़ा कर हिटलर ने जर्मनी को अपने प्रचार से वशीभूत कर लिया था।

प्रचार को प्रभावकारी बनाने के लिए एक तीसरा तरीका अपनाते समय धर्म की दुहाई दी जाती है। ईश्वर के नाम पर आज तक अनेक युद्ध लड़े गये हैं। भारत पर हमला करने वाले प्राचीन मुस्लिम आक्रमणों के पीछे धर्म

प्रचार की भावनाये थीं। मुस्लिम धर्म का प्रचार करते समय मोहम्मद साहब की आवाज पर प्रारम्भ मे किसी ने ध्यान न दिया किन्तु जब उन्होंने यह कहना शुरू किया कि वे ईश्वर के पैगम्बर हैं और जो कुछ भी वे कह रहे हैं वह ईश्वर का आदेश है तो लोगो ने उनका अनुगमन किया। ईश्वर की भांति *न्याय और इतिहास का सहारा लेकर भी प्रचार को प्रभावशाली बनाया* जाता है। इन तरीको से प्रचार सर्वमान्य बन जाता है।

ऊपर जो प्रचार की प्रक्रिया के विभिन्न स्तर वर्णित किये गये हैं उनके सम्बन्ध मे विधायी कदम लेने से प्रचार को सफल बनाया जा सकता है। किन्तु हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक प्रचार को उसके विरोधी प्रचार का भी सामना करना पड़ता है। विरोधी प्रचार भी एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे दूसरे का ध्यान आकर्षित करने, उत्तर प्राप्त करने एव उनकी स्वीकृति प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयास करेगा। प्रचार पर सरकार का नियन्त्रण रहता है, ऐसा किये बिना कोई भी शासन सफल रूप से कार्य नहीं कर सकता, किन्तु इस नियन्त्रण के रहते हुए भी एक देश की जनता बाकी विश्व के प्रचार के प्रभावो से पूर्णत. अछूती नही रह सकती।

प्रचार के क्षेत्र मे प्रतिद्वन्द्विता बहुत रहती है। इसलिए प्रचार-प्रक्रिया में एक तत्व यह भी मिलाना पड़ता है—कि विरोधी प्रचार का खण्डन किया जाय। विरोधी का खण्डन करते समय उसके विपरीत तरह-तरह के नारो का *निर्माण किया जाता है*। उदाहरण के लिये उन सभी कथनो को ले सकते हैं जो पश्चिमी प्रजातन्त्र साम्यवादी देशो के लिए तथा साम्यवादी देश पश्चिमी प्रजातन्त्रो के लिए प्रयुक्त करते हैं। पामर तथा परकिन्स के कथनानुसार "यह एक आवश्यक तथ्य है *कि प्राय प्रत्येक प्रचार* को प्रभावशीलता को रोकने के लिए उसका प्रतियोगी रहता है।"

विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ प्रचार के नये नये साधनो का प्रचलन होता जाता है। प्रचार की प्रक्रियायें एव विधियां भी समय और आवश्यकता के अनुसार बदलती रहती हैं। यह तथ्य प्रचार के इतिहास पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने से स्पष्ट हो सकता है। यहा हम वर्तमान विश्व की दो महान शक्तियों के प्रचार की पद्धतियो को इतिहास के सदर्भ मे देखने का प्रयास करेंगे।

प्रभावशाली प्रचार की आवश्यकतायें
(The Requisites for Effective Propaganda)

प्रभावशील प्रचार के लिए कई बातें जरूरी होती हैं जैसे उसकी सरलता, रुचि उपयुक्तता, आदि। प्रचारक को अपना विशेष उद्देश्य प्रभाव-

शील रूप से प्रचारित करने के लिए समाज शास्त्र, मनोविज्ञान एव सामूहिक विश्लेषण, आदि का सहारा लेना होता है। यह प्रभावशीलता इस बात पर भी निर्भर करती है कि विभिन्न माध्यमों द्वारा एक बात को कई बार दुहराया जाय ताकि श्रोतागण उसे भली प्रकार सुन सकें। श्रोताओं पर प्रभाव डालने के लिए प्रचारित विषय को देखने, सुनने और पढ़ने योग्य बनाया जाय। यह सब बातें एक प्रचार कार्य को प्रभावशील बना देती हैं।

प्रचार कार्य की वस्तुगतता (The Objectivity of Propaganda)- प्रचार करने का एक सरल तरीका यह है कि खबरों तथा सूचनाओं को यथासम्भव वस्तुगत तथा तथ्यगत रूप से प्रस्तुत किया जाय और श्रोता अथवा पाठक को स्वय ही अपने निर्णयों पर पहुचने के लिए अवसर प्रदान किया जाए। सीधी और बिना मिलावट की सूचना राजनैतिक दृष्टि से प्रभावशील होती है। इसका प्रभाव उस समय और भी अधिक होता है जबकि यह उन सर्वाधिकारी राज्यों पर प्रभाव डालती है जो सूचना को नियन्त्रित रखते हैं। वस्तुगत एव तथ्यगत सूचना का लाभ यह है कि श्रोता उसे यह जानने के लिए सुनना चाहते हैं कि उन्होंने जो भी खबरें ज्ञात की हैं उनमें सत्यता का कितना अश है। वैसे पूर्ण वस्तुगतता तो प्राय प्राप्त नहीं हो पाती। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बी बी सी. को वस्तुगतता के लिए पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो गई थी।

बड़ा झूठ और उसका दोहराव (Big Lie and its Repetition)—प्रचार कार्य को प्रभावशाली बनाने के लिए एक अन्य तकनीक यह है कि कोई बड़ा झूठ बोला जाय और उस झूठ को बार-बार दोहराया जाय। इस तकनीक को ऐडाल्फ हिटलर द्वारा पर्याप्त प्रयुक्त किया जाता था। हिटलर का विश्वास था कि यदि एक बहुत बड़ी झूठ को बार-बार दोहराया जाता है तो वह जनता का विश्वास प्राप्त कर लेती है। अधिकाश जनता में यह समझने की कल्पना नहीं होती कि बार बार दोहराए जाने वाले कथन पूर्णत सत्य नहीं होते हैं। इस तकनीक को प्रभावशील बनाने के लिए विभिन्न स्रोतों पर नियन्त्रण रखना जरूरी है ताकि परस्पर विरोधी बातें सामने न आयें। छोटे स्तर की झूठ कम लाभदायक होती है और इससे खबर देने वाले की विश्वसनीयता जाती रहती है।

सरलता (Simplicity)—जनता के मस्तिष्क पर सीधे सादे नारों का अधिक प्रभाव होता है। वह विभिन्न राजनैतिक एव आर्थिक विचारधाराओं के तुलनात्मक गुणों के सम्बन्ध में तर्क वितर्क सुनने की अपेक्षा सरल

नारे सुनना अधिक पसन्द करती है। जैसे—'सामान्य और पूर्ण नि शस्त्रीकरण' 'बम पर रोक लगाओ' तथा पुञ्जीवादी साम्राज्यवादी आदि। हंगरी के 'स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वालों की प्रशसा की गई।' इसी प्रकार आज के अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे स्वतन्त्र विश्व (Free world) और शीत युद्ध (Cold war) पर्याप्त सामान्य शब्द बन गए हैं।

रुचि एव आकर्षण (Interest and Attraction)—प्रचार उस समय तक प्रभावहीन रहता है जब तक कि वह सुनने वालो को रुचिकर न लगे। एशिया और अफ्रीका के जिन देशो का सम्बन्ध आर्थिक विकास एव राष्ट्रीय निर्माण से है और जब सयुक्त राज्य अमरीका वहा साम्यवाद को रोकने पर जोर देता है तो इन देशो का ध्यान नही जाता। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि लोग उस विषय मे रुचि लेते है जो उनसे सम्बन्ध रखता है। किसी विषय पर लोगों की रुचि उतनी ही कम हो जाती है जितना कि वह उनसे दूर है। सयुक्त राज्य अमरीका के सूचना अभिकरण ने एक प्रकाशन द्वारा अफ्रीका के सम्बन्ध मे अमरीकी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है। इसमे जो लेख है वे अफ्रीका से सम्बन्ध रखते हैं और अफ्रीकी पाठकों को यह अनुभूति देते हैं कि अमरीका उनके मामलो मे रुचि लेता है। प्रचार कार्य को रुचिपूर्ण बनाने के लिए शारीरिक प्रदर्शन एव दृश्य प्रभाव भी महत्वपूर्ण रूप से असर डालते है।

स्पष्टता एव प्रमाणिकता (Clarity and Factuality)—एक बात का प्रभाव केवल तभी हो पाता है जबकि वह सरलतापूर्वक सुनने वालों की समझ मे आ जाय। यदि प्रचार का विषय बनावटी है या झूठी प्रकृति का है तो इससे वांछित लक्ष्य नही मिल सकते। प्रचार को दीर्घकालीन रूप मे नीति के साथ सयुक्त होना चाहिए। किसी भी प्रचार पर तब विश्वास किया जाता है जबकि उसके अनुसार कार्य भी किया जाय। जब सोवियत रूस द्वारा अन्तरिक्ष मे उपग्रह छोड़ा गया तो यह प्रभावशील प्रचार का साधन बना; क्योंकि एक तो यह एक विशेष प्राप्ति थी और दूसरे दुनिया के असख्य लोग इस उपग्रह को अपनी आखो मे देख सकते थे। प्रथम होने के कारण सोवियत सघ का पर्याप्त मान हुआ। कुछ दिन पूर्व शुक्र ग्रह पर उतरने वाले सोवियत यान ने उसे भारी प्रतिष्ठा प्रदान की है।

सयुक्त राज्य अमरीका ने जब यह प्रचार किया कि वह यूरोप मे रुचि रखता है, इसके तहत अमरीकी सैनिक शक्ति पश्चिमी यूरोप मे रखी गई। सोवियत सघ द्वारा सयुक्त राज्य अमरीका के सहायता कार्यों की आलोचना

की जाती है किन्तु वह स्वयं ऐसे रूप में सहायता प्रदान करता है जो स्पष्ट रूप से दिखाई दे सके और इस प्रकार इसे वह प्रचार का एक साधन बना देता है।

स्थानीय अनुभवों एवं दृष्टिकोणों से समरूपता (Identification with Local Experiences and outlook)—प्रचार कार्य लोगों का अपनी ओर ध्यान ही आकर्षित नहीं करना चाहता वरन् उनकी प्रतिक्रिया भी चाहता है। प्रचारक जिनको प्रभावित करना चाहता है उनकी स्थानीय रुचियों, अनुभवों एवं दृष्टिकोणों का ध्यान रख कर अपने और उनके बीच की दूरी को मिटाता है। एक प्रभावशील प्रचारक यह होता है कि जो सामान्य विरोध-हासों और सामान्य रुचियों पर जोर देता है। नाजी जर्मनी द्वारा आर्य जाति का नाम लेकर और साम्यवादी रूस द्वारा विकासशील देशों की एकता का नाम लेकर इसी तकनीकी को अपनाया जाता है। जहां इस प्रकार की एकरूपता प्रभावशाली रूप से स्थापित नहीं की जाती वहां प्रचार कार्य असफल हो जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा जो साम्यवाद विरोधी भावनायें फैलाई जाती हैं उनका प्रभाव कम होता है क्योंकि दूसरे लोग उनमें विश्वास नहीं करते। पहले संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन यह सोचा करते थे कि साम्यवादी प्रचार इन देशों को साम्राज्यवादी और एकाधिकार पूर्ण पूंजीवादी कह कर एक मरे घोड़े को पीटता है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। इस प्रचार का अपना लाभ है क्योंकि जिन विकासशील देशों में पश्चिमी प्रभावों को कम करने के प्रयास किये जा रहे हैं, वहां इस प्रकार की व्याख्यायें प्रभावशील सिद्ध होती हैं। इस प्रकार के प्रचार की अनेक बातें बड़ी सरल और शीघ्र समझने योग्य हैं जैसे कम मजदूरी तथा बड़ी विदेशी पूंजी आदि। किसी भी प्रभावशील प्रचार का मापदण्ड यह नहीं है कि उसमें सभी विश्वास करते हैं या नहीं करते, वरन् यह है कि उनके लिए विश्वसनीय हैं अथवा नहीं जिनके लिए कि यह वांछित परिणाम प्राप्त करने के हेतु किया जा रहा है।

स्थिरता (Consistency)—वैसे प्रचार कार्य को हमेशा एक जैसा रहने की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु फिर भी जब विशेष योजनाओं पर किसी विशेष समस्या के सम्बन्ध में प्रचार किया जा रहा है तो एकरूपता न रहने पर अनेक समस्यायें उत्पन्न होंगी। जोसफ फ्रैंकल (Joseph Frankel) का यह कहना उपयुक्त है कि "प्रचार की प्रभावशीलता उसकी निरन्तरता एवं स्थिरता के कारण बहुत बढ़ जाती है। साथ ही सूचना के प्रतियोगी स्रोतों को समाप्त कर देना भी उपयोगी रहता है।" आर्गन्र और

(Arthur Krock) ने बताया है कि एक प्रजातन्त्रात्मक सरकार को अपना प्रचार प्रभावशील बनाने के लिए वास्तविक कार्यों से अपने कथनों की सत्यता सिद्ध करनी चाहिए। प्रजातन्त्रात्मक शासन व्यवस्था अपनी असफलताओं को नहीं छिपा सकती। दूसरी ओर स्वेच्छाचारी सरकार अपनी असफलताओं तथा असंगतियों को छिपा सकती है और छिपाती है। इस प्रकार की सरकारों का प्रचार उनके कार्यों से असंगत होता है और रातों-रात उल्टा बन सकता है।

सूचना और प्रचार के रूप
(The Types of Information and Propaganda)

प्रचार कार्यक्रम के लक्ष्य अथवा उद्देश्य अनेक होते हैं और ये कर्ता के उद्देश्य के आधार पर समय-समय पर बदलते रहते हैं। प्रचार अथवा सूचना के उद्देश्य को देख कर ही उसका रूप भी निश्चित किया जाता है। प्रचार के विभिन्न रूपों एवं प्रकारों में से कुछ को निम्न प्रकार वर्णित किया जा सकता है।

(१) खबर एवं सूचना (News and Information)—इस प्रकार का अधिकांश प्रचार खबर देने के अलावा और कुछ नहीं करता तथा सुनने वाले को स्वयं ही निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए आमन्त्रित करता है। यह दृष्टिकोण राजनैतिक संचार में आंग्ल अमरीकी प्रयासों की विशेषता है। द्वितीय विश्व के दौरान संयुक्त राज्य अमरीका ने जो प्रचार की नीति अपनाई उसे सत्य की रण नीति (Strategy of truth) कहा जाता है। आज का संयुक्त राज्य अमरीका का सूचना अभिकरण दूसरे देशों की जनता को प्रभावित करने के लिए और विदेशों में संयुक्त राज्य का खाका खींचने के लिए एक प्रमुख साधन के रूप में तथ्यों एवं स्पष्टीकरणों का प्रयोग करता है। जब मि० कार्ल रोवन (Carl Rowan) को यू० एस० आई० ए० का संचालक बनाया गया तो राष्ट्रपति जानसन ने उनसे कहा कि "सच कहिए" इस पर मि० रावन ने उत्तर दिया कि "मि० राष्ट्रपति केवल यही तो वह चीज है जिसे मैं जानता हूं।" इसी प्रकार संमुद्र पार के देशों में किये जाने वाले अपने प्रसारणों में बी० बी० सी० भी इन सिद्धांतों को अपनाता है। सत्य प्रतिवेदन अथवा समाचार के आधार पर एक प्रचार य न्त्र श्रोताओं का विश्वास प्राप्त कर लेता है और यह एक बड़ी उपलब्धि है।

(२) चयन द्वारा तथ्यों को मोड़ना (To distort the Facts through Election)—जब एक देश विदेशी जनमत को एक विशेष रूप

देना चाहता है तो वह तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर उनके सामने प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की प्रचार व्यवस्था में ईमानदारी जैसी चीज नहीं रहती और रण कौशल की दृष्टि से कभी भी झूठ को अपनाया जा सकता है। इस प्रकार प्रचार के दो मार्ग दिखाई देते हैं। एक मार्ग यह है कि झूठे तथ्यों को सामने लाया जाए और दूसरा मार्ग यह है कि झूठे तथ्यों को प्रचारित किया जाए। इन दोनों के बीच का भी एक मार्ग होता है और वह यह है कि झूठ तो न बोला जाए लेकिन कुछ तथ्यों को छिपा लिया जाए ताकि लोग सत्य को समझ न सकें। इस मार्ग को अपना कर प्रचारक उन तथ्यों पर अत्यधिक जोर देता है जो सत्य तो हैं किन्तु उसके पक्ष में हैं। दूसरी ओर वह उन तथ्यों की ओर से श्रोताओं का ध्यान हटा देता है जो सत्य होते हुए भी उसके पक्ष में नहीं हैं। इस प्रचारक द्वारा भावनात्मक व्याख्यायें प्रस्तुत की जाती हैं जिनको प्रत्यक्ष रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के प्रचार में प्रचारक यह सिद्ध करता है कि वह स्वयं निरपराध है और जो भी गलती की गई है वह सब विरोधी द्वारा की गई है। दोनों पक्ष अपने शान्ति प्रेम की दुहाई देते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि उन्होंने इस प्रेम के निर्वाह में क्या बलिदान किया और दूसरे पक्ष ने उन पर क्या अत्याचार किए। इस प्रकार के प्रचार में तथ्यों की जानकारी का कार्य सुनने वाले के मस्तिष्क पर छोड़ दिया जाता है। एक पक्ष द्वारा जो दूसरे पक्ष की तस्वीर खींची गई है यदि वह उस तस्वीर को मिटा कर दूसरी नहीं बना सकता तो निश्चय ही वह आक्रमणकारी या साम्राज्यवादी समझा जायेगा। इस प्रकार का प्रचार विदेशों में दृष्टिकोणों को ढालने के लिए तथा दूसरों पर दबाव डालने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। प्रचार के इस रूप में तथ्यों को अथवा तथ्यों से मिलती जुलती चीज को केन्द्र बिन्दु बनाया जाता है और अपने स्वार्थ की दृष्टि से उसकी व्याख्यायें की जाती हैं।

(३) आच्छादित प्रचार (Covert Propaganda)—कभी-कभी प्रचार कार्य में ऐसे साधन अपनाये जाते हैं जो अदृश्य एवं दृष्टि से ओझल होते हैं। अनेक देश ऐसा करते हैं कि वे अन्य राज्यों के समाचार पत्रों एवं प्रकाशनों को खरीद लेते हैं तथा उनसे पक्षपात पूर्ण तथा झूठमूठ की कहानियाँ प्रकाशित करवाते हैं जो स्पष्टतया उनके स्वयं के ही हित में होती हैं। जनता की मान्यताओं एवं प्रतिभूतियों को बदलने के लिए दुनिया के विभिन्न भागों में विशेष रूप से तैयार की गई फिल्में बांटी जाती हैं। इन फिल्मों के मूल निर्माता एवं प्रसारक का नाम जाहिर नहीं किया जाता।

ऐसी विदेशनीति अपनाने के लिए दबाव डालती थी जो सोवियत रूस के अनुकूल हो। १९३५ के बाद योरोपीय देशो के साम्यवादी दलो ने मास्को के निर्देशन पर ही नाजी जर्मनी के विरुद्ध उदारवादी समुदायों से सहयोग करना पसन्द किया था।

द्वितीय विश्व युद्ध का उत्तरकाल—द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत रूस के प्रचार के लक्ष्य एव प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर आ गया। इसका क्षेत्र केवल राष्ट्रीय न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय अधिक बन गया। इसका प्रयोग शीत युद्ध को बनाये रखने के लिए किया गया। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार १९४५ से ४७ तक सोवियत प्रचार के दो लक्ष्य थे—(१) जन प्रजातन्त्र के विकास को प्रोत्साहन, और (२) अमेरिका [redacted] प्रभाव को कम करना।

इस काल मे किये गये सोवियत प्रचार की मुख्य विशेषतायें इस प्रकार थी—

(१) साम्यवादी प्रचार का क्षेत्र मुख्य रूप से अर्धविकसित या अविकसित देशों को बनाया गया।

(२) साम्यवादी जीवन के तरीके की प्रशसा की गई और पूंजीवादी राष्ट्रों के अत्याचारो और शोषणो का रक्तरंजित काला चित्र खींचा गया।

(३) पूर्व मे चीन तथा पश्चिम मे योरोप मे साम्यवाद फैलाने के लिए प्रबल व प्रभावकारी प्रचार किया गया।

(४) अमरीका द्वारा विभिन्न देशो को दी जाने वाली आर्थिक व सैनिक सहायता को उसके साम्राज्यवाद का ही दूसरा रूप माना गया। पत्रों और लेखो द्वारा यह जोरदार प्रचार किया गया कि अमरीका दुनिया को गुलाम बनाना चाहता है।

(५) सोवियत रूस ने शान्ति का अभियान शुरू किया। प्रचार द्वारा सोवियत जनता एव विश्व वालों को यह बताने का भरसक प्रयास किया गया कि रूस अपनी पूरी शक्ति से शान्ति की स्थापना के लिए तत्पर है तथा अणु अस्त्रो को मिटा कर वह नि शस्त्रीकरण करना चाहता है।

(६) कोरिया के मामले पर सोवियत प्रचार बहुत प्रभावशाली रहा था। द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होते ही रूस ने यह प्रचार प्रारम्भ कर दिया कि कोरिया की जनता अमरीकी नीति व व्यवहार के प्रति असन्तुष्ट व क्षुब्ध है और रूस की प्रशसा करती है। उत्तरी कोरिया और दक्षिणी कोरिया की राजनैतिक, आर्थिक एव सास्कृतिक स्थिति की तुलना करके यह प्रचारित

इस काल का मित्रराष्ट्रों का प्रचार तथा मनोवैज्ञानिक युद्ध के लिए किये गये उनके प्रयास पूर्ण रूप से सफल नही हो सके। उन्होने जो मार्ग अपनाये, शत्रु उन्हे पहले से ही अपना रहा था। मित्रराष्ट्रो के प्रचार की असफलता के कई कारण थे—

(१) प्रारम्भ मे मनोवैज्ञानिक युद्ध की जो उच्चस्तरीय योजनायें बनाई गई उनको शत्रु के विरुद्ध क्रियान्वित न किया गया। जापान मे यदि प्रचार द्वारा चरित्र (Morale) को गिरा दिया जाता तथा मनोवैज्ञानिक युद्ध द्वारा उसे कमजोर कर दिया जाता तो वहा बम गिराने की व रूस द्वारा उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ने की आवश्यकता ही नही पड़ती।

(२) एक दूसरी बड़ी गल्ती यह की गई कि मित्रराष्ट्रों ने अपने प्रचार द्वारा जर्मनी के सामान्य नागरिको और शासन के बीच कोई भेद न किया। उनके प्रचार के फलस्वरूप वहा के नागरिक इस निष्कर्ष पर आये कि मित्र राष्ट्र उनके भी दुश्मन हैं न केवल नाजी सरकार के। अत उन्होंने नाजी शासन का पूरा पूरा समर्थन किया। नाजी प्रचार यन्त्र के सचालक गोएबल्स (Goebbels) ने कहा था कि "अगर मैं शत्रु पक्ष मे होता तो नाजीवाद के विरुद्ध लड़ने का नारा लगाता न कि जर्मन जनता के विरुद्ध।"[1]

(३) युद्ध के बाद अमरीकी प्रचार—शीतयुद्ध के प्रवाह के साथ-साथ अमरीकी जनता और सरकार द्वारा प्रचार के महत्व को समझा जाने लगा। १९४८ मे स्मिथ मड एक्ट (Smith Mundt Act) पास किया गया। इसका उद्देश्य था अमरीकन जनता और विश्व की जनता के बीच सद्भावना की स्थापना की जाय। प्रचार से सम्बन्धित नवीन योजना को क्रियान्वित करने के लिए एक सगठनात्मक ढाचे की स्थापना की गई। १९५१ मे राज्य विभाग (State Department) के अन्दर एक पृथक अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय सूचना प्रशासन (IIA) स्थापित किया गया। १ अगस्त, १९५३ को राष्ट्रपति द्वारा सयुक्त राज्य सूचना अभिकरण (USIA) की एक स्वतन्त्र आफिस के रूप में स्थापना की गई। इसको समुद्र पार के सूचना कार्यक्रमो का उत्तरदायित्व सौंपा गया।

USIA ने लगभग ७९ देशों मे लगभग २१० सूचना चौकिया स्थापित की हैं। यह असाम्यवादी देशो के हजारो अखबारो के लिए करोडों की सख्या मे परचे, पोस्टर, अखबार एव पत्रिकाओ के लिए विशेष सामग्री, व्यगचित्र

---

1 Lochner, Louis P. ed; The Goebbels Diaries, 1948

तथा सूचना सम्बन्धी मसाला आदि भेजती है। 'वाइस आफ अमेरिका' (Voice of America) भी USIA का एक महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध भाग है। यह लगभग ३८ भाषाओं में प्रतिदिन चौबीसों घण्टे प्रसारण करता है। इसके अधिकांश प्रसारणों का निशाना साम्यवादी देशों की ओर होता है।

अमेरिकी प्रचार में से अधिकांश तो प्रचार की प्रतिक्रिया (Counter propaganda) है। इसके अतिरिक्त विदेश नीति के मुख्य भागों को भी प्रचारित किया जाता है। मार्शल योजना का प्रचार एक प्रभावकारी रूप में किया गया था।

प्रचार में सरकार के अतिरिक्त व्यक्तिगत संस्थायें भी अपना सहयोग प्रदान करती हैं। अनेकों अन्तर्राष्ट्रीय मेलों और नुमाइशों में अमेरिका के व्यक्तिगत संगठनों एवं व्यापारिक संस्थाओं ने सक्रिय रूप से उत्साहपूर्वक भाग लिया है।

अमरीकी प्रचार साम्यवादी देशों की तुलना में कम प्रभावशील है; इसके पामर तथा परकिन्स ने दो कारण बताये हैं—

(१) सोवियत यूनियन का प्रचार के क्षेत्र में अनुभव अधिक है अर्थात् साम्यवादी क्रांति से पूर्व ही वे इसके अभ्यस्त हैं। इसके बाद अनेकों ऐसे अवसर आये जबकि उनको एक प्रभावकारी अस्त्र के रूप में अपनाना पड़ा था।

(२) अमरीकी प्रचार भाषण की स्वतन्त्रता पर आधारित है, सरकारी नियन्त्रण पर नहीं।

सांस्कृतिक सम्बन्ध और विदेश नीति (Cultural Relations and Foreign Policy)

सूचना कार्यक्रमों के अतिरिक्त अनेक देश सांस्कृतिक माध्यम से भी अपना प्रचार कार्य सञ्चालित करते हैं। यह कहा जाता है कि ज्ञान के आदान-प्रदान का सर्वाधिक प्रभावशील तरीका यह है कि व्यक्ति को अपने साथ बांध लिया जाये। पश्चिमी शक्तियां परस्पर शैक्षणिक सम्बन्धों के माध्यम से एक दूसरे के पर्याप्त निकट आ गई हैं। इन देशों के हजारों छात्र एक दूसरे के देश में अध्ययन करते हैं। ग्रेट ब्रिटेन के अपने उपनिवेशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध थे, इसीलिए वह अधिकांश को शांतिपूर्वक प्रादेशिक स्वतन्त्रता प्रदान कर सका किन्तु राष्ट्रमण्डल के आधार पर उसने इस सांस्कृतिक सम्बन्ध को बनाये रखने की व्यवस्था कर ली। इन देशों के

नेताओं को ग्रेट ब्रिटेन में प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था उसके कारण यहां के मूल्यों तथा मूल राजनैतिक एवं कानूनी संस्थाओं की सराहना करते हैं।

फ्रांस वह पहला बड़ा देश है जिसने सांस्कृतिक सम्बन्धों को सरकारी कर्त्तव्य बना दिया था। फ्रांस के उदाहरण को देख कर १६ वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में इङ्गलैण्ड तथा जर्मनी ने भी सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिये। ब्रिटेन की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप तथा अमरीकी मिशनरियों एवं अमरीकी सरकार के प्रयास से आज अर्धविकसित देशों के लगभग दस मिलियन से भी अधिक लोग अंग्रेजी पढ़ लिख सकते हैं तथा इनके माध्यम से ये सरकारें इन क्षेत्रों में आसानी से संचार व्यवस्था चला सकती हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका का सांस्कृतिक कार्यक्रम—अमरीका में सन् १६३८ में राज्य विभाग के साथ सांस्कृतिक सम्बन्धों का एक समाग जोड़ दिया गया। इसने सबसे पहले लेटिन अमरीका पर अपना ध्यान आकर्षित किया क्योंकि नाजीवाद तथा फासीवाद का प्रभाव वहां बढ़ता जा रहा था। सरकारी एवं गैर सरकारी सहयोग के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की संस्था को विकसित किया गया ताकि विद्यार्थियों का आदान प्रदान एवं विदेशी अध्ययन संभव बन सके।

संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा अन्य देशों के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध बनाने की दृष्टि से विद्यार्थियों के आदान-प्रदान को पर्याप्त प्रोत्साहन दिया गया है। साथ ही पासपोर्ट तथा वीसा के सम्बन्ध में उदार नीति अपना कर पर्यटन को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। विकासशील देशों में प्रशिक्षित मानव शक्ति का पर्याप्त महत्व होता है इसलिए वहां पर विद्यार्थियों एवं शिक्षकों द्वारा राजनीति में महत्वपूर्ण रूप से भाग लिया जा सकता है। जो विद्यार्थी अमरीका में शिक्षा प्राप्त करते हैं वे राजनीति को पर्याप्त प्रभावित करेंगे और हो सकता है कि वे ही नेता बनें। इसी प्रकार अमरीका [redacted] जो विद्यार्थी एवं शिक्षक विदेशों में अध्ययन कार्य में रत हैं वे भी उन लोगों पर प्रभाव डालने का पर्याप्त अवसर पाते हैं जो अपने देश में सम्मान एवं उत्तरदायित्व [redacted] पद पर हैं अथवा पहुंच जायेंगे। सन् १६४६ के फुल ब्राइट कानून ने विदेशी छात्रों को वजीफे देने का प्रावधान रखा तथा सन् १६४८ के स्मिथ-मण्ड अधिनियम ने नेतृत्व के आदान-प्रदान का प्रबन्ध किया। इन अधिनियमों ने संघीय सरकार को सांस्कृतिक सम्बन्धों की रचना में रुचि लेने की ओर प्रवृत्त किया। व्यक्तिगत निगम भी अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के आदान-प्रदान के क्षेत्र में पर्याप्त कार्य करते हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका के करीब दस-पन्द्रह हजार लोग ऐसे हैं जो कि विदेशो मे रह रहे हैं। इससे अमरीका को अन्य देशो की जनता [redacted] सपर्क बनाये रखने का अवसर प्राप्त होता है। इन अमरीकी लोगों मे से अधिकाश का सम्बन्ध सशस्त्र सेनाओं से है तथा पांच लाख से भी अधिक लोग व्यक्तिगत उद्यमो मे सलग्न हैं। प्रति वर्ष दस लाख के लगभग अमरीकी पर्यटक के रूप मे अमरीका से जाते हैं। इन सम्पर्कों एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो से विदेश के लोगो के साथ निकटता बढ़ती है। किन्तु यहा एक यह भी खतरा है कि जाने वाले लोगो ने अमरीकी जीवन के अच्छे पक्ष का प्रतिनिधित्व न किया तो यहा की संस्कृति के प्रति सम्मान पैदा नहीं किया जा सकता तथा उल्टा प्रभाव पड़ने का भी खतरा है।

संयुक्त राज्य अमरीका के सांस्कृतिक कार्यक्रम की एक विशेषता यह है कि विदेशो को यहा से पुस्तकें भेजी जाती हैं। प्रति वर्ष लाखों कम कीमत की पुस्तकें विदेशो को भेजी जाती हैं।

स्टालिन की मृत्यु के बाद संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत सघ के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्धो का विकास हो गया है। सन् १९५८ [redacted] रूस जाने वाले अमरीकियों की सख्या दो गुनी हो गई है। इसी प्रकार अमरीका आने वाले रूसियो की सख्या भी बढ़ी है।

सोवियत सांस्कृतिक कार्यक्रम—यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सोवियत सरकार द्वारा सांस्कृतिक सम्बन्धो की स्थापना के लिए कितना खर्च किया जाता है। सन् १९५३ में सोवियत सरकार इस कार्य पर दो बिलियन डालर प्रति वर्ष खर्च करती थी। अब यह खर्चा बढा ही है। कुछ लेखकों का अनुमान है कि सोवियत सघ इस कार्य पर जितना धन व्यय करता है उतना इस कार्य पर शायद सभी देशो द्वारा मिल कर भी नहीं किया जाता होगा।

विकासशील देशो मे अपना प्रभाव लाने के लिए तथा अपनी संस्कृति का निर्यात करने के लिए सोवियत संघ, शोध कार्य, भाषा एवं अन्य विशेषीकृत प्रशिक्षणों पर खर्च करता है तथा प्रकाशित सामग्री वितरित करता है। सोवियत प्रचार, सांस्कृतिक कार्यक्रम, शैक्षणिक कार्य, सचार अनुसधान आदि के द्वारा विदेशो मे जो सोवियत तस्वीर खींची जाती है वह एक शान्तिप्रिय किन्तु शक्ति सम्पन्न देश की है जिसने बहुत कम समय मे ही अपनी

आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था के कारण महान् प्राप्तियां की हैं। सोवियत संघ में जो विदेशी पर्यटक आते हैं उनको सरकारी कर्मचारियों द्वारा निर्देशित किया जाता है तथा जहां वे चाहें वहीं उनको ले जाया जाता है।

सोवियत संघ में एक राष्ट्रों का मैत्री विश्वविद्यालय (Friendship of Nations University) स्थापित किया गया है जो मास्को विश्वविद्यालय से अलग है। यहां एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देशों के युवकों को रूसी भाषा, विज्ञान, कला एवं साम्यवाद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आमन्त्रित किया जाता है। इन सम्पर्कों के माध्यम से यह आशा की जाती है कि जब ये युवक अपने देश को वापस लौटेंगे तो साम्यवाद के हित में कार्य करेंगे। अनेक अमरीकी शिक्षा शास्त्रियों ने जब व्यक्तिगत रूप से उच्च सोवियत शिक्षा-शास्त्रियों से बातें की तो उनको यह विश्वास हो गया कि सोवियत संघ विकासशील देशों से अमेरिका को पूरी तरह निकालना चाहता है। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो गया कि उदार प्रजातन्त्र अपने सांस्कृतिक सम्बन्धों का प्रसार करें तथा विदेशों से आने वाले छात्रों को अधिक नम्रता एवं शिष्टता का व्यवहार प्रदान करें। यह एक चुनौती है जिसका सामना करना जरूरी हो गया है।

राजनैतिक युद्ध
(Political Warfare)

मानव सभ्यता के प्रभात [redacted] ही 'युद्ध' समाज की एक अभिन्न विशेषता बना रहा है। प्रारम्भ से ही इस सतरनाक विध्वंसक व्यवस्था को मिटाने के अनेकों प्रयास किये गये किन्तु असफल रहे और युद्ध मानव विकास के साथ प्रलयंकर बनता चला गया। आज विश्व में युद्ध का लगातार भय बना हुआ है। विभिन्न देश या तो युद्ध कर रहे हैं, या करने की तैयारी में हैं। पामर तथा परकिन्स के शब्दों में "शान्ति तो एक अल्पकालीन संधि के समान है जिसमें विचारधारा का प्रत्येक समर्थक अपने लिए उपयुक्त स्थिति प्राप्त करने के हेतु दूसरे को धोखा देने को तैयार है।" युद्ध केवल सेना द्वारा हथियारों से युद्ध के मैदान में ही नहीं लड़े जाते। युद्ध के कई रूप होते हैं उदाहरण के लिए—

१ मनोवैज्ञानिक युद्ध (Psychological Warfare)
२ राजनैतिक युद्ध (Political Warfare)
३ सैनिक युद्ध (Military Warfare) आदि।

युद्ध के विभिन्न रूपों को देखते हुए यह कहना गलत न होगा कि युद्ध निरन्तर चलते रहते हैं और शान्ति केवल प्रलय होने पर ही आ सकती है।

राजनैतिक युद्ध का अर्थ
(Meaning of Political Warfare)

राजनैतिक युद्ध क्या होता है यह कुछ थोड़े से शब्दों में बताना अथवा इसे परिभाषित करना सम्भव नहीं है। इतिहास के उदाहरणों को चुन चुन कर यह बताया जा सकता है कि इस प्रकार की नीति या कार्यक्रम अपनाने पर एक देश राजनैतिक युद्ध का कर्त्ता माना जा सकता है। इसमें एक राष्ट्र सैनिक शक्ति का प्रयोग नहीं करता किन्तु शक्ति का प्रयोग अवश्य करता है। युद्ध का अर्थ होता है विपक्षी को किसी बात को स्वीकार करने के लिए मजबूर करना। यदि राष्ट्र ऐसा सैनिक शक्ति अपना कर करते हैं तो वह सैनिक युद्ध माना जायगा किन्तु एक देश को विवश बनाने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग अपरिहार्य नहीं है। कूटनीति और प्रचार का सहारा लेकर भी ऐसा किया जा सकता है। प्रचार तथा कूटनीति का प्रयोग इस रूप में किया जाय कि दूसरा देश एक देश की नीतियों को मानने के लिए विवश हो जाय तो यह प्रक्रिया राजनैतिक युद्ध कहलायेगी। अगर वह देश उस विवशता को स्वीकार कर लेता है तो यह दूसरे देश की विजय मानी जायगी और यदि विवशता को स्वीकार नहीं करता तो उसके सामने सैनिक युद्ध के अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं रह जाता। कूटनीति एवं प्रचार का प्रयोग जब सुझाव के रूप में किया जाय तथा निर्णय लेने में दूसरे देश को स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग करने दिया जाय तो यह स्थिति राजनैतिक युद्ध की स्थिति नहीं कही जायगी।

इस प्रकार राजनैतिक युद्ध को कूटनीति तथा युद्ध के बीच स्थिति (Twilight zone between Diplomacy and War) माना जाता है। प्रचार के साथ राजनैतिक युद्ध का सम्बन्ध बताते हुए पामर तथा परकिन्स ने बताया है कि "इन दोनों के बीच का सम्बन्ध इतना अटूट नहीं है क्योंकि बिना प्रचार के राजनैतिक युद्ध हो सकता है तथा प्रचार भी बिना राजनैतिक युद्ध प्रकट किए रह सकता है।"

इस प्रकार कूटनीति, प्रचार एवं आर्थिक उपाय आदि को राजनैतिक युद्ध केवल उसी अवस्था में माना जा सकता है जबकि इनका परिणाम विवशकारिता हो।

राजनैतिक युद्ध के साधन
(Devices of Political Warfare)

राजनैतिक युद्ध का मुख्य उद्देश्य यही होता है कि दूसरे देश को कमजोर बना दिया जाय और इस प्रकार अपने स्वार्थ को साधना की जाय। दूसरे राष्ट्रों को कमजोर बनाने के लिए एक देश द्वारा अनेको तरीके अपनाये जा सकते हैं। इनमे कुछ निम्न प्रकार हैं—

(१) भ्रम मे डालने व फूट डालने के लिए प्रचार
(Propaganda to confuse and devide)

सगठन मे शक्ति होती है। इसके विरुद्ध जहा फूट होती है वहां अनेको कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं। गोस्वामी तुलसीदास की प्रसिद्ध पक्तियां– 'जहा सुमति तहां सम्पत्ति नाना,' जहा कुमति वहां विपति नाना' इसी भाव को प्रदर्शित करती हैं। दो बिल्लियों की फूट का फायदा कोई बन्दर ही उठाता है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे भी फूट डालने की प्रक्रिया को शत्रु के विरुद्ध काम मे लाया जाता है ताकि वह कमजोर पड जाय और एक देश इस स्थिति का इच्छित लाभ उठा सके। भारत के इतिहास मे यह युक्ति प्रारम्भ से ही दुर्भाग्यपूर्ण रही है। जयचन्द और पृथ्वीराज की फूट ने मोहम्मद गोरी के सिर पर भारत का ताज रखा। फूट डालो और राज करो की नीति अपना कर अग्रेज सदियो भारत का शोषण करते रहे और जाते-जाते भी उसके दो भाग कर गए जो अब भी कलह का कारण बना हुआ है। सार यह है कि जिस देश के विरुद्ध आप राजनैतिक युद्ध छेड़ना चाहते हैं उसमे ऐसा प्रचार करिए कि वहा के लोग सत्य को न समझ पायें उनमे परस्पर सघर्ष की स्थिति पैदा हो जाय। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान मित्र देशो ने इटली को Tripple Alliance से पृथक करने के लिए गुप्त सन्धियो का जाल सा बिछा दिया।

(२) अल्पसख्यकों को समर्थन देना
(To Support the minority groups)

शत्रु के देश मे रहने वाले अल्पसख्यक लोगो के समुदायो, मुख्यत वे जिनके हित वाकी लोगो से भिन्न हैं, की सहायता व समर्थन करके भी एक देश को कमजोर किया जा सकता है। पाकिस्तान ने इसी नीति को अपना कर फौजो को आश्रय प्रदान किया है। पाकिस्तान सरकार द्वारा नागाओ को भडकाया जाता है। यही कारण है कि भारत मे नागालैंड की

समस्या अभी तक बनी हुई है; नहीं तो अब तक तो इसका समाधान हो भी चुका होता।

किसी देश के अल्पसंख्यक समुदायों का पक्ष लेकर सरकार के सुचारु संचालन में बाधा डाली जा सकती है। किन्तु ऐसी सम्भावना प्रजातन्त्रात्मक प्रणालियों में ही प्राप्त हो सकती है, साम्यवादी देश सर्वाधिकारवादी होते हैं। वहां व्यक्ति को स्वतन्त्रता नहीं दी जाती इसलिए वहां का कोई अल्पसंख्यक समुदाय सरकार के कार्यों में बाधा नहीं डाल सकता। यदि उसने ऐसा करने का साहस भी किया तो देशद्रोही होने के अपराध में उसे अपना अस्तित्व खोना पड़ेगा।

(३) क्रान्ति को प्रोत्साहन देकर

(By encouraging the revolt to overthrow the existing Government)

राजनैतिक युद्ध का यह बड़ा महत्वपूर्ण और प्रभावशाली रूप है। यह दूसरे रूपों की एक अगली कड़ी भी माना जा सकता है। प्रारम्भ में तो एक देश में फूट के बीज बोये जाते हैं, तत्पश्चात् अल्पसंख्यकों के हितों का पक्षपात लेकर उस फूट की खाई को और चौड़ा किया जाता है और जब दो किनारे बहुत दूर हो जाते हैं तथा कुछ-कुछ समान शक्ति पा लेते हैं तो विरोधी पक्ष को उकसा कर स्थित सरकार के विरुद्ध क्रान्ति करा दी जाती है।

पाकिस्तान ने अगस्त, १९६५ में एक दिवा-स्वप्न देखा था। वैसे तो अपने जन्म दिन से पूर्व ही उसने भारत को शक्तिहीन बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था किन्तु जब चीन जैसे सलाहकार मित्र उसे प्राप्त हो गए तो वह अपने स्वप्नों को साकार करने की सोचने लगा। अल्जीरिया के उदाहरणों को देखकर उसने योजना बद्ध तरीके से भारत-अधिकृत काश्मीर में क्रान्ति कराने की चाल चली। हजारों सशस्त्र घुसपैठिये चोरी छिपे भारतीय सीमा में भेज दिए गए। आशा थी कि काश्मीर के मुसलमान धर्म के नाम पर घुसपैठियों की सहायता करेंगे तथा निहत्थे हिन्दू जनता को दबा दिया जायगा। पाकिस्तान रेडियो ने प्रसारित भी कर दिया कि काश्मीर में क्रान्ति हो गई किन्तु सत्य इसके विपरीत था। काश्मीर वालों की देशभक्ति और भारतीय रक्षा सेना की जागरूकता के कारण घुसपैठिये पकड़ लिये गये। पाकिस्तान का स्वप्न उल्टा होकर उसकी शक्तिहीनता का कारण बन गया।

क्रान्ति का यही तरीका एक दूसरे एशियाई देश चीन द्वारा अपनाया गया। साम्यवादी चीन ने इण्डोनेशिया के साम्यवादियों को उकसाया और डा. सुकर्णो की सरकार को उलट देने का प्रयोग किया। किन्तु यह क्रान्ति भी सफल न हो सकी। विद्रोही साम्यवादियों ने मध्य जावा आदि क्षेत्रों में भारी उपद्रव किए किन्तु बाद में बन्दी बना लिये गये।

(४) उद्योगों एवं यातायात को क्षति पहुंचाना
(The use of sabotage to wreck industry and transport)

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान जर्मनी ने उस उपाय को अपनाया और अमेरिका में जहां मित्र राष्ट्रों के लिए हथियार बनते थे उसने अपने गुप्तचरों और भेदियों को छोड़ दिया। इन गुप्तचरों का मुख्य कार्य उस उत्पादन को नष्ट भ्रष्ट करना था जो मित्र राष्ट्रों के लिए बन रहा था। इन दिनों अमेरिका में कई स्थानों पर आगें लगीं जिनके कारण ज्ञात न हो सके। अनुमान लगाया जाता है कि यह आग जर्मनों के द्वारा लगाई गई थी। यातायात के मार्गों एवं यानों को नष्ट करने से, रेलगाड़ियों को उड़ा देने से कारखानों में मशीनों को तुड़वा देने व तैयार माल को नष्ट करा देने से एक देश के जनजीवन तथा अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है, उसकी कमर सी टूट जाती है।

(५) नेताओं की हत्या करना एवं जनता को अनैतिक बनाना
(The resort to assassination to remove key leaders and demoralize the population)

भारत पाक संघर्ष के समय अरब राष्ट्रों ने पाकिस्तान का समर्थन न किया। पाकिस्तान को आशा थी कि उसके जिहाद में सभी मुस्लिम राष्ट्र एक होकर मर मिटेंगे। किन्तु कर्नल नासिर का व्यवहार उसकी आशाओं पर तुषारापात के समान था। इसके परिणामस्वरूप नासिर की हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। कहा जाता है कि पाकिस्तान सरकार का इस षड्यन्त्र में पूरा सहयोग था। इसी प्रकार अन्य अनेक नेताओं के साथ भी हो चुका है। मानव अधिकारों के पीछे राष्ट्रपति कैनेडी को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। राष्ट्रीय स्तर पर जैसे प्रतापसिंह कैरों की हत्या की जा सकती है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किसी देश के प्रधान की हत्या करके अपने स्वार्थ की साधना की जा सकती है। किसी देश की जनता के मनोबल को गिरा कर उसे अनैतिक, दुराचारी और भ्रष्टाचारी बना दिया जाय तो वह देश अधिक दिन तक नहीं टिक सकता।

इस प्रकार विभिन्न तरीकों को अपना कर राजनैतिक युद्ध का संचालन किया जाता है। राजनैतिक युद्ध सैनिक युद्ध की अपेक्षा कम नरसंहार करके ही आक्रमणकारी के लक्ष्यों की पूर्ति कर देता है। इसमें आक्रमणकारी को भी अधिक नुकसान नहीं उठाना पड़ता। किसी किसी परिस्थिति में तो यह अहिंसात्मक रूप से भी किया जा सकता है। सैनिक युद्ध प्रारम्भ हो पर राजनैतिक युद्ध समाप्त हो जाता हो, ऐसी बात नहीं है। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार युद्ध के समय इसकी भारी आवश्यकता होती है।

— —o— —

८

राष्ट्रीय नीति की अभिवृद्धि के साधन : आर्थिक साधन; साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद एवं युद्ध

(INSTRUMENTS FOR THE PROMOTION OF NATIONAL POWER : ECONOMIC INSTRUMENTS, IMPERIALISM-COLONIALISM AND WAR)

राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि के जिन साधनों का अध्ययन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं वे ही एकमात्र साधन नहीं हैं यद्यपि उनका भी अपना महत्व होता है। कूटनीति, प्रचार एवं राजनैतिक युद्ध के द्वारा निरन्तर एक देश अपने हितों की भावना में संलग्न रहता है। ये उसके प्रति-दिन के जीवन की विशेषतायें हैं किन्तु एक देश कुछ ऐसे साधन भी अपनाता है जो कि उसके प्रति दिन के जीवन व्यवहार का अंग तो नहीं होते क्योंकि इनका प्रयोग प्राय. दीर्घकालीन नीति के रूप में किया जाता है किन्तु फिर भी ये अपने आपमें कोई लक्ष्य नहीं होते तथा साधन के रूप में ही इनका महत्व होता है। इनमें हम आर्थिक साधन, साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद एवं युद्ध आदि का नाम ले सकते हैं। इन साधनों को अपना कर के एक देश अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाना चाहता है। इस कार्य में उसे कितनी सफलता प्राप्त होती है तथा उसकी शक्ति बढ़ती है अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसने इन साधनों का प्रयोग करने में कितनी कुशलता एवं व्यावहारिक बुद्धि से काम लिया है। प्रस्तुत अध्याय में इन साधनों के

स्वरूप को निर्धारित करने वाला तीसरा तत्व है उन दो राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों का रूप। यदि वे सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हैं तो एक देश अपने आन्तरिक विकास एवं कल्याण के लिए ऐसी नीतियां अपनायेगा जो दूसरे देश के हितों के लिए घातक न हो। किन्तु यदि उन दो देशों के बीच के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण न हो कर परस्पर शत्रुतापूर्ण हो तो वह देश ऐसी आर्थिक नीतियों का अनुसरण कर सकता है जिनका उद्देश्य स्पष्ट रूप से दूसरे देश को हानि पहुंचाना हो। एक देश द्वारा जो आर्थिक नीति अपनायी जायगी उसका निर्धारण करने वालों में चौथा तत्व है, दूसरे देशों का प्रभाव। उदाहरण के लिये रोडेशिया पर लगाये गये आर्थिक प्रतिबन्धों पर ब्रिटेन के रुख को लिया जा सकता है। ग्रेट ब्रिटेन के रुख को देख कर लगता था कि वह इन प्रतिबन्धों का हृदय से समर्थन नहीं करता है, किन्तु विश्व जनमत के प्रभाव से उसने रोडेशिया को तेल न भेजने की नीति को अपना लिया। दूसरे देश के प्रभावों को मानने के पीछे दो कारण हैं। पहला कारण यह कि आज विश्व का प्रत्येक देश किसी न किसी सीमा तक दूसरे देश पर आश्रित रहता है और दूसरे यह कि प्रत्येक देश को कुछ चीजों का आयात और कुछ चीजों का निर्यात करने की आवश्यकता रहती है।

आर्थिक साधनों का महत्व
(The importance of economic instruments)

आर्थिक साधनों का प्रयोग शांतिकाल और युद्धकाल दोनों में ही किया जा सकता है; किन्तु उनका उद्देश्य दोनों कालों में एकसा नहीं रहेगा। शान्तिकाल में इनका प्रयोग जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है वे मुख्य रूप से उस देश के कल्याण और आन्तरिक विकास से सम्बन्धित रहते हैं, उदाहरण के लिए देश की बेरोजगारी को दूर करना, तकनीकी का विकास करना, लोगों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाना, राष्ट्र के प्राकृतिक साधनों को सुरक्षित रखना आदि। युद्ध के समय आर्थिक साधनों का प्रयोग मुख्य रूप से दो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है—प्रथम तो अपने देश में युद्ध की तैयारियों को पूरे वेग से करने के लिए और दूसरे शत्रु देश की युद्ध तैयारियों का प्रतिरोध करने के लिए। इस प्रकार युद्धकाल में आर्थिक साधनों के प्रयोग का मूल लक्ष्य दूसरे देश का अधिक से अधिक अहित करना होता है। यदि ऐसा करने में स्वयं का भी थोड़ा सा अहित होता हो तो कोई बात नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते कि आर्थिक साधनों का प्रयोग अच्छे तथा बुरे दोनों ही साध्यों के लिए किया जा सकता है। इन्हें एक देश अपने

जन जीवन के कल्याण के लिए प्रयुक्त कर सकता है तथा वह इन्हें अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने का साधन भी बना सकता है। एक देश के द्वारा आर्थिक साधनों का प्रयोग चाहे किसी तरह से प्रभावित हो कर किया जाये और चाहे उसका कुछ भी उद्देश्य हो किन्तु आज की परिस्थितियों में यह स्वाभाविक है कि उसका प्रभाव विश्व के दूसरे देशों पर भी पड़ेगा, यह प्रभाव उन देशों के पक्ष में भी हो सकता है और विपक्ष में भी। आर्थिक साधनों के रूप का वर्णन करते हुए पामर तथा परकिन्स ने लिखा है कि 'जब कभी राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए आर्थिक नीतियां बनाई जाती हैं, चाहे वे दूसरे देशों का अहित करती हों अथवा नहीं वे राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन हैं।'[1]

आर्थिक साधनों का अर्थ

(The Meaning and Scope of Economic Instrument)

आर्थिक साधन शक्ति के प्रयोग के प्रमुख साधन हैं। इस रूप में उन्हें हम विदेश नीति के अस्त्र कह सकते हैं। आजकल राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्थाओं की पराश्रयता के कारण आर्थिक साधन राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। पैडिलफोर्ड तथा लिंकन ने आर्थिक साधन को किसी भी आर्थिक क्षमता सम्पत्ति या तकनीक के रूप में परिभाषित किया है जो पूरी तरह से या आंशिक रूप से विदेश नीति के लक्ष्यों के लिए प्रयुक्त की जाती है। जिन लक्ष्यों की ओर ये संचालित किये जाते हैं उनकी प्रकृति आर्थिक हो सकती है, राजनैतिक हो सकती है, सैनिक हो सकती है अथवा मनोवैज्ञानिक हो सकती है। इन साधन के द्वारा देश आवश्यक कच्चा माल प्राप्त करने का प्रयास करते हैं; निर्यात किये जाने वाले व्यापार को बढ़ाते हैं, कम विकसित राज्यों में व्यवस्थित विकास को प्रोत्साहन देते हैं, दूसरे राष्ट्रों की नीति के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं या समर्थन करते हैं।

आर्थिक लक्ष्यों का उनके साधनों के साथ और साधनों का उनके लक्ष्यों के साथ समायोजन अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का एक सर्वाधिक जटिल पहलू है। ये जटिलतायें एक तो इसलिए पैदा होती हैं क्योंकि स्वतन्त्र दुनिया के देशों में गैर-सरकारी पहल आर्थिक क्रिया का संचालनकारी तत्व है। व्यक्तिगत पहल हमेशा मूल्यों एवं लाभ से प्रभावित होती है और इसलिए वह सुरक्षा, कल्याण एवं विकास के राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा नीतियों के अनुरूप हो भी

1. Palmer and Perkins, op cit P 150

सकती है और नहीं भी। राष्ट्रवाद की शक्तिशाली सत्तायें जिनके द्वारा देशों के बीच अनेक संघर्ष पैदा किए जा रहे हैं वे परम्परागत आर्थिक लक्ष्यों के आर पार हो जाते हैं।

आर्थिक सम्बन्धों की दुनिया अनेक विरोधों से पूर्ण है। प्रत्येक राज्य एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करता है जो उसके स्वयं के हितों के अनुरूप हो। दूसरी ओर उसे अन्य राज्यों के साथ भी सहयोग करना पड़ता है जो उसके सर्वश्रेष्ठ ग्राहक भी होते हैं और शक्तिशाली प्रतियोगी भी। इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि से कमजोर राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान देता है क्योंकि उनको परिवर्तन की दिशायें चुननी होती हैं। राज्यों के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध इतने अधिक तथा व्यापक होते हैं कि वे अन्य सभी प्रकार के अन्तर्राज्य सम्बन्धों की कुल संख्या से अधिक होते हैं। कभी-कभी इन आर्थिक सम्बन्ध को राष्ट्रवाद एवं सुरक्षा की भावनाओं से प्रभावित होना पड़ता है।

आर्थिक शक्ति विश्व की घटनाओं पर उल्लेखनीय प्रभाव रखती है। एक कमजोर अर्थ-व्यवस्था राजनैतिक अस्थिरता का कारण बनती है और साम्यवाद के लिए अनुकूल भूमि तैयार करती है। किसी भी देश के आर्थिक मामलों को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण समझा जाता है। आर्थिक दृष्टि से जो महान् प्रतिद्वन्द्वी हैं वे भी आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से एक दूसरे की अर्थ व्यवस्था के स्वास्थ्य पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमरीका के अनेक निगम ये चाहेंगे कि ग्रेट ब्रिटेन के समुद्र पार के व्यापार को वे स्वयं संभाल लें। किन्तु संयुक्त राज्य अमरीका यह भी सहन नहीं कर सकता कि उसका मित्र ग्रेट ब्रिटेन आर्थिक दृष्टि से कमजोर हो।

संयुक्त राज्य अमरीका की आर्थिक शक्ति द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से ही उसकी शक्ति का प्रधान स्रोत रही है। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि संयुक्त राज्य अमरीका इसलिए महा शक्ति बन पाया क्योंकि उसके पास अणु शक्ति थी। किन्तु अणु शक्ति भी अमरीका को केवल इसीलिए प्राप्त हो सकी थी क्योंकि वह आर्थिक शक्ति सम्पन्न था। संयुक्त राज्य अमरीका अधिकांश देशों का सबसे बड़ा ग्राहक है और सबसे बड़ा व्यापारी है। अमरीका की आर्थिक शक्ति ने ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मामलों का नेतृत्व प्रदान किया। इसकी आर्थिक शक्ति साम्यवाद के विरुद्ध स्वतन्त्र दुनिया के देशों को सैनिक सहायता देने का आधार रही है। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा जिन विदेश नीति के साधनों को अपनाया जाता है उन सभी का समर्थन मुख्य रूप से आर्थिक व्यवस्था करती है। यही कारण है कि सरकारी अधिकारी कई बार यह तर्क

करते हैं कि आर्थिक मन्दी देश की सुरक्षा के लिए उतनी ही खतरनाक है जितनी कि साम्यवाद की प्रत्यक्ष चुनौती।

एक देश विशेष की राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था विश्व की घटनाओं को प्रभावित करती है। बढ़ती हुई आर्थिक शक्ति विदेश नीति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अधिक स्रोत प्रदान करती है। योजनाओं में जब सफलता प्राप्त होती चली जाती है तो एक देश उन साधनों का प्रचार कर सकता है जिनको उसने प्रयुक्त किया था। आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर राजनैतिक प्रभाव बढ़ता है। यह कहा जाता है कि यदि साम्यवादी चीन के बड़े उद्योगों का उत्पादन सन् १९७० तक भारत और जापान को मिला कर अधिक हो जाए और चीन का दृष्टिकोण इतना ही कठोर बना रहे तो यह सम्भावना है कि चीन के नक्शे के अनुसार यहां राजनैतिक और आर्थिक गड़बड़ी हो जाए।

आर्थिक शक्ति को राष्ट्रीय सैनिक शक्ति एवं कुल राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण का मूलभूत आधार-स्तम्भ कहा जाता है। आज के युग में मानव शक्ति, सैनिक शक्ति का उतना महत्वपूर्ण भाग नहीं है जितना कि पहले कभी होती थी। आज के सैनिक शक्ति अधिकतर तकनीकी उद्योग एवं सरकारी वित्त पर आधारित है। यह एक सर्वविदित तत्व है कि घरेलू आर्थिक संस्थायें एवं साधन स्रोत विदेशी मामलों में एक राज्य की नीतियों एवं कार्यक्रमों को निर्धारित करते हैं। अनेक राज्य उस समय तक पर्याप्त सैनिक शक्ति का निर्माण नहीं कर सकते जब तक कि दूसरे राज्यों के उद्योगों का समर्थन प्राप्त न कर लें। वे ऐसे समर्थन के बिना बड़े संघर्षों को नहीं चला सकते। यह कहा जाता है कि अगर पाकिस्तान और भारत का सन् १९६५ का संघर्ष राजनैतिक प्रयासों से रोक न दिया गया होता तो भी इन देशों को अपने सैनिक प्रसाधनों एवं अन्य साधनों की क्षति के कारण इसे रोकना पड़ता।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन की प्रकृति
(The Nature of International Economic Life)

राष्ट्रों के आर्थिक सम्बन्धों का इतिहास १६वीं शताब्दी के साथ प्रारम्भ होता है। इस समय अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिला तथा पर्याप्त मात्रा में एक देश द्वारा आयात व निर्यात किया जाना प्रारम्भ हो गया। इन कारणों में उल्लेखनीय हैं जैसे—शक्ति तकनीकी के कारण होने वाला औद्योगिक विकास, अमेरिकन क्रांति, जनसंख्या में वृद्धि

तथा औद्योगिक क्रांति और उसके कारण लोगों द्वारा देशांतरीकरण (Migration) आदि।

१९वीं शताब्दी में उदारवाद की विचारधारा का बोलबाला था। अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन पर इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा और यह सोचा जाने लगा कि आयात तथा निर्यात पर यदि राज्य का नियन्त्रण कम से कम रखा जायेगा तो इससे दोनों ही पक्ष (निर्यात एवं आयात) लाभान्वित हो गे, किन्तु व्यवहार में यह विचारधारा अधिक कारगर सिद्ध न हो सकी और राज्य का थोड़ा बहुत नियन्त्रण बना ही रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में जब वस्तुओं के आयात और निर्यात की परम्परा का श्रीगणेश हुआ तब प्रत्येक देश यह प्रयत्न करने लगा कि वह अपने देश के आयात और निर्यात के बीच सन्तुलन बनाये रखे ताकि उसे विदेशों में धन न भेजना पड़े। लाभ प्राप्त करने के लिए विदेशों में धन लगाया जाने लगा। विदेशों में धन लगाने के दो तरीके थे। एक तरीके के अनुसार तो पूंजी मिल, कारखाने आदि खोलने में लगाई जाती थी जहां उत्पादन करके लाभ प्राप्त किया जा सके। दूसरा तरीका यह था कि वहां की सरकार अथवा उसके किसी भाग को कर्जा दे दिया जाय।

प्रथम विश्व युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को अस्त व्यस्त कर दिया। युद्ध के परिणामस्वरूप जो परिस्थितियां पैदा हुयीं उनके अधीन प्रारम्भ में तो यह प्रयास किया गया कि उसी अर्थव्यवस्था को कायम रखा जाय जो युद्ध से पहले स्थित थी, किन्तु यह व्यवस्था बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल न थी। फलतः राष्ट्रों को विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी (Economic Depression) का सामना करना पड़ा। पहले राज्यों द्वारा आर्थिक जीवन में जो निषेधात्मक रुख अपनाया जाता था उसे अब छोड़ दिया गया। इसके स्थान पर आर्थिक मामलों में राज्य के प्रतिबन्ध बढ़ गये और राज्य ही समस्त आर्थिक सम्बन्धों का नियमन करने लगा। इस प्रकार आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) का जन्म हुआ जो आगे चल कर द्वितीय विश्व युद्ध के कारणों की श्रृंखला में तिरोहित हो गया। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आर्थिक मन्दी के कारण व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था का स्थान समाजवादी अर्थव्यवस्था ने ले लिया। पामर तथा परकिन्स ने ठीक ही लिखा है कि "एक राष्ट्र जब राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर नियन्त्रण लगाता है तो उसे, चाहे या अनचाहे रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी प्रतिबन्ध लगाने पड़ते हैं।

जब व्यापार पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं तो व्यापार का क्षेत्र एवं आकार सीमित रह जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में भी ऐसा ही हुआ। दो विश्व-युद्धों के बीच के समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र निरन्तर कम होता चला गया। १९३३ के बाद स्थिति में कुछ परिवर्तन आया किन्तु इस परिवर्तन का कारण यह था कि अधिकांश देशों द्वारा पुनः शस्त्रीकरण किया जा रहा था और सभी बड़ी शक्तियों का सैनिक बजट बहुत बढ़ गया था।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विश्व की अर्थव्यवस्था स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गई। एक ओर साम्यवादी देश हैं और आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) का प्राधान्य है और दूसरी ओर पूँजीवादी प्रजातन्त्र हैं जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र-विश्व व्यापार के पक्षपाती हैं। वर्तमान विश्व की अर्थव्यवस्था का इतिहास इन दो प्रमुख समुदायों के बीच के मौलिक विरोध एवं संघर्ष की कहानी है। एक राष्ट्र के पास उसके राष्ट्रीय हित के साधन के रूप में जो आर्थिक हथियार रहते हैं उनका अध्ययन करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है।

आर्थिक साधनों के प्रकार
(Kinds of Economic Instruments)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने हितों को प्राप्त करने के लिए जो आर्थिक साधन अपनाये जाते हैं वे अनेक प्रकार के हैं। इन सब साधनों के संयुक्त रूप को पामर तथा पर्किन्स ने आर्थिक शस्त्रागार (Economic Arsenal) का नाम दिया है। इस शस्त्रागार के आयुधों का प्रयोग केवल सरकार ही नहीं करती वरन् व्यक्ति भी, बिना सरकार के भाग लिए, कर सकते हैं। इन विभिन्न प्रकार के आर्थिक दबावों का उपयोग किसी आर्थिक लक्ष्य की अपेक्षा राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है। ये सभी साधन परस्पर इतने सम्बन्धित हैं कि एक को अपनाने पर दूसरे को अपनाना आवश्यक बन जाता है। इन सभी साधनों का महत्व परिस्थिति के अनुसार बदलता रहता है। शान्तिकालीन स्थिति में जो साधन उपयोगी रहते हैं, युद्धकाल में उनका महत्व नहीं रह जाता और युद्धकालीन उपयोगी साधन शान्तिकाल में अपनी उपयोगिता खो देते हैं।

वर्तमान काल में एक देश द्वारा अपनी राष्ट्रीय नीति के लिए जिन विभिन्न प्रकार के आर्थिक साधनों का उपयोग किया जाता है, वे मुख्य रूप से निम्न प्रकार हैं—

(i) शुल्क लगाना
(The Tariff)

राष्ट्र की आय बढाने के लिए एक देश अपने आयात पर कर लगा सकता है। इस शुल्क के लगाने पर विदेशी माल महगा पडेगा और इसलिए स्वदेशी माल को प्रतियोगिता से लाभ रहेगा। आयात की भांति निर्यात पर भी कर लगाया जा सकता है किन्तु ऐसा बहुत कम होता है और अमरिका आदि राज्यों म तो इसके विरुद्ध कानून भी बन गया है।

आयात या निर्यात पर शुल्क लगाने के कई लक्ष्य हो सकते हैं—

(१) यह उस देश की आय को बढाने के लिए लगाया जा सकता है।

(२) यह शुल्क विदेशी उद्योगों से स्वदेशी उद्योगो को बचाने के लिए लगाया जा सकता है, इसी कारण इसे सरक्षण शुल्क (Protective tariff) भी कहा जाता है।

(३) इस शुल्क का अप्रत्यक्ष उद्देश्य मजदूरो की वेतन वृद्धि, स्थानीय कारखानो के लाभ को बढाना, दूसरे राज्यो की तुलना मे अपने राज्य की उत्पादन क्षमता को बढाना आदि हो सकते हैं, किन्तु यदि शुल्क का आधार ऐसे सरक्षणात्मक लक्ष्य हैं तो उसका सम्बन्ध केवल एक विशेष उद्योग या कारखान से होना चाहिए।

(४) शुल्क के द्वारा एक देश आरामदेह चीजो के आयात को कम करके तथा आवश्यक नागरिक वस्तुओ के उत्पादन को प्रोत्साहन देकर अपनी अर्थव्यवस्था को सुदृढ बना सकता है।

(५) शुल्क लगाने से जो आयात की मात्रा कम होगी उतनी विदेशी मुद्रा को सुरक्षित रखा जा सकेगा और आयात के भुगतान म कमी नही रहेगी।

(६) एक देश द्वारा शुल्क बदले की भावना से भी लगाये जा सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि दूसरे देश द्वारा इसके किसी माल पर ऐसा शुल्क लगा दिया गया है तो यह भी उस देश के आने वाले माल पर ऐसा ही शुल्क लगा देगा। ऊँचे शुल्क का परिणाम सदैव ही ऊँचा शुल्क होता है इसलिए जब एक देश द्वारा शुल्क की दीवार को तोड दिया जाता है तो उसका प्रभाव अनेक देशो पर पडता है।

एक देश शुल्क अथवा अन्य प्रतिबन्धित नीतियो द्वारा जब अपने आपको दूसरे देशों के मूल्य पर सम्पन्न बनाना चाहता है तो ये नीति 'begger my-neighbour" नीति कहलाती है।

इस प्रकार शुल्क के रूप में प्रत्येक देश के पास एक ऐसा हथियार रहता है जिसके कारण वह दूसरे देश को नुकसान पहुंचा सके। युद्ध के बाद शांति की जो शर्तें लगाई जाती हैं उनमें परिवर्तित शुल्क नीतियों को भी प्रायः समाविष्ट कर दिया जाता है।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय कर्टेल्स का प्रयोग
(The use of International Cartels)

कर्टेल को स्वतन्त्र उद्योगों की एक संस्था कह सकते हैं जो उन कार्यों से समानता रखती है जिनको प्रतियोगिता पर नियन्त्रण रखने के लिए व्यवहृत किया जाता है। यदि इस संस्था के सदस्य अलग-अलग देशों के रहने वाले हैं अथवा विदेशों में व्यापार करते हैं तो यह कर्टेल अन्तर्राष्ट्रीय कही जायगी। 'कर्टेल' शब्द की व्युत्पत्ति 'चार्टा' (Charta) शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ होता है ठेका (Contract)। कर्टेल का उद्देश्य बाजार को नियमित (To regulate the market) करना होता है अर्थात् वह बाजार में किसी का एकाधिकार नहीं रहने देगी और इस प्रकार इसका कार्य केवल विक्रेताओं के हितों की रक्षा करना होता है न कि खरीददारों के हितों की रक्षा। एक संस्था होने के कारण यह स्वाभाविक है कि कर्टेल तभी कार्य कर सकती है जबकि इसके सभी साझेदार सहमत हों। यह निश्चित समझौतों पर एक शक्तिशाली संस्था भी हो सकती है और केवल ऊपरी बातचीत पर निर्भर एक कमजोर संघ भी। बाजार को प्रभावित करने के लिए कर्टेलों द्वारा जिन साधनों को अपनाया जाता है उनके आधार पर इन्हें तीन भागों में बांटा जा सकता है—

(१) मूल्य निर्धारित करने वाले कर्टेल,
(२) उत्पादन को सीमित करने वाले कर्टेल, तथा
(३) विक्रय के प्रदेशों को विभाजित करने वाले कर्टेल।

उक्त तीनों ही प्रकार के कर्टेल्स का आधारभूत लक्ष्य मूल्यों को निर्धारित करना होता है। कर्टेल प्रथा के उपयोग का प्रारम्भ कुछ अस्पष्ट रूप से मध्य युग में ही हो गया था तथा अठारहवीं सदी के ग्रेट ब्रिटेन में और उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मनी और फ्रांस में ऐसी अनेक संस्थायें वर्तमान थीं, किन्तु इन संस्थाओं के लिए कर्टेल (Cartel) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग १८७० में जर्मनी में किया गया। जर्मनी को 'कर्टेल की पुरातन भूमि' (The classic land of the cartel) कहा जाता है। बाद में आस्ट्रिया, स्वीडन, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों ने कर्टेल के विरुद्ध कानून बना दिये किन्तु जर्मनी, इटली

एवं रूस आदि सर्वाधिकारवादी देशों में इस संस्था को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

कर्टेल का प्रयोग उन्हीं उद्योगों में अच्छी प्रकार किया जा सकता है जिनमें काफी मात्रा में उत्पादन किया जा सके तथा जहां गुणात्मक अन्तरों का महत्व नहीं हो। अरविन हैक्सनर (Ervin Hexner) महोदय ने अन्तर्राष्ट्रीय कर्टेल्स को मुख्यतः आठ श्रेणियों में विभाजित किया है। संयुक्त राज्य अमरीका का लोकमत कर्टेल्स का विरोध करता है। वहां रासायनिक एवं विद्युत उद्योगों में कर्टेल्स है, यही कारण है कि इन उद्योगों की भारी आलोचना की जाती है। अमेरिका के अर्थशास्त्रियों का एक समुदाय ऐसा है जिसके मतानुसार कर्टेल्स का प्रभाव अन्तिम रूप से एक देश की अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होता है। एक अमेरिकन विद्वान ह्विटलेसी (Whittlesey) के अनुसार कर्टेल्स के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१ कर्टेल व्यवस्था स्वामिभक्ति का विभाजन करके तथा लाभ प्राप्ति के स्वार्थ को देशभक्ति की भावना से ऊपर रख कर युद्धों को प्रोत्साहन देती है।

२ कर्टेल व्यवस्था के अधीन उत्पादन तथा वितरण पर जो प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं उनके कारण एक देश किसी बड़े युद्ध के लिए उपयुक्त आवश्यक सामग्री से वंचित रह जायगा।

३ कर्टेल एक गुप्तचर का काम करता है क्योंकि यह एक गुप्त अभिकरण (Undercover agency) है जो वैज्ञानिक सूचनाओं को एक देश से ले जाकर दूसरे ऐसे देश में भी पहुँचा सकता है जो उस देश का सम्भावित शत्रु हो।

४. कर्टेल द्वारा विदेश में पूंजी लगाने की ब्याज दर निश्चय कर दी जाती है और इस प्रकार तीसरा कोई देश वहां अपनी पूंजी नहीं लगा सकता।

५. कर्टेल मुख्य रूप से सर्वाधिकारवादी राज्यों के विशेष औजार (Special Tool) है और इसलिए इनको बहिष्कृत किया जाना चाहिए।

ह्विटलेसी (Whittlesey) महोदय कर्टेल के विरुद्ध दिए जाने वाले तर्कों की सत्यता स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि कर्टेल्स के द्वारा जहां राष्ट्रवाद का पृथक्कीकरण होता है वहां इससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जर्मन-कर्टेल के विरुद्ध दिए जाने वाले तर्क असत

इस प्रकार शुल्क के रूप मे प्रत्येक देश के पास एक ऐसा हथियार रहता है जिसके कारण वह दूसरे देश को नुकसान पहुचा सके। युद्ध के बाद शाति की जो शर्ते लगाई जाती हैं उनमे परिवर्तित शुल्क नीतियो को भी प्रायः समाविष्ट कर दिया जाता है।

(ii) अन्तर्राष्ट्रीय कर्टेल्स का प्रयोग
(The use of International Cartels)

कर्टेल को स्वतन्त्र उद्योगो की एक सस्था कह सकते हैं जो उन कार्यों से समानता रखती है जिनको प्रतियोगिता पर नियन्त्रण रखने के लिए व्यवहृत किया जाता है। यदि इस सस्था के सदस्य अलग-अलग देशो के रहने वाले हैं अथवा विदेशों मे व्यापार करते हैं तो यह कर्टेल अन्तर्राष्ट्रीय कही जायगी। 'कर्टेल' शब्द की व्युत्पत्ति 'चार्टा' (Charta) शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ होता है ठेका (Contract)। कर्टेल का उद्देश्य बाजार को नियमित (To regulate the market) करना होता है अर्थात् वह बाजार मे किसी का एकाधिकार नही रहने देती और इस प्रकार इसका कार्य केवल विक्रेताओ के हितो की रक्षा करना होता है न कि खरीददारों के हितो की रक्षा। एक सस्था होने के कारण यह स्वाभाविक है कि कर्टेल तभी कार्य कर सकती है जबकि इसके सभी साझेदार सहमत हो। यह लिखित समझौतो पर एक शक्तिशाली सस्था भी हो सकती है और केवल ऊपरी बातचीत पर निर्भर एक कमजोर सघ भी। बाजार को प्रभावित करने के लिए कर्टेलों द्वारा जिन साधनों को अपनाया जाता है उनके आधार पर इन्हे तीन भागो मे बाटा जा सकता है—

(१) मूल्य निर्धारित करने वाले कर्टेल,
(२) उत्पादन को सीमित करने वाले कर्टेल, तथा
(३) विक्रय के प्रदेशो को विभाजित करने वाले कर्टेल।

उक्त तीनो ही प्रकार के कर्टेल्स का आधारभूत लक्ष्य मूल्यो को निर्धारित करना होता है। कर्टेल प्रथा के उपयोग का प्रारम्भ कुछ अस्पष्ट रूप से मध्य युग में ही हो गया था तथा अठारहवी सदी के ग्रेट ब्रिटेन में और उन्नीसवी शताब्दी के जर्मनी और फ्रास मे ऐसी अनेक सस्थायें वर्तमान थी, किन्तु इन सस्थाओ के लिए कर्टेल (Cartel) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग १८७० मे जर्मनी में किया गया। जर्मनी को 'कर्टेल की पुरातन भूमि' (The classic land of the cartel) कहा जाता है। बाद मे आस्ट्रिया, अमरीका, फ्रास, ब्रिटेन आदि देशों ने कर्टेल के विरुद्ध कानून बना दिये किन्तु जर्मनी, इटली

एवं रूस आदि सर्वाधिकारवादी देशों में इस संस्था को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

कर्टेल का प्रयोग उन्ही उद्योगों में अच्छी प्रकार किया जा सकता है जिसमें काफी मात्रा में उत्पादन किया जा सके तथा जहा गुणात्मक अन्तरों का महत्व नहीं हो। अरविन हैक्सनर (Ervin Hexner) महोदय ने अन्तर्राष्ट्रीय कर्टेल्स को मुख्यतः आठ श्रेणियों में विभाजित किया है। संयुक्त राज्य अमरीका का लोकमत कर्टेल्स का विरोध करता है। वहा रसायनिक एवं विद्युत उद्योगो में कर्टेल्स है, यही कारण है कि इन उद्योगों की भारी आलोचना की जाती है। अमेरिका के अर्थशास्त्रियों का एक समुदाय ऐसा है जिसके मतानुसार कर्टेल्स का प्रभाव अन्तिम रूप से एक देश की अर्थव्यवस्था के लिए घातक सिद्ध होता है। एक अमेरिकन विद्वान ह्विटलेसी (Whittlesey) के अनुसार कर्टेल्स के विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

१ कर्टेल व्यवस्था स्वामिभक्ति का विभाजित करके तथा लाभ प्राप्ति के स्वार्थ को देशभक्ति की भावना के ऊपर रख कर युद्धों को प्रोत्साहन देती है।

२. कर्टेल व्यवस्था के प्रयोग उत्पादन तथा वितरण पर जो प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं उनके कारण एक देश किसी बड़े युद्ध के लिए उपयुक्त आवश्यक सामग्री से वचित रह जायगा।

३ कर्टेल एक गुप्तचर का काम करता है क्योंकि यह एक गुप्त अभिकरण (Undercover agency) है जो वैज्ञानिक सूचनाओं को एक देश से ले जाकर दूसरे ऐसे देश में भी पहुँचा सकता है जो उस देश का सम्भावित शत्रु हो।

४ कर्टेल द्वारा विदेश मे पूञ्जी लगाने की ब्याज दर निश्चय कर दी जाती है और इस प्रकार तीसरा कोई देश वहा अपनी पूञ्जी नहीं लगा सकता।

५. कर्टेल्स मुख्य रूप से सर्वाधिकारवादी राज्यो के विशेष औजार (Special Tool) हैं और इसलिए इनको बहिष्कृत किया जाना चाहिए।

ह्विटलेसी (Whittlesey) महोदय कर्टेल के विरुद्ध दिए जाने वाले तर्कों की सत्यता स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि कर्टेल्स के द्वारा जहा राष्ट्रवाद का पृष्ठपोषण होता है वहा इससे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है। जर्मन-कर्टेल के विरुद्ध दिए जाने वाले तर्क असल

मे कर्टेल-व्यवस्था के दोष नही हैं वरन् वे तो नाजी दल के शासन से उत्पन्न होने वाली बुराइयां हैं। कर्टेल व्यवस्था भेदिया अथवा गुप्तचर इसलिए नहीं माना जा सकता क्योकि इसके द्वारा दी जाने वाली सूचना एकपक्षीय नही होती, यह दोनो ही देशो को परस्पर परिचित कराता है। ह्विटलेसी (Whittlesey) का विचार है कि कर्टेल अपने आप मे एक बुराई नही होता वह तो एक साधन (Instrument) है जिसका प्रयोग अच्छे तथा बुरे दोनो ही लक्ष्यो के लिए किया जा सकता है। यह मानना अनुचित रहेगा कि कर्टेल के द्वारा राष्ट्रीय सुरक्षा को कमजोर बनाया जाता है।[1]

(iii) अन्तसरकारी वस्तु समझौता
(Intergovernmental Commodity Agreement)

अन्तर्सरकारी वस्तु समझौता एक देश विशेष को विश्व बाजार मे एक निश्चित भाग (Definite Share) के लिए आश्वस्त (assure) करने का प्रयास है। इसका उद्देश्य हमेशा उत्पादको के हितो की रक्षा करना होता है। ऐसे समझौते उपभोक्ताओ के हितों की ओर कभी ध्यान नही देते। ये समझौते तभी किए जाते हैं जब किसी विशेष वस्तु का सामान्य रूप मे अति-उत्पादन (Over Production) हुआ हो तथा उसे विनाशकारी प्रतिद्वन्दिता से बचाना हो। ऐसे समझौते के अनेक रूप होते हैं। यदि ये समझौते सरकार द्वारा न किए जाकर व्यक्तियो द्वारा किए जायें तो इन्हे कर्टेल कहा जाएगा।

जब एक वस्तु अनेक देशों मे पैदा की जाती है तो केवल एक देश उसकी कीमतो को स्थिर रखने मे समर्थ नही हो सकता। मान लीजिए एक देश किसी वस्तु के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दे अथवा उसके उत्पादन को सीमित कर दे तो दूसरे राज्यो द्वारा उत्पादित वही वस्तु बाजार मे आएगी और तब यह आवश्यक बन जाएगा कि वस्तु समझौता (Commodity agreement) किए जाए। अन्तर्सरकारी वस्तु समझौता प्राय कृषि एव खनिज उत्पादनों पर ही किया जाता है। औद्योगिक उत्पादनो पर प्राय यह लागू नही होता। इसका कारण यह है कि औद्योगिक उत्पादन कुछ थोडे से व्यक्तियो द्वारा किया जाता है जो व्यक्तिगत रूप से समझौते कर सकते हैं किन्तु कृषि एव खनिज उत्पादन कार्य अनेक व्यक्तियों द्वारा किया

---

1 Whittlesy, Charles R, National Interest and International *Cartels, 1946*, P 36

(४) एक देश द्वारा निर्यात किए जाने वाले सामान की कीमत घटा दी गई है तो जो देश उस सामान का आयात कर रहा है उस देश की अर्थव्यवस्था पर इसका प्रभाव पड़ेगा तथा यह सम्भव है कि विरोध के रूप में वह दूसरा देश भी अपने निर्यात किए जाने वाले सामान की कीमत घटा दे।

(५) विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के लिए भी एक देश द्वारा डम्पिंग (Dumping) की व्यवस्था को अपनाया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जर्मनी तथा जापान ने ऐसा ही किया था। विदेशी मुद्रा प्राप्त करने के कई कारण हो सकते है जैसे कि–सैनिक तैयारियों के लिए, फैक्ट्रियों को बढ़ाने के लिए प्रशिक्षित कुशल मजदूर रखने के लिए, तकनीकी शोध कार्य के लिए आदि।

डम्पिंग यदि दीर्घकाल के लिए किया जा रहा हो तो यह उचित रहेगा कि विदेशी माल के आयात पर शुल्क (Tariff) लगा दिया जाय। इसी प्रकार निर्यात–पारितोषिक (Export-bounties) का भी भारी महत्व है। विनर (Viner) के मतानुसार "आज की प्रतियोगितापूर्ण परिस्थितियों में बिना निर्यात-पारितोषिकों के एक दीर्घकालीन व्यवस्थित डम्पिंग के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता।"[1] डम्पिंग व्यवस्था के अन्तर्गत जो देश माल का आयात कर रहा है उस देश के स्थानीय उद्योग एवं कारखाने प्रतियोगिता में पिछड़ जायेंगे। यद्यपि उस देश के खरीददार इसस लाभान्वित अवश्य होंगे किन्तु स्थानीय कारखानों पर पड़ने वाला बुरा प्रभाव उस देश की अर्थव्यवस्था के लिए भी घातक बन जायेगा।

(६) पहले से ही माल खरीद लेना
(Pre emptive Buying)

इस प्रक्रिया के अधीन तटस्थ देश के सामान को इसलिए खरीद लिया जाता है ताकि वह शत्रु के हाथों न पड़ने पाये। ऐसा सामान खरीदते समय उसके व्यापारिक पक्ष अर्थात् लाभ हानि पर ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रकार की खरीद प्रायः युद्ध और संघर्षों के दौरान ही की जाती है तथा इनका मूल उद्देश्य शत्रु को आवश्यक सामान से वंचित रखना होता है। पाल एन्जिग (Paul Einzig) ने लिखा है कि "ज्यों ही द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हुआ

1 Viner, Jacob, Dumping : A problem in International Trade, 1923, P. 93

मे भारतीय निवास करते हैं। इन विदेशी राष्ट्रीयता वाले लोगो की जो सम्पत्ति होती है वह उनकी स्वय की व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है। जिस राष्ट्र में वे रह रहे है उसका अधिकार है कि वह इस सम्पत्ति को छीन ले। राज्य का यह व्यवहार दूसरे राष्ट्रो की सम्पत्ति पर नियन्त्रण कर लेना माना जायगा क्योकि अप्रत्यक्ष रूप से यह सम्पत्ति उस राष्ट्र की थी जिस राष्ट्रीयता का वह व्यक्ति था। यह सम्पत्ति माल, ऋण, कोषमय धन, बीमा पॉलिसी आदि अनेक रूपो म हो सकती है।

सम्पत्ति के अपहरण की यह परम्परा तेरहवी शताब्दी तक सामान्य मानी जाती थी किन्तु बाद म दूसरी राष्ट्रीयता वालो को कुछ स्वतन्त्रतायें (immunity) प्रदान की गयी जिनम उनको सम्पत्ति रखने का अधिकार था। सन् १६१७ ई० से पूर्व अमरीका द्वारा किसी भी युद्ध मे सम्पत्ति के अपहरण को मान्यता नही दी गई किन्तु प्रथम विश्व युद्ध के बाद वार्साय की सन्धि (Treaty of Versailles) के अधीन यह व्यवस्था की गई थी कि मित्र राष्ट्र अपने-अपने अधिकार क्षेत्रो मे बसने वाले सभी जर्मन राष्ट्रीयता वाले व्यक्तियो की सम्पत्ति का अपहरण कर सकते है तथा जर्मनी का यह उत्तरदायित्व माना गया कि ऐसे लोगो की वह क्षति पूर्ति करे। द्वितीय विश्व युद्ध के समय डेनमार्क और नार्वे पर जर्मनी का हमला होन पर अमेरिका ने वहा के लोगो की सम्पत्ति को अपने मे मिला लिया। कहा जाता है कि यह इसलिय किया गया था ताकि निरपराध तटस्थ लोगों के हितो की रक्षा की जा सके। इसका कारण हिटलर को सम्भावित प्राप्तियो (Potential gains) से वचित रखना न था।

(viii) कर्ज तथा उपहार
(Loans and Grants)

प्राचीनकाल से ही उपहार तथा कर्ज राज्यो के परस्पर सम्बन्धो की विशेषता बने हुए हैं। दो देशो की मैत्री को बढाने मे उपहारो का बडा महत्वपूर्ण योगदान रहा है। वर्तमान युग में उपहार तथा कर्ज प्रतिदिन के व्यवहार की बात बन गये हैं। प्रत्येक देश एक देश से कर्जा और उपहार प्राप्त करता है और दूसरे देश को वह प्रदान भी कर देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कर्ज तथा उपहारो की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं—

१. ऐसे कर्जो या उपहार देने वाले राष्ट्र के तथा लेने वाले राष्ट्र के अलग-अलग उद्देश्य हो सकते हैं। उद्देश्य कोई विशेष हो सकता है अथवा सामान्य। लेनदार और देनदार की बातें सीधी हो सकती हैं और किसी तीसरे राष्ट्र द्वारा भी उनके बीच सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

२ जो कर्जा दिया जाता है उसकी वापसी प्राय धन अथवा सामो में न की जा कर सामान के रूप में की जाती है।

३ कर्ज देने वाला भी अपने देश के कारखानो के विकास की दृष्टि से कर्जा देता है। उसका दूसरा लक्ष्य अन्य देशो के साथ मंत्री बढाना भी हो सकता है।

४ कर्जा जब दिया जाता है तो उस पर ब्याज इतना कम लिया जाता है कि इसे भी एक प्रकार का उपहार समझा जा सकता है। कर्जा विदेशी मुद्रा, मशीन, सामान, कच्चा माल आदि रूपो में दिया जा सकता है और इसका लक्ष्य दूसरे देश का औद्योगिक उत्थान एवं विकास योजनाओ को सफल बनाना होता है।

५ कभी-कभी कर्जा लेने वाले देश को कर्जे के प्रभाव से अपनी नीतियां बदलने के लिये मजबूर भी होना पड जाता है। कर्जा देने वाले देश तथा कर्जा लेने वाले देश के बीच यद्यपि मित्रता की भावनायें रहती हैं किन्तु यह मैत्री समान भावनाओं पर आधारित नहीं रहती वरन् ऊच नीच के भावो का अस्तित्व रहता है।

६. कर्जा देने एव उपहार प्रस्तुत करने के नाम पर कभी कभी एक देश दूसरे देश पर अनुचित प्रभाव डालने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए भारत पाक सघर्ष के समय अमेरिका और ब्रिटेन के रुख को लिया जा सकता है। ब्रिटेन ने भारत को हथियार भेजना बन्द कर दिया क्योकि भारत सरकार पाकिस्तान के सम्बन्ध में ब्रिटेन के बताये गये रुख को अपनाने के लिए तैयार न थी। अमेरिका ने भारत को गेहू भेजने के ऊपर शर्तें लगानी चाही तथा अन्न सङ्कट को दूर करने में सहायता देने के नाम पर भारत पर अपने कुछ निर्णय थोपने चाहे। किन्तु जब समस्त भारतीय जनता की प्रतिक्रिया को देखा तो उसे अपना रुख बदलना पड़ा।

अमेरिका ने साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए इस साधन का बहुत अधिक प्रयोग किया है। इसी कारण रूस ने इसी नीति को साम्राज्यवाद का ही एक दूसरा रूप कहा है। विदेशों की सहायता करने के लिए अमेरिका द्वारा *मार्शल योजना, ट्रूमेन सहायता सिद्धात, पारस्परिक सहायता योजना* आदि अपनाये गये हैं। अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रख कर ही एक राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक अभिकरणों (Economic agencies) का समर्थन करता है। कुछ परिस्थितियों में एक देश कर्जा चुकाने से मना भी कर सकता है, उदाहरण के लिए सोवियत रूस ने उन सभी कर्जों का भुगतान करने से मना कर दिया जो कि 'जार' द्वारा लिए गये थे।

(ix) विनिमय नियन्त्रण
(Exchange Control)

प्रत्येक देश के पास उतनी विदेशी मुद्रा नही रहती जितनी कि उसके उपयोग के लिए आवश्यक होती है। इसलिए यह आवश्यक बन जाता है कि वह विदेशी विनिमय पर नियन्त्रण रखे ताकि आयात व निर्यात के बीच सतुलन की स्थापना की जा सके। इसके लिए एक देश कुछ आयातों एव निर्यातो का प्रोत्साहन देगा और दूसरो को हतोत्साहित (Discourage) करेगा। विनिमय नियन्त्रण के द्वारा एक देश अपनी पूञ्जी को विदेश जाने से रोक सकता है, वह अपनी मुद्रा की अधिक कीमत स्थिर कर सकता है और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को पृथक करके घरेलू योजनाओं (Domestic programmes) की सुरक्षा कर सकता है। क्रोसे (Krause) महोदय के विचारानुसार "पृथक करने की व्यवस्था के कारण विनिमय नियन्त्रण उन देशो के आर्थिक शस्त्रागार का प्रमुख हथियार रहा है जो योजनाबद्ध रूप से विकास करना चाहते हैं।"[1] विनिमय नियन्त्रण का सबसे अधिक प्रयोग स्टर्लिङ्ग क्षेत्रो (वे देश जहा की मुद्रा ब्रिटिश पौण्ड से जुडी हुई है) मे किया गया है।

(x) आर्थिक सहायता
(Subsidies)

आर्थिक सहायता, जैसा कि पामर तथा परकिन्स का मत है, वह भुगतान है जिसका उद्देश्य देश मे उत्पादन को तथा विदेश मे उसकी बिक्री को प्रोत्साहित करना होता है। इस सहायता का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुत कुछ वैसा ही प्रभाव होता है जैसा कि शुल्क (Tarrif) का हुआ करता है। फिर भी दोनो का अपना अपना महत्व है। सरकार द्वारा देश के किसी कारखाने को आर्थिक सहायता प्रदान करके जब देश मे और विदेशो मे आगे बढ़ा दिया जायगा तो वह निश्चय ही दूसरे देश के कारखानों के समक्ष एक प्रतियोगी के रूप मे खडा हो जायगा तथा दूसरे देशो की अर्थव्यवस्था पर भी इसका बुरा असर पडेगा। डॉटो बन्धुओ के मतानुसार शुल्क (Tarrif) और आर्थिक सहायता (Subsidy) के बीच का अन्तर यह है कि "आर्थिक युद्ध (Economic warfare) मे शुल्क का प्रयोग केवल आत्म-रक्षा के लिये किया जा सकता है किन्तु आर्थिक सहायता का उपयोग आक्रमण करने के लिए भी किया जा सकता है।" एक आक्रमणकारी हथियार होने के कारण

1 Walter Krause, The International Economy. 1955 P. 163

आर्थिक सहायता डम्पिंग (Dumping) के लिए वातावरण तैयार करती है किन्तु शुल्क (Tarrif) द्वारा ऐसा नहीं किया जा सकता।

(xi) कोटा और लाइसेंस
[Quotas and Licenses]

जब एक सरकार आयात पर सीधा नियंत्रण रखना चाहती है तो वह कोटा व्यवस्था को अपना लेती है। इस व्यवस्था के अधीन एक देश से अथवा सभी देशों से आने वाले माल की एक सीमा निश्चित कर दी जाती है। कोटा व्यवस्था को इसलिए अपनाया जाता है ताकि देश के उत्पादकों की रक्षा की जा सके और यह व्यवस्था की जा सके कि देश का 'आयात' निर्यात की अपेक्षा अधिक न हो जाये, निर्यात व्यापार पर कोटा का प्रयोग प्राय केवल युद्ध काल में ही किया जाता है। क्योंकि युद्ध काल में यह भादेश रहता है कि जिस देश को माल निर्यात किया जा रहा है वह उसी माल को शत्रु देश के लिए निर्यात न कर दे। आयात पर और भी अधिक नियन्त्रण लगाने के लिए लाइसेंस व्यवस्था को अपनाया जाता है। इस व्यवस्था के अधीन कोई भी दूसरा देश जब-जब निर्यात करना चाहेगा तब-तब उसे इसके लिए लाइसेंस लेना पड़ेगा। यह लाइसेंस देते समय एक देश उस समय की अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखेगा। कोटा तथा लाइसेंस प्रणाली द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रवाह को रोक दिया जाता है तथा इन व्यवस्थाओं की प्रतिक्रिया एवं विरोध बहुत जल्दी होता है। फिर भी दो महायुद्धों के बीच के समय में इन दोनों प्रणालियों का उपयोग काफी किया गया, मुख्य रूप से फ्रांस ने इनको खूब अपनाया है।

(xii) वर्ज्य सूची
[Black lists]

इस साधन के अधीन एक देश द्वारा ऐसी सूची प्रसारित की जाती है जिसमें उन राष्ट्रीयताओं के नाम होते हैं जिनके साथ व्यापार को बहिष्कृत करना हो। सूची में दिये गये नामों के साथ देश का कोई व्यक्ति या संस्था व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रख सकता। उन सूचीबद्ध लोगों की संपत्ति का भी उस देश के द्वारा अपहरण कर लिया जाता है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि वर्ज्य सूची किसी राज्य के सम्बन्ध में नहीं बनाई जाती किन्तु केवल व्यक्तिगत उद्योगों और व्यक्तियों पर ही लागू होती है।

(xii) मूल्य निर्धारित करना
[Valorization]

सरकार जब किसी वस्तु की कीमत बढ़ाने के लिए कोई कदम उठाती है तो Valorization कहा जाता है। किन्तु यहा इसका अर्थ केवल उसी वस्तु की कीमत बढाने मे सम्बन्धित है जिसकी कीमत बहुत अधिक गिर गई हो। ऐसा करने के लिए सरकार उस वस्तु को खरीद कर अपने पास रख लेती है अथवा उसके उत्पादन को कम कर देती है। अन्तर्सरकारी वस्तु समझौतों के प्रचलन के कारण अब इस साधन का प्रचलन एव महत्व बहुत कम हो गया है।

ऊपर जिन विभिन्न साधनों का उल्लेख किया गया है उनको समय की आवश्यकता एव परिस्थितियो की प्रकृति के अनुसार एक देश द्वारा अपनाया जाता है ताकि उसके स्वार्थों की पूर्ति हो सके। वैसे राष्ट्रीय नीति के आर्थिक साधन केवल यही नही हैं जिनको कि वर्णित किया गया है वरन् इनके अतिरिक्त और भी हो सकते हैं तथा समय समय पर सरकारो द्वारा नये भी आविष्कृत कर लिये जाते हैं। दूसरे देशो को हानि पहुचाने वाले आर्थिक साधनो को यद्यपि बुरा-भला कहा जाता है किन्तु फिर भी अनेक देशो द्वारा इनको अपनाया जाता है। यह तथ्य वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सबधो की एक प्रधान समस्या है। आजकल विश्व के अनेक राज्यो मे मुख्य रूप से सर्वाधिकारवादी राज्यो मे आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) की प्रवृत्ति बढती जा रही है। दूसरी ओर आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयतावाद (Economic Internationalism) की तरफ भी कुछ प्रयास किये जा रहे हैं। दोनो प्रवृत्तियो मे से विश्व किसका वरण करेगा इसका निर्णय भविष्य ही करेगा।

आज का विश्व एक परिवार के समान हो गया है। आवागमन एव सचार के द्रुतगामी साधनो ने देशो की दूरी को बहुत कम कर दिया है। इन उत्तरोत्तर बढते हुए निकटस्थ सम्बन्धो के कारण राष्ट्रीय नीति के साधनो के रूप मे आर्थिक साधनो का महत्व जितना इस युग मे है उतना शायद पहले कभी नही था। आर्थिक साधनों के महत्व का एक दूसरा कारण यह भी है कि अणुशक्ति ने युद्धो के रूप को परिवर्तित कर दिया है तथा आज के विध्वसकारी शस्त्रो के रूप म कोई भी राष्ट्र सैनिक दाव पेंच दिखा कर अपने को शक्तिशाली सिद्ध करने का साहस सम्भवत न करेगा। इसके लिए वह आर्थिक साधनो का आश्रय ले सकता है।

वैदेशिक आर्थिक सहायता
[Foreign Economic Assistance]

आज के युग में विदेशी व्यापार, विदेशी सहायता एवं विदेशी व्यय की सीमाएं मिट गई हैं। ये सभी कार्य संचालन की दृष्टि से परस्पर गुथ गए हैं। आर्थिक सहयोग से हमारा तात्पर्य एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को आर्थिक साधन प्रदान करने के प्रावधान से है। इस आर्थिक सहायता का उद्देश्य स्पष्ट रूप से राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि होता है। यदि गैर सरकारी लोग लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से विदेशों में पूञ्जी लगाते हैं तो यह उचित समझा जाएगा। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान ग्रेट ब्रिटेन का समुद्र पार का व्यापार ऐसा ही था। इस व्यापार के परिणामस्वरूप जो पूञ्जी ग्रेट ब्रिटेन को मिली तथा उसके हित जितने अधिक उलझे उतना ही उसे लाभ रहा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से विदेशी सहायता के तीन रूप रहे हैं। जो युद्ध से पीड़ित देश हैं उनको राहत एवं आर्थिक पुनर्निर्माण की जरूरत होती है। जो राष्ट्र उदित हो रहे हैं उनको अपने सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक आधुनिकीकरण के लिए सहायता की जरूरत रहती है। तीसरे प्रकार के देश ऐसे होते हैं जिनको कि साम्यवादी दबावों का विरोध करने के लिए सहायता की जरूरत होती है या आन्तरिक उपद्रवों को दबाने के लिए सहायता आवश्यक होती है अथवा खराब फसल होने के कारण या कोई ऐसी घटना घटने के कारण जो उस राज्य के अधिकार के बाहर की चीज थी, सहायता आवश्यक होती है। सहायता के अन्तिम दो लक्ष्यों के बीच कभी कभी अन्तिराव हो जाता है।

कुछ लोगों का यह तर्क है कि सहायता के आधार पर निरन्तर मित्रता एवं समर्थन कायम नहीं किया जा सकता और न ही निश्चित रूप से देश का विकास सम्भव होता है। यह तर्क अधिक महत्व नहीं रखता क्योंकि शक्ति सम्बन्धों को आत्म हित के मापदण्ड से निर्देशित किया जाता है न कि परोपकार की भावना से सहायता कार्यक्रम द्वारा ऐसी घटनाओं को विकसित होने के लिए भी आमन्त्रित किया जाता है जो कि वैसे घटित नहीं होतीं।

संयुक्त राज्य अमरीका ने उपर्युक्त तीन उद्देश्यों से विदेशी सहायता प्रदान की है। सन् १६४५ से लेकर सन् १६५० तक संयुक्त राज्य अमरीका ने २० बिलियन डालर से अधिक धन पश्चिमी यूरोप की रचना में व्यय कर दिया। इसमें से अधिकांश राशि मार्शल योजना के अधीन खर्च की गई। इस कार्यक्रम की सफलता के परिणामस्वरूप विश्व व्यापार में बड़ी प्रतियो-

गिता हो गई है और पश्चिमी यूरोप अब इतना समर्थ हो गया है कि उदीयमान देशो के विकास मे सहयोग दे सके। मार्शल योजना के अन्तर्गत जो सहयोग प्रदान किया गया उसमे अधिकतर डालर एव पू जीगत माल के आदान-प्रदान मे ही था। तकनीकी सहायता की मात्रा बहुत कम थी क्योकि पश्चिमी यूरोप के राज्यो मे यह पहले से ही स्थित थी।

सन् १९५० के बाद से दी जाने वाली अधिकांश सहायता का रूप बदल गया है और अब यह अधिकतर अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों, विशेषकर विश्व बैंक द्वारा प्रदान की जाती है। यह सहायता मुख्यत विकासशील देशो को दी जाती है। इस सहायता मे अनुदान की अपेक्षा ऋणों पर अधिक जोर दिया जाता है तथा इन देशो को दिए जाने वाले तकनीकी सहयोगो मे अमरीकी सरकार, उसके कई गैर सरकारी अभिकरण और अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरण योगदान करते हैं। एक विकासशील देश मे विभिन्न सहायता कार्यों का समन्वय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक महत्वपूर्ण किन्तु नई समस्या है।

सहायता प्रदान करने के तरीके विभिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ उदाहरणो मे एक सहायता देने वाला देश किसी बहु उद्देश्यीय अभिकरण को योगदान दे सकता है, जैसे, अन्तर-अमरीकी विकास बैंक को, जो कि बाद मे अन्य देशो को कर्जा देती है। कोई देश सयुक्त राष्ट्रसघ के अभिकरण को भी सहायता प्रदान कर सकता है जो बाद मे अन्य देशो को तकनीकी सहयोग दे। सहायता करने वाला देश प्रत्यक्ष रूप से भी अन्य देश की सहायता कर सकता है अथवा वह सहायता देने वाले कुछ देशो के साथ मिलकर ऐसा कर सकता है। दक्षिण एशिया के लिए कोलम्बो योजना कुछ इसी प्रकार की सहायता का उदाहरण है। सहायता करने वाले देश अब अनुदान एव ऋण के व्यय को सामान्यत अपने उत्पादन के साथ जोड देते हैं। किन्तु जो धन अनेक देशों द्वारा मिल कर दिया जाता है उसे इस प्रकार नही जोडा जा सकता। सहायता प्राप्त करने वाला देश उस धन को किसी भी काम के लिए प्रयुक्त कर सकता है जैसे कि तैयार माल का आयात करने के लिए, स्कूलो और अस्पतालो के लिए, सचार व्यवस्था की रचना के लिए, नए उद्योगो की रचना के लिए, शिक्षा एव मानवीय कुशलता के विकास के लिए, आदि आदि। धन की दृष्टि से नापने पर यह कहा जा सकता है कि विदेशी सहायता एक बडा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बन गया है। इससे राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रभाव डाला जाता है।

सहायता के कर्ता एवं रूप

सन् १९६३ में उदीयमान स्वतन्त्र दुनिया के राज्यों ने ऋण तथा अनुदान के रूप में ८१ विलियन डालर की आर्थिक सहायता प्राप्त की। इसमें से ६० प्रतिशत सहयोग संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा किया गया, चार विलियन पौण्ड द्विपक्षीय आधार पर दिया गया और १४ विलियन डालर का अनुपात अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों द्वारा प्रदान किया गया। अन्य विकसित देशों ने २.७ विलियन डालर सहायता के रूप में प्रदान किए। इनमें से अधिकांश ने विकास परामर्शदाता समिति के साथ मिल कर कार्य किया। संयुक्त राज्य अमरीका ने लगभग एक विलियन डालर सैनिक सहायता के रूप में खर्च किए। केवल सांख्यिकीय के आधार पर कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। एक देश में स्थायित्व की रक्षा के लिए कुछ अल्पकालीन ऋण भी होते हैं। जो देश सहायता प्राप्त करते हैं उन पर विदेशी कर्ज का पर्याप्त भार बढ़ जाता है और भुगतान की समस्या खड़ी होती है। ब्याज तथा भुगतान के रूप में इन देशों को अपनी विदेशी मुद्रा की आमदनी का एक बहुत बड़ा भाग देना होता है।

विदेशी सहायता केवल धन के ही रूप में नहीं दी जाती वरिक जिन विद्यार्थियों, प्रशासकों एवं तकनीकी परामर्शदाताओं को प्रशिक्षित किया जाता है वे जब स्वदेश लौट कर जाते हैं तो आर्थिक सहायता से किसी भी प्रकार कम नहीं होते। विकसित देश अपने तकनीकी विशेषज्ञों एवं वैज्ञानिकों को दूसरे देशों के विकास में सहायता देने के लिए भेजते रहते हैं। सन् १९६४ में लगभग १४५०० तकनीकी विशेषज्ञ करीब ३० देशों में कार्य कर रहे थे तथा हजारों विदेशी छात्र वजीफे के आधार पर साम्यवादी देशों में अध्ययन कर रहे थे। साम्यवादी चीन ने अफ्रीका तथा दुनिया के अन्य भागों में अपने सहायता कार्यक्रम को पर्याप्त व्यापक बना दिया है परन्तु उसने सहायता कार्यक्रमों को जिस प्रकार राजनैतिक लक्ष्यों के लिए प्रयुक्त किया वे बड़े घटिया दर्जे के थे और इसीलिए यह कार्यक्रम वांछित रूप में फलदायक न बन सका। संयुक्त राष्ट्र संघ के अभिकरण भी विकासशील देशों में अपने हजारों प्रतिनिधि भेजते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के १८००० कार्यकर्त्ताओं में से करीब १६००० कार्यकर्ता सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाओं में संलग्न हैं। सन् १९५५ में संयुक्त राज्य अमरीका ७० देशों को सहायता प्रदान कर रहा था। उसका अधिकांश व्यय एक दर्जन देशों में केन्द्रित था और शेष ५८ देशों में आर्थिक मिशन कार्य कर रहे थे। संयुक्त राज्य अमरीका के कितने लोग सहायता कार्यक्रमों में

विदेशों में कार्य कर रहे हैं इसका अनुमान लगाना बड़ा कठिन है। किन्तु यह तो निश्चित है कि यह संख्या साम्यवादी देशों की तुलना में अधिक है।

सहायता का उद्देश्य

व्यक्तिगत जीवन की भांति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी परोपकार, सहानुभूति और सज्जनता का स्थान होता है। जिस रूप में विदेशी सहायता दी जाती है उससे ऐसा लगता है कि सहायता देने वाला देश मुख्यतः मानवीयता को ध्यान में रख कर ऐसा कर रहा है। सहायता का कार्य विकसित देश की अतिरिक्त उत्पादन की समस्या को सुलझाना है। इसके अतिरिक्त जब एक विकसित देश दूसरे देश के विकास के लिए कुछ धन प्रदान कर देता है तो इससे उसके सामान को सदा के लिए दीर्घकाल तक बाजार मिल जाते हैं। यह कारण एक तथ्य होते हुए भी सहायता देने का मुख्य कारण नहीं समझा जाता। कहते हैं कि सहायता का मुख्य कारण राजनैतिक है। उदीयमान राज्य शीघ्रता के साथ आधुनिकीकरण चाहते हैं। इनमें से अधिकांश की स्थिति क्रान्तिकारी है, अव्यवस्थित है और खतरनाक हो सकती है। संयुक्त राज्य अमरीका एवं कुछ विकसित देश यह मानते हैं कि विदेशी सहायता प्रदान करना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उदीयमान देशों के सम्बन्ध में साम्यवादी तथा पश्चिमी शक्तियों के बीच जो प्रतिद्वन्द्विता है तथा साम्यवादी गुट में जो संघर्ष है उसने विदेश नीति के इस साधन की अवहेलना करना महाशक्तियों के लिए अव्यावहारिक बना दिया है। राष्ट्रपति कैनेडी ने २५ मई, १९६१ को कांग्रेस को दिए गए अपने संदेश में यह कहा था कि आज स्वतन्त्रता के प्रसार एवं सुरक्षा के लिए बड़ी युद्धभूमि दुनिया का सम्पूर्ण दक्षिणी भाग अर्थात् एशिया, लैटिन अमरीका, अफ्रीका और मध्यपूर्व हैं जो उठते हुए लोगों की भूमि हैं। उनकी क्रान्ति मानव इतिहास में महान है।[1]

इस प्रकार विश्व में संघर्ष का रूप बदल गया है। आज के छिपे हुए आक्रमण के साधनों में हम हथियार, दया करने वाले, सहायता, विरोधपत्र, प्रचार, सरकार को बदलना, क्रान्ति के लिए समर्थन, आदि साधनों को ले सकते हैं। इन सभी हथियारों से युक्त साम्यवादी देश अपने प्रदेश को एकीकृत करने की योजना बनाते हैं ताकि नए राष्ट्रों का शोषण कर सकें उन

1. President John F, Kennedy, in a message to Congress on May 25, 1961.

पर नियन्त्रण रख सकें और अन्त मे उनको आशाओं को समाप्त कर सकें। साम्यवादियो का कार्यक्रम है कि शीघ्र ही अपनी इन महत्वाकांक्षाओं को पूरा करें। इन संघर्ष से कोई भी बड़ी शक्ति अपने आपको अलग नही रख सकती।

संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा सचालित विदेशी सहायता कार्यक्रम पर अमरीकी जनमत का पर्याप्त प्रभाव है। वहा का जनमत इस कार्यक्रम के अधिक पक्ष मे नही है। आलोचनाओं एवं विरोधो के कारण यह अलोकप्रिय एव आकार की दृष्टि से सीमित है। जनता इस बात पर विचार नही करती कि सहायता कार्यक्रम मुख्य रूप से कर्ज होता है और इससे उन वस्तुओ की माग भी पूरी हो जाती है जो कि वैसे खरीदनी पड़ती। जो लोग सहायता कार्यक्रम के सही रूप को समझते हैं वे इसे विदेश नीति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। एक बार राज्य सचिव डीन रस्क ने सदन की विदेशी मामलो की समिति को यह कहा था कि आर्थिक सहायता संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा एव राष्ट्रीय हित के लिए मूल तत्व है। इसके बिना अधिकाश देश निश्चय ही पिछली दो दशाब्दियों में साम्यवादी बन गये होते और इस प्रकार स्वतन्त्रता की सीमायें बहुत सकरी बन जाती तथा अमरीकी लोग कम स्थिर एव अत्यधिक चुनौतीपूर्ण दुनिया मे निवास करते।[1]

विदेशी सहायता कार्यक्रम के माध्यम से कोई देश सहायता प्राप्त करने वाले देश की स्थाई मित्रता की आशा नही कर सकता। पश्चिमी शक्तियो एव साम्यवादी देशो का इस सम्बन्ध मे एक जैसा अनुभव है। इण्डोनेशिया को चीन तथा सोवियत सघ की पूरी सहायता मिल रही थी किन्तु फिर भी वहा सन् १९६५ मे साम्यवादी दल को दबा दिया गया और इण्डोनेशिया ने ३१ अक्टूबर, १९६७ को अपना अन्तिम राजनयिक कर्मचारी भी चीन से वापस बुला लिया। बर्मा के सम्बन्ध मे भी चीन को ऐसे ही अनुभव प्राप्त हुए और इनके कारण उसे अपने तकनीकी विशेषज्ञों एव सलाहकारों को वापस स्वदेश बुलाने का निर्णय लेना पड़ा। साम्यवादी चीन के अनेक अधिकारियों एव कार्यकर्ताओ को कई अफ्रीकी देशो ने अपने देश से निकाल दिया यद्यपि ये देश चीनी सहायता प्राप्त कर रहे थे।

जब सहायता कार्यक्रम का रूप निर्धारित किया जाता है तथा उसका सचालन किया जाता है तो अनेक विकल्प सामने आते हैं जिनके सम्बन्ध मे

1 Dean Rusk, The New York Times, March, 18, 1961.

कोई निश्चित सूत्र नहीं है। किसी देश को सहायता दी जाए या नहीं दी जाए ?, सहायता का अनुपात कम हो या अधिक हो ?, कम समय के कर्ज पर अधिक जोर दिया जाए या अधिक समय के कर्ज पर ?, व्यक्तिगत लागत एवं व्यक्तिगत उद्यम को प्रोत्साहन देने के लिए विशेष प्रयास किए जायें अथवा न किए जायें ?, क्या सहायता कार्यक्रमों के सम्बन्ध में दूसरों से प्रतियोगिता करनी चाहिए ?, ये अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर निश्चित रूप से देना बड़ा कठिन है। एक समस्या यह भी उठती है कि सहायता कार्यक्रम के प्रभाव को कैसे नापा जाए तथा प्राथमिकतायें कैसे तय की जायें। कार्यक्रम की सफलता बहुत कुछ राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक तत्वों द्वारा तय की जा सकती है जिसे नापा नहीं जा सकता।

आर्थिक युद्ध
(Economic Warfare)

एक देश अपने आर्थिक साधनों का प्रयोग जब दूसरे विरोधी राज्य की सम्भावित एवं वास्तविक शक्ति को कम करने का प्रयास करता है तो उसे हम प्रायः आर्थिक युद्ध का नाम देते हैं। इस प्रकार से संघर्ष परम्परागत रूप से होते रहे हैं इसलिए यह कोई नई बात नहीं है। इस सम्बन्ध में क्लासविज का यह कहना अत्यन्त तथ्य सगत प्रतीत होता है कि *शान्तिकाल में अपने शत्रु को कूटनीति और व्यापार द्वारा निःशस्त्र बना दो तब उसे तुम* युद्ध के मैदान में आसानी से जीत सकोगे। प्रत्येक राज्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सम्मान बुमान से लेकर हिंसात्मक साधनों तक प्रत्येक कदम को अपना सकता है। आर्थिक तकनीकें तथा प्रभावन इन तरीकों के बीच में ही स्थान रखते हैं। आर्थिक साधन जैसे किसी देश की सहायता के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं वैसे किसी के विरुद्ध भी काम में लाये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि अन्तर्राष्ट्रीय मानटरी फण्ड (International Monetary Fund) एक देश में विनिमय की साख को आर्थिक सुधारों से जोड़ सकता है किन्तु यदि एक देश से इस प्रकार की साख को रोक दिया जाए तो यह उस देश के विरुद्ध आर्थिक दबाव कहलाएगा और स्पष्ट रूप से आर्थिक युद्ध की परिभाषा में आएगा। आर्थिक दबाव एक देश की आर्थिक स्थिति एवं सामर्थ्य को कमजोर बना देते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व दुनिया के देश आर्थिक दबावों की प्रभावशीलता को बहुत महत्व देते थे। सन् १९३५ में राष्ट्रसंघ ने इटली के विरुद्ध आर्थिक दबाव लगाये क्योंकि उसने इथोपिया के विरुद्ध आक्रमण कर दिया

था। किन्तु ये दबाव प्रभावहीन रहे। ऐसे ही दबाव संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा द्वारा सन् १९५१ में साम्यवादी चीन के विरुद्ध लगाए गए जब कि उसने कोरिया पर आक्रमण किया। ये दोनों ही दबाव प्रभावहीन रहे। ग्रेट ब्रिटेन ने सन् १९६५ में रोडेशिया पर आर्थिक दबाव लगाए और संयुक्त राज्य अमरीका तथा अन्य कुछ देशों ने उसका सहयोग दिया। केवल कागजी रूप से घेराबन्दी उस समय तक प्रभावहीन रहती है जब तक कि इसका समर्थन करने वाले एक या अधिक राज्य उस देश के महत्वपूर्ण आर्थिक स्रोतों के स्वामी न हों, जैसे–तेल, हथियार, खाद्य सामग्री आदि।

आर्थिक दबाव किसी देश के विरुद्ध केवल सीमित प्रभाव ही डाल पाते हैं। ये केवल थोड़े समय तक ही प्रभावशाली रहते हैं और बाद में मित्र राष्ट्रों के समूह के बीच अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं। सम्बन्धित देश यह सोचते हैं कि उनका कितना नुकसान हो रहा है। व्यापारिक लेन-देन के सन्तुलन को प्राथमिकता दी जाती है और इन दबावों की प्रभावशीलता के सम्बन्ध में सन्देहशील दृष्टि से देखा जाता है। ऐसी स्थिति में धीरे-धीरे इन दबावों की प्रभावशीलता कम हो जाती है। पैडिलफोर्ड तथा लिंकन का यह कथन उपयुक्त है कि शान्तिकालीन आर्थिक युद्ध की प्रकृति सम्बद्ध रहनी चाहिए, इसमें पर्याप्त कूटनीति एवं समायोजन की आवश्यकता है तथा यह देखना जरूरी है कि बढ़ते हुए मनमुटावों का लाभ हो रहा है या नहीं।

साम्राज्यवाद–उपनिवेशवाद
(Imperialism–Colonialism)

समाजवाद की भाँति साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की तुलना एक ऐसे टोप से की जा सकती है जिसे हर कोई पहन लेता है और इस कारण उसका रूप एवं आकार निश्चित नहीं रह गया है। इन पदों का अर्थ तथा रूप समय और स्थान (Time and Space) के साथ-साथ परिवर्तित होता रहा है। किसी समय साम्राज्यवादी और उपनिवेशवाद को प्रशंसित दृष्टि से देखा जाता था, साम्राज्यवादी देश को विश्व के कल्याण का प्रतीक माना जाता था किन्तु आज इसे हेय समझा जाता है। आज के प्रजातन्त्रवादी युग के प्राण 'स्वतन्त्रता और समानता' (Liberty and Equality) ही हैं इसलिए एक देश की नीतियों को साम्राज्यवादी अथवा विस्तारवादी कहना उसकी सबसे बड़ी आलोचना मानी जाती है। पहले तो

दूसरे देशों की भूमि को अधिकृत कर लेना ही साम्राज्यवाद कहा जाता था किन्तु आजकल एक देश का दूसरे देश पर आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रभाव भी साम्राज्यवाद की परिधि में समाविष्ट किया जाता है। यद्यपि साम्राज्यवाद के स्वरूप, उद्देश्य, साधन एवं परिणामों के बारे में विचारकों के बीच भारी मतभेद है किन्तु इस बात को प्राय वे सभी स्वीकार करते हैं कि यह राष्ट्रीय हित की प्राप्ति का एक प्रभावशाली साधन रहा है और आज भी है। साम्राज्यवाद का गुणगान करने वाले विचारक एक देश की सडक, स्कूल, अस्पताल, स्वायत्त शासन, व्यापार आदि उपलब्धियों का चित्रण करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि एक देश ये सभी चीज तभी प्राप्त कर सका जबकि वह एक बड़े साम्राज्य का एक भाग बना। दूसरी ओर साम्राज्यवाद के आलोचक इसे युद्ध, शोषण, बर्बरता, दु ख, अमानवीयता, घृणा आदि के विशेषण प्रदान करते हैं। साम्राज्यवाद के रूप को समझने के लिए यह उपयोगी रहेगा कि भिन्न-भिन्न विचारकों द्वारा इसकी जो परिभाषायें दी गई हैं उनका अवलोकन किया जाय।

साम्राज्यवाद की परिभाषायें
(Definitions of Imperialism)

साम्राज्यवाद के लक्ष्य का वर्णन करते हुए बोन (Bonn) महाशय ने बताया है कि साम्राज्यवाद वह नीति है जिसका उद्देश्य साम्राज्य स्थापित करना सगठित करना और बनाये रखना होता है। साम्राज्य एक बड़े आकार का राज्य होता है जिसमें अनेक राष्ट्रीयताओं वाले लोग निवास करते हैं तथा जिस पर एक केन्द्रीय इच्छा (Central will) शासन करती है। सी० डी० बर्न्स (C D Burns) ने साम्राज्यवाद को विश्व सरकार की ओर एक महत्वपूर्ण कदम माना है। उनके कथनानुसार साम्राज्यवाद उस सामान्य पद्धति को कहा जाता है जिसके अनुसार अनेक देशों में कानून बनाये जाते हैं और शासन किया जाता है। वह क्षेत्रीय राष्ट्रीयता (Regional nationality) के दोषों को दूर करता है, उनसे ऊपर उठता है। असल में 'साम्राज्यवाद' क्षेत्रीय राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) के बीच की स्थिति है। शूमा (Schuman) जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों का विचार इससे भिन्न है। उनके मतानुसार हम चाहें कितने ही बहाने बनायें और नैतिकता का चाहे जितना ही ढोल पीटें किन्तु सत्य तो यह है कि अधीन देशों पर शक्ति और हिंसा के बल

पर विदेशी राज्य स्थापित रखना साम्राज्यवाद है। एक देश साम्राज्यवादी नीतियों को अपनाते समय किसी परोपकारी वृत्ति या मानवतावादी भावना से प्रभावित नहीं होता वरन् उसका राष्ट्रीय स्वार्थ ही सदैव उसके ध्यान में रहता है। बीयर्ड (Beard) का मत है कि साम्राज्यवाद वह होता है जब कि एक देश की सरकार एवं कूटनीति की मशीन दूसरी जाति के लोगों के प्रदेशों (Territories), रक्षित राज्यों (Protectorates) तथा प्रभाव के क्षेत्रों (Spheres of influence) को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है और औद्योगिक, व्यापारिक एवं धन लगाने के अवसरों को बढ़ाने का कार्य करती है। एक अन्य विचारक मून (Parker T. Moon) के द्वारा दी गई परिभाषा में साम्राज्यवाद के जाति पक्ष की ओर अधिक जोर दिया गया है।

उक्त परिभाषाओं में साम्राज्यवाद की जिन विशेषताओं को प्रमुख माना गया है वे हैं—आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति, बड़ा प्रदेश प्राप्त करना, दूसरी जातियों पर शासन करना आदि। मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने इन सभी विशेषताओं को गौण माना है। उनका विचार है कि एक देश द्वारा अपने राज्य की सीमाओं से बाहर शक्ति का विस्तार ही साम्राज्यवाद है। एक अन्य विचारक बुखारीन (Bukharin) का कहना है कि साम्राज्यवाद में दूसरे देशों को जीतने का प्रयास निहित रहता है किन्तु दूसरे देशों को जीतने की नीति को ही हम साम्राज्यवाद नहीं कह सकते।[1]

शुम्पीटर (Schumpeter) महोदय का विचार है कि साम्राज्यवाद का कोई सचेतन लक्ष्य नहीं होता तथा इसके उद्देश्यों की परिभाषा भी नहीं की जा सकती। किन्तु इसके विपरीत विन्सलो (Winslow) ने साम्राज्यवाद के सगठन तथा उसके विशेष उद्देश्यों का वर्णन किया है। उसकी परिभाषा के अनुसार साम्राज्यवाद एक बुराई है। बूएल (Buell) महोदय भी साम्राज्यवाद को अच्छी निगाह से नहीं देखते। उनका कहना है कि एक सरकार से दूसरी सरकार द्वारा दी गई प्रत्येक अन्यायपूर्ण भाग तथा प्रत्येक आक्रमणकारी युद्ध को साम्राज्यवादी कहा जाता है। 'साम्राज्यवाद' एक ऐसा शब्द है जिसमें अनेकों पाप समाहित हैं।[2]

---

1. N. I. Bukharin, Imperialism and world economy. 1929, P. 114.
2. Raymond L. Buell, International Relations, P. 305.

साम्राज्यवाद के अर्थ की समस्या
(The problem of the meaning of imperialism)

साम्राज्यवाद से सम्बन्धित अनेक परिभाषाओं के अवलोकन के बाद यह कहा जा सकता है कि इस शब्द का प्रयोग विचारकों द्वारा अपने तर्कों अथवा अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से विभिन्न अर्थों में किया गया है। *इसका परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवाद शब्द अपना सही अर्थ खो* बैठा। आज किसी भी देश को आप साम्राज्यवादी कह सकते हैं, यदि उसकी विदेश नीति आपके देश की विदेश नीति के विपरीत पड़ती हो। मून (Parker Thomas Moon) ने 'साम्राज्यवाद' शब्द को उपनिवेशी विस्तार का समानार्थक माना है। किन्तु यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि आखिर उपनिवेशी विस्तार (Colonial expansion) शब्द से आपका क्या अभिप्राय है, क्योंकि विस्तार के सैनिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि रूप होते हैं।

मार्गेन्थो (Morgenthau) महाशय का कहना है कि साम्राज्यवाद का सही अर्थ जानने से पूर्व यह आवश्यक है कि उससे सम्बन्धित भ्रान्तियों का निवारण कर लिया जाय। उनके मतानुसार प्रत्येक विदेश नीति जिसका उद्देश्य एक राष्ट्र की शक्ति को बढ़ाना है, आवश्यक रूप में साम्राज्यवाद का प्रदर्शन नहीं कही जा सकती। केवल उसी नीति को साम्राज्यवादी कहा जा सकता है जो वस्तुस्थिति (Statusquo) को नष्ट भ्रष्ट करने का लक्ष्य रखती है। इस प्रकार वे लोग भ्रम में हैं जो यह मानते हैं कि अपनी शक्ति को बढ़ाने वाला देश साम्राज्यवादी है। दूसरे वे लोग भी भ्रम में हैं जो कि पहले से ही स्थित साम्राज्य की रक्षा करने वाली विदेश नीति को साम्राज्यवादी कहते हैं। मार्गेन्थो (Morgenthau) का विचार है कि साम्राज्यवाद की प्रकृति गत्यात्मक (Dynamic) होती है किन्तु पूर्व स्थित साम्राज्य की रक्षा करने वाली नीति में इस प्रकृति का आभास नहीं होता। अतः इस नीति को हम रूढ़िवादी कह सकते हैं न कि 'साम्राज्यवादी'। साम्राज्य (Empire) की रक्षा और एकीकरण (Consolidation) तो एक चीज है तथा साम्राज्यवाद दूसरी। दोनों में बीच भारी अन्तर रहता है। सन् १९४२ में चर्चिल ने जब ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त करने को मना कर दिया तो वह उसकी साम्राज्यवादी नीति का नहीं किन्तु रूढ़िवादी नीति का परिचायक था।

साम्राज्यवाद के स्वरूप से सम्बन्धित तीन मुख्य विचारधारायें हैं। प्रथम मार्क्सवादी विचारधारा है जो पूंजीवाद को मुख्य बुराई मानती है:

तथा माम्राज्यवाद को उभी का आवश्यक या सम्भावित परिणाम। दूसरी ओर हॉब्सन जैसे उदार विचारक हैं जो यह मानते हैं कि 'साम्राज्यवाद' पूञ्जीवाद का आवश्यक परिणाम नहीं है क्योंकि पूञ्जीवाद के सम्मुख अन्य विकल्प भी मौजूद हैं। तीसरी विचारधारा शैतान विचारधारा (Devil theory) है जिसके अनुसार युद्ध के कारण जिन समुदायों या व्यक्तियों को लाभ होता है वे सदैव युद्ध को प्रोत्साहन देते रहते हैं ताकि वे स्वयं सम्पन्न बन सकें। इन युद्धों का परिणाम ही साम्राज्यवाद है। ये तीनों ही विचारधारायें एकपक्षीयता (One sidedness) के दोष से दूषित हैं। 'साम्राज्यवाद' असल में एक राजनैतिक तत्व है और जैसा कि कुछ विचारकों का कहना है, इसको आर्थिक रूप देने का असफल प्रयास इन विचारधाराओं द्वारा किया गया है।

साम्राज्यवाद सम्बन्धी कुछ निष्कर्ष
(Some conclusions about Imperialism)

'साम्राज्यवाद क्या है' शीर्षक के नीचे अमरीकी विद्वान पामर तथा परकिन्स का प्रथम वाक्य यह है कि हम साम्राज्यवाद पर विचार-विमर्श कर सकते हैं, इसका विरोध कर सकते हैं, इसका समर्थन कर सकते हैं और इसके पीछे प्राण भी दे सकते हैं किन्तु इसकी ऐसी कोई परिभाषा नहीं दे सकते जो सर्वमान्य हो। कोई सर्वमान्य परिभाषा देना आज इस कारण भी असम्भव बन गया है क्योंकि साम्राज्यवाद का वर्तमान रूप पहले रूप से भिन्न है। साम्राज्यवाद के इन विभिन्न रूपों को एक परिभाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता किन्तु विभिन्न परिभाषाओं तथा साम्राज्यवाद के वास्तविक व्यवहार को देख कर इसकी कुछ विशेषतायें बताई जा सकती हैं; जो निम्न प्रकार हैं—

(१) 'साम्राज्यवाद' शब्द विषयगत (Subjective) है और इसीलिए विचारक अपनी इच्छानुसार जैसी चाहते हैं इसकी परिभाषा दे देते हैं।

(२) 'साम्राज्यवाद' शब्द अपने विरोधी देशों की नीतियों की आलोचना करने का एक साधन बन गया है।

(३) साम्राज्यवाद की कुछ अवसरगत विशेषतायें जैसे आर्थिक लाभ का लक्ष्य, क्षेत्र का विस्तार, दूसरी जातियों पर शासन, एक सुनियोजित कार्यक्रम आदि। ये विशेषतायें प्राय साम्राज्यवाद के साथ रहती हैं किन्तु साम्राज्यवाद इनके बिना भी रह सकता है।

(४) साम्राज्यवाद नैतिक दृष्टि से शून्य होता है। यह राष्ट्रीय नीतियों का एक ऐसा साधन है जिसका उद्देश्य बुरा भी हो सकता है और

अच्छा भी। हो सकता है कि साम्राज्यवाद के अधीनस्थ देश आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में पर्याप्त विकास करें और यह भी सम्भव है कि साम्राज्यवादी देश द्वारा अधीनस्थ लोगों का शोषण किया जाय उनका दमन किया जाय तथा उनकी सभ्यता और संस्कृति के विकास को रोक दिया जाय। पामर तथा परकिंस के मतानुसार साम्राज्यवाद तो शक्ति सम्बन्धों का उच्च और अधीनस्थ के बीच के सम्बन्धों का नाम है नैतिकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(५) साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देने वाले तत्व मार्गेन्थो के मतानुसार तीन हैं। पहला तत्व वे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां हैं जो युद्ध के बाद शान्ति स्थापनार्थ की जाती हैं तथा जिनके द्वारा युद्ध से पूर्व की स्थिति को परिवर्तित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए वार्साय की सन्धि का नाम लिया जा सकता है। दूसरा तत्व वह प्रयास है जो कुछ राष्ट्रों को स्थायी रूप से अधीन (Subordinate) बनाये रखने के लिए किया जाता है। ऐसे प्रयासों की प्रतिक्रिया यह होती है कि हारा हुआ राष्ट्र अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त करने की कोशिशें करता है। फलतः उसकी नीति साम्राज्यवादी हो जाती है। साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देने वाला तीसरा तत्व कमजोर एवं राजनैतिक शक्ति से हीन राज्यों का अस्तित्व है। ऐसे राज्य शक्तिशाली राज्यों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं ठीक उसी प्रकार जैसा कि 'शव' द्वारा गिद्धों को आकर्षित किया जाता है। ये तीनों ही तत्व ऐसी परिस्थितियां पैदा करते हैं जिनमें साम्राज्यवाद की नीतियां बनती क्रियान्वित होती तथा सफल होती हैं।

साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद
(Imperialism, Colonialism and Nationalism)

साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के बीच का अन्तर इतना कम है कि प्रायः एक के लिए दूसरे का प्रयोग कर दिया जाता है। हॉब्सन (Hobson) महोदय ने साम्राज्यवाद विषयक अपनी पुस्तक में साम्राज्यवाद की जो परिभाषा दी है वह असल में उपनिवेशवाद पर अधिक लागू होती है। उनके मतानुसार 'उपनिवेशवाद अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में राष्ट्रीयता का स्वाभाविक अतिप्रवाह (Overflow) है। इसकी परीक्षा उपनिवेशियों की वह शक्ति है जिसके द्वारा वे अपनी सभ्यता को अपने नवीन सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण के अनुसार ढाल सकें।'[1] साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद का ही एक

1 J A Hobson Imperialism A study, 1948, P. 7.

रूप समझा जाता है किन्तु यह उपनिवेशवाद की तुलना में अधिक सगठित होता है, अधिक सैनिक होता है, नवीनतम रूप से अधिक आक्रमणकारी होता है तथा विभिन्न उद्देश्यों से पूर्ण होता है। इतने अन्तरों के रहते हुए भी व्यावहारिक जगत में इन दोनों के बीच एक विभाजक रेखा खींचना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इन दोनों ही पदों का प्रयोग उच्च तथा हीन का सम्बन्ध (Superior-inferior Relationship) बताने के लिए किया जाता है।

सिद्धान्त रूप में यदि देखा जाये तो राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद के बीच विरोध रहता है, क्योंकि साम्राज्यवाद दूसरे देशों को पराधीनता के पाश से जकड़ता है जबकि राष्ट्रीयता प्रत्येक देश को स्वतन्त्र रहने को प्रोत्साहित करती है। किन्तु व्यवहार में पराधीन देश स्वतन्त्र होने के बाद जब शक्तिशाली बन जाता है तो प्रायः साम्राज्य निर्माण के स्वप्न देखना प्रारम्भ कर देता है। पराधीन राष्ट्रों में साम्राज्यवाद के प्रभाव से राष्ट्रीयता की भावना उत्तेजित होती है और स्वतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्रीयता साम्राज्यवादी भावनाओं को उकसाती है। ब्यूल (Buell) का कहना है कि "युद्ध राष्ट्रवाद सरकारों को साम्राज्यवाद का रास्ता अपनाने के लिए मजबूर कर देती है।"[1]

उपनिवेशवाद की नीति और साम्राज्यवादी नीति के बीच बहुत थोड़ा अन्तर होता है। साम्राज्यवाद का अस्तित्व वहां समझा जाता है जहां कि स्थानीय विरोध को दूर करने के लिए, उपनिवेश को बनाए रखने के लिए या अपना प्रभाव जमाए रखने के लिए शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक होता है। जहां यह शक्ति प्रयुक्त नहीं की जाती है तथा जहां विदेशी शासन के प्रति कोई विरोध प्रदर्शित नहीं किया जाता है वह कार्य उपनिवेशवाद कहलाता है। संयुक्त राज्य अमरीका ने फिलीपाइन्स को स्पेन से छुड़ाने के बाद उस पर उपनिवेशवादी शासन लागू किया। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के बीच का अन्तर विषयगत है और यह अंशतः सम्बन्धित लोगों की प्रतिक्रिया पर आधारित है। पैडिलफोर्ड तथा लिंकन के अनुसार दो प्रकार के प्रशासनों को सामान्य रूप से साम्राज्यवादी या उपनिवेशवादी शासन नहीं समझा जाता। प्रथम उन सरक्षणीय देशों का प्रशासन जो संयुक्त राष्ट्र संघ के समझौते के अधीन हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक छोटे-छोटे पराधीन देशों को संरक्षण परिषद् के अधीन रख दिया गया जो कि अलग-अलग बड़े

1. Buell, Raymond L., International Relations, 1929, P.315.

देशो को इनमे आत्म प्रशासन की क्षमता का विकास करने का उत्तरदायित्व सौंप देती है। दूसरे, किसी अन्य राज्य के प्रदेश मे अस्थायी हस्तक्षेप को भी उपनिवेशवादी या साम्राज्यवादी नही कहा जा सकता जो अल्पकालीन लक्ष्यो की प्राप्ति के लिए किया गया हो, जैसे वहा रहने वाले अपनी राष्ट्रीयता के लोगो की सम्पत्ति एव जीवन की रक्षा के लिए अथवा शान्ति बनाये रखने के लिए। यहा हस्तक्षेप का उद्देश्य शासन स्थापित करना नहीं होता। सयुक्त राज्य अमेरिका ने सन् १९६४ मे कांगो में हस्तक्षेप किया ताकि वहा स्थित मिशनरियो की सहायता की जा सके। सन् १९६५ मे अमरीका ने अमरीकी राज्यो के सगठन के सहयोग से डोमिनिकन गणराज्यों को सेनायें भेजी ताकि गृहयुद्ध की स्थिति पर रोक लगाई जा सके। जब अकेला राष्ट्र किसी देश के मामलो मे हस्तक्षेप करता है तो उसे साम्राज्यवादी कहा जा सकता है। जब ग्रेट ब्रिटेन की सेनाओं को सन १९६५ मे जम्बिया में रोडेशिया की सरकार द्वारा उत्पन्न कठिनाइयो से देश की रक्षा के लिए आमन्त्रित किया गया तो ग्रेट ब्रिटेन को साम्राज्यवादी कहा गया। इन दोषारोपणो से बचने के लिए राज्य को अपने ऐसे कार्यों पर अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त करनी चाहिए। कांगो, साइप्रस और अन्य स्थानो पर सयुक्त राष्ट्र सघ की अस्थायी शान्ति सेनायें रखी गई हैं उनको साम्राज्यवाद का प्रतीक नहीं माना जाता क्योकि उनकी प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय है और वे जहा स्थित हैं वहां की स्थानीय सरकार का उनको समर्थन प्राप्त है। यह माना जाता है कि इन शान्ति सेनाओ का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय समाज की ओर से शान्ति बनाए रखना है। इसलिए साम्राज्यवाद शब्द का प्रयोग यहाँ अपने ऐतिहासिक अर्थ मे नही किया जा सकता।

साम्राज्यवाद की नींव के पत्थर
(Foundation Stones of Imperialism)

साम्राज्यवाद का विशाल भवन क्यों निर्मित किया जाता है तथा उसके स्थिर रहने का क्या आधार है यह जानना साम्राज्यवाद के समर्थक एव आलोचक दोनो के लिए उपयोगी एव आवश्यक है। आधार का पोषण करके साम्राज्यवादी प्रवृत्तियो को उकसाया जा सकता है उसी प्रकार आधार को कमजोर करके साम्राज्यवाद के महल को भी गिराया जा सकता है। साम्राज्यवाद के अधीनस्थ क्षेत्र जिनको प्राय: प्राप्तियां (Possessions), उपनिवेश (Colonies), रक्षित राज्य (Protectorates) अर्धरक्षित राज्य (Semiprotectorates) और आश्रित राज्य (Dependent States) आदि नामो से पुकारा जाता है, साधारणतया अपनी स्थिति से कभी सतुष्ट नही

रहते । साम्राज्यवादी और प्रभावित राज्यो के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि हित परस्पर टकराते हैं और यही कारण है कि उनके बीच संघर्ष और कलुष के भाव बने रहते हैं । कारण यह है कि साम्राज्यवादी शक्ति द्वारा प्रभावितों का प्राय शोषण किया जाता है, उनको कुचला जाता है तथा उनका इतना दमन किया जाता है कि वे स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तिलमिला उठते हैं । प्रभावितो के सतत् और कड़े विरोध के बाद भी साम्राज्यवादी शक्तियां अपना पाव जमाये रखती हैं । ऐसा क्यों होता है यह जानने के लिए यह ज्ञात करना उपयुक्त रहेगा कि साम्राज्यवाद के उद्देश्य अथवा कारण क्या हैं । नीचे कुछ ऐसे ही कारणों या उद्देश्यों (Causes or Motives) का वर्णन किया जा रहा है—

(१) डार्विन का सिद्धान्त (Darwin's Theory)—डार्विन ने जीव विज्ञान में दो सिद्धांतो की रचना की, पहला था जीवन के लिए संघर्ष (Struggle for existance) और दूसरा था योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) । डार्विन ने बताया कि ये सिद्धान्त सामाजिक जीवधारी रचना (Social Organism) पर लागू नहीं होते । किन्तु फिर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों का एक महत्वपूर्ण भाग बन गये । लगर (Langer) के मतानुसार इसने विस्तार के लिए एक दैवीय अनुमोदन (Divine Sanction) प्रदान किया ।[1]

साम्राज्यवाद मूल रूप से मनुष्य की लुटेरी प्रवृत्तियो का परिणाम है । जिस प्रकार छोटी मछली को बड़ी मछली निगल जाती है उसी प्रकार छोटे राष्ट्रों को बड़े और शक्तिशाली राष्ट्रो द्वारा शक्ति तथा हिंसा के सहारे शोषित किया जाता है । राज्यो के बीच में शक्ति के लिए संघर्ष (Struggle for Power) बहुत पहले से ही पाया जाता है । प्रो॰ शूमां (Schuman) के विचार से आधुनिक साम्राज्यवादी शक्ति प्राप्त करने की इच्छा तथा विजय प्राप्त करने की लालसा की एक नई अभिव्यक्ति है । प्राय सभी तानाशाह और सर्वाधिकारवादी राज्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में साम्राज्यवाद का समर्थन और अनुशीलन करते हैं । इनकी बड़ी महत्वाकांक्षाये होती हैं । जिस प्रकार साम्यवादी चीन विश्व को लाल झंडे के नीचे लाना चाहता है वैसे ही हिटलर भी सारे विश्व को जर्मनी के अधीन लाना चाहता था । मुसोलिनी

1 "It……supplied a devine sanction for expansion"
—Willam L Langer, "A critique of Imperialism," Foreign Affairs, XIV (Oct 1935), P. 109.

ने शक्ति एवं साम्राज्य प्राप्ति की इच्छा को फासिस्ट राज्य बताया था। उनके मतानुसार साम्राज्यवाद का अर्थ प्रादेशिक, सैनिक और व्यापारिक विस्तार के साथ साथ आध्यात्मिक और नैतिक प्रसार भी था। साम्राज्यवादी विस्तार को एक देश के द्वारा सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। यही कारण है कि सर्वाधिकारवादी राज्यों की जनता अपने तानाशाहों की नीतियों को पूरा-पूरा समर्थन प्रदान करती है। हैन्स कोह्न (Hans Kohn) के मतानुसार साम्राज्यवाद में मनोवैज्ञानिक तत्वों का बड़ा महत्व है। साम्राज्यवादी देश की जनता अपने आपको राज्य से अधिक उच्च मानती है तथा साम्राज्य को अपने सम्मान, गौरव एवं प्रतिष्ठा का प्रतीक।

(२) बढ़ती हुई आबादी (Growing Population)—साम्राज्यवादी विस्तार नीति को न्यायोचित ठहराते हुए यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि देश की आबादी निरन्तर बढ़ती जा रही है तथा प्रदेश उतना ही और सीमित है अतः बढ़ी हुई जनसंख्या को बसाने के लिए नए साम्राज्य बनाना और नए उपनिवेश प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। इटली जापान आदि देशों ने समय समय पर अपनी नीतियों के समर्थन में इस प्रकार के तर्क प्रस्तुत किए हैं। किन्तु यथार्थ में यह तर्क बिल्ली की धर्मशीलता की दुहाई से अधिक अर्थ नहीं रखता है। ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा यह प्रमाणित किया जा सकता है कि साम्राज्यवादी देशों की बहुत थोड़ी जनता उपनिवेशों में जाकर बसती है। जितने लोग उपनिवेशों में जाकर बसते हैं तब तक देश में उतने नए जन्म ले लेते हैं।

(३) आर्थिक उपलब्धियाँ (Economic achievements)—यद्यपि ब्रिटेन और अमरीका में अनेक विचारक यह मानते रहे थे कि उपनिवेशों से कोई आमदनी नहीं होती (Colonies do not pay) किन्तु फिर भी आर्थिक कारण प्रारम्भ से ही साम्राज्यवाद के सबसे अधिक मौलिक कारणों में से एक रहा है। साम्राज्यवादी देशों में प्रायः कच्चे माल की कमी पाई जाती है। इस कमी को वे अपने उपनिवेशों से पूरा करते हैं। डा० शाख्ट (Dr Shacht) के अनुसार विश्व की राजनीति में होने वाले अधिकांश संघर्षों का आधार कच्चे माल की प्राप्ति होता है। साम्राज्यवादी राज्य प्रायः औद्योगीकृत (Industrialized) होते हैं जहाँ इतना उत्पादन किया जाता है जितनी कि माँग नहीं होती। उत्पादित माल को खपाने के लिए उपनिवेशों में बाजार खोजे जाते हैं। इसी अर्थ में चेम्बरलेन कहा करते थे कि साम्राज्यवाद का अर्थ है 'वाणिज्य'। दूसरी ओर कुछ विचारक ऐसे हैं जिनके मत में साम्राज्यवाद द्वारा वाणिज्य को अधिक लाभ नहीं मिल पाता।

ब्यूअल (Buell) के अनुमान से विश्व के व्यापार का पाचवा भाग उन देशो के साथ होता है जो साम्राज्यवाद के अधीन है जबकि स्वतन्त्र देशो के साथ होने वाले व्यापार को मात्रा ½ भाग है। साम्राज्यवाद एक देश को ऐसे अवसर प्रदान करता है कि वह विदेशो मे पूजी लगा सके। अमेरिका ने विभिन्न देशो मे पूजी लगा रखी है, यही कारण है कि वह उन देशों की आर्थिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो को प्रभावित करता रहता है। यह डालर कूटनीति (Dollar Diplomacy) कहलाती है। कुछ विचारकों के अनुसार तो यह उतनी ही उपयोगी तथा प्रभावशाली होती है जितनी कि एक सशस्त्र सेना। प्रो॰ पामर तथा परकिन्स ने साम्राज्यवाद से होने वाली इन समस्त आर्थिक उपलब्धियो का वर्णन किया है।

साम्राज्यवाद का आर्थिक कारण पर्याप्त लोकप्रिय माना जाता है। साम्यवादी विचारको ने, मुख्य रूप से लेनिन ने, तो साम्राज्यवाद को पूंजीवाद के अन्तर-विरोधो का ही परिणाम माना है। लेनिन की व्याख्या के अनुसार पूजीवाद में एकाधिकार की प्रवृत्ति का विकास होता है और अतिरिक्त उत्पादन की व्यवस्था के कारण वह खपत के लिए बाजारो की माग करता है। पूंजीवादी व्यवस्था की इस माग के कारण ही साम्राज्यवाद के सहारे अतिरिक्त भूमि प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। साम्राज्यवाद और आर्थिक तत्व के बीच इतना गहरा सम्बन्ध है कि साम्राज्यवाद के एक रूप को ही आर्थिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। बारबारा वार्ड (Barbara Ward) के मतानुसार आर्थिक साम्राज्यवाद वह होता है जिसमे कि एक बाहरी शक्ति स्थानीय साधन स्रोतो को अपने हाथ में कर लेती है और उन्हें मुख्य रूप से या पूरा तरह से अपने लाभ के लिए प्रयुक्त करती है। आजकल यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक मानी जाती है क्योकि आज की आर्थिक स्थिति में विभिन्न देश आर्थिक रूप से एक दूसरे पर निर्भर है। ऐसी स्थिति मे अनेक नए राजनैतिक एवं नैतिक विरोधाभास उत्पन्न होते हैं।

विदेशी आर्थिक प्रभाव व्यक्तिगत पूजी की लागत के माध्यम से हो सकता है और सरकारी आर्थिक कार्यों के माध्यम से भी। किन्तु इन नियन्त्रण की मात्रा और तरीके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ बड़े औद्योगीकृत देश अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को पूजी बाजार और विनिमय व्यवस्था को मुख्यत. व्यक्तिगत उद्यमों के माध्यम से नियन्त्रित करते हैं। मध्यपूर्व से जो तेल का व्यापार किया जाता है वह बहुत कुछ विदेशी व्यक्तिगत निगमो के माध्यम से किया जाता है। यद्यपि इन क्रियाओ से स्थानीय राजनैतिक इकाइयां भी लाभान्वित होती है। जिस तरीके से आर्थिक कार्य सम्पन्न किये जाते है उसके

आधार पर ही यह निश्चित किया जाता है कि इसे हम सहयोगी विकास के रूप मे वर्गीकृत करें अथवा साम्राज्यवादी शोषण के रूप मे। आधुनिक काल मे सरकार द्वारा जो विदेशी सहायता कार्यक्रम सचालित किये जाते हैं उनको भी साम्राज्यवाद का प्रतीक माना जाता है।

(४) व्यक्तिगत उपलब्धियाँ (Personal gains)—साम्राज्यवादी अभिव्यक्तियो मे बहुत से लोगो का पोषण होना है। इससे साम्राज्यवादी देश के व्यापारियो को लाभ होता है क्योंकि उनको उत्पादन बढाने मे प्रेरणा और स्रोत दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं। उनको पर्याप्त रूप से कच्चा माल मिल जाता है तथा निर्मित माल की खपत के लिए बाजार भी प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार साम्राज्यवाद के साथ देश के व्यापारियों के हित जुड जाते हैं और यही कारण है कि वे इन नीतियों को पूरा-पूरा समर्थन प्रदान करते हैं। इन व्यापारियो के अतिरिक्त अन्य और भी लोगो का भरण-पोषण होता है। साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ विदेशी उप-वाणिज्य दूतों (Pro-consuls), कूटनीतिज्ञों (Diplomats) तथा विदेशी असैनिक प्रशासन-सेवकों (Civil-Servants) के अनेक स्थान रिक्त होते हैं। फलत साम्राज्यवादी देश के अनेक नागरिकों को इससे रोजगार प्राप्त होना है। इन सबके अतिरिक्त साम्राज्यवादी देश की सेना का एक बहुत बडा भाग विदेशी खर्चे पर पलता है। कहा जाता है कि सन् १९४७ से पूर्व प्रत्येक चार अंग्रेजो मे से एक की जीविका का भार भारत के ऊपर आता था। साम्राज्य के कारण जिन लोगो का स्वार्थ पूरा होता है वे अधिकृत देश के स्वशासित होने के प्रत्येक उपाय का दृढता से विरोध करते हैं। साम्राज्यवाद मे निहित स्वार्थ रखने वालो का एक वर्ग बन जाता है जिसका सदैव यही प्रयास रहता है कि साम्राज्य बढ़े और रक्षित रहे।

(५) राष्ट्रीय सुरक्षा (Defence of the Nation)—सुरक्षा की दृष्टि से प्राय शान्तिप्रिय देश भी साम्राज्यवादी नीतियो को अपनाने लग जाते हैं। विश्वास किया जाता है कि शान्ति का अर्थ कमजोरी नही है, शक्ति है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यह एक बडा विरोधाभास है कि यदि कोई देश शान्ति का समर्थक एव इच्छुक है तो उसे बडे से बडे युद्ध का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिये, क्योंकि राज्यलक्ष्मी सीता उसी का वरण करती है जो शिव के धनुष को तोडने की शक्ति रखता है। कमजोर देश शक्तिशाली देशो के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के शिकार बन जाते हैं। इस सबका निष्कर्ष यही है कि यदि आप किसी अन्य राष्ट्र का साम्राज्य बनने से बचना चाहते हैं और अपने देश की सुरक्षा चाहते हैं तो साम्राज्य-

वाद के पथ पर आगे बढ़िये। अपने देश की सीमाओं को शत्रु से रक्षित बनाने के लिये सीमा के निकटवर्ती इलाकों को रक्षित-राज्य, अर्धरक्षित राज्य, प्रभावकारी क्षेत्र अथवा बाधक राज्य (Buffer State) बना देना उपयोगी रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रूस से भारत की रक्षा करने के लिए ब्रिटेन ने अफगानिस्तान, पर्शिया और तिब्बत आदि राज्यों से बाधक राज्य (Buffer State) का काम लिया था। अविकृत राज्यों के कच्चे माल और मनुष्य-शक्ति (Man-power) का प्रयोग करके साम्राज्यवादी देश अपनी अर्थ-व्यवस्था को भी मजबूत बना सकता है। कहते हैं कि भारत एक सोने की चिड़िया थी किन्तु साम्राज्यवादियों के हाथों उसे कागज के नोटों से लाद दिया गया।

(६) साम्राज्यवाद का धार्मिक आधार (Religion as the basis of Imperialism)–धर्म के प्रचारकों और साम्राज्यवादियों के हित प्रायः एक स्थल पर जाकर मिल जाते हैं। जहां धर्म प्रचारक यह चाहता है कि उसकी बाधाओं को दूर करने के लिए राज्य की शक्ति उसका समर्थन करे और साम्राज्यवादी यह सोचता है कि उसकी नीतियों की बर्बरता को ढकने के लिए, जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए और नीतियों को एक आदर्शवादी रूप प्रदान करने के लिए धर्म-प्रचारकों का सहयोग मिल जाय। फलत दोनों का स्वार्थपूर्ण गठबन्धन हो जाता है और सेनाएं 'जिहाद' का 'धर्म युद्ध' का नाम लेकर साम्राज्यवादियों की महत्वाकांक्षाओं से पूर्ण तृष्णा को तृप्त करने के लिए आगे बढ़ती चली जाती हैं। इतिहास में ऐसे गठबन्धनों द्वारा साम्राज्य निर्माण के उदाहरणों की कमी नहीं है। सत्रहवीं शताब्दी में 'श्याम' पर फ्रांस का अधिकार जेसुइट (Jesuit) धर्म-प्रचारकों द्वारा किया गया था। अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार में लन्दन की धर्म-प्रचार-समिति (Missionary Society) ने बहुत उल्लेखनीय कार्य किया था। अमरीकन राष्ट्रपति काल्विन कुलिज (Calvin Coolidge) का कहना था कि अमरीका द्वारा जो सेनायें विदेशों में भेजी जाती हैं उनके साथ तलवार नहीं होती वरन् 'क्रास' (×) होता है।

धर्म-प्रचार का प्रभाव साम्राज्यवाद के निर्माण में तो अनुकूल रहता है किन्तु जब उसकी रक्षा का प्रश्न आता है तो धर्म-प्रचार अप्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवाद के बन्धनों को ढीला करता है। भारत में राष्ट्रीयता के उदय के कारणों में धर्म-सुधार आन्दोलनों का बड़ा महत्व है। ईसाई मिशनरियों द्वारा भारतीयों को सुशिक्षित, जागरूक, स्वतन्त्रता-प्रेमी एवं मानवतावादी

बना कर अनजाने ही साम्राज्यवादियों का विरोध करने के योग्य बना दिया गया था।

(७) मानवतावादी दृष्टिकोण (Humanistic outlook)—साम्राज्यवादी नीतियों के समर्थक मानवतावादी तर्कों के आधार पर अपने पक्ष का पोषण करते हैं। यह कहा जाता है कि साम्राज्यवादी शक्तियां पिछड़े हुए देशों में व्याप्त अज्ञान, अविकसित शासन, न्याय सम्बन्धी आदिम विचार आदि बुराइयों को दूर करके वहां ज्ञान, विकसित शासन तथा आधुनिक विचारों की स्थापना करती हैं। अवश्य देशों में जहां दासता, मनुष्य भक्षण, कर्जदारी, सूदखोरी आदि की प्रवृत्तियां पाई जाती हैं, साम्राज्यवादी देशों द्वारा सभ्यता का दीप जलाया जाता है। साम्राज्यवाद के समर्थक सीनेटर बेवरिज (Beveridge) का कहना था कि ईश्वर ने हमें (अमेरिकनों को) प्रशासकीय दक्षता प्रदान की है और हमारा यह कर्तव्य है कि जंगलियों तथा असभ्यों के ऊपर शासन करें। सन् १८६३-ई० में डिज़रेली (Disraeli) ने घोषणा की थी कि यह हमारा कर्तव्य है कि हम अफ्रीका को सभ्य बनाने के कार्य में हाथ बटायें। साम्राज्यवादी देशों के अधिकांश विचारक साम्राज्यवाद को मानवता की कसौटी पर श्लाघनीय ठहराते हैं। किन्तु अविकृत राज्यों अथवा साम्राज्यवादी शक्तियों से शासित राज्यों के कोई विचारक इस दृष्टिकोण के पक्ष में नहीं हैं। अपवादस्वरूप कुछ विचारकों को छोड़ कर अधिकांश तो साम्राज्यवाद के काले कारनामों का ही चित्रण करते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवतावादी तर्कों द्वारा साम्राज्यवाद को न्यायोचित ठहराना तथा इसे काले लोगों को सभ्यता सिखाने के गोरे लोगों के उत्तरदायित्व (The white man's burden) की पूर्ति बताना एकपक्षीय और इस प्रकार भ्रामक एवं असत्य तर्कों पर आधारित है।

साम्राज्यवाद के रूप
[Forms of Imperialism]

साम्राज्यवाद को चाहे पामर तथा परकिन्स द्वारा परिभाषित अर्थ में लिया जाये अथवा मार्गेन्थो द्वारा परिभाषित अर्थ में, हम देखते हैं कि मात्रा और गुण के अनुसार इसके कई रूप हो सकते हैं। यदि 'साम्राज्यवाद' सर्वोच्च तथा अधीनस्थ (Superior and inferior) के बीच शक्ति सम्बन्धों (Power relations) का नाम है तो हमें यह भी देखना होगा कि उच्चता (Superiority) किन-किन विषयों पर है, किन विषयों पर नहीं है,

सर्वोच्चता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। इस दृष्टि से साम्राज्यवाद के निम्न रूप हो सकते हैं—

१ संरक्षित तथा अर्धसंरक्षित राज्य (Protectorate and semi-protectorate)
२ प्रभाव के क्षेत्र (Spheres of influence)
३ बाह्य प्रादेशिकता (Extra territoriality)
४ अनौपचारिक नियन्त्रण (Informal control)
५ शुल्क का नियन्त्रण (Tariff control)
६ संयुक्त विदेशी प्रशासन (Condominium)
७ आर्थिक नियन्त्रण (Financial control)
८ पट्टा (Lease hold)

साम्राज्य-निर्माण में जो साधन अपनाये जाते हैं उनके अनुसार मार्गेन्थो ने साम्राज्यवाद के तीन रूपों का वर्णन किया है। उनके मतानुसार साम्राज्यवाद की स्थापना के लिए सैनिक, आर्थिक और सांस्कृतिक तीन साधनों को अपनाया जा सकता है। ये साम्राज्यवाद के साधन हैं साध्य नहीं। साध्य भी तीन प्रकार के हो सकते हैं—

१ राजनैतिक रूप से सङ्गठित सारी पृथ्वी पर शासन करना,
२ केवल महाद्वीपीय प्रदेशों पर राज्य करना।
३ स्थानीय प्रदेशों पर राज्य करना।

इन साध्यों को प्राप्त करने के लिये जो सैनिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक साधन अपनाये जाते हैं उनको प्राय साध्य समझने की भूल कर दी जाती है। साधनों के अनुसार साम्राज्यवाद का रूप भी बदल जाता है। सैनिक साम्राज्यवाद में सैनिक विजय (Military conquest) की जाती है, आर्थिक साम्राज्यवाद में दूसरे लोगों का आर्थिक शोषण किया जाता है; सांस्कृतिक साम्राज्यवाद में एक संस्कृति के स्थान पर दूसरी संस्कृति की प्रतिष्ठापना की जाती है। इन तीनों ही रूपों के आधीन जो भी नीतियाँ अपनाई जाती हैं उनका लक्ष्य साम्राज्यवादी, अर्थात् वस्तु-स्थिति (Status-quo) को बदलना होता है।

साम्राज्यवाद का सबसे स्पष्ट और अत्यन्त प्राचीन रूप सैनिक विजय है। आज तक जितने भी विजेता हुए हैं वे प्राय सभी बड़े-बड़े साम्राज्यवादी थे। सैनिक साधनों से जब साम्राज्य निर्माण का कार्य किया जाता है तो

इसकी प्रतिक्रिया हारे हुए राज्यों पर बड़ी शीघ्रतापूर्वक होती है और वे भी उन्हीं साधनों एवं नीतियों को अपनाते हैं जो साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा अपनायी गयी थीं। इस प्रकार 'साम्राज्यवाद' साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देता है। साम्राज्यवाद का दूसरा रूप 'डालर साम्राज्यवाद' कहलाता है। यह आधुनिक युग की उपज है तथा सैनिक साम्राज्यवाद की तुलना में कम विध्वंसात्मक तथा कम प्रभावशाली है। इन दोनों से भिन्न सांस्कृतिक साम्राज्यवाद एक सूक्ष्म साधन है। यदि कोई देश इसका सफल प्रयोग कर सके तो यह माना जायगा कि उसकी साम्राज्यवादी कुशलता तीक्ष्ण है। मार्गेन्थो कहते हैं कि साम्राज्यवाद के इस रूप का उद्देश्य न तो प्रदेश जीतना है और न उसके आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करना, इसका लक्ष्य तो व्यक्तियों के मस्तिष्कों को जीतना व उस पर नियन्त्रण करना है ताकि दो देशों के बीच के शक्ति सम्बन्धों को बदला जा सके। आजकल सांस्कृतिक साधन को साम्राज्यवाद के अन्य साधनों के सहायक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसके द्वारा शत्रु को नम्र बना कर सैनिक आक्रमण के लिए अथवा आर्थिक शोषण के लिए भूमि तैयार की जाती है।

साम्राज्यवाद का मूल्यांकन
(Imperialism : An evaluation)

अंग्रेजी साम्राज्यवाद के बारे में प्रायः यह कहा जाता था कि अंग्रेजी साम्राज्य विश्व-व्यापी न्याय और उदारता का चिरन्तन स्रोत (Perennial spring) है जिस पर कभी सूर्य अस्त नहीं होता। कोन्ह (Kohn) का विचार है कि एशिया और अफ्रीका में जातीय एवं आर्थिक शोषण, गरीबी और युद्धों की रचना करने वाला साम्राज्यवाद नहीं था क्योंकि ये सारी बातें वहां पहले से ही वर्तमान थीं। एशिया के लोग एशिया के दूसरे निवासियों को दास बनाते थे तथा अफ्रीकी जातियां दूसरी अफ्रीकी जातियों को अपना दास बना लेती थीं। कोन्ह महाशय के अनुसार पश्चिमी साम्राज्यवाद के अन्य दोष हो सकते हैं किन्तु यह तो सच है कि इन प्रदेशों में उन्होंने जागृति फैलाई और सभ्यता का पाठ पढ़ाया। पामर और परकिन्स के मतानुसार साम्राज्यवाद के समर्थकों द्वारा जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें बहुत कुछ सत्य (Much truth) है।

साम्राज्यवाद के लाभ और हानियों का लेखा-जोखा करने के बाद अधिकांश विचारक इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यह एक बुराई है। इससे प्राप्त होने वाले जिन लाभों की चर्चा की जाती है वे काल्पनिक अधिक हैं। यदि वे

प्राप्त भी होते हैं तो इस रूप में प्राप्त होते हैं कि उनका महत्व ही समाप्त हो जाता है। साम्राज्यवाद का इतिहास हिंसा, युद्ध, दमन, शोषण, असमानता और बर्बरतापूर्ण कारनामों से भरा हुआ है। कहा जाता है कि साम्राज्यवाद से होने वाले तथाकथित लाभ उसकी हानियों की तीव्रता को थोड़ा कम कर देते हैं किन्तु इनके आधार पर इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। साम्राज्यवाद विश्व-शान्ति के लिए खतरे के समान है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व बार्नेस (Barnes) ने लिखा था कि ब्रिटेन इतने बड़े साम्राज्य का अकेला ही स्वामी है यह बात विश्व शान्ति से मेल नहीं खाती, क्योंकि संसार के अन्य पूञ्जीवादी देशों की यह शिकायत रहती थी कि इसके कारण उनको संसार के व्यापार और भू प्रदेशों में उचित भाग नहीं मिल पाता। ऐसे असन्तुष्ट वातावरण में विश्व शान्ति 'कच्चे धागों पर झूलती है।'

साम्राज्यवाद अमानवीय है। साम्राज्यवाद के समर्थन में यह तर्क दिये जाते हैं कि 'यह मनुष्यों को इसलिए पराधीन-गुलाम बनाता है ताकि वे स्वतन्त्रता का महत्व सीख सकें, यह उनका इसलिए दमन करता है ताकि उनमें स्वशासन के लिए प्रेम उत्पन्न हो सके, उनका इसलिए आर्थिक शोषण किया जाता है ताकि वे गरीब और हीन बनने के बाद उद्योगों में मजबूर होकर पहल करना सीखें तथा साम्राज्यवाद में अधिकृत प्रदेश की जातियों को इसलिए हीन और तुच्छ समझा जाता है, जिससे कि उनमें आत्म सम्मान तथा परस्पर एकता की भावनायें आ सकें।" ये सभी तर्क बड़े हास्यास्पद हैं तथा उद्देश्य और परिणाम में भ्रम पैदा करने के लिए प्रायः प्रस्तुत किये जाते हैं। यह हो सकता है कि साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ये सब परिणाम उत्पन्न हो किन्तु साम्राज्यवाद इन परिणामों को अपना लक्ष्य बना कर कभी नहीं चलता। व्यवहार में हम देख सकते हैं भारत में राष्ट्रीय आन्दोलनों को साम्राज्यवादी सरकार द्वारा किस प्रकार दबाया गया था, भारतीयों को राजनैतिक अधिकार एवं स्वतन्त्रतायें कितने त्याग, बलिदान के बाद कठिनी के साथ दी गई थी। अब यह कह कर विश्व को भुलाया नहीं दिया जा सकता कि इन सब नीतियों के पीछे 'फूट डालो और राज्य करो' के व्यवहार के पीछे भारतवासियों को राजनैतिक रूप से प्रशिक्षित करने का लक्ष्य था। कोई यह स्वीकार नहीं कर सकता कि जनरल डायर ने भारतीयों को मशीन गनों से इसलिए भूना जिससे कि उनका दूसरा जन्म किसी स्वतन्त्र और समृद्ध देश में हो। पार्कर मून (Parker Thompson Moon) के मतानुसार अंग्रेज पहले-पहल भारत में आये और आकर बस गये। इसका कारण यह नहीं है कि वे भारत की भलाई चाहते थे वरन् यह कि वे ब्रिटेन की भलाई चाहते

थे। महात्मा गांधी कहा करते थे कि भारत मे अंग्रेजी कानून के शासन (Rule of law) का लक्ष्य जनता का शोषण था। चाहे जितनी बातें बनाई जायें, झूठे आंकड़े दिखा कर चित्र को उज्जवल किया जाय किन्तु अनेक गावों मे उस समय जो हड्डियों के चलने-फिरते ढांचे दिखते थे उनके कारण सत्यता पर धूल नहीं डाली जा सकती।

साम्राज्यवाद व्यक्ति की स्वतंत्रता का विरोधी है। राजनैतिक दासता को साम्राज्यवाद का अभिन्न अङ्ग माना जाता है। साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा स्थापित निरन्तर पराधीनता में रहने वाले लोग स्वतन्त्रता को अपना जन्मसिद्ध अधिकार बहुत दिनों बाद समझ पाते है। रूसो ने ठीक ही कहा था कि यदि ऐसे लोग है जो अपनी प्रकृति से ही दास हैं तो इसका कारण यह है कि पहले प्रकृति के विरुद्ध उनको दास बनाया गया होगा।

साम्राज्यवाद के पक्षपातियो द्वारा स्वतंत्रता की आकृति लाने के लिए लोगों को दास बनाने का जो तर्क दिया जाता है उसकी असत्यता को प्रो० हाकिंग (Hoking) ने बड़े सीधे और सरल शब्दो मे व्यक्त किया है। वे कहते है कि एक अच्छा गुरु सदैव यह चाहता है कि उसका शिष्य योग्य एवं स्वावलम्बी बने और इसीलिए वह शिष्य की सारी समस्याओं को हल करके नही देता। अपने शिष्य की आन्तरिक शक्तियों के विकास को वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानता है। इसी प्रकार भिखारियों की समस्या का हल यह नही है कि हम उनको भीख बाट दें किन्तु इनके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें आजीविका कमाने की शिक्षा तथा प्रेरणा दी जाय।

साम्राज्यवाद अधिकृत देशो की जनता के बहुमुखी विकास के विरुद्ध तो है ही किन्तु यह स्वयं साम्राज्यवादी देशो की जनता के हित में भी नहीं है। लोग पालतू कुत्तो को प्राय इसलिए मांस नही देते कि कहीं किसी दिन भूल से वह अपने स्वामी को ही न काट ले। यह अन्देशा साम्राज्यवादी शक्तियों पर चरितार्थ हो गया है। जो सरकार अपनी उपनिवेशी जनता पर निरन्तर अत्याचार ढाती हैं, उनका शोषण और दमन करती हैं क्या वह अपने देश की जनता को सच्ची स्वतन्त्रता प्रदान कर सकेगी यह आशा नहीं की जा सकती। कुछ विचारकों के अनुसार स्वाधीनता के प्रति स्वाधीनता-प्रेमी अंग्रेजों का मौलिक उत्साह अब कुण्ठित हो चुका है। इसका कारण उन सैनिक अत्याचारों तथा कड़े प्रतिबन्धो को बताया जाता है जो उनके देश वासियों द्वारा विदेशी जनता पर किये गये थे।

साम्राज्यवाद के उपर्युक्त दोषों को देखने के बाद अनेक विचारकों के मस्तिष्कों की तन्त्रियों मे एक झंकार हुई। यह विचार किया जाने लगा कि

साम्राज्यवाद का विरोध किस प्रकार किया जाय। कुछ विचारकों ने साम्राज्य-वाद को समाप्त करने की बजाय उसे संशोधित करने के उपाय प्रस्तुत किये हैं। पार्कर मून (Parker Moon) का कहना है कि साम्राज्यवाद मध्य-विक्टोरियन युग का बचा खुचा अंश है जो एक नितान्त गैर-विक्टोरियन युग में कायम है। यदि संक्रमण काल में साम्राज्यवाद अपना औचित्य सिद्ध करना चाहता है तो उसे शोषण-मूलक न होकर उत्तरदायित्व मूलक होना चाहिए। कुछ विचारकों के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की भावना का प्रचार करके लोगों की मनोवृत्ति को बदलना साम्राज्यवाद को बदलने, संशोधित करने या अन्त करने की पूर्व आवश्यकता है। दूसरे लोग साम्राज्यवाद को संशोधित करने के लिए निम्न सुझाव देते हैं—

१ गोरी जाति को उच्चता प्रदान नहीं की जानी चाहिए;
२ साम्राज्यवादी देश मजदूरों का शोषण न करें,
३ पिछड़े देशों में व्यक्तिगत पूञ्जी के प्रयोग को नियन्त्रित रखना चाहिए,
४ पिछड़े देशों को स्वशासन के योग्य बनाया जाये;

५ बार्नस् (Barnes) के मतानुसार साम्राज्यवाद की जड़ें हिलाने के लिए उसके मुख्य आधार पूञ्जीवाद पर चोट की जाय। यह अच्छा रहेगा कि मातृ देश में पूञ्जीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना की जाय।

पूञ्जीवाद का विरोध करने के लिए मार्गेन्थो ने उन नीतियों का वर्णन किया है जो विभिन्न देशों द्वारा समय समय पर अपनायी जाती रही हैं। ये नीतियां मुख्य रूप में तीन हैं—

१ तुष्टीकरण की नीति (Policy of appeasement)
२. घेराबन्दी की नीति (Policy of containment)
३ भय की नीति (Policy of fear)

मार्गेन्थो का कहना है कि साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया के रूप में जब कोई राष्ट्र तुष्टीकरण की या भय की नीति अपनाता है तो उसके कार्यों का परिणाम प्रायः साम्राज्यवाद को सङ्गठित व अधिक शक्तिशाली बनाने में फलित होता है। साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने के मार्ग में कई कठिनाइयां हैं। प्रथम कठिनाई तो यह है कि विजय (Conquest) की नीति को तभी साम्राज्यवादी माना जा सकता है जबकि यह वस्तु-स्थिति (Statusquo) को बदलने का प्रयास करे किन्तु यह अन्तर करना बड़ा कठिन कार्य है कि कौन सी नीति वास्तव में साम्राज्यवाद की परिधि में आती है और कौनसी

नहीं। दूसरी कठिनाई यह है कि जब एक देश वस्तुस्थिति को बनाये रखने की नीति अपनाता है तो यह निश्चित नहीं रहता कि वह कब अपनी इस नीति को छोड़कर साम्राज्यवादी बन जायेगा। तीसरी कठिनाई यह है कि, जब तक एक देश स्पष्ट रूप से क्षेत्रीय विस्तार की नीति अपनाता है तो उसकी अन्य नीतियों के उद्देश्यों को भी 'भूमि' (Territory) के रूप में परिमापित किया जा सकता है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि यह देश प्रमुख प्रदेश पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है किन्तु परेशानी तो एक देश द्वारा अपनाई गई सांस्कृतिक तथा आर्थिक नीतियों का उद्देश्य बताते समय होती है। यह जानना बहुत मुश्किल है कि एक देश द्वारा अपनायी जाने वाली सांस्कृतिक एवं आर्थिक नीति का उद्देश्य साम्राज्यवादी है अथवा नहीं। स्विटजरलैंड द्वारा विश्व क्षेत्र में सक्रिय आर्थिक नीतियाँ अपनाई जाती हैं किन्तु उनको साम्राज्यवादी नीति नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार स्पेन का लैटिन अमेरिका की संस्कृति में प्रवेश साम्राज्यवाद की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि अमेरिका की तुलना में स्पेन की सैनिक शक्ति इतनी नहीं कि स्पेन द्वारा शक्ति सम्बन्धों को अपने पक्ष में परिवर्तित करने का कोई प्रयास किया जा सके। इन समस्त परेशानियों के बावजूद भी यदि यह प्रमाणित हो जाय कि एक देश की नीति साम्राज्यवादी है तो एक दूसरी कठिनाई आ उपस्थित होती है वह यह कि इस बात का निश्चय कैसे किया जायेगा कि इस साम्राज्यवाद का लक्ष्य क्या है। अर्थात् यह देश केवल क्षेत्रीय आधिपत्य चाहता है या महाद्वीपीय अथवा सम्पूर्ण पृथ्वी पर ही शासन करना चाहता है। सफलताओं और बदली हुई परिस्थितियों के साथ साथ प्रायः साम्राज्यवाद का लक्ष्य भी बदलता रहता है। पृथ्वी पर शासन करने का लक्ष्य लेकर चलने वाला देश जब प्रारम्भिक प्रयासों में ही सफल नहीं हो पाता तो उसे अपना लक्ष्य बदलना पड़ता है। उसी प्रकार एक राज्य जो केवल स्थानीय प्रदेशों पर ही अधिकार करने का लक्ष्य लेकर चले और इस लक्ष्य में सफल हो जाय तो वह महाद्वीप को जीतने का और बाद में सारी पृथ्वी पर शासन करने का उद्देश्य भी बन सकता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि साम्राज्यवाद में एक गतिशील ताकत (Dynamic Force) है। इस प्रकार साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ तथा उसकी प्रतिक्रियावादी नीतियाँ कभी निश्चित नहीं होती। ये दोनों ही बदलती रहती हैं तथा इनका मूल्यांकन भी समय समय पर होता रहता है।

साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करने की पांचवी तथा अन्तिम कठिनाई यह है कि यह अपने आपको इस रूप में प्रदर्शित करता है कि इसके सही रूप

को नहीं समझा जा सकता। एक देश की विदेश नीति अथवा साम्राज्यवादी नीति जैसी लगती है और जैसी वह वास्तव में होती है—इन दोनों के बीच भारी अन्तर रहता है। आज सम्पूर्ण-युद्ध के युग में यह आवश्यक हो गया है कि साम्राज्यवाद के प्रसार को रोका जाय, उसका रूप परिवर्तित किया जाय और हो सके तो उसे समाप्त किया जाय। संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य शांति के दूत साम्राज्यवाद के रूप को विध्वंसकर्ताओं को घटाने व इसके प्रसार को कम करने में प्रयत्नशील हैं किन्तु उनको कितनी सफलता प्राप्त हो सकेगी इसका निर्णय तो भविष्य ही करेगा।

पाश्चात्य उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद
(*Western Colonialism and Imperialism*)

पश्चिमी देशों में साम्राज्यवाद का विकास किसी एक राजनीतिक या आर्थिक उद्देश्य से नहीं किया गया। ईसाई मिशनरी के लक्ष्य तथा गोरे लोगों का उत्तरदायित्व के विचार ने अविकसित अधीनस्थ लोगों को सुधारने के नाम पर साम्राज्यवादी व्यवहार को औचित्य प्रदान किया। ईसाई मिशनरियों के प्रयासों के बाद व्यापारिक एवं राजनीतिक नियन्त्रण प्रारम्भ हो जाता था। साम्राज्यवाद के अनेक लक्ष्य शक्ति और आर्थिक उद्देश्यों के साथ मिल कर कार्य करते हैं। अनेक पश्चिमी देशों ने समुद्र पार के देशों में जो साम्राज्य स्थापित किए थे कुछ तो उनके साहसिक कार्यों के परिणाम थे; कुछ प्रभावित लोगों के आलस्य, अज्ञान एवं फूट के परिणाम थे। उन्नीसवीं शताब्दी में एक देश के पास जितने उपनिवेश होते थे और जिसके प्रभाव का क्षेत्र जितना अधिक होता था उसे उतना ही अधिक शक्तिशाली समझा जाता था और सम्मान दिया जाता था। फ्रांस को अपने कुछ उपनिवेशों से तो वस्तुओं के रूप में लाभ होता था और अन्य से केवल सम्मान और स्थिति ही प्राप्त होती थी। पश्चिमी शक्तियों ने न केवल सम्मान और शक्ति की प्राप्ति के लिए ही वरन् अपने मुख्य हितों की रक्षा के लिए भी विदेशों में प्रदेशों की खोज की। संयुक्त राज्य अमरीका पनामा नहर की रक्षा करना चाहता था। इसलिए उसे प्वान्टानामो और वर्जिन आदि द्वीपों पर अधिकार करना पड़ा। इसी प्रकार ग्रेट ब्रिटेन भारत, सिंगापुर, हांगकांग और आस्ट्रेलिया के लिए सुरक्षित मार्ग चाहता था इसलिए उसे भूमध्य सागर और हिन्द महासागर पर अधिकार करना पड़ा। उपनिवेशवाद के समर्थक यह तर्क देते हैं कि उपनिवेशों के द्वारा अतिरिक्त जनसंख्या के लिए निवास स्थान प्रदान किया जाता है। किन्तु इस तर्क को अनेक उदाहरणों की साक्षियों के द्वारा गलत सिद्ध किया जा

सकता है। सन् १९१४ में जर्मनी ने अफ्रीका में नौ लाख इकत्तीस हजार वर्ग मील भूमि पर अपने उपनिवेश बनाए। इनकी जनसंख्या बारह मिलियन थी। किन्तु इनमें से केवल बीस हजार लोग ही जर्मन के निवासी थे। असल में जर्मनी वालों की इससे अधिक जनसंख्या पेरिस में रहती थी। इस प्रकार जनसंख्या का तर्क तथ्यमय नहीं है यह साम्राज्यवाद को न्यायोचित सिद्ध करने में महत्वपूर्ण हो सकता है।

साम्राज्यवाद कभी-कभी अतिरिक्त साम्राज्यवाद को प्रेरित करता है। एक साम्राज्यवादी देश जब दूसरे देश के प्रदेशों पर अधिकार कर लेता है तो वह प्रभावित देश अपनी क्षति पूर्ति के लिए किसी अन्य देश के प्रदेशों पर अधिकार कर लेता है। हिटलर, मुसोलिनी तथा तोजो, आदि ने यह दावा किया था कि शोषित शक्तियों के रूप में यह देश समुद्र पार के प्रदेशों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार रखते हैं। इस प्रकार सन् १९३९ से पूर्व के उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के लिए विभिन्न प्रकार के राजनैतिक और रण कौशल सम्बन्धी औचित्य प्रदान किए गए। प्रत्येक जगह पर केवल एक ही सूत्र का लागू नहीं किया गया। प्रत्येक तर्क एक समय न्यायपूर्ण प्रतीत होता था, किन्तु बाद में इनके विरुद्ध दिए जाने वाले तर्क भी न्यायपूर्ण बन जाते थे।

पश्चिमी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का धीरे धीरे पतन हुआ। इस दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन ने जो उपनिवेश विरोधी नीति अपनाई वह सबसे अधिक प्रभावशील मानी जाती है क्योंकि उसने ५३० मिलियन से भी अधिक लोगों को स्वतन्त्रता प्रदान की। सन् १९६६ में ब्रिटिश साम्राज्यवाद में केवल २० छोटे छोटे आश्रित प्रदेश थे जिनकी जनसंख्या ६ मिलियन से भी कम थी। ग्रेट ब्रिटेन ने अपने साम्राज्यवाद को एक नियोजित तरीके से सीमित किया और यह प्रयास किया कि नव स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यों में स्थायी सरकार बनें, प्रभावशील प्रशासकीय व्यवस्था स्थापित हो और एक शिक्षित वर्ग जन्म ले। इसके अतिरिक्त इन राज्यों को राष्ट्र मण्डल में मिलाए रखा गया ताकि सामान्य हितों एवं क्रियाओं की निरन्तरता बनी रहे। ये सब परिवर्तन बिना अधिक संघर्ष और हिंसा के ही हो गए। यद्यपि कुछ देशों में स्वतन्त्रता आन्दोलन बहुत लम्बा और गम्भीर रूप से चला तथा स्वदेशी नेताओं को दबाने और जेल में रखने की नीति अपनाई गई। रोडेशिया ही एकमात्र ऐसा देश माना जाता है कि जिसने बिना ब्रिटेन के समर्थन के ही स्वतन्त्रता की एकपक्षीय घोषणा कर दी। राष्ट्र मण्डल के सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध उस समय खतरे में पड़ गया जब इसकी सदस्यता बढ़ गई और दक्षिण अफ्रीका

की जाति भेदभाव की नीतियों ने अमरीका और एशिया के देशों के बीच मनमुटाव पैदा कर दिया। काले अफ्रीकी राज्यों के दबाव में आकर सन् १९६४ में दक्षिण अफ्रीका राष्ट्र मण्डल से अलग हो गया।

फ्रान्स के साम्राज्य की समाप्ति इससे कुछ कम मरल रूप से हुई। हिन्द-चीन (Indo China) में द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जापानी अधिकार ने फ्रान्स की शक्ति को कमजोर कर दिया। वियतनाम के साम्यवादियों की सैनिक प्रगतियों के परिणामस्वरूप यह क्षेत्र सन् १९५४ में चार भागों में बांट दिया गया। ये थे—उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम, लाओस और कम्बोडिया। फ्रान्स को अल्जीरिया के सम्बन्ध में युद्ध छेड़ना पड़ा किन्तु सन् १९५८ में जनरल डिगाल ने उपनिवेशवादी नीति को विपरीत दशा कर अल्जीरिया को स्वतन्त्रता प्रदान की। डिगाल के नेतृत्व में एक फ्रांसीसी सरकार की रचना की गई। यह ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के विचार पर आधारित था। फ्रान्स के सभी अफ्रीकी देशों को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और गिनी को छोड़ कर इन सभी ने इस सरकार में रहना स्वीकार किया। किन्तु वहां बढ़ते हुए राष्ट्रवाद के प्रभाव ने शीघ्र ही सम्बन्ध को ढीला कर दिया।

संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने प्रमुख उपनिवेशों को द्वितीय विश्व युद्ध के तुरन्त बाद स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। फिलीपीन्स स्वतन्त्र हो गया, प्योर्टो रिको (Puerto Rico) को राष्ट्र मण्डल का स्तर प्रदान किया गया और एलास्का तथा हवाई को संघ के राज्य बना दिया गया। संयुक्त राज्य अमरीका ने वर्जिन द्वीप, अमरीकी सामोआ, ग्वाम तथा प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीपों पर अधिकार बनाए रखा।

अफ्रीकी राष्ट्रवाद के दबाव के कारण बेल्जियम को सन् १९६० में कांगो स्वतन्त्र करना पड़ा, यद्यपि इस समय कांगो के लोग स्वायत्त सरकार के लिए तैयार नहीं थे। फलतः राजनैतिक अव्यवस्था फैली और संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं द्वारा सरकार को स्थायित्व प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया गया। कांगो में साम्यवादी शासन की स्थापना की पूरी सम्भावनायें थी, किन्तु पश्चिमी कूटनीति की सजगता एवं संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रतिक्रिया के कारण ऐसा न हुआ।

पुर्तगाल और स्पेन के साम्राज्य अब भी बाकी हैं। पुर्तगाल का यह दावा है कि अंगोला और मोजाम्बीक उसके देश के ही प्रान्त हैं। यह तर्क उपनिवेशवाद के अफ्रीकी आलोचकों को सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। इन देशों के लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए तैयार करने की दिशा में बहुत

कम कार्य किया गया है। स्पेन अपने उपनिवेशों के सम्बन्ध में बहुत जागरूक हो कर चल रहा है। अभी तक वह दबावों के अधीन नहीं आया जो कि पुर्तगाल और दक्षिण अफ्रीका पर आए है।

सन् १९५५ के बाद से एक ऐसा समय प्रारम्भ होता है जिसमें पुराने साम्राज्यों से नए राज्यों का उदय हुआ। यद्यपि अधिकांश बड़े क्षेत्र एवं जनसंख्या वाले राज्य स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं किन्तु फिर भी यह प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। नव स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यों में यद्यपि स्थायी स्वतन्त्र अस्तित्व की मूल बातों का अभाव है किन्तु फिर भी वहां स्वतन्त्रता, समानता और स्थिति के लिए जो दबाव डाले जाते हैं उनका विरोध नहीं किया जा सकता। यह सब अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के तथ्य हैं।

साम्यवादी साम्राज्यवाद
(The Communist Imperialism)

पश्चिमी विचारकों, लेखकों एवं कूटनीतिज्ञों का मत है कि एक तरफ पुराना साम्राज्यवाद समाप्त हो रहा है और दूसरी तरफ साम्राज्यवाद की नई शक्ति रूसी और चीनी साम्यवाद के रूप में जन्म ले रही है। अनुमानतः सन् १९४५ से अब तक लगभग ८० करोड़ लोगों को पश्चिमी शक्तियों से स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी है और लगभग इतनी ही संख्या में लोग साम्यवादी अधिकार के नीचे आ गए हैं। साम्यवादी विचारधारा को साम्राज्यवादी इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह सर्वहारा वर्ग की विश्व व्यापी तानाशाही की स्थापना के लिए शक्ति और क्रान्ति के प्रयोग का दावा करती है। मार्क्स तथा लेनिन के सिद्धान्त के अनुसार जब पूंजीवादी राज्य और साम्राज्यवादी राज्य परस्पर एक हो जाएंगे तो एक साम्यवादी राज्य संघ की रचना होगी। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साम्यवादी अनेक नीतियों का प्रयोग करते हैं जो इस मान्यता पर आधारित है कि पहले सभी राज्य समाजवादी बन जाएंगे और फिर वे साम्यवादी बन जाएंगे। साम्यवादी नेता बदलती हुई परिस्थितियों को यथास्थिति मान कर चलते हैं। वाल्टर लिप्पमैन ने सन् १९५८ में निकिता ख्रुश्चेव के साथ विचार विमर्श करने के बाद यह पाया कि पश्चिमी शक्तियां यथास्थिति उस स्थिति को कहती हैं जो उस क्षण मौजूद हैं किन्तु साम्यवादी नेता उस क्रान्तिकारी परिवर्तन की प्रक्रिया को यथास्थिति कहते हैं जो चल रही है। साम्यवादी साम्राज्यवाद ने पूर्वी यूरोप, उत्तरी कोरिया, बाह्य मङ्गोलिया

और उत्तरी वियतनाम पर नाम मात्र के लिए स्वतन्त्र राज्यों पर राजनैतिक, सैनिक एवं आर्थिक नियन्त्रण स्थापित कर लिया है। इसके अतिरिक्त यह एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका की राष्ट्रवादी क्रान्तियों का शोषण करके उन्हें अन्तिम रूप से साम्यवादी शासनों की स्थापना की ओर मोड़ देता है। रूस और चीन प्रमुख साम्यवादी देश होने के नाते साम्यवादी साम्राज्यवाद के मुख्य नेता हैं।

सोवियत साम्राज्यवाद
(Soviet Imperialism)

पूर्वी यूरोप के देशों में सोवियत साम्राज्यवाद ने एक सामान्य रूप धारण किया है। सन् १९४५ से सन् १९४७ तक साम्यवादी अपनी शक्ति को स्थापित एवं एकीकृत कर रहे थे। उस समय विचारधारा पर अधिक जोर नहीं दिया गया और जनता के प्रजातन्त्रों को समाजवाद के लिए विभिन्न मार्ग अपनाने की अनुमति दी गई जो वे लाल सेना के अधीन रह कर ही अपना सकते थे। स्टालिन के शासन के अन्तिम वर्षों के दौरान इन देशों पर नियन्त्रण की मात्रा बढ़ा दी गई। किन्तु इस तानाशाह की मृत्यु के बाद पोलैंड और हंगरी में क्रांतियां हुयीं। उसके बाद सोवियत संघ और चीन के बीच संघर्ष पैदा हुआ। उसके बाद ज्यों ही चीन की प्रभुशक्ति बढ़ी त्योंही यहां के राष्ट्रीय नेताओं ने स्वतन्त्र रूप से आर्थिक विकास की नीतियां बनाना और संचालित करना प्रारम्भ किया। प्रत्येक राज्य में बुद्धिवादियों का एक निश्चित वर्ग केन्द्रीय रूप से नियन्त्रणकर्त्ता बना दिया गया। यद्यपि आज जन नियन्त्रण का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है किन्तु फिर भी यहां अब भी सोवियत नियन्त्रण है। सोवियत संघ के साथ इन देशों के सहयोगात आर्थिक बन्धन उतने ही मजबूत हैं जितने कि सैनिक एवं राजनैतिक प्रभाव।

सोवियत गुट के बाहर साम्यवादी रणनीति ने राष्ट्रवाद के साथ सन्धि कर ली है। साम्यवादी नेता यह आशा करते हैं कि पहले साम्यवादी आंदोलन को भड़काया जाए और उसके बाद राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों को पूंजीवादी सत्ता से लेकर शक्ति सौंप दी जाए। सर्वप्रथम साम्यवादी व्यापार, आर्थिक सहायता आदि के सहारे प्रभाव डालना चाहते हैं। सोवियत संघ की आर्थिक प्रगति का उदाहरण दिया जाता है और प्रभावशाली समूहों तथा घुसपैठियों के द्वारा साम्यवादी प्रभाव को बढ़ाया जाता है। साम्यवादी देशों का विकासशील देशों के साथ व्यापार बढ़ रहा है। इन देशों को जो सोवियत सहायता दी जाती है वह इतनी स्पष्ट एवं मूर्त रूप में होती है कि उसके सहारे सोवियत संघ का सम्मान एवं राजनैतिक प्रभाव अधिक से

अधिक डाल दिया जाता है। उदाहरण के लिए मिस्र मे आस्वन बांध बनाया गया और भारत में स्टील के कारखानों में सहायता दी। प्रचार के सभी साधनों को प्रयुक्त करके यह सिद्ध किया जाता है कि सोवियत संघ बीसवीं शताब्दी में तीव्र गति के विकास का एक नमूना है। सोवियत संघ की नीति यह मान कर चलती है कि दूसरे स्तर पर विकासशील देश साम्यवाद को अपना लेंगे। बदलती हुई वस्तुस्थिति एवं बढ़ते हुए आंतरिक गतिरोध साम्यवादियों को शक्ति में आने का अवसर प्रदान करेंगे। ज्यों ज्यों स्वतन्त्रता का आंदोलन आगे बढ़ता है त्यों त्यों यह आशा बढ़ती है कि विश्व का शक्ति सन्तुलन बदल जाएगा और पश्चिमी देश साम्यवाद के प्रभाव और प्रसार को रोक नहीं पाएंगे। सोवियत नीति लेनिन की इस भविष्यवाणी को मान कर चलती है कि संघर्ष का परिणाम दुनिया की जनसंख्या के बहुमत द्वारा निर्धारित किया जायगा जो कि रूस, चीन और भारत में रहती है।

चीनी साम्राज्यवाद
(The Chinese Imperialism)

साम्यवादी चीन को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चीन भी अपना प्रभाव एवं शासन प्रसारित करना चाहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसके द्वारा तीन साधन अपनाए जाते हैं। प्रथम, परम्परागत सीमाओं के बाहर सैनिक प्रभाव को बढ़ाया जाता है। दूसरे, नवीन स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यों को नेतृत्व प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। तीसरे विश्व साम्यवादी आंदोलन का नेतृत्व किया जाए। इन तीनों साधनों को अपनाते समय चीन को पग पग पर सोवियत रूस का प्रतिद्वन्द्वी बनना होता है। चीनी साम्राज्यवाद के इन तीनों साधनों या रूपों के सम्बन्ध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त करना अनुपयुक्त न रहेगा।

परम्परागत रूप से चीन एक प्रसारवादी देश है क्योंकि यह अपने प्रदेश को एक मध्य राजधानी (Middle Kingdom) मानता है जो कि दुनिया का केन्द्र है। जब मान्चू साम्राज्य के साथ चीन की शक्ति केन्द्रीय एशिया, साइबेरिया और दक्षिण पूर्वी एशिया से हट कर वापस आ गई तो उसका प्रभाव कम हो गया किन्तु बाद में जब यहां साम्यवादी शासन की स्थापना हो गई तो चीन ने अपने शासन को तिब्बत तक बढ़ा लिया। इसका प्रभाव उत्तरी कोरिया में स्थापित हो गया। इसकी सैनिक शक्ति भारत की सीमाओं के पार प्रवेश करने लगी। चीन के द्वारा इस प्रदेश पर अधिकार जताया जाने लगा जिस पर कि बहुत समय पहले से भारत का अधिकार है।

राष्ट्रवादी चीन के क्वीमोय और मात्सू (Quemoy and Matsu) द्वीपों पर साम्यवादी चीन ने आक्रमण किया तथा यह दावा किया कि फारमोसा द्वारा नियन्त्रित भूमि पर उसका स्वयं का अधिकार है। धीरे-धीरे पीकिंग का प्रभाव उत्तरी वियतनाम, कम्बोडिया और लाओस पर फैलने लगा। चीन की घोषणाओं द्वारा यह दावा किया गया कि मध्यीय एशिया में जो भूमि सोवियत रूस के अधीन है वह कभी चीन के अधीन थी और अब उसे चीन को ही लौटा देना चाहिए। पीकिंग ने होचीमिन्ह को प्रभावित करके इस बात का प्रत्येक प्रयास किया कि अमरीकियों को वियतनाम से बाहर निकाल दिया जाए। अनेक प्रकाशित पत्रों के आधार पर यह कहा जाता है कि साम्यवादी चीन ने इण्डोनेशिया के साम्यवादियों को उभार कर उन्हें उच्च सैनिक अधिकारियों की हत्या के लिए प्रेरित किया ताकि शक्ति साम्यवादियों के हाथ आ सके। सितम्बर १९६५ का यह देशद्रोही कार्य स्थानीय दलीय नेतृत्व के विरुद्ध सेना के प्रभावशील कदमों ने सफल न होने दिया। चीन द्वारा बर्मा और थाईलैण्ड की सीमाओं पर भी दबाव डाला जाता है तथा वहां ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गई है कि किसी भी समय छापामारों को प्रोत्साहित करके सैनिक कार्यवाही कर दी जाये। कहा जाता है कि भारत में पश्चिमी बंगाल की जो हिंसात्मक घटनाएं हुई थीं उनमें साम्यवादी चीन का प्रत्यक्ष रूप से हाथ था। पीकिंग के साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति द्वारा जो निर्णय लिया जाता है उसको क्रियान्वित करने के लिए अनेक देशों में उसके कार्यकर्ता उन्मुक्त रहते हैं।

राजनैतिक क्षेत्र में चीन के नेताओं ने नव स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्रों को शांति के प्रतीक माना है। सन् १९५५ में एशिया और अफ्रीका के देशों के बाण्डुग सम्मेलन में चीन ने इन देशों का नेतृत्व सम्भालने की दिशा में कई कदम उठाए। इसके बाद सन् १९६५ में अल्जीयर्स में होने वाले अफ्रीकी-एशियाई देशों के सम्मेलन में भी चीन ने इन देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बनाने का प्रयास किया। किन्तु यह सम्मेलन नहीं हो सका क्योंकि यहां क्रान्ति होने के कारण अहमद बेनबेला को अपदस्थ कर दिया गया तथा सोवियत संघ ने एक एशियाई शक्ति के रूप में इस सम्मेलन में उपस्थित होने का दावा किया था। अल्जीरिया सम्मेलन की समाप्ति चीनी आशाओं पर एक तुषारापात था। सन् १९६५ में चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ-एन लाई ने अफ्रीका और एशिया के कुछ देशों का दौरा किया और लौटने पर अपने नेताओं को बताया कि अफ्रीका क्रान्ति के लिए पक चुका है। यह बात उन स्थानीय नेताओं को अधिक नहीं जची जिन्होंने विभिन्न प्रकार की क्रान्तियों द्वारा

अपना पद प्राप्त किया था। उन्होंने उस परिवर्तन की सम्भावनाओं का स्वागत नहीं किया जो कि नेता द्वारा वर्णित किए गए थे। यह सूचना उन्होंने आग तक नेता को भी दे दी। कुछ अफ्रीकी देशों में साम्यवादी चीन के कार्यकर्त्ताओं एवं अधिकारियों को देश निकाला दे दिया गया। जब एक के बाद एक अफ्रीकी राज्य ने चीनी मिशनों के लिए दरवाजा बन्द कर दिया तो इससे साम्यवादी महत्वाकांक्षाओं को ठेस लगी। यह बात घाना के उदाहरण को देखकर स्पष्ट हो जाती है। इस देश ने एन्क्रूमा के अपदस्थ होने के बाद चीनी मिशन को बाहर निकाल दिया और सोवियत संघ के अधिकारियों को आमन्त्रित किया। इस स्थिति के बाद भी यह नहीं कहा जा सकता कि चीन अपनी महत्वाकांक्षाओं को छोड़ देगा। वह पुनः इस दिशा में प्रयास कर सकता है। चीन का दर्शन यह है कि उनकी क्रान्ति सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व के अधीन एक समाजवादी क्रान्ति को लाने में सफल पाठ प्रस्तुत करती है जिसे अपनाकर कोई भी देश आगे बढ़ सकता है।

चीनी साम्यवाद अपने सामने दीर्घकालीन लक्ष्यों को रख कर चलता है। इनमें प्रमुख यह है कि चीन द्वारा साम्यवादी दुनिया का नेतृत्व किया जाए। पीकिंग और मास्को के बीच का सैद्धान्तिक संघर्ष साम्यवादी गुट में शक्ति संघर्ष का एक उदाहरण है। चीन अणु शक्ति संपन्न देश बनना चाहता है क्योंकि सोवियत संघ ने उसे यह शक्ति प्रदान करने से मना कर दिया था। यह आधुनिक औद्योगीकरण के सहारे विश्व साम्यवादी आंदोलन का नेतृत्व प्राप्त करने के लिए जो प्रयास कर रहा है उसमें उसकी हानि अधिक होती है और लाभ कम। यह अपने आपको मार्क्सवाद–लेनिनवाद का सच्चा समर्थक बताता है और एक आक्रमणकारी शक्ति के रूप में सोवियत नेतृत्व से ऊपर आता है। चीनी प्रचार की सैनिक प्रकृति एवं आक्रमणकारी क्रियाओं के कारण विकासशील देशों में सोवियत संघ को अपनी रक्षा की फिक्र लगी है। चीन के तरीके माओ के इस विचार पर आधारित हैं कि जनता के युद्ध एवं राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का आक्रमणकारी रूप से समर्थन करके साम्यवादी विजय को शीघ्र लाया जा सकता है।

चीनी साम्यवादियों का यह मत है कि एशिया और अफ्रीका के देशों में सर्वोच्चता प्राप्त करने के लिए उसके उद्देश्य में सबसे बड़ी बाधा—संयुक्त राज्य अमरीका है। अमरीका भी यह अनुभव करने लगा है कि सोवियत प्रसार को यूरोप में रोकने की समस्या जितनी जटिल थी उससे कहीं अधिक आज साम्यवादी चीन के साम्राज्यवाद को घेरने की समस्या बन गई है। क्योंकि यह समस्या उन देशों की है जहाँ के लोग पश्चिम से भिन्न मूल्य

रखते हैं। ये पश्चिमी शक्तियों को भी अपने देश में आने से उतना ही रोकना चाहेंगे जितना कि चीन की चुनौती को। साम्यवादी चीन के साम्राज्यवाद को एशिया और अफ्रीका में तटस्थता एव असलग्नता की व्यापक नीतियों द्वारा रोका जा सकता है। इस साम्राज्यवाद को रोकने के प्रयास में जो सघर्षपूर्ण घटनायें होंगी तथा इस प्रयास के असफल होने पर जो स्थिति सामने आएगी वह अतर्राष्ट्रीय जीवन के रूप को निर्धारित करेगी।

वर्तमान स्थिति अत्यन्त गम्भीर है। अनेक नए राज्यों के दृष्टिकोण असन्तुलित हैं। वे पश्चिम के विकास और स्तर की प्रशंसा करते हैं तथा उसे प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु दूसरी ओर उपनिवेशी शासन के ऊच-नीच के सम्बन्ध द्वारा एक विरासत छोडी गई है। इसके परिणामस्वरूप पश्चिम विरोधी दृष्टिकोण सामने आता है और ये देश पश्चिम के साथ राजनैतिक सहयोग की नीति को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पश्चिमी शक्तियों के प्रति ये भावनायें साम्यवादी देशों के लिए लाभप्रद बन जाती हैं। साम्यवाद के द्वारा पश्चिमी सभ्यता के आदर्श मूल्यों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। यह विभिन्नताओं के शान्तिपूर्ण समायोजनों पर जोर नहीं देता। यह बहुलवाद की सहनशीलता को महत्व नहीं देता। यह व्यक्तिगत महत्व एव आकाक्षाओ को आदर नहीं देता। उपनिवेशवाद के विरुद्ध अफ्रीका में जो आन्दोलन चला वह कोई नई बात नहीं है। सयुक्त राज्य अमरीका की पूर्वज तेरह उपनिवेशों ने इंग्लैण्ड के विरुद्ध क्रान्तिकारी लड़ाई लड़ी थी। किन्तु उस समय साम्यवाद जैसी कोई शक्ति नहीं थी जो विरोधों को बढा कर लाभ उठाना चाहे।

कई बार सयुक्त राज्य अमरीका के सामने यह सकट उत्पन्न हो जाता है कि वह अपने यूरोपीय मित्रो एव नए देशों के बीच में से किसको चुने। कहा जाता है कि अमरीकी जनता अपने ऐतिहासिक अनुभव और राजनैतिक मूल्यों के आधार पर उपनिवेशों की जनता की स्वतन्त्रता प्राप्ति की महत्वाकाक्षा का आदर करती है। सयुक्त राज्य अमरीका ने इन नए राज्यों का जो आर्थिक एव तकनीकी सहयोग प्रदान किया है वह अद्वितीय है। *बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उन प्रदेशों में जागृति आ गई जो एक लम्बे* समय से गुलाम थे। यहा के लोगो की यह इच्छा है कि वह अपने आपको विश्व राजनीति में सम्मान के रूप में अभिव्यक्त करें। यह पश्चिमी शक्तियों और सयुक्त राज्य अमरीका के हित में है कि वे इन राज्यो के विकास में सहयोग दें। वर्तमान समय में इन नए राज्यो के सम्बन्ध में पश्चिमी शक्तियों तथा साम्यवादी देशों के बीच सघर्ष इस बात पर है कि ये दोनों ही

इन राज्यो के मूल्यो को रूप देना चाहते हैं ताकि ये राज्य अपने भावी विकास की दिशा चुन सकें । साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का नया रूप क्या मोड लेगा इस सम्बन्ध मे कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती केवल भविष्य ही इसका निर्धारण करेगा ।

युद्ध
(The war)

युद्ध मनुष्य की सघर्षमयी प्रवृत्ति के परिणाम है । इनका प्रारम्भ तभी से माना जाता है जब मनुष्य ने इस धराधाम पर प्रथम बार पदार्पण किया । विश्व के प्राचीनतम साहित्य ऋगवेद की अनेक स्तुतिया और श्लोक देवता तथा राक्षसो मे युद्ध का उल्लेख करते हैं । वैदिक काल के बाद पौराणिक काल, महाभारत एव रामायण काल मे भी युद्धों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है । समस्त भारतीय दर्शन और धर्म के ग्रन्थो मे युद्ध के उत्तरोत्तर विकसित रूप की ओर सकेत किया गया है । मनुष्य की राक्षसी और दैवीय प्रवृत्तिया एक साथ नही रह सकती, दोनो के बीच सघर्ष का होना अवश्यम्भावी है । जो प्रवृत्ति प्रबल होती है युद्ध मे वह विजयी होती है तथा दूसरी को पराधीन बना लेती है । न केवल भारत, किन्तु सम्पूर्ण विश्व के समस्त मानव समाज का इतिहास इसी प्रकार वीभत्स, प्रलयकारी, हिंसात्मक एव विध्वसात्मक युद्धो के उदाहरणो से भरा पडा है । यह एक बडी विरोधाभासपूर्ण स्थिति है कि मनुष्य सभ्यता के पथ पर ज्यो-ज्यो आगे बढ़ता चला गया त्यो त्यो युद्ध का रूप अधिक विध्वसकारी बनता चला गया । युद्ध के द्वारा मनुष्य जाति को अनेको बार राष्ट्रीय नीति के हिंसात्मक साधनो का कडुवा फल चखाया गया है । इसने असख्य हत्यायें की, सोने की लका को खाक मे मिलाया, बडे बडे शक्तिशाली और सम्पन्न राष्ट्रो को पददलित किया, लोगो के जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया और प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता के आगे प्रश्नवाचक चिन्ह ला खडा किया ।

आज के अणुयुग मे युद्ध का क्षेत्र और स्वभाव इतना बदल चुका है कि इसने मनुष्य जाति के अस्तित्व तक को चुनौती दे डाली है । आज मनुष्य जाति के सामने युद्ध की समस्या इतनी प्रबल तथा प्रभावकारी है कि इस पर किये जाने वाले विचार को आगे के लिए नही टाला जा सकता । मनुष्य के सामने केवल दो ही विकल्प है, युद्ध या शाति । एक मृत्यु है दूसरा जीवन, एक विध्वस है दूसरा विकास । आज का विश्व उस स्थल पर आ पहुँचा है जहा प्रत्येक राष्ट्र को-चाहे वह छोटा हो अथवा बडा, शक्तिशाली

11

हो या कमजोर-यह समझ लेना पड़ेगा कि 'युद्ध' के द्वारा राष्ट्रीय हितो को प्राप्त नही किया जा सकता। राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप मे युद्ध आज के युग की अव्यावहारिकता बन गयी है तथा राष्ट्रो के बीच के समस्त झगड़ो और मतभेदो को शातिपूर्ण वार्ताओ एव समझौतो से सुलझाना केवल आदर्शमात्र न रह कर एकमात्र सफल, सम्भव, न्यायोचित और सुरक्षित साधन बन गया है।

'युद्ध' के वर्तमान स्वरूप एव विश्व मे उसके स्थान को देखते हुए यह जानना अप्रासगिक तथा विश्व शाति के अहित मे होगा कि युद्ध कैसे लडे जाते हैं, इनमे क्या कौशल अपनाये जाते हैं, व्यूह रचना किस प्रकार की जाती है आदि। युद्धो को रोकने की दृष्टि से उपयोगी रहेगा कि युद्ध के स्वरूप, कारण तथा प्रतिरोध के उपायो की व्याख्या की जाय।

युद्ध का अर्थ
(Meaning of war)

कैप्टिन लिडेल हार्ट (*Captun Lidell Hart*) का कहना है कि अगर तुम शाति चाहते हो तो पहले युद्ध को समझो। युद्ध के भयानक परिणामो के चित्रण मात्र से इसकी पुनरावृत्तियो को नही रोका जा सकता। युद्ध के अर्थ के सम्बन्ध मे अनेक विचारको ने अपने मत प्रकट किये हैं। प्रो० मेलिनास्की (Professor Malinoski) के मतानुसार युद्ध दो स्वतन्त्र राजनैतिक इकाइयो के बीच का सशस्त्र सघर्ष है, यह सघर्ष राष्ट्रीय अथवा जातीय नीतियो को प्राप्त करने के लिए सगठित सैनिक शक्तियो द्वारा किया जाता है। मेलिनास्की द्वारा दी गई परिभाषा के तीन भाग किये जा सकते हैं—

(१) युद्ध करने वाली इकाइया राजनीतिक रूप से स्वतन्त्र होती हैं।
(२) युद्ध एक सशस्त्र सघर्ष है जो सगठित सैनिक शक्तियो द्वारा किया जाता है।
(३) युद्ध जातीय (Tribal) अथवा राष्ट्रीय नीतियो की साधना के लिए किया जाता है।

युद्ध की इस परिभाषा मे युद्ध की जो विशेषताये बताई गई हैं वे प्रायः एक साथ सयुक्त रूप मे प्रत्येक युद्ध मे प्राप्त नही होती। उदाहरण के लिए गृह युद्ध होते हैं तो उनके कर्ता दो स्वतन्त्र राजनैतिक इकाइया नही होती। इसी प्रकार वर्तमान काल के आर्थिक युद्ध, शीत युद्ध, राजनैतिक युद्ध आदि मे सगठित सशस्त्र सेनाओ का सहारा नही लिया जाता। हाल का भारत-पाक

संघर्ष संगठित, सशस्त्र सेनाओं द्वारा राष्ट्रीय नीति की साधना के लिए किया गया दो स्वतन्त्र राजनैतिक इकाइयों के बीच का संघर्ष था किन्तु ऐसा होते हुए भी उसको तकनीकी अर्थों में युद्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों देशों के बीच राजनयिक सम्बन्ध बने हुए थे तथा किसी भी पक्ष द्वारा सरकारी तौर पर युद्ध की घोषणा नहीं की गई थी।

नवीन अंग्रेजी शब्द कोष द्वारा दी गई परिभाषा गृह युद्ध को भी अपने में समाहित कर लेती है। इसके अनुसार युद्ध सशस्त्र शक्ति द्वारा शत्रुतापूर्ण व्यवहार है जो कि राष्ट्रों, राज्यों या शासकों के बीच में होता है या एक ही देश के दलों के बीच में होता है, यह विदेशी शक्ति के विरुद्ध या उसी राज्य के विरोधी दल के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग है। युद्ध के सामान्य स्वरूप को चित्रित करने वाली एक दूसरी परिभाषा सरल शब्दों में हाफमैन निकर्सन (Hoffman Nickerson) द्वारा की गई है। वे कहते हैं कि 'युद्ध दो ऐसे मानव समूहों के बीच किया जाने वाला व्यवस्थित बल का प्रयोग है जो कि विरोधी नीतियों का अनुसरण करते हैं तथा जिनमें से प्रत्येक अपनी नीति को दूसरे पर लादने का प्रयत्न करता है'। युद्ध के एक जर्मन विचारक कार्ल क्लाजविच (Karl Clausewitz) का कहना है कि 'युद्ध' राजनैतिक व्यवहार का आवश्यक अङ्ग है और इसलिए अपने आप में कोई अलग चीज नहीं है। युद्ध और कुछ नहीं केवल कुछ अन्य साधनों के साथ राजनैतिक व्यवहार (Political intercourse) है। पामर तथा परकिन्स के कथनानुसार क्लाजविच के शब्दों को 'युद्ध' की परिभाषा मानना उपयुक्त नहीं है, फिर भी यह सच है कि इनके द्वारा युद्ध के स्वरूप की एक झलक का आभास मिलता है। आज 'न शान्ति-न युद्ध' की जो स्थिति वर्तमान है उसका इन शब्दों द्वारा दिग्दर्शन कराया गया है।

युद्ध की जितनी भी परिभाषायें दी जाती हैं या तो अधूरी होती हैं अथवा एकपक्षीय इतनी सामान्य होती हैं कि जिसे किसी विशेष युद्ध पर लागू न किया जा सके अथवा इतनी विशिष्ट होती हैं कि उनके आधार पर युद्ध के अन्य रूपों का स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। इस सबका कारण परिभाषा कर्ताओं के अध्ययन का दोष अथवा उनकी अक्षमता नहीं है वरन् युद्ध की प्रकृति की विभिन्नता है। इसके साधनों, कारणों, परिणामों एवं रूपों में इतनी विभिन्नतायें (diversities) वर्तमान हैं कि कोई सर्वमान्य, सर्व-व्यापी तथा पूर्ण रूप से संतोषजनक परिभाषा दी ही नहीं जा सकती। युद्ध के कारणों को जानने के बाद सम्भवतः इसके स्वरूप का अवगम सुगम बन जायेगा।

युद्ध के कारण
(The causes of war)

कार्य के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कार्य का कारण होता है और यदि उस कारण को हटा दिया जाए तो कार्य स्वत. ही विलुप्त हो जायेगा। युद्ध के भयानक परिणामों और मानव जाति के लिए इसके खतरों को देख कर शान्ति-प्रेमी तथा बुद्धिशील वर्ग द्वारा उन कारणों को खोजने का प्रयास किया गया है जो एक राष्ट्र को युद्ध का रास्ता अपनाने के लिए उत्तेजित या मजबूर करते हैं। भिन्न भिन्न विचारकों ने युद्ध के अनेक मूल एवं गौण और प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष कारणों का वर्णन किया है। युद्ध के कारणों को प्रायः दो भागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम भाग में वे सभी कारण हैं जिनके कारण युद्ध की आग भड़क उठती है, इनको युद्ध के तात्कालिक कारण कहा जा सकता है। दूसरी श्रेणी में वे सभी कारण आते हैं जो उस युद्ध के लिए एक लम्बे समय से ही अनुकूल वातावरण तैयार कर रहे थे।

प्रथम विश्वयुद्ध के कारणों का अध्ययन करते हुए प्रोफेसर सिडनी फे (Professor Sidney B. Fay) ने बताया कि युद्ध का सबसे मूल कारण गुप्त सन्धियों की व्यवस्था (System of secret alliances) थी जो फ्रांको-प्रशियन युद्ध के बाद प्रारम्भ हुई थी। दूसरे अन्य सहायक कारण चार थे—सैनिकवाद, राष्ट्रवाद, आर्थिक साम्राज्यवाद और समाचार पत्र-छापाखाना। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के एक दूसरे विद्वान क्विन्सी राइट (Quincy Right) ने युद्ध के विभिन्न कारणों का वर्णन किया है—इन कारणों में कुछ तो मूल हैं तथा कुछ तात्कालिक हैं। कभी-कभी कुछ घटनायें युद्ध का कारण बन जाती हैं, कभी लोगों की मनोभावनायें एवं महत्वाकांक्षायें युद्ध को प्रारम्भ करा देती हैं। इनके अतिरिक्त शस्त्रों की दौड़, कूटनीतिक व्यवहारों की अकुशलता, वाणिज्य सम्बन्धी नीतियां, सम्प्रभुता की मान्यता, उपनिवेशों के मतभेद, देश के विस्तार की प्रवृत्ति, आदि अन्य बातें भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध को भड़काने में सहायक होती हैं। क्विन्सी राइट के मतानुसार युद्ध के कारणों को कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। इसके राजनैतिक, तकनीकी, सैद्धान्तिक, सामाजिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक कारण हैं। टर्नर (Tell A. Turner) ने अपनी पुस्तक 'युद्ध के कारण और नवीन क्रान्ति' (The causes of war and the new revolution) में युद्ध के ४१ कारणों का उल्लेख किया है। वे इन कारणों

को चार भागों में विभाजित करते हैं—आर्थिक, राजवंश सम्बन्धी, धार्मिक और भावात्मक। अन्य अनेक विचारकों द्वारा भी युद्ध के कारणों की व्याख्या की गई है। मुख्य रूप से जिन कारणों को प्राय सभी विद्वान किसी न किसी रूप में मानते हैं, वे निम्न हैं—

(१) युद्ध का सामाजिक कारण
(Social cause of war)

युद्ध का आधारभूत कारण विरोध होता है। जब दो देशों के सामाजिक जीवन की भिन्नता इतनी बढ़ जाती है कि उनके बीच सामञ्जस्य का कोई तत्व बाकी नहीं बचता और एक दूसरे के हित परस्पर टकरा जाते हैं तो उन देशों के बीच युद्ध अवश्यम्भावी बन जाता है। इतिहास में युद्ध के उदाहरणों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म, जाति, संस्कृति और दुःसाहस एव डर से प्रभावित होकर अनेक लड़ाइयां लड़ी गई हैं। मध्ययुगीन यूरोप में धार्मिक आधार पर अनेक युद्ध हुए हैं। यूरोप के विभिन्न देशों ने एशिया और अफ्रीका में अपना साम्राज्य बढ़ाने के लिए किए गए युद्धों में जनता का समर्थन जातीय आधार पर प्राप्त किया—काले-गोरे का और आर्य तथा अनार्य के भेद की दुहाई दी गई। विभिन्न जाति एव धर्म वाले लोगों के बीच सांस्कृतिक सर्वोच्चता का प्रचार करके अनेक देशों को सांस्कृतिक दृष्टि से हीन देश पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित किया गया। कुछ देशों का स्वभाव दुःसाहसपूर्ण प्रवृत्तियों का होता है जबकि दूसरे कुछ देश सदैव अनावश्यक रूप से भयभीत रहते हैं—इन दोनों ही स्थितियों में वे देश युद्ध के पथ के राही बन जाते हैं।

(२) युद्ध का राजनैतिक कारण
(Political cause of war)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष का मुख्य कारण राजनैतिक विभिन्नता एव विरोधों को भी माना जा सकता है। एक देश की घरेलू राजनीति उस देश को दूसरे देशों के साथ युद्ध छेड़ने के लिए प्रोत्साहित कर देती है। द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व इटली ने एबीसीनिया पर जो आक्रमण किया था उसका कारण यह बताया जाता है कि इसी प्रकार के युद्धों से वहां के तानाशाही शासक जनता का ध्यान अनेक प्रशासनिक असन्तोषों से हटाना चाहते थे। दूसरे अन्य देशों में जहां राजतन्त्रात्मक शासन होता है, एक राजा की महत्वाकांक्षायें एव प्रसारवादी नीतियां प्राय. युद्ध का कारण बन जाती हैं। एक देश जब साम्राज्यवादी नीतियों को अपना लेता है तो

उसे युद्ध छेड़ने की प्रमुख आवश्यकता पड़ जाती है। साम्राज्यवाद जैसा कि मार्गेन्थो का मत है, वर्तमान स्थिति (Status-quo) को बदलने का प्रयास है। यह परिवर्तन करते समय उन शक्तियों से युद्ध करना आवश्यक बन जाता है जो स्थिति को बनाये रखने के पक्ष में हैं तथा परिवर्तन के द्वारा उनके हितों को आंच पहुंचती है। युद्ध के राजनैतिक कारणों में ही एक दूसरा कारण है राष्ट्रीयता की भावना। राष्ट्रवाद के निषेधात्मक और विधेयात्मक दो रूप हैं। जब राष्ट्रीयता की भावना एक देश के निवासियों को विदेशी शासकों के चंगुल से छूटने को बलिदान करने के लिए प्रोत्साहित करती है और स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद जब उनको राष्ट्रीय निर्माण के कार्यों की प्रेरणा देती है तो इसे इसका उज्ज्वल पक्ष माना जाता है। किन्तु राष्ट्रीयता की भावना का कार्य केवल यहीं समाप्त नहीं हो जाता। एक शक्तिशाली देश के राष्ट्रीयता की भावना से प्रभावित लोग दूसरे देश पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। युद्ध इस प्रयत्न का आवश्यक एवं स्वाभाविक परिणाम है। इन सबके अतिरिक्त कूटनीतिक सम्बन्धों में एक देश के स्वार्थों की अत्यधिक अभिव्यक्ति भी प्राय युद्ध का कारण बन जाती है।

(३) युद्ध व युद्ध-कौशल सम्बन्धी कारण
(Strategic causes of war)

जिस प्रकार साम्राज्यवाद का कारण साम्राज्यवाद होता है उसी प्रकार युद्ध का कारण कभी-कभी युद्ध या युद्ध सम्बन्धी अन्य बातें बन जाती हैं। उदाहरण के लिए हम एक ऐसे भूखण्ड को ले सकते हैं जिसका सामरिक दृष्टि से भारी महत्व है और जिस पर अधिकार करके एक देश दूसरों की अपेक्षा अधिक शक्ति-सम्पन्न बन सकता है। ऐसे भूखण्डों के पीछे इतिहास में अनेक बार युद्ध छेड़े गये हैं। इसी प्रकार शस्त्रों की समस्या भी कई बार युद्ध का कारण बन जाती है। कुछ देशों का राष्ट्रीय हित इस बात में निहित रहता है कि अमुक शस्त्रों के निर्माण पर रोक लगा दी जाए। इससे दूसरे देश जो शस्त्रों का निर्माण करते हैं उस देश के राष्ट्रीय हित के विरोधी बन जायेंगे क्योंकि ऐसा होने पर उस देश को भी निःशस्त्रीकरण की नीति अपनाना असम्भव बन जाता है।

पाकिस्तान तथा चीन की नीतियों से मजबूर होकर भारत को शस्त्रीकरण का मार्ग अपनाना पड़ा, उसे अपने बजट का अधिकांश भाग रक्षा-व्यवस्था को मजबूत करने एवं सैनिक तैयारियां करने पर व्यय करना पड़ रहा है। कई देशों से उस पर अणुबम के निर्माण का भी दबाव डाला जा

रहा है क्योंकि साम्यवादी चीन ने १९६४ में ही अणुबम का परीक्षण कर लिया है। युद्ध के कारणों में विश्व की स्थिति का भी भारी प्रभाव पड़ता है। विश्व में कितने गुट हैं, किस गुट की कितनी शक्ति है तथा एक विशेष देश पर इनका प्रभाव कैसा तथा कितना पड़ता है यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। विश्व की स्थिति के अनुसार एक देश के हितों में भी भेद आ सकता है और उस स्थिति के अनुसार यदि युद्ध आवश्यक बन जाए तो देश उसे अपनाने को तैयार हो जायेगा।

(४) युद्ध के आर्थिक कारण
(Economic Causes of war)

युद्ध के आर्थिक कारणों का उल्लेख वैसे तो अनेक विचारकों द्वारा किया गया है किन्तु मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के अन्य समर्थकों ने तो इसे युद्ध का एकमात्र महत्वपूर्ण कारण माना है। स्टालिन तथा लेनिन आदि मार्क्सवादी नेताओं ने यह माना था कि पूँजीवादी देशों में जो आर्थिक विकास होते हैं तथा व्यक्तिगत लाभ के लिए जो उत्पादन किया जाता है उसका यह आवश्यक परिणाम है कि साम्राज्यवादी नीतियों को अपनाया जाय। माँग से अधिक उत्पादन होने से विदेशों में उस माल को खपाने के लिए बाजारों की खोज की जाती है, आक्रमण किए जाते हैं और दूसरे देशों को पराधीन बनाया जाता है। साम्राज्यवाद के जितने भी कारण होते हैं उन सबको युद्ध का कारण बताया जा सकता है। एक देश की वाणिज्य नीति, विदेश में उसकी पूँजी का व्यय, तथा अन्य आर्थिक तत्व एक देश को युद्ध के लिए मजबूर करते हैं।

युद्ध के उक्त कारणों के अतिरिक्त भी विभिन्न गौण कारण हैं जो या तो इन कारणों के अन्तर्गत हैं अथवा स्वतन्त्र रूप से ही युद्ध के अनुकूल वातावरण तैयार करने का काम करते हैं। इन समस्त कारणों का महत्व परिस्थिति और अवस्था के साथ-साथ बदलता रहता है। यह हो सकता है कि एक युद्ध में राजनैतिक कारण प्रभावकारी रहे हों और यह भी हो सकता है कि वह युद्ध केवल राजनैतिक कारणों से ही संचालित किया जा रहा हो। युद्ध के कारणों के आधार पर युद्धों को अलग-अलग नाम दिया जा सकता है जैसा कि साम्यवादी आलोचकों द्वारा किया जाता है। वे लोग साम्राज्यवादी युद्ध, क्रान्तिकारी युद्ध, स्वतन्त्रता के लिए युद्ध आदि के बीच भेद दिखाते हैं।

विकम स्टीड (Wickham Steed) ने युद्ध के कारणों में 'भय' को प्रधान माना है। वे कहते हैं कि असुरक्षा की भावना निश्चय ही आज के

विश्व मे युद्ध का सबसे प्रमुख कारण [redacted] । दूसरे विचारक 'सम्प्रभु' राज्यो के अस्तित्व को युद्ध का प्रमुख कारण मानते हैं। आर्नल्ड ब्रेक्ट (Arnold Brecht) ने लिखा है कि सम्प्रभु राज्यो के बीच युद्ध होते हैं, इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि विश्व मे सम्प्रभु राज्य हैं। इसी बात पर टिप्पणी करते हुए क्विन्सी राइट महोदय ने बताया कि युद्ध का कारण सम्प्रभु राज्यो का अस्तित्व है; यह कहने की अपेक्षा यदि यह कहा जाय कि युद्ध इस कारण होता है कि विभिन्न देश सम्प्रभु बनना चाहते हैं तो अधिक उपयुक्त रहेगा। युद्ध प्राय इस कारण होते हैं क्योकि देशो की शक्ति के प्रयोग को नियन्त्रित करने के लिए कानून अथवा अतर्राष्ट्रीय सगठन जैसी कोई सशक्त व्यवस्था नही है। कुछ विचारक युद्ध को मनुष्य की प्रकृति मे निहित मानते हैं। उनका तर्क यह है कि मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही युद्धो का अस्तित्व है। आज तक किसी युग म विश्व का कोई स्थान ऐसा न रहा जिसे युद्ध की विषैली गैस से अछूता या अप्रभावित माना जा सके। किन्तु दूसरी ओर पामर तथा परकिन्स जैसे विचारक है जो इस तर्क की सत्यता मे सन्देह करते हैं। उनका कथन है कि इतिहास से युद्धो के उदाहरणो का सचय करके यह कहना उचित नही है कि मनुष्य युद्धप्रिय होता है वरन् यह कहा जा सकता है कि मनुष्य अब तक कोई ऐसी आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक व्यवस्था करने मे असमर्थ रहा जिसमे कि युद्ध का कोई स्थान ही न हो।

सच तो यह है कि युद्ध का कोई एक विशेष कारण नही बताया जा सकता वरन् युद्ध तो एक दूसरे से सम्बन्धित अनेक कारणो का समन्वित परिणाम है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए क्विन्सी राइट (Quincy Right) ने बताया है कि युद्ध वास्तव मे एक ऐसी परिस्थिति का परिणाम है जो उन सारी चीजों से पैदा होती है जो युद्ध प्रारम्भ होने तक मनुष्य जाति मे हुई हैं। युद्ध के कारण ही प्राय. एक देश की राष्ट्रीय नीति के आधार बन जाते हैं। राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, सम्प्रभुता एव अन्य युद्ध के उपर्युक्त कारण जब एक देश की राष्ट्रीय नीति का आधार बन जाते हैं; उसके बाद ही युद्ध प्रारम्भ होता है। पामर तथा परकिन्स के मत मे जब 'कुछ चीज' युद्ध का कारण बनती है तो इसका कारण यही है कि वह 'कुछ चीज' उस देश की राष्ट्रीय नीति का आधार बन चुकी होती है।

युद्ध के कार्य
(The Functions of War)

युद्धों के द्वारा अनेक उद्देश्यों की पूर्ति होती है और यही कारण है कि विभिन्न देशों द्वारा इसका सहारा लिया जाता है। यदि युद्ध की केवल हानिया

ही होतीं अथवा यह केवल निरर्थक ही होता तो यह व्यक्ति की पूछ की भांति कभी का मिट गया होता। युद्ध तब तक विश्व में रहेगा जब तक मानव जाति के शासक इसका कोई विकल्प नहीं खोज निकालते। युद्ध से जिन लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है उनको दूसरे किसी साधन द्वारा प्राप्त किया जाना असम्भव है और यही कारण है कि युद्ध खर्चीला, विध्वंसक तथा हिंसात्मक होने पर भी अपनाया जाता है। क्लाइड ईगल्टन (Clyde Eagleton) का कहना है कि युद्ध से कुछ साध्यों की प्राप्ति होती है। युद्ध से जिन उद्देश्यों की प्राप्ति होती है वे एक दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित रहते हैं कि उनमें से *कौन सा प्रधान है तथा कौन सा गौण, यह निश्चित करना बड़ा कठिन हो* जाता है। युद्ध के विभिन्न कारणों का निम्न प्रकार से अध्ययन किया जा सकता है।

(१) न्याय की स्थापना—युद्ध चाहे कितना भी बुरा क्यों न हो, इसके द्वारा समाज में फैले हुए अनेक अन्यायों को दूर किया जाता है। किसी दूसरे साधन के द्वारा इस बुराई को दूर करना सम्भव नहीं होता, क्योंकि मनुष्य की अन्याय की भावनायें उसके स्वार्थ में गहरी जमी रहती हैं तथा सुधारवादी नीतियां उसकी जड़ों को कुरेदने में असमर्थ रहती हैं। किन्तु युद्ध द्वारा जो नीतियां अपनायी जाती हैं वे यथार्थवादी होती हैं तथा उनकी सफलता में थोड़ी निश्चितता का पुट रहता है। यही कारण है कि शताब्दियों से युद्ध को अन्याय को दूर करने वाले साधन के रूप में अपनाया जा रहा है। प्रो॰ शॉटवेल (Professor Shotwell) के मतानुसार युद्ध का प्रयोग जैसे आक्रमणों के लिए किया गया है उसी प्रकार उसे अन्यायपूर्ण आक्रमणों के एक विरोधी साधन के रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। इतिहास में युद्ध के द्वारा जैसे एक अपराधी का अभिनय किया गया है उसी प्रकार इसने अनेक लाभदायक कार्य भी किये हैं।

(२) शोषण का विरोध—जब किसी देश, वर्ग, जाति या धर्म के लोगों द्वारा दूसरे भिन्न देश, वर्ग, जाति या धर्म के लोगों का शोषण इस आधार पर किया जाय कि वे दूसरे की अपेक्षा शक्तिशाली हैं तो प्रायः शोषित वर्ग की मुक्ति के लिए यह आवश्यक बन जाता है कि वह युद्ध जैसे हिंसात्मक साधन को अपनाये। इतिहास साक्षी है कि व्यक्ति एवं समुदायों द्वारा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए तथा शोषण से मुक्ति के लिए अनेक बार युद्ध लड़े गये हैं। दमन को सहने की व्यक्ति की एक सीमा होती है जिसके आगे बढ़ने पर दमन का विरोध करने के लिए युद्ध का सहारा लेना आवश्यक बन जाता है। अमरीका की क्रान्ति, फ्रान्स की क्रान्ति, लेटिन अमरीकियों का स्वतन्त्रता

के लिए युद्ध, अमरीका का गृहयुद्ध तथा स्पेन-अमरीकी युद्ध आदि उदाहरणों तथा उनके परिणामों को देख कर यह कहा जा सकता है कि युद्ध के भले ही अनेकों दुष्परिणाम हों किन्तु इसको स्वतन्त्रता, अधिकार, न्याय आदि की प्राप्ति के साधन के रूप में अपनाया जा सकता है।

(३) **युद्ध एक आवश्यक बुराई है**—हिंसात्मक साधनों का प्रयोग शुभ लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कभी-कभी आवश्यक बन जाता है। हिन्दु पुराणों एवं धर्मशास्त्रों में शिव अर्थात् कल्याण या शुभ को पार्वती अर्थात् शक्ति का पति माना गया है। शिव के अर्धनारीश्वर रूप द्वारा शुभ और शक्ति के अभिन्न स्वरूप का दिग्दर्शन कराया गया है। देवताओं ने राक्षसों के विरुद्ध अनेक बार युद्ध किये क्योंकि उनके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं था। आज के साम्यवादी भी यह मान कर चलते हैं कि वे अपने अन्तिम लक्ष्यों को बिना युद्ध के प्राप्त नहीं कर सकते। उनका विचार है कि साम्यवादी और पूंजीवादी राष्ट्रों के बीच संघर्ष और युद्ध होना स्वाभाविक है। ये विचारक ऐसे युद्धों को न्यायपूर्ण मानते हैं।

(४) **युद्ध का सन्तोषजनक विकल्प नहीं है**—मनोविज्ञान यह बताता है कि कमजोर व्यक्ति प्रायः अधिक गुस्सा वाला व झगड़ालू होता है। इसी प्रकार जो देश अथवा देश के भी जो वर्ग गरीबी से पीड़ित, अज्ञानी और बहिष्कृत व्यक्तियों से पूर्ण होते हैं, वे युद्ध को, अपनी असहनीय दशा से छुटकारा पाने के लिए अपनाना स्वीकार कर लेते हैं। जिस प्रकार दीपक बुझने से पूर्व एक तीव्र चमक देता है उसी प्रकार ये देश भी अपने भाग्य के पासे को पलटने की धुन में युद्ध को अपनाते हैं क्योंकि जीवन उनकी दृष्टि से बड़ा सस्ता होता है और युद्ध में खोने के लिए उनके पास बहुत कम या कुछ भी नहीं रहता।

(५) **युद्ध सम्प्रभुता की अभिव्यक्ति का साधन है**—अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रत्येक राष्ट्र सम्प्रभु है और इस नाते युद्ध छेड़ना वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। यदि सच्चे अर्थों में आप युद्ध को नष्ट करना चाहते हैं तो इसका अर्थ होगा राज्यों की सम्प्रभुता को मिटाना और इसे कोई भी राज्य स्वीकार नहीं कर सकता। विश्व शान्ति की व्यवस्था के लिए एक राज्य सब कुछ स्वीकार कर लेगा किन्तु वह 'आत्मरक्षा' (Self defence) के अधिकार को नहीं छोड़ेगा क्योंकि यह उसकी सम्प्रभुता का परिचायक है। एक राज्य के ऊपर अनेक उत्तरदायित्वों का भार रहता है, इन उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए उसे सम्प्रभुता की आवश्यकता रहती है और जब तक सम्प्रभुता रहेगी तब तक युद्ध भी रहेगा। पामर तथा परकिन्स का मत है कि

राज्यों को तब तक युद्ध छेड़ने के अधिकार से वंचित नहीं रखा जा सकता जब तक कि उनके पास पूरा करने के लिए अनेकों उत्तरदायित्व है। विश्व मे जब तक दुख और बुराइया मौजूद हैं तथा इनको दूर करने का कोई सफल विकल्प नही है तब तक युद्ध बना रहेगा। ससार से दमन, अन्याय एव बुराइयो का दूर किये बिना युद्ध को मिटाने का प्रयास अधिक लाभदायक नहीं लगता है।

(६) **युद्ध आधुनिक विश्व का निर्माता है**—कहा जाता है कि सोने को आग मे तपाने पर ही वह कुन्दन बनता है और जैसे आपत्तियो के बीच एक व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है तथा उसका जीवन आगे बढ़ता है उसी प्रकार युद्ध द्वारा एक राष्ट्र के व्यक्तित्व का सही अर्थों मे निर्माण होता है। युद्धों के द्वारा ही एक राष्ट्र की सीमायें निर्धारित की जाती है। जैसा कि प्रोफैसर शादवैल ने लिखा है कि आज के विश्व का नक्शा अधिकाशतः युद्ध के मैदानों में ही निश्चित किया गया है। यह कथन बहुत कुछ सही भी है क्योंकि वर्तमान विश्व के अधिकाश राज्यो की सीमाओं का अन्तिम रूप युद्ध द्वारा ही निश्चित किया गया है। क्विन्सी राइट (Quincy Right) के मतानुसार युद्ध को विश्व के महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तनो को करने के लिए, राष्ट्र राज्यो के निर्माण के लिये, आधुनिक सभ्यता का विश्व भर मे प्रसार करने के लिए तथा उस सभ्यता के प्रभावकारी हितो को परिवर्तित करने के लिए उपयोग मे लाया गया है। कानून, विदेश नीति, सैनिक, तकनीकी तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की कुछ परिस्थितियो मे युद्ध नीति का एक मूल्यवान साधन' बन जाता है। पामर तथा परकिन्स के शब्दो मे 'सक्षेप मे युद्ध आधुनिक विश्व का—उसके राज्यो, कारखानो, इसकी नैतिकता और इसके सास्कृतिक रूप का प्रमुख निर्माता रहा है।"

(७) **युद्ध व्यक्ति को ऊंचा उठाता है**—युद्ध मे जीवन धन, जमीन, जायदाद आदि का जो विनाश होता है वह व्यक्ति के मन मे इन सब वस्तुओ की नश्वरता के भाव जाग्रत कर देता है। इसके परिणामस्वरूप वह स्वार्थ, परिग्रह, लोभ, मोह आदि दुर्गुणों के स्थान पर उदार मन, निर्भीक, तथा अपरिग्रही बनता है, उसमें बलिदान करने की शक्ति आती है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि युद्ध के कारण व्यक्ति की नैतिक एव आध्यात्मिक विशेषतायें प्रखर होकर सामने आती हैं। भारत-पाक संघर्ष के समय भारत के मनोबल तथा सैनिकों को भारतीयो द्वारा दी गई तन, मन और धन की सहायता को देख कर लगता है कि इस युद्ध द्वारा भारत मे एक निखार आ गया। गृह-मन्त्री नन्दा ने युद्ध के दौरान राष्ट्र के नाम अपने एक सन्देश

थे यह स्वीकार किया था कि यह युद्ध एक प्रकार की अग्नि परीक्षा थी और भारत इसमें से निकल कर एक नया ही रूप धारण कर लेगा। प्रायः दवाईयां कड़वी होती हैं किन्तु रोग को दूर करने व स्वास्थ्य में निखार लाने के लिए वे आवश्यक होती हैं उसी प्रकार युद्ध भी कुछ बुरे परिणाम लाता है किन्तु देश के व्यक्तित्व के निर्माण में यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करता है। कहा जाता है कि सम्मानहीन एवं भ्रष्ट शांति की अपेक्षा सम्मानपूर्ण युद्ध श्रेष्ठ है जो आत्म-बलिदान, समानता, ईश्वर प्रेम, परार्थ राष्ट्रीय एकता आदि के भावों का विकास करता है।

(८) युद्ध विकास को सही दिशा देता है—डार्विन ने जीव विकास के सम्बन्ध में जो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था उन्हीं के आधार पर यह कहा जाता है कि युद्ध का होना राष्ट्रों के सही विकास के लिए आवश्यक है। युद्ध एक ऐसा प्रक्रम है जो कमजोर राष्ट्रों को मिटा देता है तथा शक्तिशाली लोगों के उत्थान व विकास के लिए मार्ग साफ कर देता है। बर्नहार्डी (Bernhardi) महोदय के मतानुसार युद्ध प्रथम महत्व की प्राणी-शास्त्रीय आवश्यकता है। बिना युद्ध के कमजोर जातियां स्वस्थ तत्वों के विकास को रोक देंगी तथा सामान्य रूप से पतन प्रारम्भ हो जायगा।[1]

युद्ध के उपर्युक्त कार्यों अथवा लाभों को अतिशयोक्ति बना कर इनकी आलोचना की जा सकती है किन्तु इनको पूरी तरह से असत्य नहीं माना जा सकता। विलर्ड वालर (Willard Waller) के मतानुसार युद्ध से कोई लाभ नहीं है तथा किसी भी समस्या को इसके द्वारा नहीं सुलझाया जा सकता। किन्तु पामर तथा परकिन्स का कहना है कि प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि युद्ध के द्वारा कभी-कभी अनेक लाभ प्राप्त हो जाया करते हैं। इसलिए उनका कहना है कि युद्ध का विरोध करते समय यह तर्क देना अनुचित रहेगा कि इससे कुछ प्राप्त नहीं होता या इनका कोई उपयोग नहीं है वरन् कहना यह चाहिए कि यह एक अमानवीय तथा जंगली साधन है और इसके द्वारा अच्छे उद्देश्य भी प्राप्त नहीं करने चाहिए।

युद्ध का विगत एवं वर्तमान स्वरूप
(The Past and Present Form of War)

जब से राज्य व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ उसी समय से राष्ट्रीय सुरक्षा

1. Friedrich Von Bernhardi, Germany and the next war, P. p. 18,20

के नाम पर राष्ट्रीय हितो की अभिवृद्धि के लिए तथा सघर्षो को सुलझाने के लिए सशस्त्र शक्ति का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की केन्द्रीय विशेषता रही है। सशस्त्र सेना से हमारा तात्पर्य क्विन्सी राइट (Quincy Wright) महाशय की भाति अनुशासित या सोद्देश्य नियन्त्रित हिंसा से है, चाहे उसके साधन हड्डियो के टुकडे, पत्थर, धनुष बाण, बन्दूकें, तोपें, अणुबम या प्रक्षेपणास्त्र कोई भी चीज हो और इस तरीके को प्रयुक्त करने वाले समूह मे चाहे दर्जनो व्यक्ति हो अथवा लाखो व्यक्ति। यह सशस्त्र शक्ति अथवा सैनिक शक्ति विश्व राजनीति पर प्रभाव डालने वाला अन्तिम तत्व होता है और गैर सैनिक साधनो की प्रभावशीलता बहुत कुछ इसी पर आधारित रहती है। राजनीति की भांति युद्ध मे एक समूह द्वारा अन्य समूहो के विरुद्ध किया की जाती है। युद्ध का व्यापक रूप जैसा कि आज हमे दिखाई देता है केवल सशस्त्र सघर्ष ही नही होता वरन् कूटनीति, आर्थिक साधन एव प्रचार आदि अनेक साधनों को प्रयुक्त किया जाता है। युद्ध का यह व्यापक रूप अपने प्रारम्भिक काल मे इतना जटिल नहो था। सैनिक शक्ति का अस्तित्व पहले भी एक रक्षणात्मक रूप मे था और इसे दबावकारी साधन के रूप मे भी प्रयुक्त किया जाता था। यह अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की एक मापने योग्य वास्तविकता एव प्रमुख मनोवैज्ञानिक तत्व था। सैनिक शक्ति का अस्तित्व केवल युद्ध मे ही नहीं झलकता वरन् यह निष्क्रिय रूप मे भी रह सकता है और समय-समय पर अपनी उपस्थिति का भान भी करा सकता है। आज के राजनैतिक तरीको मे जो गैर सैनिक तकनीकें अपनाई जाती हैं वे भी सैनिक साधनो के सहारे प्रभावशील बनाई जाती हैं।

युद्ध एव हिंसा का अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे इतना महत्त्व है कि वाल्टेयर जैसे विचारको को यह कहना होता है कि इतिहास मुख्य रूप से हिंसा विध्वस, मानवीय कष्ट एव मृत्यु का अभिलेख है। पैडिलफोर्ड तथा लिंकन इस कथन पर विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि कोई इस दर्शन को माने या न माने किन्तु तथ्य यह है कि मानव जाति ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज मे रहती है जिसमे कि झगडे और सघर्ष हैं। सन् १८२० से लेकर सन् १९२९ तक करीब ८२ युद्ध लडे गए तथा इनमे से प्रत्येक मे दस हजार से भी अधिक लोग मारे गये। सन् १९४५ से लेकर सन् १९६१ तक के छोटे से काल मे चालीस युद्ध लड़े गए। युद्धो की गति कम होने की अपेक्षा बढती ही जा रही है।

अतीत काल मे युद्धो का स्वरूप सीमित था और सामान्य व्यक्ति इससे बहुत कम सम्बन्ध रखता था। यदि युद्ध मे उसका स्थानीय समाज ही उलझ जाए तो उसे ज्ञात होता था। अठारहवी शताब्दी तक युद्धो का स्वरूप सीमित

होता था और वर्तमान राज्य व्यवस्था के प्रारम्भ तक ये सीमित रहे। इससे पूर्व युद्धों का सम्बन्ध राजाओं और प्रशासकों से रहता था तथा इन झगड़ों और संघर्षों का परिणाम भी शाही परिवारों पर होता था। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर फ्रांसीसी क्रान्ति तक यूरोप की सेनाएं छोटे व्यावसायिक निकाय होती थीं। इनमें अधिकांश कार्यकर्ता भाड़े पर रखे जाते थे। युद्ध के क्षेत्र में भी सिपाही के विरुद्ध सिपाही को लड़ाने में अधिक घृणा और विरोध का प्रचार नहीं करना होता था। इन भाड़े के सैनिकों का मुख्य उद्देश्य धन प्राप्त करना होता था। वे यह नहीं चाहते थे कि युद्ध भूमि पर अपने प्राण दे दें और न ही उनकी यह कामना होती थी कि वे अपने अधिकतम विरोधियों के प्राण ले लें। इसके अतिरिक्त विरोधी सेनाओं के नेता भी यह नहीं चाहते थे कि उनके सिपाही बलिदान हो जाएं क्योंकि वे उनकी कार्य करने वाली पूंजी थे। वे जब अपनी सेनाओं पर खर्च करते थे तो यह कामना करते थे कि सेनायें बनी रहें। विरोधी वर्ग दूसरे पक्ष के सैनिकों को इसलिए नहीं मारना चाहता था कि उन्हें जिन्दा रखने पर या बन्दी बना कर बेचा जा सकता था अथवा स्वयं की सेना में रखा जाता था। शत्रु को समाप्त करना किसी भी पक्ष का उद्देश्य नहीं होता था क्योंकि यदि शत्रु न रहेगा तो वे बेरोजगार हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में इस काल में लड़े जाने वाले इटली के अधिकांश युद्ध कुशलता एवं कूटनीति की माग करते थे जिसके आधार पर बिना खून खराबा किये ही उद्देश्यों की प्राप्ति की जा सके। मैक्यावली (Machiavelli) ने पन्द्रहवीं शताब्दी के ऐसे अनेक युद्धों का वर्णन किया है जो कि ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे किन्तु जिनमें एक भी व्यक्ति नहीं मरा और मरा भी तो एक या दो। उनकी मृत्यु का कारण भी शत्रु का आघात नहीं होता था वरन् घोड़े से गिर कर मर जाता था। मैक्यावली का यह कथन चाहे अतिशयोक्ति मान लिया जाए किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय के युद्ध पर्याप्त सीमित होते थे। नेपोलियन के युद्धों को तथा धार्मिक युद्धों को छोड़ कर वे आज की युद्धों से कोई समानता नहीं रखते थे। फ्रांस की क्रान्ति ने और बाद में नेपोलियन ने बड़ी सेनाएं बनाने और उनका समर्थन करने की तकनीकों का विकास किया। राष्ट्रवाद के उदय के कारण इन बड़ी सेनाओं को अच्छा समझा जाने लगा। जनसंख्या की वृद्धि के परिणामस्वरूप और औद्योगिक क्रान्ति के कारण युद्ध के आचरण का रूप एवं स्तर परिवर्तित हो गया। राष्ट्रवाद की भावना ने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय हितों को एक बना दिया। इसने लोकप्रिय सेनाओं को न्यायोचित ठहराया। मि० ई. एच. कार के मतानुसार राष्ट्र का समाजीकरण आर्थिक नीति का राष्ट्रीयकरण तथा राष्ट्रवाद

का भौगोलिक प्रसार आदि तत्व मिल कर हमारे समय के सर्वाधिकारवाद के कारण बने हैं और इसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण युद्ध मे हुई। युद्ध के पुरातन एवं नवीन रूप का तुलनात्मक रूप से उल्लेख करते हुए सन् १६५७ मे मार्शल फोक (Marshall Fock) ने फ्रांसीसी युद्ध महाविद्यालय के सम्मुख कहा था कि सचमुच एक नया युग प्रारम्भ हो चुका है। यह युग राष्ट्रीय युद्धो का है जिनमे कि राष्ट्र के सारे साधन स्रोत लग जाते हैं। इनका उद्देश्य शाही खानदान का हित नही होता और न ही एक प्रांत को जीतना या अधिकार में करना होता है वरन् प्रथम तो दार्शनिक विचारो की सुरक्षा एवं प्रसार है और उसके बाद स्वतन्त्रता के सिद्धान्त, एकता तथा विभिन्न प्रकार के भौतिक लाभ आते हैं। ये युद्ध प्रत्येक सैनिक की रुचि और योग्यता को जाग्रत करते हैं तथा उसके भावो एवं सम्वेगो का लाभ उठाना चाहते हैं। इन्हें पहले कभी भी शक्ति के तत्व नही समझा जाता था। एक ओर तो प्रबल भावनाओ से युक्त मानव शक्ति का व्यापक प्रयोग है जिसमें कि समाज की प्रत्येक क्रिया आ जाती है। इस व्यवस्था मे किलेबन्दी, भूमिगत साधनों का प्रयोग, हथियार, गोला बारूद आदि चीजें उपयोगी मानी जाती हैं। दूसरी ओर अठारहवीं शताब्दी के साधन स्रोतो का प्रयोग अब सैनिक भावना और उचित परम्पराओ के साथ किया जाने लगा है।

इस प्रकार बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे आते आते युद्धो का स्वरूप पूरी तरह बदल गया और अब सम्पूर्ण समाज को युद्ध मे अपना योगदान देना होता है जहां कि बहुत बडी फौज लड़ाई के क्षेत्र मे भेज दी जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी, जापान, सोवियत संघ, अमरीका आदि महाशक्तियो मे से प्रत्येक ने लगभग ८० लाख सशस्त्र सैनिक युद्ध के मैदान मे भेजे। कुछ राष्ट्रों मे तो महिलायें भी सशस्त्र सेनाओ मे भाग लेती हैं। सोवियत स्त्रियां लड़ाई के मैदान मे हथियार धारण करती हैं। युद्ध की दृष्टि से आधुनिक समय ने एक सैनिक और नागरिक के बीच का अन्तर दूर कर दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी तक नागरिको को जो मुक्ति प्राप्त थी वह अब समाप्त हो गई है और अब आवश्यकता के समय उसे कभी भी युद्ध क्षेत्र में भेजा जा सकता है। आधुनिक युद्ध की मांगो को केवल तभी पूरा किया जा सकता है जबकि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्र युद्ध की ओर चलते हों तथा समाज की सारी शक्तियां इकट्ठी होकर इस एक ही उद्देश्य की ओर लग जायें। प्रथम एंव द्वितीय विश्वयुद्ध की परम्पराओ से हमे जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनके आधार पर तृतीय विश्वयुद्ध की सम्भावनाओ के सम्बन्ध में अधिक अनुमान नही लगाया जा सकता क्योंकि तृतीय विश्वयुद्ध मे अणुशक्ति के प्रसार का

एक नया तत्व जुड़ गया है। आज की स्थिति में यह सम्भव है कि यदि तृतीय विश्वयुद्ध हुआ तो सशस्त्र सेनाओं को शायद इतना नुकसान न हो और नागरिक जीवन पूरी तरह समाप्त हो जाए। युद्ध के अर्थ एवं महत्व के प्रति अब जन धारणायें बदल चुकी हैं। साम्यवादी चीन आदि कुछ देशों को छोड़ कर अधिकांश देश यह मानने लगे हैं कि तृतीय विश्वयुद्ध मानव का अन्तिम युद्ध होगा। इतिहासकारों का कहना है कि प्रथम विश्वयुद्ध ही वह आखिरी युद्ध था जिसमें कि राष्ट्रों ने युद्ध के बाजे बजा कर भाग लिया और नागरिकों ने प्रशंसा करके उनके उत्साह को बढ़ाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद में कुछ नये प्रकार के युद्ध भी सामने आए हैं जैसे राजद्रोह और स्वतन्त्रता के लिए युद्ध, आदि। साम्यवादी देशों द्वारा इन युद्धों को आन्तरिक विप्लव द्वारा समर्थित किया जाता है। इस प्रकार के संघर्षों ने सशस्त्र सेनाओं को संयुक्त रूप से राजनैतिक, आर्थिक एवं सैनिक कार्य सौंप दिए हैं। इन युद्धों में गैर सैनिक साधनों की भी आवश्यकता होती है क्योंकि केवल सेनाओं द्वारा छापामार युद्ध एवं राजद्रोह नहीं किया जाता। आज अणुशक्ति तृतीय विश्वयुद्ध के विरुद्ध प्रतिरोधात्मक शक्ति बन गई है। ऐसी स्थिति में छोटे राज्यों की सुरक्षा उस समय तक खतरे में है जब तक कि कोई अणुशक्ति सम्पन्न बड़ी शक्ति उसकी रक्षा को अपना हित न समझे।

सम्पूर्ण युद्ध
(The Total War)

आधुनिक युद्ध की प्रकृति को देख कर इन्हें सम्पूर्ण युद्ध की संज्ञा प्रदान की जाती है। मार्गेन्थो महाशय ने माना है कि आधुनिक युद्धों को चार अर्थों में सम्पूर्ण युद्ध कहा जा सकता है। प्रथम इसलिए कि जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग भावनाओं तथा प्रेरणाओं की दृष्टि से पूर्णतः एक रूप होकर अपने राष्ट्र के युद्ध में लग जाता है। दूसरे, युद्ध में योगदान करने वाले लोगों की संख्या बहुत बड़ी होती है। तीसरे, युद्ध से प्रभावित लोग बड़ी संख्या में होते हैं और चौथे, युद्ध के द्वारा जिन उद्देश्यों की साधना के लिए जो प्रयास किये जाते हैं वे अत्यन्त व्यापक होते हैं। पहले इन सभी दृष्टियों से युद्ध सीमित हुआ करते थे क्योंकि उनको थोड़े ही लोगों का भावनात्मक एवं धारणात्मक सहयोग प्राप्त होता था; युद्ध में सक्रिय रूप से बहुत थोड़े लोग लड़ते थे, युद्ध से प्रभावित होने वाली जनसंख्या अधिक नहीं होती थी और युद्ध के उद्देश्य भी सीमित थे; किन्तु आज की स्थिति पूर्णतः विपरीत हो चुकी है।

वर्तमान युग में जब कभी कोई लड़ाई होती है तो समस्त व्यक्तिगत नागरिक अपने देश के द्वारा लड़े जाने वाले युद्ध के साथ अपने आपको एक रूप कर लेते हैं। यह एकरूपता नैतिक एवं अनुभवात्मक तत्वों के आधार पर स्थापित की जाती है। नैतिक तत्व न्यायपूर्ण युद्ध के सिद्धांत की बीसवीं शताब्दी में पुनरावृत्ति है। इसके अनुसार युद्ध में संलग्न दो राज्यों के बीच भेद करते हुए यह निश्चित किया जाता है कि कौन ऐसा है जिसका कार्य क़ानून और नैतिकता की दृष्टि से न्यायोचित है तथा किसको कानूनी तथा नैतिक दृष्टि से हथियार न उठाने का अधिकार है। यह सिद्धांत मध्ययुग में अत्यन्त प्रभावशाली था किन्तु आधुनिक राज्य व्यवस्था के जन्म ने इस पर पानी फेर दिया। इसके परिणामस्वरूप एक नया सिद्धांत विकसित हुआ जो प्रत्येक प्रकार के युद्ध को न्यायोचित ठहराता है। सीमित युद्ध के दौरान न्यायोचित और अन्यायपूर्ण युद्ध के बीच का अन्तर अस्पष्ट रूप से बना रहा किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में यह पूरी तरह से समाप्त हो गया। अब युद्ध को एक तथ्य मात्र समझा जाता है जिसका आचरण कुछ नैतिक एवं कानूनी नियमों का विषय है किन्तु इन नियमों की रचना राज्य अपनी स्वेच्छा से कर सकते हैं। इस प्रकार युद्ध राष्ट्रीय एवं शासकों के व्यक्तिगत हित का साधन बन गया जिसे कूटनीति के साथ संयुक्त रूप से प्रयुक्त किया जाता है।

इस प्रकार के युद्ध में जनता अपने आपको एकाकार करने में कठिनता का अनुभव करती है। ऐसा केवल तभी हो सकता है जबकि युद्ध के उद्देश्य को नैतिक सिद्ध किया जाए। दूसरे शब्दों में यह कहा जाता है कि शत्रु के विरुद्ध तथा अपने समर्थन में नैतिक उत्साह जागृत करने के लिए यह जरूरी है कि अपने पक्ष को न्यायोचित बनाया जाए और दूसरे पक्ष को अन्याय पर आधारित। हो सकता है कि जो व्यावसायिक रूप से या भाग्यवश सैनिक हैं वे बिना इस सबके भी युद्ध में अपनी जान दे दें। किन्तु शस्त्र धारण करने वाले सामान्य नागरिक बिना इसके आगे नहीं बढ़ सकते। उन्नीसवीं शताब्दी के नेपोलियन के युद्धों में तथा इटली और जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण के युद्धों में राष्ट्रवाद की भावना ने न्याय के सिद्धांत का कार्य किया।

जिस समय युद्धों के पीछे कोई नैतिक या कानूनी सिद्धांत कार्य नहीं करता था उस समय कोई भी सेना कभी भी लड़ना बन्द कर सकती थी क्योंकि लड़ने वालों की प्रेरणा का स्रोत केवल धन था। युद्ध से पूर्व सेना उस पक्ष का समर्थन छोड़ कर दूसरे गुट में मिल जाती थी जिससे उसने वेतन

प्राप्त किया है। उदाहरण के लिए सन् १६२५ मे पाविया की लडाई (The Battle of Pavia) से कुछ दिन पूर्व ६ हजार स्विज और २ हजार इटली के सैनिक फ्रासीसी सेना को छोड गए और इस प्रकार फ्रासीसी शक्ति एक तिहाई रह गई। सौलहवी एव सत्रहवी शताब्दियो के धार्मिक युद्धो मे पूरी की पूरी सेना कई बार पक्ष बदल लेती थी। युद्ध क्षेत्र मे पर्याप्त व्यक्ति रखने के लिए फ्रेड्रिक महान् ने उन लोगो को पुरस्कार देने की घोषणा की जो कि ६ महीने के अन्दर उनकी इकाइयो म लौट आयें।

पहले सैनिक सेवा को अपराधो के लिए सजा के रूप मे प्रयुक्त किया जाता था। जिन लोगो को मौत की सजा सुनवाई जाती थी उनके सम्मुख एक विकल्प यह होता था कि वे चाहे तो सेना म आ जायें। इस प्रकार से सगठित सेना मे भारेल जैसी किसी चीज के अस्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। ऐसे लोग न तो अपने देश के प्रति स्वामिभक्ति रखते थे और न ही अपने राजा के प्रति स्वामिभक्त थे। इन लोगो को केवल कडे अनुशासन और इनाम के आधार पर एक साथ रखा जाता था। उस समय के युद्धो की प्रकृति सैनिको का सामाजिक सम्मान तथा सामाजिक पृष्ठभूमि आदि बातो के सन्दर्भ म ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

सीमित युद्धो के समय जब युद्ध सिंहासन प्राप्ति के लिए या किसी नगर की प्राप्ति के लिए या राजा के सम्मान के लिए लडे जाते थे तब सैनिक सेवा को राजा का वश परम्परागत विशेषाधिकार समझा जाता था, किन्तु सन् १७६३ के फ्रासीसी कानून ने जब १८ और २५ के प्रत्येक स्वस्थ पुरुष के लिए सैनिक सेवा आवश्यक बना दी तो युद्ध की नई प्रकृति को पहली बार व्यवस्थापिका की मान्यता प्राप्त हुई। फ्रास की भाति प्रशा (Prussia) ने भी सन् १८०७ म कानून पास किया जिसके अनुसार भाडे के सैनिको को रखना बन्द कर दिया, सेना मे विदेशियो को लेना बन्द कर दिया तथा सन् १८१४ के कानून के अनुसार अपने देश की रक्षा प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य घोषित कर दिया। इस प्रकार युद्ध का स्वरूप ऐसा हो गया जिसमें कि सारी जनता भाग लेती है।

(७) सम्पूर्ण युद्ध की दूसरी विशेषता यह है कि यह युद्ध केवल सम्पूर्ण जनता का ही नही होता वरन् सम्पूर्ण जनता द्वारा लडा जाता है। जब बीसवी शताब्दी मे युद्ध की प्रकृति परिवर्तित हो गई और इसका उद्देश्य केवल राष्ट्रीय मुक्ति न होकर राष्ट्रवादी विश्व व्यापकता हो गया तो युद्ध मे जनता का योगदान भी अपेक्षाकृत बढ गया। अब न केवल स्वस्थ शरीर वाले पुरुषो

को ही युद्ध में लिया जाता है वरन् सर्वाधिकारवादी देशों में तो स्त्रियों और बच्चों को भी युद्ध में भाग लेना पड़ता है। गैर-सर्वाधिकारवादी देशों में भी स्त्रियों की सहायक सेवाएं उनकी स्वेच्छा के आधार पर मांगी जाती हैं। हर देश में राष्ट्र की सभी शक्तियां युद्ध में लगा दी जाती हैं। सीमित युद्ध के समय अधिकांश जनता का युद्ध से कुछ लेना देना नहीं होता था। सामान्य जनता पर तो केवल यह प्रभाव पड़ता था कि उनसे अधिक कर लिए जाते थे किन्तु आज का युद्ध प्रत्येक व्यक्ति का कार्य है और उसे इसमें अपना सक्रिय योगदान देना होता है।

इस विकास के लिए उत्तरदायी दो कारण माने जाते हैं। प्रथम यह कि सेनाओं के आकार में वृद्धि हो गई है और दूसरे यह कि युद्ध का यान्त्रिकीकरण हो गया है। सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में सेनाओं का आकार बढ़ कर अधिक से अधिक दस हजार हो जाता था। नैपोलियन के युद्धों में कुछ सेनाओं की संख्या कुछ लाख व्यक्तियों तक हो गई। प्रथम विश्वयुद्ध में पहली बार सेनाएं दस लाख से ऊपर निकल गयी और द्वितीय विश्वयुद्ध में इनकी संख्या एक करोड़ से भी ऊपर निकल गई। युद्धों में हथियारों, आवश्यक सामग्रियों, यातायात एवं सचार आदि का यन्त्रीकृत रूप तथा सेना का बड़ा आकार आज यह मांग करता है कि कार्य करने वाली सारी जनसंख्या अपना पूरा योगदान दे। ऐसा होने पर ही सैनिक सम्यान को युद्ध के लिए उपयुक्त स्थिति में रखा जा सकता है। अनुमान लगाया गया है कि युद्धभूमि में एक व्यक्ति को सक्रिय रखने के लिए कम से कम एक दर्जन व्यक्तियों के उत्पादनशील प्रयासों की आवश्यकता रहती है। युद्ध-भूमि में लड़ रहे सैनिकों को खाना पहुंचाने, कपड़ा पहुंचाने, हथियार भेजने, यातायात और सचार की व्यवस्था करने आदि कार्यों में जितने लोगों को सक्रिय होना पड़ता है उसके आधार पर यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगा कि वर्तमान युद्ध सम्पूर्ण जनसंख्या द्वारा युद्ध बन गए हैं।

(3) युद्धों को सम्पूर्ण कहने का एक तीसरा आधार यह है कि ये सम्पूर्ण जनसंख्या के विरुद्ध लड़े जाते हैं। केवल यही नहीं कि प्रत्येक को युद्ध में भाग लेना पड़ता है वरन् प्रत्येक को युद्ध का परिणाम भी भुगतना पड़ता है। किसी भी युद्ध में होने वाली क्षति के आकड़े यद्यपि वे विश्वसनीय कम होते हैं किन्तु वे इस कथन को सत्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। पहले युद्ध में जनसंख्या का जो प्रतिशत अपनी जान खो देता था वह आज की अपेक्षा बहुत कम है। बीसवीं शताब्दी में युद्ध का स्वरूप विश्वव्यापी बन गया है, इसलिए सैनिक कार्यवाही से होने वाले हताहतों की संख्या भी

अपेक्षाकृत बढ़ गई है। धार्मिक युद्धों की समाप्ति के काल से ही गैर-सैनिक जनसंख्या को भी युद्धों के दुष्परिणाम भुगतने होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं किया जाता कि द्वितीय विश्वयुद्ध की सैनिक कार्यवाही से सामान्य नागरिकों की जितनी जानें गयीं वे सैनिकों की तुलना में अधिक थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध में सोवियत संघ के हताहतों की संख्या उनकी कुल जनसंख्या का दस प्रतिशत थी। इस प्रकार आधुनिक युद्ध में गैर सैनिक लोगों के विध्वंस की प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है। सन् १९६५ के भारत पाक सैनिक संघर्ष के समय पाकिस्तानी बमबारी ने न केवल भारतीय सैनिकों को हताहत किया वरन् जोधपुर, अमृतसर आदि नगरों के मरीजों, बन्दियों एवं अन्य सामान्य नागरिकों की भी निर्मम हत्या की।

आज के युद्धों को लक्ष्य की दृष्टि से भी सम्पूर्ण युद्ध कहा जाता है। आज विश्व की महान् शक्तियाँ केवल इसलिए युद्ध नहीं लड़ती कि वे युद्ध क्षेत्र में शत्रु की सेनाओं को हरा दें या अपनी क्षतिपूर्ति कर लें अथवा अपनी सीमाओं को बढ़ा लें। आज के युद्धों का उद्देश्य शत्रु देश की जनता को पूरी तरह से नष्ट करना हो सकता है, उसके कल कारखानों एवं युद्ध क्षमता की समाप्ति करना हो सकता है उसकी सरकार का पुनर्गठन हो सकता है तथा उस देश की विचारधारागत मान्यताओं को बदलना हो सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में हारने वाले लोगों के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन तक को परिवर्तित कर दिया गया। ऐसा परिवर्तन जापान में मित्र राष्ट्रों द्वारा और केन्द्रीय यूरोप में सोवियत संघ द्वारा किया गया।

युद्ध की प्रकृति में सामाजिक परिवर्तन के रूप में लक्ष्यों को जोड़ना प्रमुख आधुनिक विकास माना जाता है। मुक्ति के लिए युद्ध (Wars of Liberation) असुरक्षा की भावना को बढ़ाते हैं और ये न केवल विजित राष्ट्रों पर ही लागू होते हैं वरन् इनको तटस्थ एवं विजयी राष्ट्रों में भी छेड़ा जा सकता है। युद्ध के द्वारा जो सामाजिक और आर्थिक अव्यवस्था लाई जाती है, वह बिना सैनिक पराजय के भी क्रान्तिकारी परिवर्तन ला देती है। आधुनिक सम्पूर्ण युद्ध में सम्पूर्ण हार का जोखिम रहता है। प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध में असीमित राजनैतिक उद्देश्यों के लिए असीमित सैनिक साधनों का प्रयोग किया गया। इस दृष्टि से यह सुझाया जाता है कि यदि हम युद्ध में अपनाये जाने वाले साधनों के प्रयोग को सीमित करना चाहते हैं तो हमें लक्ष्यों को भी सीमित करना होगा।

आज के युद्ध विश्व विजय को अपना उद्देश्य बना कर भी लड़े जा सकते हैं। अनेक यान्त्रिक विकासों के परिणामस्वरूप यातायात, संचार और

शस्त्रों के क्षेत्र में जो प्रगति हुई है उसने यह सम्भव बना दिया है कि विश्व को जीता जा सके और विजयी राष्ट्र द्वारा उसका प्रबन्ध किया जा सके। यह सच है कि इससे पहले भी बड़े-बड़े साम्राज्य थे किन्तु ये साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं चल सके, क्योंकि उस समय ऐसे यान्त्रिक साधनों का अभाव था जिनसे व्यापक जनता पर नियन्त्रण रखा जा सके।

एक विश्वव्यापी साम्राज्य को स्थायी रूप देने के लिए तीन चीजें मूल रूप में आवश्यक है। प्रथम, साम्राज्य के सभी लोगों के मस्तिष्क पर केन्द्रीकृत नियन्त्रण द्वारा सामाजिक एकीकरण लागू करना, दूसरे, साम्राज्य में जहां भी कहीं एकता के विरोध की सम्भावना हो वहां सर्वोच्च संगठित सेना रखना, और तीसरे, नियन्त्रण एवं प्रभाव के इन साधनों में स्थायित्व होना चाहिए तथा सम्पूर्ण साम्राज्य में फैले रहने चाहिए। इन तीनों सैनिक एवं राजनैतिक पूर्व आवश्यकताओं में से अतीतकाल में एक को भी प्राप्त नहीं किया जा सका किन्तु आज ये तीनों ही सम्भव हैं।

पहले संचार के साधन गैर-यान्त्रिक थे और जहां कहीं यान्त्रिक थे वहां वे कठोर रूप से वैयक्तीकृत थे और इस प्रकार विकेन्द्रीकृत थे। कोई भी समाचार या विचार या तो मुंह के शब्दों द्वारा प्रसारित किया जाता या अथवा पर्चों, प्रेस आदि के द्वारा जिनको कि केवल एक ही व्यक्ति अपने घर में संचालित कर सकता था। ऐसी स्थिति में भावी विजेता को असंख्य विरोधियों से लड़ना होता था। विश्व विजय की कामना रखने वाला यदि अपने विरोधियों को पकड़ ले और पहिचान ले तो उन्हें जेल में डाल सकता था, उनकी हत्या करा सकता था, किन्तु वह यह नहीं कर सकता था कि उनकी जबान को नरम बना दे या समाचार, रेडियो एवं चलचित्रों पर एकाधिकार कर ले।

पहले हिंसा के साधन भी बहुत कुछ गैर-यान्त्रिक विकेन्द्रीकृत और व्यक्तिगत थे। ऐसी स्थिति में विश्वव्यापी साम्राज्य बनाने का स्वप्न देखने वाला पग पग पर ऐसे संगठनों का पता पाएगा जो कि उससे लगभग बराबरी का स्तर चाहते हैं। दोनों के पास समान हथियार थे। ऐसी स्थिति में कोई भी विजेता साम्राज्य की स्थापना के लिए सभी सम्भावित विरोधियों के विरुद्ध हर जगह एक सर्वोच्च संगठित सेना कायम नहीं कर सकता था। पहले के साम्राज्य का कोई भी अङ्ग कहीं पर विद्रोह कर दे तो उसे दबाना असम्भव बन जाता था क्योंकि केन्द्रीय सत्ता को इसकी सूचना बहुत दिनों में पहुंचती थी और सूचना मिलने के बाद भी विद्रोह को दबाने के लिए जो प्रबन्ध किया जाता था उसमें भी पर्याप्त समय लग जाता था; किन्तु आज की स्थिति में

कोई भी विश्व साम्राज्य की सरकार रेडियो के माध्यम से शीघ्र ही वस्तु-स्थिति से सूचित हो जाएगी और कुछ ही घण्टों में सैंकडों बमवर्षक भेज देगी तथा पैराशूट, मोर्टार, टैंक, तथा हथियारों से भरे हुए बीसियों यान भिजवा देगी जिनका कि वह एकाधिकार रखती है और इस प्रकार राजद्रोह ग्रस्त नगर की स्थिति पर काबू पाया जा सकता है।

आज यातायात के क्षेत्र में होने वाले आविष्कारों ने ऐसी स्थिति ला दी है कि विश्व साम्राज्य की स्थापना करने वाले को अनुकूल जलवायु और भौगोलिक स्थिति पर निर्भर नहीं रहना पड़ता जिसके कारण नैपोलियन के प्रयास निरर्थक बन गए और विश्व विजय का विचार रखने वाले दूसरे नेताओं ने अपनी हिम्मत हार दी। पहले हिमपात के समय, शरद ऋतु में तथा बसन्त प्रारम्भ होने के समय युद्ध को रोकना पड़ता था, क्योंकि ऐसे मौसम में सेना की रक्षा करना और लड़ने के लिए आवश्यक सामग्री भेजना असम्भव था। अतः शत्रु को यह अवसर मिल जाता था कि वह दुबारा युद्ध प्रारम्भ होने तक अपनी क्षति पूर्ति कर ले और पुनः सशक्त बन जाए। यह भी हो सकता था कि शत्रु की शक्ति इतनी बढ़ जाए कि विश्व विजय की महत्वाकांक्षा रखने वाले को अपनी जान के लाले पड़ जायें। इन परिस्थितियों में विश्व विजय की कामना करना निरी मूर्खता थी, क्योंकि एक मौसम में लड़ाई के द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया वह दूसरा मौसम आने तक बराबर हो जाता था और उसे प्राप्त करने के लिए पुनः उतना ही प्रयास करना होता था। इस प्रकार जितनी दूर आगे बढ़ने और उतनी ही दूर पीछे फिसलने की चाल से विश्व विजय की कल्पना करना शेखचिल्ली के स्वप्नों से अधिक सार्थक नहीं था।

आज की स्थितियों में सम्भावित विश्व विजेता के पास तकनीकी साधन हैं जिनके द्वारा वह एक बार की गई प्राप्तियों को स्थायी बना सकता है। जीते हुए प्रदेश में उसकी संगठित सेना की सर्वोच्चता हर समय और हर जगह मानी जाएगी, चाहे मौसम कुछ भी हो और दूरी कितनी भी हो। प्रचार के सशक्त साधनों के माध्यम से विजेता अपने सम्भावित शत्रुओं पर सर्वोच्चता कायम कर सकता है। इस प्रकार से यदि एक बार किसी ने विश्व साम्राज्य स्थापित कर लिया तो वह उसको बनाए रख सकता है और सफल रूप में उसका संचालन कर सकता है इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। जिन लोगों को एक बार जीत लिया गया वे हमेशा के लिए विजित बनाए जा सकते हैं। आज यदि एक देश प्रभाव के तकनीकी साधनों में सर्वोच्चता रखने में सक्षम है तो वह विश्वव्यापी साम्राज्य भी

स्थापित कर सकता है। यदि एक राष्ट्र अणुशस्त्रों पर और सवार तथा यातायात के प्रमुख साधनों पर एकाधिकार रख सके तो वह दुनियां को जीत सकता है और इस जीत को स्थायी बना सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि वह इस एकाधिकार और नियन्त्रण को बनाये रखने में समर्थ हो। आधुनिक तकनीकों ने यह सम्भव बना दिया है कि दुनिया के प्रत्येक कोने के लोगों के दिमाग और कार्यों पर प्रत्येक मौसम में नियन्त्रण रखा जा सके।

सैनिक शक्ति की सम्भावनायें
(The Possibilities of Military Power)

सैनिक शक्ति एक देश की रचना का आवश्यक अंग होती है जिसके बिना वह एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। राज्य के जो चार आवश्यक तत्व माने गये हैं उनमें महत्व की दृष्टि से यदि देखा जाए तो सम्प्रभुता का स्थान सर्वोपरि माना जाता है और किसी भी राज्य की सम्प्रभुता उसकी सैनिक सामर्थ्य एवं सम्भावनाओं द्वारा तय की जाती है। सैनिक शक्ति की सम्भावनाओं को चार शीर्षकों के अधीन वर्णित किया जा सकता है। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि एक देश की सैनिक शक्ति उसकी राष्ट्रीय नीतियों का कितना समर्थन करती है तो चार मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन करना उपयोगी रहेगा। ये निम्न प्रकार हैं—

(१) आक्रमणकारी क्षमता
(The Offencive Capability)

बहुत समय पूर्व से ही राज्य अपने पड़ोसियों के विरुद्ध प्रायः आक्रमणकारी युद्ध लड़ते रहे हैं। राज्यों के द्वारा अनेक राजनीतिक आर्थिक एवं अन्य गुप्त उद्देश्यों के लिए युद्ध किये जाते हैं। सैनिक शक्ति के प्रयोग के ये उद्देश्य प्रायः अप्रत्यक्ष एवं छिपे रहते हैं। प्रारम्भ में इन युद्धों का स्वरूप एवं प्रभाव सीमित था।

यह सच है कि अनेक आक्रमणकारी युद्धों ने आक्रमणकर्ता को अनेक लाभ प्रदान किए। राज्यों ने सैनिक शक्ति के प्रयोग के सहारे अपनी स्वतन्त्रता को बनाये रखा। अनेक राज्यों ने अपने प्रदेश को बढ़ाया और अपनी धन-सम्पदा को भी सैनिक शक्ति के सहारे व्यापक बना दिया। अतीतकाल में सैनिक शक्ति के सहारे राज्यों ने अपने लक्ष्यों की प्राप्ति का सफल प्रयास किया। वर्तमान समय के सशस्त्र संघर्षों द्वारा भी यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रों ने सैनिक शक्ति के द्वारा अपने राष्ट्रीय हितों की सिद्धि

का मार्ग छोड़ा नहीं है। कई बार आक्रमणकारी को भारी असफलताएं भी मिलती हैं। इन असफलताओं के अनेक कारण हैं। स्पष्ट आक्रमणकारी के विरुद्ध देश अपनी सुरक्षा के लिए सङ्गठित भी हो जाते हैं। आक्रमण की नीति को अपनाने पर एक देश अपने पूर्व मित्रों एवं तटस्थ देशों के सहयोग तथा समर्थन को छोड़ देता है। युद्ध आक्रमणकारी प्रयासों की सफलता से यह सिद्ध नहीं हो पाता कि भविष्य में भी आक्रमणकारी प्रयास इतने ही खतरनाक होंगे। आक्रमणकारी को एक सबसे बड़ा लाभ यह रहता है कि वह आक्रमण के स्थान, समय एवं प्रकार को निश्चित करने का अवसर प्राप्त कर लेता है। पर्यवेक्षकों का मत है कि आधुनिक शस्त्रों के आविष्कार ने आक्रमणकारी की शक्ति को पर्याप्त लाभदायक स्थिति में रख दिया है।

प्रत्येक आक्रमणकारी को अपने आक्रमण के सम्बन्ध में अनेक निर्णय लेने होते हैं। वही यह तय करता है कि क्या उद्देश्य प्राप्त किए जायें, कौन से हथियार या शक्तियां अपनाई जायें, किन भौगोलिक क्षेत्रों को सम्मिलित किया जाये और किस को निकाला जाय, युद्ध में रणकौशल से काम लिया जाए अथवा चातुरी से काम लिया जाए, आदि आदि। तकनीकी युद्ध का अर्थ उस युद्ध से है जिसमें शत्रु की सशस्त्र सेना पर आक्रमण किया जाता है और रणकौशल युक्त युद्ध वह होता है जो शत्रु की अर्थ व्यवस्था एवं गृह व्यवस्था को नष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। युद्ध के उद्देश्य एवं तरीके का निश्चय करने के बाद यह निर्णय किया जाता है कि कौन से हथियारों का प्रयोग किया जाए।

आक्रमणकारी को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वह असीमित युद्ध छेड़ दे, शत्रु से बिना शर्त आत्मसमर्पण की बात करे, घातक अस्त्रों का प्रयोग करे तथा भौगोलिक सीमाओं को न रखे। वह चाहे तो अपने कार्यों को मर्यादित भी रख सकता है, सीमित युद्ध अपना सकता है, कम हथियारों का प्रयोग कर सकता है, वह शत्रु की अर्थ व्यवस्था में कुछ भी किए बिना केवल सेना पर आक्रमण कर सकता है, आदि-आदि। इस प्रकार आक्रमणकारी द्वारा किए जाने वाले आक्रमण कई श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं; जैसे, सर्व विनाश के लिए आक्रमण, परम्परागत आक्रमण, शीत युद्ध एवं गृह युद्ध। इन सभी श्रेणियों के बीच अन्तर करना असम्भव है क्योंकि किसी भी गृह युद्ध में किसी भी महाशक्ति का ध्यान आकर्षित हो जाता है।

(२) सुरक्षात्मक क्षमता
(Defencive Capability)

शत्रु के आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा की सैनिक क्षमता का एक मुख्य

को मन्द बनाने के लिए उसकी स्वयं की रक्षा को चुनौती देना जरूरी हो जाता है। सुरक्षा के लिए नियोजन एक बड़ा ही जटिल विषय है जिसके सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद पाए जाते हैं।

(४) प्रतिरोध की क्षमता
(Deterrent Capability)

विदेशी आक्रमण के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग प्रतिरोधात्मक रूप में भी किया जा सकता है। शक्ति के प्रयोग का यह प्रतिरोधात्मक रूप रक्षात्मक योजना से अधिक भिन्न नहीं है। सैनिक शक्ति के इस प्रयोग का पर्याप्त महत्व है किन्तु इसे प्राप्त कैसे किया जाए? यह प्रश्न अत्यन्त जटिल है। यह कहा जाता है कि सुरक्षा का चाहे कितना भी महत्व हो किन्तु केवल सैनिक शक्ति के आधार पर राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। एक सफल रक्षात्मक योजना में प्रतिरोधात्मक शक्ति का होना परमावश्यक है। यह कहा जाता है कि जब आक्रमणकारी के विरुद्ध रक्षात्मक तैयारी में सैनिक शक्ति का विस्तार किया जाता है तो इसकी प्रतिक्रियास्वरूप आक्रमणकारी भी अपनी शक्ति को बढ़ाता है और इस दौड़ में सीमा रेखा कहां आएगी यह निश्चित नहीं रहता। वैसे एक बड़े आकार की सेना में सदैव ही एक प्रतिरोधात्मक शक्ति रहती है। किन्तु फिर भी आज प्रतिरोधात्मक शक्ति का महत्व अधिक हो गया है। एक सफल प्रतिरोधात्मक शक्ति की कुछ आवश्यक विशेषतायें होती हैं। प्रथम आवश्यकता यह है कि रक्षक के पास इतनी पर्याप्त सेना हो कि वह सम्भावित शत्रु के किसी भी प्रकार के आक्रमण का सामना कर सके। दूसरे, प्रोत्साहित किए जाने पर रक्षक को इस शक्ति का प्रयोग करने को तैयार रहना चाहिए। तीसरे, सम्भावित आक्राता को रक्षक की सामर्थ्य का थोड़ा-बहुत अनुमान रहना चाहिए। उसे रक्षक के अभिप्रायों का भी ज्ञान रहना चाहिए। यह बात उस परम्परागत सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार सेना सम्बन्धी प्रत्येक बात को शत्रु के हाथों में आने से रोका जाता था। चौथे, रक्षक को आक्राता के मूल्यों का ध्यान रखना चाहिए। पांचवें, सम्भावित आक्राता बुद्धिशील होना चाहिए।

इन आवश्यकताओं के अतिरिक्त एक बात यह महत्व रखती है कि उस आक्रमण का प्रकार क्या है जिसका कि प्रतिरोध किया जाना है और क्या सेना द्वारा उसका प्रतिरोध किया जा सकेगा। आक्रमण व्यापक विध्वस, परम्परागत, शीतयुद्ध एवं गृह युद्ध-किसी भी रूप में हो सकता है और प्रत्येक रूप में आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए एक ही प्रकार की

शक्ति अपर्याप्त रहती है। आजकल विध्वंसकारी शस्त्रों में प्रतिरोध की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है। यह सच है कि यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद व्यापक संहार के अथवा परम्परागत शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया है। किन्तु फिर भी आजकल व्यापक संहार के शस्त्रों के विकास को एक मूल सैनिक आवश्यकता समझा जाता है।

केवल व्यापक संहार के शस्त्र ही पर्याप्त नहीं कहे जा सकते। इन हथियारों के द्वारा आक्रान्ता को व्यापक संहार का युद्ध करने से अथवा परम्परागत युद्ध छेड़ने से रोका जा सकता है किन्तु ये निश्चय ही शीतयुद्ध एवं गृहयुद्ध जैसे आक्रमणों में प्रतिरोध का काम नहीं कर सकते। इन आक्रमणों का विरोध करने के लिए अन्य साधनों एवं तरीकों से युक्त परम्परागत हथियारों की आवश्यकता है।

प्रतिरोधात्मक सामर्थ्य की एक बड़ी निहित कठिनाई यह है कि इसके लिये किये गये प्रयासों की सफलता को उस समय तक प्रमाणित नहीं किया जा सकता जब तक कि आक्रमण न हो जाये। प्रतिरोधात्मक शक्ति की एक सफलता तो यह हो सकती है कि आक्रमणकारी अपनी सेना को घटा ले। इस प्रकार सैनिक शक्ति शत्रु के विरुद्ध प्रयुक्त किये बिना भी लाभदायक बन सकती है।

(४) छापामार क्षमता
(Guerrilla Capability)

छापामार तकनीक को सैनिक शक्ति की किसी भी मात्रा के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है। द्वितीय विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों को छापामार विरोधी तकनीकों का बहुत कम ज्ञान था। इसका कारण यह था कि रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों के छापामार मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ रहे थे। कोरिया के संघर्ष के समय संयुक्त राष्ट्र संघ की फौजों ने छापामार युद्ध का विरोध करने की कुछ तकनीकों का विरोध करना सीखा। जब कोरिया में साम्यवादी देशों द्वारा पश्चिम का विरोध किया गया तो उन्हें छापामार युद्ध के प्रतिरोध का अनुभव करना पड़ा। साम्यवादियों को युद्ध के इस तरीके का महत्व ज्ञात है तथा वे इसका हर जगह प्रयोग करते हैं। माओत्से तुङ्ग को छापामार युद्ध का प्रमुख विशेषज्ञ माना जाता है। उसकी पुस्तिका छापामार युद्ध (Guerrilla warfare) सन् १९३७ में चीन में प्रकाशित हुई इसमें उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया जो कि चीनी व रूसी छापामारों द्वारा अपनाये गये थे।

युद्ध को रोकने का प्रयास
(Preventive and detective measures)

अमरीका के राज्य-सचिव (Secretary of States) जॉन फास्टर डलेस (John Foster Dulles) द्वारा युद्ध को रोकने के लिए समय-समय पर दिये गये सुझावों की निम्नलिखित सूची पेश की गई है—

१. युद्ध के भयावह परिणामों की शिक्षा देना (Education as to the horrors of war)
२. 'युद्ध से कोई लाभ नहीं होता' इस बात की शिक्षा देना (Education to the fact that "war does not pay")
३. एकान्त और आर्थिक अन्तर्राष्ट्रीयवाद (Isolation and Economic Internationalism)
४. कैलॉग-ब्रियां सन्धि या पेरिस की सन्धि (The Pact of Paris Vs Kellogg-Briand Pact)
५. राष्ट्र संघ (League of Nations)
६. आक्रमण से प्राप्त होने वाले लाभों को मान्यता प्रदान न करना (Non-recognition of the fruits of aggression)
७ शस्त्रीकरण (*Armament*)
८. नि शस्त्रीकरण (Disarmament)
९. अनुमति या दबाव (Sanctions)

युद्ध को रोकने तथा शान्ति की स्थापना करने के उक्त सभी प्रयासों को डलेस (Dulles) ने असत्य तथा अपर्याप्त सुझाव (False and inadequate solutions) कहा है। उन्होंने इन सभी सुझावों का क्रमशः परीक्षण किया है तथा पाया है कि इनके द्वारा विश्व शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती, ये वृथा हैं। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार डलेस ने इन सुझावों पर जो विचार-विमर्श किया है वह मुख्य रूप से सैद्धान्तिक या विद्वत्तापूर्ण (Theoretical or Academic) है। उनके विचार से डलेस (Dulles) द्वारा दी गई सूची में अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा विश्व सरकार का उल्लेख नहीं है। वैसे कई विचारकों ने इन दोनों ही साधनों द्वारा विश्व शांति की स्थापना की सम्भावना पर जोर दिया है। किन्तु पामर तथा परकिन्स ने इन दोनों सुझावों पर विचार करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि युद्ध के विकल्प (Alternative) के रूप में ये दोनों ही सुझाव अपूर्ण तथा असन्तोषजनक हैं। आज के अणु युग में युद्धों को रोकने का प्रयास करना परम आवश्यक बन गया है। राष्ट्रपति अयूब से वार्ता के लिए ताशकन्द जाने से एक दिन पूर्व (२ जनवरी, १९६६) प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने कहा था कि यदि हरेक समस्या का हल करने के लिए शस्त्रों का प्रयोग किया गया तो विश्व में शान्ति नहीं रह सकती। सभी देशों को अपने आपसी

विवाद शान्तिपूर्ण वार्ताओं द्वारा तय करने चाहिये। युद्ध का विकल्प ढूंढना आज के युग की प्रमुख आवश्यकता बन गया है किन्तु युद्ध के केवल वही विकल्प कारगर हो सकते हैं जो युद्ध द्वारा किये जाने वाले सुरक्षा के कार्य को सम्भाल सके तथा जो बुद्धिशील व्यक्तियों द्वारा शान्ति स्थापित रखने के लिए प्रयुक्त किया जाये।

युद्ध का परिवर्तित क्षेत्र एवं प्रभाव
(The changed area and influence of war)

विज्ञान के विभिन्न आविष्कारों एवं यातायात व संचार के साधनों के विकास के कारण सारा विश्व ज्यों ही एक परिवार के रूप में आया, युद्ध का क्षेत्र भी क्षेत्रीयता एवं प्रादेशिकता की परिधियों को लांघ कर विश्वव्यापी बन गया। इससे पूर्व युद्धों का क्षेत्र सीमित था और इस कारण इसमें विजय एवं हार का उत्तरदायित्व उसके सेना नायकों तथा प्रशासकों पर ही जाता था तथा युद्ध के परिणाम भी मुख्यतः इन्हीं वर्गों को भुगतने पड़ते थे। सामान्य जनता के लिए तो प्रशासकों के परिवर्तन से अधिक बाधा या सुविधा प्राप्त होने की सम्भावना न थी, किन्तु आज वस्तुस्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। आज के युद्धों में लड़ाइयां केवल सैनिकों और बन्दूकों से नहीं, जनता के मनोबल और लोकमत के सहारे ही लड़ी एवं जीती जाती हैं। यही कारण है कि आज के युग को कभी-कभी पूर्ण युद्ध का युग (Age of total war) कह दिया जाता है। मार्गेन्थो के मतानुसार आधुनिक युद्ध को पूर्ण (Total) कहने के चार कारण हैं—

१ क्योंकि जनता के एक भाग के भाव और विचार उसके देश के युद्धों के साथ पूरी तरह एकरूप हो जाते हैं,

२ क्योंकि जनता का एक भाग युद्ध में भाग लेता है,

३ क्योंकि जनता का एक भाग युद्ध से प्रभावित होता है,

४ क्योंकि युद्ध के द्वारा अभीप्सित लक्ष्यों की प्रकृति ही ऐसी होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान युद्ध पूर्ण (Total) इस कारण है क्योंकि ये पूरी जनता द्वारा लड़े जाते हैं, ये पूरी जनता के होते हैं, ये पूरी जनता के विरुद्ध लड़े जाते हैं, और इन युद्धों में जिन तरीकों तथा यन्त्रों का प्रयोग किया जाता है वे भी इनकी प्रकृति को सम्पूर्ण बना देते हैं, उदाहरण के लिए आधुनिक शस्त्रों का प्रयोग (Mechanization of weapons) तथा यातायात व संचार साधनों का प्रयोग (Machanization of transportation and communication) आदि।

— x —

PART—IV

Limitations of National Power : Balance of Power : *Collective Security* and *Pacific Settlement* of International disputes, International Law, World Government; Disarmament; International Morality and World Public Opinion.

"शक्ति सनुलन व्यक्तियों तथा समुदायों की सापेक्षिक शक्ति की ओर इंगित करता है।"

—श्लाइसर

"यदि केन्द्रीकरण की दृष्टि से देखा जाय तो हम पायेंगे कि सामूहिक सुरक्षा बीच की व्यवस्था है। इसमें शक्ति सतुलन से अधिक केन्द्रीकृत प्रबन्ध होता है किन्तु विश्व सरकार की मान्यता से यह कम रहता है।"

—क्लाड

"अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रचलित एव परम्परावादी नियमों का नाम है जिनको सभ्य राष्ट्रों द्वारा अपने आपसी व्यवहार में वैधानिक रूप से बाध्य माना जाता है।"

—ओपेनहिम

"नि शस्त्रीकरण का लक्ष्य आवश्यक रूप से नि शस्त्र कर देना नहीं है। इसका लक्ष्य तो यह है कि जो भी हथियार इस समय उपस्थित हैं उनके प्रभाव को घटा दिया जाय।"

—हर्टमैन

"अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता उसी दिन समाप्त हो गई जबकि राष्ट्रीय उद्देश्यों को बाकी ससार द्वारा स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए युद्ध लक्ष्य माना गया।"

—थोम्पसन

"विश्व जनमत स्पष्ट रूप से लोकमत है जो राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर जाता है तथा काम कम कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मौलिक प्रश्नों पर विभिन्न देशों के सदस्यों को एकमत में सगठित करता है।"

—मार्गेन्थो

६

राष्ट्रीय शक्ति की सीमायें II
(LIMITATIONS OF NATIONAL POWER)

प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित एवं नियमबद्ध करने का प्रयास करता है क्योंकि इसके बिना घोर अस्त-व्यस्तता व्याप्त हो जायगी और केवल पाशविक शक्ति का ही बोलबाला हो जायगा। इसी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में विभिन्न देशों द्वारा जो शक्ति का प्रयोग किया जाता है उसे नियन्त्रित एवं मर्यादित करना बहुत आवश्यक है। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति के दुरुपयोग के परिणाम बड़े भयानक होते हैं। आज की सबसे बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या यह है कि राष्ट्रों की शक्ति को नियमबद्ध करने के लिए अभी तक कोई सन्तोषजनक साधन आविष्कृत नहीं हो सका है। अनेक विचारकों ने इस समस्या का समाधान करने का प्रयास किया है और अपने सुझाव प्रस्तुत किये हैं जिनमें से कुछ का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयोग भी किया गया है। राष्ट्रीय शक्ति को मर्यादित करने वाले विभिन्न साधनों में व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण साधन मुख्य रूप से निम्न हैं— —

(१) शक्ति सन्तुलन (Balance of Power)
(२) सामूहिक सुरक्षा (Collecture Security)
(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law)
(४) विश्व सरकार (World Govt)
(५) नि:शस्त्रीकरण (Disarmament)
(६) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (International Morality)
(७) विश्व जनमत (World Public Opinion)

प्रारम्भ मे शक्ति-सन्तुलन का सहारा लेकर विश्व के देशों को शक्ति का दुरुपयोग करने से रोकने का प्रयत्न किया गया किन्तु बाद में अनेक कारणों से शक्ति सतुलन अव्यावहारिक बन गया और विश्वशांति की स्थापना के लिए सामूहिक सुरक्षा का मार्ग अपनाया गया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहारे देशों को सही व्यवहार अपनाने के लिए प्रभावित किया गया। अनेक विचारकों ने विश्व से युद्धों का सदा के लिए विदा करने तथा स्थायी शांति की स्थापना करने के लिए राष्ट्र-राज्यों के स्थान पर विश्व सरकार की रचना करने का विचार रखा। कुछ लोगों के मतानुसार यदि देशों के पास शस्त्रों का अस्तित्व न रहे तो स्वाभाविक रूप से वे किसी देश के विरुद्ध आक्रमणात्मक नीति न अपनायेंगे। इन सभी साधनों के अर्थ, रूप, प्रयोग एवं अपूर्णताओं पर विचार करना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के भूत, वर्तमान एवं भविष्य को समझने में सहायता कर सकेगा।

'शक्ति' और 'सम्प्रभुता' जब तक राज्यों की विशेषतायें हैं तब तक यह सम्भावना बनी रहेगी कि दो राज्यों के बीच संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाय। इस सम्भावना को मिटाने की दृष्टि से ही यथार्थवादी विचारकों का मत है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने प्रदेश और सम्मान का विस्तार करने का प्रयत्न करता है और दूसरे राज्य में स्थित सैनिक शक्ति द्वारा उनके इस प्रयत्न पर अकुश लगाया जाता है। यही दूसरे शब्दों में 'शक्ति सन्तुलन' (Balance of Power) है। इसी प्रकार अर्थशास्त्री 'आर्थिक पर निर्भरता' को, कानून विशेषज्ञ अधिकार और कर्त्तव्यों की मान्यता को तथा एक आदर्शवादी विचारक धर्म, मानव की अच्छाई तथा विश्व जनमत को एक कारण मानते हैं जिनके आधार पर राज्यों के बीच सद्भावना और परस्पर सहयोग के भाव वर्तमान रहते हैं। एक राष्ट्र की आक्रमणकारी प्रवृत्ति को रोकने के अन्य साधन जब असफल हो जाते हैं तो दूसरे देश की राष्ट्रीय शक्ति ही उस पर अंकुश लगाती है और इस दृष्टि से राष्ट्रीय शक्ति (National power) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर नियन्त्रण रखने वाला सबसे अधिक प्रभावकारी साधन है। इसका प्रयोग रक्षात्मक (Protective) तथा आक्रमणात्मक (Aggressive) दोनों ही उद्देश्यों के लिए किया जाता है। राष्ट्रीय शक्ति पर सीमा लगाने वाले उक्त साधनों के अतिरिक्त नैतिक विश्वास मानवतावाद, शांतिवाद, सहिष्णुता, सजग स्वार्थ आदि विचार की अनेक दिशायें हैं जो विश्व के देशों को अराजकता व संघर्ष के वातावरण की अपेक्षा शांति से रहने को प्रोत्साहित करती हैं।

शक्ति-सन्तुलन
(The Balance of Power)

जैसे व्यक्तिगत जीवन में मित्रता का आधार व्यवहार का सन्तुलन और स्थिति व स्तर की समानता होना है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में विश्वशान्ति तथा राष्ट्रों की परस्पर मैत्री का आधार उनके बीच स्थित शक्ति का सन्तुलन (Balance of Power) है। असन्तुलित शक्ति कभी भी विश्वयुद्ध अथवा संघर्ष का कारण बन सकती है क्योंकि यह शक्तिशाली राष्ट्रों को कमज़ोर राष्ट्रों पर अपना साम्राज्य फैलाने के लिए प्रोत्साहित करता है।

शक्ति सन्तुलन की परिभाषायें

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन द्वारा लगभग १५०० वर्षों से राज्यों के परस्पर सम्बन्धों को मर्यादित करने का कार्य किया जा रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों ने भिन्न-भिन्न परिभाषायें देकर शक्ति सन्तुलन के अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। सुप्रसिद्ध विचारक मार्गेन्थो (Morgenthau) के मतानुसार "प्रत्येक राष्ट्र वस्तु-स्थिति (Status-quo) को बनाये रखने अथवा परिवर्तित करने के लिए दूसरे राष्ट्रों से अधिक शक्ति प्राप्त करने की लालसा रखता है। इसके परिणामस्वरूप जिस ढांचे (Configuration) की आवश्यकता होती है वह शक्ति सन्तुलन कहलाता है और जिन नीतियों की आवश्यकता होती है उनका लक्ष्य शक्ति सन्तुलन को बनाये रखना होता है। श्लाइशर (Sheleicher) के मत में "शक्ति सन्तुलन व्यक्तियों तथा समुदायों की सापेक्षिक शक्ति की ओर इङ्गित करता है। क्लॉड (I L Claude) महोदय ने शक्ति सन्तुलन को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति-सम्बन्धों की समस्या से सम्बन्धित माना है। उनका कहना है कि "शक्ति सन्तुलन एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न स्वतन्त्र राष्ट्र अपनी आपसी शक्ति सम्बन्धों को बिना किसी बड़ी शक्ति के हस्तक्षेप के स्वाधीनतापूर्वक सञ्चालित करते हैं। इस प्रकार यह एक विकेन्द्रित व्यवस्था (Decentralized Sys em) है जिसमें शक्ति व नीति निर्णायक इकाइयों के हाथों में ही रहती है।" प्रो० फे (Prof. Fay) के शब्दों में "शक्ति सन्तुलन का अर्थ है राष्ट्रों के परिवार के सदस्यों की शक्ति में न्यायपूर्ण सुन्तुलितता (Jus Equilibrium) जो किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर अपनी इच्छा लादने से रोक सके।" डिकिंसन के मत में सतुलन (Balance) शब्द का प्रयोग समानता और असमानता दोनों ही अर्थों में किया जाता है।

जब लेखा (Account) सन्तुलन हो तो इसका अर्थ है समानता किन्तु जब सन्तुलन किसी एक के हित में हो तो इसका अर्थ असमानता है। उनका कहना है कि शक्ति सन्तुलन का सिद्धांत प्रथम अर्थ का दावा करता है किन्तु दूसरे के लिए प्रयत्नशील रहता है। मार्गेन्थो भी शक्ति सन्तुलन शब्द का अर्थ राष्ट्रों के मध्य स्थिर शक्ति की समानता से ही लगाते हैं किन्तु यह तभी सम्भव है जब कि शक्ति शब्द के साथ कोई विशेषण न प्रयुक्त किया गया हो। इसके विपरीत स्पाइकमन (Spykman) के कथनानुसार 'सत्य तो यह है कि प्रत्येक देश केवल उसी शक्ति सन्तुलन में रुचि लेता है जो उनके हित में होता है।" इस प्रकार जो राष्ट्र शक्ति सन्तुलन की स्थापना करना चाहता है वह 'सन्तुलन' नहीं वरन् अपने हित में असन्तुलन (Inbalance) की स्थापना का प्रयत्न करेगा।

पामर तथा परकिन्स ने शक्ति सन्तुलन की मान्यता की निम्न सात विशेषताओं का उल्लेख किया है :—

१. विश्व के राष्ट्रों के बीच शक्ति का सन्तुलन सदैव बना नहीं रह सकता,

२. शक्ति सन्तुलन की स्थापना स्वतः ही नहीं हो जाती, इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है,

३. शक्ति सन्तुलन का मापदण्ड युद्ध है क्योंकि युद्ध प्रायः तभी प्रारम्भ होते हैं जबकि सन्तुलन विच्छिन्न हो जाता है,

४. शक्ति सन्तुलन की नीति गतिशील (Dynamic) एवं परिवर्तनशील (Changing) है,

५. इतिहासकार शक्ति सन्तुलन को वस्तुगत (Objective) दृष्टि से देखता है किन्तु राजनीतिज्ञ उसे विषयगत (Subjective) दृष्टि से देखता है,

६. शक्ति सन्तुलन न तो प्रजातन्त्रात्मक देशों के लिए ही उपयुक्त है और न ही तानाशाही देशों के लिए ही,

७. शक्ति सन्तुलन के खेल में केवल बड़े राष्ट्र ही खिलाड़ी होते हैं, छोटे राष्ट्र केवल प्रभावित (Victim) या दर्शक के रूप में रहते हैं। किन्तु यदि वे आपस में मिल जायें तो इस खेल में सक्रिय हिस्सेदार भी बन सकते हैं।

मान्यता का इतिहास
(The History of Concept)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति सन्तुलन की मान्यता का इतिहास पर्याप्त पुरातन है। राज्यो के बीच सम्बन्धो म बहुत पहले से ही संघर्ष, मतभेद, विरोध एव लड़ाइयां रही हैं। इनका निपटारा करने के लिए कोई स्थाई व्यवस्था करने की अपेक्षा प्रारम्भ मे एक या एक से अधिक राज्य अनेक राज्यो पर प्रभाव बढाने की चेष्टा करते थे और फिर विश्व को अपनी मान्यता के अनुसार रूप प्रदान करने का प्रयास करते थे। दूसरे राज्यो द्वारा स्थिति को बनाये रखने की चेष्टा की जाती थी और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अपने विभिन्न सोपानो म गुजरती हुई आगे बढती रहती थी। जब विरोधी राज्य कुछ राज्यो के सामान्य हितो को चुनौती देते थे तो वे मिल कर अपने हितो की रक्षा के लिए सन्धि बद्ध हो जाते थे। शक्ति सन्तुलन की प्रक्रिया एक प्रकार से दूसरे राज्यो के शक्ति प्रयोग को सीमित करने का प्रयास है।

शक्ति सन्तुलन का तुल्यभारिता का विचार मूल रूप से प्रकृति के विरोधी शक्तियो के बीच स्वाभाविक तुल्यभारिता से लिया गया। मनुष्य ने बहुत पहले से ही इस बात की अनुभूति की कि सारे सौर मण्डल मे अनेक सितारे और ग्रह किस प्रकार सन्तुलन बनाये रखते हैं। राजनीति के क्षेत्र मे अरस्तु ने यह विचार प्रकट किया कि समाज गरीब, निर्धन और मध्यवर्ग के लोगो के बीच क्रिया प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप सतुलन बनाये रखते हैं। एक अन्य राजनैतिक विचारक जेम्स मैडीसन (James Madison) का विश्वास था कि सरकार को उन तत्वो के बीच सतुलन बनाये रखना चाहिए जो परिवर्तन चाहते हैं और यथास्थिति बनाए रखना चाहते हैं। राजनैतिक विचारकों ने बहुत पहले से ही शक्ति सतुलन के ऊपर अपने विचार अभिव्यक्त किए। ये विचार सही थे, अथवा नही थे यह अलग बात है किन्तु इनके समय में ये पर्याप्त प्रभावशील रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे शक्ति सतुलन को पूर्ण शक्ति एव तानाशाही को दबाए रखने के साधन के रूप में देखा गया है। डेविड ह्यूम (David Hume) ने अपने निबन्ध 'शक्ति सतुलन पर' (On the Balance of Power) मे पोलिबियस (Polybious) को उद्धरित किया है जिसका कहना था कि किसी भी राज्य या शासक को इतना महान न बनने दो कि वह अपने पड़ोसी को, उसके अधिकारों की रक्षा में असमर्थ बना दे। मैक्यावली ने अपनी

'द प्रिंस' (The Prince) में यह परामर्श दिया है कि जो कोई भी दूसरे की शक्ति को बढ़ाने में योगदान देता है वह अपनी शक्ति को नष्ट करता है। रिचार्ड कॉब्डिन (Richard Cobden) ने शक्ति सतुलन को एक असम्भव कल्पना के रूप में विशेषीकृत किया है। यह और कुछ नहीं केवल शब्द मात्र हैं। उनके मतानुसार शक्ति सतुलन केवल मस्तिष्क को छूता है, विचारों को नहीं। हमारे पूर्वजों ने शब्दों के सम्बन्ध में अपने आपको परेशान करने की जो नीति अपनाई थी यह उसी का एक उदाहरण है। फ्रान्सीसी दार्शनिक फेनेलोन (Fenelon) इस मान्यता को पर्याप्त महत्त्व देते हैं। उनके कथनानुसार अपने पड़ोसी को बहुत अधिक शक्तिशाली बनने से रोकना अपने आपको तथा अन्य पड़ोसियों को गुलाम बनने से रोकने का प्रयास है। यह स्वतन्त्रता, समानता एवं सुरक्षा की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम है, क्योंकि एक देश की अतिशय शक्ति एक सीमा से बाहर निकलने के बाद सम्बद्ध राज्यों की सामान्य व्यवस्था को परिवर्तित कर देती है। लियोपोल्ड वान रांके (Leopold von Ranke) का मत है कि यूरोपीय राजनीति में एक ओर तो दबाव डाले जाते थे और दूसरी ओर उनका विरोध किया जाता था। इस व्यवस्था के कारण ही यूरोप अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा कर सका तथा अपने प्रत्येक राज्य का स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रख सका। कुछ-कुछ यही मत एडवार्ड गिब्बन (Edwerd Gibbon) ने प्रकट किया है। उनका कहना है कि अनेक स्वतन्त्र राज्यों में यूरोप का विभाजन होना अनेक लाभदायक परिणामों का जनक रहा है। इससे मानव जाति की स्वतन्त्रता बनी रही। जिस तानाशाह को अपनी जनता के विरोध का सामना नहीं करना पड़ता उसे अपने समकक्ष राजाओं की शक्ति का प्रभाव शीघ्र ही ज्ञात हो जाता था। उसे अपने मित्रों की सलाह और शत्रुओं की चुनौतियों से मर्यादित होना पड़ता है।

सन् १८१५ में जैफर्सन (Jefferson) ने अपने एक मित्र को लिखा कि इस बात में हमारा हित नहीं है कि समस्त यूरोप एक राजतन्त्र के रूप में परिणत हो जाए। पर उसने आशा की कि राष्ट्रों के बीच एक उपयुक्त शक्ति सतुलन स्थापित किया जाना चाहिए। संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने आपको यूरोपीय व्यवस्था से अलग बनाये रखा किन्तु जब सन् १९१७ और सन् १९४१ में उसे सतुलन की स्थापना के लिए बुलाया गया तो वह मना नहीं कर सका। राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट से बात करने [redacted] बाद सन् १९४८ में फारेस्ट डेविस (Forrest Devis) ने बताया कि इङ्गलैंड की भांति हमारा ऐतिहासिक स्तर भी यह माग करता है कि यूरोप में शक्ति

सतुलन बना रहे और कोई भी एक राष्ट्र इस महाद्वीप के साधन, स्रोतों तथा मानव शक्ति को हमारी सम्भावित हानि के लिए प्रयुक्त न करे। इस मूल बात से प्रभावित होकर ही हम सन् १९१७ में लडे और इसीलिए अब लड रहे हैं ताकि किसी एक आक्रमणकारी शक्ति को यूरोप पर स्वामित्व रखने से रोका जा सके। पर्ल हार्बर (Pearl Harbour) से लेकर अब तक सयुक्त राज्य अमरीका यूरोपीय तथा विश्व रणमच को इसी दृष्टि से देख रहा है।

शक्ति सतुलन या तुल्यभारिता की मान्यता अनेक सन्धियो का आधार मानी जाती है। सन् १६४८ से लेकर सन् १९१४ तक का काल स्वर्ण शक्ति सतुलन का काल कहलाता है। कहा जाता है कि सन् १६४८ की वेस्ट फेलिया की सधि (The Treaty of West Phalia), सन् १८१५ का वियना समझौता (Vienna Settlement), सन् १९१९ की वार्साय की सधि (The Treaty of Versaills) तथा सन् १९४५ मे सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना के पीछे शक्ति सतुलन की मान्यता कार्य कर रही थी। ये विभिन्न सन्धियां एव समझौते इसलिए हुये क्योकि समय-समय पर नैपोलियन, कैसर विल्हेम (Kaisar Wilhelm), हिटलर और साम्यवादी नेताओं ने विश्व पर स्वामित्व स्थापित करने का प्रयास किया। शक्ति सतुलन की मान्यता मे एक विरोधाभास है और वह यह है कि जो देश इसका व्यवहार करते हैं वे भी यह घोषणा नही करना चाहते कि वे इसका व्यवहार कर रहे हैं। यही कारण है कि कोई भी देश शक्ति सन्तुलन को अपनी नीति मानने का दावा नही करता। राजनीति की इस प्रकार की व्यवस्था मे सम्मिलित होने से मना करते हैं यद्यपि उनकी नीतियां दूसरे राज्यों की शक्तियो को दबाने, विरोध करने, कम करने तथा उनसे आगे बढने की ओर सचालित रहती हैं। अपने पक्ष मे शक्ति सतुलन की स्थापना की राष्ट्रीय लक्ष्य के रूप मे घोषणा दूसरे देशों को विरोधी नीति विकसित करने के लिये प्रोत्साहित कर सकती है। आक्रमणकारी देश ऐसी स्थिति मे अपने आपको सगठित तथा सशक्त बनाने के प्रयासों को न्यायोचित ठहरा सकता है तथा वह अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक मान सकता है।

शक्ति सन्तुलन की तीन स्वयंसिद्ध बातें
(Three Postulates of Balance of Power)

शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त की कुछ स्वयंसिद्ध बातें होती हैं उनमे से तीन यहां उल्लेखनीय हैं। प्रथम बात यह है कि एक राज्य को परिस्थितियों के बदलने पर तथा नई धमकियो के सामने पर अपनी नीतियों मे परिवर्तन करने के लिए तैयार रहना चाहिये। विचारधारागत दुराग्रह एव

वचनवद्धता शक्ति सन्तुलन में कठोरता एवं अपरिवर्तनशीलता का तत्व ला देते हैं। इसलिये शक्ति सन्तुलन की राजनीति इनको ठुकरा देती है। किन्तु यहां यह बात उल्लेखनीय है कि साम्यवादियों ने दूसरे राज्यों पर अपनी विचारधारा को थोप दिया है। इसीलिये विचारधारागत संघर्ष वर्तमान विश्व राजनीति की एक प्रमुख वास्तविकता बन गया है। शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था में समझौते द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को कम से कम कर दिया जाता है, क्योंकि ये राजनीतिज्ञों को राष्ट्रीय हितों की साधना के लिए शक्ति की दृष्टि से सोचने से रोक देते हैं। एक देश किसी भी संधि के अनुसार वचनबद्ध हो सकता है किन्तु परिस्थितियां बदलने पर यह वचनबद्धता टूट सकती है। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन प्रथम विश्व युद्ध के बाद जापान के साथ संधि में वचनबद्ध था किन्तु जब उसने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ अपना सहयोग बढ़ा लिया तो यह जरूरी बन गया कि वह संधि को तोड़ दे। इस प्रकार राज्यों को अपने हितों तथा सम्बन्धों का पुनर्निरीक्षण करने के लिये तैयार रहना चाहिये। फ्रांस के राष्ट्रपति जनरल डिगाल ने नाटो संधि के सम्बन्ध में ऐसा ही किया है। इस दृष्टि से यह भी सम्भावना है कि यदि आवश्यकता हुई और इन देशों के राष्ट्रीय हितों ने जरूरी बनाया तो संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ साम्यवादी चीन का विरोध करने में ऐसे ही मिल जायेंगे जैसे कि वे जर्मनी का विरोध करने में मिले थे। इतिहास में अचानक ही बड़े-बड़े परिवर्तन हो जाते हैं जिनकी हम पहले से कल्पना भी नहीं कर सकते थे। जिस जर्मनी और जापान के विरुद्ध द्वितीय विश्व युद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी सारी शक्ति लगा दी वह अब इनका परम मित्र है।

(9) दूसरी स्वयंसिद्ध बात यह है कि जब राज्यों को यह ज्ञात हो कि दूसरे राज्य शक्ति सन्तुलन को उसके मुख्य हितों के विरुद्ध परिवर्तित कर रहे हैं तो उसे संघर्ष के लिये और यहां तक कि आवश्यकता हो तो युद्ध के लिए भी तैयार रहना चाहिए। क्यूबा के प्रश्न पर संयुक्त राज्य अमरीका का दृष्टिकोण इस बात का द्योतक है। जब सोवियत संघ क्यूबा में बड़े स्तर पर प्रक्षेपणास्त्र कायम करने जा रहा था तो राष्ट्रपति कैनेडी ने २२ अक्टूबर, १९६२ को अमरीकी जनता और प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव को कहा कि "सोवियत भूमि के बाहर रणकौशल के हथियारों को स्थापित करने का यह आकस्मिक प्रथम निर्णय यथास्थिति में जानबूझ कर किया गया आक्रमण-कारी एवं अन्यायपूर्ण परिवर्तन है जिसको कि इस देश द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता यदि इस देश के शत्रु और मित्र इसके साहस और वचनों

से कभी दुबारा विश्वास नहीं करेंगे।" इतने पर भी जब चुनौती सामने आ गई तो राष्ट्रपति ने कहा कि 'हम अनावश्यक रूप से अथवा बिना सोचे समझे विश्वव्यापी अणुयुद्ध के परिणामों की जोखिम नहीं लेंगे जिसमें विजय के फलस्वरूप हमारे पक्ष में केवल राख बचेगी। किन्तु यदि हम उस जोखिम से बचने में असमर्थ रहे तो किसी भी समय उसका मुकाबला करने के लिए तैयार हैं।"

(5) एक तीसरा स्वयंसिद्ध उपर्युक्त दोनों से ही सम्बद्ध है तथा उन्हीं से निकलता है। इसके अनुसार यदि युद्ध या अन्य संकट उत्पन्न होता है तो उसमें किसी भी देश को इतना पूरी तरह से नष्ट नहीं किया जाना चाहिये कि सम्बद्ध शक्तियां अकेली पड़ जायें और विजेता के लिए अनुपयुक्त शक्ति सन्तुलन की स्थिति बना दे। ऐसा सन् १९४५ में जर्मनी के साथ किया गया, उसका पूरी तरह से विनाश कर दिया गया और इस प्रकार इटली और जापान की शक्ति मद्धिम पड़ गई। इसके बाद पांच वर्ष के भीतर-भीतर पश्चिमी शक्तियों को यूरोप और एशिया में साम्यवादी चुनौती के विरुद्ध शक्ति सन्तुलन को बनाए रखने के लिए इन तीनों पूर्व शत्रु शक्तियों की सहायता करना जरूरी बन गया।

शक्ति सन्तुलन का मूल तत्व लार्ड पामर्स्टन (Lord Palmerston) ने अभिव्यक्त किया है। उनके कथनानुसार "इंग्लैण्ड का कोई स्थायी मित्र नहीं है और न ही कोई स्थायी शत्रु है वरन् उसके तो स्थायी हित हैं।" प्रोफेसर निकोलस स्पाइकमैन ने भी कुछ इसी प्रकार के भावों को अन्य शब्दों में अभिव्यक्त किया है। उनका कहना है कि "जो राज्य शक्ति सन्तुलन का खेल खेलता है उसका कोई स्थायी मित्र नहीं हो सकता। इसकी स्वामि-भक्ति किसी एक राज्य के प्रति नहीं हो सकती वरन् केवल सन्तुलित शक्ति के प्रति होगी। आज के मित्र आने वाले कल के शत्रु हो सकते हैं।" स्पाइकमैन ने आगे बताया है कि शक्ति राजनीति का एक मुख्य आदर्श यह है कि यह एक राज्य के मित्रों को स्थिर होने का अवसर नहीं देती। यदि हम सन् १९३० के दौरान तथा उसके बाद में होने वाली संधियों तथा सहयोगों पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था हमें इस बात का आश्वासन देती है कि कोई भी विरोधी हमेशा के लिए विरोधी नहीं रहता क्योंकि यह अवसर और परिस्थितियों के बदलते ही पुनः मित्रता का हाथ बढ़ा देता है।

शक्ति सतुलन के अनेक अर्थ
(Balance of Power as an ambiguous concept)

शक्ति सतुलन शब्द का प्रयोग इतने अधिक अर्थों मे किया जाता है कि यह शब्द आज अर्थहीन सा बन गया है तथा यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि कहने वाला किधर को सकेत करना चाहता है। पोलर्ड (Pollard) के मतानुसार शक्ति सतुलन (Balance of power) शब्द के शब्दकोष में अर्थ को अनेक मतलबों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। उनका निष्कर्ष यह है कि 'शक्ति सतुलन का अर्थ कुछ भी हो सकता है और इसका प्रयोग केवल भिन्न-भिन्न लोगो द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों में अथवा एक ही व्यक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न समय अलग अलग अर्थों मे प्रयोग नहीं किया जाता किन्तु एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही समय में भिन्न-भिन्न अर्थों में इसका प्रयोग किया जाता है।" क्लाउ (Claude) के मत मे शक्ति सतुलन एक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ के लिए उसी प्रकार है जैसे कि एक रसोइया के लिए नमक की चिकुटी होती है और जैसे एक मार्क्सवादी विचारक के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद होता है। अर्थात् रसोइया उस नमक की चिकुटी का किसी भी सब्जी या पकवान मे प्रयोग कर सकता है उसी प्रकार शक्तिसतुलन का प्रयोग भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिज्ञो द्वारा हर किसी अर्थ मे कर लिया जाता है। हैस (Ernst B Hass) के अध्ययन के आधार पर इसके आठ भिन्न भिन्न अर्थ हो सकते हैं तथा चार मुख्य मुख्य आचरण हो सकते हैं। एक देश के लिए एक विशेष स्थिति शक्ति सतुलन हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह दूसरे देश के लिए वैसी ही होगी। मार्टिन वाइट (Martin Wight) के अनुसार "इतिहासकार शक्ति सतुलन तब मानेगा जब विरोधी समुदाय की शक्ति उसके बराबर होगी किन्तु राजनीतिज्ञ के मन मे शक्ति सतुलन तब होगा जब कि उसका पक्ष दूसरे की अपेक्षा शक्तिशाली होगा और वह तभी सतुलन मानेगा जबकि उसके देश को राष्ट्रीय हित के अनुसार चाहे जिस पक्ष मे मिलने की स्वतन्त्रता होगी।"

क्लाड (I L. Claude) ने बताया है कि शक्ति सतुलन शब्द का प्रयोग मुख्यत. निम्न रूपों मे किया जा सकता है—

(१) एक अवस्था के रूप मे (As a Situation)—पहले उदाहरण तथा विचारको की परिभाषायें देने के बाद उन्होंने यह बताया है कि शक्ति सतुलन का प्रयोग कभी तो तुल्यभारिता (Equilibrium) के लिए

किया जाता है और कभी इसे तुल्यभारिता के विरोधी अर्थ 'Disequilibrium' में लिया जाता है। इस दृष्टि से शक्ति सन्तुलन 'शक्ति के वितरण' का समानार्थक बन जाता है जिस प्रकार कि 'तापमान' जलवायु की स्थिति को बताता है चाहे वह गर्म हो या ठण्डा, इसी प्रकार शक्ति सन्तुलन भी 'शक्ति स्थिति' को बताता है चाहे वह सन्तुलित हो अथवा असन्तुलित।

(२) नीति के रूप में (As a Policy)—शक्ति सन्तुलन शब्द का प्रयोग प्रायः ऐसी नीति के रूप में भी किया जा सकता है जो तुल्यभारिता का निर्माण करने अथवा उसकी रक्षा करने का कार्य कर सके। यह नीति इस मान्यता पर आधारित रहती है कि असन्तुलित शक्ति खतरनाक होती है। जब चर्चिल (Winston Churchill) ने यह लिखा है कि शक्ति सन्तुलन ब्रिटेन नीति की आश्चर्यजनक अचेतन परम्परा (Unconscious tradition) रहा है तब उनका अर्थ सन्तुलन की स्थिति से नहीं था वरन् सन्तुलन करने वाली नीति से था। मोवरर (Mowrer) ने शक्ति सन्तुलन का जो रूप बताया है उससे भी शक्ति सन्तुलन का अर्थ एक ऐसी नीति से लगाया जा सकता है जो राष्ट्रों के बीच तुल्यभारिता (Equilibrium) लाने में प्रयत्नशील हो। इस प्रकार शक्ति सन्तुलन शब्द का प्रयोग प्रायः शक्ति स्थिति सनिक सम्बन्ध रखता है। मार्गेन्थो और थाम्पसन ने भी शक्ति सन्तुलन का प्रयोग नीति के रूप में ही किया है क्योंकि वे मानते हैं कि "शक्ति सन्तुलन एक देश के उन प्रयत्नों को कहते हैं जिन्हें वह दूसरे देश के विरुद्ध अपनी ताकत को इतनी बढ़ाने के लिए करता है कि जिससे उसकी ताकत दूसरे देश से यदि अधिक नहीं तो कम से कम बराबर तो हो जाय।

(३) व्यवस्था के रूप में (As a System)—प्रायः शक्ति सन्तुलन का प्रयोग अनेक राज्यों से पूर्ण इस विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यवस्थित करने के किसी प्रकार के प्रबन्ध के रूप में भी कर दिया जाता है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्धित पुस्तकों में शक्ति सन्तुलन व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। टेलर (Taylor) ने शक्ति सन्तुलन का प्रयोग राज्यों के परस्पर सम्बन्धों के नाम के रूप में किया है।

(४) प्रतीक के रूप में (As a Symbol)—अनेक विचारकों ने शक्ति सन्तुलन शब्द का प्रयोग किसी परिभाषा योग्य अर्थ में न करके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति की समस्या के यथार्थवादी तथा दूरदर्शी प्रतीक (Symbol) के रूप में किया है। इन विचारकों के मतानुसार शक्ति सन्तुलन नीति के अभाव का अर्थ है सैनिक कमजोरी, मित्रों का अभाव तथा आत्मसम-

चारो की शक्ति को सतुलित करने के प्रयत्नो का अभाव ।[1] वुडरो विलसन की नीति की आलोचना प्राय इसी आधार पर की जाती है कि उसने शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म एक तथ्य के रूप मे देखने से मना कर दिया तथा एक आशावादी के मस्तिष्क से काम लेते हुए अन्तर्राष्ट्रीयवाद पर ही विचार करता रहा। इस सब का अर्थ यही होता है कि शक्ति सतुलन को यथार्थवाद का प्रतीक माना जाने लगा है और इसलिए राजनीतिज्ञो एव विचारको से आशा की जाती है कि वे इसका आदर करेंगे।

मि० ई० हेस (Mr Ernst Hass) ने उन लोगो के अर्थ एव अभिप्राय का वर्णन किया है जिन्होने शक्ति सतुलन शब्द का प्रयोग किया है। मि० हेस के कथनानुसार कुछ लोग शक्ति, सतुलन को व्याख्या के रूप मे (As description) प्रयुक्त करते हैं। ये विचारक किसी भी सैद्धान्तिक या विश्लेषणात्मक उद्देश्य के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने से पूर्व शक्ति सतुलन को समझना आवश्यक मानते हैं। वर्तमान समय मे पत्र सम्पादको एव रेडियो के आलोचको द्वारा इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे किया जाता है। जब श्रोतागण इस शब्द को सुनते हैं तो वे इसका अर्थ केवल शक्ति का वितरण ही लगाते हैं न कि सतुलन। दूसरे अवसरो पर शक्ति संतुलन का अर्थ शक्ति के वितरण से कुछ अधिक होता है। यहा इसका अर्थ तुल्यमारिता या प्रभु व या महत्व से हो सकता है। यहां एक बात यह उल्लेखनीय है कि इस शब्द का प्रयोग करने वाले के अभिप्राय भी शब्द के अर्थ पर पर्याप्त प्रभाव डाल सकते हैं। प्रत्येक लेखक अपने उद्देश्य के अनुसार ही एक कार्य को शक्ति सतुलन का स्थापक मानता है जबकि दूसरा अपने उद्देश्य की दृष्टि से उसके विपरीत कार्य को ऐसा मान सकता है। पिछली शताब्दी मे फ्रांसीसी लेखको ने तुल्यमारिता (*Equilibrium*) *शब्द का प्रयोग आस्ट्रिया पर युद्ध की मांग* या समर्थन करने के लिए किया। सात वर्ष तक यह युद्ध चला किन्तु इस काल मे ब्रिटिश अधिकारी शक्ति सतुलन की नीति के आधार पर प्रशा (Prussia) के समर्थन को न्यायोचित ठहराने लगे। क्योंकि उनके मतानुसार फ्रेडरिक द्वितीय (Frederick II) ने ही आस्ट्रिया पर आक्रमण करके शक्ति सतुलन को बिगाड़ा था। आज भी शक्ति सतुलन शब्द का जो प्रयोग किया जाता है

---

1 *The alternative to balance of power policy "is to remain* poorly armed, without allies and with no attempt to balance the power of *the aggressor state*"
–Mill & Mc Laughlin, World Politics in Transition, P.109

वह सदैव ही एक अर्थ में नहीं होता। वह शक्ति के वितरण, तुल्यभारिता एव प्रभावशीलता में से किसी भी अर्थ में प्रयुक्त किया जा सकता है।

2 शक्ति सतुलन के प्रयोग का दूसरा रूप प्रचार एव विचारधारा (Propaganda and Ideology) का है। जब सतुलन का अर्थ शान्ति अथवा युद्ध के साथ एक रूप कर दिया जाता है तो उसे समझना सहज बन जाता है। जब हम सतुलन शब्द का प्रयोग शान्ति की स्थापना एव खतरे के लिए तथा युद्ध को छेड़ने एव रोकने के लिए कर सकते हैं तो यह स्पष्ट है कि सतुलन जैसी कोई चीज 'सतुलन' (अर्थात् शान्ति एव युद्ध) के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। यहा सतुलन शब्द का प्रयोग बिना किसी निश्चित अर्थ के ही केवल प्रचार के लिए किया जाता है। शक्ति सतुलन शब्द का प्रयोग करके एक राज्य अपनी नीतियों को यथास्थिति रूप में ही न्यायोचित सिद्ध करना चाहता है। कुछ उदाहरणों में इस शब्द का प्रयोग विचारधारागत मतभेदों के सहारे के रूप में किया गया तथा कुछ उदाहरणों में हारे हुए राज्य की शक्ति एव आकार को न्यायोचित बनाने के लिए इसका प्रयोग किया गया। इस प्रकार इस शब्द के प्रयोग का अर्थ यह नहीं है कि प्रयोग कर्त्ता किसी निश्चित सिद्धात में विश्वास करता है वरन् यह है कि वह इसे अपने हितों की प्राप्ति में उपयोगी मानता है।

प्रचार की दृष्टि से जब किसी शब्द का प्रयोग किया जाता है तो तथ्यों का प्रयोग बेईमानी के साथ किया जाता है तथा यौद्धिक रूप से स्थापित मान्यताओं को तोड़-मरोड़ कर रखा जाता है। प्रचार तो सकेत-रूप से जान बूझ कर किया गया झूठ बात का स्थापन होता है। शक्ति सतुलन के द्वारा विचारधारागत लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है। मानहीम (Mannheim) के कथनानुसार विचारधारा कुछ प्रतीकों में विश्वास करती है चाहे वे प्रतीक वस्तुगत रूप से झूठे ही क्यो न हों। शक्ति सतुलन का सहारा लेकर एक देश नीतियों को प्राकृतिक कानून के रूप में अभिव्यक्त कर सकता है, नैतिक रूप से उचित सिद्ध कर सकता है अथवा इनको एक ऐतिहासिक आवश्यकता बता सकता है। इस अर्थ में जब शक्ति सतुलन शब्द का प्रयोग किया जाता है तो हम इसे केवल प्रचार मात्र ही नहीं कह सकते क्योंकि इस प्रकार इसे प्रयोग करने वाला अपने आपको भी धोखा देता है।

१८वीं शताब्दी में शक्ति सतुलन की मान्यता की आलोचना की गई। मि० जस्टी (Justi) ने अपने एक लेख में बताया कि शक्ति सतुलन का सिद्धात और कुछ भी नहीं है केवल विचारधारागत तर्क है जो अपने

असली उद्देश्यों, प्रसार आक्रमणकारी उद्देश्यों को छिपाने के लिए राजनीतिज्ञों द्वारा अपनाया जाता है। वस्तुतः कहते हैं कि राज्य की व्यक्तियों की भाँति केवल स्वार्थ से प्रेरित होते हैं। व हित चाहे वास्तविक हों अथवा काल्पनिक, वे शक्ति सन्तुलन से निर्देशित नहीं होते। ऐसे किसी भी ... का ... नहीं दिया जा सकता जो केवल शक्ति सन्तुलन की स्थापना की नीति ... अपने हितों के विरुद्ध अथवा अपने विशिष्ट हित के बिना ही युद्ध में शामिल हुआ हो। इस प्रकार प्रचार के लिए तथा विचारधारा के लिए शक्ति सन्तुलन शब्द के प्रयोग में कुछ अधिक अन्तर नहीं है। जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अभिनेता यह मान लें कि शक्ति को शक्ति से सन्तुलन स्थापित करने की सामान्य आवश्यकता में ही उनका व्यक्तिगत हित सम्पन्न है तो शक्ति सन्तुलन का प्रयोग प्रचार मात्र न रह कर विचारधारा गत बन जाता है।

(3) शक्ति सन्तुलन शब्द के प्रयोग का तीसरा रूप विश्लेषणात्मक मान्यता के रूप में है। यह रूप प्रचार के उद्देश्य से प्रयुक्त किए जाने वाले शक्ति सन्तुलन के रूप से पुरातन ... ही नहीं वरन विपरीत भी होता है। इस प्रकार जब यह पद प्रयुक्त किया जाता है तो प्रयोग करने वाला इस अपने विश्लेषण को रोचक बनाना चाहता है। इस अभिप्राय से प्रयुक्त होते होते यह पद १८वीं तथा १९वीं शताब्दियों में अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के रूप में विकसित हो गया। इस रूप में प्रयुक्त होने पर भी शक्ति सन्तुलन शब्द के अनेक अर्थ लगाये गये। विश्लेषणात्मक विवेचन के लिए भी इस शब्द को शक्ति राजनीति, ..., प्रभाव क्षेत्र, ... सन्तुलन आदि अर्थों में काम में लाया गया।

रीन डा करबा (Real & Curban) के कथनानुसार शक्ति सन्तुलन का मूल सिद्धान्त अविरोधिता है। यदि अन्तिम विश्लेषण की दृष्टि से देखा जाय तो एक राष्ट्र की शक्ति और ... भी नहीं है वरन उसके पड़ोसियों की कमजोरी एवं जर्जरता मात्र है। दूसरों की अशक्तता ही एक देश की शक्ति होती है। वर्तमान काल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ... शक्ति प्राकृतिक अवस्था से समानता रखती है और इस प्रकार की स्थिति में यह निष्कर्ष पर्याप्त उपयुक्त प्रतीत होता है।

शक्ति सन्तुलन की मान्यता का एक विश्लेषणात्मक मान्यता के रूप में प्रयुक्त करने की चेष्टा उन लेखकों द्वारा भी की गई है जो शक्ति सन्तुलन

को अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का मूल तत्व मानते हैं। इस अर्थ में सन्तुलन इतिहास का कानून बन जाता है। प्रोफेसर मार्गेन्थो तथा शुमा ने शक्ति सन्तुलन को व्यापक अर्थ प्रदान किया है। वे इसे केवल तुल्यभारिता एव प्रभुत्वशीलता मात्र ही नहीं मानते। इन लेखकों का मत है कि 'शक्ति सन्तुलन' सम्प्रभुता पर आधारित बहुराज्य व्यवस्था में निहित रहता है। ये राज्य किसी भी लक्ष्य के लिए पारस्परिक विरोधी नीतियों में सलग्न रहते हैं। इस प्रक्रिया में यह स्वाभाविक है कि राज्य सतुलित शक्ति की फिराक में रहें तथा किसी को भी प्रभुतापूर्ण दमन से रोकने के लिए गुट तथा विरोधी गुट बनायें। परिवर्तन लाने में रुचि रखने वाले राज्य सदैव ही उन राज्यों के विरुद्ध गुट बना लेते हैं जो यथास्थिति को कायम रखना चाहते हैं। यह प्रक्रिया इतनी सामान्य है कि यह एक ऐतिहासिक कानून का रूप धारण कर लेती है। यह कानून राज्यों के व्यवहार का विश्लेषण प्रदान करता है। जब शक्ति सन्तुलन शब्द का प्रयोग विश्लेषण में एक औजार के रूप में किया जाता है तो इसकी एक मुख्य विशेषता यह बन जाती है कि इसे सरकारों के लक्ष्यों से पृथक कर दिया जाता है।

(४) 'शक्ति सतुलन' शब्द का चौथा प्रयोग एक उपचार के रूप में (As prescription) किया जा सकता है। विश्लेषण के रूप में जब इसका प्रयोग किया जाता है तो इस बात पर जोर नहीं दिया जाता कि सरकारें सजगता के साथ सतुलनकारी नियमों को अपनाती हैं। किन्तु ऐसे अनेक विचारक थे तथा है जो यह मानते हैं कि शक्ति सतुलन सरकारों की निर्णय लेने की प्रक्रिया का निर्देशक सिद्धान्त है अथवा होना चाहिए। ये विचारक ह्यूम की प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करने के बाद यह कहते हैं कि इस अवस्था ने ही शक्ति सन्तुलन के समर्थक राज्यों को उन राज्यों के विरुद्ध सघिबद्ध होने के लिए मजबूर किया जो विश्व में अथवा किसी क्षेत्र में प्रभुत्व की स्थापना करना चाहते थे अथवा विश्वव्यापी राजतन्त्र की रचना करना चाहते थे। इनमें से कुछ का कहना है कि दुनिया के राज्य एक दूसरे पर निर्भर रहने के कारण परस्पर बंधे हुए हैं। इनकी सामान्य संस्थायें हैं, सामान्य कानून की व्यवस्था है। इस व्यवस्था में यदि कोई भी एक राज्य प्रभुत्वपूर्ण बनना चाहेगा तो इसे सम्पूर्ण सावयवी इकाई के विरुद्ध एक आक्रमण समझा जायेगा। यह राज्य व्यवस्था स्वतन्त्र राज्यों से पूर्ण है तथा प्रभुत्व प्राप्ति की इच्छा रखने वाले राज्य का विरोध प्रत्येक अपनी इच्छा से ही करेगा। इस व्यवस्था में शक्ति सन्तुलन का होना जरूरी था। इसने राज्यों की नीतियों को निर्देशन प्रदान किया।

शक्ति सन्तुलन को विदेश नीति की रचना का व्यावहारिक एव सैद्धान्तिक रूप मे निर्देशक माना जाना उपयुक्त प्रतीत होता है। मैटरनिक (Matternich) जैसे परम्परावादियो एव उदारवादियों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के रूप मे यह सिद्धान्त पर्याप्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सम्पूर्ण सस्थागत यथास्थिति की रक्षा का प्रयास करता है। मैटरनिक के शब्दो म आधुनिक इतिहास इस बात का प्रदर्शक है कि एकता एव शक्ति *सतुलन के सिद्धान्तो का प्रयोग एक ऐसा नाटक हमारे सामने लाता है जिसमे* कुछ राज्य मिल कर एक राज्य को प्रभुत्व प्राप्त करने से रोकते हैं तथा उसके प्रभाव को सीमित करते है और इस प्रकार उस राज्य को सामान्य कानून की ओर लौटने के लिए बाध्य करते हैं।

शक्ति सतुलन के सिद्धान्त के आधार पर राज्य अपनी रक्षा का प्रयास करता है अथवा इसे राज्य व्यवस्था की रक्षा के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। आज सयुक्त राष्ट्र सघ को शक्ति सन्तुलन का प्रतीक माना जाता है क्योंकि यह सगठन आक्रमणकारी के इरादों को मोड़ने तथा उस पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास करता है।

इस प्रकार शक्ति सन्तुलन शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जाता है जो भिन्न होने के साथ साथ कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी भी बन जाते हैं। यदि आप शक्ति सन्तुलन की मान्यता को समझना या मूल्यांकित करना चाहे तो बडी परेशानी होगी क्योकि अनेक लेखको की यह प्रवृत्ति है कि इसके एक अर्थ का वर्णन करते-करते इसके दूसरे अर्थ का वर्णन करने लग जाते हैं और कुछ देर बाद पुन उसी पहले वाले अर्थ पर आ जाते हैं किन्तु कहीं भी इस बात का उल्लेख तक नही करते कि उनके द्वारा शक्ति सन्तुलन का प्रयोग भिन्न अर्थों मे किया गया है। डाइके के अनुसार 'हम सन्तुलन (balance) शब्द का प्रयोग इस प्रकार करते रहे हैं कि मानो सभी इस बात को जानते हों कि इसका अर्थ क्या है किन्तु वास्तव म सच तो यह है कि कोई नही जानता कि इसका अर्थ क्या है।"[1]

शक्ति सतुलन की स्थापना के तरीके
(Methods for maintaining the Balance of Power)

विश्व म शान्ति की स्थापना के लिए, युद्धो को रोकने के लिये, शक्ति के दुरुपयोग पर रोक लगाने के लिए तथा प्रत्येक राष्ट्र की सम्प्रभुता एव

1 Vernon Van Dyke, International Politics, P 219

निर्णय लेने की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए राजनीतिज्ञों द्वारा समय समय पर विश्व के राष्ट्रों के बीच शक्ति सतुलन की स्थापना का प्रयास किया गया है। शक्ति सतुलन में एक देश के रुचि लेने का प्रधान कारण यह है कि उसमें उसका राष्ट्रीय हित (National interest) निहित रहता है। शक्ति सतुलन की स्थापना करते समय एक राष्ट्र हर प्रकार के साधन अपना लेता है। बड़ी-बड़ी राजनैतिक व कूटनीतिक चालों के द्वारा वह इसे अपने हित में मोड़ लेता है। आजकल शक्ति सतुलन एक खेल सा बन गया है जिसमें उसके अपने नियमों, तकनीकों व तरीकों से खेला जा सकता है। मार्गेन्थ्यू के कथनानुसार सन्तुलन की स्थापना या तो भारी पलड़े के वजन को कम करके की जा सकती है अथवा हल्के पलड़े में वजन डाल कर की जा सकती है।[1] अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति सन्तुलन की स्थापना के लिए निम्न तरीके अपनाये जाते या जा सकते हैं—

(१) मुआवजा या प्रतिफल
(Compensation)

एक देश द्वारा जब किसी प्रदेश पर अधिकार करके सतुलन को खतरा पहुंचाया जावे तो उसे रोकने के लिए उस देश की भूमि पर अधिकार करके पुनः शक्ति के सतुलन की स्थापना कर दी जाती है। यह प्रथा अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में अत्यधिक लोकप्रिय थी। १७१३ की यूट्रेक्ट सन्धि द्वारा प्रथम बार स्पेन द्वारा अधिकृत भूमि को बाँट कर इस साधन द्वारा शक्ति सतुलन स्थापित करने की कोशिश की गई थी। इतिहास में पोलेण्ड का तीन बार विभाजन किया गया है और तीनों बार उसका बंटवारा इस प्रकार किया गया कि सतुलन बना रहे। इस समय इस साधन की लोकप्रियता का कारण यह था कि भूमि के उपजाउपन तथा लोगों की संख्या और गुण को इस समय राष्ट्रीय शक्ति का महत्वपूर्ण स्रोत माना जाता था। प्रदेशों के मुआवजे प्रायः युद्ध के बाद में बड़ी और विजयी शक्तियों द्वारा पराजित व कमजोर देशों के विपरीत किये जाते हैं। १८७० से १९१४ तक इस साधन का रूप केवल भूमि पर केन्द्रित न रहा और प्रभाव क्षेत्रों (Spheres of influences) को भी विभाजित किया जाने लगा। इस युग में कोई भी राज्य दूसरे राज्यों को राजनैतिक लाभ देने को तैयार नहीं होता जब तक कि उसे यह ज्ञात न हो जाय कि बदले में उसे कितना लाभ मिल रहा है या मिल सकता है। मार्गेन्थ्यू के शब्दों में राजनैतिक मामलों में इस प्रकार के कूटनीतिक समझौतों की सौदेबाजी अपने

सामान्य रूप में मुआवजे का ही सिद्धान्त है तथा यह मूल रूप में शक्ति सतुलन से सम्बन्धित है ।[1]

(२) हस्तक्षेप एव युद्ध
(Intervention and War)

शक्ति सतुलन का दूसरा साधन युद्ध है। इतिहास में उदाहरणों को देख कर ऐसा लगता है कि शक्ति सम्बन्धों में परिवर्तन लाने के लिए कई बार युद्ध किये गये हैं। हस्तक्षेप (intervention) का अर्थ एक देश की विदेश नीति के उन पहलुओं व कार्यों से लगाया जाता है जिन्हें दूसरा देश भी अपने कार्य मानता है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन ने यूनान व जोर्डन में हस्तक्षेप किया, अमेरिका ने क्यूबा, लेबनान व लाओस में किया, रूस ने उत्तरी कोरिया, हगरी व पूर्वी योरोप में किया। इन सभी हस्तक्षेपों में शक्ति सतुलन की स्थापना उद्देश्य था या नहीं यह नहीं कहा जा सकता किन्तु यह परिणाम अवश्य था। कुछ विचारक शक्ति सतुलन की स्थापना के लिए हस्तक्षेप न करने की नीति को भी इतना ही महत्व प्रदान करते हैं। इस नीति का प्रयोग या तो उन कमजोर राष्ट्रों द्वारा किया जाता है जो लड़ाई में भाग लेने की शक्ति नहीं रखते या उन शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा जो कि स्थिर राजनैतिक अवस्था से सतुष्ट हैं और शान्तिपूर्ण साधनों से ही शक्ति सतुलन को बनाये रख सकते हैं। हस्तक्षेप की नीति का अन्तिम स्वर ही युद्ध है।

(३) सन्धियां
(Alliances)

यह साधन शक्ति सतुलन की स्थापना के लिए सबसे अधिक प्रयुक्त किया जाता है। जब एक राष्ट्र की बढ़ी हुई शक्ति द्वारा विश्व के शक्ति सतुलन को चुनौती दी जाती है तो दूसरे राष्ट्र उसके विरुद्ध सन्धियाँ करके इस चुनौती का उत्तर देते हैं। सन्धियां दूसरे देशों पर आक्रमण करने की दृष्टि से भी की जा सकती हैं तथा आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करने के लिए भी। पहले प्रकार की सन्धियां आक्रमणात्मक (Offensive) हैं तथा दूसरे प्रकार की रक्षात्मक (defensive)। वैसे दोनों का सम्बन्ध शक्ति सतुलन से रहता है। आक्रमणात्मक सन्धियां शक्ति सतुलन को अपने हित में बदलना चाहती हैं जबकि रक्षात्मक सन्धियां शक्ति सतुलन को बनाये रखने का प्रयास

1 *Morgenthau*, Politics among Nations, P 166

(४) फूट डालो व शासन करो
(Divide and Rule)

इसके अनुसार एक देश ऐसी नीति अपनाता है ताकि उसके शत्रु आपस मे मिल न सकें, उनके बीच फूट पड़ी रहे और वे कमजोर बने रहे। फ्रांस ने जर्मनी के सम्बन्ध म और सोवियत यूनियन ने शेष योरोप के सम्बन्ध मे इस नीति को अपनाने का प्रयास किया। इस साधन के द्वारा एक शक्तिशाली देश की शक्ति को घटा कर कम और सतुलन के निकट किया जाता है। बहुत समय से अन्तर्राष्ट्रीय जगत म इस साधन का महत्व रहा है। ग्रेट ब्रिटेन को इस नीति का सबसे बड़ा पण्डित माना जाता है। इसी नीति के आधार पर वह अपने इतने बड़े साम्राज्य पर शासन करता रहा था। इस काल मे सोवियत यूनियन द्वारा उन सभी योजनाओ और प्रस्तावो का विरोध किया जाता है जो पश्चिमी योरोप म राजनैतिक व आर्थिक एकीकरण ला सकते हैं। इसका लक्ष्य मूलत साम्यवादी व गैर-साम्यवादी गुट के बीच सतुलन को बनाये रखना है।

(५) बाधक राज्य
(Buffer State)

विश्व जब दो गुटो मे बँट गया तो उनके बीच सतुलन की स्थापना करने के साधन के रूप मे बाधक राज्य के अस्तित्व का महत्व बढ़ गया। यदि विरोधी शक्तियाँ आमने-सामने रही तथा उनके बीच कोई बाधक प्रदेश या निष्पक्ष क्षेत्र न रहा तो सन्तुलन की स्थापना करना बड़ा कठिन हो जायेगा। मार्टिन वाइट के मतानुसार दुनिया का सबसे बाधक क्षेत्र 'था' (Tha) है जो रूस को ब्रिटिश साम्राज्य से अलग करता था। यह क्षेत्र कमजोर व दूरस्थ राज्यो का था जिनके बीच मंगोलिया गढ़ बने हुये थे, जिनमें राष्ट्रवाद का उदय हो रहा था। इस दृष्टि से उन देशो का भी उल्लेख किया जा सकता है जो असलग्नता की विदेश नीति अपना रहे हैं। भारत के नेतृत्व में ऐसे देशों का महत्त्व विश्व मे शक्ति सतुलन बनाये रखने की दृष्टि से बहुत कुछ बढ़ गया है।

(६) शस्त्रीकरण तथा नि.शस्त्रीकरण
(Armaments and disarmament)

मार्गेन्थो के मतानुसार शक्ति सतुलन का एक तरीका यह है कि शक्तिशाली राष्ट्रों की शक्ति को कमजोर कर दिया जाय। उन्हीं के

कथनानुसार ऐसा शस्त्रों की दौड़ द्वारा तथा नि शस्त्रीकरण द्वारा किया जा सकता है। शस्त्रो के नये नये रूपो का आविष्कार करके आक्रमणकारी के विरुद्ध सुरक्षा व्यवस्थाओं को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। सैनिक तैयारी तथा आधुनिकतम शस्त्रो का प्रयोग करके विश्व में स्थित असन्तुलन का रोका जा सकता है। सिद्धान्त रूप मे एक स्थायी सन्तुलन की स्थापना तभी की जा सकती है जबकि शस्त्रो की दौड़ को समाप्त करके विरोधी शक्तियो के शस्त्रों के ऊपर सीमा लगा दी जाय। आज तक नि शस्त्रीकरण के अनेक प्रयास किये गये हैं किन्तु उनका परिणाम अधिक सतोषजनक न रहा। स्पेन के एक विद्वान् सेलवाडर माडरियागा (Salvador Madariaga) के मतानुसार नि शस्त्रीकरण की समस्या, नि शस्त्रीकरण की समस्या नही है यह वास्तव में विश्व समुदाय के सगठन की समस्या है। पामर तथा परकिन्स के मतानुसार मूल रूप मे यह शक्ति सतुलन की स्थापना की समस्या है।[1]

शक्ति सतुलन तथा राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले अन्य तत्व
(Balance of Power and other limiting factors)

कई कारणो से जब राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करने वाले तत्व के रूप मे शक्ति सतुलन का महत्त्व कम हो गया तो इसके उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए शक्ति सतुलन के विकल्पो की खोज की जाने लगी जो व्यावहारिक हो। अमेरिकन राष्ट्रपति वुडरो विलसन ने शक्ति सतुलन की आलोचनायें करके विश्व शान्ति की स्थापना के लिए सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) पर जोर दिया। सामूहिक सुरक्षा के अधीन सभी देश परस्पर सम्बद्ध रहेगे। अत यह कहा जाता है कि किसी प्रकार की सन्धियो की, अस्त्र शस्त्रों की दौड की, राजनैतिक मतभेदो की तथा परस्पर सघर्ष की कोई आवश्यकता न रहेगी। ये सभी बातें शक्ति सन्तुलन मे पाई जाती है। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) का मत है कि शक्ति सन्तुलन का सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्ध एक ही साथ पूरक (Complementary) तथा एक विरोधी (Antagonistic) का है। सामूहिक सुरक्षा का आधार शक्ति सन्तुलन है जो ऐसे स्थायित्व का निर्माण करता है जिसमे नीति की क्रियाओ को स्थायित्व देना सम्भव होता है। सामूहिक सुरक्षा के उदाहरण हैं योरोप का मेल (Concert of Europe), राष्ट्रसघ (League of Nations) और

1. Salvador de Madariaga, Disarmament, 1929, P. 56.

संयुक्त राष्ट्रसंघ (United Nations)–शक्ति सतुलन का सम्बन्ध इन तीनों ही रूपो से रहा है।

अतर्राष्ट्रीय कानून के साथ भी शक्ति सतुलन का वही सम्बन्ध है जो क्विन्सी राइट द्वारा शक्ति सतुलन और सामूहिक सुरक्षा के बीच बताया गया है। ओपेनहिम (L F. Oppenheim) के मतानुसार शक्ति सन्तुलन अतर्राष्ट्रीय कानून के अस्तित्व के लिए बहुत आवश्यक है। राष्ट्रों का कानून (A law of nations) केवल तभी रह सकता है जबकि विश्व मे शक्ति का सन्तुलन या तुल्यभारिता रहेगी। राष्ट्रों के ऊपर कोई सम्प्रभु व शक्तिशाली व्यवस्था न होने के कारण केवल शक्ति सतुलन द्वारा ही ऐसी स्थिति पैदा की जा सकती है कि एक राष्ट्र दूसरे पर विवशकारी शक्ति का प्रयोग न कर सके। कुछ विचारको के मत म अतर्राष्ट्रीय कानून शक्ति सन्तुलन को धीरे-धीरे सामूहिक सुरक्षा मे परिणत कर देगा। क्विन्सी राइट का मत है कि यदि वर्तमान परिस्थितियों में शान्तिपूर्ण साधनो से कानून द्वारा प्रशासित विश्व का निर्माण करना हो तो राजनीतिज्ञों को अधिक सश्लिष्ट सतुलन (Complicated balance) का प्रयत्न करना होगा।

शक्ति सतुलन पर मार्गेन्थो के विचार
(Morgenthau on Balance of Power)

शक्ति सतुलन से सम्बन्धित कोई भी अध्ययन तब तक अधूरा माना जायगा जब तक कि इस विषय के प्रमुख विचारक मार्गेन्थो के विचारो का वर्णन न किया जाय।

(१) मार्गेन्थो के मतानुसार शब्द 'शक्ति सतुलन' का प्रयोग चार भिन्न-भिन्न अर्थों मे किया जा सकता है—(i) एक नीति के रूप मे जो कुछ निश्चित कार्य करना चाहती है, (ii) वास्तविक कार्यों के रूप मे, (iii) शक्ति के लगभग समान वितरण के रूप मे तथा (iv) शक्ति के किसी भी वितरण के रूप मे। उनका कहना है कि जब शक्ति सतुलन शब्द का प्रयोग बिना किसी विशेषण (Qualification) के किया जाता है तो यह कार्यों के वास्तविक स्तर को बताता है जिसमे कुछ राष्ट्रों के बीच शक्ति का लगभग समान वितरण कर दिया जाता है। दूसरे शब्दों मे मार्गेन्थो के अनुसार शक्ति संतुलन का अर्थ तुल्यभारिता है। किन्तु जैसा कि क्लॉड (I L. Claude) का मत है, मार्गेन्थो द्वारा शक्ति सतुलन शब्द का प्रयोग

नई अर्थों में किया गया है तथा इस परिवर्तन की सूचना भी पाठक को नहीं दी गई है।[1] उन्होंने इस शब्द का प्रयोग शक्ति के वितरण के रूप में भी किया है। मार्गेन्थो की पुस्तक पढ़ते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि इस बार इस शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है। सच तो यह है कि उन्होंने इस शब्द का प्रयोग पाँच अर्थों में किया है।

(२) मार्गेन्थो ने शक्ति सतुलन के सिद्धान्त को अपरिहार्य (inevitable) बताया है। उनका मत है कि शक्ति सतुलन तथा इसे बनाये रखने वाली नीतियाँ न केवल अपरिहार्य हैं वरन् सम्प्रभु राष्ट्रों के समाज में स्थायित्व लाने वाले मूल तत्व हैं।

(३) मार्गेन्थो के अनुसार शक्ति सतुलन विदेश नीति का एक सामान्य साधन (universal instrument) है। इसका प्रयोग अपनी स्वतन्त्रता चाहने वाले प्रत्येक राष्ट्र द्वारा प्रत्येक समय में किया गया है। यह शक्ति के संघर्ष का स्वाभाविक एवं अपरिहार्य परिणाम है।

(४) मार्गेन्थो के शक्ति सतुलन सम्बन्धी विचारों में कुछ असगतियाँ हैं। जब वे शक्ति सतुलन को अपरिहार्य तथा स्वाभाविक मानते हैं तो वे यह नहीं बताते कि शक्ति सतुलन के कौन से रूप के बारे में वे ऐसा कह रहे हैं। एक ओर वे इसे मनुष्य कृत मानते हैं। इसी प्रकार शक्ति सतुलन का सामान्य रूप भी आजकल प्राप्त नहीं होता है।

(५) तुल्यभारिता को अपरिहार्य मान कर अमेरिकन विदेश नीति के गुण को सुधारने के लिए मार्गेन्थो ने अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। शक्ति सतुलन को अपरिहार्य मानने का उनका अर्थ क्या हो सकता है यह जानना बड़ा कठिन है। पुस्तक को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि शक्ति सतुलन की अपरिहार्यता से उनका अर्थ न तो यह है कि तुल्यभारिता (equilibrium) की स्थिति सदैव रहती है और न यह कि राज्यों की नीतियाँ सदैव ऐसी स्थिति बनाने या उसकी रक्षा करने का लक्ष्य रखती हैं। मार्गेन्थो ने यह माना है कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने के लिए शक्ति सतुलन के अतिरिक्त इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय कानून, सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आदि साधनों का भी विकास किया गया है। इस मान्यता

1 I L Claude, Power and International Relations, P 27

का स्पष्ट अर्थ यह है कि शक्ति सन्तुलन को अपरिहार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उसका कार्य सभालने के लिए दूसरे विकल्प मौजूद रहते हैं। मार्गेन्थो ने बताया कि राष्ट्रों के सामने दूसरा रास्ता ही नहीं होता। बुद्धि के आधार पर निर्मित एक विदेश नीति सदैव शक्ति के संतुलन का सिद्धात अपनाती है, किन्तु जो देश इसका बहिष्कार करता है, या तो उसे विश्व को विजय करना पड़ेगा अथवा वह नष्ट हो जायेगा।

शक्ति सन्तुलन के सिद्धांत का मूल्यांकन
(An Evaluation of the Balance of Power Principle)

शक्ति सतुलन का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे विचारकों ने प्रशसा करके अपरिहार्य बना दिया और साथ ही जिसे आलोचना वालों का इतना सामना करना पड़ा कि उसका अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। रिचार्ड कोवडन (Richard Cobden) का कहना है कि "शक्ति सतुलन का सिद्धान्त केवल एक असम्भव कल्पना मात्र है-राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क की एक उपज है-एक छाया मात्र है जिसका कोई निश्चित रूप ही नहीं है, एक श्वास मे बोले जाने वाले शब्दों का योग है, इसके अक्षर हैं जो कुछ आवाज करते हैं किन्तु उनका कोई अर्थ नहीं होता।[1]"

कुछ विचारक शक्ति सतुलन को एक पाप मानते हैं जिसे जल्दी ही दूर किया जाना चाहिए जबकि दूसरे एक ऐसा मार्गदर्शक मानते हैं जिसका अनुसरण किया जाना आवश्यक है। परम्परागत अमेरिकी विचार के अनुसार शक्ति सन्तुलन का मूल्य लोगों के जीवन तथा प्रसन्नता से चुकाया जाता है। विल्सन (Wilson), हल (Hull) तथा रूजवेल्ट (Roosevelt) आदि ने शक्ति सन्तुलन को झगड़ों तथा युद्धों का कारण माना है तथा इसके स्थान पर सामूहिक सुरक्षा प्रबन्धों की स्थापना का पक्ष लिया है। इसके विपरीत मार्गेन्थो का विचार है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माता के रूप में शक्ति सन्तुलन इतिहास के विभिन्न स्तरों पर सफल रहा है, इसने किसी भी राष्ट्र को इतना शक्तिशाली नहीं होने दिया है जो अन्य दूसरों की स्वतन्त्रता को समाप्त कर सके।"[2] प्रसिद्ध इतिहासकार फेरेरो (Ferrero) के मतानुसार

1. Richard Cobden, Political Writings.
2. Morgenthau & Thompson, Principles and problems of international Politics P. 103.

"उन्नीसवी शताब्दी का यूरोप युद्धो के लिए प्रसिद्ध है किन्तु इस समय के युद्धो को स्थानीय एव सीमित बनाने का श्रेय शक्ति सन्तुलन को दिया जा सकता है।[1]" क्लाड (I L. Claude) ने माना है कि "शक्ति सन्तुलन व्यवस्था इस रूप मे कार्य कर सकती है कि तुल्यभारिता (equilibrium) की रचना व संभाल कर सके किन्तु यह आवश्यक नही है कि वह ऐसा करे और यह इन परिणामो को उत्पन्न करने वाली उपयुक्त व्यवस्था भी नही है।"[2]

दूसरी ओर अनेक विचारक ऐसे हैं जो यह सोचते है कि शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था ने कई बार युद्धो को रोका है। फ्रेडरिक गेन्ज (Friedrich Geniz) का कहना है कि "युद्ध प्राय. तभी उत्पन्न होता है जब एक देश बहुत अधिक शक्ति (The excessive overweight) प्राप्त कर लेता है। अन्य कुछ विचारको के मतानुसार भी शान्ति की निश्चितता शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त मे निहित रहती है। क्लीमेन्शो (Clemenceau) का कहना था कि प्रथम विश्वयुद्ध सन्तुलन के टूटने का परिणाम था। यदि शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था बनी रहती तो निश्चय ही प्रथम युद्ध न छिड़ता। क्लाड (I L Claude) का विचार है कि "शक्ति सन्तुलन को युद्ध रोकने का साधन मानने वाले तथा उसे ऐसा न मानने वाले विचारको के बीच की खाई इतनी नही है कि जिसे पाटा नही जा सके।" सत्य तो यह है कि दोनों ही पक्ष इसे तुल्यभारिता को बनाने व रक्षित रखने का एक साधन मानते हैं। एक पक्ष का विचार है कि युद्ध इस लक्ष्य को प्राप्त करने का आवश्यक साधन हो सकता है जबकि दूसरा पक्ष यह सोचता है कि तुल्यभारिता आक्रमणात्मक कार्यों पर रोक लगा कर शान्ति की स्थापना करता है। क्विन्सी राइट के शब्दो मे 'शक्ति सन्तुलन एक ऐसी व्यवस्था है जो प्रत्येक राज्य मे निरन्तर यह विश्वास पैदा करती है कि यदि उसने आक्रमण करने का प्रयत्न किया तो दूसरे राष्ट्रो के संगठित प्रयास द्वारा उसका विरोध किया जायेगा।'[3]

---

1. The Reconstruction of Europe, P. 338.
2. Power and International Relations, Pp. 66.
3. Quincy Wright, A study of war, I, 254.

शक्ति सन्तुलन को युद्ध का कारण मानने वाले यह भूल जाते हैं कि यह व्यवस्था किसी शान्तिवादी दर्शन से सम्बन्धित नहीं है; इसका अर्थ तो केवल यह है कि राज्यो को अकेले ही या सगठित रूप से शक्ति का प्रयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। यहा तक कि ऐसी शक्ति को भी कुचल देना चाहिए जो भविष्य मे उनको स्वयं की सुरक्षा को चुनौती दे सकती है। इस प्रकार 'युद्ध' तुल्यभारिता (Equilibrium) की स्थापना के लिए आवश्यक हो सकता है या तुल्यभारिता के द्वारा युद्ध को रोका जा सकता है, दोनों ही बातें सच हैं।

शक्ति सन्तुलन की मान्यता के अनेक लाभ हैं—यह आक्रमणो का हतोत्साहित (Discourage) करके राज्यो की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है, यह विजय की योजनाओं को हतोत्साहित करके विश्व साम्राज्य को बनने से रोकता है, यह गडबड को रोक कर वस्तुस्थिति (Statusquo) को स्थाई बनाता है। यह हो सकता है कि प्रतिरोध का यह साधन असफल हो जाए और युद्ध को न रोक पाए किन्तु यह गलत नही है कि शान्ति स्थापना में इसकी भारी देन है। आर्गन्सकी (Organski) यह नही मानते कि तुल्यभारिता शान्ति की स्थापना के लिए महत्त्वपूर्ण है। उनका विश्वास है कि शान्ति और शक्ति सन्तुलन के बीच जो सम्बन्ध माना जाता है वास्तव मे यह उससे विपरीत है। सतुलन का काल चाहे वह वास्तविक था या काल्पनिक–युद्ध का समय है जबकि असंतुलन अधिक शक्ति का समय, शान्ति का समय था।[1] मार्गेन्थो ने बताया है कि शक्ति सतुलन न केवल पोलैण्ड की रक्षा करने मे ही असफल हो गया किन्तु भूमि के मुआवजे के रूप मे वितरण करने के नाम पर पोलैण्ड का ही विनाश कर दिया गया। शक्ति सन्तुलन ने किसी राज्य विशेष या पूरी राज्य व्यवस्था के किसी भी कार्य को युद्ध के साधन के अलावा अन्य किसी साधन से पूरा नही किया। मार्गेन्थो के मतानुसार इसका कारण शक्ति सन्तुलन की तीन कमजोरियां हैं—यह अनिश्चित है, यह अवास्तविक है, यह अपर्याप्त है।[2]

शक्ति संतुलन के सिद्धान्त की मान्यता का मूल्यांकन करते हुए पैडिल फोर्ड तथा लिकन ने बताया है कि इस सिद्धान्त के द्वारा यह दावा किया जाता

1. Organski, World Politics, P 292.

2 Morgenthau, Politics among Nations, P 185.

है कि इसने युद्धों को रोका है तथा हतोत्साहित किया है। दूसरे राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा की है और तीसरे, एक राज्य अथवा राज्यों के समूहों द्वारा अनुचित प्रभुत्व स्थापित करने पर रोक लगाई है और इस प्रकार बहुराज्य व्यवस्था को बनाए रखने में सहायता की है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि शक्ति संतुलन की राजनीति ने कुछ युद्धों को रोका, कुछ में देरी की और युद्ध को हतोत्साहित किया। किन्तु युद्ध की दृष्टि से हम इसे एक अचूक औषधि नहीं मान सकते क्योंकि यह अतीतकाल में अनेक युद्धों को रोकने में असफल रहा और भविष्य में भी यह युद्ध का एक सफल अवरोधक नहीं है। शक्ति सन्तुलन की नीति को व्यवहारवादिता के आधार पर समर्थन प्रदान किया जाता है और यह कहा जाता है कि आक्रमणकारी शक्ति को मर्यादित करने का यह सर्वश्रेष्ठ माध्यम है और इस प्रकार यह राष्ट्रीय सुरक्षा की रक्षा करता है।

शक्ति सतुलन की राजनीति ने अनेक यूरोपीय राज्यों की स्वतन्त्रता की रक्षा में सहयोग दिया है। किन्तु बीसवीं शताब्दी में इसने इटली को इथोपिया पर आक्रमण करने से नहीं रोका और जापान को चीन का एक बड़ा भाग लेने से नहीं रोका। यूरोप में सन् १९३० में जो बड़ी शक्तियों के बीच सन्धि समझौते किये गये उनमें से अनेक ऐसे थे जो छोटे राज्यों के मूल्य पर हुए। हिटलर की माँग पर चेकोस्लोवाकिया को समाप्त कर दिया गया और पोलेण्ड को रूस तथा जर्मनी के बीच बाट दिया गया। चैम्बरलेन तथा डालाडीर ने यह सोचा था कि हिटलर के साथ तुष्टीकरण की नीति अपनाकर युद्ध को रोका जा सकता है किन्तु इतिहास साक्षी है कि जब स्थित सन्तुलन को बिगाड़ने वाले राज्य की मांगों को स्वीकार किया जाता है तो वह और अधिक प्रोत्साहित होता है।

अहरव

शक्ति सन्तुलन के सिद्धात के महत्व के सम्बन्ध में लिखते हुए जोराफ फ्रेंकल ने बताया है कि *शक्ति सन्तुलन को मानव जाति के इतिहास में एक* महत्वपूर्ण नवीन क्रांति मानने के अनेक कारण हैं। उनके मतानुसार रोमन साम्राज्य के विध्वंस के बाद यूरोप ने पहली बार कुछ थोड़ा बहुत स्थायित्व प्राप्त किया। यह स्थायित्व ऐसा नहीं था जिसे कि किसी एक प्रभुत्वशाली

द्वारा विजय और सत्ता के आधार पर स्थापित किया गया हो और दूसरे लोग जिसे मन से स्वीकार न करते हो। आधुनिक विचारो एव राष्ट्रवादी शक्तियो के अनुरूप राज्य की नवीन व्यवस्था बहुलवादी बनी। शक्ति सन्तुलन की धारणा ने कुछ बडी शक्तियो को प्रभावित किया और धीरे धीरे यह यूरोप की सीमाओ से भी बाहर निकल गया। इतिहास के आधुनिक काल में पहली बार विश्व के विभिन्न देशो ने यह स्वीकार किया कि शक्ति सन्तुलन का विचार उनके लिए महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के नाम पर राज्यो ने अपनी स्वार्थ साधनाओ को छोड दिया था। वरन् इसके विपरीत राज्य अब भी पहले की भाँति प्रतियोगी एव सन्देहशील बने रहे। इनमे से प्रत्येक अपने व्यवहार का सर्वोच्च निर्णायक था। राज्य इस व्यवस्था के नियमो को तोडने के लिये स्वतन्त्र थे। अन्य पूर्व व्यवस्थाओ की भाति शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था मे भी एक राज्य अपने स्वार्थ की भावना से प्रभावित होकर दूसरो पर विजय पाने के लिये तथा शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था को तोडने के लिए प्रयास कर सकता था।

इतने पर भी शक्ति सन्तुलन की धारणा अपनी पूर्व व्यवस्थाओ की अपेक्षा अधिक विचारपूर्ण एव व्यावहारिक थी। यदि व्यवस्था के सदस्य राज्य इसके नियमो का पालन करने के लिए तैयार न हों तो उन्हे ऐसा करने के लिए बाध्य किया जा सकता था। प्रत्येक राज्य अपने सामान्य हित को ध्यान मे रख कर उन नियमो की रक्षा के प्रति सजग रहता है जिसे कि दूसरो के द्वारा तोडने का प्रयास किया जाता है। जब एक राज्य अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है तो दूसरे राज्य आत्मरक्षा की दृष्टि से मिल जाते हैं। शक्ति सन्तुलन की धारणा ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत मे स्थायित्व की रचना की। प्रथम वेस्ट फेलिया की सन्धि द्वारा प्रदेश का पुनर्वितरण करके सन्तुलन स्थापित किया गया और इस प्रकार स्थायित्व की रचना की। इस सन्धि के बाद कुछ प्रमुख शक्तियो का उदय हुआ जो अपने बीच मे तुल्यभारिता रखने मे समर्थ थी। नेपोलियन के काल के बाद वाले समझौतो का आधार कानूनी औचित्य का बताया गया और इकाइयो मे कोई बडा परिवर्तन नही किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान आटोमन साम्राज्य क्रमश. छिन्न-भिन्न होने लगा किन्तु यह साम्राज्य शक्ति सन्तुलन व्यवस्था के लिए आवश्यक

नही था । जब इटली और जर्मनी के एकीकरण के बाद नई शक्तिशाली इकाइयो का उदय हुआ तो यह व्यवस्था गम्भीररूप से अस्त व्यस्त हो गई ।

शक्ति सतुलन का व्यवस्था को सुरक्षा की प्राप्ति के लिए अपनाया जाता है । यह सिद्धान्त लड़ाई के स्थान पर समझौता करने के लिए अवसर प्रदान करता है । दूसरों की शक्तियो के साथ तुल्यभारिता लाने के लिए अस्थाई सधिया की जाती हैं । जब शक्ति सन्तुलन को चुनौती दी जाती है और उसे शान्तिपूर्ण साधनों से नहीं दबाया जा सकता तो युद्ध छिड़ जाता है। किन्तु यह युद्ध विरोधियो को समाप्त करने के लिए नही लड़ा जाता वरन् हारे हुए राज्य को सभावित भावी मित्र के रूप में बनाने के लिए लड़ा जाता है ।

आलोचना

शक्ति सतुलन सिद्धान्त की आलोचना भी कम नहीं हुई है । कई बार यह दोषारोपण किया जाता है कि यह सिद्धान्त शान्ति एव सुरक्षा की स्थापना के लिए एक प्रभावशाली सूत्र होने की अपेक्षा युद्धों को प्रोत्साहन देने वाला तथा असुरक्षा को बढाने वाला रहा है । वुड्रो विल्सन शक्ति सतुलन के सिद्धान्त की स्पष्ट रूप से आलोचना करते थे । जनवरी, १६१७ मे उन्होने घोषणा की कि अब मानव जाति जीवन की स्वतन्त्रता की तलाश मे है न कि शक्ति के सन्तुलन की तलाश मे । उनके मतानुसार अब शक्ति सतुलन की जरूरत नही है वरन् एक शक्तिपूर्ण समाज की जरूरत है, अब सगठित विरोधियों की जरूरत नही है वरन एक सगठित सामान्य शक्ति की जरूरत है। विल्सन का मत था कि प्रथम विश्वयुद्ध मे भाग लेने वाले लोगों का यह उद्देश्य था कि शक्ति सतुलन को अब और हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहिए । अब राष्ट्रों का कोई एक शक्तिशाली समूह नही होना चाहिये जो कि दूसरे शक्तिशाली समूह के विरुद्ध खड़ा हो किन्तु राष्ट्रो का एक ही शक्तिशाली समूह होना चाहिए जो कि विश्व की शान्ति का सरक्षक बन जाए ।

शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त की अनेक आलोचनाओ के बाद भी प्रोफेसर डी विट सी पूल (De Witt C Poole) जैसे लोगों की यह मान्यता है कि स्वतन्त्रता केवल उस दुनिया मे हो रह सकती है जिसमे कि शक्ति को व्यापक रूप से वितरित एवं संतुलित किया गया है । कुछ सन्देहवादियों का इस सम्बन्ध में मतभेद है कि शक्ति सतुलन को मान्यता ने वास्तविक स्थिति का कभी अभिव्यक्त किया है अथवा नहीं । यह कहा जाता है कि जनसख्या की वृद्धि और आर्थिक तथा तकनीकी परिवर्तन राष्ट्रो की शक्ति स्थिति मे निरन्तर परिवतन लाते रहे हैं और ऐसी स्थिति मे राज्यो के बीच शक्ति सतुलन कैसे स्थापित हो सकता है। प्रत्येक राज्य की नीतियों एव कार्यों को देखने से यह

प्रकट होता है कि हर राज्य अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है जितनी कि अन्य राज्यों के पास नहीं है। ऐसी स्थिति में कोई भी राज्य सन्तुलन की स्थिति को बनाए रखने की खातिर ऐसे कार्यक्रमों को स्वीकार नहीं करेगा जो उसकी शक्ति के स्वाभाविक विकास को रोक दे।

कुछ लेखकों का मत है कि शक्ति सतुलन का नैतिक रूप में विश्लेषण नहीं करना चाहिए। विल्सन तथा अन्य लोगों ने शक्ति सतुलन को एक अनैतिक कार्य माना है। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण उचित नहीं है, क्योंकि राष्ट्रीय शक्ति का अस्तित्व एक तथ्य है और वह एक तथ्य बना रहेगा। चाहे सन्तुलन को नैतिक माना जाए अथवा अनैतिक माना जाए, किन्तु वह तो हर युग में रहेगा। शक्ति सतुलन की व्यवस्था में आने वाले सम्प्रभु राज्यों के निर्णयों को उनके सहयोगियों द्वारा नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। राजनैतिक नेताओं पर अनेक परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है। वे अपने राष्ट्रीय राजनैतिक अन्तरों एव दबाव समूहों द्वारा प्रभावित होते हैं। शक्ति सतुलन की स्थिति में सहयोग करते हुए भी व्यक्तिगत राज्य द्वारा एक विषय की किस तरह से व्याख्या की जाएगी यह बात किसी समस्या विशेष की प्रकृति पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए संयुक्त-राज्य अमेरिका के मित्र राष्ट्र उसकी वियतनामी नीति से सहमत नहीं हैं। शक्ति सतुलन के व्यवहार को प्रयुक्त की जाने वाली शक्ति के राजनैतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक एव सैनिक रूपों द्वारा भी जटिल बना दिया जाता है। एक देश अपने मित्र देश से सैनिक सहायता प्राप्त करने की अपेक्षा आर्थिक सहायता प्राप्त करने में अधिक रुचि ले सकता है। इसी प्रकार कई बार केवल राजनैतिक एव मनोवैज्ञानिक सहयोग ही पर्याप्त होता है। एक राज्य जब अपने मित्र राज्य की सहायता करने का निर्णय लेता है तो उसे अनेक बातों से प्रभावित होना पड़ता है जिनको कि पहले से नहीं देखा जा सकता।

आजकल दुनिया में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं जो कि सतुलन व्यवस्था को पर्याप्त प्रभावित कर रहे हैं। विश्व राजनीति में इस दृष्टि से पहला प्रमुख परिवर्तन राज्यों की शक्ति स्थिति में परिवर्तन है। वैसे आज भी पश्चिमी यूरोप महा शक्तियों का केन्द्र है किन्तु उसके व्यक्तिगत राज्यों के पास आज सर्वाधिक शक्ति नहीं है। सयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत सघ के पास सर्वाधिक निर्णायक शक्ति है। शक्ति के अतिरिक्त केन्द्रों के रूप में चीन, जापान और भारत का उदय हो रहा है। इसके अतिरिक्त अफ्रीका में एक दो राज्य तथा पाकिस्तान, इण्डोनेशिया आदि को भी कुछ महत्व की शक्ति माना जा सकता है। व्यक्तिगत रूप से अनेक छोटे छोटे कमजोर राष्ट्र,

उदाहरण के लिए अफ्रीका राज्य भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में महत्वपूर्ण शक्तियों का प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार शक्ति किसी देश विशेष या महाद्वीप विशेष में नहीं रही है वरन् यह पूरी दुनियां में फैल गई है। शक्तिशाली केन्द्रों की बढ़ोत्तरी ने शक्ति सतुलन व्यवस्था की स्थापना एवं प्रयोग को अत्यन्त जटिल बना दिया है। आज यदि कहीं सतुलन है तो इसका अस्तित्व बहुत कु[redacted] एक सन्तुलनकर्त्ता या नियन्त्रक के हस्तक्षेप पर निर्भर करता है जो कि सतुलन क्षेत्र से बाहर वाला ही कोई होता है।

शक्ति सतुलन की स्थिति पर प्रभाव डालने वाला एक अन्य तत्व आर्थिक विकास है। औद्योगीकरण का प्रसार करने के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत में आर्थिक पर-निर्भरता बढ़ गई है और ऐसी स्थिति में शक्ति सन्तुलन पर आर्थिक तत्व का प्रभाव भी बढ़ गया है। इस दृष्टि से महत्वपूर्ण एक तीसरा विकास राष्ट्रवाद की भावना है जो कि विचारधारा के प्रभाव के साथ मिल कर उल्लेखनीय बन जाता है। आज सचार के व्यापक माध्यमों के द्वारा जनता को सामूहिक रूप से विचारधारा और राष्ट्रवाद के नाम पर प्रभावित किया जा सकता है और इस प्रकार सतुलनकारी व्यवस्था पर पर्याप्त प्रभाव पड़ सकता है। आजकल सचार एवं प्रचार की जो तकनीकें अपनाई जाती हैं, उनके द्वारा विश्व के एक किनारे से दूसरे किनारे तक कम समय में ही बात को पहुँचाया जा सकता है और इसलिए कोई भी राज्य जो थोड़े समय पहले मित्र था, अब शत्रु बन सकता है। क्यूबा [redacted] उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए यह कहा जाता है कि यह बहुत शीघ्र ही संयुक्त राज्य अमरीका के विरुद्ध हो गया। द्वितीय विश्व युद्ध के समय सोवियत रूस तथा पश्चिमी शक्तियां मित्र बन गए किन्तु सामान्य मूल्यों एवं लक्ष्यों के अभाव में यह मित्रता केवल कुछ समय तक ही चली। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका और जापान द्वितीय विश्व युद्ध में परम शत्रु थे, किन्तु सन् १९५० के बाद वे परम मित्र बन गए। शक्ति सतुलन की व्यवस्था के लिए आत्म-समायोजन का तत्व बहुत जरूरी होता है और आजकल की परिस्थितियों में यह अत्यन्त जटिल बन गया है तथा इसकी पहले से कल्पना नहीं की जा सकती। आज सोवियत संघ और चीन के बीच पर्याप्त संघर्ष है। दूसरी ओर फ्रांस की नीतियों ने पश्चिमी शक्तियों की एकता तथा ठोसपन को कमजोर कर दिया है। इस प्रकार दोनों पक्षों के बीच सन्तुलन की स्थापना हो गई है। आजकल असलग्न देशों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। इन देशों के विकास ने सतुलन की व्यवस्था में अनिश्चय का एक अन्य तत्व जोड़ दिया है जो कि उन्नीसवीं शताब्दी में नहीं था। आजकल सम्प्रभु राज्यों के उदय, विचारधारागत विभिन्नतायें,

क्षेत्रीय एकीकरण की प्रवृत्ति, आदि ने शक्ति सन्तुलन की प्रकृति, प्रसार व अस्तित्व को विवादास्पद बना दिया है।

शक्ति सतुलन का वर्तमान रूप

(The Modern Picture of Balance of Power)

आज की बदली हुई परिस्थितियो मे शक्ति सतुलन की व्यवस्था मुश्किल पड़ गई है। विलसन ने तो इसे सिद्धान्त रूप मे ही आलोचित किया था किन्तु दूसरे विचारक इसे समय के परिवर्तन के कारण अव्यावहारिक बताते हैं। विल्सन का विचार था कि शक्ति सतुलन की व्यवस्था प्रजातन्त्र के लिए घातक थी, मानवतावाद के लिए अभिशाप थी, तथा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता आदि के विपरीत थी। आज शक्ति सतुलन के सिद्धान्त की क्या स्थिति है इसका अध्ययन करते हुए पामर तथा परकिन्स ने बताया है कि "वर्तमान विश्व की परिस्थितिया शक्ति संतुलन की व्यवस्था के लिए विशेषत अनुकूल नही है, किन्तु फिर भी यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का एक प्रभावकारी रूप है और अभी तक इसका कोई प्रभावशाली विकल्प (Effective substitute) नही बन पाया है।"

शक्ति सतुलन ने सबसे अच्छा कार्य तभी किया था जबकि अनेक राज्य लगभग समान शक्ति वाले थे। फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद जब शक्ति सतुलन योरोप की सीमाओ से निकल कर विश्वव्यापी बन गया तो राष्ट्रो के बीच सतुलन स्थापित करने वाली परिस्थितिया उतनी उपयुक्त न रह गयी। वर्तमान युग मे अनेक विकास ऐसे हुए जिनके कारण शक्ति सतुलन एक ही साथ अत्यधिक सहज तथा कठिन नीति बन गया है। इनमे से उल्लेखनीय इस प्रकार है—राष्ट्रवाद, औद्योगीकरण, प्रजातन्त्र, शिक्षा का प्रसार, युद्ध के नये तरीके व तकनीक, लोकमत का बढ़ता हुआ महत्व, अन्तर्राष्ट्रीय कानून व सगठन में विकास, राष्ट्रो की बढ़ती हुई आर्थिक परनिर्भरता, उपनिवेशों का अन्त आदि। क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने बीसवीं शताब्दी के उन परिवर्तनों का अध्ययन किया है जो शक्ति सतुलन के व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। वे मुख्यत ऐसी चार परिस्थितियों का वर्णन करते हैं—

१ विश्व स्पष्टत दो गुटो मे बट गया है तथा अब व्यवस्था का कोई सतुलनकर्त्ता (balancer) नहीं है।

२ आज युद्ध का रूप भयावह हो गया है तथा इसने सम्पूर्ण युद्ध (Total war) का रूप धारण कर लिया है जिसके विध्वसक परिणामो को देख कर कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति या राष्ट्र सतुलन स्थापित करने की खातिर युद्ध का सहारा नही ले सकता।

३ विचारधाराओं (ideologies) तथा शक्ति के दूसरे कम व्यक्त (less tangible) तत्वों का महत्व बढ़ता जा रहा है।

४ राज्यों की शक्ति के बीच भारी अन्तर पड़ता जा रहा है। उच्च शक्ति अधिक शक्तिशाली तथा कमजोर राष्ट्र सापेक्ष रूप में अधिक कमजोर बनते जा रहे हैं।[1] राइट के कथनानुसार स्थिरता के उस तरीके पर (शक्ति सन्तुलन पर) निर्भर करता एवं अविश्वासी मनुष्य पर निर्भर रहने के समान है।[2]

Imp

सामूहिक सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा
(Collctcive Security and Peaceful Settlement of International Disputes)

अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति को मर्यादित करने का एक दूसरा साधन सामूहिक सुरक्षा है जिसमें विभिन्न राष्ट्र सामूहिक रूप से मिल कर सम्भावित आक्रमणकारी का विरोध करने के लिए तैयार हो जाते हैं। शक्ति सन्तुलन की व्यवस्था में जो सन्धियां की जाती हैं उनका लक्ष्य एक देश या कुछ देशों के गुट का विरोध करना, उन पर आक्रमण करना या उनके आक्रमण से अपनी रक्षा करना होता है किन्तु सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था में विरोधी अस्पष्ट एवं सम्भावित होता है। इस प्रकार की सन्धि में यह व्यवस्था होती है कि किसी भी एक इकाई पर आने वाला संकट या आक्रमण सन्धिबद्ध सभी इकाइयों के विरुद्ध आक्रमण समझा जाता है और सामूहिक रूप से ही उसका विरोध किया जाता है। इस अवस्था को शान्तिपूर्ण एवं शान्ति का अभिवर्धक माना जाता है। क्लाड (Claude) के मतानुसार यदि केन्द्रीकरण की दृष्टि से देखा जाय तो हम पायेंगे कि सामूहिक सुरक्षा बीच की व्यवस्था है। इसमें शक्ति सन्तुलन से अधिक केन्द्रीकृत प्रबन्ध होता है किन्तु विश्व सरकार की मान्यता से यह कम रहता है।[3]

सामूहिक सुरक्षा का अर्थ
(The Meaning of Collective Security)

सामूहिक सुरक्षा जैसा कि शब्दों से ही प्रकट होता है, देशों द्वारा सुरक्षा

1. *Quincy Wright* A study of war, II,P P 760,766,859,860
2. *Quincy Wright*, cited by I L Claude in Power and International Relations, P 86
3. *I L Claude*, Power and International Relations, P 94

के लिए किये गये सामूहिक प्रयत्नों से सम्बन्धित है। इसे परिभाषित करते हुए जान स्वर्जेन बर्गर (John Schwarzen Berger) ने इसे एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध आक्रमण को रोकने या प्रतिक्रिया करने के लिए किए गये सम्मिलित कार्यों की मशीनरी कहा है। समय-समय पर साम्राज्यवादी महात्वाकांक्षी एवं युद्धप्रिय देशों द्वारा विश्व-शान्ति को चुनौतियाँ दी जाती रही हैं। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था यह प्रयत्न करती है कि इस प्रकार की चुनौतियों को रोकने व सामना करने के लिए सभी देश सामूहिक रूप से कार्य करें। आज की बदली हुई परिस्थितियों में यह व्यवस्था अपरिहार्य बन गई है। कुछ विचारकों के मतानुसार सुरक्षा प्राप्त करने के लिए दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है। कहा जाता है कि सामूहिक सुरक्षा का विरोधी है असुरक्षा। राष्ट्रों द्वारा मिल कर किया गया प्रत्येक कार्य सामूहिक सुरक्षा नहीं माना जा सकता।

सामूहिक सुरक्षा की किसी भी व्यवस्था को प्रभावपूर्ण तथा लाभदायक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके पास पर्याप्त शक्ति हो ताकि वह आक्रमणकारी राज्य का मुकाबला कर सके। एकता में शक्ति होती है किन्तु राष्ट्रों की एकता सच्चे अर्थों में तभी मानी जायगी जबकि सभी राष्ट्र अपनी शक्ति का प्रयोग सामूहिक लाभ के करने को तैयार रहें। शक्ति के अभाव में एकता केवल कागजी रह जायगी तथा सामूहिक सुरक्षा का कोई प्रभाव ही न रहेगा। शक्तियुक्त एकता का विरोध करने से पूर्व एक आक्रमणकारी राज्य भली प्रकार सोच विचार लेगा। स्टेनले बाल्डविन (Stanle) Baldwin) के मतानुसार सामूहिक सुरक्षा तब तक कार्य नहीं कर सकती जब तक कि इसमें भाग लेने वाले सभी राष्ट्र आवश्यकतानुसार आक्रमणकारी को प्रतिबन्धों की धमकी देने तथा लड़ने के लिए एक साथ तैयार न हो जायें। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में प्रत्येक देश को अपनी सम्प्रभुता को सीमित करना पड़ता है। व्यक्तिगत राष्ट्रीय संकल्प (National will) का सामूहिक निर्णय के लिए समर्पण (Submission) कर दिया जाता है। सफल सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में सैनिक शक्तियों तथा प्रमुख हथियारों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखना आवश्यक बन जाता है। संकट के समय सभी इकाइयां एकमत से सहयोगी बन कर कार्य करें तथा सभी या अधिक से अधिक बड़ी शक्तियां इसके सदस्य बन जायें। सामूहिक सुरक्षा केवल सन्धि मात्र नहीं है इसका लक्ष्य सिर्फ एक सामान्य शत्रु या आक्रमणकारी की चुनौती का सामना करना ही नहीं वरन् इससे भी आगे यह इकाइयों के विकास को विधायी पक्ष द्वारा भी प्रभावित करती है।

सामूहिक सुरक्षा के विचार का विकास
(Development of the Collective Security Idea)

सामूहिक सुरक्षा को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लाने व लोकप्रिय बनाने का श्रेय बहुत कुछ अमरीकन राष्ट्रपति वुडरो विलसन (Woodrow Wilson) को दिया जाता है। किन्तु सामूहिक सुरक्षा की मान्यता (Concept) का न तो वह आविष्कारक था और न सारी व्याख्यायें व स्पष्टीकरण ही उसकी ओर से दिये गये थे। इस विचार का प्रारम्भ सत्रहवीं शताब्दी की आस्नेब्रिक (Osnabrick) की सन्धि में पाया जाता है जिसके सत्रहवें अनुच्छेद में सम्भावित शत्रु के विरुद्ध सामूहिक कदम उठाने की बात कही गई है। विलियम पेन (William Penn) तथा विलियम पिट (William Pitt) ने भी इस पर अपने विचार रखे। १९१० में थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) ने बताया कि शान्तिप्रिय बड़ी शक्तियां एक शान्ति संघ (League of Peace) बना लें जिससे न केवल उनके बीच ही शान्ति रहे किन्तु किसी दूसरे राष्ट्र द्वारा उसे तोड़े जाने की भी यदि आवश्यकता हो तो शक्ति द्वारा भी रोका जा सके। अमेरिका में शान्ति स्थापना करने वाले संघ में अनेक बुद्धिशील तथा प्रमुख राजनीतिज्ञ शामिल थे। इसने विश्व संगठन का समर्थन किया और कहा कि इस संगठन में अमेरिका को शक्तिपूर्ण साधनों से भी शान्ति स्थापित करने को सम्मिलित होना चाहिए। पेरिस में राष्ट्रसंघ के निर्माण के लिए जो समझौते किये गये उनमें सामूहिक सुरक्षा की मान्यता को नई व्यवस्था का आधार बना दिया गया। राष्ट्रसंघ आयोग की पांचवीं बैठक में संघ के नियमों के सोलहवें अनुच्छेद को बिना अधिक वाद-विवाद के स्वीकार कर लिया गया। मिलर (Miller) ने लिखा है कि प्रतिबन्धों (Sanctions) के प्रमुख सिद्धान्तों को सर्वसम्मति से मान लिया गया, मूल प्रश्नों के बारे में भी कोई विचार-विमर्श नहीं किया गया। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा के विचार को व्यवहार में आने से पूर्व विकास के विभिन्न स्तरों से गुजरना पड़ा।

सामूहिक सुरक्षा और शक्ति सन्तुलन
(Collective Security and Balance of Power)

सामूहिक सुरक्षा को प्रायः शक्ति सन्तुलन का विकल्प माना जाता है। सामूहिक सुरक्षा के व्यावहारिक रूप के जनक विलसन ने अपने विचारों का प्रतिपादन शक्ति सन्तुलन के विरोध में किया था। वे मानते थे कि शक्ति सन्तुलन में राष्ट्र प्रतियोगितापूर्ण सन्धियों में बद्ध हो जाता है तथा विवशकारी शक्ति (Coercion) का प्रयोग राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं को तथा स्वार्थपूर्ण

लक्ष्यों को पूरा करने के लिये किया जाता है जबकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में देशों के सहयोग का अर्थ होता है सभी को न्याय एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना तथा जिसमें विश्वकारी शक्ति का प्रयोग सामान्य शान्ति की स्थापना के लिए किया जाता है। क्लाड (I. L. Claude) ने लिखा है कि "विलसन से लेकर आज तक सामूहिक सुरक्षा के सभी समर्थक इसे शक्ति सन्तुलन से भिन्नता दिखाते हुए परिभाषित करते रहे हैं।"[1]

विभिन्नतायें
(The Differences)

शक्ति सतुलन एव सामूहिक सुरक्षा की मान्यताओं के बीच कुछ अन्तर है जो मुख्यतः निम्न प्रकार हैं :—

१ सामूहिक सुरक्षा एक सामान्य सन्धि (Universal alliance) है जो प्रतियोगी सन्धियों (Competitive alliances) से भिन्न है जिनको शक्ति सतुलन की विशेषता माना जाता है। कार्डेल हल (Cordell Hull) ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के बारे में लिखा है कि यह कुछ संगठित राष्ट्रों के विरुद्ध सन्धि नहीं है वरन् प्रत्येक आक्रमणकारी के विरुद्ध है। यह सन्धि युद्ध के लिए नहीं वरन् शान्ति के लिए है।[2] यह कथन दोनों मान्यताओं के मूल अतर को स्पष्ट करता है।

२. शक्ति सतुलन की मान्यता दो या दो से अधिक विरोधी गुटों की कल्पना करके चलती है जो परस्पर संघर्षशील प्रकृति के हैं किन्तु सामूहिक सुरक्षा की मान्यता 'एक विश्व' (One World) है जो सहयोग के आधार पर व्यवस्था का निर्माण करने के लिए संगठित होती है।

३. यद्यपि दोनों मान्यताएं संघर्ष व सहयोग को अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के मूलतत्व मानती हैं तथा संघर्ष का मुकाबला करने के लिए सहयोग की सिफारिश करती हैं, किन्तु शक्ति सतुलन व्यवस्था के निर्माण के लिए संघर्षपूर्ण सहयोग चाहता है जबकि सामूहिक सुरक्षा संघर्ष को प्रतिबन्धित रखने के लिए सामान्य सहयोग पर बल देती है।

४. शक्ति सतुलन कुछ सीमित गुटबन्दी करके ही आक्रमणकारी का विरोध करता है तथा यह मानता है कि संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सर्वकालीन विशेषता है किन्तु सामूहिक सुरक्षा सामान्य सहयोग के आधार पर आक्रमणकारी का मुकाबला करने को तैयार रहती है तथा यह मानती है कि आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर केवल अपवाद है, नियम नहीं।

1. I. L. Claude, Power and International Relations P 111.
2 The Memoirs of Cordell Hull, II, 1948

५. सामूहिक सुरक्षा यह मान कर चलती है कि किसी भी राष्ट्र द्वारा किसी भी राष्ट्र पर कभी भी किया गया आक्रमण विश्व-शांति के लिये खतरा है और इसका विरोध करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को कटिबद्ध हो जाना चाहिये किन्तु शक्ति सतुलन की मान्यता इससे भिन्न है। इसमें एक राष्ट्र पर आक्रमण होने के समय दूसरी सहयोगी इकाइयां उसका मुकाबला करने में तभी साथ देगी जबकि वह उनके हितों से मेल रखता हो। यदि एक राष्ट्र का राष्ट्रीय हित उस आक्रमण से प्रभावित नहीं होता तो वह युद्ध में भाग लेने से विमुख हो सकता है।

६ इस प्रकार सतुलन व्यवस्था व्यवहारवादी (Pragmatic) है तथा एक राष्ट्र को आक्रमण का विरोध करने की केवल तभी सलाह देती है जब तक आक्रमण उसकी स्वय की सुरक्षा के लिए घातक हो। किन्तु सामूहिक सुरक्षा की मान्यता में कुछ सैद्धांतिक पुट अधिक प्रभावशील है क्योंकि यह राज्य को सदैव आक्रमण का विरोध करने को कहता है, कारण यह है कि उसका हित आक्रमण से प्रभावित हुए बिना नही रह सकता।

७. शक्ति सतुलन व्यवस्था बहुत अस्त-व्यस्त होती है। यह स्वायत्त, एव स्वनिर्देशित अनेक राज्यों से मिलकर बनती है जिसमें थोड़े ही बड़े राज्य होते हैं किन्तु सामूहिक सुरक्षा में एक व्यवस्था बनाने का प्रयास किया जाता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक सगठनात्मक रूप देने की कोशिश की जाती है।

क्विन्सी राइट के मतानुसार सामूहिक सुरक्षा व शक्ति सतुलन के बीच वही अन्तर है जो कि कला (Art) और प्रकृति (Nature) के बीच होता है।

समानताएं
(The Similarities)

शक्ति सतुलन व सामूहिक सुरक्षा की मान्यताओं के बीच स्थित उक्त अन्तरों के अतिरिक्त कुछ समानताएं भी हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

१. कहा जाता है कि शक्ति सतुलन की योजना का आधार दूसरे पक्ष की आक्रमणकारी सामर्थ्य (Aggressive capacity) है जबकि सामूहिक सुरक्षा आक्रमणकारी नीति पर अधिक ध्यान देती है। यह आंशिक सत्य है क्योंकि शक्ति सतुलन में दूसरे पक्ष की केवल आक्रमणकारी सामर्थ्य पर ही ध्यान नहीं दिया जाता वरन आक्रमणकारी नीति को भी देखा जाता है।

२ दोनों मान्यताए प्रतिरोध (detterrence) के सिद्धात की भूमि पर आरूढ है। शक्ति सतुलन मे अपने को इतना शक्तिशाली बनाया जाता है कि विरोधी मुह न उठा सके, सामूहिक सुरक्षा में भी शक्ति का एकीकरण कर आक्रमणकारी की महत्वाकाक्षाओ पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है।

३ शक्ति सतुलन का आधार तुल्यभारिता तथा सामूहिक सुरक्षा का आधार प्रबलता (Preponderance) माना जाता है किन्तु असल मे तुल्यभारिता का रूप भी निश्चित नही है। शक्ति सतुलन की व्यवस्था म भी कोई पक्ष किसी देश से यह नही कहता कि दूसरा पक्ष कमजोर है अत सतुलन की स्थापनार्थ वह उसी के साथ मिल जाय। इस प्रकार दोनो मान्यताओ के बीच वास्तविक अन्तर बहुत कम है।

४. दोनो ही व्यवस्थाए 'शाति के लिए युद्ध' (War for Peace) में विश्वास रखते हैं तथा कहते हैं कि शाति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि लडने की इच्छा पैदा करने की सामर्थ्य का विकास किया जाय।

५ दोनों ही राज्यो के सामूहिक सहयोग मे विश्वास करते हैं यद्यपि आक्रमणकारी या शाति को चुनौती देने वाला स्पष्ट नही है।

६ दोनों मान्यताओ की समानता उन आधारभूत परिस्थितियों के आधार पर भी बताई जा सकती है जो कि दोनो ही व्यवस्थाओ के सफल व्यवहार के लिए आवश्यक मानी जाती है। उदाहरण के लिए दोनो मे शक्ति का फैलाव (diffusion) इतना किया जाता है कि कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र या पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को खतरा न पहुँचा सके। दुनिया का दो गुटो में बट जाना (bipolarity) दोनो ही मान्यताओ व सफल सचालन के लिए घातक है। दोनो मे लचीली नीति (Flexible policy) अपनाई जाती है ताकि आवश्यकतानुसार पुराने शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु की तरह देखा जा सके। प्रजातन्त्र के इस युग मे दोनो ही मान्यतायें लोकमत का समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। दोनो की स्थापना प्राय एक सी दुनिया में किया जाता है। विश्व के जिन परिवर्तनो ने शक्तिशाली सतुलन के मार्ग मे बाधा डाली है वे सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के सफल सचालन में भी बाधक हैं। एडवार्ड वी गुलिक (Edward V Gulick) के मतानुसार शक्ति सतुलन का विकास हुआ है। सधि (alliance), सम्मिलन (Coalition), तथा सामूहिक सुरक्षा (Collective security), इसके विकास क्रम के सोपान हैं। क्लाड (I L. Claude) का कहना है कि निष्कर्ष रूप मे अनेक विचारकों ने यह माना है कि सामूहिक सुरक्षा को शक्ति

संतुलन का एक परिवर्धित संस्करण मानना चाहिए न कि पूरी तरह से भिन्न और शक्ति संतुलन का विकल्प।[1] शक्ति संतुलन के सिद्धान्त की मान्यतायें सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त की पूरक हैं।

सामूहिक सुरक्षा और राष्ट्रसंघ
(Collective Security and League of Nations)

सामूहिक सुरक्षा की मान्यता ने राष्ट्रसंघ के रूप में प्रथम बार संगठनात्मक रूप धारण किया। यही कारण है कि राष्ट्रसंघ को कभी कभी सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का संस्थात्मक अभिव्यक्तिकरण भी कह दिया जाता है। राष्ट्रसंघ के निर्माताओं का यह विश्वास था कि वे दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध कुछ राष्ट्रों का एक संगठन बनाने नहीं जा रहे हैं, किन्तु सामान्य हित के लिए जितने सम्भव हो उतने राष्ट्रों का एक संघ बनाने जा रहे थे। आर्थर लिंक (Arthur S Link) के मतानुसार[2] सभी उदारवादी यह चाहते थे कि संधियों का जाल, शक्ति संतुलन और गुप्त कूटनीति की व्यवस्थायें, जिनके कारण युद्ध अपरिहार्य बन जाता है, समाप्त कर दी जानी चाहिए। पुराने तरीके के स्थान पर उन्होंने शान्ति के लिए शक्ति के मेल (Concert of power) का प्रस्ताव किया। अनेक संगठनात्मक एवं व्यावहारिक कारणों से राष्ट्रसंघ के अधीन सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर पाया। कई बड़ी शक्तियां इसकी सदस्य न बनीं और जो इसके सदस्य थे वे सामूहिक सुरक्षा के कोई खास प्रतिपादक नहीं थे। वे किसी राज्य के विरुद्ध अपनी सुरक्षा के लिए चिन्तित थे न कि सामूहिक सुरक्षा के लिए। संघ के नियम के अनुच्छेद १६ के अधीन सदस्य राज्य सामूहिक सुरक्षा के लिए कुछ कदम उठाने को संधि बद्ध थे किन्तु यह अनुच्छेद कभी क्रियान्वित नहीं किया गया। पामर तथा परकिन्स के शब्दों में संघ के सदस्यों द्वारा इसके अर्थों की एकपक्षीय व्याख्याएं की गयी तथा विवाद बातें बनाने के और कुछ नहीं किया गया। फलतः अनुच्छेद की आत्मा उससे पृथक हो गई। अपने जन्म के प्रारम्भिक वर्षों में संघ द्वारा कुछ समस्याओं को सुलझाया गया। किन्तु बड़ी व महत्वपूर्ण समस्या पर विचार करते समय बड़ी शक्तियों द्वारा इसके नियमों (Covenant) पर आघात किए गए। १६३१–३२ में मंचूरिया के संकट से लेकर हिटलर के आक्रमणों की शृंखला तक अर्थात् द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक प्रभावशाली सामूहिक सुरक्षा के अभाव में एक के बाद एक अन्तर्राष्ट्रीय डकैती से पूर्ण काय होते रहे। संघ की असमर्थता एवं शक्तिहीनता

1. Claude, I L Power and International Relations, P. 132
2 Wilson the Diplomatist, P 92

१९३५-३६ के इटली के इथोपिया के आक्रमण के समय पूरी तरह ज्ञात हो गई थी। यह मामला उसकी परीक्षा का प्रतीक था जिसमे वह असफल हो गई।

राष्ट्रसंघ की असफलता का प्रमुख कारण इसके सदस्यों का असंलग्नता पूर्ण दृष्टिकोण था। मार्च १९३९ में स्टालिन (Stalin) ने कहा था कि आक्रमणकारी राज्य मुख्यत इङ्गलैन्ड, फ्रांस तथा अमेरिका ने सामूहिक सुरक्षा की नीति को अनाक्रमणकारी का सामूहिक विरोध करने की नीति को त्याग दिया और असंलग्नता की तथा निरपेक्षता की नीति अपना ली। इस नीति का अर्थ था आक्रमणकारी को प्रोत्साहन देना, उसे स्वतन्त्रता देना और इस प्रकार युद्ध को विश्व-युद्ध बना देना। क्लाड (I. L. Claude), का विचार है कि जाने या अनजाने दुनियां के राज्यों ने सामूहिक सुरक्षा को मशीन राष्ट्र संघ के दोषों को कम करने की अपेक्षा और अधिक बढ़ाया। अन्तर्राष्ट्रीय सामुदाय को सामूहिक सुरक्षा के वे फल प्राप्त न हो सके जिनकी कल्पना की गई थी। सामूहिक सुरक्षा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की प्रकृति के कारण नही वरन् राष्ट्रीय नीतियों के कारण असफल हो गई।

सामूहिक सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र संघ
(Collective Security and U. N. O.)

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ (League of Nations) के चोले को छोड कर सामूहिक सुरक्षा ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप मे पुनर्जन्म धारण किया। इस बार सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की ओर विश्व के अधिकांश देश जागरूक थे। अणुबम जैसे अनेक विकासो ने तृतीय विश्व युद्ध के परिणामों को स्पष्ट कर दिया था और कोई भी राष्ट्र मानव सभ्यता को मिटाने की अपेक्षा विश्व शान्ति की स्थापना में अधिक रुचि [redacted] रहा था। विश्व की जनता भी अब जागरूक हो चुकी थी। जोसेफ बेच (Joseph Bech) के मतानुसार जनता अपने शासकों को माफ नही करती, यदि वे पुन पुरानी शक्ति सतुलन की नीति का अपना लेते। क्योंकि इस नीति द्वारा शस्त्रों की दौड़ शुरु होती है जो कि दूसरे युद्ध पर जाकर ही रुकेगी। अनेक विचारकों का मत था कि सान फ्रांसिस्को में वे सामूहिक सुरक्षा की स्थापना के लिए खडे हुए हैं। इसका अर्थ है विश्व सगठन शक्ति द्वारा भी शान्ति की स्थापना कर सकता है और करेगा। चार्टर के बारे में बोलते हुए जनरल स्मट्स (Jan C Smuts) ने कहा था कि आक्रमणकारी के विरुद्ध शान्ति-प्रिय देश के सगठित मंच के लिए, बड़ी तथा छोटी शक्तियों के सगठित मंच के लिए यह दोनो के साथ शान्ति प्रदान करती है। तथा यह शान्ति

की सगठित सेनाओ के लिए केन्द्रीय सगठन और निर्देशन प्रदान करती है। इस कथन का अर्थ यही है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के रूप में जब सामूहिक सुरक्षा का अवतरण हुआ तो उसकी कई विशेषताएं थी, वह शान्तिप्रिय देशो का सगठन है, उसमे बडी व छोटी दोनो ही शक्तियां हिस्सेदार हैं, यह शान्ति सेनाओ का एक केन्द्रीय सगठन है तथा यह ताकत (Teeth) से भी शान्ति स्थापित कर सकता है। महासचिव ट्रिग्वे ली (Trygve Lie) के शब्दो मे सयुक्त राष्ट्रो की शान्ति की सडक सशस्त्र आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा की माग करती है। वह हमे प्राप्त करनी चाहिए और मेरा विश्वास है कि हम प्राप्त करके रहेगे। शान्ति के लिए एकीकरण की योजना (Uniting for peace plan) पर बोलते हुए कनाडा के प्रतिनिधि ने कहा था कि हम सामूहिक सुरक्षा को सगठित करने की दिशा मे एक नया कदम उठा रहे हैं जो कि हमारा लक्ष्य (Goal) है।

सयुक्त राष्ट्रसघ के जन्म के बाद उसकी परीक्षा की घडी प्रथम बार १९५० मे आई जबकि सारे विश्व की आख कोरिया के युद्ध पर जमी हुई थी। यह एक अवसर था जबकि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को प्रभावशील बनाया जा सकता था। दक्षिण कोरिया पर साम्यवादी आक्रमण के समय संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा कृत एवं प्रभावित सामूहिक सैनिक कदम उठाया गया, औपचारिक रूप से यह सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा प्रेरित था और सगठन के बहुमत द्वारा या निष्क्रिय रूप से समर्थित भी था। सयुक्त राष्ट्रसघ के झडे के नीचे किया गया सगठित कार्य व्यवहार मैं सामूहिक सुरक्षा के प्रयास का पूर्ण चित्रण है। कई विचारको के मत से यह कदम उस सकल्प का क्रियान्वित रूप था जो कि सान फ्रासिस्को मे लिया गया था। दूसरी ओर कुछ विचारकों का मत यह भी है कि कोरिया के सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्र सघ का जो कार्य था उसके आधार पर यह नही कहा जा सकता कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था ने अपने उत्तरदायित्व को पूरा किया था। इन अनुभवो के आधार पर पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "सयुक्त राष्ट्रसघ अपनी प्रकृति के कारण वास्तविक सामूहिक सुरक्षा का प्रभावशील साधन न तो कभी था, न है और न भविष्य में ही कभी हो सकता है।" वुल्फर्स (Wolfers) का भी कुछ ऐसा ही मत है। वे यह मानते हैं कि कोरिया मे सामूहिक सुरक्षा का सही रूप नही निखर पाया था। यहा सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अनुसार होना तो यह चाहिए था कि आक्रमणकारी को सजा देने या प्रतिरोध करने के लिए किसी भी आक्रमणकारी के विरुद्ध वही भी लडा जाता, किन्तु इसके स्थान पर सामूहिक सैनिक शक्ति का प्रयोग केवल

अमरीका के प्रबल शत्रु के विरुद्ध किया गया था। इन दोनों विचारकों के बीच का विचार अमरीका के तत्कालीन राज्य सचिव (Secretary of State) एचेसन (Acheson) का था जो यह मानते थे कि कोरिया की समस्या को हमें सामूहिक सुरक्षा का अन्तिम धर्म युद्ध (Final Crusade) नहीं मान लेना चाहिए। वैसे कोरिया (Korea) के युद्ध ने भी संयुक्त राष्ट्रसंघ को कुछ अनुभव प्रदान किए तथा सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया। यह इसी अनुभव का परिणाम था कि महासभा द्वारा शान्ति के लिए एकीकरण का प्रस्ताव (Uniting for peace) पास किया गया था। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा उठाये गये इस प्रस्ताव द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को अधिक शक्तिशाली बनाया गया। उरुग्वे (Uruguay) के प्रतिनिधि का मत था कि कोरिया के अनुभव से हम काफी लाभान्वित हुए हैं तथा इसके व्यवहार को एक व्यावहारिक, यथार्थवादी और विश्वव्यापी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का निर्माण करने के लिए काम में लाया गया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख संगठन सुरक्षा परिषद (Security Council) में निषेधाधिकार (Veto) की व्यवस्था को सामूहिक सुरक्षा के विपरीत तथा उसका एक कलंक माना जाता है। यह कहा जाता है कि जब तक यह व्यवस्था है तब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी बड़ी शक्ति के विरुद्ध कोई कदम उठाने में असमर्थ बन जायगा। यह केवल छोटी शक्तियों के विरुद्ध ही कार्यवाही कर पायेगा। किन्तु सत्य तो यह है कि शक्तिशाली राष्ट्र ही प्रायः आक्रमणकारी होता है और ऐसे आक्रमण के विरुद्ध कदम उठाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ अनुमति न देगा। कहा गया है कि निषेधाधिकार के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ एक ऐसी व्यवस्था बन गया है जिसमें चूहों को पकड़ा जा सकता है किन्तु शेरों को नहीं रोका जा सकता। निषेधाधिकार ने सामान्य सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। दूसरी ओर फॉक्स (T R Fox) जैसे भी विद्वान हैं जो यह मानते हैं कि इससे छोटे राष्ट्रों को यह आश्वासन प्राप्त हो जाता है कि इसके कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ बड़ी शक्तियों के गुट के किसी दूसरी बड़ी शक्ति के विरुद्ध युद्ध का समर्थन न करेगी। भारत का भी इस सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही विचार है।

सामूहिक सुरक्षा और क्षेत्रीय संधियाँ
(Collective Security and Regional Alliances)

विश्व का दो गुटों में बट जाना सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के भाग्य-चन्द्र राहु के समान सिद्ध हुआ। शीत युद्ध के दाव-पेचों तथा घेरे बन्दी के

परिणामस्वरूप साम्यवादी और पूँजीवादी गुटों द्वारा सन्धि-संगठनो का निर्माण किया जाने लगा। विचारकों के एक पक्ष की यह मान्यता रही और आज भी है कि इन क्षेत्रीय संगठनो के आधार पर सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को अधिक सुदृढ तथा लोकप्रिय बनाया जा सकता है तो दूसरे पक्ष वालो का मत है इन सन्धियो का आधार गुट-बन्दी होता है और इन्हें कोई स्थान नही दिया जाना चाहिए। क्योकि ये शान्ति और सुरक्षा को नहीं वरन् युद्ध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। इनके विचार मे क्षेत्रीय सन्धियो अथवा प्रादेशिक संगठनो और समझौतो से आस लगाने की कल्पना करना आकाश कुसुम की भांति निराधार और मृग-मरीचिका की भांति भ्रामक है।

क्षेत्रीय सन्धियो को चाहे अनेक राजनीतिज्ञो और शान्तिवादियों ने अनुचित बताया, लेकिन इनका विकास होता ही गया। द्वितीय महायुद्ध के मध्य-वर्ती काल मे क्षेत्रीय संगठनो और समझौतो का बडी संख्या मे निर्माण किया गया। बहुत कुछ इन्ही के कारण राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा की स्थापना मे असफल हुआ और वह उन राज्यों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नही कर सका जिन्होंने आक्रान्ता रूप धारण किया।

जब द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई तो उसके चार्टर मे भी प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय संगठनो और समझौतो सम्बन्धी उपबन्ध रखे गये। वस्तुतः अधिकांश अमेरिकन और पश्चिमी राजनीतिज्ञों तथा सैन्य-विशारदो के लिए यह चिन्ता का विषय था कि 'रूसी दानव' यूरोप मे लौह आवरण' (Iron curtain) के पूर्व [redacted] उद्दण्डतापूर्वक विचर रहा था और उसका प्रभाव सारे यूरोप पर पड रहा था। पामर और परकिन्स ने लिखा है—"यह तो अटकल लगाने की बात थी कि रूसी सेनायें कुछ ही दिनो, सप्ताहों अथवा महिनों मे इंगलिश चैनल तथा अटलान्टिक सागर तक पहुंच सकती हैं अथवा नहीं, परन्तु यह निश्चित था कि 'पूर्व' (अर्थात रूस) की ओर से हवाई आक्रमण के मार्ग में कोई भौगोलिक अथवा सैनिक बाधायें नही थी।"

चूंकि राजनीतिज्ञो का बहुमत और अधिकांश राज्य यह नही चाहते थे कि आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के ५ स्थायी सदस्यो के हाथ मे ही कार्यवाही करने का अधिकार रहे, अतः उन्होंने अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय संगठनो को बनाने के सिद्धान्त का समर्थन किया और इसी बात को सामने रखते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर मे उपयुक्त व्यवस्था की।

(

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर की व्यवस्थाओं में यही घोषणा की गई कि क्षेत्रीय संगठन और समझौते विश्व संगठन के उद्देश्यों का परित्याग न करते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होंगे, परन्तु विश्व की महाशक्तियों ने इस आड़ में अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का खेल खेला। परिणामत विगत १५–२० वर्षों में क्षेत्रीय सन्धियों और संगठनों की बाढ़ सी आ चुकी है जिनसे विश्व शान्ति और सामूहिक सुरक्षा की समस्या सुलझाने के स्थान पर उलझ रही है। इन संगठनों और समझौतों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को उत्पन्न किया है, तनाव को बढ़ाया है और संयुक्त राष्ट्रसंघ के महत्व को घटाया है। कुछ प्रमुख प्रादेशिक संगठन और समझौते (Regional Alliances) ये हैं—ब्रूसेल्स सन्धि संगठन, नाटो, वारसा पैक्ट, केन्द्रीय सन्धि संगठन (सेंटो), दक्षिण-पूर्वी-एशिया-सन्धि संगठन (सीटो) आदि। यथार्थत क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक सन्धियों और संगठनों का क्रम सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की अपेक्षा शक्ति-सन्तुलन की मान्यता के अधिक निकट है।

एक मूल्यांकन
(An evaluation)

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की, एकता में ही शक्ति है, सारे विश्व का हित एक है, विश्व युद्ध मनुष्य सभ्यता को अतीत की गाथा बना देगा आदि। कुछ मान्यताओं को आधार बनाकर आगे बढ़ाया जाता है। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था, चाहे वह किसी भी रूप तथा आकार में हो, तब तक प्रभावशाली नहीं हो सकती जब तक कि उसे नियन्त्रित करने के लिए पर्याप्त शक्ति उपलब्ध न की जा सके। शक्ति के बिना किसी भी दमनकारी आक्रमण को कुचला नहीं जा सकता। सामूहिक सुरक्षा की विवशकारी शक्ति के रूप के सैद्धान्तिक दृष्टि से तीन विकल्प हो सकते हैं—

(१) सदस्य राज्यों द्वारा सहयोग का वचन दिया जा सकता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उनकी सैनिक शक्तियों को प्रयुक्त करने का वायदा भी लिया जा सकता है।

(२) राज्य अपनी सेना के कुछ भाग अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के पास छोड़ देंगे ताकि वह सामूहिक सुरक्षा के लिए उनकी आवश्यकता पड़ने पर काम में ला सके।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय संघ अपनी स्वयं की सेना का अलग से निर्माण करे तथा यह सेना सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था का संचालन करे।

राष्ट्र संघ द्वारा प्रथम विकल्प को अपनाया गया था, राष्ट्रसंघ में किस विकल्प को अपनाया जाय इस सम्बन्ध में बहुत समय तक भारी वाद-

विवाद रहा अन्त में कुछ देशों की पूरी सहमति न रहते हुए भी द्वितीय विकल्प को अपना लिया गया। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था को आज की परिस्थितियों में अव्यावहारिक, असम्भव तथा निष्फल माना जाता है। इस विचार को मानने वाले लोग अपने पक्ष में निम्न तर्क प्रदान करते हैं—

(१) आक्रमणकारी जब आक्रमण करता है तो पूरी तैयारी और सोच विचार के बाद करता है और जिस देश पर आक्रमण किया जाता है उसकी प्रतिक्रिया भी तत्काल हो जाती है-वहां पूरी सैनिक तैयारी की जायेगी, संकटकालीन बजट पास किया जायगा तथा परिस्थिति के अनुकूल जो भी आवश्यक होगा किया जायगा किन्तु सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की इकाइयों को पूरी तरह यह पता नहीं रहता कि कहां, किसके विरुद्ध, कब, किसके साथ मिलकर सैनिक कार्यवाही करनी चाहिए और इसी कारण तत्कालीन सम्मिलित युद्ध कठिन हो जाता है। फलतः सामूहिक सुरक्षा समुदाय की सैनिक शक्ति उसके किसी भाग से सदैव कम होगी।

(२) सन् १९४५ ई० के बाद सैनिक तकनीकों में भारी परिवर्तन आ गया है। वैज्ञानिक विकास के कारण आज के युद्ध ऐसे बन चुके हैं कि आक्रमणकारी के विरुद्ध कदम उठाने के लिए विचार करने को सामूहिक सुरक्षा प्रबंध करे तब तक आक्रमणकारी के द्वारा देश को नष्ट भी किया जा सकता है। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र यह जानता है कि वह अपने जीवन और मरण का प्रश्न सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था पर नहीं छोड़ सकता इसका उसे स्वयं ही प्रबन्ध करना होगा।

(३) विश्व का दो गुटों में बट जाना (Bipolarity) भी सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के विपरीत पड़ता है। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था यह मानती है कि उसके प्रतिबन्धों का प्रभाव प्रत्येक देश पर पड़ेगा और कोई भी देश आक्रमण करने का साहस न कर सकेगा। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस व अमरीका की नई शक्ति का उदय ऐसा हुआ जिस पर सामूहिक सुरक्षा के प्रतिबन्धों का कोई प्रभाव होने वाला नहीं है। इसके अतिरिक्त दो गुटों की व्यवस्था में यह भी एक बाधा होती है कि आक्रमणकारी राज्य किसी भी एक गुट का सदस्य या नेता होते हैं और इस कारण उस गुट के दूसरे राज्य सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के उत्तरदायित्वों को पूरा नहीं होने देते।

(४) सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था इस बात पर निर्भर करती है कि आक्रमणकारी तथा जिन पर आक्रमण किया गया है इस देश को स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया जावे क्योंकि बिना इसके कोई कदम नहीं उठाया जा

सकता है। भारत-पाक संघर्ष के समय भारत द्वारा बराबर यह माग की जाती रही कि वह पाकिस्तान को आक्रान्ता घोषित करे किन्तु ऐसा न किया गया क्योंकि यह घोषणा जितनी सरल दिखती है उतनी नहीं है, इसमें अनेक राष्ट्रों के हित टकराते हैं। इसी कारण वे किसी भी राष्ट्र को आक्रमणकारी घोषित करने से कतराते हैं। आक्रमण की परिभाषा एवं अर्थ भी अनेक लगाये जाते हैं। इस कारण यह बडा कठिन है कि पहले तो यह पता लगाया जाये कि कोई यह कार्य आक्रमण है या नहीं, यदि है भी तो आक्रमणकारी कौन है?

(५) सामूहिक सुरक्षा की सफलता की विषयगत परिस्थितिया बढने की अपेक्षा धीरे-धीरे घटती ही जा रही हैं। जिस समय इस सिद्धात को अपनाया जा सकता था उस समय राजनीतिज्ञो का ध्यान इसकी तरफ न था अब वे इसे क्रियान्वित करना चाहते हैं किन्तु बाह्य परिस्थितिया ऐसा नही होने देती। विषयगत आवश्यकताओं (Subject requirements) को देखकर ऐसा लगता है कि यह सिद्धात अपरिपक्व है क्योकि न तो राजनीतिज्ञ और न ही जनता इसकी पूर्व आवश्यकताओ से परिचित है। आज के युग मे ऐसे समुदाय का विकास हो गया है जो अपने अपने राष्ट्रीय हित के प्रति पूरी तरह जागरूक है और इसी कारण उसमे भिन्नता है। इस समय सामूहिक सुरक्षा की सफल क्रियान्विति यह माग करती है कि ऐसे राजनीतिज्ञ हों जो नेतृत्व कर सकें और ऐसी जनता हो जो उसका अनुगमन कर सके। इस विचार का विकास किया जाय कि जो विश्व के लिये शुभ है वही राज्य के लिए भी शुभ है। राष्ट्रीय हित को विश्व शाति तथा व्यवस्था के साथ एक-रूप कर दिया जाय। क्लाड (Claude) महोदय का मत है कि "कार्यशील सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की पूर्ण आवश्यकताए प्राप्त होने मे अभी बहुत दूर है और यह भी सदिग्ध है कि इस दिशा मे कुछ अर्थपूर्ण विकास हो सकेगा।"

(६) जिस व्यक्ति के हाथो म विदेश नीति के सचालन का भार रहता है वह सदैव व्यवहार प्रधान नीति को अपनायेगा तथा प्रत्येक मामले को गौर से देखने के बाद ही कोई निर्णय लेगा। वह केवल सिद्धातों के पीछे न दौडेगा, कोई भी राजनीतिज्ञ यह पसद न करेगा कि वह सामूहिक सुरक्षा जैसे किसी भी सिद्धात की जजीरो मे अपने हाथों को जकड कर कुछ करने के लिए अपने आपको बाध्य बना ले। एक सफल राजनीतिज्ञ वही है जिसके सामने अनेक विकल्पो के द्वार खुले रहते हैं और परिस्थिति के अनुकूल एक मार्ग को अपनाने मे उसके सामने कोई बाधा नही आती। दूसरे शब्दों मे आज

की दुनिया के लोग यह विश्वास नहीं करते कि सामूहिक सुरक्षा के साधन को अपनाकर विश्व व्यवस्था (World order) या राष्ट्रीय हित को प्राप्त किया जा सकता है।

(७) सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण आलोचना मार्गेन्थो आदि विचारकों द्वारा की गई है। ये विचारक यह मानते हैं कि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत युद्ध का क्षेत्र सीमित या स्थानीय न रहकर विश्वव्यापी बन जाता है। जिस युद्ध के परिणामों को एक क्षेत्र विशेष तक ही सीमित किया जा सकता था वे विश्व को विध्वंस की आग से झुलस देते हैं। एक देश यदि सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के अधीन भी आक्रमणकारी के विरुद्ध प्रभावित देश का साथ दे रहा है तो भी यह समझा जायगा कि ऐसा वह अपने स्वार्थ को साधने के लिए कर रहा है। संसार में ऐसा सन्यासी राष्ट्र देखने को नहीं मिलता जो बदनामी और आलोचनाएं सहकर भी परोपकार तथा न्याय की स्थापना में रत रहे। दूसरी ओर कुछ विचारक यह भी मानते हैं कि विश्व में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए बजाय सैद्धान्तिक के व्यावहारिक नीति की आवश्यकता होती है। क्लाड (Claude) महाशय का निष्कर्ष है कि सामूहिक सुरक्षा शक्ति की ओर से अयथार्थ नहीं है बरन यह नीति की ओर से अयथार्थ है।

शान्तिपूर्ण समझौते

(Peaceful Settlements of International Disputes)

ताशकन्द वार्ता के लिए मास्को रवाना होने से कुछ दिन पहले प्रधान मन्त्री शास्त्री ने एक आम सभा में कहा था कि "कोई भी देश हमेशा युद्ध करता हुआ नहीं रह सकता। युद्ध को एक न एक दिन बन्द होना ही पड़ता है। युद्ध के द्वारा किसी भी समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता, हां इससे नई समस्याओं का निर्माण जरूर किया जा सकता है।" युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का एक साधन बनाना कितना विध्वंसक तथा खतरनाक है इस बात को अच्छी तरह जानते हुए भी कई राष्ट्र युद्ध के मार्ग पर चलते हैं। इसके पीछे कई कारण हैं। युद्ध का मार्ग एक राष्ट्र केवल तभी अपनाता है जबकि शान्तिपूर्ण साधनों से समस्या का हल उसके पक्ष में होता हुआ नहीं दीखता है। दूसरे, यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से अपनी अन्यायपूर्ण मांगों को स्वीकार कराना चाहता है तो उसे आवश्यक रूप से युद्ध का सहारा लेना पड़ता है। तीसरे, युद्ध एक राष्ट्र की आतंरिक कमजोरी का द्योतक है। कोई भी देश जो आर्थिक, राजनैतिक एवं अन्य दृष्टियों से सम्पन्न है वह नहीं चाहेगा कि युद्ध का रास्ता अपनाकर अपनी प्रतिष्ठा व सम्पन्नता पर दाग

लगाया जाय। उसके पास शान्तिपूर्ण कूटनीतिक साधन इतने प्रबल होते हैं कि युद्ध के बिना भी वह समस्या का समाधान कर सकता है।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे के बीच काफी सम्बन्ध है। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में समस्या को सुलझाने के साधन के रूप में युद्ध या शक्ति का सहारा तभी लिया जाता है जबकि दूसरे अन्य साधन असफल हो जाय। प्रारम्भ में तो यह प्रयास किया जाता है कि आक्रमण से प्रभावित राष्ट्र तथा आक्रमण करने वाले राष्ट्र के बीच समझौते, शान्ति वार्ता एवं अन्य मित्रतापूर्ण साधनों से मेल करा दिया जाए किन्तु ऐसा सम्भव न हो सके तब अन्त में मजबूर होकर शक्ति का सहारा लेना पड़ता है। शान्तिपूर्ण समझौते की सम्भावना तथा उनकी सफलता की सम्भावना केवल तभी रहती है जब दोनों पक्षों के बीच तुल्यभारता (Equilibrium) या शक्ति सन्तुलन की स्थिति वर्तमान हो। वैसे सन्धियों जैसे शान्तिपूर्ण साधनों से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने का प्रयास बहुत समय से ही प्रचलित है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि शान्तिपूर्ण साधनों का प्रयोग केवल छोटे-मोटे झगड़ों के निपटारे के लिए ही प्रयुक्त किया जा सकता है जो दो देशों के बीच स्थित मनमुटाव की भावना के परिणाम स्वरूप पैदा होते हैं किन्तु इनके द्वारा मनमुटाव को निर्मूल नहीं किया जा सकता। श्लाइसर (Schleicher) महोदय के शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय समाज में शान्तिपूर्ण समझौते का अर्थ राज्यों के बीच भेदों को मिटाने के शक्ति के प्रयोग के अतिरिक्त अन्य सभी साधन आ जाते हैं।[1] शक्ति का महत्व शान्तिपूर्ण समझौतों की सफलता के लिए भी आवश्यक है क्योंकि जैसे कोई भी न्यायालय का निर्णय तब तक प्रभावशील नहीं हो सकता जब तक कि पुलिस शक्ति उस निर्णय को क्रियान्वित कराने में सक्रिय सहयोग न दे। उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उन देशों के शब्दों का प्रभाव अधिक होता है जो कि शक्तिशाली है तथा निर्णय का उल्लंघन करने वाले राष्ट्र का, जिनसे कुछ खतरा हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे की दिशा में अब तक पर्याप्त विकास हो चुके हैं, उदाहरण के लिए सन् १८९९ की हेग कन्वेंशन, राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थाई न्यायालय सन् १९२८ का जेनेवा सन्धि लेख तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर आदि का नाम लिया जा सकता है।

1. Schleicher, International Relations, P. 215.

शान्तिपूर्ण समझौते की दो श्रेणियां
(The Categories of Pacific Settlement)

शान्तिपूर्ण समझौतों को मुख्य रूप से दो भागो मे बांटा जा सकता है—निर्णायक (Decisional) तथा गैर निर्णायक (Non decisional)। गैर-निर्णायक शान्ति समझौता उनको माना जाता है जो ऐसा कोई सुझाव नहीं देते जिसे अन्तिम रूप मे दोनो ही पक्ष मानने को मजबूर हों। ऐसे समझौतों में वार्तालाप (Negotiation), अनुरंजन (Conciliation) आदि साधनों द्वारा जिन निष्कर्षों अथवा निर्णयों पर पहुंचा जाता है उनको मानने या न मानने के लिए दोनो ही पक्ष स्वतन्त्र रहते हैं। निर्णायक (Decisional) समझौते वे होते हैं जिनके निर्णयों का पालन करने के लिए दोनो ही पक्ष बाध्य रहते हैं। पंचायत (Arbitration) तथा न्यायीकरण (Adjudication) आदि साधनो द्वारा इस प्रकार के समझौतों तक पहुंचा जाता है। यह व्यवस्था है कि दोनो ही पक्षो को यह स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपने झगडो को इन व्यवस्थाओ के सुपुर्द करें या न करें किन्तु सुपुर्द करने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि वे उस पंचायत अथवा न्यायीकरण के निर्णयों को मानें। कुछ विचारकों के मत में उन्नीसवी तथा बीसवीं शताब्दी मे यह मांग बढी है कि राजनैतिक तथा कानूनी मामलो को निर्णायक प्रक्रियाओं के सुपुर्द किया जाये। किन्तु समस्या यह है कि राजनैतिक या वैधानिक झगडे क्या होते हैं तथा इनको सुलझाने के लिए अपनाये गये तरीको, न्यायीकरण या पंचायत व्यवस्था का रूप कैसा होना चाहिए।

शान्तिपूर्ण समझौतो के साधन
(Methods of Peaceful Settlements)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर मे शान्तिपूर्ण समझौतो के विभिन्न साधनो का उल्लेख किया गया है, जैसे—वातचीत (Negotiation), पूछताछ (Enquiry), मध्यस्थता (Mediation), अनुरंजन (Conciliation), तथा क्षेत्रीय अभिकरण आदि (अनुच्छेद–३३)

पामर तथा परकिन्स ने उक्त सभी साधनो को दो मुख्य श्रेणियों मे बांटा है। पहली श्रेणी में वे भी राष्ट्र आते हैं जो कि बिना शक्ति का सहारा लिए ही प्रोत्साहन पर आधारित रहते हैं। इसमे बातचीत, अच्छे पद, पूछताछ, मध्यस्थता तथा अनुरंजन आदि आते हैं। दूसरी श्रेणी मे वे सभी साधन आते हैं जिन्हें मानने के लिए दोनों ही पक्ष मजबूर रहते हैं। इस प्रसङ्ग मे इन साधनों की थोडी जानकारी करना उपयोगी रहेगा।

(१) बातचीत (Negotiation)—छोटे-मोटे मनमुटावों से उत्पन्न होने वाले झगडो को प्राय बातचीत द्वारा सुलझाने की परम्परा है। इसके अन्तर्गत जिन देशो के बीच झगड़े होते हैं उनके कूटनीतिज्ञ आपस मे बातचीत करके झगडे के रूप, कारण, समाधान आदि पर भी भलीप्रकार से विचार-विमर्श कर लेते हैं। इस प्रकार की बातचीत उन देशो के प्रमुखों अथवा विदेश मन्त्रियो के बीच की जा सकती है। बातचीत करने का अवसर संयुक्त राष्ट्रसंघ में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो मे तथा प्रादेशिक व्यवस्थाओ आदि मे प्रदान किया जाता है।

(२) अच्छे पद तथा मध्यस्थता (Good Officer and Mediation)—अनेक बडे राज्य कभी-कभी दो राज्यों के बीच के झगड़े को दूर करने के लिए अपनी प्रतिष्ठा का उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए ४ जनवरी १९६६ से ताशकन्द में प्रारम्भ, शास्त्री-अयूब शांति-वार्ता को लिया जा सकता है। सोवियत रूस जैसे एक शक्तिशाली देश ने एशिया महाद्वीप में शांति की स्थापनार्थ भारत एव पाकिस्तान में सुलह कराने का जो प्रयास किया है वह प्रशंसनीय है तथा यह उसके अच्छे पद का सदुपयोग है। कभी-कभी प्रतिष्ठित राष्ट्र को मध्यस्थता करने का काम भी सौंपा जा सकता है। मध्यस्थता करते समय यह आवश्यक है कि दोनों ही पक्षों का उसमें विश्वास हो तथा किसी भी ओर से उसके पक्षपाती होने की आशंका न की जाय। अच्छे पद का झगड़े के निपटारे मे प्रयोग करते समय एक राष्ट्र मित्र की हैसियत से कार्य करता है तथा सुझाव देता है किन्तु मध्यस्थता करने समय वह एक न्यायाधीश बन जाता है तथा उसके निर्णयों को दोनों ही पक्षों द्वारा मानने की आशा की जाती है। १९०५ मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जापान और रूस के बीच युद्ध को रोकने के लिए अपने अच्छे पद का प्रयोग किया तथा एक मध्यस्थ के रूप मे भी कार्य किया।

(३) पूछताछ और अनुरंजन (Enquiry and Conciliation)—प्रथम हेग सम्मेलन में पूछताछ के प्रयोग के ऊपर अधिक बल दिया गया था। द्वितीय सम्मेलन में भी इसकी आवश्यकता व महत्व पर विचार विमर्श किया गया था। इस कमीशन को यह काम सौंपा गया कि वह उन तत्वों की जांच करे जो कि संघर्ष के आधार हैं। कमीशन की सिफारिशों को मानने के लिए दोनों ही पक्ष मजबूर नहीं किये जा सकते। राष्ट्रसंघ (League of Nations) ने १९३१ से लिटन आयोग (Lytton Commission) का निर्माण किया था। अनुरंजन (Conciliation) मे तीसरे देश द्वारा समझौता कराने का भरसक प्रयास किया जाता है। इसके लिए वह पूछताछ (Enquiry) का साधन भी अपनाता है। मध्यस्थता प्राय. व्यक्ति द्वारा की जाती है जबकि

अनुरंजन करने वाले कमेटी, कमीशन या कौंसिल हुआ करते हैं। पेलेस्टाइन की समस्या को सुलझाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा कमीशन की नियुक्ति की गई थी।

(४) पंच फैसले और न्याय व्यवस्था (**Arbitration and Judicial Settlement**)—पंचायत और अनुरंजन में भेद दिखाते हुए प्राय यह कहा जाता है कि पंचायत व्यवस्था एक कानून से पूर्ण निश्चित है, यह फैसला करती है तथा इसका फैसला मानने के लिए दोनों ही पक्ष बाध्य होते हैं किन्तु दूसरी ओर अनुरंजन में समझौते की सिफारिशें होती हैं तथा उनका प्रभाव एक मित्र की राय से अधिक नहीं होता जिसे मानने के लिए कोई बाध्य नहीं किया जा सकता। पंच फैसलों का प्रचलन उन्नीसवीं शताब्दी में काफी था। इस काल में किया गया अलबामा का समझौता जिसमें ग्रेट ब्रिटेन को पंच बनाया गया था, उल्लेखनीय है। १८९९ के हेग सम्मेलन में संघर्षों को कानून द्वारा तय करने के लिए पंचायत के स्थायी न्यायालय की व्यवस्था की गई थी। १९२२ में अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय की प्रतिष्ठापना की गई।

क्षेत्रीय व्यवस्था और शान्तिपूर्ण निपटारे
(Regional Arrangements and Pacific Settlements)

प्रादेशिक व्यवस्थाओं द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को दूर करने का प्रयास संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा समर्थित है। उसके चार्टर में यह कहा गया है कि झगड़े को किसी भी शान्तिपूर्ण तरीके से तय किया जाना चाहिए। यह कहा गया है कि जो देश ऐसे समझौते में सम्मिलित हो रहे हैं उनको सुरक्षा परिषद् के सम्मुख लाने से पूर्व प्रत्येक झगड़ा इन्हीं के द्वारा तय करने का प्रयत्न करना चाहिए। अमरीकन राज्य के संगठन (Organisation of American States) को इस प्रकार की प्रादेशिक व्यवस्थाओं का उदाहरण माना जा सकता है।

संयुक्तराष्ट्र संघ में सुरक्षा परिषद् तथा महासभा के द्वारा शान्तिपूर्ण समझौतों की ओर अनेक सफल कदम उठाये गये हैं। सामूहिक सुरक्षा तथा झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे परस्पर सम्बन्धित हैं। पहले को विकास-क्रम की अगली सीढ़ी माना जाता है, जबकि दूसरा प्रथम सीढ़ी कहा जायगा। कुछ विचारक इन दोनों के सम्बन्ध के बारे में पूर्णतः भिन्न विचार रखते हैं। उनके मतानुसार न केवल ये दोनों एक दूसरे के सहयोगी व पूरक नहीं हैं वरन् विरुद्ध भी हैं। किन्तु यह तो एक तथ्य है कि दोनों का प्रयोग युद्ध को रोकने के लिए किया जाता है तथा दोनों साधनों के समर्थक एक ऐसे विश्व का निर्माण करना चाहते हैं जहाँ शान्ति का साम्राज्य हो, युद्ध और झगड़े न हों

तथा परस्पर सहयोग और मेल के आधार पर अपने देश का विकास करने के लिए प्रत्येक राजनीतिज्ञ प्रयत्नशील हो। शान्तिपूर्ण समझौतों का अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार माना जाता है। इस समय विश्व में अनेक राष्ट्र ऐसे हैं जो वस्तु स्थिति में परिवर्तन करना चाहते हैं, वे अधिकारों एवं कर्तव्यों का रूप बदलना चाहते हैं। इसके लिए उनको शक्ति का प्रयोग भी करना पड़ता है क्योंकि उनके कार्यों का विरोध उन देशों द्वारा किया जाता है जो उस व्यवस्था को बनाये रखने के पक्ष में हैं। दोनों गुटों के बीच मनमुटाव से अनेक झगड़े तथा वाद विवाद पैदा होते हैं। इन झगड़ों को सामूहिक सुरक्षा तथा शान्तिपूर्ण समझौतों की व्यवस्था द्वारा दूर किया जा सकता है किन्तु मन-मुटाव तो तभी दूर हो सकेगा जबकि वर्तमान विश्व-व्यवस्था में परिवर्तन का कोई शान्तिपूर्ण साधन हाथ लग जाय। परिवर्तन तो अपरिहार्य है, वह होकर रहेगा। हमारे सामने दो विकल्प हैं कि इसके लिए हम शान्तिपूर्ण साधन अपनाये या शक्तिपूर्ण तरीके। शक्ति को अपनाया नहीं जा सकता क्योंकि इसके परिणाम बड़े भयंकर हो सकते हैं। किन्तु शान्तिपूर्ण साधन जो भी हैं वे अपर्याप्त हैं अतः आवश्यकता है कि अधिक उपयुक्त साधनों की खोज की जाय। कुछ विचारकों के मन में ऐसा उपयुक्त साधन व्यवस्थापन का है किन्तु यह राष्ट्रीय सम्प्रभुता के प्रतिकूल पड़ता है। इस प्रकार विश्व के सामने दो रास्ते हैं—पहला तो सम्प्रभुतापूर्ण राष्ट्रीय राज्यों की ओर जाता है जहां की दिनचर्या में युद्धों का बाहुल्य होगा और दूसरा रास्ता जाता है विश्व सरकार (World Govt.) की ओर जहां पर शान्ति का प्रभुत्व रहेगा। इस प्रकार आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए राष्ट्रों की शक्ति को दूषित होने से रोकना है, उसके दुरुपयोग पर सीमाएं लगानी हैं। किन्तु हमने देखा कि शक्ति सन्तुलन तथा सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था यद्यपि इस क्षेत्र में प्रभावपूर्ण रही किन्तु वह पर्याप्त नहीं कही जा सकती। उनके अपने दोष तथा अपूर्णतायें हैं, इनको कम करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून, विश्व सरकार एवं निःशस्त्रीकरण आदि दूसरे साधनों द्वारा इसकी सहायता करना उपयोगी रहेगा। इन सभी साधनों को मिल कर एक ऐसे चक्रव्यूह की रचना करनी है जिसमें युद्ध को घेरे में डाल दिया जाय। विश्व के देशों को यदि युद्ध की आवश्यकता न रहे तो शान्ति का अखण्ड दीप जल सकता है।

१०

राष्ट्रीय शक्ति की सीमायें-II

(LIMITATIONS OF NATIONAL-POWER)

विश्व में शान्ति बनाये रखने के लिए ऐसी व्यवस्था की भारी आवश्यकता रहती है जो शक्ति के प्रयोग को दूषित होने से बचा सके तथा राष्ट्रीय हित को अन्तर्राष्ट्रीय हित के साथ एकाकार कर सके। यथार्थवादी सिद्धान्त के समर्थकों का विचार है और यह बहुत कुछ सही भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रधान विशेषता शक्ति के लिए संघर्ष करना है। प्रत्येक राष्ट्र यह प्रयास करता रहता है कि वह विश्व की एक बड़ी शक्ति बन जाये। उसकी नीतियां भी इस प्रकार सचालित की जाती हैं कि वह यदि आवश्यकता हो तो दूसरे देश के मूल्य पर भी अपने हित की साधना कर ले। इस प्रकार की नीतियां अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व्यवस्था एवं सहयोग तथा मित्रतापूर्ण व्यवहार के लिए एक अभिशाप होती हैं। इनके विरुद्ध ऐसी नवीन व्यवस्थाओं की रचना करनी होगी जो ऐसा वातावरण तैयार करें जिसमें सभी राष्ट्र अपनी शक्ति को इतना मर्यादित रख सकें कि दूसरे राष्ट्रों को उनसे किसी प्रकार का खतरा न रहे। दूसरे, यदि उक्त प्रकार की नीतियां अनेक रोक लगने पर भी उकसने से न रुकें तो इनका प्रतिकार करना पड़ेगा।

शक्ति सतुलन तथा सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था द्वारा युद्धों को रोकने, उनको सीमित करने तथा राष्ट्रों के बीच परस्पर मैत्रीपूर्ण एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का निर्माण करने का भूतकाल से ही प्रयास किया जा रहा है। अनेक विचारकों के मतानुसार शक्ति सतुलन और सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था ऐसे साधन हैं जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समय-समय पर बहुत

प्रभावित किया है किन्तु वर्तमानकाल के विभिन्न विकासों के कारण इन व्यवस्थाओं का व्यवहार धीरे धीरे कठिन तथा असम्भव होता जा रहा है। यही कारण है कि मनुष्य-समाज अन्तर्राष्ट्रीय कानून, विश्व सरकार, और नि:शस्त्रीकरण जैसे विभिन्न उपायों को राष्ट्रीय शक्ति पर सीमायें लगाने के लिए प्रयुक्त करता है। ये तीनों ही साधन कुछ आदर्शात्मक प्रकृति के हैं, क्योंकि इनको पूरी तरह से प्राप्त न तो किया गया है और न किया जा सकता है। किन्तु इन्हें प्राप्त करने का प्रयास करना तथा इनकी ओर थोड़ा भी अग्रसर होना विश्व शान्ति के हित में है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून
(International Law)

कानून का शासन (Rule of Law) अरस्तू के काल से ही मनुष्य को शासन से श्रेष्ठ माना जाता रहा है। अवैयक्तिक एवं नि:स्वार्थ होने के कारण कानून के आधार पर सचालित व्यवस्था में राष्ट्रीय स्तर पर क्रान्तियां नहीं होतीं और आशा की जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर युद्ध नहीं होंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का सचालन कानून द्वारा न किया जाय, उसका केवल एक ही विकल्प है और वह यह कि शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के निर्धारण का प्रमुख तत्व बन जायगी। जंगल का नियम, जिसके अनुसार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, का बोल-बाला हो जायगा जिसके परिणामस्वरूप जन-साधारण का जीवन तथा समूची मानव सम्यता खतरे में पड़ सकती है। अनेक विद्वानों के विचारानुसार अणु-आयुधों के इस वर्तमान युग में कानून के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण करना परम आवश्यक बन गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अर्थ
(The Meaning of the International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के स्वरूप एवं प्रकृति के बारे में विभिन्न विचारकों ने अपनी-अपनी सम्मतियां प्रकट की हैं। इस विषय के प्रधान विचारक ओपनहिम (Oppenheim) के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय कानून उन प्रचलित एवं परम्परावादी नियमों का नाम है जिनको सभ्य राष्ट्रों द्वारा अपने आपसी व्यवहार में वैधानिक (legally) रूप से बाध्य माना जाता है।"[1] अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध विश्व के लोगों से प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता वरन् अप्रत्यक्ष रूप से होता है अर्थात् इनका सम्बन्ध केवल राज्यों से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय

1 *L. Oppenheim*, International Law.

कानून कोई ऐसी व्यवस्था नही होती जो कि राज्यों के ऊपर हो और राज्यों को कुछ भी मानने के लिए बाध्य कर सके। किन्तु इसमे भिन्न इसका स्थान राज्यो के बीच मे रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो को हम राज्यो की आचार–संहिता (Code of conduct) भी कह सकते है जिसके आधार पर उनके परस्पर-सम्बन्धो का सचालन इस प्रकार किया जाता है कि दूसरे राष्ट्रों के अधिकार तथा स्वतन्त्रताओं पर आच आये बिना ही एक देश अपने हितों की पूर्ति कर सके। कुछ विद्वानों का मत इससे भिन्नता रखता है। उनका विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय केवल राज्य ही नही है वरन् व्यक्ति (Individuals) और वे समुदाय भी हैं जिनके पास राज्य की सभी विशेषतायें नही होती।[1] स्टोवेल (Ellery C Stowell) के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में ऐसे नियम होते हैं जिनका सम्बन्ध समस्त विश्व के मानव सम्बन्धो से होता है तथा जो सामान्य रूप से समस्त मानव जाति द्वारा व्यवहृत किये जाते हैं तथा जो उन स्वतन्त्र समुदायो की सरकार के माध्यम से लागू किये जाते हैं जिनमें कि मानवता बटी हुई है।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता है। इसका अर्थ यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून व्यक्ति की हैसियत से एक व्यक्ति पर कोई प्रभाव नही रखता किन्तु जब वह व्यक्ति किसी पद विशेष को शोभित कर रहा होता है तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उससे सम्बन्ध रहता है। एक राज्य के सरकारी प्रतिनिधि के रूप में जब व्यक्ति द्वारा कूटनीतिक कार्यों में भाग लिया जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुव्यवस्था नैतिकता एवं सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि वह कुछ नियमो का पालन करे, कुछ कानूनों का आचरण करे। इस प्रकार के आचरण के लिये व्यक्ति व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी हो भी सकते हैं और नही भी। परम्परागत रूप से तो यदि किसी राष्ट्र की विदेश नीति के निर्माताओं ने कोई अवैध (Illegal) कार्य किया है तो उसके लिये पूरे देश को ही सामूहिक रूप से उत्तरदायी ठहराया जाता है।

एक अमेरिकन न्यायाधीश फिलिप जेसप (Philip Jessup) जो १९६० में न्याय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of

1 See Hans Kelsen in Principles of International Law 1952. Pp 96–188

2. Ellery C. Stowell, *International Law, P. 10. Fn.*

कुछ राज्य उसे चाहे किसी भी कारण से मान्यता देते हैं तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी व्यवस्था का अस्तित्व है। इन विचारकों के तर्क के अनुसार कानून का अधिकतर पालन इसलिए नहीं होता कि इसके पीछे शक्ति है वरन् इसलिए होता है कि वह कानून है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति कानून का आदर और पालन करेगा। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे बाध्यकारी शक्ति अच्छे और बुरे का ज्ञान है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण स्थान केवल तभी हो सकता है जबकि बड़ी शक्तियां कानून द्वारा स्थापित सीमाओं को स्वीकार करें तथा हर जगह के लोग इस प्रकार की व्यवस्था को मानने के लिए तैयार हों।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के महत्व के सम्बन्ध में ई. एन. वान क्लेफेन्स (E N Van Kleffens) ने बताया है कि यह सभी राष्ट्रों के लिए लाभदायक है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक मात्र वस्तुगत एवं निष्पक्ष मापदण्ड माना जा सकता है। यह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का एक ठोस आधार है। इसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाया जा सकता है तथा राजनीति चतुरता एवं अवसरवादिता का एक प्रभावशील आधार है। अन्तर्राष्ट्रीय आशावाद, विश्वास एवं सज्जनता प्रत्यक्ष रूप से एक देश की शक्ति एवं प्रगति में प्रभाव रखते हैं, इसलिए इनके निर्माता अन्तर्राष्ट्रीय कानून को महत्वपूर्ण बना देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रोफेसर बासदेवान्त (Basdevant) के कथनानुसार "एक राज्य जब विधायी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियम का पालन करने की स्थिति में होता है तो वह अपने को विशेष रूप से शक्ति सम्पन्न अनुभव करता है।"

वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का महत्व एवं प्रभाव बढ़ रहा है। विचारकों का मत है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर इस बात की अवहेलना करता है कि आगे चल कर विश्व व्यवस्था व्यक्तियों पर नहीं बल्कि कानून पर आधारित रहेगी जिनमें कि न्याय और नैतिकता के सिद्धान्त अन्तर्निहित रहते हैं। यह तथ्य संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपर्याप्तता का एक आधार है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को मानने के बाद एक देश की शक्ति इसलिए अधिक हो जाती है कि प्रत्येक देश ऐसा करने में नैतिक शक्ति का अनुभव करता है जैसे व्यक्तिगत जीवन का यह एक कानून है कि किसी व्यक्ति पर आक्रमण न किया जाए और उसकी क्षति अथवा बेइज्जती न की जाए, इस कानून का सभी के द्वारा आदर किया जाएगा और जो इसका उल्लंघन करेंगे उनको गलत समझा जाएगा। कोई भी कानून एक सभ्य एवं

विचारशील व्यक्ति को प्रभावित करता है। इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि एक राज्य ने गलती की है या वह गलती करने वाला है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून के माध्यम से समझा और स्वीकार किया जा सकता है। केवल शक्ति या नैतिकता के आधार पर किसी चीज को गलत या सही सिद्ध करने की अपेक्षा यह उपयोगी रहता है कि उसे कानून पर आधारित किया जाए।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की उपयोगिता एवं प्रभाव कई बातों पर निर्भर करता है। कुछ राज्यों में संविधान के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रभावशील बना दिया गया है। अन्य कुछ राज्यों में न्यायपालिका द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को आवश्यक घोषित कर दिया गया है। अनेक राज्य ऐसे भी हैं जहाँ कि संविधान, कानून अथवा न्यायपालिका द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बाध्यकारी नहीं बनाया गया है, किन्तु ऐसा नहीं है कि वे राज्य उसकी अवहेलना करते हों। इससे सिद्ध होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मान्यता केवल राष्ट्रीय संविधान, कानून या न्यायिक परम्पराओं पर आधारित नहीं है—इसके लिए उत्तरदायी कुछ अन्य कारण हैं।

अनेक विचारक यह मानते हैं कि कानून का पालन केवल इसलिए नहीं किया जाता कि उसके उल्लंघन करने पर हमें पुलिस द्वारा पकड़े जाने का डर रहता है। यद्यपि यह सच है कि प्रायः कानूनों के पीछे अत्याचारों को रोकने वाली एक शक्ति रहती है, किन्तु इसके बिना भी कानून हैं।

कानून की मान्यता का आधार जनता की इच्छा को भी नहीं माना जा सकता। यह कहना अपर्याप्त होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस कारण बाध्यकारी है क्योंकि लोग इसे ऐसा ही समझते हैं। इससे एक नया प्रश्न उठ खड़ा होता है कि लोग उसे बाध्यकारी क्यों मानते हैं ?

अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्यों माना जाता है ? इसके पीछे कौन सी ऐसी शक्ति है जो उसे बाध्यकारी बना देती है ? इस सम्बन्ध में शताब्दियों से बहुत कुछ लिखा जाता रहा है। सिसरो (Cicero) ने बताया कि दूसरों के मूल्य पर स्वयं का लाभ करने की प्रवृत्ति प्रकृति के विरुद्ध है, क्योंकि यदि हर कोई ऐसा करने लगे तो मानव समाज नष्ट हो जाएगा। ग्रोशियस (Grotius) ने बताया कि जो कुछ भी प्रकृति के विरुद्ध है तथा बुद्धिशील लोगों के समाज के विरुद्ध है वह अन्यायपूर्ण है। इन दोनों विचारकों ने कानून के प्रति सम्मान का आधार समाजशास्त्र और नैतिकता के क्षेत्र में ढूंढा, कानून के प्रदेश में नहीं। जब सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से कानून की बाध्यकारिता को देखा जाता है तो लगता है कि स्वयं व्यक्ति के भले-बुरे की भावना ही उसे कानून का पालन

करने के लिए प्रभावित करती है। किन्तु यह बात सही नही है, क्योंकि व्यक्ति को कानूनी नियमो का पालन करना ही होता है, चाहे वह उनको न्यायपूर्ण समझे अथवा अन्यायपूर्ण। जब अच्छाई और बुराई को मौलिक कानूनी नियमो का रूप दे दिया जाता है तो वैयक्तिक इच्छा का महत्व नहीं रहता।

अठारहवीं शताब्दी के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानूनी आधार प्रदान करने का प्रयास किया गया। एक जर्मन वकील (सन १६७६–१७५४) ने प्रथम बार एक विचारधारा सामने रखी जिसके अनुसार यह माना गया कि राज्यो के कुछ मौलिक अधिकार होते हैं जो कि राज्य की भांति स्थायी, पूर्ण तथा अपरिहार्य हैं। इनसे राज्यो को यदि वंचित किया गया तो राज्य, राज्य नही रहेगा। इन मौलिक अधिकारों की सूची अलग-अलग विचारकों ने अलग-अलग प्रकट की। किन्तु इनमें सामान्य स्वीकृति मुख्यतः पांच को मिल सकी; ये थे सुरक्षा का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, समानता का अधिकार, आदर पाने का अधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय वाणिज्य का अधिकार। राज्यों की तुलना व्यक्तियो से करना अधिक गलत नही है, जिस प्रकार व्यक्तियो को समान और स्वायत्त समझा जाता है, उसी प्रकार राज्यो को भी समझा जाता है। स्वायत्त होते हुए भी राज्य व्यक्तियो की भांति अपने साथियो के अधिकारों की इज्जत करते हैं। विशेष रूप से उनके बीच समानता रखी जाती है क्योंकि यदि उनमें से एक के भी पास अधिकार न हुए तो अन्य के अधिकार भी सुरक्षित नही रह पायेंगे। वर्तमान शताब्दी मे इस विचारधारा का कटु विरोध होता है। विरोध करते समय अन्य बातो के साथ एक बात यह भी कही जाती है कि यह वास्तविकता के साथ अनुरूपता नही रखती। यह कहा जाता है कि अगर स्वतन्त्रता राज्य से न छीना जाने वाला अधिकार है तो ऐसा क्यो होता है कि कुछ राज्यो को पूरी तरह से स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती। किन्तु इतने पर भी वे राज्य बने रहते हैं। वर्तमान विश्व राजनीति का तथ्य यह है कि राज्य निरन्तर अधिक से अधिक एक दूसरे पर आश्रित होते जा रहे हैं। इसलिए इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया जाना जरूरी है।

कानून का जो वास्तविक स्वरूप है उसका पर्याप्त प्रभाव है। कानून की मान्यता के सम्बन्ध मे पर्याप्त विचार विमर्श करने के बाद अन्त मे इस निष्कर्ष पर आना पड़ता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आदर का अन्तिम आधार यह है कि हम अपने दिल से तथा अपनी चेतना से यह मानते हैं कि कानून का पालन किया जाना उपयोगी है। यहा ऐसा नही है कि कोई मौलिक कानून का शासन हमे यह आदेश दे रहा हो कि हमें इसको ठीक मानना ही पड़ेगा, चाहे हम इसे स्वीकार करें अथवा न करें। कानून के पालन न करने

का विकल्प अराजकता है और अराजकता से व्यक्ति अपने स्वभाववश दूर रहना चाहता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक मुख्य सुरक्षात्मक हथियार के रूप में काम लाया जा सकता है। अब तक विश्व के देश इसकी पर्याप्त अवहेलना करते रहे हैं। सुरक्षा का यह साधन बिना प्रयोग किए ही पड़ा रहा। अब देशों को चाहिए कि वे इसका अधिक से अधिक प्रयोग करें।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक सत्य है ?
(Is International Law a Reality)

अनेक विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कानून होने में ही संदेह प्रकट करते हैं। मार्गेन्थो के शब्दों में लेखकों का एक बुद्धिशील समुदाय अपना मत प्रकट करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी कोई चीज ही नहीं होती। जो विचारक यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राष्ट्रीय शक्ति को मर्यादित किया जा सकता है और इस प्रकार उसके दुरुपयोग पर रोक लगाई जा सकती है, उनकी संख्या दिनों-दिन घटती ही जा रही है। विचारकों के इन दोनों पक्षों की स्थिति का बड़ा अच्छा वर्णन ब्रियर्ली (Brierly) महोदय द्वारा किया गया है। उनका कहना है कि अनेक विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चरित्र एवं इतिहास पर विचार किये बिना ही यह कह देते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून हमेशा एक धोखा (Sham) रहा है तथा अब भी है। दूसरी ओर कुछ विचारक ऐसे हैं जो कि यह मानते हैं कि यदि वकीलों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को पत्रीबद्ध कर दिया जाय तो हम शान्ति से रह सकते हैं तथा विश्व में भी सब कुछ ठीक ही होगा। ब्रियर्ली (Brierly) का विचार है कि इन दोनों मतों में से किसी को भी सही नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों ही समान कमजोरियों के शिकार हैं अर्थात् दोनों ही यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक ऐसा विषय है जिस पर कोई भी बिना सम्बन्धित तथ्यों का अवलोकन किये अपनी अन्तरात्मा के आधार पर कोई भी मत बना सकता है। उदाहरण के लिए श्लाइकर (Schleicher) को लिया जा सकता है जिनके मत में कुछ नियम (Norms) ऐसे होते हैं जिनको कि अन्तश्चेतना (Conscience), सामुदायिक भावना (Community Sentiment) एवं सरकार के वर्गों द्वारा लागू किया जा सकता है। जिस प्रकार जो परम्परा एवं आदर्शों के प्रतिकूल होने पर राष्ट्रीय कानूनों का कभी विरोध किया जाता है उसी प्रकार प्रचलित व्यवस्था से अधिक भिन्नता रखने वाला अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी आलोचनाओं एवं विरोधों का शिकार बन जाता है। इस प्रकार के तर्कों द्वारा कुछ विचारक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून सच्चे अर्थों में एक कानून है यद्यपि राष्ट्रीय कानून से उसकी प्रकृति अनेक

बातों में भिन्नता रखती है तो भी कुछ बातों में दोनों के बीच समान लक्षण भी देखने को मिलते हैं।

दूसरी ओर विचारकों का वह वर्ग है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी किसी चीज के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करता और राष्ट्रीय सम्प्रभुता के आधार पर इसे एक असत्य कल्पना सिद्ध करने का प्रयास करता है। सम्प्रभुता के विचारक ऑस्टिन (Austine) आदि के मतानुसार जिसे हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहते हैं वह 'कानून' नहीं है वरन् वह तो अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की एक शाखा है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून न मानने वाले विचारक अपने पक्ष के समर्थन में निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र बड़ा सीमित है तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक बड़ा भाग इसके कार्य-क्षेत्र में नहीं आता। एक कानून के रूप में इसे राज्य में समस्त आपसी सम्बन्धों पर लागू होना चाहिये किन्तु इसके विपरीत व्यवहार में यह केवल उन्हीं विषयों पर लागू होता है जिनको कि राज्यों द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को मानने के लिए कोई भी राज्य बाध्य नहीं है। यह कहा जाता है कि राज्य की सम्प्रभुता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून जिसे मानना राज्य के लिए आवश्यक हो, चाहे वह उसकी इच्छा के विपरीत हो या अनुकूल, के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता।

(३) यह कहा जाता है कि जब एक राज्य द्वारा किसी कानून को स्वीकृति दे दी जाती है तो वह उसका पालन करने के लिए बाध्य हो जाता है। स्वीकृति की विचारधारा (Theory of Consent) के समर्थक यह नहीं बता पाते कि जिन कानूनों पर राज्य अपनी सहमति प्रकट न करे उनको हम कैसे कानून कह सकते हैं तथा राज्यों को उन्हें मानने के लिए कैसे मजबूर किया जा सकता है। यदि मजबूर किया जा सके तो उस राज्य की सम्प्रभुता का क्या होगा।

(४) ऑस्टिन की परिभाषा के अनुसार कानून सम्प्रभु का आदेश होता है तथा यह उन पर लागू किया जाता है जो कि उस सम्प्रभु के अधिकार-क्षेत्र में आते हैं। इस परिभाषा के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून सच्चा कानून नहीं कहा जा सकता क्योंकि संयुक्त राष्ट्रसंघ अथवा कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन ऐसा नहीं है जो व्यक्तियों अथवा राज्यों के ऊपर सम्प्रभुता रखता हो।

(५) राष्ट्रीय स्तर की भांति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीकृत व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका नहीं होती और इस आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को एक सच्चा कानून नहीं कहा जा सकता।

उक्त अनेक तर्कों द्वारा समय समय पर यह प्रयास किया जाता रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून का स्तर प्रदान न होने दिया जाय, किन्तु आलोचकों ने इन तर्कों के मुख्य आधार 'राष्ट्रीय सम्प्रभुता' की मान्यता पर आघात किया है। उदाहरण के लिए इस विषय के ब्रिटिश विचारक ब्रिअर्ली को लिया जा सकता है जो यह मानते हैं कि पूर्ण एवं अविभाज्य सम्प्रभुता के समर्थक जीन बोदा *(Jean Bodin)* और थॉमस हॉब्स *(Thomas Hobbes)* को गलत समझा गया है। उन्होंने कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का समर्थन नहीं किया जैसा कि उनके अनुयायियों की मान्यता है। पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) के शब्दों में व्यवहार में व्यक्तिगत राज्य भी अपनी इच्छा के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून से बाध्य हो सकते हैं, किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह कानून राष्ट्रों के समुदाय की सामान्य स्वीकृति प्राप्त कर ले।[1] वास्तविकता इन दोनों ही विचारों के बीच मे स्थित है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आलोचकों एवं समर्थकों द्वारा दिये गये तर्क केवल आंशिक रूप से ही सत्य हैं। यथार्थ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व है किन्तु जैसा कि मार्गेन्थो का विचार है यह कानून राष्ट्रीय कानून की भांति प्रभावशाली वैधानिक व्यवस्था (Effective legal System) नहीं है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर यह राष्ट्रीय शक्ति को सीमित एवं नियमित करने में प्रभावशील अवश्य है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून पूर्ण रूप से एक विकेन्द्रित कानून होता है और इस अर्थ में इसको पुरातन तरीके का कानून (Primitive type of law) कह सकते हैं।[2] कुछ विचारकों के मतानुसार, 'राज्य एवं व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करना अच्छा मानते हैं तथा अपना एक कर्त्तव्य स्वीकार करते हैं, उनके कानून होने के लिए यही पर्याप्त है। यदि उसका पूरी तरह से अनुशीलन नहीं किया जाता तो उसकी कानूनी प्रकृति पर इससे कोई प्रभाव नहीं पड़ता।'

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकेन्द्रित स्वरूप
(Decentralized nature of International Law)

राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के बीच अन्तर दिखाते समय प्रायः यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय कानूनों का पालन कराने के लिए व्यवस्थापिका, न्यायपालिका एवं कार्यपालिका आदि विशेष अभिकरण होते हैं। यही कारण है कि इसे एक केन्द्रित व्यवस्था (Centralized System) कहा जाता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन वैधानिक समुदाय के सदस्यों

1. Palmer and Perkins, International Relations P. 308
2. Morgenthau, Politics among Nations—P. 251

द्वारा व्यक्तिगत रूप से किया जाता है और इसलिए यह विकेन्द्रित व्यवस्था कहलाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के निर्माण के तरीके, उनकी व्याख्या के रूप एवं उनके व्यवहार की प्रणालियों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह एक पूर्णरूपेण विकेन्द्रित व्यवस्था है। ऐसे कानूनों का प्रचलन प्रायः प्राचीन समुदायों में पाया जाता था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की तुलना कभी-कभी मध्ययुगीन ब्रिटिश कॉमन लॉ (British Common Law) से की जाती है। वर्तमान युग की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिकाओं से पूर्व भी कानून थे। इनका विकास रीति रिवाजों द्वारा होता था और व्यक्तियों एवं समुदायों के द्वारा इनको लागू किया जाता था ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को आज राज्य द्वारा लागू किया जाता है। मार्गेन्थो के शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विकेन्द्रित प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विकेन्द्रित ढांचे का आवश्यक परिणाम है। जिस प्रकार एक राष्ट्र के कानूनों का निर्माण एवं संचालन कुछ सुव्यवस्थित एवं सुविकसित अंगों द्वारा किया जाता है वैसी कोई व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रचलित नहीं है और न हो सकती है। जब तक कि अपने-अपने क्षेत्रों में सम्प्रभु राज्यों द्वारा विश्व समुदाय की इकाइयों का अभिनय किया जाता है तब तक कानून का निर्माण करने वाली तथा उसे लागू करने वाली कोई केन्द्रीय व्यवस्था जन्म नहीं ले सकती। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अस्तित्व एवं व्यवहार दो तत्वों के कारण है—

(i) राज्यों के समान अथवा एक दूसरे के पूरक हित,

(ii) राज्यों के बीच संतुलन की स्थापना। यह कहा जाता है कि जहाँ हितों से पूरक समुदाय नहीं होता तथा उनके बीच शक्ति का सतुलन नहीं पाया जाता वहां अन्तर्राष्ट्रीय कानून नहीं रह सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास एवं पालन वस्तुगत सामाजिक शक्तियों (Objective Social Forces) का परिणाम होता है। प्रोफेसर ओपनहिम ने शक्ति सतुलन को अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अनिवार्य शर्त माना है। उनका मत है कि यदि शक्तियाँ एक दूसरे को प्रतिसन्तुलन में नहीं रख सकतीं तो कानून के नियम का कोई प्रभाव नहीं रह सकता क्योंकि एक शक्तिशाली राष्ट्र स्वभावतः मनमानी करना चाहेगा तथा वह कानून का उल्लंघन करेगा, क्योंकि सम्प्रभु राज्यों के ऊपर कोई केन्द्रीय राजनैतिक सत्ता नहीं रह सकती इसलिए यह आवश्यक है कि शक्ति सतुलन से राष्ट्रों के परिवार के किसी भी सदस्य को स्वेच्छाचारी होने से रोका जाय। एक रूप एवं परस्पर सहायक हित (Identical and Complementry interests) भी विकेन्द्रीकरण के अभिकरण के रूप में सदैव क्रियाशील रहते हैं व किसी भी वैधानिक व्यवस्था के व्यवस्थापक,

न्यायिक एवं कार्यपालिक तीनों ही कार्यों पर प्रभाव डालते हैं। मार्गेन्थो (Morgenthau) ने इनको जीवन रक्त (lifeblood) की संज्ञा प्रदान की है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास
Development of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रारम्भ किस समय हुआ तथा वह अपने प्रारम्भिक रूप में किस तरह का था इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आदिम युग में मानव समुदायों के आपसी सम्बन्धों का निश्चय दोनों पक्षों की इच्छा के आधार पर ही किया जाता था। कहते हैं कि इन लोगों के बीच अपने-अपने शिकार, गुफा, घर, नदी का किनारा आदि के ऊपर एक प्रकार का सहज ज्ञान था और दूसरे व्यक्ति को इन्हीं चीजों को लेने में एक व्यक्ति का अन्तःकरण ही बाधक बन जाता था। मानव सभ्यता अपने आदिम काल की परिधियों को पार कर ज्यों ज्यों आगे बढ़ने लगी त्यों-त्यों समुदायों, गुटों, प्रदेशों, राज्यों एवं राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों में सुनिश्चितता आने लगी। आज के अन्तर्राष्ट्रीयता के युग में आकर राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों को कानून द्वारा नियन्त्रित करने का सचेतन एवं प्रभावपूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में राज्यों के बीच स्थित शान्ति एवं मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का वर्णन आया है। वैसे तो शान्ति एवं सहयोगपूर्ण विकास की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून जैसी संस्था का किसी न किसी रूप में प्रारम्भिक काल से ही महत्त्व रहा है किन्तु कई कारणों से वर्तमान समय में यह महत्त्व द्विगुणित हो गया है। राज्यों के बीच का बढ़ता हुआ व्यापार, आर्थिक दृष्टि से राज्यों की परस्पर निर्भरता, युद्ध में अणु आयुधों के उपयोग का भयानक परिणाम आदि तत्वों ने मिलकर विश्व-शान्ति एवं व्यवस्था को न केवल महत्त्वपूर्ण वरन् अपरिहार्य बना दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का इतिहास
(The History of International Law)

वातावरण और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के रूप पर समय-समय जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं उन पर एक विहंगम दृष्टि डालना अप्रासंगिक न होगा।

(१) प्रारम्भिक काल
(The Early Period)

यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आधुनिक व्यवस्था उस महान् राजनैतिक परिवर्तन का परिणाम है जिसने मध्य युग को आधुनिक युग

परिवर्तित कर दिया। वैसे इसका प्रयोग प्राचीन यूनान के नगर राज्यों के आपसी सम्बन्धों के निर्धारण मे किया जाता था। नगर राज्यों के सम्बन्धो के रूप ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को बहुत कुछ दिया है। इस काल मे अन्तर्नगर राज्यो के सम्बन्धों को कुछ नियमो के अनुसार सचालित करने का जो प्रयत्न किया गया उसके फलस्वरूप युद्ध के नियम, पचायत (Arbitration) का प्रयोग आदि का विकास हुआ। रोमन काल मे जब नगर राज्यों के स्थान पर बडे साम्राज्य निर्माण का प्रयत्न किया गया तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता कम हो गई। रोमन काल में विश्व सरकार का जो विचार पनपा तथा दो प्रकार के कानूनो की जो स्थापना की गई उससे अन्तर्राष्ट्रीय कानून बहुत अधिक प्रभावित हुआ व सामान्य नागरिकता और सभी लोगों को 'निष्पक्ष न्याय' का विचार पनपा। मध्य युग मे आकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने आधुनिक रूप लेना प्रारम्भ कर दिया तथा यह विचार धीरे-धीरे प्रभावशील होता गया कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का नियन्त्रण कुछ निश्चित वैधानिक सिद्धान्तो (Legal principles) द्वारा किया जाना चाहिये।

रोमन साम्राज्य के पतन और राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था के विकास के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के चरित्र एव महत्त्व मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रवेश विभिन्न पहलुओं मे हो गया जैसे—युद्ध का आचरण, निष्पक्षता की रक्षा, समुद्रों का शान्ति एव युद्ध के समय प्रयोग, उपनिवेशों की सीमायें निर्धारित करना आदि। इस युग मे लेग्नानो (Legnano), विक्टोरिया (Victoria), सोरेज (Suerez), जेन्टिलस (Gentilis) आदि अनेक विचारक हुए जिन्होने कुछ न कुछ नया जोड कर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास को गतिमान रखा। ह्यूगो ग्रोसियस को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पिता माना जाता है।

(२) ग्रोसियस काल

(Period of Hugo Grotius 1583–1945)

ह्यूगो ग्रोसियस ने पोलैण्ड मे जन्म लेकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सबध म जो कार्य किये उनसे ही उन्हे राजनीति शास्त्र मे एक अमर पद प्राप्त हो गया है। ग्रोसियस ने इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। उनम 'युद्ध और शान्ति के कानून के ऊपर' (On the Law of War and Peace) को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हुई है। ओपेनहिम के मतानुसार इस पुस्तक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक विज्ञान का सूत्रपात किया गया था क्योकि इस पुस्तक मे प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून के विज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा बना दिया गया। वाल्नि हान (Vollen Hoven) के विचारानुसार इस पुस्तक की चार मुख्य विशेषतायें हैं। प्रथम, ग्रोसियस ने

राज्यों को उन्हीं कानूनों के अधीन रखा है जो व्यक्ति पर लागू होते हैं। इन कानूनों के उल्लंघन को वह अपराध घोषित करता है जिसका प्रतिफल सजा होना चाहिये। दूसरे, धर्म शास्त्र, प्राचीन इतिहास और सांस्कृतिक ग्रन्थों के आधार पर ग्रोशियस ने अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया है। उसने शान्ति के कानूनों (Law of peace) का वर्णन किया है जो कि वर्तमान कानून की जड़ बन गये हैं। तीसरे, उसने बताया कि 'राज्य' कानून का उल्लंघन करने वाले दूसरे राष्ट्र को सजा दे सकते हैं। चौथे, उसने प्राकृतिक कानून या शुद्ध बुद्धि (Natural Law or right reason) को राज्यों के उचित व्यवहार के निर्णायक नियम माना था। पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) के शब्दों में "आज ग्रोशियस की सबसे अधिक प्रशंसा इस कारण की जाती है क्योंकि उसने राष्ट्र को मानवता के सिद्धान्त स्वीकार करने को प्रेरित किया था। प्राकृतिक कानून को परिभाषित करते समय स्वयं ग्रोशियस ने कहा था कि यह शुद्ध बुद्धि का प्रतीक है जो कि एक कार्य विशेष का परीक्षण करने के बाद यदि पाता है कि यह मनुष्य के बौद्धिक स्वभाव के प्रतिकूल है जो उसे नैतिक रूप से गलत बता देता है और यदि वह अनुकूल है तो उसे नैतिक रूप से आवश्यक कह देता है। ग्रोशियस की मान्यता थी कि ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता है और नैतिक रूप से आवश्यक कार्यों की आज्ञा उसी के द्वारा दी जाती है, अन्य कार्य उसकी इच्छा के विपरीत होते हैं। इस प्रकार ग्रोशियस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की कोई सूची नहीं दी गई वरन् यह बताया गया कि कानून क्या होना चाहिये। उसके द्वारा समर्थित प्राकृतिक कानून की मान्यता लगभग दो शताब्दियों तक विचारकों के मस्तिष्क को प्रभावित करती रही।"

(३) निश्चित कानूनों का युग
(Period of Positive Laws)

ग्रोशियस द्वारा दिये गये प्राकृतिक कानून के विचार व उसकी व्याख्या से भिन्न जोचे (Zouche) आदि कानूनी विशेषज्ञों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। कई विचारकों के मतानुसार जोचे के कानून सम्बन्धी विचार ग्रोशियस की तुलना में पूर्णतः विरोधी हैं। उसने प्राकृतिक कानून को गौण बता कर प्रचलित कानून (Customary Law) को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। एक नवीन शाखा के प्रतिपादक के रूप में कभी-कभी उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का दूसरा पिता कह दिया जाता है। विश्वास किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) शब्द का प्रयोग प्रथम बार बेन्थम के द्वारा किया गया था किन्तु जेरेमी बेन्थम (Jeremy Bentham)

को इस शब्द के प्रयोग की प्रेरणा जोचे के द्वारा प्रयुक्त शब्द 'राष्ट्र के बीच का कानून' (Law between nations) से मिली होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून से सम्बन्धित विचारधाराओं को मुख्यतः तीन भागों में बाटा जा सकता है। प्रथम, वे प्रचलित कानून (Customary Law) को गौण और प्राकृतिक कानून (Natural Law) को प्रधान मानते हैं। दूसरे वे जो कि प्रचलित कानूनों को प्राकृतिक कानूनों की तुलना में प्रमुखता देते हैं। तीसरे, विचारकों का वर्ग है जो कानून के दोनों ही रूपों को समान महत्त्व प्रदान करता है। उन्नीसवी शताब्दी में आकर अन्तर्राष्ट्रीय कानून विचारों, वादविवादों एव अखाड़ेबाजियों से उतर कर व्यवहार के क्षेत्र में आ गया और अब इस पर दार्शनिकों एव नीतिशास्त्रियों की अपेक्षा राजनीतिज्ञों और राजनीतिशास्त्रियों द्वारा विचार किया जाने लगा। दूसरे शब्दों में अब अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्वरूप वस्तुगत (Objective) हो गया तथा अपनी विषयगत प्रकृति (Subjective nature) को इसने छोड़ दिया। अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तनों एव परिस्थितियों का इस पर प्रभाव पड़ने लगा। विचारकों ने अपना आदर्शवादी दृष्टिकोण त्याग कर यथार्थवादी रूप मे विचार करना प्रारम्भ किया।

(४) वर्तमान काल

(The Modern Period)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक विचारकों में क्रैब (Krabbe), डुग्वी (Duguit) और केल्सन (Kelsen) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विचारकों ने मुख्य रूप से इस प्रश्न पर विचार किया है कि सम्प्रभु राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मानने के लिए किस प्रकार बाध्य किया जा सकता है। इन सभी विचारकों द्वारा एक मत से यह माना जाता है कि सभी कानूनों का एक सामान्य स्रोत (Common Source) है। क्रैब का मत है कि उचित के प्रति चेतना का ज्ञान मनुष्य का एक मनोवैज्ञानिक निहित गुण है, जैसे— नैतिक ज्ञान, धार्मिक ज्ञान आदि होता है। डुग्वी सामाजिक ठोसता (Social Solidarity) को कानून का आधार बताते हुए यह मानते हैं कि कानून का पालन इस कारण किया जाता है क्योंकि ऐसा करना समुदाय के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। केलसन (Kelsen) के विचार से कानूनों का पालन इसलिए किया जाता है क्योंकि वे प्रचलित रीति रिवाजों की उपज होते हैं। रीति रिवाजों के विरुद्ध एक तो कानून बनता ही नहीं है, और यदि बन भी जाये तो उसका पालन नहीं किया जाता, उदाहरण के लिए भारत के बाल-विवाह विरोधी कानून को लिया जा सकता है जो कि अनेक वर्गों में छोटे छोटे बच्चों की शादी की प्रथा को रोकने में असमर्थ रहा है। किसी भी कानून की

सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसके अनुकूल प्रथाओं और रीति-रिवाजों को मोड़ा जाए। कानून का केवल एक स्रोत मानने वाले विचारकों को, इस वर्ग को एकलवादी (Monist) कहा जाता है। इन एकलवादी विचारकों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून या किसी राज्य विशेष का कानून भिन्न भिन्न नहीं हैं— दोनों के बीच उच्चता एवं अधीनस्थता का सम्बन्ध है। यदि एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून और नगरपालिका के कानून के बीच विरोध हो जाए तो उसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून को ही प्राथमिकता दी जानी चाहिये। इन विचारकों के मत में स्वीकृति (Consent) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आधार न तो है और न हो सकता है। समस्त कानूनों का स्रोत अवैधानिक (Nonlegal) तत्त्वों में पाया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण
(Creation of International Laws)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण नहीं होता इनका तो प्राय विकास किया जाता है। सम्प्रभु राष्ट्रों के ऊपर ऐसी कोई संस्था नहीं है जिसे सर्वोच्च कहा जा सके और जो ऐसे कानूनों का निर्माण कर सके जिनको कि राष्ट्रों द्वारा बाध्य होकर माना जाए। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का विकास दो रूपों में होता है अथवा यों कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून दो प्रकार से बनते हैं। प्रथम प्रकार से तो इन कानूनों का व्यवहार एवं चलन (Practice and Process) की क्रमिक प्रक्रिया' द्वारा विकास होता है। दूसरे प्रकार के अनुसार ये 'सन्धियों की रचना एवं स्वीकृति' के माध्यम से जन्म लेते हैं। प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास मुख्यतः प्रचलन एवं व्यवहार द्वारा किया गया है किन्तु इन कानूनों की व्याख्या करने वाला कोई अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय न होने के कारण इनका व्यवस्थित रूप से विकास नहीं हो पाता। यह निश्चय करना भी बड़ा मुश्किल है कि कौन सी प्रथा या प्रचलन कानून बन जायेगा। अनेक बार ऐसा होता है कि रीति रिवाज प्रचलित होने पर भी सामान्य (Universal) नहीं बन पाते। प्रचलित कानूनों (Customary laws) की बड़ी कमी यह भी है कि इनके द्वारा विश्व की घटनाओं के परिवर्तित एवं गत्यात्मक (Dynamic) रूप के साथ समायोजन नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि दो या दो से अधिक राज्यों द्वारा सन्धि अथवा सम्मेलनों में नवीन नियमों का निर्माण किया जाता है, सन्धियाँ प्राय प्रचलित कानून के आधार पर की जाती हैं, सन्धि की इकाइयाँ राज्य होते हैं। सन्धियों की कार्यवाही राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा सचालित की जाती है तथा इसके उपबन्धों का प्रभाव केवल उन देशों पर ही होता है जो इसमें भाग लेते हैं। सधि एवं समझौतों द्वारा जिन कानूनों का निर्माण किया जाता है वे मुख्यतः

राज्यों की सामान्य समस्याओं का मुकाबला करने के सहयोगपूर्ण प्रयास का प्रतीक होते हैं। कुछ का सम्बन्ध सामाजिक, व्यावसायिक एवं आर्थिक मामलों से होता है जबकि दूसर शान्ति और युद्ध जैसी समस्याओं से सम्बन्धित रहते हैं। राष्ट्रसघ एवं सयुक्त राष्ट्रसघ के परिश्रमों द्वारा सधियों के मार्ग को आसान बना दिया गया था, ताकि कूटनीति को दूर किया जा सके। सयुक्त राष्ट्रसघ द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक सन्धि को पहले पजीबद्ध (Registered) कराया जायेगा तथा बाद मे सचिवालय उसे प्रकाशित कर देगा। राष्ट्रसघ की सन्धि ग्रन्थमाला मे २०५ सस्करण (Volumes) हैं जिसमे विभिन्न प्रकार के ४८३४ समझौते हैं। इसी प्रकार १९६१ तक सयुक्त राष्ट्रसघ के सन्धि ग्रन्थमाला मे भी ३६४ सस्करण बन गये जिनमे ५,२१२ सन्धियो का उल्लेख है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं राष्ट्रीय कानून
(International Law and the National Law)

प्राय प्रत्येक सस्था एव सगठन के अपने कुछ नियम तथा परम्परायें होती हैं जिनके आधार पर वह अपना शासन सचालित करता है। अपने कार्यक्षेत्र के आधार पर कानून विभिन्न श्रेणियों म विभाजित किये जा सकते हैं, उदाहरण के लिए पचायत कानून, नगरपालिका कानून, राज्य कानून, राष्ट्रीय कानून एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून। इनमे से प्रत्येक कानून का क्षेत्र विशेष होता है और उसी के आधार पर इसका महत्त्व निर्धारित किया जाता है। कुछ विचारकों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अतिरिक्त कानून के अन्य समस्त प्रकार एक श्रेणी म आ जाते हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध एक राष्ट्र की जनता से होता है। किन्तु दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे वे नियम समाहित रहते हैं जो कि सभ्य राज्यो द्वारा अपने पारस्परिक व्यवहार मे आवश्यक मान लिए जाते हैं। राष्ट्रीय कानून द्वारा व्यक्तियो के व्यवहार को विनियमित किया जाता है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यो के व्यवहार को विनियमित करता है। इन दोनो प्रकारों के कानूनों के बीच एक अन्य अन्तर यह भी है कि एक का सम्बन्ध घरेलू राजनीति से है किन्तु दूसरे का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से है। राष्ट्रीय कानून तो सम्प्रभु की आज्ञा होती है और इसलिए वह उस देश के नागरिकों पर लागू किया जाता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यों के ऊपर नहीं होता बल्कि राज्यों के बीच रहता है, इसलिए उसकी शक्ति एव प्रभाव कम है। राष्ट्रीय कानून का यदि किसी के द्वारा उल्लघन किया जाता है तो उसको न्यायपालिका, कार्यपालिका, अथवा अन्य किसी सस्था द्वारा दण्ड दिया जा सकता है और कानून का पालन करने के लिए

उसे बाध्य किया जा सकता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सम्बन्ध में ऐसी कोई प्रभावशील व्यवस्था नहीं है।

राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मध्य स्थित असमानता को कई प्रकार से वर्णित किया जाता है और इस सम्बन्ध में अनेक विचार-धारायें विकसित हुई। एक द्वैतवादी सिद्धान्त (Dualist theory) के अनुसार राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून दोनों परस्पर भिन्न एवं आत्म-पूरक हैं और एक, दूसरे के क्षेत्र में महत्त्व नहीं रखता। दोनों प्रकार के कानून दो पृथक वैधानिक आदर्श हैं जो कि भिन्न स्रोतों से उत्पन्न होते हैं, अलग-अलग विषयों से सम्बन्ध रखते हैं और उनके लक्ष्य भी अलग-अलग होते हैं।

दोनों प्रकार के कानूनों के सम्बन्ध को वर्णित करने वाली एक अन्य विचारधारा अद्वैतवादी विचारधारा (Monistic theory) है जिसके मतानुसार राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय मूल रूप से एक जैसा है। यह सच है कि एक का सम्बन्ध व्यक्तियों के व्यवहार को विनियमित करने से है और दूसरे का सम्बन्ध राज्यों के व्यवहार को विनियमित करने से। इस दृष्टिकोण के अनुसार कानून मूल रूप को एक ऐसा आदेश होता है जो कि अपने विषयों पर उनकी इच्छा से स्वतन्त्र रह कर लागू होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय कानून एक ही चीज के दो पहलू हैं।

साहित्यिक एवं आलंकारिक रूप में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अभिन्न मानने वाले विचारक सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे कितने ही सही क्यों न हों किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उनकी असत्यता स्पष्टतः जाहिर हो जाती है। समस्या उस समय उत्पन्न होती है जबकि हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि कानून के इन दो प्रकारों में से किसे प्राथमिकता दी जाए। विषयवस्तु भिन्न होने के कारण कई अवसरों पर राज्य के कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच विरोध उत्पन्न हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू करने के लिए प्रभावशील कार्यपालिका एवं न्यायपालिका नहीं होती। अतः उसे राष्ट्रीय स्तर की व्यवस्था एवं न्यायपालिका का ही सहारा लेना होता है। किन्तु यदि कानून के इन दोनों रूपों के बीच किन्हीं धाराओं में संघर्ष उत्पन्न हो गया तो महत्त्व एवं प्रधानता किसे प्रदान की जाएगी, इसका कोई निश्चित उत्तर हमारे पास नहीं है। इस उत्तर की तलाश में सैद्धान्तिक दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर चार प्रकार से दिया जाता है इसका अध्ययन हम निम्न प्रकार से करेंगे—

(1) सैद्धान्तिक विवेचन

(The Theoretical Analysis)

सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करते हुए विद्वानों ने जो चार मत प्रस्तुत किए हैं उनमें प्रथम को द्वैतवादी विचारधारा कहा जाता है जो कि इन दोनों कानूनों को अलग अलग मानती है। इस विचारधारा के समर्थकों में ट्रिपेल (Triepel) एवं एन्जिलोटी (Angilotti) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने विषयवस्तु, मूल स्रोत एवं बाध्यकारिता के आधार पर दोनों प्रकार के कानूनों के बीच भेद दिखाया है। दोनों की भिन्नता के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून, राष्ट्र कानून को प्रभावित नहीं कर सकता और इसी प्रकार राज्य का कानून अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सृजन अथवा परिवर्तन करने में असमर्थ है।

इस सिद्धान्त के विरोध में यह कहा जाता है कि असल में कानून व्यवस्था एक निकाय है और ये दोनों प्रकार के कानून उसकी शाखायें मात्र हैं जो अलग अलग क्षेत्रों पर लागू होती हैं। जो विचारक अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विषय व्यक्ति को नहीं वरन् केवल राज्य को मानते हैं वे सही नहीं हैं क्योंकि जब कभी युद्ध अपराधों के सम्बन्ध में मुकदमे चलाये जाते हैं तो वे व्यक्ति पर भी चलाए जाते हैं। दूसरे जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय कानून का स्रोत सामान्य इच्छा को मानते हैं वे एक ऐसा जटिल स्रोत हमारे सामने रखते हैं जो कि अस्पष्ट है।

दूसरा मत अद्वैतवाद कहलाता है जिसका प्रचार कैल्सन (Kelsen), क्रेब (Krabbe), कुन्ज (Kunz), दुरखीम (Durkheim) एवं राईट (Wright) आदि ने किया। इन विचारकों के मतानुसार कानून को दो अलग अलग श्रेणियों में विभाजित नहीं किया जा सकता। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून को राष्ट्रीय कानून से पूर्णतः अलग मानते हैं तो इसका अर्थ होगा कि हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून को कानून ही नहीं मान रहे हैं। ये विचारक दोनों कानूनों का प्रादुर्भाव एक ही उच्चतर कानून से मानते हैं जो कि अच्छे तथा बुरे (Right and Wrong) के सिद्धांत पर आधारित है। कानून के ये दोनों प्रकार अन्योन्याश्रित और एक जैसे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा राज्यों की सीमाओं को निर्धारित किया जाता है और उनके क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवादों को तय किया जाता है। दूसरी ओर राज्य कानून द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकृति प्रदान करने में पर्याप्त सहायता प्रदान की जाती है। यह कहा जाता है कि बाध्यता के आधार पर भी दोनों कानूनों को हम भिन्न नहीं मान सकते, क्योंकि दोनों ही ऐसी आज्ञायें हैं जिनका पालन इच्छा के विरुद्ध भी करना होता है।

इस सिद्धान्त को भी विचारकों की आलोचनाओं का विषय बनना पड़ा। इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि यह बात तर्कसंगत प्रतीत नहीं होती कि दो पूर्णतः स्वतन्त्र कानूनी पद्धतियां एक साथ कार्य करेंगी। इतने पर भी अद्वैतवादी सिद्धान्त द्वैतवादी सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक उपयुक्त माना गया। विचारकों का कहना है कि विषयवस्तु के आधार पर कानून के इन दोनों रूपों के बीच अधिक भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी भी राष्ट्रीय विषय को अन्तर्राष्ट्रीय संधि द्वारा वैदेशिक विषय में परिणत किया जा सकता है। यदि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बीच संघर्ष होता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि दोनों अलग-अलग कानून हैं, क्योंकि कई बार राज्य के दो कानूनों के बीच भी संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार कानून के विरुद्ध होते हुए भी एक अभिसमय उस समय तक चलती रहती है जब तक कि उसे रद्द न कर दिया जाये। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध होते हुए भी राज्य का कानून लागू रह सकता है।

तीसरा मत प्रोफेसर स्टार्क महोदय (Stark) का है। यह मत रूपान्तरवादी (Transformation) एवं विशिष्ट ग्रहण (Specific adoption) की विचारधारा कहलाता है। इस विचारधारा के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून को क्रियान्वित होने के लिए राष्ट्रीय कानून में परिणत होना पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में जो समझौते किये जाते हैं उनके नियमों को एक देश अपनी जनता पर तभी लागू कर सकता है जबकि वह उनके मध्य में कानून बना दे। इस आधार पर यह तर्क दिया जाता है कि यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय कानून को प्रभावशील बनाना चाहते हैं तो राज्य ने कानून का रूप प्रदान कर देना चाहिए। इस सिद्धान्त की कई प्रकार से आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि इसके द्वारा राज्य के कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को अलग-अलग मानना उचित नहीं है। दूसरे यह कहना भी सही नहीं है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को केवल राज्य के कानूनों के माध्यम से ही मान्यता प्राप्त होती है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कानून प्रत्यक्ष रूप में भी मान्य होते हैं।

चौथा मत प्रत्यायोजनवादी कहलाता है। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य को इस बात के निश्चय करने का अधिकार प्रत्यायोजित किया जाता है कि संधियां एवं अभिसमय राज्य पर कब और किस प्रकार लागू किए जायेंगे। असल में यह सिद्धान्त भी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्पष्ट नहीं कर पाता।

(ii) व्यावहारिक विवेचन
(The Practical Analysis)

सैद्धान्तिक आधार पर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अध्ययन करने के बाद यह उपयोगी रहेगा कि राष्ट्रों के व्यवहारों को देख कर कानून के इन दोनों रूपों के मध्य स्थित सम्बन्धों का निश्चय किया जाये। ग्रेट ब्रिटेन में जब अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को राष्ट्रीय क्षेत्र में लागू किया जाता है तो उस समय न्यायालयों के व्यवहार की तीन प्रमुख विशेषतायें रहती हैं। पहली बात तो यह है कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को विश्वव्यापी मान्यता अथवा इंग्लैंड की सम्मति प्राप्त हो चुकी है, वे अपने आप राष्ट्रीय कानून का भाग मान लिये जाते हैं। दूसरे जो अन्तर्राष्ट्रीय संधियां व्यक्तिगत अधिकारों को प्रभावित करती हैं अथवा जिनके द्वारा कॉमन लॉ में परिवर्तन आ सकता है उनको लागू करने से पूर्व संसद् द्वारा कानून बनाना जरूरी है। तीसरे, यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून या राज्य के कानून में कभी संघर्ष उत्पन्न हो जाए तो राज्य के कानून को महत्त्व दिया जाएगा।

संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यवहार को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि सम्मिश्रण सिद्धान्त (Incorporation theory) को अपनाया जाता है जिसके अनुसार यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून देश की परम्पराओं के अनुकूल है तो वह राज्य कानून बन जाता है। दूसरे, संयुक्त राज्य अमेरिका के व्यवहार की एक नवीनता यह है कि अगर राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध भी कोई अन्तर्राष्ट्रीय संधि कर ली जाए तो वह मान्य समझी जाती है। तीसरे, यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रथम नियम ही राज्य कानून के विरुद्ध है तो राज्य का कानून मान्य समझा जायेगा।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद ५१ का राज्य की नीति का एक निर्देशक सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति सम्मान रखने को कहता है। यद्यपि संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार इन नीति निर्देशक सिद्धान्तों को न्यायालय के द्वारा लागू नहीं कराया जा सकता किन्तु फिर भी यह आशा की जाती है कि इससे विधि निर्माण की प्रक्रिया पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा।

जर्मनी में और कुछ परिवर्तनों के साथ सोवियत रूस में वही व्यवहार मिलता है जो कि ग्रेट ब्रिटेन में है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रकार
(The Kinds of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का निर्माण कई प्रकार से होता है और इसके स्रोत भी विभिन्न प्रकार के होते हैं इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि इन कानूनों की प्रकृति, रूप एवं लक्ष्य में विभिन्नता आ जाय। कई आधारों

पर अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का विभाजन किया जाता है, इनमें प्रमुख विभाजन निम्नलिखित हैं—

१. व्यक्तिगत एवं सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Private and Public International Law)
२ प्रक्रिया सम्बन्धी एवं वास्तविक कानून (Procedural and Substantial Law)
३ शान्ति, युद्ध एवं निष्पक्षता के नियम (Laws of Peace, War and Neutrality)
४. विशेष और सामान्य या सार्वभौमिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Particular and general or universal law)
५. शक्ति, सहयोग और परस्पर सम्बन्धों के कानून (Law of power, co-ordination and reciprocity)

प्रो० डिकिन्सन (Professor Edwin D Dikinson) ने बताया है कि व्यक्तिगत अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से सम्बन्धित विषयों पर न्यायीकरण एवं नियमन (Adjudication and regulation) की समस्या उठ खड़ी होती है क्योंकि लोगों एवं व्यक्तियों का एक देश से दूसरे देश में आवागमन लगा ही रहता है तथा राष्ट्रीय सीमाओं के परे सम्पत्ति, परिवार, समझौते, आदि भी खपते (Consumated) ही रहते हैं। पामर तथा परकिन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के दो अन्य रूपों का भी वर्णन किया है। एक तो समुद्रीय व्यापार का कानून है जिसे वे एडमिरेल्टी कानून (Admiralty law) कहते हैं और इसके दूसरे प्रकार को अन्तर्राष्ट्रीय सज्जनता (International Comity) का नाम देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों में युद्ध के कानून और शान्ति के कानून का नाम भी उल्लेखनीय है।

युद्ध के कानूनों की आवश्यकता इस कारण हुई कि जहां न्याय की स्थापना एवं शोषण तथा अन्याय का विरोध करने में शान्तिपूर्ण साधन सफल नहीं हो पाते वहां पर युद्ध अपरिहार्य बन जाता है। यह एक देश की आत्म-रक्षा का अन्तिम तरीका है। कई स्थितियों में युद्ध न्यायपूर्ण एवं धर्मयुद्ध बन जाते हैं किन्तु धर्मयुद्धों में भी कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक बन जाता है। अनेक अभिसमयों एवं अभिलेखों द्वारा भूमि और समुद्र पर युद्ध के विभिन्न कानूनों का निर्माण किया गया है। ऐसे कानून युद्ध के घायलों की देखभाल, युद्ध के बन्दियों के साथ बर्ताव, मेडीकल कर्मचारियों को सुविधायें देना, अवरुद्ध हथियार एवं अभिकरणों, जीती हुई शत्रु की भूमि में सैनिक कमाण्डर की शक्ति, निष्पक्ष राष्ट्रों के कर्त्तव्य एवं अधिकार, जहरीली गैसों का प्रयोग आदि बातों से सम्बन्धित रहते हैं। युद्ध के कानूनों ने,

यह माना जाता है कि युद्ध को मानवीय बनाने मे भारी सहायता की है। प्रायः सभी देशो द्वारा इनका अनुशीलन किया जाता है। किन्तु अभी तक वायु के युद्ध के सम्बन्ध मे किसी प्रकार के ऐसे कानूनों का निर्माण नहीं किया गया है जो कि प्रभावशाली हों। प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व युद्ध के कानून प्रायः निरपेक्षता के कानून थे। इन कानूनो का पालन युद्ध के समय न किया जा सका। जहा इन कानूनो का व्यवहार सम्भव था वहा भी इनकी अवहेलना की गई। आज जब कि पूर्ण युद्धों (Total wars) का प्रचलन है, निरपेक्षता का प्रयोग बड़ा ही असम्भव बन गया है। फिलिप जैसप (Philip C Jessup) के विचार से यदि समाज के वर्तमान या भविष्य की एकता को देखा जाय तो हम पायेंगे कि निरपेक्षता (Neutrality) आज एक समाज विरोधी स्थिति (Antisocial Status) बन गई है।

शान्ति के कानून भी युद्ध के कानूनो की भाँति विश्व व्यवस्था को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं किन्तु शान्ति के कानूनों का विषय-क्षेत्र युद्ध के कानूनो से पर्याप्त भिन्न रहता है। शान्ति के कानूनों के विषय क्षेत्र को डिकिन्सन (Professor Dikinson) द्वारा मुख्यत ६ भागो में बांटा गया है जो निम्न प्रकार हैं—

१ राष्ट्र राज्यो के जन्म, स्वीकृति, जीवन और मृत्यु से सम्बन्धित,
२ राष्ट्रीयता एव उसके तत्वों से सम्बन्धित,
३ राष्ट्रीय प्रशासन से सम्बन्धित;
४, ५ समझौतो, सम्पर्कों और अधिकार क्षेत्रो से सम्बन्धित,
६ झगड़ों के निपटारे से सम्बन्धित कानून।

पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) ने बताया है कि इनमें से प्रत्येक पहलू पर बहुत सारा साहित्य उपलब्ध है तथा इन पहलुओं के माध्यम से ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को विभाजित करने वाला प्रत्येक आधार दुहराव, अधूरापन एव परस्पर विरोध जैसे अवगुणो से दूषित है। इन दोषो का होना स्वाभाविक है तथा ये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की प्रकृति की उपज हैं। लेखकों ने बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का निर्माण करने मे क्या-क्या व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य करने पड़ते हैं तथा उनकी व्याख्या के लिए कौन से न्यायिक (Judicial) और उन्हें लागू करने के लिए कौन-कौन से कार्यपालिका से सम्बन्धित कार्यों की साधना की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यों का सुधार करने के लिए कोई प्रयास नहीं किया गया है किन्तु इसके न्यायिक तथा कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्यों का सुधार करने के लिए अनेक सफल प्रयास किये गये हैं। इन सब प्रयासों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विशेषित

प्रकृति (Decentralized Nature) ने अपने आपको सबल बनाया है और इस प्रकार विकेन्द्रित प्रकृति अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मूलतत्व (Essence) बन गई है। जो सिद्धात विकेन्द्रीकरण को अपरिहार्य बना देते हैं वे सम्प्रभुता के सिद्धान्त में प्राप्त होते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को नियमबद्ध करना
(Codification of International Law)

प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो के अर्थ एवं स्वरूप के बारे में पर्याप्त भ्रम रहता है तथा इनके अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। इस व्यवहार को रोकने की दृष्टि से उनको नियमबद्ध करने का प्राय. सुझाव दिया जाता है ताकि उनकी व्याख्या का एक-सा तरीका अपनाया जा सके। किन्तु नियमबद्ध (Codifide) करने से जितनी समस्यायें दूर होती हैं लगभग उतनी ही कठिनाइयां इसके कारण उत्पन्न भी हो जाती है। यह एक धीमी प्रक्रिया है। इसमे कानूनो को ज्यों का त्यों पजीबद्ध कर लिया जाता है, कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। किन्तु विभिन्न विचारको द्वारा यह सुझाया जाता है कि यदि कानून में सुधार करना हो तो उन्हें लिखते समय निश्चितता एव स्पष्टता लाकर उसके अभावो एव असहमतियों को प्रकट किया जा सकता है। यह प्रक्रिया कानूनों का परिवर्तन करने में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता कर सकती है। कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को नियमबद्ध (Codifide) करने से अनिश्चय की भावना का प्रसार भी हो जाता है।

विधान के अनेक विद्यार्थी इस बात के पक्ष में हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून को सकलित एव व्यवस्थित कर दिया जाय तथा राज्यों के परस्पर सम्बन्धों के विषय मे जो विचार हों उनको स्पष्ट किया जाय। नियमबद्ध करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थापन दो अलग-अलग बातें हैं। पामर तथा परकिन्स के शब्दों में नियम सग्रह (Code) का निर्माण कानून को एक निश्चित क्षेत्र में व्यवस्थित बनाना है। इस प्रक्रिया द्वारा रिक्त स्थानो की पूर्ति की जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो या नियम सग्रह बनाने का कार्य सर्वप्रथम १८६१ में आस्ट्रिया के एक न्यायशास्त्री (Jurist) द्वारा किया गया था। उसके बाद फ्रांसिस लिबर (*Francis Lieber*), ब्लन्ट्श्ली (*Bluntshli*), डेविड डडले फील्ड (David Dudley Field) आदि न्याय शास्त्र के विचारकों द्वारा भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कदम उठाये गये। वर्तमान काल मे विभिन्न विचारकों द्वारा ऐसे नियम संग्रह प्रस्तुत किये गये हैं। अनेक सस्थाओं ने इस कार्य में योगदान किया। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून सस्था (International law association), अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अमेरिकन समाज (The American Society of International Law) आदि

महत्त्वपूर्ण है। १८६४ में जेनवा सम्मेलन के बाद में अधिकारी रूप में भी ऐसे नियमों का संग्रह प्रकाशित किया जाने लगा। इसके बाद राष्ट्रसंघ (League of Nations) तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का संग्रह तैयार करने का कार्य संभाल लिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नियमबद्ध करने की प्रक्रिया कुछ विद्वानों के मतानुसार उतनी ही आवश्यक एवं आधारभूत है जितनी कि उसकी विकेन्द्रित प्रकृति होती है। अधिकतर नियमबद्धता उन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों पर की गई जिनका सम्बन्ध संचार साधनों के क्षेत्र तथा मानवीय उद्देश्यों से होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पीछे दबाव
(Sanctions behind International Law)

प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन क्यों किया जाता है? यह सच है कि विश्व शांति में एवं व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से यह आवश्यक एवं अपरिहार्य बन जाता है कि सभी देश अपने व्यवहार को कानून द्वारा मर्यादित रखें तथा उच्छृंखल व्यवहार के प्रत्येक लोभ का संवरण करते चलें। किन्तु यह एक व्यावहारिक सत्य है कि आवश्यक एवं अपरिहार्य चीजें बड़ी कठिनाइयों के बाद ही व्यवहृत की जा सकती हैं। जीवन का यह एक विरोधाभास है कि प्रेय बहुधा श्रेय नहीं होता और श्रेय प्रायः प्रेय नहीं बनता। इस विरोधाभास को मिटाना ही मानव सभ्यता और संस्कृति के उत्थान का बीज है। अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की सबसे बड़ी आलोचना यह की जाती है कि इन कानूनों को लागू नहीं किया जा सकता। इनका पालन स्वतन्त्र एवं संप्रभु राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर है जो जैसा कि यथार्थवादी विचारक मानते हैं, सदैव स्वार्थ में लिप्त तथा शक्ति वृद्धि के लिए जागरूक रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून राष्ट्रीय स्वार्थ एवं राष्ट्रीय शक्ति का अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हो सकता है किन्तु प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप में तो वह एक प्रभावशील साधन का ही काम करता है। राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून की जानबूझ कर, घोषणाएं करके अवहेलना की जाती है किन्तु फिर भी ऐसा कोई साधन नहीं कि उनको इस धृष्ट कर्म के लिए उनको सजा दी जा सके। तथ्यों के आधार पर कुछ विचारकों ने यह मत प्रकट किया है कि ज्यों-ज्यों अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सुधार होता है अर्थात् इसका स्तर ऊँचा उठता है त्यों-त्यों इसके मानने वालों की, इस पर अमल करने वालों की संख्या भी कम होती चली जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन कुछ निश्चित परिस्थितियों का परिणाम होता है। एक राष्ट्र विशेष के उद्देश्य एवं दृष्टिकोण भी उसे ऐसा करने के लिए प्रेरित कर सकते हैं।

को लागू कराने में अनेक परिस्थितियों, मनोभावों, घटनाओं आ।. प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हाथ रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करने के लिए एक राष्ट्र को प्रेरित करने वाले विभिन्न तत्वों में मुख्य मुख्य इस प्रकार हैं—

१. आदत २ सुविधा ३ आत्मचेतना ४ अनौपचारिक दवाब ५. आत्महित (Self-Interest) आदि। प्रत्येक राष्ट्र एक समय में अनेक प्रकार के रुख अपनाने के लिए स्वतन्त्र रहता है, उदाहरण के लिए वह दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक या आर्थिक प्रभाव का उपयोग कर सकता है। ये प्रभाव प्राय सभी वैधानिक व्यवस्थाओं में प्रयुक्त किये जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक राज्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को लागू कराने के कुछ अन्य औपचारिक साधन भी अपनाये जा सकते हैं। इन साधनों को प्राय प्रतिबन्ध (Sanctions) कहा जाता है। श्लाइशर (Schleicher) के शब्दों में प्रतिबन्ध एक ऐसी क्रिया है जो कि साधारणत अवैध होती है किन्तु कानून तोड़ने वाले के विरुद्ध वैध समुदाय (Legal Community) द्वारा इसे स्वीकार किया जाता है।[1] कानून का पालन करने वाले के विरुद्ध ये प्रयुक्त नहीं की जाती। राष्ट्रसघ एव सयुक्त राष्ट्र संघ के व्यवस्था-पत्रों में इस प्रकार के प्रतिबन्धों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के कदम उठाना सामूहिक सुरक्षा प्रयत्नों के एक भाग के रूप में ही राष्ट्र सघ एव सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा अपनाया गया। सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि यदि सामूहिक सुरक्षा के शान्तिपूर्ण साधन असफल हो जायें तो शक्ति का प्रयोग भी किया जा सकता है। इसके विरुद्ध यह कहा जाता है कि एक आदर्श कानून को लागू कराने के साधन भी वैधानिक ही होने चाहिये; शक्ति द्वारा उनको लागू कराने का अर्थ होगा कानून की आत्मा का हनन कर देना। इसी आधार पर श्लाइशर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि "सयुक्त राष्ट्र सघ यथार्थ में अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नष्ट करता है, यह इनको लागू करने का स्वय उत्तरदायित्व नहीं लेता।"[2]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का मूल्यांकन
(An evaluation of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो महत्व रहा उस पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक बार इसने अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटावों को पैदा होने एव बढ़ने से रोका है किन्तु फिर भी जैसा कि

1. Schleicher, International Relations, P. 385
2. Schleicher, Ibid, P. 385

अधिकांश विचारकों का मत है अन्तर्राष्ट्रीय कानून के परिणाम आशाजनक एवं अधिक प्रभावशाली न हो सके। पामर तथा परकिन्स महोदय ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की पांच सीमाओं का वर्णन किया है जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय कानून सफलतापूर्वक कार्य करने की अपेक्षा एक अपर्याप्त साधन मात्र रह जाता है। ये पाच सीमायें निम्न हैं—

१ व्यवस्थापन कार्य की अपूर्णता,
२ न्यायिक कार्यों में विभिन्न गम्भीर सीमायें,
३ प्रभावशील प्रयोग की (क्रियान्विति की) कमी,
४ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के कार्यों एवं क्षेत्रों पर सीमायें,
५ कानून के उद्देश्य एवं प्रकृति के सम्बन्ध में गलतफहमियां (Misunderstandings)।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की ये समस्त सीमायें अन्तर्राष्ट्रीय समाज के वर्तमान चरित्र में निहित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज सामान्यतः वैध व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता तथा उसका मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में इसे लागू नहीं किया जा सकता। जेसप (Philip Jessup) का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून की मूल कमजोरी यह है कि परम्परागत अन्तर्राष्ट्रीय कानून केवल राज्यों के बीच का कानून है। यह व्यक्तियों के बीच का या व्यक्ति और राज्यों के बीच का कानून नहीं है।[1] जेसप का विचार है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधुनिक रूप का विकास करना है तो व्यक्तियों सहित अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विस्तार करना होगा। उन्होंने बताया है कि अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक व्यवस्था की दो मूल कुन्जियां हैं। पहली यह है कि राष्ट्रीय कानून की भांति अन्तर्राष्ट्रीय कानून भी सीधे व्यक्ति पर लागू होना चाहिए। वह परम्परावादी कानून की भांति व्यक्ति से दूर नहीं रहना चाहिये। दूसरे उस हित का स्पष्टीकरण होना चाहिये जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पालन करने से पूरा होने वाला है। कानूनों का उल्लंघन भी केवल राज्यों का ही मसला नहीं माना जाना चाहिए। हेन्स केलसन (Hans Kelsen) के मतानुसार युद्ध को रोकने का एक प्रभावपूर्ण साधन यह है कि युद्ध क्षेत्र पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने का उत्तरदायित्व पूरी तरह से सरकार के सदस्यों पर व्यक्तिगत रूप से डाला जाना चाहिये। क्विन्सी राइट ने इस मत के समर्थकों के विचारों की व्याख्या करते हुए बताया है कि ये सिद्धात रूप से विश्व समाज को सम्प्रभु राष्ट्रों से विश्व सगठन में परिवर्तन करना चाहते हैं जिसमें कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा मानव अधिकारों

1. Philip Jessup, A Modern Law of Nations

की रक्षा की जायगी, अन्तर्राष्ट्रीय अपराधों को सजा दी जायगी तथा व्यक्ति एवं राज्य दोनों पर अपने कानूनों को लागू करेगा।

विश्वशांति की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बहुत प्रशंसा की जाती है। किन्तु कुछ विचारकों के मतानुसार यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक पहलू मात्र है और किसी भी अर्थ में यह एक महत्वपूर्ण पहलू नहीं है। कहा जाता है कि युद्ध और शान्ति पर प्रभाव डालने वाले बड़े-बड़े मसले अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिधि के बाहर रहते हैं। जिन विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का हस्तक्षेप है उनमें भी आवश्यक नहीं कि प्रभावित राष्ट्र उसका आदर करें। राष्ट्रीय सम्मान तथा आदर के प्रश्न इसके सफल संचालन के मार्ग की बाधायें हैं। इन सबके बावजूद पामर तथा परकिन्स जैसे विचारकों का मत है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय वैधानिक व्यवस्था का निर्माण करने में विधेयात्मक प्रयास करता है जिसके अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की शांति व स्थिरता खतरे में पड़ सकती है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून एक प्रकार से उन सभी प्रयासों के परिणामों को पंजीबद्ध कर देता है जो कि शांति की खोज में किए जाते हैं। डिकिन्सन (Dikinson) के शब्दों में शांति का प्रत्येक दिवस कानून के विस्तार का एक समय है। सीनेटर टाफ्ट ने कहा था कि विश्व शांति तब तक असम्भव है जब तक कि राष्ट्र उनके परस्पर के सम्बन्धों को प्रशासित करने वाले किसी निश्चित कानून पर सहमत नहीं हो जाते। राष्ट्रों को सहमत होकर यह मानना चाहिए कि वे अपने झगड़ों को बिना निषेधाधिकार का प्रयोग किये न्यायाधिकरण (Abjudication) के लिए प्रस्तुत करेंगे तथा निष्पक्ष न्यायालय का जो निर्णय होगा उसे बाध्य होकर मानेंगे। इसके लिए जैसप अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता पर जोर देते हैं। उनका कहना है कि जब तक विश्व सरकार की स्थापना द्वारा सम्पन्न राष्ट्र की व्यक्तिगत इच्छा को सामूहिक इच्छा के अधीन नहीं बना दिया जाता तब तक कानून के अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् मानव-संघर्षों के सुलझाने में शक्ति प्रयोग को मिटाना, को प्राप्त नहीं किया जा सकता।[2] अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों को सफल रूप से संचालित करने के लिए विश्व के अधिकांश देशों में सहयोग की भावना का होना अनिवार्य है। यह भावना न केवल कानून निर्माण के बाद वरन् कानून निर्माण के पहले भी होनी चाहिए। विश्व सरकार की स्थापना तथा निःशस्त्रीकरण के प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं।

1. Palmer and Perkins, op cit., p 327
2. Jessup, A Modern Law of Nations, P. 2.

विश्व सरकार
(THE WORLD GOVERNMENT)

विश्व के स्वरूप पर सैद्धान्तिक रूप से विचार करते समय अधिकांश विद्वानों द्वारा आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को माना जाता है। यातायात एवं संचार साधनों के विकास तथा अन्य वैज्ञानिक प्रगतियों के सहारे विश्व के रूप में जो परिवर्तन आया है उसे देखते हुए यह विशेषता अतिशयोक्ति की परिधि में नहीं आती। यह निःसन्देह स्वीकार किया जाता है कि मानव ने बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ज्योंही प्रवेश किया त्योंही एक विश्वव्यापी समाज या विश्वसभ्यता विश्व के नक्शे पर उभरने लगी। विश्व के देश आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आदि दृष्टियों से परस्पर इतने सम्बन्धित तथा आश्रित हो गए हैं कि एक देश में इन क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव विश्व के अन्य देशों पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता। -

अणु शक्ति के आविष्कार से सम्पूर्ण युद्ध (Total War) का जो उदय हुआ है उससे सभी देशों में एक साथ विनाश की प्रवृत्ति का विरोध करने के भाव विकसित हुए। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए यह आशा की जाती है कि अधिक से अधिक लोग यह सोचने लगेंगे कि मानव जाति ने आज तक जो प्राप्त किया है तथा विश्व का समस्त कला, विज्ञान, धर्म, संगीत आदि उनका अपना हो है यह उसे विनाश से बचाना चाहिये। किन्तु केवल इस भावना का विकास ही विश्व शांति के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि राष्ट्रीय सम्प्रभुता के संघर्षमय रूप का शमन न किया जाए। इस समस्या पर रचनात्मक रूप से विचार करते हुए विभिन्न विचारकों ने विश्व सरकार की स्थापना का सुझाव दिया है जिसके अनुसार वर्तमान स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्र विश्व संगठन की उसी रूप में इकाई बन जायेंगे जिस रूप में एक संघीय व्यवस्था में इकाइयां हुआ करती हैं।

विश्व सरकार की मान्यता का आधार
(Basis of the Concept of World Government)

सारे संसार में एक ही शासन व्यवस्था का संचालन बहुत पुराने समय से ही मनुष्य जाति का आदर्श रहा है। इस आदर्श के उद्देश्यों के रूप में समय समय परिवर्तन आता रहा है। भारत में चक्रवर्ती सम्राट् बनने की महत्त्वाकांक्षा के पीछे प्रशासकों की अहंकार भावनाएं ही व्यक्त होती थीं किन्तु आज की विश्वव्यापी सरकार की मान्यता का आधार इससे भिन्न है। आज के लोग विश्व से युद्धों को दूर करने तथा शान्ति को चिरस्थायी बनाने

के लक्ष्य से विश्व सरकार की मान्यता का समर्थन करते हैं जबकि प्राचीन साम्राज्यवादी भावनाओं और विश्वव्यापी सरकार के स्वप्नों को साकार करने के लिए युद्ध का सहारा लिया जाता था। आज विश्व सरकार की मान्यता का समर्थन मुख्यतः विचारकों एवं सामान्य जनों द्वारा किया जाता है जबकि पहले इसके समर्थन का स्रोत केवल प्रशासक वर्ग था जिसके शांति विरोधी एवं जन विरोधी हित इसके साथ जुड़े हुए थे।

वर्तमान काल में विश्व सरकार के विचार का जो समर्थन किया जाता है वह अनेक आधार स्तम्भों पर स्थित है। मानवीय, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि के आधार पर इसे न्यायोचित आवश्यकता ठहराया जाता है। यह कहा जाता है कि मनुष्य मनुष्य के बीच राष्ट्रीय सीमाओं के कारण भेदभाव रखना अनुचित है। मनुष्य होने के नाते अमरीका का नागरिक भी उतना ही मूल्यवान एवं महत्वपूर्ण है जितना कि अन्य छोटे देश का होता है। राष्ट्रीय सरकार एवं सीमाओं में परिमित रहने के कारण इन दोनों के बीच प्रायः अन्तर दिखाया जाता है जो अमानवीय है और इसका एकमात्र इलाज है 'विश्व सरकार'। अनेक विचारकों के अनुसार विभिन्नता एवं क्रियात्मक शक्ति की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति ही संस्कृति का आधार-स्तम्भ माना जाता है। राष्ट्रवाद की भावना से प्रभावित होकर एक जनसमुदाय अपनी संस्कृति को दूसरे देश की संस्कृति पर लादने का प्रयास कर सकता है और इस प्रकार विश्व के विभिन्न मानव समुदायों को अपने स्थान विशेष एवं रुचि विशेष के अनुसार स्वयं की संस्कृति का विकास करने का अवसर प्राप्त नहीं हो पाता। विश्व सरकार की स्थापना करके सांस्कृतिक विकास की इस प्रधान बाधा को दूर किया जा सकता है। आज समस्त विश्व को एक परिवार मानने की धारणा शनैः-शनैः जोर पकड़ती जा रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकं' तथा 'सारा जहां हमारा' के नारों के पीछे विश्व सरकार की स्थापना का विचार निहित है।

विश्व सरकार की मान्यता की कुछ विशेषताएं
(Some characteristics of the concept of World Government)

विश्व सरकार वर्तमान समय की एक अनिवार्य आवश्यकता समझी जाती है। यह महत्व एवं उपयोगिता की दृष्टि से जितनी आवश्यक है, यथार्थता एवं क्रियान्विति की दृष्टि से उतनी ही अव्यावहारिक भी है। विश्व सरकार के स्वरूप का वर्णन करते समय भिन्न भिन्न विचारकों ने जो मत प्रकट किए हैं उनका निरीक्षण करने के बाद इस मान्यता की निम्नलिखित मुख्य-मुख्य विशेषताएं सामने आती हैं—

(१) विश्व सरकार शांति और व्यवस्था की निर्मापक है
(World-Goverament is maintainer of peace and order)

यह कहा जाता है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर देश में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए एक शक्ति सम्पन्न सरकार की आवश्यकता होती है जिसके पास पुलिस व सैनिक शक्ति रहे तथा जिसकी आज्ञाओं के उल्लंघनकर्त्ता को दण्ड दिया जा सके, उसी प्रकार यदि विश्व मे शांति और व्यवस्था की स्थापना करनी है तो विश्व सरकार की रचना करना जरूरी होगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे इस सरकार के पास सर्वोच्च शक्ति रखी जाएगी ताकि विश्व के देश सदैव एक दूसरे के विरुद्ध लड़ते न रह सकें और सदैव सर्वोच्च शक्ति के अधीन अनुशासन बनाए रख सकें। क्लाड (Claude) महोदय के शब्दों में 'सामान्य रूप से विश्व सरकार के सिद्धात का अर्थ ऐसी सत्ताधारी, शक्तिशाली केन्द्रीय संस्थाओं का निर्माण करना है जो राज्यों के बीच मे सम्बन्धो का, मुख्यत अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो को रोकने के लक्ष्य से, प्रबंध कर सकें।[1] मार्गेन्थो के मतानुसार विश्व सरकार के समर्थकों के तर्क अकाट्य हैं। ससार मे तब तक कोई स्थायी शान्ति नही हो सकती जब तक कि राजनैतिक विश्व की सीमाओ से ऊपर एक राज्य का अस्तित्व न हो जायेगा। विश्व शांति के लिए अब तक किए गए प्रयासो मे मनुष्य जाति को कई बार निराशा का अनुभव करना पडा है। इसका कारण यह बताया जाता है कि संघर्ष तथा युद्ध के मूल कारण आघात न करके उसके परिणामो की ही रोकथाम की गई थी। शक्ति सतुलन, सामूहिक सुरक्षा, नि:शस्त्रीकरण आदि साधनो के द्वारा राष्ट्रीय सम्प्रभुता पर केवल सीमाए लगाने का प्रयास किया गया, उसे समाप्त न किया गया तथा इस सबका फल यह हुआ कि विश्व-शांति को स्थायी रूप से प्राप्त न किया जा सका।

(२) राष्ट्रीय सम्प्रभुता का विरोधी
(Opposite to the National Sovereignty)

वर्तमान विश्व अनेक ऐसे राष्ट्रो से मिल कर बना है जो अपने क्षेत्रो मे सम्प्रभु हैं तथा जिनका आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहार स्वेच्छा से सचालित होता है न कि किसी दूसरी शक्ति के दवाव के कारण। व्यवहार में स्वेच्छा और स्वतन्त्रता का प्रयोग एक सीमा तक ही उपयुक्त रहता है। उससे आगे बढने पर एक देश का व्यवहार दूसरे देश के व्यवहार की स्वेच्छा और स्वतन्त्रता को नष्ट कर देता है तथा विश्व समाज में शक्तिशाली की विजय का जगली कानून प्रभावशील बन जाता है। इन सम्भावनाओ से बचने के

1 Claude I. L., Power and International Relations P. 206,

लिए विश्व सरकार का समर्थन किया जाता है। यह कहा जाता है कि यदि विश्व को आत्म-विनाश से बचाना है तो राष्ट्रीय सम्प्रभुता को अन्तर्राष्ट्रीय दावों और संस्थाओं से प्रतिबन्धित करना ही पर्याप्त न होगा। इसके लिए व्यक्तिगत राज्यों की सम्प्रभुता का एक विश्व शक्ति को हस्तान्तरण करना होगा। यह विश्व सत्ता इन व्यक्तिगत राज्यों के ऊपर उतनी ही सम्प्रभु रहेगी जितने सम्प्रभु ये राष्ट्र अपनी अपनी सीमाओं में रहते हैं। मार्गेन्थो के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय समाज में जो सुधार के प्रयास किए गए वे असफल रहे क्योंकि वे तो असफल होने ही थे। आवश्यकता यह है कि सम्प्रभु राष्ट्रों के इस विश्व समाज को व्यक्तियों के राष्ट्रों से उच्च समुदाय (Supranational Community) में परिवर्तित कर दिया जाये।"[1]

(१) विश्व सरकार शक्ति प्रबन्धक के रूप में
(World Government as a manager of Power)

राज्यों के शक्ति सम्बन्धों का प्रबन्ध करने के लिए प्रारम्भ से ही अनेक विचार सुझाए गये हैं। किन्तु कोई आशाजनक सफलता अभी तक प्राप्त नहीं की जा सकी है। यह कहा जाता है कि विश्व सरकार की स्थापना का दृष्टिकोण इस काम को करने के लिए उपयुक्त है। यही कारण है कि इस विषय पर भारी साहित्य उपलब्ध है। विश्व सरकार की मान्यता का प्रधान महत्व इस बात में निर्भर है कि इसे सर्वसम्मति से शक्ति के प्रबन्ध की समस्या का एक उचित सैद्धान्तिक सुधार माना जाता है। यह स्वीकार किया जाता है कि इस समय संसार में एक प्रकार की अराजकता वर्तमान है, इसके कारण युद्ध अनिवार्य सा बन जाता है। युद्ध को रोकना एक भारी आवश्यकता बन गया है। इस लक्ष्य को विश्व सरकार की स्थापना के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'मौलिक रूप से नवीन' इस व्यवस्था की स्थापना विश्व-व्यवस्था (World-order) का आवश्यक और सम्भवतः पर्याप्त साधन कहा जाता है। अल्बर्ट आइन्स्टीन ने कहा था कि "राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों में अभी तक पूर्ण रूप से अराजकता *व्याप्त है। मेरा विश्वास नहीं है कि हमने पिछले कुछ हजार वर्षों से इस क्षेत्र* में कोई वास्तविक प्रगति की हो।"[2]

---

1. Morgenthau, Politics among Nations P. 470.
2. Otto Nathan and Heinz Norden. eds, Einstein on Peace, P. 494.

(४) सामूहिक सुरक्षा का अगला कदम
(World Government is next to collective security)

विश्व सरकार की मान्यता को शक्ति सतुलन तथा सामूहिक सुरक्षा की मान्यता से नवीन माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के गम्भीर विचार विमर्श में इसका प्रभाव अभी बढने लगा है। शक्ति सन्तुलन को आधुनिक विश्व व्यवस्था की परम्परावादी मान्यता (Traditional concept) कहा जा सकता है। सामूहिक सुरक्षा की मान्यता ने प्रथम विश्व युद्ध के समय सैद्धान्तिक चित्र ग्रहण किया और विश्व सरकार की सम्भावना तथा सगठित समर्थन द्वितीय विश्व युद्ध के साथ प्रारम्भ हुआ जबकि शीत युद्ध ने जोर पकडा था। विश्व सरकार की मान्यता दो दृष्टियो से शक्ति सन्तुलन एवं सामूहिक सुरक्षा से आगे का कदम माना जा सकता है। प्रथम, यह साहित्यिक इतिहास क्रम में एक बाद की मान्यता है। द्वितीय, यह शक्ति के केन्द्रीकरण का प्रतीक है। शक्ति सन्तुलन ने शक्ति के केन्द्रीकरण को मिटा दिया था, सामूहिक सुरक्षा ने इसको पुन स्थापित किया तथा विश्व सरकार की मान्यता में शक्ति का एकाधिकार (Monopoly of Power) स्थापित हो गया है। सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की आलोचना करते समय प्राय यह कहा जाता है कि इसने शक्ति सन्तुलन द्वारा स्थापित विकेन्द्रीकृत व्यवस्था का सही विकल्प प्रस्तुत नही किया। विश्व सरकार की मान्यता इस आलोचना से बच जाती है तथा सामूहिक सुरक्षा की अपूर्णताओं को दूर करने का प्रयास करती है।

(५) विश्व सरकार एक सघात्मक व्यवस्था है
(World Government is a Federal System)

विश्व सरकार का रूप एकात्मक न होकर सघात्मक है जिसमें विभिन्न राज्य इकाइयों के रूप में कार्य करते हैं। सघवाद होने के कारण विश्व सरकार की मान्यता में विधेयात्मक एव निषेधात्मक दोनों ही तत्वो को समाविष्ट किया जाता है। इसके अनुसार विश्व समुदाय की निर्माणक इकाइयों के ऊपर एक सर्वोच्च अभिकरण की स्थापना की जाती है तथा दूसरी ओर इसके अन्दर सम्प्रभु राष्ट्रों की शक्ति को कम करके उन्हे विश्व सघ व्यवस्था के असार्वभौमिक सदस्य का स्तर प्रदान किया जाता है। सघवाद में कार्यरूप म 'सीमित केन्द्रीकरण' होता है। किन्तु प्रभावित क्षेत्र के अन्तर्गत बहुत कुछ केन्द्रीकरण होता है। इस दृष्टि से विधि का शासन (Rule of Law) तथा नि शस्त्रीकरण (Disarmament) को विश्व सरकार की मूल कुन्जी माना जाता है।

विधि के शासन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यवस्था में केन्द्रीय सत्ता की स्थापना का प्रयास किया जाता है तथा निःशस्त्रीकरण द्वारा इकाइयों की शक्ति को इतना कम कर दिया जाता है कि वह उस स्थापित सत्ता को चुनौती न दे सके। विश्व सरकार की मान्यता के विधेयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों ही पक्षों का लक्ष्य विश्व में शान्ति और व्यवस्था कायम करना तथा युद्धों को दूर करना है। निषेधात्मक रूप से विश्व सरकार की योजना द्वारा राज्यों की विधायी सामर्थ्य को तथा सैनिक सामर्थ्य को इतना कम कर दिया जाता है कि वे प्रभावशाली युद्ध की योजना बनाने में असमर्थ रह जाते हैं। नार्मन कॉसिन्स का कहना है कि "एक ऐसी सत्ता का निर्माण किया जाना चाहिए जो कि राष्ट्रों से पूरी तरह न केवल उस यन्त्र को ले ले जो कि युद्ध चालू कर सकता है वरन् निर्णय लेने के उस यन्त्र को भी हस्तगत कर ले जिससे कि युद्ध को प्रारम्भ भी किया जा सकता है।"[1]

(६) एक अनिश्चित मान्यता
(An Indefinite Concept)

विश्व सरकार की मान्यता का चित्रण करते समय इसके समर्थकों ने इसके रूप तथा व्यवस्था का विस्तार से साथ वर्णन किया है किन्तु विश्व सरकार का यह नक्शा व्यवहार जगत में यथार्थ सिद्ध होगा अथवा नहीं इस सम्बन्ध में विद्वानों का मत एक नहीं है। कुछ लोग इसकी तुलना हवाई किले से करते हैं जो कि देखने में जितना-सुहावना एवं उपयोगी है, व्यवहार में उतना ही अयथार्थ एवं अवास्तविक है, किन्तु दूसरी ओर विचारकों का वह वर्ग है जो कि विश्व सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अनिवार्य एवं एकमात्र आगामी विकास मानता है। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं राजनैतिक विचारक बर्ट्रेन्ड रसल का मत है कि आज के युद्ध इतने भयानक एवं वीभत्स हो गये हैं कि इसमें हारा हुआ तो नष्ट हो ही जाता है किन्तु जो जीतता है वह भी समाप्त हो जाता है। उनका निष्कर्ष है कि मानव जाति के सामने इस समय केवल दो ही विकल्प हैं—या तो विश्व सरकार की स्थापना करके शान्ति की व्यवस्था की जाय अथवा एक साथ विनाश के लिए तैयार रहा जाय। क्लॉड (Claude) के मतानुसार विश्व सरकार के केवल कुछ समर्थकों को ही निकट भविष्य में अपना आदर्श प्राप्त होने की आशा है। क्लार्क तथा सोन (Clark and Shon) ने एक आशाजनक दृष्टिकोण अपनाया है। उन्होंने बौद्धिक विचार विमर्श के बाद यह भविष्यवाणी की है कि सन् १९७५

1. Norman Cousins, In Place of Folly, 1961 P 99

तब विश्व सरकार की व्यवस्था क्रियान्वित हो जायेगी।[1] राबर्ट हट्चिन्स (Robert Hutchins) के शब्दों में "आज हमारे विश्वास का नारा यह होना चाहिए कि विश्व सरकार आवश्यक है इसलिए सम्भव है।" यह कहा जाता है कि विश्व सरकार के बारे में किया जाने वाला विश्व-व्यापी विचार-विमर्श दुनिया को छिन्न भिन्न करने की अपेक्षा एक होने के अवसर प्रदान करता है। गरहर्ट नीमर (Gerhart Niemeyer) के मतानुसार "यद्यपि आगामी अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध के विरुद्ध निश्चित गारन्टी केवल विश्व सरकार की व्यवस्था द्वारा दी जा सकती है, वहां वर्तमान समय में विश्व की एकता भी सुलभ नहीं है।"[2] इस प्रकार विश्व सरकार की स्थापना की सम्भावनाओं पर दोनों ही प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध हैं। इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

विश्व सरकार की उपयोगिता
(The Utility of World Government)

विश्व सरकार का समर्थन जिन आधारों पर किया जाता है तथा उसकी जो प्रमुख विशेषताएं वर्णित की जाती हैं उनके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व सरकार की स्थापना के पश्चात् मानव-जाति इससे किस प्रकार लाभान्वित हो सकती है। आज की सबसे बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या विश्व में शांति स्थापित करने की है जिसकी तुलना में अन्य सभी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की समस्याएं गौण बन जाती हैं। शांति स्थापित करने के लिए तथा स्थापित शांति को स्थायी बनाने के लिये द्विमुखी कार्यक्रम अपनाना चाहिये। प्रथम, यह प्रयास किया जावे कि विश्व-समाज का कोई भी देश शान्ति भंग करने की इच्छा ही न करे। इसके लिए यह आवश्यक है कि युद्ध के आकर्षणों को शान्ति की उपलब्धियों की तुलना में इतना गौण बना दिया जावे कि कोई भी राष्ट्र स्वेच्छा से ही इस मार्ग को अपनाना पसन्द न करे। साथ ही एक ऐसी सर्वोच्च संस्था का गठन किया जावे जो कि युद्धप्रेमी एवं शान्ति को भंग करने वाले राष्ट्रों की क्रियाओं पर प्रतिबन्ध लगा सके।

दूसरे, राष्ट्रों के पास केवल इतनी शक्ति रहनी चाहिये कि वे युद्ध छेड़ने का साहस भी न कर सकें। राष्ट्रीय स्तर पर हम यह देखते हैं कि

1. Clark and Shon, World Peace through World Law Pp Xliii-Liii.
2. Gerhart Tiemeyer, World Order and the Great Powers P. 31

समानरूप व्यवस्था में इकाइयां आपस में अथवा केन्द्र के साथ प्रायः हिंसात्मक युद्ध पर नहीं उतर आतीं। उनके बीच मतभेद रहते हैं, उनमें हित कभी २ परस्पर टकरा भी जाते हैं किन्तु उनके झगड़ों का निपटारा बातचीत द्वारा एवं वाद-विवाद द्वारा तय कर लिया जाता है। इसका कारण यह है कि राज्यों अथवा संघ की इकाइयों के पास केवल पुलिस शक्ति होती है जो कि राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था कायम रखने का कार्य करती है, किन्तु केन्द्र के पास राज्यों से भिन्न इतनी सैनिक शक्ति होती है कि उसके डर से कोई भी राज्य शक्ति के आधार पर अपने हितों की रक्षा का प्रयास नहीं करता। ठीक इसी प्रक्रिया को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अपनाया जावे तो विश्व शान्ति स्थायी बन सकती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विश्व सरकार की मान्यता को व्यावहारिक रूप प्रदान करके शान्ति की जड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय भूमि में इतनी गहरी पहुंचाया जा सकता है कि जिस पर बड़े से बड़े तूफान का भी प्रभाव नहीं हो सके। जिस समय विश्व सरकार से प्राप्त होने वाले लाभों का निरीक्षण एवं मूल्यांकन किया जा रहा हो उस समय हमारी कल्पना के सामने राष्ट्रीय सरकार से प्राप्त होने वाली समस्त उपयोगिताएं रहनी चाहिए।

विश्व सरकार द्वारा विश्व के नागरिक को वे सभी लाभ प्राप्त हो सकते हैं जो कि एक राष्ट्रीय सरकार द्वारा एक राष्ट्र के नागरिक को प्राप्त होते हैं। दोनों के बीच अन्तर यह है कि विश्व सरकार के अधीन कोई भी नागरिक किसी अन्य नागरिक की हानि पर लाभ प्राप्त न करेगा जैसे कि कभी-कभी एक राष्ट्र के नागरिक को दूसरे राष्ट्र के नागरिक के विरुद्ध सुविधाएं एवं विशेष अधिकार प्रदान किए जाते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि सरकार चाहे वह राष्ट्रीय हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय, सदैव अपने प्रभाव क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का कार्य करती है। स्टीवार्ट बोल (Stewart Boal) के शब्दों में "सरकार का 'क्षेत्र' शान्ति का 'क्षेत्र' है। शहर, राज्य एवं राष्ट्र में जिस प्रकार शान्ति स्थापित की जाती है उससे तो सभी परिचित ही हैं। यदि इतने बड़े क्षेत्र पर किसी तरह सरकार की स्थापना की जा सके तो विश्व सरकार निश्चय ही शान्ति के लिए मार्ग है।" विश्व सरकार की अनेक उपयोगिताओं में से कुछ प्रमुख का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(१) विश्व सरकार विश्वव्यापी अराजकता को दूर करती है

अज्ञानी, स्वार्थी, लालची एवं हिंसक मनुष्य शक्ति एवं सम्पदा की प्राप्ति के लिए सदैव दूसरों से झगड़ा करता रहता है। हॉब्स द्वारा वर्णित

रहे हैं। नार्वे तथा स्वीडन के बारे में कार्ल डेश (Karl W Deutsch) ने बताया है कि उनके शान्ति सम्बन्ध अब अच्छे रहे हैं जबकि वे स्वतन्त्र सम्प्रभु राष्ट्र हैं। ऐसे सम्बन्ध उनके बीच तब न थे जबकि वे एक ही सरकार के अधीन थे। सरकार के बिना भी शान्ति रहती है। इस बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सैद्धान्तिक मान्यता गलत है कि बिना सरकार के मानवीय सम्बन्धों को व्यवस्थित नहीं किया जा सकता।

(३) विश्व शान्ति का एक मात्र साधन है

यह माना जाता है कि स्थायी एवं सुरक्षित रूप से विश्व शान्ति को तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि उसकी व्यवस्था के लिए विश्व सरकार के रूप में कोई सर्वोच्च सत्ता न हो जो कि शान्ति भंग करने वाले के लिए दण्ड व्यवस्था का विधान कर सके। क्लाड (Claude) के शब्दों में 'विश्व सरकार इसलिए आवश्यक है क्योंकि व्यवस्था उत्पन्न करने वाली सभी विकल्पित योजनायें अपर्याप्त सिद्ध हुई हैं तथा यह उचित है क्योंकि यह इस कार्य के लिए एक सही दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है'। आइन्स्टीन (Einstien) ने बताया है कि जब सारा विश्व एक हो जाएगा, एक सरकार के अधीन हो जायगा तो युद्धों का रूप आज के जैसा न रहेगा वह बदल जायेगा और एकीकृत विश्व-व्यवस्था में गृह युद्ध होंगे। ये गृह युद्ध परिणामों की दृष्टि से इतने भयानक होंगे कि कोई भी इनको करने का साहस ही न करेगा। यह विश्वास किया जाता है कि संघ की विभिन्न इकाइयां एक दूसरे के ऊपर युद्ध नहीं छेड़ सकती। अतिराष्ट्रीय (Supranational) व्यवस्था द्वारा राष्ट्रीय युद्धों को न केवल अनावश्यक बना दिया जायेगा वरन् उन्हें असम्भव ठहरा दिया जायेगा। जाफरी सेवर (Geoffrey Sawer) का कहना है कि "किसी भी बड़े भयानक युद्ध की सम्भावना को तब तक दूर नहीं किया जा सकता जब तक कि सम्प्रभु आत्म-निर्णायक राज्यों की व्यवस्था को विश्व सरकार की स्थापना द्वारा स्थानान्तरित नहीं कर दिया जाता"। आइन्स्टीन का विचार था कि विश्व में वास्तविक सुरक्षा का प्रबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के निर्माण द्वारा किया जा सकता है। यह संस्था इतनी शक्तिशाली होगी कि जो शान्ति की सुरक्षा के लिए पर्याप्त हो।

विश्व सरकार द्वारा शान्ति की स्थापना के लिये किये गये प्रयासों की सफलता में कुछ विचारकों को सदेह रहता है। उनका मत है कि जब तक युद्ध एवं मत-मुटाव के कारण दो देशों के बीच में वर्तमान रहेंगे तब तक विश्व सरकार द्वारा कितनी भी कोशिशें कर ली जायें वे शान्ति को स्थायी बनाने में नाकामयाब रहेंगी। युद्ध को मानव की प्रकृति में निहित मानने वाले लोगों

का विश्वास है कि विश्व सरकार यदि युद्धों को सचमुच रोक देगी या समाप्त कर देगी तो वह कभी बन ही नहीं सकती है और यदि वह वास्तविक जगत में क्रियान्वित की गई तो कोई आशा नहीं है कि वह युद्धों को समाप्त कर देगी। कॉज़िन्स (Cousins) का मत है कि विश्व सरकार शान्ति की गारंटी नहीं दे सकती और विश्व कानून युद्ध का दूर करने की एक आशा ही नहीं वरन् एकमात्र आशा है, एकमात्र अवसर है।

कोर्ड मेयर (Cord Mayer) का विचार है कि "राष्ट्रों में और राष्ट्रों के बीच तब तक कोई शान्ति नहीं रह सकती जब तक कि कोई स्थापित कानून न हो तथा यह ज्ञान न हो कि इन कानूनों का तुरन्त एवं निश्चित रूप से पालन भी कराया जा सकता है।" रेव्स (Reves) कहते हैं—"शान्ति कानून है, यह व्यवस्था है, यह सरकार है"। विश्व सरकार को एक सरकार के नाते शान्ति एवं व्यवस्था का कर्ता मान लिया जाता है। क्लॉड (Claude) महोदय कहते हैं कि यदि सरकार को शान्ति उत्पन्न करने वाले यन्त्र के रूप में परिभाषित किया जाता है तो विश्व सरकार निश्चय ही युद्ध रोकने का एक पक्का साधन है। विश्व सरकार द्वारा शान्ति स्थापित करने की आवश्यकता उतनी न रहेगी जितनी कि वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों के होने पर रहती है। जिस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में रहने वाले व्यक्तियों एवं समुदायों के बीच व्यक्तिगत सम्पत्ति के बारे में कितने झगड़े और संघर्ष होते रहते हैं। एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति या भूमि को हड़प जाता है तो दूसरा पहले की सम्पत्ति या भूमि पर अपना अधिकार सिद्ध करता है किन्तु सार्वजनिक सम्पत्ति पर इस प्रकार का कोई विवाद नहीं होता। सड़क, बगीचा, बाजार एवं अन्य सार्वजनिक महत्व की उपयोगी वस्तुओं से सभी व्यक्ति बराबर लाभ प्राप्त करते हैं, किसी को कोई बाधा नहीं होती। इसी प्रकार जब सभी राष्ट्रों की व्यक्तिगत उपलब्धियों को सार्वजनिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया जायेगा तो मतभेद एवं मन मुटाव के कारण ही नष्ट हो जायेंगे।

अनेक बार एक देश युद्ध इसलिए छेड़ता है क्योंकि वह दूसरे राष्ट्र के खनिज पदार्थों या तेल के कुओं या महत्वपूर्ण बन्दरगाहों पर अपना अधिकार करना चाहता है किन्तु विश्व सरकार व्यवस्था के अधीन ये सभी चीजें स्वतः ही उस राष्ट्र के स्वामित्व में आ जायेंगी, वह इनका उपयोग करने से वंचित न रहेगा। युद्ध कभी-कभी एक प्रदेश विशेष को अपने अधीन करने के लिए भी किया जाता है। भारत चीन सीमा विवाद तथा भारत-पाक कश्मीर विवाद के समान इस प्रकार के अनेकों उदाहरण देखे जा सकते हैं। छोटे-छोटे भूमि के भागों के लिए लाखों निरीह, निरपराध और अनजान लोगों का खून

बहाने के लिए मजबूर कर दिया जाता है। यह सब किसलिए होता है? एक देश के सैनिक दूसरे देश के अनजान सैनिकों पर गोलियों और बमों की बौछारें क्यों प्रारम्भ कर देते हैं? इस सबका कारण खोजने के लिए हमें आल्डुअस हक्सले आदि लेखकों की रचनाओं पर ध्यान देना होगा। ये लेखक राष्ट्रीयता की भावना, मिथ्या राष्ट्र अभिमान को युद्ध और संघर्ष के प्रमुख कारण मानते हैं। विश्व सरकार के अधीन युद्ध का यह मूल स्रोत सूख जायेगा और दुनिया में शान्ति, समृद्धि एवं प्रसन्नता का साम्राज्य हो जायेगा। कुछ लोगों का कहना है कि विश्व सरकार द्वारा युद्धों को समाप्त करके विकास के स्वाभाविक मार्ग को रोक दिया जायगा जिसमें कि शक्तिशाली की विजय होती है और योग्यतम ही जीवित रहता है। इसी आधार पर विश्व सरकार की आलोचना करने वालों में युद्धप्रिय एवं फासीवादी प्रवृत्तियों के समर्थकों का नाम उल्लेखनीय है। ये लोग मानते हैं कि विश्व का शान्तिकरण (Pacification) कर दिया गया तो इससे एक प्रकार की निर्जीव एकरूपता (Dull uniformity) जन्म लेगी और पनपेगी जिससे स्वतन्त्र शक्तियों का विकास असम्भव बन जायेगा। किन्तु विश्वयुद्धों एवं क्षत्रीय युद्धों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित लोग यह जानते हैं कि ये तर्क कितने भ्रामक तथा मिथ्या हैं और 'शान्ति' विश्व के लिए कितनी लाभदायक एवं मूल आवश्यकता है।

(४) विश्व की प्रगति का प्रतीक

युद्धों द्वारा न केवल प्राप्तियों (Achievements) का ही विध्वंस किया जाता है किन्तु उन तत्वों एवं परिस्थितियों को भी मिटा दिया जाता है जिनके फलस्वरूप विश्व की सभ्यता एवं संस्कृति आगे बढ़ती है। दूसरे शब्दों में युद्ध द्वारा एक ऐसा चक्रव्यूह तैयार किया जाता है जिसके अन्तर्गत प्रगति का वर्तमान और भविष्य दोनों ही खतरे में पड़ जाते हैं। विश्व सरकार की स्थापना करके इस चक्रव्यूह को असम्भव बनाने का प्रयास किया जाता है। एक ओर से तो युद्ध को समाप्त करके विश्व सरकार द्वारा उन सभी घातक जीवों एवं जहरीली चीजों को दूर कर दिया जाता है जो कि शान्ति के पौधे को विकसित एवं प्रस्फुटित होने में घातक बनते हैं। दूसरी ओर खाद देकर एवं अनुकूल वातावरण तैयार करके उस पौधे को पुष्पित एवं पल्लवित होने की सामर्थ्य प्रदान की जाती है। इस प्रकार निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों ही रूपों में विश्व सरकार द्वारा प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया जायेगा।

निषेधात्मक रूप से विश्व सरकार द्वारा उस भारी विनाश एवं विध्वंस से मानव जाति को बचा लिया जाता है जो कि युद्ध के कारण पैदा होती

है। विगत दो विश्व-युद्धों के अनुभवों द्वारा मानव जाति यह भली-भाँति समझ गई है कि इनमें सदियों में अर्जित की गई सम्पत्ति को किस प्रकार से नष्ट कर दिया जाता है। जॉन स्ट्रेची (John Strachey) के शब्दों में "दो युद्धों से योरोपीय सभ्यता को होने वाले नुकसान की यातना को हम सभी ने अनुभव किया है और अब पुनः हम इस प्रकार के युद्धों में सम्मिलित होना नहीं चाहते"।[1] युद्ध के कारण होने वाले विनाश का गुण एवं परिणाम वर्तमान काल में कई गुना बढ़ गया है। जिस प्रकार प्लेग आदि महामारियों से चटापट मौत होने लगती हैं उसी प्रकार युद्ध में भी व्यक्ति के जीवन का मूल्य बहुत घट जाता है। कहा जाता है कि १३४८ तथा १३४९ में ब्रिटेन में जब प्लेग, महामारी का प्रकोप हुआ था तो वहां की एक तिहाई या तीन चौथाई जनता मौत के घाट उतर गई थी। इसी प्रकार आज के अमेरिका के लगभग १८ करोड़ मूल निवासियों में से ६ करोड़ से लेकर १३ करोड़ तक को न्यूक्लीयर युद्ध के कारण मौत के घाट उतरना पड़ सकता है। अणु शक्ति के प्रयोग से पूर्व युद्ध द्वारा जो क्षति होती थी उसे धीरे-धीरे पूरा कर लिया जाता था। द्वितीय विश्व युद्ध द्वारा जापान, सोवियत रूस और अमेरिका को जो क्षति भुगतनी पड़ी थी वह काफी थी। इन देशों की अधिकांश जनता को युद्ध में घायल या मृत होना पड़ा। अनुमान किया जाता है कि रूस को इस युद्ध में एक करोड़ बीस लाख से लेकर दो करोड़ चौबीस लाख देशवासियों की जान से हाथ धोना पड़ा था। इसके साथ-साथ उसके लगभग ४० प्रतिशत उत्पादन के साधनों को नष्ट कर दिया गया। जर्मनी के करीब चालीस लाख व्यक्ति युद्ध में काम आये या घायल हो गये। इसी प्रकार जापान के शहरों को भी भारी क्षति उठानी पड़ी। हिरोशिमा और नागासाकी के क्षेत्रों में मनुष्य और उसकी सभ्यता की जो राख बनी वह हृदय द्रावक थी। किन्तु फिर भी इतनी सारी मौतों के बाद तथा उद्योग-धन्धों के अस्त-व्यस्त हो जाने के बाद भी बहुत थोड़े से ही समय में इन देशों ने वह प्रगति कर दिखाई जो अद्वितीय थी। इसी प्रकार प्रथम विश्व युद्ध द्वारा आर्थिक, राजनैतिक, कूटनीतिक एवं सैनिक आदि सभी दृष्टियों से कुचले गये जर्मनी ने हिटलर के नेतृत्व में इतनी प्रगति की कि वह विश्व-विजय के अपने स्वप्न को साकार करने का दुस्साहस करने लगा। इन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकाल लेना गलत होगा कि 'यदि एक देश उन्नति के उच्च शिखर पर पहुंचना चाहता है तो उसको युद्ध का साधन अपनाना चाहिए और युद्ध में वह चाहे हारे या जीते, उसको प्रगति का मार्ग खुल जायगा, उसकी प्रगति की गति तीव्र हो जायेगी?'

1. John Strachey, On the prevention of war 1962, P. 321,

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक, हो सकता है कि इस निष्कर्ष में थोड़ी बहुत भी सत्यता रही हो, किन्तु बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जो विभिन्न वैज्ञानिक विकास हुए तथा युद्ध का जो रूप सामने आया उसे देखकर युद्ध के परिणामों के बारे में किसी प्रकार का भी संदेह बाकी नहीं रह जाता। आधुनिक तकनीकों के सहारे लड़ा जाने वाला तृतीय विश्व युद्ध विश्व को रसातल में पहुँचा कर पृथ्वी को उसी स्थिति में ला देगा जिसमें कि वह अपने जन्मदाता सूर्य से अलग होते समय थी। यह कथन सत्यता से परे नहीं है कि 'यदि चतुर्थ विश्व युद्ध लड़ा गया तो वह जंगल के वृक्षों से तोड़ी गई छड़ियों से लड़ा जायगा।' अर्थात् तृतीय विश्व युद्ध, यदि वह कभी हुआ, तो मनुष्य की समस्त सभ्यता एवं संस्कृति का नाश कर देगा और सदियों बाद पुनः पृथ्वी पर जीवन की सृष्टि होगी। इस तथ्यपूर्ण आशंका को प्रभावहीन बनाने के लिए यह आवश्यक है कि संसार में विश्व सरकार की स्थापना की जाये।

निषेधात्मक रूप से विश्व सरकार का दूसरा उपयोग यह है कि इसके द्वारा विश्व की अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाया जा सकता है। युद्ध में करोड़ों रुपये प्रति दिन का व्यय किया जाता है। यह व्यय ऐसा होता है कि जिसका प्रतिफल कभी प्राप्त नहीं होता। प्रथम विश्व युद्ध के बाद आने वाली विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी तथा उससे उत्पन्न होने वाली यातनाओं से हम सभी भली प्रकार परिचित हैं। भारत पाक संघर्ष के कारण हाल ही में दोनों राष्ट्रों को जितनी क्षति उठानी पड़ी है उसको आने वाले अनेक वर्षों में पूरा किया जा सकेगा। इस संकट के समय भारत की चतुर्थ पंचवर्षीय योजना पर कई बार विचार किया गया और प्रत्येक पुनर्विचार के समय विकास कार्यों पर कटौतियाँ करके रक्षा व्यवस्था को मजबूत करने की ओर योजनाओं को मोड़ दिया गया। देश के बजट का एक बहुत बड़ा भाग सैनिक तैयारियों एवं रक्षा व्यवस्था में व्यय करना पड़ा। यह ठीक है कि ऐसा करने के लिए भारत मजबूर हो गया था किन्तु यह मजबूरी हटाना तो विश्व सरकार का उत्तरदायित्व है। मामा विचार एवं प्रश्नों के पीछे ये [illegible] हत्यायें तब तक नहीं रुक सकती जब तक कि सारा संसार एक संघ के नीचे नहीं आ जाता और एक देश के नागरिक दूसरे देश के नागरिक को भी सच्चे और व्यावहारिक अर्थों में अपने समान नहीं मानने लगता।

कुछ विचारकों का मत है कि विश्व सरकार हो सकता है निकट भविष्य में मूर्त रूप धारण न कर सके अथवा वह कभी भी यथार्थता की परिधि में साकार न हो सके किन्तु फिर भी इसके पक्ष एवं विपक्ष में दिये गये तर्कों को देखना उनका भली प्रकार से परीक्षण करना इसलिए आवश्यक

है क्योंकि इसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर लोक दृष्टिकोणों का बड़ा महत्वपूर्ण प्रभाव रहता है। विश्व सरकार के विचार का जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण (एवं साथ ही इसकी कमजोरी भी) तत्त्व इसका विस्तृत रूप है।

यदि विश्व सरकार स्थापित कर दी जावे तो यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की सभी समस्याओं को तय कर देगा। अन्तर्राष्ट्रीय समस्यायें तो दूर की चीज है यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को ही मिटा देगा। इसमें कोई सम्प्रभु राज्य ही न रहेगा इसलिए राज्यों के बीच झगड़े उठने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। विश्व की सारी शक्ति केवल एक ही इकाई में केन्द्रित कर दी जायेगी। यह एक क्रान्तिकारी कदम है। विश्व के इतिहास में आज तक यथास्थिति (Status quo) का इतने क्रान्तिकारी रूप में परिवर्तन कभी नहीं हुआ था। वैसे परिवर्तन होते रहते हैं, कुछ एकाएक हो जाते हैं, कुछ धीरे-धीरे किन्तु कोई भी परिवर्तन ऐसा नहीं होता जो कि विश्व को ऐसा बना दे जैसा कि वह कल या कुछ वर्ष पूर्व या कुछ दशाब्दी पूर्व नहीं था। विश्व सरकार के इस अव्यावहारिक रूप को देख कर ही कुछ विचारक अर्ध विश्व सरकार (Quasi-World Government) के विचार का प्रतिपादन करते हैं किन्तु यह विचार भ्रामक है क्योंकि सच्चे अर्थों में जिसे विश्व सरकार कहा जाता है वह तो रहेगी या नहीं रहेगी—इन दोनों अवस्थाओं के बीच का विकल्प नहीं हो सकता कि कुछ अर्थों में विश्व सरकार रहे और दूसरे अर्थों में वह न रहे, अथवा कुछ स्थानों पर रहे और बाकी स्थानों पर न रहे। विश्व सरकार का सार्वभौमिक रूप स्वयं में अन्तर्विरोधी है।

(५) विश्व सरकार और राष्ट्रीय सरकारें

विश्व सरकार के समर्थकों के मतानुसार जो महत्व एवं उपयोगिता राष्ट्रीय स्तर पर सरकारों के अस्तित्व की है वही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व सरकार की ही रहेगी अर्थात् राष्ट्रीय समाज का सदस्य होने पर व्यक्ति में अपने राष्ट्रवासियों के प्रति एकता की भावना आती है क्योंकि उसके रीति-रिवाज, भाषा, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शन तथा राष्ट्रीय प्रतीक उनसे मिलते हैं और वह एक से अखबार पढ़ता है, समान रेडियो सुनता है, समान छुट्टियां मनाता है और समान व्यक्तियों की पूजा करता है। यद्यपि एक राष्ट्र में अनेक समाज वाले लोग रहते हैं और उनके आर्थिक हित परस्पर टकराते हैं किन्तु फिर भी उनके बीच सामंजस्य बना रहता है। राजनैतिक दल धार्मिक प्रभाव, जातीय समुदाय, क्षेत्र और प्रदेशों के आधार पर यद्यपि उनके बीच भारी असमानतायें एवं परस्पर विरोधी तत्व स्थित रहते हैं किन्तु फिर भी उनके ये मतभेद एवं भिन्नतायें प्रायः हिंसात्मक

रूप धारण नहीं कर पाते। ठीक इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच अनेको भिन्नतायें, विरोधी स्वार्थ एव असमान स्थितियां रहती हैं जो कि आजकल प्राय हिंसात्मक रूप मे अभिव्यक्त होती हैं किन्तु विश्व सरकार की स्थापना के बाद यह हिंसात्मक रूप परिवर्तित होकर सामंजस्यपूर्ण बन जायेगा और तब विश्व के प्रति राजभक्ति को विश्व के नागरिक का सबसे प्रधान कर्त्तव्य माना जायगा। विश्व की एकता को चुनौती देने वाले किसी कार्य को सहन नहीं किया जायेगा तथा केवल उन्ही हितों, विचारो और राजभक्तियो को चलने दिया जायेगा जो विश्व की एकता को खतरा पैदा न करें। इस प्रकार विश्व सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय राजभक्ति (Supranational Loyalties) का समर्थन किया जाता है।

राष्ट्रीय सरकारों की भांति विश्व सरकार द्वारा न्याय की स्थापना के लिए प्रयास किये जायेंगे। एक राष्ट्र मे अल्पमत एव पिछडे वर्ग को भी सरकार से यह आशा रहती है कि उनको न्याय प्रदान किया जायेगा तथा उनके हितों और दावो की अवहेलना करने की बजाय उन पर यथोचित ध्यान दिया जायेगा। राष्ट्रीय स्तर पर सरकारें सार्वजनिक न्याय की व्यवस्था के लिए कानूनो का निर्माण करती हैं तथा उनका पालन कराती हैं और किसी वर्ग विशेष की मांगों पर भी ध्यान देती हैं उसी प्रकार विश्व सरकार द्वारा भी सामान्य हित के विषयों पर समस्त विश्व को समान न्याय प्रदान किया जायेगा। और यदि कोई एक राष्ट्र या कुछ राष्ट्र मिल कर अन्य राष्ट्रों से भिन्न किन्तु सामंजस्यपूर्ण कोई विशेष न्याय की मांग करते हैं तथा वह मांग यदि उचित एव सगत है तो विश्व सरकार उस मांग पर भी गम्भीरतापूर्वक ध्यान देगी, वरना शांति के लिए खतरा हो सकता है।

राष्ट्रीय सरकार के पास भारी शक्ति होती है जिसके आधार पर वह शांति की स्थापना करती है और शान्ति भंग करने वाले किसी भी प्रयास को कुचल देती है। इसी प्रकार विश्व सरकार के पास भी शक्ति रहेगी और इस शक्ति के आधार पर वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति एव व्यवस्था को बाधा पहुँचाने वाले तत्वो का दमन कर देगी। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व सरकार की शक्ति के दो रूप होगे। प्रथम, उसके पास सैनिक शक्ति केन्द्रित हो जायेगी और दूसरे विश्व लोकमत भी उसके हाथ मे रहेगा जिसकी अवहेलना करने का कोई भी राष्ट्र साहस नहीं कर सकेगा। एक राष्ट्र जो लोकमत के विरोध का शिकार नहीं बनना चाहता है, आवश्यक रूप से विश्व सरकार द्वारा स्थापित व्यवस्था का अनुशीलन करता रहेगा और इस प्रकार विश्व के सभी राष्ट्र शांति और कानून के अनुशासन मे रह सकेंगे।

राष्ट्रीय स्तर पर शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए जिस प्रकार राज्य एक आवश्यक साधन है उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं व्यवस्था भी विश्व राज्य एवं विश्व सरकार की स्थापना के बाद ही हो सकती है। एक राष्ट्र की भांति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी समाज की तोड़-फोड़ मे अनेक तत्व वर्तमान रहते हैं जिनका दमन करने के लिए एक शक्तिशाली विश्व सरकार परम आवश्यक है। वर्ग, जाति, धर्म, क्षेत्र एवं अन्य राजनैतिक झगड़ो से विश्व समाज को छिन्न-भिन्न करने वाले अनेक तत्वों की सृष्टि होती है जो कि शान्ति, संघर्ष और युद्धो के रूप मे प्रतिफलित होते हैं। विश्व सरकार द्वारा इन सभी तत्वो पर अंकुश रखा जायेगा।

विश्व सरकार के रास्ते और साधन
(The Ways and Means of World Goverment)

विश्व सरकार उपयोगी है तथा विश्व शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए यह आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विभिन्न विचारक इस बात से सहमत होते हुए भी विश्व सरकार के विचार को अधिक महत्व देना उचित नही समझते क्योंकि उनके मतानुसार इस विचार को क्रियान्वित नही किया जा सकता तथा वास्तविक जगत मे नही उतारा जा सकता। केवल कल्पना लोक मे ही इसे रंग-बिरंगे स्वप्नों द्वारा सजाया जा सकता है किन्तु जब सत्य की धरती पर इसे लाया जायेगा तब न तो वे रंग ही रहेंगे और न इसका यौवन सुलभ सौंदर्य ही। व्यावहारिक सत्य के झोंकों के आगे कल्पना लोक की यह बालू की दीवाल तुरन्त ही ढह जायगी।

किन्तु इस विचार के समर्थकों से भिन्न विचारको का एक दूसरा वर्ग भी है जिसका यह विश्वास है कि विश्व सरकार आज नहीं तो कल अवश्य आकर रहेगी क्योंकि विश्व उसके बिना कायम नही रह सकता। राष्ट्रीयता, शस्त्रो की दौड़, सैद्धान्तिक मतभेद, विज्ञान के आविष्कार आदि से युक्त विश्व आज जिस चौराहे पर आकर खड़ा हुआ है वहा से पुरानी आत्मनिर्भर नगर राज्यो की ओर लौट जाने का कोई मार्ग नही है, केवल दो ही पथ सीधे दिखाई दे रहे हैं-एक संसार को विनाश की ओर ले जायेगा, जहां मनुष्य की अब तक अर्जित सभ्यता एवं संस्कृति एक अतीत की गाथा बन जायेगी जिसे न कोई कहने वाला ही मिलेगा और न ही सुनने वाला। दूसरा मार्ग है विश्व सरकार का शान्ति और व्यवस्था का, प्रगति और उत्थान का। अब निर्णय की घड़ी आ चुकी है। पहला मार्ग तो सहज है, उसके लिए कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है वह तो विश्व की स्वाभाविक गति का प्रतीक है। मनुष्य जाति को इन मार्गों की स्वाभाविकता से जागरूक रह कर विश्व सरकार

की स्थापना का प्रयास करना चाहिये ताकि संसार में चैन और अमन रह सके तथा आगामी पीढ़ियां वर्तमान के निर्णायकों की बुद्धि एवं कुशलता के प्रति आभार प्रदर्शित कर सकें।

अब प्रश्न यह उठता है कि माना हमने दूसरा मार्ग अपना भी लिया तो विश्व सरकार को स्थापित कैसे किया जायगा? विश्व सरकार युग की आवश्यकता है, उपयोगी है एवं अपरिहार्य है आदि बातों से विश्व सरकार स्थापित तो नहीं हो जाती। बहुत सी चीजें आवश्यक एवं अपरिहार्य होते हुए भी अप्राप्य या दुर्लभ होती हैं, विश्व सरकार को भी एक ऐसी ही चीज कहा जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारक तथा मानवतावादी दार्शनिकों ने विश्व सरकार के रूप एवं इसे प्राप्त करने के उपायों पर अपने विचार प्रकट किये हैं। विश्व सरकार की स्थापना से सम्बन्धित इन विभिन्न विचारों के सागर का मन्थन करने के बाद निष्कर्ष रूप में जो साधन हमारे सामने आते हैं उनको मूल रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है —

(i) रचनात्मक,

(ii) विकासात्मक और

(iii) मध्यस्थिति वाले।

विश्व सरकार की रचना से सम्बन्धित ये तीनों ही प्रकार के साधन सरकार की प्रकृति से सम्बन्धित हैं। जो विचारक यह मानते हैं कि सरकार एक व्यावहारिक कला है तथा मनुष्य की उपयोगिता के अनुसार उसे किसी भी रूप में मोड़ा जा सकता है वे यह स्वीकार करते हैं कि सरकार 'आविष्कार' का परिणाम है। मनुष्य द्वारा इसका निर्माण किया जाता है तथा यह उसी की इच्छा पर अवलम्बित है कि वह सरकार बनाये या न बनाये तथा किस ढग पर और कैसे तरीके से उसे बनाये। इस दृष्टि से यह कहा जाता है कि यदि आप एक श्रेष्ठ सरकार की रचना करना चाहते हैं तो पहले लोगों को समझाइये कि यह श्रेष्ठ सरकार है, इसके बाद उन्हें उस सरकार को अपनाने पर राजी करिये, इस प्रकार आप एक सरकार की रचना करने में सफल हो जायेंगे। विश्व सरकार भी इसी ढग से बनाई जा सकती है। विश्व सरकार की स्थापना का यह रचनात्मक विचार है।

उपर्युक्त से भिन्न विचारकों का दूसरा वर्ग सरकार को विकास का परिणाम और इस प्रकार सरकार के विज्ञान को प्राकृतिक इतिहास का एक भाग मानता है। इस वर्ग के विचारकों का विश्वास है कि सरकार किसी की इच्छा का विषय नहीं है। वे जैसी भी मिल जायें हमको अपना लेनी चाहिए। पूर्वनिर्धारित रूपों के अनुसार सरकारों का निर्माण नहीं किया जा सकता।

वे बनाई नहीं जाती, वरन् उत्पन्न होती हैं। मूल राजनैतिक संस्थाओं का जन्म स्वाभाविक विकास का परिणाम होता है। यह लोगों की प्रकृति और उनके जीवन, उनकी आदतों, मूलप्रवृत्तियों, अचेतन आवश्यकताओं एवं इच्छाओं तथा उनके लक्ष्य आदि से प्रभावित होती है। यदि एक सरकार लोगों की भावना, प्रवृत्ति एवं लक्ष्यों के विरुद्ध निर्मित कर दी गई तो राज्यों में क्रान्ति हो जायेगी तथा हिंसात्मक रूप से उसका विरोध किया जायगा।

विचारकों का एक तीसरा वर्ग भी है जो कि उक्त दोनों वर्गों के बीच की स्थिति को अपनाता है। इस वर्ग के लोगों की यह मान्यता है कि उक्त दोनों ही मत आंशिक रूप से सत्य हैं। राजनैतिक संस्थायें मनुष्य द्वारा निर्मित होती हैं तथा उसी की इच्छा पर अवलम्बित रहती हैं किन्तु ये राजनैतिक संस्थायें स्वतः ही कार्य नहीं करती, इनके सफल संचालन के लिए कुछ अनुकूल स्थितियों का होना आवश्यक है। कोई भी सरकार तभी टिक सकती है जबकि वह कुछ शर्तों को पूरा कर सके, यदि ऐसा न किया गया तो सरकार असफल हो जायेगी।

इस प्रकार सरकार की प्रकृति के सम्बन्ध में मत वैभिन्य है और इसी आधार पर उसकी रचना के बारे में भी अलग-अलग विचार हैं। "विश्व सरकार का मनुष्यों द्वारा निर्माण किया जायगा, विश्व सरकार की पूर्व आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद वह स्वतः ही विकसित होगी, विश्व सरकार का निर्माण कर दिया जाये और उसकी शर्तों का विकास किया जाय ताकि वह सफल हो सके।" इन तीन विचारों के मानने वाले विचारकों ने विश्व सरकार की प्राप्ति के प्रयासों का अपने-अपने ढंग से वर्णन किया है। विश्व सरकार के जन्म से सम्बन्धित विचारकों को हर्टमैन (Frederich H. Hartmann) महोदय ने दो भागों में विभाजित किया है—

१. विकासशील विश्व सरकार के समर्थक (Evolutionary world Govt advocates)

२. क्रान्तिकारी विश्व सरकार के समर्थक (Revolutionary world Govt. advocates)

प्रथम श्रेणी में आने वाले विचारक विश्व में संघवाद की स्थापना के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ को बढ़ावा देना उचित मानते हैं तथा इसमें वे विश्व सरकार के प्रारम्भिक रूप की झलक पाते हैं। इनका विचार है कि विश्व सरकार की ओर तो क्रमशः विकास किया जाता है अर्थात् एक संघ के रूप में दुनिया का एकदम परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इसमें

परिवर्तन के लिए संयुक्तराष्ट्र संघ को एक केन्द्रबिन्दु के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। ये विचारक विश्व सरकार के संघात्मक रूप का समर्थन करते हैं।

दूसरी श्रेणी में आने वाले विचारक विश्व को एकदम परिवर्तित करके विश्व राज्य का रूप देना चाहते हैं और विश्व सरकार की रचना करना चाहते हैं। एमरी रेव्स (Emery Reves) ने अपनी पुस्तक एनैटामी ऑफ पीस (Anatomy of Peace) में यह सुझाव दिया कि रूस और अमरीका को अन्य देशों के साथ एक संघ में सम्मिलित हो जाना चाहिए। दूसरे कुछ विचारकों का मत है कि रूस के नेतृत्व में और अमरीका के नेतृत्व में अलग-अलग दो विश्व सरकारें यदि बना दी जायें तो इस प्रयास का अपरिहार्य परिणाम यह होगा कि तृतीय विश्व-युद्ध छिड़ जायगा। इस प्रकार विश्व सरकार की प्रतीक्षा करने वाले विकासवादी विचारक विश्व विनाश की एक जोखिम (Risk) को लेकर आगे बढ़ते हैं। युद्ध के समाप्त होने से कुछ पूर्व तक विश्व सरकार से सम्बन्धित यह क्रान्तिकारी विचार अपने चरम उत्कर्ष पर था।

उक्त दोनों ही विचारों की अपनी-अपनी विशेषतायें एवं अभाव हैं। विकासवादी पक्ष के समर्थकों की यह भावना सत्य है कि वर्तमान विश्व के समस्त मतभेदों को मिटा कर उनके स्थान पर एक रात में ही सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना नहीं की जा सकती। ये विचारक मानते हैं कि राष्ट्रसंघ (League of Nations) तथा संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisations) दोनों ही संस्थायें क्रान्तिकारी नहीं थी। दूसरी ओर क्रान्तिकारी व्यवस्था के समर्थकों का यह विचार सही है कि प्रजातन्त्रों की आंशिक विश्व सरकार या एटलांटिक संघ योजना या घनिष्ठ तथा दो गुटों की अर्धस्थायी सन्धि व्यवस्था आदि से विश्व शांति की दिशा में अधिक प्रगति न होगी किन्तु यह हो सकता है कि वे सदस्य राष्ट्रों की सुरक्षा के लिए कुछ व्यवस्था कर दें। किन्तु इस प्रकार के प्रयास विश्व को स्पष्ट रूप में दो विरोधी गुटों में विभाजित कर देंगे तथा शक्ति सन्तुलन के बीच लोचशीलता न रहेगी।

उपर्युक्त विचारों से प्रभावित होकर अनेक विचारक विश्व सरकार के प्राप्त करने के जिन उपायों का समर्थन करते हैं उनमें से कुछ प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं—

(१) विश्व विजय द्वारा

(Through World Conquest)

विश्व सरकार में दो बातों का होना परम आवश्यक है। पहली तो यह कि एक स्थान पर शक्ति का केन्द्रीकरण हो अर्थात् संसार में एक संस्था

ऐसी हो जिसके हाथों में शक्ति का एकाधिकार (Monopoly of Power) हो जावे। दूसरे यह कि संसार के सभी राष्ट्रों के पास से सम्प्रभुता को छीन लिया जाय क्योंकि यह एक विशेष दांत होता है जिसके रहने पर एक राष्ट्र सर्प की भांति भयङ्कर बन जाता है किन्तु दांत के टूट जाने पर सर्प के साथ बालक को भी खेलने दिया जाय तो कोई हानि न होगी। विश्व सरकार की स्थापना के इन दोनों पहलुओं की उपलब्धि के लिए विश्व-विजय की कल्पना को साकार रूप देने की आवश्यकता बताई जाती है। यह कहा जाता है कि कोई भी एक राष्ट्र या कुछ राष्ट्रों का समूह, जो कि विश्व सरकार के निर्माण की सच्चे हृदय से इच्छा करता हो, सैनिक शक्ति का सहारा ले सकता है। शक्ति के जोर से वह उन राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह को प्रभावित कर सकता है जो विश्व सरकार की स्थापना करना नहीं चाहते। इस प्रक्रिया में विश्व सरकार के दोनों ही पहलुओं की पूर्ति हो जाती है। जो देश शक्ति का सहारा लेकर संसार को जीतने का अभियान प्रारम्भ करेगा उसकी सफलतायें निरन्तर उसे शक्तिशाली बनाती जायेंगी, उसमें धीरे-धीरे विश्व की शक्ति का केन्द्रीकरण होता चला जायगा। दूसरी ओर जिन राष्ट्रों को विजित बनाया गया है वे शक्तिशाली राष्ट्र के अधीनस्थ बन जायेंगे, उनका सम्प्रभुता रूपी विषैला दन्त टूट जायगा और शांति के लिए जो खतरा था वह टल जायगा।

संसार के राजनैतिक इतिहास में विश्व विजय के स्वप्नों तथा उनको साकार करने के प्रयासों वाले पहलू पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो हम पायेंगे कि ऐसे प्रयासों द्वारा प्राप्त परिणाम अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सके थे। सिकन्दर से लेकर एडोल्फ हिटलर तक अनेक व्यक्तियों एवं राज्यों ने विश्व साम्राज्य के स्वप्न देखे हैं। उन्होंने सैनिक शक्ति के आधार पर सारी विश्व को विजय करने का अभियान शुरू किया किन्तु इनमें से अधिकतर के ये अभियान उनके जीवनकाल में ही समाप्त हो गये। पाश्चात्य सभ्यता को रोमन साम्राज्य की दीर्घकालीनता पर गर्व है। रोमन साम्राज्य के समय विश्व राज्य इतने दिनों तक चलता रहा, इसका कारण दो परिवर्तनों को बताया जाता है। रोमनों ने जिन देशों को जीता, वहां के लोगों को, यदि वे सभ्य थे तो अपने जैसा बना लिया और यदि इतने सभ्य न थे तो उनको दास बना लिया। विजय के दौरान रोमन विजेताओं ने अपने आप को भी विजितों के आचार-विचार से प्रभावित होने दिया। इस प्रकार दोहरी प्रक्रिया द्वारा स्वतन्त्र स्थापित करके रोमन साम्राज्य को इतने दिनों तक स्थायी रखा जा सका था। वहां एक मिली-जुली नई सभ्यता का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त विश्व विजय के प्रायः अन्य सभी प्रयास असफल होने

के थोड़े समय बाद ही छिन्न भिन्न हो गये। इसका कारण यह था कि विजयी देशों के नैतिक मूल्य तथा राजनैतिक हित विजित देश से भिन्न होते थे और इस कारण विजित राष्ट्र सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता था कि किसी प्रकार विजेता की शक्ति का जुआ उतार दिया जावे। जब विजयी देश की सैनिक शक्ति साम्राज्य का विस्तार करना रोक देती है या ऐसा करने में असमर्थ हो जाती है तो विजित राष्ट्रों में शक्ति का उद्वेग प्रारम्भ होता है वे दूसरे अविजित राष्ट्रों के साथ मिल कर विजेता राष्ट्र की सफलताओं को धूल धूसरित कर देते हैं।

छोटे स्तर पर की गई विजय जो कि विजयी एवं विजित का सांस्कृतिक समन्वय करके नवीन समुदाय (Community) का निर्माण नहीं कर पाती उसमे गृह-युद्धों और भेद-भावों की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। यदि विजयी राष्ट्र के लोगों की शक्ति एवं सामर्थ्य विजितों की तुलना में कम है तो शीघ्र ही उस राज्य में क्रांति हो जायेगी। सीमित विजय से इन सभी परिणामों के साथ एक नवीन समुदाय का विकास नहीं किया जा सकता। मार्गेन्थो (Morgenthau, Hans J) के कथनानुसार "ये विश्व राज्य विश्व समुदाय (World Community) के स्वाभाविक विकास नहीं थे किन्तु ऐसी शक्ति का निर्माण थे जो विभिन्नताओं से पूर्ण राष्ट्रीय समाजों पर उनकी इच्छा के विपरीत थोपी गई थी।"

इस प्रकार विश्व साम्राज्य या विश्व विजय के द्वारा विश्व राज्य एवं विश्व सरकार की स्थापना सच्चे अर्थों में नहीं की जा सकती। इस प्रक्रिया में मुख्य रूप से निम्न कमियां पाई जाती हैं—

१ यह विश्व में शान्ति निर्माण करने एवं उसे कायम रखने में सफल नहीं हो पाती। हर समय क्रान्ति, गृह युद्ध एवं फूट द्वारा उत्पन्न झगड़ों का भय बना रहता है, कभी कभी तो यह भय यथार्थ भी बन जाता है।

२ इस प्रकार से स्थापित विश्व राज्य का आधार शक्ति होता है, इच्छा नहीं। शक्ति के आधार पर स्थापित इस राज्य में समानता और स्वतन्त्रता जैसे मूल सिद्धान्तों का कोई महत्व नहीं रहेगा। विजित राष्ट्र पराधीन, शोषित तथा पतनोन्मुख बन जायेंगे जबकि विजयी राष्ट्र उच्छृंखल, मनमानी करने वाला, दमनकारी एवं अधिकाधिक शक्तिशाली बन जायेगा। शक्ति व्यक्ति को भ्रष्ट बना देती है और सारे विश्व की शक्ति का कुछ व्यक्तियों में ही केन्द्रीकरण अनुक्रम की भांति भयावह होता है।

३ महात्मा गांधी ने बताया था कि हम बुरे साधनों द्वारा कभी भी अच्छे लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर सकते। इस आधार पर यह आपत्ति की जा

सकती है कि हिंसा और युद्ध के द्वारा विश्व-शान्ति और सुरक्षा की खोज करना कहाँ तक उचित है। यह एक विरोधाभास है कि हम एक व्यक्ति की हत्या इसलिये कर देते हैं ताकि वह अमर हो जाए अथवा एक व्यक्ति को इसलिये दास बनाते हैं ताकि वह स्वतन्त्र बन सके। सच तो यह है कि यह विरोधाभास विजयी राष्ट्रों द्वारा दूसरों को शमित करने का एक साधन है तथा उनके अनुचित इरादों पर पर्दा डालने वाला एक प्रयास है।

४ विश्व विजय द्वारा स्थापित विश्व राज्य में न केवल अनेक भिन्नतायें वरन् अनेक विरोध रहते हैं। इस प्रकार के समाज में एकरूपता नहीं रहती। इस राज्य के लोगों में अभी तक देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता के भाव भरे रहते हैं, वे अपने आपको विश्व का नागरिक नहीं मान पाते। दूसरे शब्दों में विश्व राज्य के साथ-साथ विश्व समुदाय का निर्माण नहीं किया जाता और न वह किया जा सकता है उसका न तो केवल विकास ही किया जा सकता है।

(२) एक संघ के निर्माण द्वारा
(Through a creation of World Federation)

कुछ विचारक विश्व सरकार की स्थापना के लिये स्विटजरलैंड के उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए उसी आधार पर विश्व का एक संघ बना देने की सलाह देते हैं। स्विटजरलैंड में अलग-अलग भाषा, संस्कृति, इतिहास, राजभक्ति एवं नीतियों से पूर्ण कार्टन सम्प्रभु राज्यों को मिलाकर एक संघ का निर्माण कर दिया गया है। उसी प्रकार वर्तमान विश्व के समस्त राज्यों को मिलाकर यदि एक संघ में एकीकृत कर दिया जाय तो बहुत अच्छा रहे। सभी राष्ट्रों पर स्विटजरलैंड के से संविधान को लागू किया जाय तथा सभी राष्ट्र एक दूसरे से उसी प्रकार के सम्बन्ध रखें जिस प्रकार के सम्बन्ध स्विटजरलैंड के विभिन्न कैंटनों के मध्य स्थित हैं। इस प्रकार विश्व सरकार की समस्या का समाधान हो जायगा।

विश्व सरकार की स्थापना के लिये स्विटजरलैंड का आदर्श प्रस्तुत करने वाले विचारकों के तर्कों में कुछ आकर्षण है किन्तु इसे क्रियान्वित करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ एवं असमानतायें हैं—

(१) स्विटजरलैंड संघ की इकाइयाँ कैंटन हैं। इनका इतिहास देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके संघ में एकबद्ध होने का कारण यह था कि प्रायः सभी को एक समान शत्रु से अपनी रक्षा करनी थी। इस प्रकार उनके राष्ट्रीय हित समान बन गये थे किन्तु विश्व के राष्ट्रों के सामने ऐसी कोई समस्या नहीं है। विश्व के राष्ट्रों के सम्मुख कोई ऐसा समान खतरा नहीं

है जिसके विरुद्ध वे अपनी सुरक्षा के लिये एक संघ का निर्माण कर लें। एक असम्भव कल्पना के अनुसार यदि चन्द्रलोक या मंगल ग्रह के मानव पृथ्वीलोक के निवासियों पर आक्रमण करें तो विश्व के सभी राष्ट्र मिलकर स्विटजरलैंड की भांति का संघ बना सकते हैं।

(२) अनेक प्रमुख एवं गौण परिस्थितियों के संयोग के कारण यद्यपि स्विटजरलैंड में संघात्मक शासन की व्यवस्था हो गई तथा इस व्यवस्था के अधीन वह अपनी सुरक्षा करने में और बड़ी शक्तियों के बीच अप्रभावित रहने में सफल भी हो गया किन्तु उसमें आन्तरिक शान्ति की स्थापना नहीं की जा सकी। ३०० वर्षों की अवधि में स्विस राज्य में पांच बड़े धर्म युद्ध लड़े गये जिनमें प्रायः सभी इकाईयों ने सक्रिय भाग लिया था। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे युद्ध भी लड़े गये जिनमें कुछ राष्ट्रों ने भाग लिया। गृह कलह के परिणामस्वरूप अनेक क्रांति एवं शासन परिवर्तनों ने स्थान ग्रहण किया।

(३) स्विटजरलैंड के संघ का अनुभव यह बताता है कि विश्व सरकार की स्थापना नहीं की जा सकती क्योंकि संघ की रचना के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियों का होना आवश्यक है और ये परिस्थितियां अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पैदा नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त स्विस संघ का क्रियान्वित रूप यह स्पष्ट करता है कि संघ का निर्माण करना न केवल आवश्यक है वरन् हानिकारक भी है। गृह युद्धों के कारण विश्व में जो स्थिति विश्व संघ के निर्माण के बाद उत्पन्न होगी वह वर्तमान से भी भयंकर होगी। रेपर्ड (Willam E Rappard) का कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सुरक्षा क्योंकि पूर्णतः सम्प्रभु राज्यों के स्वतन्त्र सहयोग पर निर्भर करती है इसलिये यह आवश्यक रूप से धीरे-धीरे दूटने वाला होना चाहिये।

(३) संवैधानिक परिषद् द्वारा

(Through Constitutional Convention)

कभी-कभी संयुक्त राज्य अमरीका का उदाहरण देकर यह कहा जाता है कि संवैधानिक परिषद् द्वारा विश्व संघ की रचना कर ली जाय। किन्तु यह सुझाव भी अधिक सार्थक नहीं है क्योंकि विश्व राज्य की स्थापना एवं स्थापित संयुक्त राज्य अमरीका की स्थितियां भी समरूप नहीं हैं। इस सुझाव के विरुद्ध निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) संयुक्त राज्य अमरीका के जन्म से पूर्व ही एक नैतिक एवं राजनैतिक समुदाय का निर्माण हो चुका था जिसने अमेरिका की स्थापना को बिना विरोध किये ही सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसलिये विश्व राज्य की

स्थापना भी केवल संवैधानिक परिपत्र द्वारा नहीं की जा सकती जब तक कि उसके पहले विश्व समुदाय (World Community) की रचना न कर दी जाये।

(२) संयुक्त राज्य अमरीका की इकाइयां संघ में आने से पूर्व स्वतन्त्र एवं सम्प्रभु न थी वे सब साम्राज्यवादी शक्तियों के अधीन थी। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद ये इकाइयां अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखने के बारे में निश्चित एवं विश्वस्त न थी। अनेक आशंकाओं ने उनको एक संयुक्त राज्य बनाने के लिये प्रेरित किया। किन्तु राष्ट्रों के पास स्वतन्त्रता है, वे सम्प्रभु हैं तथा इनका वे एक लम्बे समय से उपयोग भी करते आ रहे हैं। विश्व सरकार की रचना उनकी सम्प्रभुता एवं स्वतन्त्रता के लिये सहारा या रक्षक नहीं बनेगी किन्तु वह तो उल्टे इन पर सीमाएं लगा देगी।

(३) विश्व सरकार का निर्माण विश्व के पृथक्-पृथक् अनेक छोटे-बड़े राष्ट्रों को मिलाकर किया जाना है, ये राज्य अपने आप में स्वतन्त्र होने के साथ साथ अपना स्वयं का व्यक्तित्व भी रखते हैं। विश्व राज्य इन सभी इकाइयों के लिए एक नया ही अनुभव होगा। किन्तु यह बात अमेरिका की इकाइयों पर लागू नहीं होती। वहां पर किसी नये राज्य का निर्माण नहीं किया गया, वहां असल में हस्तान्तरण किया गया था। इकाइयों के संविधान, सम्प्रभुता एवं राज्य पहले साम्राज्यवादियों के हाथों में थे अब संयुक्त राज्य अमेरिका को सौंप दिये गये।

(४) विश्व समुदाय के निर्माण द्वारा
(Through creation of Community)

जो विचारक विश्व सरकार का निर्माण एक कृत्रिम विकास की प्रक्रिया द्वारा करना चाहते हैं उनका यह मत है कि पहले विश्व समुदाय का निर्माण किया जाए। संसार के सभी देशों के निवासियों के बीच सांस्कृतिक, शैक्षणिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सम्बन्धों में परस्पर सहयोग की भावना का विकास करके उनको एक दूसरे के निकट लाया जा सकता है। इन प्रयत्नों द्वारा लोगों में यह भावना पैदा कर दी जाय कि संसार के किसी भी देश का निवासी उसका अपना भाई है, वह उसका शुभेच्छु है तथा उसकी ओर से किसी को किसी प्रकार का खतरा नहीं होना चाहिए। इस प्रकार राष्ट्रीयता की दीवार को तोड़कर अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रचार किया जाय। राष्ट्रीय अभिमान, गर्व एवं अहंकार को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान में परिवर्तित कर दिया जाय। ऐसा हो जाने के बाद विश्व सरकार की स्थापना सहज हो जावेगी तथा स्थापित होने के बाद विश्व सरकार का सफल संचालन भी

सम्भव हो सकेगा। विश्व जनमत को राष्ट्रीयता को संकुचित प्राचीरों से निकाल कर विश्व के खुले प्रांगण में ला खड़ा किया जाये तो विश्व सरकार स्वत ही स्थापित हो जायेगी। इस प्रकार निर्मित विश्व सरकार लोगों पर लादी नहीं जायेगी, उसमें शक्ति एवं हिंसा का प्रयोग नहीं किया जायगा वरन् प्रेम, सहयोग, सद्भाव, नैतिकता आदि गुणों पर उसे आश्रित रखा जायगा।

विश्व समुदाय का निर्माण करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ का शैक्षणिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (UNESCO) तथा अन्य विशेष संगठन महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। यूनेस्को (UNESCO) का दर्शन इस मान्यता पर आधारित है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के निर्माण के लिए तथा शांति को बनाये रखने के लिये शिक्षा, सांस्कृतिक आदान प्रदान तथा विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों के बीच परस्पर सम्बन्ध बढ़ाने वाली सभी क्रियाओं का बड़ा महत्व है जो कि एक दूसरे को समझने में सहायता करती हैं। इस मान्यता में यह कल्पना निहित है कि राष्ट्र इस कारण राष्ट्रीय होते हैं तथा युद्ध में भाग लेते हैं क्योंकि वे एक दूसरे को अच्छी तरह नहीं जानते और क्योंकि वे शिक्षा और संस्कृति के विभिन्न स्तरों पर काम करते हैं। कुछ विचारकों के मतानुसार ये दोनों ही मान्यताएं त्रुटिपूर्ण एवं असत्य हैं। शिक्षा और संस्कृति की मात्रा एवं गुण विश्व-समुदाय के प्रश्न में कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। मार्गेन्थो के शब्दों में विश्व समुदाय नैतिक निर्णयों एवं राजनैतिक कार्यों का समुदाय होता है न कि बौद्धिक अनुदान एवं सौन्दर्यात्मक प्रशंसाओं का। इस प्रकार यूनेस्को द्वारा किए गए कार्यों का विश्व समुदाय की दृष्टि से कोई महत्व नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य विशेष अभिकरण जो विश्व के आर्थिक एवं सामाजिक उत्थान के लिये प्रयास करते हैं, भी विश्व समुदाय के निर्माण में कुछ सहायक बन सकते हैं। ये अभिकरण राष्ट्रीय सीमाओं को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करते हैं। प्रोफेसर मित्रनी (Professor Mitrany) का मत है कि विश्व समुदाय केवल तभी विकसित हो सकता है जबकि संसार के विभिन्न देशों के सदस्यों की सामान्य आवश्यकताएं सन्तुष्ट हो जायेंगी।

विश्व सरकार की मान्यता की आलोचना
(Criticism of World Government's Concept)

विश्व सरकार की मान्यता की कई दृष्टियों से आलोचना की जाती है। यह अव्यावहारिक है तथा इसे क्रियान्वित नहीं किया जा सकता आदि बातें कहकर इसे अयथार्थ एवं केवल विचार विमर्श का विषय ही बताया

जाता है। यह दार्शनिकों की आदिभौतिक कल्पना की भांति सुन्दर एवं आशाजनक है किन्तु वास्तविक जगत में इसका कोई महत्व नहीं है क्योंकि इसके मार्ग में इतनी बाधाएं आती हैं कि इसे असम्भव मानना पड़ता है। राष्ट्रवाद, सम्प्रभुता, प्रतिरोधी दृष्टिकोण, आर्थिक प्रतिद्वन्द्व आदि कुछ प्रमुख एवं गौण तत्वों के कारण जो संघर्ष, युद्ध और विनाश की स्थिति पैदा हो जाती है उसके कारण ही विश्व सरकार की आवश्यकता एवं उपयोगिता है किन्तु ये तत्व विश्व सरकार के मार्ग की बाधाएं भी हैं। यदि इन बाधाओं को दूर कर दिया जाय तो विश्व सरकार की कोई आवश्यकता नहीं रहती और यदि इन्हें रहने दिया जाय तो विश्व सरकार बन नहीं सकती और यदि बन भी गई तो वह सफलतापूर्वक काम नहीं कर सकती। इस प्रकार विश्व सरकार की मान्यता की व्यावहारिक दृष्टि से आलोचनायें की जाती हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्व सरकार की मान्यता की आलोचना करते हुए अनेक विचारक यह स्पष्ट करते हैं कि विश्व सरकार अनावश्यक है। यह जिन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए बनाई जायेगी वे इससे प्राप्त नहीं किये जा सकते। यह विश्व को शान्ति, सुरक्षा एवं सद्भावनापूर्ण वातावरण प्रदान नहीं कर सकती। दूसरी ओर यदि विश्व सरकार की स्थापना किसी प्रकार कर दी गई तो यह विश्व को विनाश की उस स्थिति में लाकर खड़ा कर देगी जहां से उसके बचाव के साधन ढूंढ सकना भी असम्भव बन जायेगा।

व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों आधारों पर विश्व सरकार की जो आलोचना की जाती है उनमें से मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) कतिपय विद्वान द्वारा विश्व सरकार की रचना में विश्वास करने वाले विचारक संयुक्त राष्ट्रसंघ को विश्व सरकार का प्रारम्भिक रूप कह देते हैं किन्तु यह कहना गलत है। संयुक्त राष्ट्रसंघ राज्यों का एक साधन (Instrument) मात्र है, इससे अधिक यह कुछ नहीं है। इस कथन को स्पष्ट करने के लिए सुरक्षा परिषद् के प्रतिरोधों (Deadlocks) एवं महासभा (General Assembly) के एक महत्वपूर्ण निकाय के रूप में उदय को लिया जा सकता है। महासभा केवल सिफारिशें कर सकती है, उनको कार्य रूप में परिणत करना राज्यों की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। इसी प्रकार सुरक्षा परिषद् में निषेध अधिकार (Veto power) के प्रयोग ने भी यह सिद्ध कर दिया है कि राष्ट्रसंघ का प्रयोग सभी राष्ट्रों द्वारा उनके राष्ट्रीय हित की साधना के लिए किया जाता है।

(२) विश्व-व्यापी आर्थिक एवं राजनैतिक भिन्नताओं को देखते हुए तथा संघर्षों को कम करने की दृष्टि से विश्व सरकार के समर्थक हों

एकात्मक के स्थान पर संघात्मक स्वरूप देना अधिक पसन्द करते हैं। किन्तु ऐसा करते समय वे उन सब कठिनाइयों को भुला देते हैं जो कि एक संघात्मक ढाँचे के निर्माण एवं स्थायित्व के मार्ग में स्वाभाविक रूप से आ सकती हैं। राष्ट्रीय स्तर पर स्विट्जरलैण्ड और संयुक्त राज्य अमरीका आदि स्थानों पर संघ के निर्माण से सम्बन्धित उदाहरणों को देखने [redacted] बाद, यह कहा जाता है कि एक संघ के निर्माण से पूर्व समान हितों वाले समुदाय की आवश्यकता होती है जिसके अतीत की जड़ें दीर्घकालीन इतिहास में निहित हों। संघ निर्माण प्रक्रिया पर बाहरी दबाव भी पड़ते हैं। संघ बन जाने पर 'इकाइयां प्रधान होंगी अथवा केन्द्र'—इस प्रश्न को लेकर हिंसात्मक साधनों का उपयोग भी किया जा सकता है।

(३) अनेक विचारकों द्वारा यह माना जाता है कि विश्व सरकार युद्धों के रूप को बदल सकती है, वह उनको राष्ट्रीय युद्धों के स्थान पर गृह युद्ध बना सकती है, किन्तु पूर्ण रूप से समाप्त नहीं कर सकती। इसी प्रकार दो राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क स्थापित करके यह आशा की जाती है कि वे एक दूसरे को समझेंगे तथा उनमें भ्रातृत्व एवं मैत्री के भाव पैदा होंगे। सिद्धान्त रूप में हम कुछ भी सोचने को स्वतन्त्र हैं किन्तु, व्यवहार में ऐसा सत्य प्रतीत नहीं होती। उदाहरण के लिए भारतीय समाज में पाश्चात्य रॉक एण्ड रॉल नृत्य एवं अन्य संस्कृति के प्रतीकों को भोंडे प्रदर्शन एवं वासनायुक्त उत्तेजक क्रियायें समझा जाता है। वहां के रहन-सहन, वेष भूषा, आचार-विचार को देख कर पहले तो कुतूहल होता है किन्तु बाद में घृणा के भाव उभर आते हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक अन्तर्विरोध के कारण राष्ट्रों के बीच अविश्वास एवं घृणा पैदा हो जाती है जो कि विश्व सरकार के तख्ते को पलटने में सहायक बन जायेगी।

(४) विश्व सरकार [redacted] लिए अनेक संवैधानिक सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं। इन सबका अपना महत्व है तथा ये निस्सन्देह विश्व सरकार की रचना में सहयोग प्रदान कर सकते हैं किन्तु ऐसे राज्यों में खतरा संविधान से पैदा नहीं होगा वरन् उन लोगों से पैदा होगा जो चालाकी से या शक्ति द्वारा इसे एक तरफ रख कर सारी शक्ति अपने हाथ में ले सकते हैं।

(५) विश्व सरकार की सबसे अधिक आलोचना यह की जाती है कि उसमें गृह युद्धों को बढ़ावा मिलेगा। आज भी राष्ट्रीय व्यवस्था में अधिकांश राष्ट्र शान्तिप्रिय होते हैं। आक्रमणकारी राष्ट्र तुलनात्मक रूप से बहुत कम हैं। आक्रमणकारी राज्य के पास सम्प्रभु शक्ति रहने के कारण उसे निर्णय लेने में सुविधा रहती है। किन्तु कोई भी राज्य तब तक युद्ध नहीं लड़ सकता जब तक कि सामान्य जनता का सहयोग उसके साथ न

हो। इस सहयोग का अर्थ है जनता की सम्प्रभुता। विश्व राज्य स्थापित हो जाने के बाद भी कोई जन-समूह बिना किसी सम्प्रभु शक्ति के चाहे तो, युद्ध छेड़ सकता है।

(६) गृहयुद्ध के खतरे को टालने के लिए समस्त सैनिक शक्ति का विश्व सेना के रूप में केन्द्रीकरण करना होगा। एक विश्व संघ जिसमें वर्तमान राष्ट्रीय सेनाएं ज्यों की त्यों बनी रहें, एक स्वविरोधी बात होगी। यदि सबके पास हथियार रहें तो सभी उनका प्रयोग कर सकते हैं, यदि किसी के पास हथियार न रहें तो भी वे केवल हाथों से लड़ सकते हैं। यही कारण है कि विभिन्न विचारकों द्वारा विश्व सेना का सुझाव दिया जाता है जिसमें सारी सैनिक शक्ति का एकाधिकार होगा किन्तु यह सुझाव भी खतरे से खाली नहीं है।

(७) विश्व सरकार का विश्व तानाशाही में परिवर्तित होने का खतरा सदैव बना रहता है। शक्ति की लालसा रखने वाले अथवा दुनिया के मनमुटावों को दूर करने का प्रयास करने वाले आदर्शवादी दोनों ही प्रकार के व्यक्ति दुनिया को नियन्त्रित करना चाहेंगे। चाहे उद्देश्य अच्छा हो अथवा बुरा, विश्व को नियन्त्रित करने के लिए सेना पर नियन्त्रण करना पड़ेगा। ऐसा करने के लिए धोखा, चालबाजी या शक्ति के प्रयोग का सहारा लिया जायेगा। चाहे चालबाजी से या रक्तरंजित गृह-युद्ध में यदि एक समुदाय द्वारा दूसरे पर अधिकार कर लिया गया तो विश्व व्यापी तानाशाही का जन्म हो जायेगा। यदि उस तानाशाह द्वारा समस्त विनाशकारी हथियारों पर अधिकार कर लिया गया तो उसके विरुद्ध क्रान्ति का भविष्य भी धुंधला पड़ जायेगा। इस प्रकार विश्व सरकार जिस लक्ष्य को सामने रख कर बनाई गई, वह तो पूरा हो ही न सका उल्टे शान्ति और स्वतन्त्रता भी दीर्घकाल के लिए विश्व का दामन छोड़ कर चली जायेगी।

उक्त आलोचनाओं के अध्ययन के बाद ऐसा लगता है कि विश्व सरकार पर विचार करना समय को एक व्यर्थ तथा प्रभावहीन कार्य में नष्ट करना है इससे अधिक कुछ नहीं। किन्तु यह आभास भी एकांगी है। यह सच है कि यदि विश्व सरकार बना दी गई तो उसके परिणाम बड़े भयंकर होंगे किन्तु यह भी सच है कि एकपक्षीयता की नीति (Unilateralism) भी खतरे से खाली नहीं। यही कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से ही इन दोनों अतियों (Extremes) के बीच का मार्ग खोजने का प्रयास किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में अब तक विभिन्न सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं जैसे 'एक संघीय राज्य के रूप में प्रजातन्त्रों का संघ' जो कि एक विचार या सम्भावना बन कर ही

रह गया। दूसरा सुझाव था नाटो (NATO) का जिसे क्रियान्वित कर लिया गया है। इस प्रकार के सुझावों को क्षेत्रीय सन्धि (Regional alliances) भी कहा जा सकता है। इस प्रकार की सन्धियों में बद्ध राष्ट्र अपने झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा कर लेते हैं इस प्रकार ये सन्धियाँ क्षेत्रीय स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की प्रतीक मानी जा सकती हैं।

वर्तमान काल में कुछ अन्य सुझाव भी दिये जाते हैं जिनको न तो क्षेत्रीय सगठन कहा जा सकता है और न ही क्षेत्रीय सन्धियाँ ही। इनको इन दोनों ही श्रेणियों से अलग माना जायगा। इस प्रकार के सुझाव मुख्यत निम्न हैं—

(१) योरोप का कोयला एव फौलाद समुदाय या शूमेन योजना
(European Coal and Steel Community or Schuman Plan)

(२) योरोप का सामान्य बाजार
(European Common Market)

(३) योरोप का अणु अधिकार
(European Atomic Authority)

(४) योरोप का सुरक्षा समुदाय
(European Defence Community)

(५) योरोप का राजनैतिक समुदाय
(European Political Community), आदि।

उक्त सुझावों में से अधिकाश को ना क्रियान्वित भी कर दिया गया है। इन सुझावों को स्वीकार करने के मार्ग में भी प्राय वही बाधाय हैं जो कि राष्ट्रवाद से प्रभावित इस युग में विश्व सरकार के समर्थकों का मार्ग अवरुद्ध करती हैं। जहा सैनिक एव राजनैतिक एकीकरण का प्रश्न आता है वहा ये बाधाय अपना प्रभाव दिखाने लग जाती हैं।

नि शस्त्रीकरण
(Disarmament)

विश्व की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए शस्त्रों की होड़ पर रोक लगाना एक बहुत महत्वपूर्ण कार्य बन गया है जिसमें देरी नहा की जा सकती। अणु शक्ति से पूर्ण सैनिक तैयारियों के बीच मनुष्य यदि मानव सभ्यता के विनाश को रोकना चाहता है तो उसे कुछ करना पड़ेगा। शस्त्रों को जहा मनुष्य की हिंसा वृत्ति की अभिव्यक्ति माना जाता है वहा उनको युद्ध का उत्तरदायी भी कहा जा सकता है। ये हिंसा के प्रतीक हैं और किसी भी

व्यक्ति या समाज की हिंसा की दूषित प्रवृत्तियों को ये शस्त्र ही उकसाया करते हैं। कई बार अनुभव किया गया है कि जब व्यक्ति के हाथ में कोई छड़ी रहती है, तो वह उसको किसी पर प्रयोग करने की लालसा रखने लगता है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में जब एक देश द्वारा शस्त्रीकरण की नीति पर अमल किया जाता है तो उसका प्रभाव उसके पड़ोसी अथवा दूरस्थ राष्ट्रों पर भी पड़े बिना नहीं रह पाता क्योंकि यह नीति अन्य राष्ट्रों की सुरक्षा एवं विकास के लिए एक संकट का कारण बन जाती है। परिणामस्वरूप उन देशों की नीति में परिवर्तन आता है और वे भी शस्त्रों की होड़ में उतर आते हैं ताकि वे दूसरों से पीछे न रह जायें। इस होड़ की प्रतिक्रिया होती है और शस्त्रों के निर्माण को उस सीमा पर लाकर खड़ा कर देती है जहाँ एक देश की समस्त विकास योजनायें एवं शान्ति की नीतियाँ असफल हो जाती हैं। इस प्रकार शस्त्रीकरण की नीति का विश्व पर पड़ने वाला प्रभाव बड़ा ही भयानक है। इस नीति के कारण विश्व के राष्ट्रों के बीच भय, सन्देह और प्रतिस्पर्धा की भावनायें बढ़ती हैं। एक देश की अर्थ-व्यवस्था अस्त व्यस्त हो जाती है क्योंकि उसे अपने बजट का अधिकांश भाग सैनिक तैयारियों पर खर्च करना पड़ता है। देश का जीवन स्तर गिर जाता है। सभ्यता और संस्कृति के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

शस्त्रों की होड़ में भाग लेने वाली सरकार को अपनी लोकप्रियता खो जाने का भय पैदा हो जाता है और आगामी आशंकाओं को दूर रखने एवं अपनी नीतियों का औचित्य सिद्ध करने के लिए वह येन-केन-प्रकारेण किसी भी राष्ट्र के विरुद्ध उचित या अनुचित किसी भी कारण पर अपने देश को युद्ध की आग में झोंक देती है ताकि जनता को यह दिखा सके कि यदि उसने देश का पेट काट कर इन विध्वंसकारी शस्त्रों का निर्माण न किया होता तो देश की स्वतन्त्रता और सुरक्षा पर खतरे के बादल घिर गये होते, और इस प्रकार शस्त्रों पर जोर देने वाली सरकार अपनी सूझ-बूझ एवं दूरदर्शिता का प्रभाव जमाने का अवसर प्राप्त कर लेती। इन सभी क्रिया एवं प्रतिक्रियाओं पर विचार करने के बाद शान्ति, मानवता एवं सहयोगपूर्ण नीति के समर्थक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारक निःशस्त्रीकरण पर जोर देते हुए इसे वर्तमान युग की सबसे बड़ी आवश्यकता बताते हैं।

निःशस्त्रीकरण की नीति का आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक एवं राजनैतिक आदि अनेक दृष्टिकोणों से समर्थन किया जाता है। बौद्धिक आधार पर इस नीति का समर्थन करने में व्यापारी वर्ग का योग महत्वपूर्ण है। वे युद्ध को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं अर्थव्यवस्था के हितों के विपरीत मानते हैं। उनके मतानुसार व्यापार करने वाले विभिन्न देशों के बीच युद्ध होने से सभी

को नुकसान रहता है। यह व्यापारियों के भाग्य चक्र के लिए रात्रु के समान है तथा उनके व्यापारों को यह हीन बना देता है। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं राजनैतिक विचारक कान्ट (Kant) के मतानुसार युद्ध के समय व्यापारिक उत्साह नाय नहीं रह सकता। इन अनेक कारणों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विध्वंसात्मक एवं अराजकतावादी प्रवृत्तियों पर सीमा लगाने का समर्थन किया जाता है। इस प्रकार की सीमाएं लगा कर शान्ति प्राप्त करने के साधनों में सबसे स्थायी, प्रभावपूर्ण एवं निश्चित साधन निःशस्त्रीकरण को माना जाता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि वर्तमान विश्व अनेक समस्याओं एवं संघर्षों से पूर्ण है जो कि अनेक कारणों एवं स्रोतों से पैदा होता है।

विश्व राजनीति की समस्याएं और उनके स्रोत
(The Problems of World Politics and their Sources)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रों के बीच व्यापार, वाणिज्य, सम्मान स्तर प्रभाव एवं विचारधारा को खातिर अनेक संघर्ष होते रहते हैं। युद्ध के मैदान में स्थिति सम्मान एवं ताकत की प्राप्ति के लिए जानबूझ कर किए जाने वाले प्रयास अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में बहुत मिल जाते हैं। प्रतिदिन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्थायी रूप से शान्ति का रहना कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं है। राष्ट्रों के बीच स्थित प्रतिद्वंदिता द्वारा एक सीमा निर्धारित कर दी जाती है जिसके आगे शान्ति नष्ट हो जाएगी। सैद्धान्तिक दृष्टि से शान्ति की सभी पूर्व आवश्यकताएं पूरी हो जाने के बाद भी शान्ति का रहना जरूरी नहीं है। राष्ट्रों के बीच प्रतिद्वंदिता उनके दृष्टिकोण एवं सम्बन्ध स्वरूप के कारण आवश्यक बनी रहती।

शान्तिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का अध्ययन इस प्रतिद्वंदिता को दूर नहीं करता। इसके द्वारा संघर्ष का युद्ध के द्वारा सुलझाने के प्रयासों पर रोक लगाई जाती है और यह प्रयास किया जाता है कि युद्ध को राष्ट्रनीति का एक साधन न रहने दिया जाये। इस अध्ययन के द्वारा संघर्ष को समाप्त करने का प्रयास किया जाता है उसको दबाने का नहीं क्योंकि असन्तुष्ट संकट बाद में विवाद के कारण बन जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थित संघर्ष को युद्ध का रूप न देकर प्रत्येक राष्ट्र का सम्भावित सन्तोष प्रदान करके शान्तिवादी विचारधारा युद्ध को अनावश्यक बनाने का प्रयास करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष एवं प्रतिद्वंदिता के रूप समय के विकास एवं परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। इसी प्रकार संघर्ष को दूर करने के लिए एक युग में जो प्रयास किए जाते हैं वे भी दूसरे युग में उपयोगी नहीं रहते। जिस युग में भौगोलिक खोज की जा रही थी तथा नये बाजारों के

लिए प्रतियोगिता हो रही थी उस समय शांतिपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की स्थापना के लिए एक विशेष व्यवस्था की आवश्यकता थी किन्तु तीव्र गति से होने वाले औद्योगिक विकास के युग में अन्य प्रकार की व्यवस्था जरूरी है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का रूप एवं बनावट उस प्रतियोगिता की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए जिसे कि विनियमित किया जाता है। एक युग में जिस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा संघर्ष को दबाया जाता था वह दूसरे युग में संघर्ष को बढ़ाने का कारण बन सकता है। कहा यह जाता है कि एक समय शक्ति सन्तुलन स्थायित्व की रचना के प्रभावशील साधन के रूप में अत्यन्त महत्वपूर्ण था किन्तु आज की विचारधारागत प्रतियोगिता तथा अणुयुग के सन्दर्भ में यह महत्वहीन बन गया है।

इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संगठन एवं नियमन समय के राजनैतिक विचारों एवं सामाजिक मूल्यों से मिलता हुआ होना चाहिए। पहले जब युद्धों में जान-माल की हानि अधिक नहीं होती थी तब अन्तर्राज्यीय युद्धों को सामान्य रूप से स्वाभाविक संस्था माना जाता था। किन्तु जब से युद्ध की प्रकृति बदली है तब से नए मूल्यों का विकास हुआ है और युद्ध को सर्वमान्य रूप से बुरा बताया जाता है। अणु शस्त्रों ने युद्ध को राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में न केवल अवांछनीय बना दिया है बल्कि अव्यावहारिक भी बना दिया है। यद्यपि प्रतियोगिता और संघर्ष अब भी अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की एक विशेषता है किन्तु युद्ध संघर्षों को सुलझाने के लिए अव्यावहारिक बन गया है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की नई प्रक्रिया एवं नया रूप जरूरी है। अतीत काल से जो विरासत के रूप में लिया गया है वह बीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीय नीतियों एवं अन्तर्राष्ट्रीय रचना के लिए अनुपयुक्त है।

आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघर्ष देखने को मिलता है उसके पीछे अनेक कारण कार्य करते हैं। इसका पहला कारण यह है कि परिवर्तन और यथास्थिति के बीच घोर संघर्ष रहता है। राज्यों में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन के लिए माग की जाती है। किन्तु यथास्थिति चाहने वाले इस माग का विरोध करते हैं।

संघर्ष का दूसरा रूप सीमाओं के ऊपर झगड़े हैं। संघर्ष का यह रूप अत्यन्त प्राचीन है और बीसवीं शताब्दी तक इसका बहुत प्रभाव रहा। नई खोजी गई भूमि पर दावा करना, उपनिवेशों की भूमियों को प्राप्त करने के ऊपर झगड़े करना, आदि संघर्ष के सामान्य कारण थे। रूढ़िवादी शक्ति के अनुसार न्याय वही है जो कि कानून है और कानून का अर्थ वह है जो कि

सामान्यत स्वीकृत है। किन्तु दूसरी ओर शक्तिशाली शक्ति के मतानुसार वर्तमान स्थिति अन्यायपूर्ण है और आवश्यकता पड़े तो उसे शक्ति के साथ बदला जाना चाहिए। इन दोनो स्थितियो के बीच समझौता होना बड़ा मुश्किल है। इस आधार पर विश्व मे अनेक झगडे होते रहते हैं। सन् १९५६ मे जब स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण किया गया तो ब्रिटेन तथा फ्रास ने कानूनी दृष्टिकोण अपनाए तथा वस्तुस्थिति को बनाये रखने की बात कही। किन्तु मिस्र ने अन्य कानूनी दृष्टिकोण अपनाया जो कि उसके सम्प्रभुता के अधिकार पर आधारित था। सीमा सम्बन्धी झगडे सघर्ष का पुरातन रूप हैं। सीमा सम्बन्धी झगडे जब तक सम्बन्धित सरकारों की सम्प्रभुता के अनुसार मान्य एव स्थापित नही हो जाते तब तक वे सघर्ष के स्रोत बने रहते हैं। बीसवी शताब्दी मे स्वतन्त्र राष्ट्रों की हर जगह निरन्तर स्थापना होती जा रही है तथा उनकी सम्प्रभुता को मान्यता दी जाती है। पहले विदेशियो को शोषण का अधिकार था किन्तु अब स्वदेशियो को सम्प्रभुता का अधिकार है और ऐसी स्थिति मे यह आशा की जाती है कि सघर्ष का यह रूप अन्तर्राष्ट्रीय झगडों का कम से कम महत्वपूर्ण स्रोत बनता जाएगा।

आर्थिक रुकावट को अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो का तीसरा कारण माना जाता है। आर्थिक रुकावट उन लोगो के ऊपर डाली जाती है जो कि एक महत्वपूर्ण रणनीति की स्थिति से युक्त होते हैं। वैसे आर्थिक प्रतिरोध प्राय अधीनस्थ जनता पर किया जाता है किन्तु अनेक ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र भी होते हैं जो कि दूसरे राष्ट्रो द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धो को मानने की प्रवृत्ति रखते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध ने इस कथन के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस काल के लेखों मे जो राजनैतिक सघर्ष से सम्बन्ध रखते हैं, आर्थिक प्रतिबन्धो, उनके कारणो तथा राजनैतिक प्रभावो पर बहुत जोर दिया गया है। सन् १९३० से पूर्व अनेक व्यापारिक राष्ट्रो ने जापान के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगा दिये, क्योंकि एक तो उनके यहा आर्थिक मन्दी की स्थिति थी और दूसरे वे बढ़ती हुई जापानी प्रतियोगिता का मुकाबला करना चाहते थे। जब जापान को उपयुक्त माल और बाजार नही मिले तो उसने शक्ति के साधन को अपनाया। यदि जापान अपने जीवन स्तर को सुधारना चाहता था तो उसे उन प्रदेशो को अपने कब्जे मे करना चाहिए जहा उसे कच्चा माल मिलता है या माल की खपत होती है।

अनेक देशो की गरीबी और उस गरीबी के विरुद्ध लड़ाई अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष का चौथा कारण है। एक देश की गरीबी और निम्नतर विकास का कारण उसका इतिहास एव प्राकृतिक साधन है। इन स्थितियो को आज भी

कोई देश पुनराप सहन नहीं करता क्योंकि वह दूसरों की उच्च आमदनी से परिचित हो जाता है और उन साधनों को जान लेता है जिससे कि वह स्वयं की आय को बढ़ा लेता। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध क्रान्ति की जाती है और उन सामन्तवादी लोगों के विरुद्ध कार्यवाही की जाती है जो कि यहां निम्न जीवन स्तर के कारण बने। निम्न जीवन स्तर के उत्थान हेतु ही इनमें स्वतन्त्रता की मांग जोर पकड़ती है। जब स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद अधिक फायदा नहीं होता तो उस राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था को चुनौती दी जाती है जो कि साम्राज्यवादी शक्ति से विरासत में प्राप्त हुई है।

संघर्ष का पांचवा कारण तब उत्पन्न होता है जब कि बाजार की दशाओं को परिवर्तित किया जाता है। अनेक देश यद्यपि उच्च जीवन स्तर से सम्पन्न होते हैं किन्तु फिर भी वे एक या कुछ चीजों के उत्पादन पर ही निर्भर रहते हैं और ऐसी स्थिति में यदि उस वस्तु के सम्बन्ध में कोई परिवर्तन किया तो वह देश बिगड़ जाएगा। कुछ देश मुख्यतः रबड़ के उत्पादन पर निर्भर होते हैं, अन्य देश कपास के उत्पादन पर निर्भर होते हैं। यदि इन चीजों का विक्रय दूभर कर रख दिया जाए तो इन देशों की अर्थव्यवस्था बिगड़ जाएगी।

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का छठा रूप विचारधारागत-संघर्ष-है। इसके अनुसार एक देश कुछ विचारों एवं संस्थाओं को अपने देश में संगठित करने का प्रयास करता है और उसके बाद उन्हें अन्य देशों में भी फैलाना चाहता है। बीसवीं शताब्दी के पूर्व भी विचारधारा का अस्तित्व था किन्तु उस समय वह संघर्ष का कारण नहीं थी। पुनर्जागृति के युग में तथा फ्रांसीसी क्रान्ति और नैपोलियन के युग में धार्मिक तथा विचारधारागत अन्तर महत्वपूर्ण थे, किन्तु वे निर्णायक नहीं थे। इस सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री श्री नेहरू का यह कथन महत्वपूर्ण है कि इतिहास के प्रमाण इस बात का समर्थन नहीं करते कि विरोधी विचारधाराओं के बीच का संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का मुख्य स्रोत रहा है। आज भी विचारधारागत पहलू हमारे विभाजित विश्व का कारण होने की अपेक्षा साधन अधिक है। इस मत में चाहे कितनी भी सत्यता हो किन्तु इतना अवश्य है कि जब साम्यवाद की औद्योगिक एवं सैनिक क्षमता बढ़ गई तो उसने विचारधारागत अन्तरों को हल्का कर दिया जो कि पहले संघर्ष के मूल स्रोत प्रतीत होते थे। सन् १९५६ में एच. एल. रॉबर्ट्स (H. L Roberts) ने कहा था कि प्रायः यह कहा जाता है कि यदि सोवियत संघ को समाप्त होना है अथवा विश्व साम्राज्य के प्रति दिल को परिवर्तित करना है तो हमें अभी भी अनेक उन समस्याओं को सुलझाना है

जिनको कि सोवियत धमकी का पहलू माना जाता है। हम यह नहीं कह सकते कि साम्यवाद के अभाव में अमरीका के लिए सोवियत रूस की चुनौती की प्रकृति क्या होती किन्तु यह सोचना अबुद्धिपूर्ण नहीं है कि यह चुनौती रूस के नए औद्योगिक स्तर पर आधारित होती।

विचारधारा का महत्व सम्भवतः कम नहीं होगा क्योंकि जो भी आज तक प्रगति हुई है उसके बीच वे आर्थिक और सामाजिक संगठन कार्य कर रहे हैं जिनका आधार उन अध्यापकों एवं संगठन कर्त्ताओं की क्रियायें हैं जो कि सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था, प्राथमिकता एवं अभिप्रायों में बिखरे हुए हैं। यह सब कुछ विचारधारा की पृष्ठभूमि में हुआ जिसके बिना औद्योगिक प्रगति हो ही नहीं सकती थी। इसके अतिरिक्त साम्यवाद की राजनीतिक एवं आर्थिक संस्थायें दुनिया के पिछड़े हुए लोगों से सम्बन्ध रखती हैं। ऐसी स्थिति में यह निश्चय करना कठिन है कि क्रान्तिकारी शक्तियों का अन्य देशों पर कितना असर होगा। सोवियत संघ के नेता अर्द्ध विकसित देशों में तीव्र गति से विकास लाने की बात कहते हैं। वे विचारधारा को अपनी प्राप्तियों से सम्बन्धित कर देते हैं और अपनी प्राप्तियों के आधार पर विचारधारा को प्रसारित करने का प्रयास करते हैं। मास्को की एक प्रसिद्ध पत्रिका (International Affairs) में कहा गया था कि अमरीकी तथा अन्य एकाधिकारीवादी व्यवस्थायें पूर्वी देशों द्वारा आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए अपनाए जाने वाले क्रान्तिकारी तरीके से बहकाते हैं। वे अर्द्ध विकसित देशों को एक शताब्दी तक प्रतीक्षा करने के लिए कहते हैं जबकि पश्चिम की सहायता से ये देश आर्थिक प्रगति के फल चख सकेंगे। किन्तु इन देशों के लोग प्रतीक्षा नहीं करना चाहते। वैसे तो पश्चिम भी इस तथ्य से अनभिज्ञ नहीं है और कई बार संयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस में यह माना गया है कि कम विकसित देश प्रतीक्षा नहीं करेंगे वे अपनी आर्थिक क्रान्ति अभी चाहते हैं तथा उसके फलों को दो शताब्दियों की अपेक्षा दो दशाब्दियों में ही प्राप्त करना चाहते हैं।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष मुख्य रूप से अर्द्ध विकसित राज्यों से सम्बन्धित है। इन क्षेत्रों में अधिकांश देश पहले पश्चिमी प्रभाव में थे किन्तु अब अपनी आर्थिक समस्याओं को जल्दी सुलझाने की फिराक में साम्यवाद की ओर आकर्षित हो गये हैं। इन क्षेत्रों में महाशक्तियों के बीच स्थित सम्बन्ध उस विशेष क्षेत्र की अपेक्षित सैनिक एवं राजनैतिक शक्ति पर निर्भर करते हैं। कहीं-कहीं पर विरोधी शक्तियों ने सैनिक अड्डे स्थापित हो गये हैं और कहीं क्षेत्रीय सैनिक संधियां कर ली गई हैं ताकि विरोधी शक्ति द्वारा आक्रमण किये जाने पर उसका मुकाबला

लिया जा सके। आक्रमण एव सुरक्षा के लिए अपनाए जाने वाले हथियार हैं—सैनिक तथा आर्थिक सहायता, प्रचार और राजद्रोह, तथा सरकार उलटने व अशांति फैलाने की अन्य तकनीकें। यह कहा जाता है कि इन सम्बन्धो मे महाशक्तियों के बीच जो प्रतियोगिता हो रही है वह सबसे अधिक खतरनाक है।

महाशक्तियों के इस सघर्ष से सम्बन्धित विकासशील देश प्रायः असलग्नता की नीति अपनाते हैं। यह मुख्यतः इसलिए होता है क्योंकि वे अपने जीवन स्तर को ऊचा उठाने की मूल समस्याओं मे ही लगे रहते हैं। साथ ही नई शक्तियों के रूप मे वे अपने आपको महाशक्तियों के इस सघर्ष से दूर ही रखना चाहते हैं। कुछ विकासशील देशों ने अपने आपको सैनिक सन्धियों का सदस्य बना लिया है क्योंकि उनके ऐतिहासिक बन्धन थे और अब भी वे उन महाशक्ति के साथ इन ऐतिहासिक बन्धनों को बनाये रखना चाहते हैं अथवा अपने कटु ऐतिहासिक अनुभवों के कारण एक शक्ति का विरोध करके दूसरे पक्ष मे मिलना चाहते हैं। जहां तक साम्राज्यवाद एव उपनिवेशवाद के विरोध तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रश्न है, वहा तक इन देशों की भावनाये एक जैसी हैं किन्तु इसके अतिरिक्त इनकी स्वामिभक्ति विभाजित हो जाती है। प्रारम्भ मे असलग्नता की नीति के प्रति दोनों शक्ति गुटों का रुख अनुकूल नहीं था क्योंकि पश्चिमी शक्तिया इसको अनैतिक मानती थी तथा साम्यवादी देश इसको छिपा हुआ पूंजीवादी कहते थे। किन्तु १९५५ के एशियाई-अफ्रीकी देशों के बाण्डुग सम्मेलन के बाद से स्थिति मे सुधार आ गया। अब दोनों ही गुट इसी नीति का आदर करते हैं।

सन् १९६० मे अनेक नये अफ्रीकी राज्यों का जन्म हुआ और इस समय के बाद महाशक्तियों के सघर्ष में भारी परिवर्तन आ गया। अब असलग्न राष्ट्रों को एक तीसरा गुट माना जाने लगा। किन्तु असल मे इस नीति को मानने वाले देशों के बीच पर्याप्त एकता एव सहयोग नहीं था। स्वतन्त्रता एव साम्राज्यवाद के बारे मे कुछ एक जैसे विचार होने के अतिरिक्त उनके बीच मैत्री की अन्य कोई कड़ी नहीं थी। उनका अस्तित्व तथा महत्व इसलिए था क्योंकि बड़ी शक्तियां इनके अस्तित्व को उपयोगी मानती थीं। अणु शस्त्रों का विकास होने के बाद यह आवश्यक समझा जाने लगा कि महाशक्तियों के बीच जिन प्रश्नों पर भारी मतभेद है उनको वार्ता द्वारा सुलझा लिया जाये। सन् १९६१ के प्रारम्भ में लाओस की आन्तरिक समस्या को सुलझाने के लिए वहां तटस्थ सरकार की स्थापना की गई और इसे दोनों ही महाशक्तियों द्वारा स्वीकार किया गया। इस प्रकार

दोनो गुटों ने अपने दृष्टिकोण को नरम किया तथा बीच के मार्ग को अपनाने का प्रयास किया।

विचारधारागत संघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पन्न समस्याओं को पश्चिमी देश पर्याप्त गम्भीरतापूर्वक लेते हैं। उनके विचार से यह संघर्ष एक आक्रमण से अधिक घातक है तथा केवल व्यापारिक एवं अन्य परम्परागत हितों पर ही आघात करता हो ऐसी बात नहीं है। यहां समस्या केवल यथास्थिति को बनाये रखना ही नहीं है। आज जो यथास्थिति में परिवर्तन किया गया है वह ऐसा नहीं है जैसा कि परम्परागत अर्थ में माना जाता है। सीमाओं, सेनाओं एवं शक्ति के बीच संतुलन की स्थापना शक्ति की धमकी द्वारा अथवा शान्ति सन्धियों द्वारा की जा सकती थी और इस प्रकार यथास्थिति बनाये रखी जा सकती थी यदि संघर्ष करना भी जरूरी बन जाता था तो मामले को युद्ध के द्वारा सुलझा लिया जाता था। किन्तु आज की स्थितियां भिन्न प्रकार की हैं। आज यथास्थिति को जो चुनौती मिली है वह सैनिक शक्ति के आधार पर नहीं मिली है वरन् साम्यवादी गुट की आर्थिक प्रगति एवं जनसंख्या वृद्धि द्वारा मिली है। जब इस प्रकार की स्थिति पर लागू किया जाता है तो शक्ति यथास्थिति की मान्यता बेकार हो जाती है।

साम्यवादी विचारधारा के बढ़ने से पश्चिमी शक्तियों को जो चुनौती मिली है उसका परिचय सोवियत संघ को भी है। यही कारण है कि जिस समय वह अणु आक्रमण के विरुद्ध रक्षा की व्यवस्था पर्याप्त नहीं कर पाया था उस समय प्रतिक्रियावाद के भय को अभिव्यक्त करता रहता था। इस समय साम्यवादियों की ओर से कहा गया कि वे यथास्थिति को बनाये रखने का प्रयास कर रहे हैं तथा पश्चिमी शक्तियों की ओर से यह खतरा है कि वे इसे बदलने का प्रयास करेंगी। सिद्धान्त रूप में पश्चिम भी यथास्थिति को स्वीकार कर चुका था और उसके द्वारा साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए किए जाने वाले प्रयास शायद इसी दिशा में किए जाने वाले प्रयास थे। अधिक जनता को सुरक्षा की गारंटी दी गई तथा क्षेत्रीय सन्धियां की गयीं। सोवियत रूस उस समय तक भयभीत रहा जब तक कि उसका पर्याप्त औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विकास नहीं हो गया तथा पश्चिम की नीतियों का मुकाबला करने योग्य नहीं बन गया।

नई परिस्थितियों के संदर्भ में पश्चिमी शक्तियों ने भी अपनी नीतियां बदलीं। अब सीमित युद्धों एवं शस्त्रों के नियन्त्रण को उन्होंने अपनी नीति का आधार बना लिया। इस नीति को अपना कर पश्चिम ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह साम्यवाद को एक स्थाई चीज मानता है तथा मानव संहार के शस्त्रों का प्रयोग करके वह प्रतिक्रियावादी क्रान्ति नहीं लाना चाहता।

इस प्रकार साम्यवाद एवं पूंजीवाद के बीच का विचारधारागत संघर्ष कम हो गया तथा सीमित बन गया। इन दोनों विरोधी व्यवस्थाओं की उपयुक्तता, समय एवं स्थान के अनुसार तय होती है और इसी के आधार पर यह निश्चय किया जाता है कि कौन सी व्यवस्था किन क्षेत्रों तथा लोगों पर उपयुक्त रहेगी। कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जहां पर साम्यवादी विचारधारा का कोई अधिक प्रभाव नहीं होगा, उदाहरण के लिए पश्चिम की विकसित अर्थ-व्यवस्थाओं का नाम लिया जा सकता है। दूसरी ओर कुछ ऐसे प्रदेश हैं जहां कि आर्थिक कष्टों को मिटाने के साधन के रूप में साम्यवाद का नियोजन एवं तकनीक अधिक प्रभावशाली सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त दोनों विचार-धाराओं के मध्य स्थित संघर्ष को छोटे राज्य में विकसित राष्ट्रवाद एवं स्वतन्त्रता की भावनाओं ने पर्याप्त सीमित कर दिया है। नवोदित राष्ट्र अपने आर्थिक विकास की अपेक्षा अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। तटस्थता की नीति ने दोनों ही पक्षों को ऐसी सन्धियां करने से रोक दिया जो कि एक सफल सैनिक संघर्ष के लिए आवश्यक समझी जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का एक अन्य कारण अनुत्तरदायी लोगों के द्वारा अथवा उनके विरुद्ध किए जाने वाले कार्य हैं। इन अनुत्तरदायी व्यक्तियों में हम ऐसे पुरुषों, निगमों एवं शक्तिशाली हितों को ले सकते हैं जो कि संवैधानिक रूप से कोई नीति सम्बन्धी उत्तरदायित्व नहीं रखते। गैर सरकारी व्यापारिक संगठनों के कार्य उत्तरदायी सत्ताओं को ऐसी नीतियों को मानने के लिए बाध्य कर देते हैं जो कि यथास्थिति में आक्रमणों को प्रोत्साहन देती हैं।

शस्त्रों के द्वारा भी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को प्रोत्साहन दिया जाता है। मि० एम० टेट (M Tate) के कथनानुसार "यूरोप में शस्त्रों का व्यापक प्रसार तथा उनसे उत्पन्न होने वाली असुरक्षा एवं डर की भावना ने युद्ध को अपरिहार्य बना दिया।" उनका मत है कि इतिहास का सच्चा अध्ययन वह है जिसमें कि हम भावी शान्ति के हित में वर्तमान के लिए अतीत से पाठ लेते हैं। युद्ध को राष्ट्रों द्वारा इसीलिए अपनाया जाता है ताकि वे शान्ति स्थापित कर सकें। युद्ध की तैयारियों में सन्तोषजनक स्थिति रहने पर अन्य देश के आक्रमण की चिंता कम हो जाती है। प्रभावशील सुरक्षा के लिए यह जरूरी होता है कि राष्ट्रीय शस्त्रों को सन्तोषजनक रूप से पूरा कर लिया जाये। किन्तु क्या यह शान्ति का सही रास्ता है? अधिकांश विचारक एवं राजनीतिज्ञ इस मत के समर्थक हैं कि युद्ध की तैयारियां युद्ध को रोकती नहीं, वे उसके छिड़ने में देरी कर सकती हैं किन्तु स्थाई शान्ति वे कभी नहीं ला

सकती। जिस प्रकार 'प्रेम' हमेशा प्रेम को उत्पन्न करता है और क्रोध हमेशा क्रोध को, उसी प्रकार हिंसा भी हमेशा हिंसा को ही उभारती है। सेनायें शान्ति की रक्षा नहीं करती वरन् वे युद्ध को उभारती हैं। कान्ट (Kant) ने शान्ति की स्थापना के लिए यह बताया था कि सेनाओं को समाप्त कर दिया जाना चाहिए क्योंकि ये हमेशा लड़ने के लिए तैयार रह कर राज्यों को सदा युद्ध की चुनौती देती रहती हैं।

शस्त्रों की दौड़ युद्ध को रोक नहीं सकती वह उनको प्रोत्साहन ही देती है, इस बात का उदाहरण बीसवीं शताब्दी में ही दो बार प्राप्त हो चुका है और मानव जाति तीसरे युद्ध की सम्भावना से भी त्रस्त है। युद्ध आज भी राष्ट्रीय नीति का एक स्वीकृत एवं व्यावहारिक अन्तिम साधन बना हुआ है। वैसे यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि शस्त्रों की कितनी मात्रा युद्ध को प्रोत्साहन देती है किन्तु इतना अवश्य सच है कि संघर्ष के अन्य कारणों में ये प्रभावशील हैं तथा भय एवं सन्देह को अन्तिम रूप देने में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता एवं महत्व
(The Necessity and Importance of Disarmament)

जब युद्धों के भीषण क्रन्दन से मानवता कराह उठी तो यह सोचा गया कि किसी भी प्रकार इनसे छुटकारा पाना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के धुरन्धर विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ और वे युद्ध के उन कारणों की खोज में व्यस्त हो गये जिनको शान्ति की स्थापना के हेतु वश में करना आवश्यक था। अपने विचार के दौरान उन्होंने यह पाया कि निःशस्त्रीकरण के बिना शान्ति स्थापना के लिए किये गये अन्य प्रयासों की सफलता संदिग्ध बन जायगी। निःशस्त्रीकरण की नीति का समर्थन करने के कुछ आधार थे जो निम्न प्रकार हैं—

(१) अणु युद्धों का भय

कोई भी खतरा जितना भयानक होता है उससे बचने की मानव की उत्कण्ठा भी उतनी ही तीव्र हो जाती है। इस कथन की सत्यता इस तथ्य से सिद्ध की जा सकती है कि युद्ध ज्यों-ज्यों विध्वंसकारी अधिक होता जा रहा है, विचारकों एवं राजनीतिज्ञों का ध्यान उससे बचने के उपायों की खोज में उतना ही अधिक केन्द्रित होने लगा है। नागासाकी और हिरोशिमा पर डाले गये अणुबमों का परिणाम देख कर मानवता आश्चर्यान्वित रूप से त्रस्त हो गई। इससे पूर्व कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था कि एक शस्त्र द्वारा इतने कम समय में इतनी अधिक मात्रा में विनाश किया जा सकता है।

आज विज्ञान के आविष्कारों ने बहुत प्रगति कर ली है तथा आज के बमों में १९४५ की तुलना में कई गुना अधिक विध्वंस करने की शक्ति बढ़ गई है। केवल कुछ ही बमों के विस्फोट से विश्व का विनाश किया जा सकता है, धरती को पाताल में पहुंचाया जा सकता है। इन शस्त्रों के बीच में आज विश्व अनिश्चित भविष्य के साथ रह रहा है, किसी को पता नहीं रहता कि अगला क्षण किस प्रकार बीतेगा। शक्ति का भूखा कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र भावनाओं के आवेश में अन्धा होकर इन शस्त्रों का प्रयोग करके मानव द्वारा अर्जित अब तक की संस्कृति एवं सभ्यता को धूल में मिला सकता है। इन आशंकाओं से भयभीत होकर यह कहा जाता है कि इस प्रकार के शस्त्रों का निर्माण न किया जाय, इन पर रोक लगाई जाय। शान्ति के पक्षपाती लोग निःशस्त्रीकरण का समर्थन करते हैं। उनके मतानुसार युद्ध एवं विनाश से बचने का एकमात्र मार्ग यही है। निःशस्त्रीकरण की नीति का विरोध करने वाले को युद्ध का समर्थक (War monger) कहा जाता है। अधिकांश देश यद्यपि स्वयं शस्त्रों को सीमित नहीं रखते हैं फिर भी अपने आपको एक शान्ति प्रेमी राष्ट्र बताने की दृष्टि से वे निःशस्त्रीकरण का जोरदार प्रचार करते हैं।

शान्ति एवं शस्त्रों के बीच के सम्बन्ध के बारे में विचारक एक मत नहीं है। कुछ का मत है कि युद्धों के कारण शस्त्रों का उत्पादन किया जाता है जबकि दूसरे लोग यह मानते हैं कि शस्त्रों से युद्ध को उत्तेजना प्राप्त होती है। प्रथम विचार के समर्थकों का यह मत है कि भले ही पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण कर भी दिया जाय तो भी जब तक सम्प्रभु राज्य है तब तक शक्ति की समस्या को गौण नहीं बनाया जा सकता। राष्ट्रीय शक्ति के तत्व अनेक होते हैं, केवल सेना ही नहीं होती। सेना और शस्त्रों को मिटा देने के बाद भी आर्थिक एवं अन्य साधनों से एक देश द्वारा दूसरे पर आक्रमण किया जा सकता है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि शस्त्रों पर रोक लगाने व सीमित करने से आक्रमण यदि रोके न भी गये तो भी उनको कम, मर्यादित एवं थोड़ा विध्वंसक बनाया जा सकता है। निःशस्त्रीकरण द्वारा दो प्रकार से युद्ध रोकने में सहायता की जा सकती है। प्रथम तो इससे कोई भी राष्ट्र तुरन्त एवं व्यवस्थित रूप से युद्ध छेड़ने में असमर्थ बन जायगा। दूसरे, इससे राष्ट्रों के बीच के परस्पर द्वेषतापूर्ण सम्बन्ध घट जायेंगे तथा राष्ट्रीय हितों के पारस्परिक समायोजन (Adjustment) के अनुकूल वातावरण बन जायगा। प्रोफेसर हर्टमैन (Professor Hartman) के अनुसार 'निःशस्त्रीकरण के प्रयास युद्ध को पूरी तरह समाप्त करने की कल्पनात्मक आशा की पूर्ति के लिए नहीं अपितु अचम्भे में डाल देने वाले तथा यकायक रूप से होने

वाले आक्रमणों को रोकने के लिए किये जाते हैं।" वे आगे कहते हैं कि 'निःशस्त्रीकरण का लक्ष्य आवश्यक रूप से निःशस्त्र कर देना नहीं है। इसका लक्ष्य तो यह है कि जो भी हथियार इस समय उपस्थित हैं उनके प्रभाव को घटा दिया जाय।'

अनेक विचारकों का विश्वास है कि शस्त्रों के कारण युद्ध नहीं किया जाता वरन् इसके विपरीत युद्ध के कारण शस्त्रों का निर्माण किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान शूमा (Schuman) के मतानुसार युद्ध के भय कम तथा कम किये जाते हैं जबकि शान्ति सम्भावित हो किन्तु जब संकट का आगमन होता है तो शस्त्रों की दौड़ प्रारम्भ हो जाती है। 'शस्त्र युद्ध में निकलते हैं तथा युद्ध में योगदान से उनको बढ़ावा मिलता है।' जो लोग यह मानते हैं कि शस्त्रों के कारण युद्ध लड़े जाते हैं वे शूमा के शब्दों में गाड़ी को घोड़े से पहले रखने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि घोड़े की अवहेलना की जा सकती है और उस पर इतना प्रभाव भी नहीं होता जबकि गाड़ी को इच्छानुसार मोड़ा जा सकता है चाहे उस मोड़ने का कोई प्रभाव ही न हो।

(२) शान्ति की कामना और यह विश्वास कि शस्त्रों के कारण युद्ध लड़े जाते हैं

यह सही है कि विश्व के अधिकांश लोगों का शस्त्रों की होड़ रोकने की ओर ध्यान इस कारण गया है कि आज के अणु युद्ध एवं सम्पूर्ण युद्ध (Total War) का परिणाम मानव जाति का, उसकी आज तक अर्जित सभ्यता और संस्कृति का विनाश है किन्तु इसके साथ ही यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि शान्ति प्रेमी जन समुदाय बहुत प्रारम्भ से ही शस्त्रों को कम करने का उद्योग करता रहा है क्योंकि उसका विश्वास है कि शस्त्रों के कारण ही युद्ध होते हैं। अमरीकन मित्र सेवा समिति (American Friends Service Committee) का दृष्टिकोण था कि शस्त्रीकरण देश की सुरक्षा को मजबूत नहीं करता वरन् पड़ोसी देश को तथा विश्व को असुरक्षित बनाता है। एक देश तो केवल सुरक्षा की दृष्टि से ही शस्त्र बना रहा है किन्तु इससे उसके पड़ोसी का रक्तचाप बढ़ जायगा उसे सन्देह होने लगेगा कि इसका तात्पर्य क्या हो सकता है। यदि भारत शस्त्रों का जोरों से निर्माण प्रारम्भ कर दे तो पाकिस्तान को इससे आशंका होगी, इसी प्रकार पाकिस्तान भारत में भय पैदा कर सकता है। दोनों के भय विश्व को शस्त्रों की दौड़ का साझेदार बना देंगे जो कि किसी की सुरक्षा करने में सफल नहीं हो सकता। एक देश द्वारा शस्त्रों का निर्माण तथा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे देश द्वारा शस्त्रों का निर्माण यद्यपि सुरक्षा के नाम पर किया जायगा किन्तु

अन्त में इससे दोनों ही देश अपने आपको अरक्षित समझने लगेंगे। यदि प्रत्येक देश यह समझने लगे कि दूसरे देश के पास इतने शस्त्र नहीं कि वह तुरन्त ही कोई भयंकर आक्रमण कर सकेगा तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की प्रकृति में एकदम परिवर्तन आ जायगा। कोहन (Cohen) के शब्दों में शस्त्रीकरण राष्ट्रों के बीच भय और मन-मुटावों की स्थिति पैदा करता है। निःशस्त्रीकरण द्वारा भय और मन मुटावों को कम करके शान्तिपूर्ण समझौतों की प्रक्रिया को सुविधापूर्ण एवं शक्तिशाली बनाया जा सकता है।

कुछ विचारकों का यह मत है कि शस्त्रों द्वारा युद्ध को प्रेरणा मिलती है। हो सकता है कि भूतकाल में जबकि विश्व का स्वरूप साधारण था, हथियार युद्ध का कारण बन जाते थे किन्तु आज की परिस्थितियों में निश्चय ही हथियारों के कारण विश्व के देशों के बीच मन-मुटाव, झगड़े और भय पैदा होते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि वे ही युद्ध के एकमात्र कारण हैं तथा उनको मिटा देने पर लड़ाइयां समाप्त हो जायेंगी। इसके विपरीत अनेक लोगों की यह मान्यता है कि यदि शस्त्रों को पूरी तरह से नष्ट भी कर दिया जाय तो भी लोग लड़ेंगे। वे लाठी, छुरी, कील और नाखूनों से ही लड़ेंगे। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि शस्त्र लड़ाई का साधन हैं, कारण नहीं और साधनों का परिवर्तन भी किया जा सकता है किन्तु किसी कार्य को मिटाने के लिए उनके कारणों पर आघात करना होगा न कि उनके साधनों पर, मुर्गी को मारने की अपेक्षा अण्डे पर ही वार करना होगा।

कुछ राजनीति शास्त्री यह मानते हैं कि पूर्ण निःशस्त्रीकरण न तो सम्भव है और न ही उपयोगी। राष्ट्रीय राज्यों के पूर्ण समाज की तो बात ही क्या है यदि अन्तर्राष्ट्रीय समाज में विश्व सरकार की स्थापना हो जाय तो भी शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए कानून और शक्ति प्रयोग की आवश्यकता रहेगी। किन्तु इस विचार का अर्थ भी यह कदापि नहीं है कि शस्त्रों की दौड़ को उसी की तरह चलने दिया जाए। दोनों स्थितियों के बीच का मार्ग अपनाना ही उपयोगी एवं व्यावहारिक रहेगा। यदि पूर्ण निःशस्त्रीकरण किया जाय तो उसको लागू करना कठिन होगा क्योंकि कोई भी देश अपने चालीस वर्षों में से बीस को नष्ट कर दे तथा बीस को छुपा ले तो उसे कोई देख नहीं सकता। इन धोखेबाजों से वे देश नुकसान में रहेंगे जिन्होंने ईमानदारी के साथ सभी शस्त्रों को नष्ट कर दिया है। इस कठिनाई को देख कर ही यह सुझाया जाता है कि सीमित निःशस्त्रीकरण करना चाहिए ताकि एक देश यदि निश्चित सीमा से कुछ अधिक हथियार छिपा रखे तो भी कोई

परेशानी पैदा न हो सके। इस प्रकार नि शस्त्रीकरण सीमित हो अथवा पूर्ण इस सम्बन्ध म विश्व के राष्ट्रों एव विचारको के बीच भारी मतभेद है।

नि शस्त्रीकरण के रूप
(The Types of Disarmament)

नि शस्त्रीकरण के अभिप्राय और उसकी आवश्यकता तथा महत्व आदि को समझने के उपरान्त नि शस्त्रीकरण प्रयासो क इतिहास या परिचय जान लेना आवश्यक है, किन्तु इसके पूर्व नि शस्त्रीकरण के कुछ प्रमुख रूपो को भी जान लेना चाहिये जो निम्नलिखित हैं—

(१) सामान्य नि शस्त्रीकरण (General Disarmament)—नि शस्त्रीकरण के इस प्रयास म भाग लेने वाले सभी सम्बन्धित राष्ट्र होते हैं। उदाहरणार्थ १९३२ के विश्व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन का नाम लिया जा सकता है।

(२) स्थानीय नि शस्त्रीकरण (Local Disarmament)—इस रूप मे केवल कुछ सीमित राष्ट्र ही भाग लेते तथा प्रभावित होते हैं। कनाडा व अमेरिका के बीच १८१७ का रशबेगाट (Rush bagot) समझौता इसका उदाहरण है।

(३) मात्रात्मक नि शस्त्रीकरण (Quantitative Disarmament)—इस रूप में हर तरह के सभी शस्त्रो की कमी की जाती है। १९३२ के विश्व नि शस्त्रीकरण सम्मेलन के अधिकांश राष्ट्रो का यही लक्ष्य था।

(४) गुणात्मक नि शस्त्रीकरण (Qualitative Disarmament)—इसके अनुसार विशेष प्रकार के शस्त्रो को कम करने या समाप्त करने की सिफारिश की जाती है। जैसे संयुक्त राष्ट्रसंघ का अणु शक्ति की रोक व समाप्ति पर विचार करना रहा है।

नि शस्त्रीकरण के प्रयत्नो का इतिहास
(The History of Disarmament Measures)

विश्व इतिहास का अवलोकन करने पर नि शस्त्रीकरण के प्रयासो की दो श्रेणियां दिखाई देती हैं। एक ओर तो वे प्रयास हैं जो कुछ देशो द्वारा दूसरे देश पर जबरदस्ती नि शस्त्रीकरण लागू करने के लिए किये गये हैं तथा दूसरी ओर वे प्रयास है जिनमें देश अपनी इच्छानुसार समान शर्तों और सहयोगपूर्ण वातावरण के अनुसार भाग लेते रहे हैं। जबरदस्ती के नि शस्त्रीकरण (Enforced Disarmament) के अनेक उदाहरण अतीत के गर्भ से निकाले जा सकते हैं। इतिहास म कई बार जीते हुए राष्ट्र द्वारा हारे हुए राष्ट्र को शस्त्रो रहित होने के लिए बाध्य किया गया है। ऐसे नि शस्त्रीकरण

के उदाहरण हमें १८०६ में नेपोलियन द्वारा प्रशा (Prussia) की हार के समय, प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की हार के बाद वारसा की सन्धि से और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इटली के साथ शान्ति सन्धि में प्राप्त होते हैं। निःशस्त्रीकरण के इस प्रकार के प्रयास कोई स्थायी प्रभाव रखने में असमर्थ रहते हैं। इसके दो कारण हैं प्रथम तो विजेता राष्ट्र द्वारा कोई प्रभावशील एवं निरन्तर निरीक्षण (Supervision) रखने की चेष्टा नहीं की जाती, दूसरे यदि इस प्रकार के निःशस्त्रीकरण के उल्लंघन किये जावें तो आवश्यक रूप से उनका विरोध नहीं किया जाता। जब विजेता राष्ट्रों का सम्मिलित दल टूट जाता है तो विजित राष्ट्र को यह सुविधा नहीं रहती कि सैनिकों की भर्ती तथा शस्त्र-निर्माण को पुनः प्रारम्भ कर दें। आधुनिक युग में एक देश को पूरी तरह शस्त्र-विहीन करने के लिए उसकी औद्योगिक क्षमता को नष्ट करना आवश्यक है। जब तक औद्योगिक आधार रहता है तब तक पुनः शस्त्रीकरण की क्षमता एवं सम्भावना भी रहती है। इसके अलावा कोई भी देश शत्रुओं से सुसज्जित इस समाज में निःशस्त्र रहकर अपने आपको रक्षित नहीं समझता, चाहे उसके हितों की रक्षा के लिये कितने ही आश्वासन क्यों नहीं दे दिये जावें।

निःशस्त्रीकरण का अन्य रूप ऐच्छिक (Voluntary) है जिसमें भाग लेने वाले राष्ट्र स्वेच्छा से ही अपने शस्त्रों को सीमित करने के लिये बातचीत और समझौतों द्वारा प्रयत्न करते हैं। निःशस्त्रीकरण, जैसा कि मार्गेन्थो (Morgenthau) का कहना है, "शस्त्रों की दौड़ के समाप्त करने के लिए कुछ या सभी शस्त्रों को कम अथवा समाप्त कर देना है।" इस सर्व-विदित अर्थ में निःशस्त्रीकरण की दिशा में आज तक अनेक प्रयास किये गये हैं, यद्यपि ये प्रयास असफलता की कहानी मात्र ही हैं।

निःशस्त्रीकरण के प्रयासों के इतिहास का अध्ययन सुविधा की दृष्टि से हम दो भागों में कर सकते हैं—

(१) संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व किये गये प्रयास, एवं

(२) संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद किये गये प्रयास।

संयुक्त राष्ट्रसंघ से पूर्व निःशस्त्रीकरण के प्रयास
(Disarmament Measures before U. N. O)

मार्गेन्थो के शब्दों में "निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का इतिहास अनेक असफलताओं और कुछ सफलताओं की कहानी है।" संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से पूर्व की इस कहानी का विवरण निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(१) हेग सम्मेलन (Hague Conferences)—वैसे तो १८१७ में रूस के जार ने, १८३१ में फ्रांस ने तथा कई बार नेपोलियन तृतीय ने और १८७० में ब्रिटेन ने सामान्य निःशस्त्रीकरण के प्रस्ताव दूसरे देशों के सम्मुख

रखे थे। किन्तु इस प्रश्न पर विचार करने के लिये प्रथम सम्मेलन १८९९ में हेग में बुलाया गया। इस सम्मेलन में सभी बड़ी शक्तियों सहित २८ राष्ट्रों ने भाग लिया। इस सम्मेलन का उद्देश्य शस्त्रों तथा सैनिक बजट को सीमित करना था। इसमें सभी सदस्य राष्ट्र इस बात पर सहमत थे कि मानवता के नैतिक एवं सामाजिक उत्थान के लिए शस्त्रों पर बढ़ते हुए खर्चों को कम करना जरूरी है। फिर भी तकनीकी कठिनाइयों के कारण यह सफल न हो सका और पुनः मिलने की आशा में विसर्जित हो गया।

अमरीका ने चाहा कि १९०४ में इस सम्मेलन को बुलाया जाय। किन्तु रूस व जापान के झगड़े के कारण ऐसा न किया जा सका। दूसरा हेग सम्मेलन १९०७ में हुआ। इसमें भाग लेने वाले ४४ राष्ट्र थे। इस सम्मेलन में १८९९ के सम्मेलन के प्रस्ताव को स्वीकार किया गया तथा तब से सैनिक बजट अब और भी अधिक हो गया था इसलिए यह कहा गया कि देशों को इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। यह सम्मेलन भी अपने प्रयत्न की भांति असफल रहा। सम्मेलन के अध्यक्ष ने बताया कि निःशस्त्रीकरण का प्रश्न १८९९ की भांति इस सम्मेलन में भी अधिक गम्भीरता से न देखा जा सका। ऐसी स्थिति में पहले भी इस दिशा में कोई कदम नहीं उठाया जा सका था अतः इस बार भी ऐसा ही हुआ। अगले आठ वर्षों में सम्मेलन की पुनः बैठक बुलाने का फैसला किया गया किन्तु उन दिनों विश्व युद्ध का ज्वार अपनी पूरी तेजी पर था।

(२) राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास और जेनेवा निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन (League of Nations Geneva Disarmament Conference)—प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने के बाद पुनः निःशस्त्रीकरण के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हुआ और राष्ट्रसंघ की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। राष्ट्रसंघ के संविदा (Covenant) के आठवें अनुच्छेद में निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी निम्नलिखित व्यवस्थाएं दी गई—

इस अनुच्छेद के प्रथम प्रकरण में यह व्यवस्था थी कि 'संघ के सदस्यों ने यह स्वीकार किया है कि शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा के अनुकूल न्यूनतम बिन्दु तक राष्ट्रीय शस्त्रों की कमी और सामान्य कार्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के दृष्टिकोण को आवश्यकता है।'

दूसरे प्रकरण में यह वर्णित था कि प्रत्येक राज्य की भौगोलिक अवस्था एवं परिस्थितियों का लेखा रखकर परिषद् निःशस्त्रीकरण हेतु द्वारा विचार और कार्यवाही के लिये व्यवस्था में योजनाएं बनाये।'

चौथे प्रकरण में यह व्यक्त था कि "जब बहुत सी सरकारें इन योजनाओं को अपना लेंगी तो उसके बाद उपर निश्चित शस्त्रों की सीमाएं परिषद् की सहमति के बिना नहीं तोडी जा सकेंगी।"

पांचवें प्रकरण में लिखा गया कि "संघ के सदस्य सहमत हैं कि व्यक्तिगत साहस द्वारा युद्ध सामग्री के निर्माण के लिये स्पष्ट रूप से गम्भीर हस्तक्षेप किये जा सकते हैं। परिषद् यह परामर्श देगी कि ऐसे निर्माण से सम्बद्ध कुटिल प्रभाव किस प्रकार हटाये जा सकते हैं।"

छठे प्रकरण ने संघ के सदस्यों को "अपने शस्त्रों के परिमाण, अपने सामूहिक एवं वायु सम्बन्धी कार्यक्रम तथा युद्ध जैसे उद्देश्यों के लिये उपयुक्त उनके उद्योगों की अवस्था की पूर्ण एवं स्पष्ट सूचना के पारस्परिक परिवर्तन के लिये उत्तरदायी ठहराया।'

आठवें अनुच्छेद के अतिरिक्त २३वें अनुच्छेद के 'द' प्रकरण ने यह व्यवस्था की कि 'संघ के सदस्य संघ को उन देशों के साथ शस्त्र एवं युद्ध-सामग्री के व्यापार का निरीक्षण कार्य सौंप सके जिनमें कि सामान्य हित के लिये इस व्यापार पर नियन्त्रण आवश्यक है।'

जनवरी, १९२० में राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक स्थायी परामर्शदाता (Permanent Advisory Commission) आयोग गठित किया गया जिसमें सैनिक विशेषज्ञ ही सदस्य थे। नवम्बर, १९२० में आयोग में ६ असैनिक व्यक्ति बढ़ाकर इसे अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) के रूप में पुन निर्मित किया गया। इस मिश्रित आयोग को नि शस्त्रीकरण की सन्धि का मसविदा तैयार करने का काम सौंपा गया। अनेक असफलताओं के बाद आयोग ने पारस्परिक सहायता सन्धि का प्रारूप तैयार किया जिसमें नि शस्त्रीकरण को सामूहिक सुरक्षा का मूलाधार बताया गया। अस्थायी मिश्रित आयोग एवं स्थायी परामर्शदाता आयोग ने नि शस्त्रीकरण समस्या के हल के लिये चार सामान्य सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिन्हें १९२२ में संघ की तीसरी असेम्बली ने स्वीकार कर लिया वे सिद्धांत इस प्रकार थे—

(१) नि शस्त्रीकरण की कोई भी योजना तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि वह व्यापक रूप से सब पर लागू न हो।

(२) अनेक राज्य अपने शस्त्रास्त्रों में कमी करने की स्थिति में तब तक नहीं आ सकते जब तक उन्हें सुरक्षा के लिये पर्याप्त आश्वासन न मिल जाय।

(३) ऐसे आश्वासन की व्यवस्था एक ऐसी प्रतिरक्षात्मक सन्धि द्वारा की जा सकती है जिसमें प्रत्येक राज्य एक दूसरे को सुरक्षा का आश्वासन तो

दे ही लेकिन यह आश्वासन भी दे कि आक्रमण की स्थिति मे प्रत्येक राज्य आक्रान्त देश की रक्षा के लिये युद्ध करेगा।

(४) इस आश्वासन की क्रियान्विति केवल तभी सम्भव है जबकि सामान्य योजनानुसार शस्त्रास्त्रों में कमी की जा चुकी है।

पारस्परिक सहायता सन्धि के प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) की असफलता के बाद मध्यस्थता (Arbitration) के उपाय मे सुरक्षा की समस्या हल करने का प्रयत्न किया गया। श्रुमेन के शब्दों में मध्यस्थता से सुरक्षा और सुरक्षा से नि शस्त्रीकरण का नया मार्ग ढूंढा न गया।

नि शस्त्रीकरण के सामान्य उपायों के विफल होने पर अक्टूबर, १६२४ के बाद से अस्थायी मिश्रित आयोग ने काम करना बन्द कर दिया। अब नि शस्त्रीकरण सम्मेलन के लिये सज्जीकरण आयोग (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) का गठन हुआ। इस आयोग की प्रथम बैठक मई, १६२६ में हुई और दिसम्बर, १६३० तक यह अस्तित्व में रहा। ६ दिसम्बर, १६३० को आयोग ने नि शस्त्रीकरण की योजना का एक स्थायी प्रारूप प्रस्ताव (Dummy Draft Convention) पास करने मे सफलता अर्जित की जिसकी मुख्य व्यवस्थाएं थी–

(१) बजट द्वारा स्थल युद्ध की रण-सामग्री पर नियन्त्रण किया जाय।

(२) सैनिकों की संख्या बिना किसी भेद भाव के नियन्त्रित की जाय और प्रशिक्षित सुरक्षित सैनिकों (Trained Reserves) का विचार न किया जाय।

(३) अनिवार्य सैनिक सेवा के वर्षों की अवधि घटायी जाय।

(४) नौ-सैनिक जहाजों पर १६२२ के वाशिंगटन सम्मेलन की तथा १६३० के लन्दन सम्मेलन की व्यवस्थाओं को लागू किया जाय।

(५) हवाई अस्त्रों का नियन्त्रण अश्व शक्ति (Horse Power) के आधार पर हो।

(६) रासायनिक एवं जीवाणु फैलाने वाले (Bacteriological) युद्धों को रोका जाय।

(७) एक स्थायी नि शस्त्रीकरण आयोग की रचना की जाय जो नि शस्त्रीकरण की प्रगति के बारे में समय-समय पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता रहे।

सज्जीकरण आयोग के इस प्रस्ताव का व्यावहारिक मूल्य बहुत कम था और फरवरी, १६३२ में होने वाले नि शस्त्रीकरण सम्मेलन ने इसका

जर्मनी में हिटलर द्वारा शासन सत्ता संभालने के बाद यह योजना कारगर न हो सकी। १४ अक्टूबर, १९३३ को जर्मनी ने सम्मेलन छोड़ने की घोषणा कर दी। इसके एक सप्ताह बाद ही उसने राष्ट्र संघ को भी छोड़ दिया। १६ मार्च, १९३५ को जर्मनी ने वारसा की सन्धि के नि:शस्त्रीकरण से सम्बन्धित उपबन्धों को खुले रूप से अप्रभावकारी घोषित कर दिया। इस घोषणा के साथ ही युद्ध के नवीन दृश्यों का प्रदर्शन करने के लिए रंगमंच का पर्दा उठा। शूमा का यह विचार सत्य ही है कि असफल नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन से तो कोई सम्मेलन न होना ही अच्छा है क्योंकि इसकी सफलता से मन मुटाव और गलतफहमी बढ़ती है। पुनः शूमा के ही शब्दों में—'१६ वर्ष तक उपरोक्त पराजय का घेरा बन्द कर दिया गया। राष्ट्रसंघ के द्वारा संसार के नि:शस्त्रीकरण के प्रयासों का आरम्भ जर्मनी के एक पक्षीय नि:शस्त्रीकरण से शुरू हुआ था और जर्मनी के एक पक्षीय पुनः शस्त्रीकरण से इन प्रयासों का अन्त हो गया। यूरोप की सामूहिक बुद्धि सुरक्षा की प्राप्ति में असफल हो जाने के उपरान्त आत्मघात की तैयारियों में लग गयी।'

राष्ट्रसंघ के बाहर नि:शस्त्रीकरण के प्रयास—राष्ट्रसंघ के बाहर भी नि:शस्त्रीकरण के लिए अनेक प्रयत्न किये गये। यहां भी अन्य अनेक प्रश्नों की ही भांति महा शक्तियों में विभिन्न मतभेद अपना प्रभाव जमाये रहे। राष्ट्रसंघ के बाहर नि:शस्त्रीकरण के लिए मुख्य प्रयास निम्नलिखित हुए—

(१) वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference), १९२१–२२।

(२) जेनेवा नौ सैनिक सम्मेलन (Geneva Naval Conference) १९२७।

(३) लन्दन नौ सैनिक सम्मेलन (London Naval Conference) १९३०।

(४) द्वितीय लन्दन नौ सैनिक सम्मेलन (London Naval Conference), १९३५।

वाशिंगटन सम्मेलन (१९२१–२२)—राष्ट्रसंघ ने जिस समय अपना नि:शस्त्रीकरण कार्य आरम्भ किया, उस समय वाशिंगटन में राष्ट्रसंघ से सर्वथा पृथक एक नौ सेना नि:शस्त्रीकरण सम्बन्धी सम्मेलन नवम्बर, १९२१ में आयोजित किया गया। इसमें ९ राष्ट्रों ने भाग लिया। जिनके सुदूरपूर्व में हित निहित थे। इसकी अध्यक्षता राज्य सचिव ह्यूजेस (Hughes) द्वारा की गई थी। ह्यूजेस ने अपने उद्घाटन भाषण में जल सेना की शक्ति को सीमित रखने के लिए एक सूत्र (Formula) रखा जिसके अनुसा

अमरीका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस व इटली की शक्ति को क्रमशः ५ ५ ३ १ ६७ : और १ : ६७ के अनुपात के रख दिया जाना था। किन्तु यह अनुपात केवल लड़ाई के जहाजों तथा लड़ाई के क्रूजर्स पर ही लागू होता था। हवाई जहाजों को लादने वाले पोतों (Aircrafts-Carrier Tonnage) को किसी अन्य आधार पर सीमित करते हुए इनकी मात्रा को १३५००० टन अमेरिका एवं ब्रिटेन के लिए, ८१,००० जापान के लिए तथा ६०,००० फ्रांस के लिए तथा इतना ही इटली के लिए निश्चित किया गया। इसके अतिरिक्त दस वर्ष तक कोई बड़ा जहाज (Capital Ship) नहीं बनाया जा सकता था, केवल मरम्मत की जा सकती थी। वाशिंगटन सन्धि के अनुच्छेद XIX के अनुसार अमरीका, ब्रिटेन व जापान इस बात पर सहमत हो गये कि कुछ अपवादों के अतिरिक्त प्रशान्त महासागर में जो यथास्थिति (Status quo) थी उसे ज्यों का त्यों बनाये रखा जाय। वाशिंगटन सन्धि के रूप एवं व्यवहार पर विचार करने के बाद यह कहा जाता है कि यह एक आंशिक सफलता रही है। इसने निःशस्त्रीकरण के स्थान पर स्थायित्व की स्थापना की तथा शस्त्रों की दौड़ को रोकने में कुछ कार्य किया किन्तु यह इस दौड़ को न तो समाप्त ही कर सकी और न ही इसने दौड़ को पीछे की ओर ही ढकेला। क्रूजर पनडुब्बी तथा विध्वंसकों (Destroyers) को सीमित करने की समस्या पर यह पूरी तरह से असफल रही। इस सन्धि द्वारा थल सेना के बजट में थोड़ी कमी की गई किन्तु बाद में जल-सेना शक्ति की प्रतिद्वन्दिता उन विषयों पर केन्द्रित हो गई जिनको कि सन्धि द्वारा मर्यादित नहीं किया गया था।

जेनेवा नौ समझौता १९२७ :—शेष विचारों पर भी सीमा लगाने के लिए १९२७ में जेनेवा जल-सेना सम्मेलन बुलाया गया। फ्रांस तथा इटली ने इस सम्मेलन में यह कह कर उपस्थित होना अस्वीकार कर दिया कि जल-सेना तो एक भाग मात्र है, इस पर सम्पूर्ण शस्त्र समस्या को इकाई के रूप में विचार करना चाहिए। ब्रिटेन, जापान व अमेरिका ने इसमें भाग लिया। क्रूजर्स के बारे में अमेरिका व ब्रिटेन के बीच कोई समझौता नहीं हो पाया और यह सम्मेलन असफल हो गया।

लन्दन नौ सैनिक समझौता :—इस समस्या पर पुनर्विचार के लिए १९३० में लन्दन में जल-सेना सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में अमेरिका व ब्रिटेन युद्ध-पोतों, विध्वंसकों एवं पनडुब्बियों की अधिक से अधिक संख्या के बारे में एकमत हो गये। किन्तु आगामी पांच वर्षों तक वे दोनों ही देश अपनी जल सेना को स्वीकृत सीमा तक रखने में असमर्थ रहे और १९३५ में दूसरा लन्दन सम्मेलन बुलाया गया।

द्वितीय लन्दन नौ समझौता—द्वितीय लन्दन सम्मेलन के समय तक जापान १६२२ की सन्धि को तोड़ने की घोषणा कर चुका था और ब्रिटेन ने नाजी जर्मनी के साथ जल सेना के सम्बन्ध में एक सन्धि कर ली थी। इस सम्मेलन में जापान की उस माग पर विचार किया गया जिसमें उसने जल-सेना के सभी प्रकार के शस्त्रों में बराबरी के स्तर की माग की थी। अपनी माग के अस्वीकृत हो जाने पर जापान ने सम्मेलन को छोड़ दिया। यह सम्मेलन प्रथम सम्मेलन की भांति स्थायित्व बनाये रखने में भी सफलता प्राप्त न कर सका। १६३७ में जर्मनी व रूस ने स्वीकृत सीमा पार कर दी और १६३८ में एक अफवाह के आधार पर सन्धि के तीन मूल हस्ताक्षर-कर्त्ताओं ने लड़ाकू जहाजों की सीमा ४०००० टन कर दी और इस प्रकार जल सेना नि शस्त्रीकरण का अन्त कर दिया गया।

निष्कर्षत १६१६ से १६३५ के मध्य नि शस्त्रीकरण की समस्या को हल करने के लिए राष्ट्रसघ के अन्तर्गत और इसके बाहर जो भी प्रयत्न किये गये, वे असफल रहे और अन्ततो गत्वा संसार को दूसरा महायुद्ध लड़ना पड़ा। शूमा के शब्दों में नि शस्त्रीकरण केवल एक याद रह गया। वारसा के बाद दो दशाब्दियों में परम्परागत नि शस्त्रीकरण सम्मेलन के द्वारों पर बड़े अक्षरों में अंकित 'असफलता' के अक्षर पश्चिमी संसार के आगामी विनाश के अक्षर हो गये।

नि शस्त्रीकरण के प्रयासों की विफलता के कारण—प्रथम महायुद्ध के बाद नि शस्त्रीकरण के प्रयास मुख्यत निम्नलिखित कारणों से असफल हुए—

(१) संसार के विभिन्न राष्ट्रों की वास्तविक शान्ति में कोई आस्था न थी। हर राष्ट्र अपने शस्त्रास्त्रों के उत्पादन को "राष्ट्रीय सुरक्षा" का बाना पहनाता था और जब दूसरा राष्ट्र शस्त्रों की वृद्धि करता तो उसे युद्ध लिप्सु कहता था।

(२) विभिन्न राज्यों के दृष्टिकोणों में उग्र मतभेद थे। उदाहरणार्थ, फ्रास नि शस्त्रीकरण से पहले सुरक्षा की स्थापना आवश्यक मानता था और राष्ट्र सघ की अध्यक्षता में शान्ति एवं सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सेना का पक्षपाती था। इसके विपरीत ग्रेट ब्रिटेन का कहना था कि शस्त्रास्त्रों की उपस्थिति में सुरक्षा का वातावरण कभी सम्भव नहीं हो सकता, अत पहले नि शस्त्रीकरण की समस्या का समाधान होना चाहिए और तब सुरक्षा का प्रश्न उठना चाहिए।

(३) महाशक्तियों ने नि शस्त्रीकरण के सिद्धान्त में अविश्वास और पक्षपातपूर्ण व्यवहार का नाम प्रदर्शन किया। उदाहरणार्थ "प्रथम महायुद्ध के विजेताओं ने जर्मनी का नि शस्त्रीकरण तो बल पूर्वक कर दिया, किन्तु

वचनबद्ध होने पर भी वे अपने निःशस्त्रीकरण को बराबर टालते रहे। जब उन्हें स्वयं को निःशस्त्रीकरण में विश्वास था तो फिर वे उसे सफल भी कैसे बना सकते थे।"

(४) शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने वाली कम्पनियों ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों को विफल बनाने का पूरा पूरा प्रयास किया।

(५) शस्त्रीकरण की यथार्थ व्याख्या और स्वरूप निर्धारण के बारे में विभिन्न राष्ट्रों में मतैक्य नहीं था। राष्ट्रों में इस प्रश्न पर गम्भीर मतभेद था कि रक्षात्मक अथवा आक्रमणकारी शस्त्रों के बीच क्या विभेद है।

(६) विभिन्न राष्ट्रों की युद्ध सम्बन्धी मनोवृत्ति में मौलिक मतभेद था। कुछ राष्ट्र युद्ध का सहारा लेने को उत्सुक थे तो कुछ शान्ति के उपासक। कुछ लोग ऐसे भी थे जो सत्ता हड़पने के लिए अपने देश के नागरिकों का ध्यान विदेश नीति में ही उलझाना चाहते थे ताकि उन्हें अपने देश की आन्तरिक वस्तुस्थिति का पता न लग सके। ऐसे नेताओं का तर्क था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान शान्तिमय तरीकों से करने की बात सोचना निरी बेवकूफी है। फासिस्ट इटली और नाजी जर्मनी के नेता युद्ध को मानव जाति के लिए न केवल आवश्यक अपितु गौरवपूर्ण मानते हुए उसे शौर्य, साहस, वीरता, त्याग और बलिदान आदि श्रेष्ठ गुणों को विकसित करने वाला समझते थे।

(७) फ्रांसीसियों की सुरक्षा का प्रश्न निःशस्त्रीकरण प्रयासों के मार्ग में बाधक रहा।

(८) निःशस्त्रीकरण-प्रयासों एवं सम्मेलनों की मौत का आठवां प्रमुख कारण यह था कि समस्या को सुलझाने का प्रयत्न मौलिक रूप से नहीं, वरन् ऊपरी तौर से तथा प्राविधिक रूप से किया गया था।

सयुक्त राष्ट्रसंघ के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रयास
(Disarmament Attempts after U. N. O.)

द्वितीय महायुद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ जो विश्व में शान्ति और राष्ट्रों के बीच सहयोग की भावना का विकास करने में संलग्न हो गया। दो महायुद्धों के बाद मानवता इतनी त्रस्त हो चुकी थी कि महायुद्ध की पुनरावृत्ति करके अपना अस्तित्व खोने को वह तैयार न थी। फलतः निःशस्त्रीकरण की समस्या एक बार फिर गम्भीर विचार का विषय बन गई। इस बार अणुशक्ति के आविष्कार ने इस समस्या को अधिक जटिल किन्तु महत्वपूर्ण रूप प्रदान कर दिया। दुर्भाग्यवश समय बीतने के साथ-साथ निःशस्त्रीकरण की समस्या अधिकाधिक जटिल होती गई और आज तो यह

जटिलतम रूप लिये हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि अबतक जो भी प्रयास इस समस्या को सुलझाने के लिए किये गये हैं वे अधिकांशत असफलता का इतिहास दोहराते हैं। यदि कुछ सफलता मिली भी है तो उसे नगण्य ही कहना चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध के बाद नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जो वार्ताएं सम्पन्न हुई उनके इतिहास को हम मोटे रूप में दो भागों में विभाजित कर सकते है—प्रथम भाग के अन्तर्गत उस समय तक की वार्ताएं सम्मिलित हैं जब केवल अमेरिका ही अणु-बम का स्वामी था, द्वितीय भाग का प्रारम्भ तब से माना जा सकता है जब सोवियत संघ ने भी अणु बम का निर्माण कर लिया। नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पूंजीवादी और साम्यवादी दोनों ही खेमों में विरोधी दृष्टिकोण मिलता है और इस दिशा में किये जाने वाले प्रयासों का क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ भी है तथा निजी वार्ताएं भी। द्वितीय महायुद्ध के बाद नि शस्त्रीकरण की दिशा में जो भी प्रयास किये गये हैं उन्हें निम्नलिखित शीर्षकों में प्रकट करना उपयुक्त होगा—

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में नि शस्त्रीकरण की व्यवस्था—यद्यपि राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत नि शस्त्रीकरण के प्रयास असफल रहे थे, किन्तु विश्व के राजनीतिज्ञों ने नि शस्त्रीकरण की आशा न त्यागते हुए संयुक्त राष्ट्र द्वारा नि शस्त्रीकरण के प्रयास जारी रखे। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में नि शस्त्रीकरण सम्बन्धी व्यवस्थाएं की गई हैं जो आज भी यथापूर्व प्रभावी हैं। संघ का चार्टर नि शस्त्रीकरण को महासभा और सुरक्षा परिषद दोनों ही की कर्त्तव्य सूची में सम्मिलित करता है। अनुच्छेद ११ में कहा गया है-' महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है, इनमें नि शस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण के सिद्धान्त भी शामिल होंगे ।" अनुच्छेद २६ में उल्लिखित है—"अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की ऐसे ढंग से स्थापना करने और ऐसे ढंग से उसे बनाये रखने के लिए कि जिससे संसार की जन शक्ति और आर्थिक साधनों की कम से कम मात्रा शस्त्रों पर खर्च हो, सुरक्षा परिषद पर यह भार होगा कि वह अनुच्छेद ४७ में बताई सैनिक हमला समिति की सहायता से ऐसी योजनाओं को संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के सामने रखे, जिनसे शस्त्र नियन्त्रण की एक पद्धति स्थापित हो सके।"

आगे चल कर चार्टर का अनुच्छेद ४७ इस बात की व्यवस्था करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना और अभिवृद्धि के लिए सुरक्षा परिषद सेना स्टाफ समिति की सहायता से ऐसी योजनायें बनाने के लिए उत्तरदायी होगी, जिसमें संसार के मनुष्यों व आर्थिक साधनों का उपयोग

शस्त्रीकरण के लिए कम से कम हो। ये योजनायें संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के सामने पेश की जायेंगी जिससे कि वे शस्त्रों के नियम को समुचित व्यवस्था स्थापित कर सकें।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने प्रारम्भ में ही नि:शस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना शुरू कर दिया। २४ जनवरी, १६४६ को संघ द्वारा परमाणु शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना की गई जिसका प्रधान उद्देश्य था—

"एक ऐसी योजना का निर्माण जिसके अन्तर्गत राष्ट्र परमाणु शक्ति के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत रखने को तैयार हो जाय, ताकि केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए इसके उपयोग को निश्चित व्यवस्था की जा सके और आणविक तथा सामूहिक विनाश के अन्य सभी शस्त्रों का पूर्ण निषेध किया जा सके।"

अणु शक्ति आयोग कार्य करता रहा, किन्तु इसे वांछित सफलता प्राप्त नहीं हुई। १४ दिसम्बर, १६४६ की महासभा में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें अणुशक्ति आयोग के कार्य को बढ़ाने तथा सुरक्षा परिषद को शस्त्रों को सीमित एवं मर्यादित करने की सिफारिश की गयी। दूसरे शब्दों में इस प्रस्ताव का आशय था कि अणुशक्ति आयोग अपने कार्य में तीव्रता लाये तथा सुरक्षा परिषद् शीघ्रता पूर्वक शस्त्रों के घटाने और उनका नियमन करने की व्यावहारिक योजनायें बनाये। इस प्रस्ताव के पारित होने के लगभग तीन मास बाद सुरक्षा परिषद् ने 'परम्परागत हथियारों के आयोग' (The Commission for Conventional Armaments) की रचना की। इस आयोग में सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य थे। इस आयोग का कार्य केवल परम्परागत शस्त्रों को सीमित एवं नियमित करने के प्रस्ताव रखना ही था, अणु शस्त्रों एवं विनाश के व्यापक साधनों से इसका सम्बन्ध न था। इस कार्य के लिए परिषद् द्वारा अणु शक्ति आयोग की स्थापना पहले ही की जा चुकी थी, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

नि:शस्त्रीकरण संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा उपरोक्त दो आयोगों की स्थापना भी हो गई और महा शक्तियों द्वारा विविध प्रस्ताव भी रखे गये लेकिन इन सब प्रयासों का नतीजा कुल मिला कर शून्य रहा। शान्ति की दिशा में उलन के विपरीत उलटे इन प्रयासों ने शीत-युद्ध को प्रोत्साहन दिया। नि:शस्त्रीकरण-वार्तालाप में कोई प्रगति नहीं हो सकी। महा शक्तियाँ अपने प्रस्ताव-प्रति प्रस्ताव रखती रहीं और विश्व-शान्ति का भविष्य अन्धकार में झांकता रहा।

१६ नवम्बर, १६५१ को पश्चिमी देशों ने राष्ट्रपति ट्रूमैन के इस सुझाव को अपने प्रस्ताव द्वारा समर्थन दिया कि "अणु शक्ति आयोग" और "परम्परागत हथियारों के आयोग" को मिलाकर उनके स्थान पर "संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग" (Disarmament Commission) की स्थापना की जाय और उसे यह काम सौंपा जाय कि वह एक ऐसी सन्धि का प्रारूप तैयार करे जिसमें समस्त सशस्त्र सेनाओं और शस्त्रास्त्रों के इस दृष्टि से नियमन हों, जिससे प्रत्येक देश के पास सुरक्षा के लिए तो पर्याप्त साधन रह जाय परन्तु वे साधन आक्रमण की दृष्टि से पर्याप्त न हों। इस प्रस्ताव में यह भी उल्लिखित था कि आयोग विभिन्न देशों के पास शस्त्रास्त्रों का पता लगाने के लिए प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की व्यवस्था की योजना बना दे। १६ दिसम्बर, १६५१ को महासभा की राजनीतिक और सुरक्षा समिति ने पश्चिमी देशों के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। यद्यपि अणु शक्ति आयोग की स्थापना हो गयी किन्तु सोवियत विरोध के कारण आयोग द्वारा पेश किये जाने वाले प्रस्तावों को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

८ दिसम्बर १६५३ को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा के समक्ष अपने भाषण में तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति आईजनहोवर ने कल्याणकारी कार्यों के लिए अणु सामग्री का अन्तर्राष्ट्रीय संग्रह स्थापित करने की अपील की जिसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेन्सी (International Atomic Energy Agency) अस्तित्व में आई।

अप्रैल १६५४ में निःशस्त्रीकरण समस्या पर विचार करने के लिए निःशस्त्रीकरण आयोग की एक पंच राष्ट्रीय उप समिति की स्थापना की गई। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा और रूस इसके सदस्य बने। निःशस्त्रीकरण के कार्य में प्रगति के लिए इस उप समिति की अनेक बैठकें हुईं किन्तु कोई नतीजा नहीं निकल पाया। १६५५ तक पूरी तरह यह स्थिति ही चलती रही कि एक पक्ष की ओर से निःशस्त्रीकरण के जो प्रस्ताव आते, दूसरे पक्ष की ओर से ठुकरा दिये जाते।

जेनेवा-सम्मेलन, १६५५ तथा उन्मुक्त आकाश योजना—जुलाई, १६५५ में जेनेवा में अमेरिका के राष्ट्रपति तथा रूस, ब्रिटेन एवं फ्रांस के प्रधान मन्त्रियों का सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा मुक्त आकाश की योजना (Open Skies Plan) प्रस्तुत की गई। इस योजना के अनुसार यह प्रस्ताव रखा गया कि रूस व अमरीका एक दूसरे को अपनी सैनिक गतिविधियों से अवगत कराते रहें और एक देश को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अधिकार दिया जाये। इस प्रकार

से निःशस्त्रीकरण को सम्भव बनाने के लिए प्रभावशाली निरीक्षण पद्धति को शुरू किया जा सकता है। सोवियत प्रधान मन्त्री द्वारा इस योजना की कड़ी आलोचना की गई। यह उनको किसी भी प्रकार स्वीकार्य न था। कारण यह था कि अमरीका के सैनिक अड्डे सारे विश्व में विस्तृत हो रहे थे जबकि सोवियत रूस के उसके अपने ही देश में थे। इस हालत में अमरीका तो रूस का सारा भेद जान जाता किन्तु सोवियत संघ अमरीका की शक्ति के बारे में कुछ भी नहीं जान पाता। इसलिये सोवियत प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने एक दूसरा ही प्रस्ताव सम्मेलन के सामने रखा यह यह कि निःशस्त्रीकरण को नियन्त्रित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण अभिकरण की स्थापना की जाय जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर निरीक्षकों की नियुक्ति की जाये—सभी देशों से विदेशी अड्डों को खत्म कर दिया जावे—आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर पाबन्दी लगा दी जाय और परम्परागत शस्त्रों की कमी की जाय। यह प्रस्ताव पश्चिम को मान्य न हुआ। जिनेवा सम्मेलन में मतभेद बने रहे और इन मतभेदों के कारण ही अक्तूबर, १९५५ में होने वाला विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन भी इसी प्रकार असफल हो गया। दिसम्बर, १९५५ में भारत ने आणविक शस्त्रों के परीक्षण पर पाबन्दी लगाने की माग की तथा शस्त्रों से सम्बन्धित एक अस्थायी सन्धि का सुझाव दिया किन्तु अमरीका को यह स्वीकार न हो सका।

लन्दन सम्मेलन,१९५६ (London Conference)—निःशस्त्रीकरण उपसमिति की बैठकों में पैदा हुए गतिरोध को मिटाने के लिये १४ जून १९५६ को लन्दन में निःशस्त्रीकरण आयोग की उपसमिति की बैठक हुई। इस द्वारा इस सम्मेलन में त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया जो इस प्रकार था—

(१) दो वर्ष के लिये आणविक परीक्षण बन्द कर दिया जाय।

(२) आणविक परीक्षण की इस पाबन्दी को नियन्त्रित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जाय।

(३) उपयुक्त वैज्ञानिक यन्त्रों के सहित अमरीका, रूस तथा ब्रिटेन को मिलाकर प्रशान्त महासागर में नियन्त्रण चौकियां स्थापित की जायें ताकि इस समझौते के क्रियान्वित रूप पर निगरानी रखी जा सके। ये प्रस्ताव पश्चिम को मान्य नहीं हुए। इनके स्थान पर दूसरे प्रस्ताव रखे गये। आइजनहोवर ने खुले आकाश वाला अपना प्रस्ताव दुहराया। सोवियत प्रतिनिधि जोरिन ने अपने पक्ष के समर्थन में बहुत कुछ कहा किन्तु सब कुछ अरण्य-रोदन की भांति बेकार गया। ६ सितम्बर १९५७ को उपसमिति ने सम्मेलन की असफलता घोषित कर दी। तत्पश्चात् इसकी बैठक बन्द हो गई।

निःशस्त्रीकरण आयोग का विस्तार एवं स्पूतनिक कूटनीति—निःशस्त्रीकरण उप समिति की असफलता के बाद महासभा के बारहवें अधिवेशन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में सीमित किन्तु स्पष्ट कदम उठाने पर अधिक बल दिया। इधर सोवियत संघ निःशस्त्रीकरण आयोग की सदस्य संख्या बढ़ाने पर जोर दे रहा था। उसका कहना था कि महासभा के सभी सदस्य राष्ट्रों को उसमें स्थान दिया जाय। २६ सितम्बर, १९५७ को भारत द्वारा महासभा में एक प्रस्ताव पेश करके यह माग की गयी कि निःशस्त्रीकरण आयोग और उसकी उप समिति में सदस्यों की संख्या बढ़ाई जाय। इस प्रस्ताव में और भी कई सुझाव दिये गये थे जिनमें आणविक शस्त्रास्त्रों को खत्म करने पर अधिक जोर दिया गया। सोवियत संघ ने भारत का समर्थन करते हुए आयोग के सदस्यों को बढ़ाने का जोरदार आग्रह किया। कहीं इस बात को लेकर निःशस्त्रीकरण वार्ता ही न टूट जाय, इसलिये आयोग के सदस्यों की नवम्बर, १९५७ में संख्या बढ़ा कर २५ कर दी गयी किन्तु रूस इतने में ही सन्तुष्ट न हुआ उसने स्पष्ट कह दिया कि जब तक निःशस्त्रीकरण आयोग में उसकी माग के अनुसार विस्तार नहीं किया जायगा, वह आयोग की किसी बैठक में शामिल नहीं होगा। वास्तव में सोवियत संघ की इस हठ के पीछे उस समय उसकी स्पूतनिक कूटनीति काम कर रही थी। २६ अगस्त, १९५७ को रूस ने यह दावा करके पश्चिमी राष्ट्रों में भय और सन्देह जागृत कर दिया था कि उसने अन्तर-महाद्वीप प्रक्षेपणास्त्र (Inter Continental Ballistic Missile—ICBM) का सफल परीक्षण कर लिया है और इससे विध्वंसक बम के गोले को दुनिया के किसी भी हिस्से में, एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में फेंका जा सकता है। पश्चिम को पहले तो रूस की इस घोषणा पर विश्वास नहीं हुआ लेकिन जब ४ अक्टूबर, १९५७ को रूस ने पृथ्वी के चारों ओर घूमने वाला एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोड़ दिया तो सम्पूर्ण पश्चिमी जगत रूस की इस वैज्ञानिक प्रगति से भौंचक रह गये और निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जाने लगी। चूंकि इस समय शस्त्रों की दौड़ में सोवियत संघ का पलड़ा भारी हो चुका था, अतः निःशस्त्रीकरण के प्रति वह कड़े रुख का अवलम्बन करने लगा।

बुल्गानिन योजना—यद्यपि दोनों ही पक्षों की ओर से प्रस्तावों को प्रस्तुत एवं अस्वीकृत किये जाने का क्रम जारी रहा तो भी प्रस्तावकों ने हार न मानी। ३ फरवरी १९५८ को रूसी प्रधानमन्त्री बुल्गानिन द्वारा राष्ट्रपति आइजनहोवर के सम्मुख निःशस्त्रीकरण की एक विस्तृत योजना रखी गई। इस योजना के मुख्य पहलू निम्न प्रकार थे—

(१) अणु बमों के परीक्षणों को बन्द किया जाये।

(२) अमरीका, रूस व ब्रिटेन आणविक शस्त्रों का परित्याग कर दें।

(३) जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों में विदेशी सेनाओं को घटाया जाए।

(४) नाटो तथा वारसापैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता हो।

(५) आकस्मिक आक्रमणों को रोका जाए।

१५ मार्च, १९५८ को इन्हीं प्रस्तावों के आधार पर सोवियत विदेश मन्त्रालय द्वारा कुछ अन्य प्रस्ताव भी रखे गये। जैसे सैनिक प्रयोजनों के लिए बाह्य आकाश (Outer Space) के प्रयोग का निषेध तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की देखरेख में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा उपरोक्त निषेध के पालन का निरीक्षण किया जावे। अमरीकी गुट द्वारा इसका भी कोई संतोषजनक जवाब न दिया गया।

रापाकी योजना (Rapaki Plan)—इसी समय पोलैण्ड के विदेश-मन्त्री ने एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना में यूरोप में सुरक्षा और शान्ति बनाये रखने के लिए पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को अणुविहीन क्षेत्र बनाने का सुझाव दिया गया था अर्थात् इन देशों में आणविक अस्त्रों का निर्माण, संग्रह एवं उपयोग न किया जाए। सोवियत संघ द्वारा इस प्रस्ताव का समर्थन किया गया किन्तु अमरीका की कोई संतोषजनक प्रतिक्रिया न हुई।

सोवियत संघ के विविध प्रस्तावों की इस तरह अवहेलना होती रहने पर ३१ मार्च, १९५८ को उसने एकतरफा काम किया जिसे उस समय अत्यन्त सराहनीय माना गया। उस दिन सुप्रीम सोवियत ने सर्व-सम्मति से एक प्रस्ताव पास किया जिसमें यह कहा गया कि सोवियत संघ ने इस आशा से सभी प्रकार के आणविक परीक्षण बन्द कर दिए हैं कि अन्य देश भी उसका अनुसरण करेंगे। किन्तु यदि दूसरे देशों द्वारा आणविक परीक्षण बन्द न किये गए तो वह भी उनको पुनः आरम्भ कर सकता है।

आइजनहोवर की प्रतिक्रिया—अमरीकी प्रशासन सोवियत संघ के स्फुतनिक कूटनीति से तंग आ चुका था अतः २ अप्रेल, १९५८ को राष्ट्रपति आइजनहोवर ने रूस को इन प्रस्तावों का जवाब भेजा। उसमें कहा गया कि सोवियत संघ के सभी प्रस्ताव एवं आणविक परीक्षण का स्थगन आदि प्रचारात्मक कार्य हैं। राष्ट्रपति द्वारा रूस के उन कार्यों का वर्णन किया गया जिनके कारण निःशस्त्रीकरण के अब तक के प्रयास सफल नहीं हो सके थे। बाद में यह घोषणा की गई कि 'एनी वी टोक' में चल रहे अमरीकी आणविक परीक्षण

के समाप्त होने पर अमरीका को यह निश्चित हो गया कि रूस ने सचमुच परीक्षण बन्द कर दिये हैं तो अमरीका भी उनको बन्द करने की बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेगा।

जेनेवा सम्मेलन १९५८ (Geneva Conference)—३१ अक्टूबर, १९५८ से जेनेवा में नि शस्त्रीकरण पर अनेक प्रस्ताव पास किये गये। रूस का कहना था कि ये परीक्षण सदा के लिए बन्द कर दिये जायें, किन्तु अमरीका व ब्रिटेन प्रारम्भ में इनको एक वर्ष के लिये बन्द करने के पक्ष में थे। कुछ बातों पर दोनों पक्ष सहमत थे किन्तु फिर भी मतभेद की खाई इतनी चौड़ी थी कि दोनों किनारे मिल न पाये। इससे कोई उपयोगी समझौता न किया जा सका।

ख्रुश्चेव का प्रस्ताव—सन् १९५९ में सोवियत रूस के प्रधानमंत्री द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में पूर्ण नि शस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा गया। उन्होंने यह सुझाव दिया कि चार वर्ष की अवधि में सभी राज्यों को पूर्ण नि शस्त्रीकरण कर लेना चाहिए ताकि किसी राज्य के पास युद्ध करने का कोई साधन न रह जाए। राज्यों को सब प्रकार की सशस्त्र सेना का परित्याग करना था केवल शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के लिए कुछ पुलिस शक्ति रखी जा सकती थी। ख्रुश्चेव की इस पूर्ण नि शस्त्रीकरण की योजना को शायद दूसरे गुट वाले स्वीकार नहीं करते, इसी कारण उन्होंने आंशिक नि शस्त्रीकरण की योजना भी प्रस्तुत की जिसमें निम्न सूत्र थे—

(१) नाटो संगठन के सदस्य एवं पश्चिमी राज्यों के साथ वारसा पैक्ट के राज्यों की अनाक्रमण सन्धि हो,

(२) एक राज्य दूसरे राज्य पर आकस्मिक आक्रमण रोकने के विषय में समझौता करे,

(३) यूरोपीय राज्यों से सभी विदेशी सेनायें हटाई जायें,

(४) मध्य यूरोप में आणविक आयुधों से रहित क्षेत्र (Nuclear Free Zone) कायम किया जाए,

(५) आकस्मिक आक्रमणों को रोका जाए।

ख्रुश्चेव का विचार था कि नि शस्त्रीकरण का समझौता हो जाने के बाद उसे कार्यान्वित करने के लिए कठोर नियन्त्रण रखा जाय किन्तु नि शस्त्रीकरण के बिना नियन्त्रण का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। रूसी प्रधानमंत्री के इस प्रस्ताव का सब देशों द्वारा स्वागत किया गया किन्तु पश्चिमी शक्तियों द्वारा इसे मजाक का विषय बना दिया गया और इस प्रकार गतिरोध बना ही रहा।

जेनेवा सम्मेलन (Geneva Conference), १९६०—निःशस्त्रीकरण आयोग पर विचार करने के लिए पुनः १९६० में जेनेवा में एक सम्मेलन बुलाया गया। इस बार एक ही समय दो सम्मेलन चल रहे थे एक तो दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन और दूसरा था आणविक शक्ति के तीन सदस्यों की वार्ता जिसका लक्ष्य था आणविक परीक्षणों को रोक देना। ये दोनों ही सम्मेलन आशाजनक रूप से सफलता प्राप्त न कर सके। २६ जून, १९६० को दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन भंग हो गया।

जुलाई १९६० से मई १९६३ तक का काल (The period between 1960 to 1963)—निःशस्त्रीकरण से सम्बन्धित प्रश्न पर रूसी एवं अमरीकी गुट के बीच कई बातों पर मतभेद है उदाहरण के लिए आणविक परीक्षण, नियन्त्रण, आणविक आयुध, सैनिकों की संख्या, सूचना आदान, बाह्य अन्तरिक्ष आदि। दिसम्बर, १९६० में १० राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण आयोग का रूस ने इस आधार पर बहिष्कार किया कि वह सघ के सभी सदस्यों का एक आयोग बनाने की माग कर रहा था। १९६१ में १८ सदस्यों का एक आयोग स्थापित किया गया किन्तु फ्रांस ने इसका प्रारम्भ से बहिष्कार किया और केवल १७ सदस्य शेष रह गये। १९६१ में महासभा के मना करने पर भी सोवियत रूस द्वारा ५० मेगाटन बम का परीक्षण किया गया। नवम्बर ३, १९६१ को महासभा की राजनैतिक समिति में पाच अन्य राष्ट्रों के साथ मिलकर भारत द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि आणविक परीक्षणों पर जब तक कोई समझौता नहीं हो जाता है तब तक इनको बन्द ही रखा जाय। ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका व रूस चारों ही शक्तियों ने इसका विरोध किया किन्तु यह प्रस्ताव बहुमत से पास हो गया। बाद में साधारण सभा ने भी इसे स्वीकार कर लिया। साधारण सभा द्वारा एक और अन्य प्रस्ताव भी स्वीकार किया गया जिसमें यह कहा गया था कि यदि किसी देश द्वारा अणुशस्त्रों का प्रयोग किया गया तो इसे सघ के चार्टर का खुला उल्लंघन माना जायगा। प्रस्ताव ने अमरीका से आणविक परीक्षण न करने की बात कही। रूस ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया जबकि पश्चिमी शक्तियों का मत इसके विरोध में था।

मार्च १९६२ में विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ किन्तु यह अधिक सफल न रहा। इसी समय जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग का सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। भारत का यह प्रस्ताव था कि आणविक परीक्षणों का पता लगाने के लिए तटस्थ राष्ट्रों के स्टेशन कायम किये जायें। अप्रैल में अमरीका द्वारा आणविक परीक्षण किया गया तथा जुलाई में सोवियत रूस द्वारा भी

ऐसा ही किया गया। इन सबके कारण निःशस्त्रीकरण की सारी आशायें लुप्त हो गयीं। १२ फरवरी, १९६३ को जेनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन प्रारम्भ होने पर रूस ने यह प्रस्ताव रखा कि दोनों ही पक्ष यह समझौता कर लें कि दूसरे देशों की भूमि में तीन महान आणविक शक्तियाँ आणविक अड्डे कायम नहीं करेंगी। इस प्रस्ताव को पश्चिमी गुट द्वारा ठुकरा दिया गया।

अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि १९६३—कैनेडी और ख्रुश्चेव के प्रयत्नों से निःशस्त्रीकरण वार्ता में और प्रगति हुई। १४ जुलाई, १९६३ को मास्को में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ और २५ जुलाई, १९६३ को तीनों देशों ने "सीमित परमाणु प्रतिबन्ध सन्धि" पर हस्ताक्षर कर दिये।

वाशिंगटन, लन्दन तथा मास्को में सम्पुष्टि-पत्रों के आदान-प्रदान के साथ १० अक्टूबर, १९६३ को यह सन्धि लागू हो गयी। उस समय तक लगभग १०० राष्ट्र इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर चुके थे।

इस सन्धि के द्वारा भूगर्भ परीक्षणों को छोड़कर बाह्य आकाश, जल और वायु-मण्डल में अणु-परीक्षण करने पर रोक लग गयी। १९५५ की आस्ट्रिया की शान्ति सन्धि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था। इसका विश्व में सर्वत्र स्वागत हुआ। भारत ने इस सन्धि पर अन्य राष्ट्रों में प्रथम हस्ताक्षर किये। फ्रांस ने अब तक इस पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं और साम्यवादी चीन इस सन्धि का विरोधी रहा है।

अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि ५ धाराओं की छोटी सी, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असाधारण महत्व रखने वाली सन्धि है। इसकी प्रस्तावना में तीनों देशों (ब्रिटेन, रूस व अमेरिका) ने यह घोषणा की है कि उनका प्रधान उद्देश्य—

"संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्यों के अनुसार कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में एक सामान्य और पूर्ण निःशस्त्रीकरण का समझौता यथा सम्भव शीघ्र ही कराना है ताकि शस्त्रों के उत्पादन और निर्माण की प्रतिस्पर्द्धा बन्द हो सके।"

सन्धि की पाँचों धारायें सारांश रूप में इस प्रकार हैं—

पहली धारा में तीनों देशों द्वारा यह निश्चय किया गया है कि वे अपने अधिकार क्षेत्र और नियन्त्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमण्डल में, इसकी सीमाओं में, बाह्य अन्तरिक्ष में, प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों के जल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे और इस प्रकार के आणविक विस्फोटों को रोक देंगे।

दूसरी धारा में सन्धि के संशोधन की व्यवस्था है। सन्धि में संशोधन का प्रस्ताव किसी भी सरकार द्वारा रखा जा सकता है और हस्ताक्षरकर्ता राज्यों में से यदि एक-तिहाई प्रस्ताव के पक्ष में हों तो संशोधनों पर विचार हो सकता है।

तीसरी धारा के अनुसार इस सन्धि पर सब देश हस्ताक्षर कर सकते हैं। यह व्यवस्था है कि हस्ताक्षरकर्ता देश इस पर अपनी संसद अथवा राष्ट्रीय परिषद् से इसकी पुष्टि करेंगे और इन पुष्टियों या सम्पुष्टियों को उन्हें रूस, अमेरिका एवं ग्रेट ब्रिटेन के पास जमा कराना पड़ेगा।

चौथी धारा में उल्लिखित है कि यह सन्धि असीमित अवधि (Unlimited duration) के लिए है, हालांकि हस्ताक्षरकर्ता प्रत्येक देश को यह अधिकार होगा कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय स्वयं को इस सन्धि की बाध्यताओं से मुक्त कर ले, जब वह यह निर्णय करे कि इस सन्धि से सम्बन्धित ऐसी असामान्य घटना घटित हुई है कि उससे उस देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है। इस धारा में कहा गया है कि उपरोक्त अवस्था में सन्धि से हटने की इच्छा करने वाले देश सन्धि पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देशों को तीन महीने पहले अपने पृथक होने का नोटिस दे देगा।

पांचवीं धारा में यह कहा गया है कि इस सन्धि के रूसी भाषा के तथा अंग्रेजी के दोनों रूप समान रूप से प्रामाणिक समझ जायेंगे।

अणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि का संसार के अधिकांश, सभी छोटे बड़े राष्ट्रों ने पूर्ण स्वागत किया। यह सन्धि केवल निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में ही एक महान् घटना नहीं थी, वरन् यह शीत युद्ध की समाप्ति की दिशा में भी एक प्रभावशाली शुरुआत थी जिसके कारण विश्व इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में १९६३ के उपरान्त किये गये प्रयास—१९६३ में राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या हो गई। नये अमेरिकन राष्ट्रपति लिंडन बी. जानसन को शुभ-कामना सन्देश भेजते हुए रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने इस बात पर बल दिया कि निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयासों के साथ-साथ संघर्षों के कारणों को दूर करने के और सीमा संघर्षों के कारण को मिटाने के तथा सीमा विवादों को हल करने के लिए बल-प्रयोग न करने की प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की जाय। श्री ख्रुश्चेव ने सुझाया कि एक ऐसी सन्धि की जानी चाहिये जिसके अन्तर्गत सीमा संघर्षों के समाधान के लिए बल-प्रयोग करना वर्जित कर दिया जाय।

मार्च, १९६४ में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन पुनः प्रारम्भ हुआ जिसमें अमेरिका और रूस की तरफ से प्रस्ताव प्रति प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। किन्तु इन प्रयत्नों का कोई मधुर फल नहीं निकला। सितम्बर में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया और इसी के कुछ दिनों बाद ५ अक्टूबर, १९६४ को काहिरा में तटस्थ राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें भारतीय प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री लाल बहादुर शास्त्री और मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने संयुक्त विज्ञप्ति में पूर्ण निःशस्त्रीकरण पर बल दिया।

कुछ ही दिनों बाद चीन ने अपने प्रथम अणुबम का परीक्षण कर लिया। *१९६३ के जेनेवा समझौते का यह प्रथम उल्लंघन था।* सारे संसार में इसकी बड़ी आलोचना हुई। २९ नवम्बर, १९६४ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने एक प्रस्ताव पास करके निःशस्त्रीकरण आयोग से आग्रह किया कि परमाणुविक आयुधों के सम्बन्ध में शीघ्रतापूर्वक किसी प्रकार का समझौता अवश्य होना चाहिए।

२७ जुलाई, १९६५ को जेनेवा में निःशस्त्रीकरण के आयोग की बैठक फिर बुलाई गई। सम्मेलन के आरम्भ होने के समय ही रूसी और अमेरिकन मतभेद तेजी से उभर आये। दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों ने ऐसे ऐसे भाषण दिये कि *सम्मेलन के भाग्य का फैसला हो गया।* यद्यपि दोनों ही पक्षों में आणविक आयुधों की भयानकता के सम्बन्ध में कोई मतभेद न था, लेकिन इन आयुधों को नियन्त्रित करने के तरीकों के बीच इनमें तीव्र मौलिक मतभेद थे।

तटस्थ राष्ट्रों के प्रयत्नों से १७ राष्ट्रों का (भारत सहित) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन पुनः जेनेवा में प्रारम्भ हुआ जो जनवरी, १९६६ से अगस्त तक पूरे ८ महिने चलता रहा। सम्मेलन में दोनों ही शक्तियाँ अपनी हठवादी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करती रहीं जिसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि *यह सम्मेलन भी बिना किसी प्रकार महत्वपूर्ण निर्णय के ही समाप्त* हो गया।

१९६८ की परमाणु अस्त्र विरोधी संधि (The Non-Proliferation Treaty, 1968)—निःशस्त्रीकरण की दिशा में तथा परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाने के लिए प्रयासों का क्रम चलता रहा और १९६८ में जेनेवा में पुनः अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन भी ऊबते ऊबाते लगभग मर चला ही था कि अगस्त के अन्तिम सप्ताह में अमेरिकन और रूसी प्रतिनिधियों ने यह घोषणा की कि परमाणु अस्त्र संधि के मसविदे के बारे में दोनों महाशक्तियों में मोटे तौर पर एक समझौता हो गया है।

इस प्रस्तावित संधि अथवा समझौते का मसविदा बड़ा लम्बा चौड़ा था तथापि सारांशत उसकी मूल बातें निम्नानुसार थीं —

मसविदे के पहले अनुच्छेद में यह कहा गया है कि परमाणु-अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्रों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया था कि हस्ताक्षर करने वाले परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्र परमाणु अस्त्र बनाने की कोई कोशिश नहीं करेंगे।

तीसरा अनुच्छेद परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में था। इस अनुच्छेद में मूल एक पंक्ति है। अभी इस विषय में कोई समझौता नहीं हो सकता है।

चौथा अनुच्छेद उन राष्ट्रों को आश्वस्त करने के लिए रखा गया है जिन्होंने अपने यहां आणविक उद्योग का काफी विकास कर लिया है। इसमें कहा गया है कि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का विकास करने में पूरी छूट रहेगी।

पांचवें, छठे और सातवें अनुच्छेद में कार्यावधि-सम्बन्धी व्यवस्थाएं थीं—लेकिन संधि में कहीं भी यह नहीं बताया गया कि अगर किसी परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्र पर कोई परमाणु-अस्त्रधारी राष्ट्र हमला करता है तो हस्ताक्षर करने वाले देश उसके बचाव की क्या व्यवस्था करेंगे? तीसरे अनुच्छेद के बारे में कोई समझौता न हो सकने के कारण फिलहाल किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की परिकल्पना भी नहीं हो सकी है जो किसी परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्र को परमाणु-अस्त्र बनाने से रोक सके, जो विभिन्न देशों के परमाणु-शक्ति के विकास के कार्यक्रमों का निरीक्षण और नियन्त्रण करके यह गारन्टी दे सके कि असैनिक उपयोग के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह सैनिक उपयोग में नहीं आयेगा और जो हस्ताक्षर करने वाले परमाणु शक्ति-विहीन राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण उपयोगों के लिए परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों से परमाणु शक्ति के बारे में आवश्यक जानकारी और सामग्री दिला सके।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अभाव में प्रस्तावित संधि का कोई महत्व नहीं रह गया और इसीलिए परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्रों ने मसविदे की जमकर आलोचना की। फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली और भारत ने संधि पर बहुत अधिक आपत्ति की। पश्चिमी जर्मनी, इटली और फ्रांस ने यह महसूस किया कि परमाणु शस्त्र सम्पन्न सोवियत संघ, फ्रांस और ब्रिटेन के सामने वे यूरोप में बौने होकर रह जायेंगे। भारत को परमाणु-अस्त्र सम्पन्न

चीन से जबरदस्त खतरा है और प्रस्तावित सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती।

अनेक राष्ट्रों द्वारा विभिन्न आपत्तियों के बावजूद भी २४ अप्रैल, १९६८ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के विशेष अधिवेशन में इस प्रस्तावित सन्धि पर विचार प्रारम्भ हुआ और राजनीति समिति में काफी विचार-विमर्श होने के उपरान्त १३ जून, १९६८ को महा-सभा ने प्रबल बहुमति से सन्धि पर अपनी स्वीकृति दे दी। विपक्ष में फ्रांस ने मतदान में भाग नहीं लिया और भारत भी मतदान में भाग लेने वाले २१ सदस्यों में से एक था। साम्यवादी चीन भी इस सन्धि से बाध्य नहीं होगा। अल्बानिया ने, जो साम्यवादी चीन का समर्थक है, सन्धि के विरोध में वोट दिया। क्यूबा, रूमानिया और जाम्बिया के भी विपक्ष में वोट पड़े।

जो भी हो यह निःसंदिग्ध है कि निःशस्त्रीकरण की दिशा में यह परमाणविक आयुध प्रसार प्रतिबन्ध सन्धि अगस्त, १९६३ की परमाणविक प्रतिबन्ध सन्धि के बाद एक दूसरा ऐतिहासिक कदम है। पूर्वापेक्षा निःशस्त्रीकरण के अन्य पहलुओं के समाधान की सम्भावना अब अधिक बढ़ गई है। यह सन्धि इस दृष्टिकोण को बल प्रदान करती है कि यदि महा-शक्तियाँ परस्पर मिल जुलकर प्रयास करें तो संसार की सभी समस्यायें सुगमतापूर्वक सुलझ सकती हैं। वैसे यह सन्धि कुछ दृष्टियों से बड़ी दोषपूर्ण है। इसकी सबसे बड़ी कमी यह है कि एक ओर तो यह प्रतिबन्ध थोपा गया है कि जो राष्ट्र अब तक परमाणु बम नहीं बना पाये हैं व भविष्य में भी इस ओर कदम नहीं बढ़ायेंगे और दूसरी ओर उन्हें परमाणु आक्रमण से बचाने के लिए यह आश्वासन दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से उनको अणु आयुधों से सहायता की जायेगी और यह सहायता देने का निर्णय सुरक्षा परिषद् करेगी। स्पष्ट है कि सुरक्षा-परिषद् महा शक्तियों के हाथ का खिलौना है। फिर इस आश्वासन का तब कोई महत्व नहीं रह जाता है जब सुरक्षा परिषद् के किसी भी स्थायी सदस्य को किसी भी प्रस्ताव को वीटो करने का अधिकार है इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 'आक्रमण' शब्द की व्याख्या नहीं की है। अतः यह भ्रम बने रहने की सम्भावना है कि परिषद् किस हालत में किसको आक्रमणकारी समझेगी।

निःशस्त्रीकरण की समस्यायें
(Problems of disarmament)

निःशस्त्रीकरण के इतिहास के इन पृष्ठों को पलटने से यह ज्ञात हो जाता है कि इनमें से बहुत थोड़े से सफल हो सके थे तथा अधिकांश को असफल होना पड़ा। इस निरन्तर असफलता के पीछे अनेक कारण छिपे हैं। अनेक

ऐसी समस्यायें हैं जो किसी भी समझौते को सर्वमान्य नहीं बनने देती। मार्गेन्थो (Morgenthau) महोदय ने नि शस्त्रीकरण की चार समस्याओं का वर्णन किया है।[1] वे निम्न प्रकार हैं—

(१) विभिन्न राष्ट्रों के शस्त्रों के बीच परिमाण सम्बन्ध (Ratio) कितना रहेगा?

(२) वह मापदण्ड क्या है जिसके अनुसार इस परिमाण सम्बन्ध के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार एवं गुणों के शस्त्र विभिन्न देशों के लिए निर्धारित किये जायेंगे?

(३) जब उक्त दो प्रश्नों का जवाब दे दिया जाता है तो देखना यह है कि इन दो उत्तरों का हथियारों की सौंपी गई कमी पर वास्तविक प्रभाव क्या पड़ेगा?

(४) नि शस्त्रीकरण का अन्तर्राष्ट्रीय शांति और व्यवस्था के विषयों पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

मार्गेन्थो का कहना है कि नि शस्त्रीकरण के किसी भी प्रयास की सफलता जांचने के लिए हमें इन चार प्रश्नों पर ही उसको कसना चाहिए। इन प्रश्नों के जैसे उत्तर दिये जायेंगे उनसे यह जाना जा सकता है कि उनमें सफलता एवं असफलता की मात्रा कितनी-कितनी थी।

नि शस्त्रीकरण के मार्ग की कठिनाइयाँ
(The difficulties in the way of disarmament)

नि शस्त्रीकरण सफल होने के मार्ग में अनेक कठिनाइयां हैं जिनमें से मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) अणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों का निर्धारण अनेक आन्तरिक एवं बाह्य तत्वों से प्रभावित होता है। एक देश पहले अपने राष्ट्रीय हित की ओर दृष्टि डालता है तथा बाद में वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति व हित को देखता है। इसी आधार पर फ्रांस ने परीक्षण प्रतिरोध सन्धि का समर्थन न किया। दो या अधिक राष्ट्रों के बीच के सम्बन्ध आज इतने अस्थिर हैं कि कल का मित्र आज का दुश्मन बन जाता है। इन परिस्थितियों में अणु-आयुधों के रहने से आक्रमणकारी पर प्रतिबन्ध लग जाता है और वह तुरन्त युद्ध छेड़ने का साहस नहीं कर पाता क्योंकि दूसरे देश की शक्ति उसका भी विनाश कर सकती है। अस्थिर सम्बन्धों का भय तथा इसमें निहित खतरे और लालच की भावनायें शस्त्रों को सीमित करने के मार्ग में बाधक बन जाती हैं। आजकल सैनिक तकनीकी का इतना विकास हो चुका है कि

1. Morgenthau, op. cit. pp 371-2

निःशस्त्रीकरण का नाम लेकर किसी को भी आप धोखा दे सकते हैं। शक्तिशाली शस्त्रों को छुपाकर, ऊपरी सेना घटाकर निःशस्त्रीकरण का दिखावा किया जा सकता है। जब तक यह भय दोनों पक्षों के मन में रहेगा तब तक निःशस्त्रीकरण का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

(२) राष्ट्रवाद एवं सम्प्रभुता की भावना के कारण एक देश यह स्वीकार नहीं करता कि उसको निःशस्त्रीकरण की क्रियान्विति की जाँच के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाई जाये। इस प्रकार के निरीक्षण द्वारा एक देश की स्वतन्त्रता पर जो अंकुश लगता है उसे स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं होता। यही कारण है कि निःशस्त्रीकरण योजना की सफलता से पूर्व विश्व सरकार की स्थापना का समर्थन किया जाता है।

(३) निःशस्त्रीकरण के कारण एक देश की अर्थव्यवस्था पर भारी प्रभाव पड़ता है। शस्त्रों के निर्माण पर व्यय होने वाली भारी राशि का शस्त्र निर्माण बन्द कर देने पर रचनात्मक कार्यों में कैसे उपयोग किया जायगा, उससे अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जायगी आदि भय रहते हैं तथा यह आशा भी रहती है कि इसे अर्ध-विकसित देशों के विकास के लिए प्रयोग में लाया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि निःशस्त्रीकरण के आर्थिक परिणामों का भय एवं आशा अवास्तविक है। इस आशा एवं भय का पश्चिमी सम्पन्न समाज पर क्या असर होता है यह भी अनुमान का विषय है।

(४) निःशस्त्रीकरण करते समय देशों के लिए शस्त्रों का जो अनुपात निर्धारित किया जाता है उसके कारण देशों के बीच मन-मुटाव व अविश्वास की भावना पैदा होती है। शस्त्रों की सीमा निर्धारण के समय प्रत्येक देश को दूसरे देश के प्रति यह शंका रहती है कि शायद वह अपनी शक्ति को बढ़ाने तथा विरोधी पक्ष की शक्ति घटाने का प्रयत्न कर रहा है। प्रत्येक देश उस शक्ति को कम करना चाहता है जो उसके लिए घातक है। १९४६ में अणु शस्त्रों को मिटाने के लिए रूस एवं अमरीका दोनों ही देशों द्वारा किए गए प्रस्ताव एक पक्षीय थे। तकनीकी रूप से यह बड़ा कठिन काम है कि एक देश की सैनिक आवश्यकता को देखा जाय तथा उसी अनुपात में उसकी सैनिक शक्ति को घटाया जाय। जान फोस्टर डलेस के मतानुसार इसी समस्या के कारण आज तक अमरीका द्वारा निःशस्त्रीकरण की योजनाओं का समर्थन सच्चे दिल से न किया जा सका। इस समस्या के दो सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं—(१) पूर्ण रूप से निःशस्त्रीकरण कर दिया जाये (२) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति द्वारा देशों को सामूहिक सुरक्षा की गारण्टी दी जाए। किन्तु ये सुझाव भी तब तक सफल नहीं हो सकते जब तक कि पहले शस्त्रों का दमन न किया जाये इसलिए अनुपात का मसला मुख्य है।

(५) यह कहा जाता है कि अविश्वासपूर्ण वातावरण में नि शस्त्रीकरण और शस्त्रों का नियन्त्रण तथा अन्य राजनैतिक समस्याओं का समाधान सम्भव नहीं है। यदि देशों के बीच विश्वास रहे तो शस्त्रों की आवश्यकता ही न रहे और नि शस्त्रीकरण की समस्या भी पैदा न हो। किन्तु पूर्ण अविश्वास का रहना भी अराजकता एवं पूर्ण तानाशाही में से एक को स्थापित कर देगा। यह आशा की जाती है कि नि.शस्त्रीकरण की समस्या के सुलझने के बाद दोनों गुटों में विश्वास की भावना आ सकती है। अविश्वास के कारण कोई समझौता नहीं हो पाता, होता भी है तो सच्चे रूप से क्रियान्वित नहीं हो पाता।

(६) समस्या यह उठ खड़ी होती है कि पहले राजनैतिक समस्याओं को हल किया जाये या नि शस्त्रीकरण किया जाये। ये दोनों एक दूसरे के मार्ग में बाधा डालते हैं और एक के हल हो जाने पर दूसरे का हल हो जाना सुगम है। यह सोचा जाता है कि शस्त्र झगड़ों का कारण है और इनको घटाने से अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और मैत्री बढ़ेगी। किन्तु यह प्रयास एकपक्षीय होगा। होना यह चाहिए कि मनमुटाव, अविश्वास एवं प्रतिद्विन्दिता को दूर करने के लिए हर दिशा में प्रयास करना चाहिए। मडरियागा के शब्दों में नि.शस्त्रीकरण की समस्या का समाधान इस समस्या में ही नहीं खोजा जा सकता किन्तु इसके बाहर ही खोजा जा सकता है। असल में नि.शस्त्रीकरण की समस्या नि शस्त्रीकरण की समस्या नहीं है। यह वास्तव में विश्व समुदाय के सगठन की समस्या है।[1]

राष्ट्रीय शक्ति की कुछ अन्य सीमायें
(Some Other Limitations of National Power)

राष्ट्र की शक्ति को विनाश और विध्वस की अपेक्षा कल्याण एवं निर्माण में लगाने की व्यवस्था करने हेतु अब तक अनेक उपाय किए गए। इन उपायों में से प्रमुख अर्थात् शक्ति सन्तुलन, सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, विश्व सरकार एव नि.शस्त्रीकरण का अध्ययन हम कर चुके हैं। इन सीमाओं के अतिरिक्त देश की बाह्य एव आन्तरिक परिस्थितियों के कारण ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हो जाता है जो उस राष्ट्र की शक्ति का उच्छृंखल प्रयोग करने के मार्ग में बाधायें उपस्थित कर देती हैं। इस दृष्टि से एक राष्ट्र के व्यक्तित्व तथा उसके व्यवहारों की तुलना व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा व्यवहारों से की जा सकती है। जिस प्रकार व्यवहार करते समय एक व्यक्ति अपने युग के नैतिक मूल्यों एव मान्यताओं से प्रभावित होता है उसी

1. Madariaga, Disarmament, 1929, P. 56.

प्रकार राष्ट्रीय व्यवहार की भी एक नैतिकता होती है। यदि एक राष्ट्र द्वारा उसका उल्लङ्घन किया गया तो अन्तर्राष्ट्रीय जगत के अन्य सदस्यों का उस पर से विश्वास उठ जायेगा तथा सम्बन्ध अच्छे न रह पायेंगे। इसी प्रकार व्यक्तिगत जीवन में समाज के रीति-रिवाजों, परम्पराओं तथा तत्कालीन समाज के मतों का बड़ा प्रभाव रहता है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में भी एक देश के व्यवहार की बागडोर पर विश्व के लोकमत का भारी प्रभाव रहता है। इस प्रकार एक राष्ट्र की शक्ति को सीमित करने में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं विश्व लोकमत का जो प्रभाव रहता है वह भी भुलाया नहीं जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता
(International Morality)

समाज के हित एवं उसके सदस्यों की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि शक्ति को मर्यादित रखा जाए। ये मर्यादायें शक्ति के लिए संघर्ष का ही एक भाग नहीं होतीं किन्तु ये तो उस संघर्ष पर व्यक्तिगत सदस्यों की इच्छा से उनके आदर्शों या व्यवहार के नियमों द्वारा ऊपर से लादी जाती है। नैतिकता प्रायः सही व्यवहार को माना जाता है किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में 'सही व्यवहार' क्या है यह जानना कठिन है। कुछ विचारकों के मतानुसार नैतिकता सार्वभौमिक होती है, यह पूर्ण होती है। एक राष्ट्र का कार्य नैतिक स्तर के जितना समीप होता है वह उतना ही अधिक नैतिक होता है तथा जितना दूर होता है उतना ही वह अनैतिक होता है। मनुष्य को इस स्तर का पालन करना चाहिए। यह स्तर सत्य के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण पर आधारित न होकर सत्य पर ही आधारित होता है। इस दृष्टिकोण वाले विचारकों के मतानुसार नैतिकता का केवल एक ही मापदण्ड होता है। प्रत्येक मनुष्य यह जान सकता है कि नैतिक-नियम शास्त्र किस प्रकार के व्यवहार को नैतिक कहता है। इस नियम-शास्त्र के विपरीत किया गया प्रत्येक कार्य अनैतिक समझा जाएगा। नैतिक मान्यतायें प्रत्येक परिस्थिति में एक सी रहती हैं। हत्या को अनैतिक माना जाता है तो कोई भी परिस्थिति या शर्त उसे नैतिक नहीं बना सकती। मनुष्य चाहे किसी भी समय, स्थान एवं स्थिति में कार्य कर रहा हो, नैतिक नियम उस पर समान रूप से लागू होंगे। यदि एक व्यक्ति अपने परिवार में पत्नी के साथ असत्य व्यवहार करता है तो वह उतना ही अनैतिक माना जाएगा जितना कि वह अपने शत्रु राष्ट्र के सिपाहियों के साथ झूठ बोलते समय होता है।

नैतिकता से सम्बन्धित उक्त विचार का अन्य विचारकों द्वारा खण्डन या जाता है। उनके अनुसार नैतिकता का मापदण्ड केवल एक ही नहीं

होता है। आत्मा की आवाज तथा 'सही विचार' भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक अनुभवों एवं संस्कृतियों के साथ-साथ बदलते रहते हैं। एक जंगली जाति अपने शत्रु को खा जाना ठीक मानती है। उच्च विचारों एवं बुद्धि से सम्पन्न हम यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते कि उन लोगों के मूल्य हमसे निम्न स्तर के हैं। इन विचारकों के मतानुसार एक व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहार करते समय समान नैतिक नियमों से प्रभावित होता है यह भी सत्य नहीं है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ जैसा व्यवहार करता है उसी प्रकार यदि वह अपने पड़ोसी की पत्नी के साथ भी करने लगे तो उसे नैतिक नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि नैतिकता का रूप तथा मापदण्ड समय, परिस्थिति एवं स्थान के साथ-साथ बदलता रहता है। इस प्रकार नैतिकता उन विचारों को कहा जाता है जो कि उसकी संस्कृति, इतिहास, सामाजिक परम्परा एवं रीति-रिवाज आदि के आधार पर निर्मित तथा मान्यता प्राप्त होती है। एक देश की नैतिक मान्यताओं पर अन्य देशों की सभ्यता के सम्पर्क का तथा बदलती हुई राष्ट्रीय परिस्थितियों का भी भारी प्रभाव रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जब एक राष्ट्र कदम उठाता है तो दूसरे देशों द्वारा उस कदम का औचित्य एवं नैतिकता परखी जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नैतिकता के कुछ मापदण्ड तथा व्यवहार के कुछ नियम हैं जिनके आधार पर एक देश के व्यवहार के प्रति दूसरे देशों में प्रतिक्रिया होती है तथा दृष्टिकोण बनता है। विभिन्न लेखकों के द्वारा इन नैतिक मान्यताओं का वर्णन किया गया है जिनका आचरण करके राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ राज्यों के परस्पर सम्बन्धों को शान्तिपूर्ण एवं कम अराजकतापूर्ण बना सकते हैं। ये नियम हैं, जैसे—अपने वायदों को पूरा करना, दूसरे के शब्दों पर विश्वास करना, न्यायपूर्ण कार्य, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का आदर करना, अल्पसंख्यकों की रक्षा करना, राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में युद्ध का बहिष्कार करना आदि-आदि। इन नैतिक नियमों का सुविधा से अधिक सम्बन्ध नहीं रहता। एक कार्य सुविधाजनक नहीं होता तो भी वह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता द्वारा सही ठहराया जाता है; दूसरी ओर अनेक कार्य सुविधाजनक होते हुए भी अनैतिक माने जाते हैं। दनाइमर के मतानुसार अपने देश के संकीर्ण राष्ट्रीय हित के अनुसार कार्य करना संकीर्ण सार्वभौमिक सत्य का पालन करने की अपेक्षा अधिक सुरक्षित तथा अधिक नैतिक है।

नैतिकता की व्याख्या समय-समय बदलती रहती है। प्रत्येक देश अपने व्यवहार को नैतिक सिद्ध करने की कोशिश करता है। 'शक्ति ही औचित्य है' वाली कहावत के अनुसार विजय एवं सफलता प्रत्येक राष्ट्र के किसी भी

व्यवहार को नैतिक बना देती है। आक्रमणकारी राष्ट्र भी अपने आपको उचित ठहराता है। चीन द्वारा किया गया अणु परीक्षण अमल में मानवता व विश्व शान्ति के विरुद्ध है किन्तु जब यह किया गया तो चीन ने बताया था कि ऐसा वह अमरीकी साम्राज्यवाद को रोकने तथा विश्व में स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए कर रहा है और इसलिए यह कार्य नैतिक है। इसी प्रकार अन्य देशों द्वारा भी कुतर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। फिर भी विश्व को मूर्ख बनाना, उससे सच्चाई को छिपाना कोई सरल काम नहीं है। इस बात को चीन भी समझता है कि *उसकी बात पर किसी को विश्वास नहीं हो सकता* और वह एक अनैतिक कार्य कर रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता शान्ति एवं युद्ध दोनों ही समयों में मनुष्य के जीवन की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहती है। शान्ति काल में न केवल प्रमुख जनों की वरन् समस्त देश-वासियों की रक्षा करना एक देश का नैतिक कर्त्तव्य होता है। हो सकता है कि यह कर्त्तव्य उसके नुकसान दायक परिणाम भी लाये। अत्यधिक जनसंख्या से पीड़ित रहते हुए भी देश अपने नागरिकों की रक्षा करेगा। युद्ध के समय भी मानवीय जीवन की रक्षा करना अन्तर्राष्ट्रीय नीति का एक अङ्ग माना जाता है। *विजेता राष्ट्र द्वारा हारे हुए राष्ट्र के नागरिकों का वध नहीं करना* चाहिये और न ही उनको दास बनाना चाहिए। विजेता राष्ट्र द्वारा अविजित राष्ट्र के लोगों को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। युद्ध के समय नागरिकों एवं सामान्य बस्तियों पर बमबारी न करके केवल सैनिक महत्व के अड्डों पर ही करनी चाहिए। भारत-पाक संघर्ष के समय जब पाकिस्तान द्वारा नागरिक बस्तियों पर बमबारी की गई तो यह अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का उल्लंघन ही था।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का जो चित्र हमने खींचा है, वह निम्नांकित शीर्षकों से अधिक स्पष्ट हो सकेगा।

शान्ति काल में मानव जीवन की रक्षा
(Protection of Human life in peace)

राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से अब अमानुषिक व्यवहारों का प्रयोग को अनुचित समझा जाता है। सत्ता की होड़ में लगे हुए देश भी नैतिकता की सीमाओं में आबद्ध हैं और आज सभी सरकारों का कर्तव्य है कि न केवल विशिष्ट व्यक्तियों, अपितु सामान्य जनता की भी सुरक्षा की जाय। प्रो० हम मार्गन्थो ने लिखा है—

"वही विदेश नीति, जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जन-संहार को प्रोत्साहित नहीं करती, राजनीतिक समयानुकूलता के कारण इस सीमा को

अपने ऊपर थोपनी नहीं है। इसके विपरीत, इसका लाभ पूर्ण तथा प्रभावशाली कार्य सिद्धि में होता है। इस सीमा का उद्गम निरपेक्ष नैतिक सिद्धान्त में निहित है और इसका पालन राष्ट्रीय हितों की बिना परवाह किये हुए भी किया जाना अनिवार्य है। ऐसी विदेश नीति राष्ट्रीय हितों का भी त्याग उस समय कर देती है, जब राष्ट्रीय हितों के लिए नैतिक सिद्धान्त को, जैसे कि शान्ति काल में जन-समूह की हत्या का निषेध, तोड़ दिया जाना आवश्यक हो जाता है।"

श्री मार्गेन्थो का मत है कि अनावश्यक यातनाएं और हत्यायें न करने के कर्तव्य पालन के कारण ही पृथ्वी पर मानव जीवन विकसित हो सका है। विकास का लक्ष्य किसी ऊंचे ध्येय की प्राप्ति हेतु जिसके लिए यातना अथवा जीवन संहार का होना आवश्यक नहीं है, और इस ऊंचे लक्ष्य के अन्तर्गत राष्ट्रीय हित भी पूर्ण सम्भव है।

यदि व्यवहारतः देखा जाय तो आज के युग में शान्तिकाल में मानव जीवन की रक्षा के नैतिक दायित्व को बहुत कुछ निभाया जाता है। आज एक निरंकुश शासन के लिए भी यह कठिन है कि वह जनता को आवश्यक सुरक्षा न दे।

युद्ध-काल में मानव जीवन की सुरक्षा
(*Protection of Human life in war*)

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का यह भी तकाजा है कि युद्ध-काल में जन-साधारण के जीवन को सुरक्षा प्रदान की जाय। इसी मानवतावादी उद्देश्य ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों (International Conventions) को प्रेरित किया है जिनका अनुपालन करके युद्ध के समय जन-साधारण के विनाश को टाला जाता है। इतिहास का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि समय समय पर युद्ध सम्बन्धी विभिन्न घोषणायें जन-जीवन को युद्ध विभीषिका से बचाने के लिए की जाती रही हैं। १८५६ की पेरिस घोषणा (*The Declaration of Paris of 1856*) ने समुद्रीय अथवा समुद्रतट स्थित युद्ध (Maritime warfare) को सीमित कर दिया था। १८६८ की सेन्ट-पीटर्स बर्ग घोषणा ने ऐसे हथियारों के प्रयोग को निषिद्ध ठहरा दिया था जिनसे अनावश्यक रूप में अपंग और असमर्थ व्यक्तियों के कष्ट बढ़े। इस घोषणा ने ऐसे प्रक्षेपण अस्त्रों के प्रयोग को भी निषिद्ध ठहरा दिया था जिसका वजन ४०० ग्राम से कम हो और जिन्हें किसी विस्फोटक पदार्थ से चलाया जाता हो। १८९९ की हेग घोषणा (The Hague Declaration of 1899) ने दम दमा कारतूसों (Dum Dum Bullets) के प्रयोग को निषिद्ध किया था जो मानव शरीर में प्रवेश करके फैल जाते थे या चपटे हो जाते थे। १९०७ के हेग कन्वेन्शन (The Hague Convention of 1907) ने विष अथवा

विषाक्त हथियारों के प्रयोग को निषिद्ध ठहराया। इस कन्वेन्शन ने यह भी निषिद्ध ठहराया कि विरोधी राष्ट्र के व्यक्तियों को धोखा-धड़ी और क्रूरता से घायल किया जाय या मारा जाय। आज भी अनेक ऐसे प्रयत्न किये जा रहे हैं जिनसे आणविक युद्ध सीमित हो जाये। युद्ध बन्दियों के सम्बन्ध में भी, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की दृष्टि से, अनेक प्रयत्न किये गये हैं। १८९९ और १९०७ के हेग कन्वेन्शनों और १९२९ व १९४९ के जेनेवा कन्वेन्शनों में इस बारे में विस्तार से व्यवस्था की गई है कि युद्ध बन्दियों के साथ मानवीय व्यवहार किया जाय।

शासक वर्ग की नैतिकता
(Morality of the Ruling Elite)

प्राचीन काल से शासक वर्ग की नैतिकता के विषय में विवाद रहा है। उनके व्यवहारों के प्रति उत्पन्न शंकाओं का तीन रूपों में निरूपण किया गया है—उनकी प्रशस्ति गाकर, अथवा उनकी निन्दा कर, अथवा उनके व्यवहारों का शासक तथा शासित के दोहरे मापदण्ड को अपनाकर। प्रशस्ति गाने वालों की यह मान्यता रही है कि "राजा कभी कोई गलती नहीं कर सकता," वह सामान्य व्यवस्था के नियमों से परे है, उसकी इच्छा ही नियम है। वर्तमान शासनतन्त्र में शासक जन नेता होता है। वह जनता का प्रतिनिधि होता है। अतः उसका व्यवहार स्तुत्य होता है। यह सिद्धान्त किन्हीं थोथी मान्यताओं पर आधारित है। सोरोकिन तथा लन्डेन के अनुसार "इन तर्कों को कभी भी सिद्ध नहीं किया जा सका है और अब भी यह सम्भव नहीं है।" कोई भी सिद्धान्त व तार्किक तथा तार्किक रूप से शासकवर्ग के सदैव श्रेष्ठ 'व्यवहार' को सिद्ध नहीं कर पाता। इन सिद्धान्तों का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। केवल सामाजिक अथवा ऐतिहासिक आधार ही वैज्ञानिक आधार भी बन जावे, ऐसा आवश्यक नहीं है।

शासक वर्ग के व्यवहार की निन्दा करने वाले शासक वर्ग पर धोखा-धड़ी झूठ, ढोंग, आर्थिक शोषण तथा सत्ता के प्रति मोह के आरोप लगाते हैं। सैनिक शासन में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं होता। उस पर सभी प्रकार के आदेश ऊपर से आरोपित होते हैं जिन्हें मानने के लिये वह विवश होता है। सैनिक समाज में विद्यमान सहकारिता एक अनिवार्यता होती है। शासन पद्धति का कोई भी स्वरूप क्यों न हो शासक अथवा शासक वर्ग समाज का उपयोग अपने लाभ के लिये करता है जिसमें व्यक्ति अथवा समाज की एक दास जैसी स्थिति होती है। अपने से शक्तिहीन देशों को अपने अधीन करने वाले शासकों ने प्रजा के सुखों का भी ध्यान रखा हो, ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं रही है। सिकन्दर हान्, महलमेने फ्रेडरिक तथा पीटर महान इसी श्रेणी के शासक रहे हैं।

ऐसा भी हुआ है कि देश के किसी भाग के किसी व्यक्ति ने अपनी बुद्धिमत्ता के द्वारा अधिक प्रभावशाली वन स्वतन्त्र व्यक्तियों को अपने आधीन रखने का प्रयास किया गया है। ऐसे व्यक्तियों के हाथ में सत्ता आने पर उन्होंने अपने हितों तथा लाभों को सामान्य जनता के सुखों से अधिक महत्व दिया। लार्ड एक्टन के अनुसार "सत्ता मनुष्य को मदान्ध बना देती है राजनैतिक दृष्टि से सभी महान व्यक्ति निम्न चरित्र के व्यक्ति रहे हैं। यदि जनता उनके चरित्र को जान पाती तो उन सबको निश्चित ही फांसी पर चढ़ा देती।" पर इन लाछनों को लगाने पर भी यह सिद्धान्त अपने पक्ष में कोई निश्चित दृढ़ तथा तथ्यपूर्ण आधार उपस्थित नहीं कर पाता।

दोहरे मापदंड को मानने वाले, नैतिक तथा राजनैतिक कार्यों में द्वैत के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। अतः किसी राजनैतिक कार्य के गुण-दोषों का विवेचन नैतिकता के आधार पर नहीं किया जा सकता, ऐसी उनकी मान्यता होती है। राष्ट्र हित में किया गया कोई निन्दनीय कार्य भी नैतिकता के आधार पर निन्दनीय नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उनके अनुसार व्यक्ति के जीवन के दो स्वरूप हैं—(i) व्यक्तिगत (ii) राष्ट्रीय। दोनों में कोई समता नहीं होती। सम्भवतः इन्हीं कारणों से प्राचीन शासकों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति करने में कैसी भी बलि देने में संकोच नहीं किया। मिश्र के फराऊन अमेन हातेप के शासन सूत्र उपरोक्त कथन पर भली भांति प्रकाश डालते हैं—"मैं तुम से कहता हूँ तुम चाहे धरती के सम्राट हो अथवा देश देशान्त के तुम अपनी प्रजा के प्रति कठोर बनो। प्रजा उसी शासक का सम्मान करती है जो उसे भयभीत रखता है। कभी उसके निकट अकेले मत जाओ। अपने हृदय के निकट भाई, मित्र अथवा अन्य किसी को मत आने दो। निद्रित स्थिति में भी अपनी भावनाओं को वश में रखो क्योंकि पाप के दिनों में कोई साथ नहीं देता।" कोसिमो-दि मैडिसी (Cosimo di medici) के अनुसार भी 'अपनी क्रूरता के द्वारा शासक अपनी शक्ति का पुनः संचय करता है। उसके क्रूर कृत्यों से अच्छे समाज की व्युत्पत्ति होती है।"

नैतिकता के दोहरे मापदंड के सिद्धान्त को भिन्न भिन्न युगों में विभिन्न व्यक्तियों ने बल प्रदान करने का प्रयास किया है। मैकियावली ने इसे स्पष्ट रूप से रखने का प्रयास किया है। उसके अनुसार "उस शासक के लिये जो अपनी सत्ता बनाये रखना चाहता है, अच्छे न बनने की कला का मर्मज्ञ होना आवश्यक है। उसे आवश्यकतानुसार अपने ज्ञान का उपयोग करना आना चाहिए।" इसको और स्पष्ट करते हुए उसने लिखा है, "किसी शासक में समस्त सद्गुणों का होना प्रशंसनीय है, किन्तु मानवीय सीमाओं के कारण यह सम्भव नहीं है। अतः शासक में उन दुर्गुणों का होना भी आवश्यक है,

जिनके अभाव में राज्य-रक्षा सम्भव न हो पाये। अच्छे तथा बुरे दोनों प्रकार के कार्यों से घृणा जन्म लेती है। कभी कभी राज्यतन्त्र को भली-भांति चलाने के लिए शासक का भ्रष्ट होना आवश्यक हो जाता है। उन शक्तियों के भ्रष्ट हो जाने पर, जिनके अभाव में शासन सम्भव नहीं है, शासक को भी उनका अनुसरण करना होता है। ऐसी स्थिति में सत्कार्यों का किया जाना शासक के लिए शत्रु उत्पन्न करता है।"

विभिन्न विचारधाराएं अपने पक्ष तथा अन्य सिद्धान्तों के विरोध में विभिन्न तर्क उपस्थित करती हैं। इनमें से किसी एक का अच्छा होना विवादास्पद है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का मूल्यांकन

निष्कर्ष रूप में यह कहना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विषय में विचारकों में मतभेद है। यथार्थवादी विचारकों के अनुसार राष्ट्रों में परस्पर सम्बन्ध शक्ति पर आधारित होते हैं। इनमें नैतिकता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। इसके विपरीत कल्पना को महत्व देने वाले अवास्तविक विचारकों के अनुसार नैतिकता के नियमों का व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों द्वारा समान रूप से व्यवहार होता है।

यथार्थवादी विचारधारा के अनुसार प्राचीन भारत में कौटिल्य के समय से मेकियावली और हेगल के समय तक विभिन्न राष्ट्रों के मध्य नैतिकता का कोई निश्चित मापदंड नहीं रहा है। हीगल (Hegel) के अनुसार "प्रत्येक राष्ट्र अपने में एक पूर्ण इकाई है। राष्ट्रों के मध्य सद्भाव अथवा विरोध उनके निजी स्वार्थों को ध्यान में रख कर होता है।" केनेथ थोम्पसन (Kenneth W. Thompson) के अनुसार, "राष्ट्रीय नैतिकता अथवा अन्तर-राष्ट्रीय सम्मान, नैतिकतापूर्ण दृष्टिकोण की दुर्घटनायें हैं जिनके मूल में दिखावापन अथवा घोर अहम है।" राष्ट्र द्वारा की गई घोषणाओं तथा स्वीकृत नीतियों के अनुसार राष्ट्र के नैतिक मूल्यों का निर्धारण होता है। इससे स्पष्ट है अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में नैतिकता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

इसके विपरीत कल्पना प्रधान विचारकों के अनुसार नैतिक नियमों का मूल्य केवल व्यक्ति के लिये ही नहीं अपितु राष्ट्रों के लिए भी है। व्यक्ति तथा राष्ट्र में वैचारिक-एकता स्थापना के लिये, दोनों द्वारा समान नैतिक मूल्यों का स्वीकार किया जाना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय अथवा राष्ट्रीय व्यवहार में समान सम्मानित नैतिक मूल्यों को महत्व दिया जाना चाहिये। प्रेसीडेंट विल्सन के शब्दों में, "हम ऐसे युग के प्रारम्भ पर हैं जिसमें राष्ट्रों द्वारा उन्हीं व्यवहारों, विचारों तथा मूल्यों को महत्व दिया जायगा, जिनकी

अपेक्षा सभ्य देश अपने नागरिकों से करते हैं।" प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट के अनुसार राष्ट्रीय नैतिकता व्यक्तिगत नैतिकता की तरह नितान्त आवश्यक है।

कसौटी पर जाचने पर उपरोक्त दोनों ही विचार धारायें खरी नहीं उतरतीं। वास्तविक रूप में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का अपना विशिष्ट नैतिक स्वरूप है। प्रत्येक निरंकुश शासक ने भी अन्य देशों के प्रति अपने निश्चित नैतिक मापदण्ड रखे हैं। प्रोफेसर क्लाड (Claude) के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ की सभा एक सामान्य म्यूनिसिपल सभा के अनुसार है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय रूप से स्वीकृत मूल्यों तथा आवश्यकताओं को स्वीकार किया जाता है। उनके विचारानुसार अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर प्रभावशाली अंकुश लगाने का मूल कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संस्थागत सभ्य संस्थाओं का होना है जो अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति हेतु नैतिकता के मूल्यों को छोड़ देती है।

अन्त में यह स्वीकार करना अनुचित न होगा कि आज की बदली हुई परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का महत्व निरंतर घटता जा रहा है। कारण यह है कि प्रजातन्त्र के इस युग में राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनैतिक कार्यों के लिए किसी व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता जैसा कि अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के राजतन्त्रों के समय सम्भव था। थोम्पसन के मतानुसार "अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता उसी दिन समाप्त हो गई जबकि राष्ट्रीय उद्देश्यों को बाकी संसार द्वारा स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए शुद्ध लक्ष्य माना गया।"

विश्व जनमत
(World Public opinion)

प्रजातन्त्र के इस युग में राष्ट्रीय स्तर की भांति अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लोकमत का महत्वपूर्ण स्थान है। कूले के मतानुसार जनमत एक सावयवी प्रक्रिया है, यह एक विशेष समय में एक विशेष प्रश्न पर सहमति मात्र नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विश्व जनमत का प्रभाव बहुत समय पहले से ही पड़ता आ रहा है। राष्ट्रसंघ, केलाग-ब्रियां सन्धि आदि का आधार विश्व लोकमत ही था। २१ जुलाई १९१९ को लार्ड रोबर्ट सेसिल (Lord Robert Cecil) द्वारा हाउस आफ कामन्स में कहा गया था कि — "हमारा प्रमुख अस्त्र जिस पर हम विश्वास करते हैं लोकमत है यदि हम इसके बारे में गलत हैं तो सारी चीज ही गलत हो जाती है।" १७ अप्रेल १९३९ को कार्डेल हल (Cardell Hull) ने कहा था कि "लोकमत शान्ति के लिए सबसे प्रमुख शक्ति है। यह अधिक जोर-शोर से सारे विश्व में विकसित होती जा रही है।" संयुक्त राष्ट्रसंघ का महत्व बताते हुए यह कहा जाता है कि

इस प्रकार द्वारा विश्व जनमत अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर अपना प्रभाव डालने मे सफल होता है। सयुक्त राष्ट्रसघ भी अपने उद्देश्यों मे तभी सफल हो पाता है जबकि विश्व लोकमत को वह अपने साथ कर ले। इसमे जो भी निर्णय लिये जाते है वे विश्व जनमत से प्रभावित रहते हैं।

विश्व लोकमत का अर्थ बताते हुए मार्गेन्थो (Margenthau) महोदय कहते हैं कि "विश्व जनमत स्पष्ट रूप से लोकमत है जो कि राष्ट्रीय सीमाओ को पार कर जाता है तथा कम से कम कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मौलिक प्रश्नो पर विभिन्न देशो के सदस्यो को एकमत में सगठित करता है।" विश्व जनमत का प्रभाव राष्ट्रीय व्यवहार पर सच्चे अर्थों मे एक वास्तविक सीमा निर्धारित करता है। यह एक देश के स्वेच्छापूर्ण उच्छृ खल व्यवहार पर पाबन्दी लगाता है। आज कोई भी देश बिना दूसरे राष्ट्रों के सहयोग के जीवित नही रह सकता। चाहे कितना भी सम्पन्न एव शक्तिशाली देश हो, उसे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये आवश्यक रूप से दूसरे देशो के साथ सम्बन्ध बनाये रखने होगे, लेन-देन का व्यवहार (Give and take Policy) बनानी होगी और ऐसा तभी हो सकता है जबकि देशो के बीच परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्ध हों, उनके बीच शाति, सौहार्द एव मैत्री के भाव वतमान हो। दूसरे शब्दों मे वे अधिकाश विषयो पर एकमत हो तथा अधिक भिन्नता न रखते हों। वे परस्पर एक दूसरे की नीतियो एव व्यवहारो को अच्छी तरह से समझते तथा उसका समर्थन करते हो या कम से कम उसका विरोध न करते हों। इस प्रकार की स्थिति को सक्षेप मे प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि एक देश का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एव अन्य सभी दृष्टियों से विकास तभी सम्भव है जब कि विश्व का जनमत उस देश की नीतियो का सक्रिय या निष्क्रिय रूप से समर्थन करता हो। विश्व जनमत के महत्व को समझने के बाद ही प्रत्येक देश द्वारा प्रचार के साधनो पर इतना अधिक व्यय किया जाता है।

वर्तमान समय मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे लोकमत है अथवा नही या उसका अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर प्रभाव होता है अथवा नही इस सम्बन्ध मे विचारको के बीच मतैक्य नही है। कुछ विद्वानों के मतानुसार विश्व जनमत वास्तविक रूप से राष्ट्रो के व्यवहार पर प्रभाव डालता है तथा वह उसको स्वेच्छाचारी बनने से रोकता है। इन विचारकों का कहना है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि एक राष्ट्र विश्व लोकमत के अनुसार काम करने का जितना दावा करता है उतना वह वास्तव में व्यवहार नही करता है। तो भी इससे यह सिद्ध हो ही जाता है कि वह देश विश्व जनमत के महत्व की अवहेलना चाहते हुये भी, कम से कम सिद्धात रूप मे तो नही कर पा रहा है। जो

विश्व जनमत एक राष्ट्र को उसकी इच्छा के विपरीत मत बनाने के लिये बाध्य कर दे उसके अस्तित्व पर तो शंका की ही नहीं जा सकती। इससे भिन्न मार्गेन्थो (Morgenthau) आदि विचारकों का मत है कि विश्व जनमत जैसी कोई चीज विश्व में नहीं है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पर प्रभाव डालती हो। उनका कहना है कि एक देश जब अपनी नीति को विश्व जनमत या मानव-जाति की चेतना के अनुकूल बताने की चेष्टा करता है तो इसका कुछ भी अर्थ नहीं होता। यह तो सभी देशों का एक सामान्य दृष्टिकोण सा बन गया है। मार्गेन्थो के मतानुसार दो कारणों से लोग विश्व जनमत के अस्तित्व को मानने की भूल करते हैं—

(१) विश्व की मनोवैज्ञानिक एकता (Psychological Unity of the World)—आज संसार में प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता, शांति और व्यवस्था चाहते हैं। ये बातें ऐसी हैं जिन्हें सभी व्यक्ति चाहते हैं और इस प्रकार ये बातें एक प्रकार की विश्व जनमत हैं। इनमें से किसी का भी उल्लंघन विश्व-जनमत का उल्लंघन है और यह निश्चित है कि विश्व-जनमत उल्लंघन-कर्ता के प्रतिकूल अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करेगा। मूल रूप में मनुष्य मात्र की इच्छा का दमन विश्व जनमत को स्वीकार नहीं होगा।

(२) विश्व का तकनीकी एकीकरण (Technological Unification)—तकनीकी विकास के कारण अब विश्व का जन-मानस एक दूसरे के काफी निकट आ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय संचार साधनों ने विभिन्न राष्ट्रों के व्यक्तियों को एक दूसरे को भली-भाँति समझने और सूचित होने का अवसर प्रदान किया है, अतः पारस्परिक मतभेदों को सुगमतापूर्वक दूर करना संभव हो सका है। तकनीकी विकास ने, इस प्रकार, विश्व जनमत को यथार्थ के निकट ला दिया है और उसमें निकटता उत्पन्न की है।

यद्यपि उपरोक्त दो तत्वों के कारण संसार के लोगों में सामिप्य-भावना का विकास हुआ है लेकिन इनके आधार पर यह मानना भ्रामक होगा कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय घटना पर विश्व-जनमत सदैव एक रूप रहता है या रहेगा। विश्व-जनमत में विश्वास करने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि विश्व में हर कहीं अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में जनमत को राष्ट्रीय नीतियों के अभिकरणों द्वारा मोड़ दिया गया है। विश्व-जनमत का प्रभाव राष्ट्रीयता और सम्प्रभुता की आग पर पड़कर जल की भाँति भाप बन जाता है।

प्रस्तुत अध्याय के सम्पूर्ण विवरण के उपरान्त निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि एक राष्ट्र की शक्ति के प्रयोग पर अनेक सीमाएं लगाई गई हैं। इन सीमाओं के कारण विश्व में व्यवस्था कायम रहती है। यद्यपि यह

व्यवस्था अनेक बार भग हो जाती है तथा विश्व शाति के लिये गम्भीर खतरे पैदा हो जाते हैं किन्तु शक्ति की विभिन्न सीमाओं में से किसी एक अथवा एक से अधिक के सहयोग से विश्व को विनाश से बचा लिया जाता है। व्यक्तिगत जीवन की भांति अन्तर्राष्ट्रीय जीवन पर भी इकाइयों का व्यवहार विश्व समाज की परम्पराओं, रूढ़ियों, मूल्यों एवं विश्वासों के द्वारा पर्याप्त प्रभावित होता है। विश्व-शाति के लिये यह परम आवश्यक है कि राष्ट्रीय शक्ति की इन सीमाओं को सक्रिय एवं प्रभावशील बनाया जावे।

PAPT V

Contemporary Emerging Trends. Resurgence of Asia. Africa and Latin America. Rise of Soviet Union and USA; Cold War; Rebuilding and reorganization of Western Europe, Impact of Nuclear weapons; Non alig nment, its elements and changing patterns; Bipolarits and polycentrism; Sino Soviet conflict; U N s impact on International Politics; Problems of Vietnam and West Asia.

PART V

Contemporary Emerging Trends: Resurgence of Asia, Africa and Latin America; Rise of Soviet Union and USA; Cold War; Rebuilding and reorganization of Western Europe; Impact of Nuclear weapons; Non alignment; its elements and changing patterns; Bipolarity and polycentrism; Sino Soviet conflict; U N s impact on International Politics; Problems of Vietnam and West Asia.

(२) दूसरा महत्वपूर्ण कारण मनुष्य के विश्वासों और आचार-विचारों में होने वाला परिवर्तन है। आज मनुष्य भाग्यवाद और प्राकृतिक शक्तियों के भय से बहुत कुछ मुक्त हो चुके हैं। प्राकृतिक भयों, धार्मिक अन्ध-विश्वासों, भाग्यवाद आदि के स्थान पर तर्क, बुद्धि और वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित निर्णयों को महत्व दिया जाने लगा है। स्वतन्त्रता, प्रेम और नवीन जागृति के अंकुरों का आरोपण हुआ है तथा सम्पूर्ण जीवन दर्शन ही बदल गया है। आध्यात्मवाद की कल्पनाओं और विवेचनाओं से भरे भौतिकवाद को प्राथमिकता दी जाने लगी है। पहले यह विकास और जागरण केवल यूरोप तक ही सीमित था किन्तु अब एशिया और अफ्रीका जैसे अन्धकार के गर्त में पड़े हुए महाद्वीपों में भी जागरण और विकास की क्रान्तिकारी लहर व्याप्त हो चुकी है। पराधीन देशों की जनता में स्वाधीनता के भाव घर कर गये हैं और राष्ट्रवादी शक्तियाँ प्रबल हो गई हैं।

(३) तीसरा महत्वपूर्ण कारण वर्ग-भेद की भावनाओं को माना जा सकता है। साम्यवाद के उदय के बाद से वर्ग-भेद के विचार ने जो राजनीतिक रंग लिया, उसके कारण वर्तमान शताब्दी की चतुर्थ दशाब्दी तक विश्व स्पष्ट रूप से दो गुटों में विभाजित हो गया। एक ओर शक्ति और सामर्थ्य से पूर्ण साम्राज्यवादी देश थे तथा दूसरी ओर पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए शक्तिहीन शोषित राष्ट्र। इन दोनों ही गुटों के हित परस्पर विरोधी थे। पहले गुट में जागरूकता शुरू से ही थी जब कि दूसरे गुट में जागरूकता बाद में आयी। जागरूकता आने के बाद दूसरे गुट के राष्ट्र भी अंगड़ाई लेकर उठ खड़े हुए और तब साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी चंगुल से निकल पड़ने की एक प्रक्रिया शुरू हुई जो आजतक जारी है। आज पहले गुट के सामने समस्या है अपने प्रभाव क्षेत्रों को येन-केन प्रकारेण बनाये रखने की जब कि दूसरे गुट के देशों की समस्या है सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अपना विकास करके अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सम्मानपूर्ण स्थान पाने की। दूसरे गुट के राष्ट्रों की भावनायें साम्यवादी देशों के साथ विशेषकर रूस के साथ अधिक जुड़ी हैं, पर उसे यह ध्यान रखना होगा कि रूसी शिकंजा भी उसी ढंग से खतरनाक हो सकता है जिस ढंग से पश्चिम का पूंजीवादी शिकंजा हुआ था।

(४) चौथा मुख्य कारण विश्व-युद्ध है। मार्गेन्थो ने ठीक ही लिखा है कि युद्ध सदैव यथा-स्थिति को बदलने का लक्ष्य रखते हैं। युद्धों के कारण छोटे राष्ट्र बड़े बन जाते हैं और बड़े राष्ट्रों का पतन हो जाता है। वर्तमान शताब्दी में दो महायुद्ध विश्व-राजनीति के विभिन्न आदर्शों और व्यवहारों

को झटका दे चुके हैं। इनके कारण अनेक राजनीतिक व्यवहार असामाजिक बन चुके हैं और बहुत सी नयी व्यवस्थायें आविष्कृत हो चुकी हैं।

(५) विश्व स्थितियों में परिवर्तन का पाँचवा उल्लेखनीय आधार विश्व संस्था को माना जा सकता है। राष्ट्रसंघ अपनी कमजोरियों और सदस्य-राष्ट्रों की स्वार्थ लिप्साओं व असहयोग के कारण अपने उद्देश्य में असफल रहा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ का संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में पुनर्जन्म हुआ। इस बार राष्ट्रसंघ की असफलताओं और अनुभवों से लाभ उठा कर विश्व संस्था को अधिक दृढ़ और प्रभावी बनाने का प्रयास किया गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ विश्व के राष्ट्रों में स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना का प्रसार करके उनके बीच परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करना चाहता है। इस दृष्टि से साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी मनोवृत्तियों का विनाश आवश्यक समझा जाने लगा है और सभी देशों का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उत्थान अनिवार्य माना जाने लगा है। विश्व के दो गुटों में विभाजित हो जाने के कारण अविकसित और अर्द्ध विकसित देशों के विकास की ओर ध्यान दिया जाना अधिकाधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है। प्रत्येक गुट अपना प्रभाव बढाने और दूसरे गुट के प्रभाव को कम करने की दृष्टि से अर्द्ध विकसित तथा अविकसित देशों को यथासम्भव आर्थिक सहायता और अन्य सहयोग देने के लिए प्रयत्नशील है।

परिवर्तित विश्व राजनीति पर प्रभाव डालने वाले तत्व
(The Influencial Elements of Changed World Politics)

आज विश्व राजनीति के केवल आधार ही नहीं परिवर्तित हो रहे हैं, वरन् नवीन राजनैतिक रूपों तथा सम्बन्धों की भी धीरे-धीरे सृष्टि होती जा रही है। असल में हम जिस युग में रह रहे हैं वह क्रान्तियों तथा युद्धों का युग है जिसमें सामाजिक सुधार बड़ी तेजी से हो रहे हैं, नई-नई सन्धियाँ की जा रही हैं तथा विश्व का राजनैतिक एवं आर्थिक नक्शा बदलता जा रहा है। टी वी कालिजार्वी (T V Kalijarvi) ने वर्तमान विश्व के इन परिवर्तनों की व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दों में की है। उनका कहना है कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पुनर्गठन हो रहा है जिसमें कि पहले की राज्य व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था धीरे धीरे नवीन राजनैतिक रूपों में बदलती जा रही है। साम्राज्यों का पतन हो रहा है और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्र राज्य एक बड़े संघ में विलीन होते जा रहे हैं।" विश्व का यह रूप-परिवर्तन कल्याण की ओर है अथवा विनाश की दिशा में, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वास्तव में आज अणु-शक्ति के रूप में मनुष्य के पास बड़ी भारी शक्ति केन्द्रित हो चुकी

है किन्तु उसमें आत्म-नियन्त्रण का विकास अभी तक नहीं हो पाया है और इसीलिए इस शक्ति का दुरुपयोग करने का भय सदैव ही बना हुआ है। तथ्य यह है कि विश्व के आधुनिक परिवर्तन इतने अनिश्चित प्रवाह में बह रहे हैं कि आशावादी और निराशावादी दोनों ही प्रकार की सम्भावनायें की जा रही हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा सम्बन्धों पर इन दोनों दृष्टिकोणों का प्रभाव है तथा दोनों ही पक्षों ने विश्व राजनीति पर प्रभाव डालने वाले वर्तमान तत्वों को प्रभावित करने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाले ये तत्व अनेक प्रकार के हैं। इनमें से विश्व राजनीति पर समस्यात्मक रूप में छाये हुए कुछ महत्वपूर्ण तत्व ये हैं।

(१) राष्ट्रवाद—राष्ट्रवाद की भावना निश्चय ही आज के विश्व की सबसे बड़ी विशेषता है। घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही प्रकार की राजनीति राष्ट्रवाद के प्रभाव से पूरी तरह आक्रान्त है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में राष्ट्रवाद का मूल्य इस दृष्टि से अधिक बढ़ गया है कि वैज्ञानिक आविष्कारों के बल पर आज राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता नहीं रह गयी है। राष्ट्रवाद एक देश की स्वतन्त्रता की रक्षा में ढाल का काम करता है। इसके पीछे एक होकर सम्पूर्ण राष्ट्रवाद की जनता अपनी स्वतन्त्रता के अपहरण-कर्ता का विरोध करने लगती है। इसी प्रकार यदि किसी देश की स्वतन्त्रता का पहले ही अपहरण हो चुका हो तो भी इस भावना के आधार पर उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है।

राष्ट्रवाद एक देश को युद्ध करने की शक्ति देता है, उसे प्रेरणा देता और उन एकता के सूत्र में बाँधता है किन्तु शत्रु शक्ति की भांति राष्ट्रवाद का रचनात्मक और विध्वंसात्मक दोनों ही रूप हैं। विध्वंसात्मक रूप में यह एक देश को दूसरे देश पर आक्रमण के लिए उकसाता है और उसे साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की ओर अग्रसर करता है। अति राष्ट्रीयता का अन्तिम परिणाम साम्राज्यवाद तथा महा विनाशक महायुद्ध होता है। अपने रचनात्मक रूप में राष्ट्रवाद देशभक्ति की भावना है, देशवासियों को एक करने वाला सयोजक तत्व है तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद का विकास करने वाला यह देश को स्वतन्त्रता प्राप्त करने, उसे बनाये रखने और देश का विकास करने की नयी प्रेरणाओं का प्रतीक है। राष्ट्रवाद की भावना का रचनात्मक विकास एशिया और अफ्रिका को बदलने वाला प्रमुख तत्व रहा है, हालांकि साम्यवादी चीन जैसे देशों में यह सृजनात्मक रूप विध्वंसात्मक रूप में परिणत हो गया है।

(२) आत्म निर्णय का अधिकार —प्रथम महायुद्ध के बाद से ही राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को मान्यता मिली है जिसके अनुसार प्रत्येक राष्ट्रीयता को यह अधिकार है कि वह स्वयं इस बात का निर्णय करे कि क्या उसे दूसरी राष्ट्रीयता के अधिकार में रहना है अथवा स्वयं की सरकार बनाकर उसके अधीन रहना है। इस अधिकार के सहारे अनेक पराधीन राष्ट्रों के स्वाधीनता आन्दोलन को एक दृढ़ आधार प्राप्त हुआ है और आज यह अधिकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी भी समय की अपेक्षा अधिक सशक्त स्थान ग्रहण किये हुए है।

(३) साम्यवाद और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया —१९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद रूस में जो साम्यवाद पनपा, वह आज विश्व राजनीति पर प्रभाव डालने वाला एक अत्यन्त शक्तिशाली तत्व है। मजदूरों और किसानों का समर्थन तथा पूंजीपतियों के शोषण का विरोध आदि साम्यवाद के कुछ ऐसे आकर्षक तरीके हैं जिनकी ओर साधारण जनता का ध्यान जाये बिना नहीं रह पाता। विश्व के पराधीन राष्ट्रों को स्वाधीनता का आश्वासन देकर और उनमें साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध प्रचार करके साम्यवाद ने राष्ट्रीयता की भावना को बल दिया और आज यह विचार धारा एशिया और अफ्रीका में अपना विशेष प्रभाव जमा चुकी है। साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव के प्रतिक्रिया स्वरूप पश्चिमी शक्तियां अपने प्रभाव की रक्षा के लिए तेजी से सन्नद्ध हुई हैं जिसका यह स्वाभाविक परिणाम है कि एशिया और अफ्रीका साम्यवादी और पूंजीवादी खेमे के विभिन्न संघर्षों का रंगमंच बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सम्भवतः कोई भी क्षेत्र इन दोनों खेमों की क्रिया-प्रतिक्रिया से बचा हुआ नहीं है। यह क्रिया प्रतिक्रिया विशेषतः तीन रूपों में अधिक प्रभावशील है—

(१) पश्चिमी शक्ति और उनके साथियों द्वारा अनेक ऐसी सन्धियों और सगठनों का विकास किया गया है जिसका मुख्य लक्ष्य साम्यवाद के प्रसार को रोकना है। इन सगठनों के जवाब में साम्यवादी खेमे द्वारा वारसा पैक्ट आदि अन्य सुरक्षात्मक संगठन कायम किये गये हैं।

(२) गरीब और हीन देशों को जाना साम्यवाद की ओर तुरन्त आकर्षित होता है—यह समय लेने के बाद पश्चिमीय शक्तियां अर्ध विकसित देशों को हर प्रकार से सहायता देने लगी हैं ताकि उनका जीवन स्तर और मनोबल ऊंचा उठे। पश्चिमी शक्तियों के प्रयासों के जवाब में साम्यवादी देश भी एशिया और अफ्रीका के पिछड़े राष्ट्रों की आर्थिक व सैनिक मदद पर उतर आये हैं। इनमें रूस का स्थान सर्वोपरि है।

(३) शीत युद्ध और शस्त्रीकरण का प्रसार हुआ है। लेकिन साथ ही सह‌अस्तित्व की विचारधारा भी पनपी है—विशेषकर इस अनुभूति के बाद कि दोनों ही खेमे एक दूसरे को नष्ट करने में सक्षम हैं। अब महायुद्ध का अर्थ होगा महाविनाश।

(४) शीतयुद्ध —द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व शीत युद्ध (Cold war) है। इस पर सविस्तार प्रकाश आगे "शीत युद्ध" नामक अध्याय में डाला गया है।

(५) शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व —अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में पूंजीवादी और साम्यवादी खेम का जो विरोध चला है और उसमें शीत-युद्ध के ज्वार और फलस्वरूप युद्ध आशंका का जो विस्तार हुआ है, उसके कारण शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की विचार धारा पनपी है। यह विचारधारा आज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना एक विशेष स्थान बना चुकी है। महायुद्ध की सम्भावना से आतंकित होकर दोनों ही खेमों के राजनीतिज्ञ यह सोचने को मजबूर हो गये हैं कि एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार किया जाए। भारत जैसे असलग्न राष्ट्रों ने शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व के विचार को सबसे अधिक पुष्पित-पल्लवित किया है।

सोवियत रूस में स्टालिन और स्टालिनवाद की समाप्ति के बाद जो नया उदारवाद आंशिक रूप में उभरा है, उसने असंलग्न देशों के प्रति मैत्री प्रदर्शित की है तथा सह-अस्तित्व की विचारधारा में विश्वास प्रकट किया है। दुर्भाग्यवश साम्यवादी चीन इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। वह युद्ध और क्रान्ति की अनिवार्यता में विश्वास करता है। सोवियत रूस से, मुख्यतः सह-अस्तित्व के प्रश्न को लेकर ही, सैद्धान्तिक संघर्ष छिड़ गया है और उसने वर्तमान सोवियत नेताओं को संशोधनवादी (Revisionist) तथा पूँजीवाद का समर्थक बताकर उन्हें विश्व साम्यवादी क्रान्ति का नेतृत्व करने के अयोग्य ठहरा दिया है। साम्यवादी खेमे की यह फूट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को नयी दिशा में प्रभावित करने लगी है। इसने रूस को पश्चिम के निकट आने को विवश किया है और दूसरी ओर पश्चिमी राष्ट्र भी युद्ध पिपासु चीन की तुलना में सोवियत रूस को अधिक तरजीह देने लगे हैं। विचारकों का मत है कि साम्यवादी संसार में यह सैद्धान्तिक दरार अस्थाई है तथा सोवियत रूस के मूलभूत लक्ष्यों में कोई अन्तर नहीं आया है। श्री एट-जिनी (Amitai Etzioni) इस बात पर बल देना चाहते हैं कि "सोवियत रूस को घेरे-बन्दी और विरोधियों द्वारा मजबूर किया गया है कि वह अपनी विस्तारवादी नीतियों को छोड़कर शस्त्र-विहीन प्रयत्नों की ओर अधिक ध्यान दे।"

(६) विश्व सरकार—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारकों में विश्व-सरकार की धारणा ने भी बड़ी हलचल मचा रखी है। यह कहा जाता है कि यदि विश्व में स्थाई रूप से शान्ति कायम करनी है और तृतीय महायुद्ध में अणुशक्ति के प्रकोप से मानवता को बचाना है तो विश्व के सभी राष्ट्रों को मिलाकर एक विश्व-संघ का निर्माण किया जाना चाहिए। इस प्रकार के संघ की कल्पना एक संघात्मक विश्व सरकार (World Government) की कल्पना है, जिसमें यह बात निहित है कि एक विश्व संघ सारे संसार की एक केन्द्रीय सरकार की तरह कार्य करे और वर्तमान राष्ट्रीय सरकारें राज्य सरकारों की तरह कुछ विषयों में—विशेषकर वैदेशिक क्षेत्र में—विश्व सरकार के अधीन बन जाएं। विश्व सरकार के समर्थकों का कहना है कि वर्तमान विश्व में संघर्षों और युद्धों का मुख्य कारण राष्ट्रवाद है और जब तक सम्प्रभु राष्ट्र विश्व में रहेंगे तब तक यह कारण भी बना रहेगा, अतः अच्छा यही है कि इस विषैले दांत को ही समाप्त कर दिया जाए। विचारकों का दूसरा पक्ष इसे त्रुटिपूर्ण और अव्यावहारिक सुखद कल्पना मानता है। विश्व सरकार के आदर्श के पक्षपातियों की धारणा है कि विभिन्न क्षेत्रीय संगठन विश्व सरकार की ओर प्रारम्भिक प्रयास माने जा सकते हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्र संघ की स्थापना विश्व सरकार की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था और आज संयुक्त राष्ट्रसंघ यदि अपनी 'ब्लाक पालिटिक्स' (Block Politics) को छोड़कर अधिक निष्पक्षता और तत्परता से कार्य करने लगे तो यह स्वप्न बहुत शीघ्र ही यथार्थता में बदला जा सकता है।

(७) निःशस्त्रीकरण—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को निःशस्त्रीकरण की समस्या कितनी अधिक प्रभावित कर रही है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। सबसे दिलचस्प बात यह है कि एक ओर तो सभी यह मानते हैं कि विश्व शान्ति के हित में शस्त्रों को समाप्त या सीमित कर दिया जाना चाहिए, और दूसरी ओर सभी शस्त्रों के अधिकाधिक संग्रह में लगे हैं। निःशस्त्रीकरण की समस्या ने शीत युद्ध को और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसका प्रभाव आदि पर सविस्तार प्रकाश पिछले 'निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी' पृष्ठों में डाला जा चुका है।

निष्कर्षतः यह सभी तत्व और इनके साथ जुड़े अन्य सहयोगी तत्व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के घटना चक्र को पूरी तरह प्रभावित किये हुए हैं। इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अस्थिर और अनिश्चित बना रखा है।

एशिया की जागृति
(Resurgence of Asia)

एशिया, पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्यसागर तक तथा

उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्द महासागर के मध्य बसा हुआ विश्व का सबसे बड़ा महाद्वीप है। दुनियाँ की आधी से अधिक जनसंख्या इस महाद्वीप पर निवास करती है। सभी प्रकार के धर्मों और सभी संस्कृतियों तथा भाषाओं का यह महाद्वीप घर है। इस महाद्वीप पर विभिन्न प्रकार के खनिज, भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु पाई जाती है। यहाँ के अधिकांश देश अति जनसंख्या और आर्थिक विपन्नता के कारण पीड़ित हैं। इन देशों का राजनीतिक जीवन जनता के सामाजिक और आर्थिक पिछड़ेपन से प्रभावित है। लोग प्रायः रूढ़िवादी हैं, अतः प्रजातान्त्रिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना और उनका सफल संचालन बड़ा कठिन है। शासन व्यवस्था के रूप में चाहे जो भी परिवर्तन कर दिया जाए, शासन-सत्ता प्रायः उन्हीं लोगों के हाथ में बनी रहती है जो पहले से वहाँ शासन करते आये हैं। भ्रष्टाचार इन देशों में कोई अपवाद नहीं है वरन् एक सामान्य नियम के रूप में घर कर चुका है।

एशिया महाद्वीप और पश्चिमी संसार अथवा पूर्व और पश्चिम के बीच भारी अन्तर यह है कि जहाँ एक ओर तो लोग अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं के लिए भी तरसते रहते हैं वहाँ दूसरी ओर वे लोग हैं जो अधिकाधिक सम्पत्ति-संग्रह में लगे हुए हैं। यह वर्ग और अनुभव के बीच का अन्तर है। एशिया के लोगों को विकास के लिए शान्ति और सहयोग की आवश्यकता है। उनको युद्ध और संघर्ष से जितना खतरा है उतना अन्य किसी को नहीं है।

एशिया का यह पिछड़ापन अतीत से विरासत में मिला है। हुआ यह कि १८ वीं व १९ वीं शताब्दियों में जब यूरोप तथाकथित 'औद्योगिक क्रान्ति' (Industrial Revolution) के प्रभाव से मध्यकालीन अवस्था त्याग कर आधुनिक अवस्था में पहुँच रहा था तो ऐसे समय एशिया ने अपनी अर्थ-व्यवस्था, संस्कृति एवं राजनैतिक-संगठन सम्बन्धी प्राचीन प्रथाओं का परित्याग करने से इन्कार कर दिया जिसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि यूरोप प्रगति करता चला गया और एशिया पिछड़ता गया।

एशिया आर्थिक दृष्टि से ही नहीं पिछड़ा वरन् वह राजनीतिक दृष्टि से भी पश्चिम के हाथों शनैः शनैः पूरी तरह पराभूत हो गया। पश्चिम ने एशिया को पराजित करके उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी समाप्त कर दिया। शनैः शनैः जापान, थाइलैंड, ईरान, नेपाल और चीन को छोड़कर लगभग सम्पूर्ण एशिया पाश्चात्य राष्ट्रों के स्वामित्व में आ गया। अंग्रेज भारत, बर्मा, श्रीलंका, मलाया, सिंगापुर और हांगकांग में जम गये, फ्रांसीसियों ने हिन्दचीन में डेरा जमा लिया, डचों ने ईस्ट इण्डीज में पैर जोर लिये। रूसियों ने चीन के आमूर प्रान्त सहित साइबेरिया या बाह्य मंगोलिया में और स्पेनिश लोगों ने (बाद में अमेरिकनों ने) फिलिपाइन्स में अपने अड्डे जमा लिये। यहाँ तक कि पुर्त-

गाल जैसे छोटे से राज्य ने भी अपने उपनिवेश कायम कर लिये। वे देश भी, जो जाहिरा तौर स्वतन्त्र थे, व्यावहारिक दृष्टि से विदेशी राष्ट्रों के आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। पश्चिमी एशिया अथवा मध्य-पूर्व के राष्ट्र, जो प्रथम महायुद्ध से पहले 'ओटोमन साम्राज्य' के अधीन थे, १९१९ में पेरिस शान्ति सम्मेलन द्वारा अन्वेषित एक नवीन व्यवस्था-संरक्षण पद्धति (Mandate System) के अन्तर्गत अब यूरोप के शोषक शासकों के नियन्त्रण में आ गये। केवल जापान ही एक ऐसा राष्ट्र रहा जिसने पाश्चात्य आधुनिकवाद से पूर्ण शिक्षा लेते हुये स्वयं को औद्योगीकृत किया, अपने पिछड़ेपन के सभी चिन्हों को मिटाया और शेष एशियाई राष्ट्रों के दुर्भाग्य से अपने आपको बचाने में सफल हो गया। यही नहीं वह कालान्तर में औद्योगिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में पश्चिम का एक घोर प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हुआ।

एशिया पश्चिम की चक्की में पिसता रहा, लेकिन आखिर उसने भी करवट ली। एशिया के सभी देशों पर पाश्चात्य विचारों और व्यवहारों का प्रभाव पड़ा। पश्चिमी देशों ने यहां की सभ्यता, संस्कृति, धर्म, शिक्षा, प्रशासन, अर्थ व्यवस्था आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन किये। यद्यपि इन परिवर्तनों का आरम्भ में विरोध किया गया क्योंकि ये एशिया वासियों की परम्पराओं और विश्वासों से मेल नहीं खाते थे, किन्तु धीरे-धीरे जाने या अनजाने इन परिवर्तनों का प्रभाव एशियायी समाज पर पड़ने लगा। 'जिसका जूता उसी का सिर' वाली कहावत चरितार्थ करते हुए एशिया के लोगों ने पाश्चात्य प्रभावों का प्रयोग उनके साम्राज्य को उखाड़ने को किया और इस कथन में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि वर्तमान एशियायी क्रान्ति की जड़ में पश्चिमी विचारों का प्रभाव निहित है। सर्वप्रथम एशियायी देशों में राष्ट्रवाद की एक लहर आयी और तब ऐसे स्वातन्त्र्य आन्दोलन का सूत्रपात हो गया कि जिसने उपनिवेशवादी एशिया के जागरण के सन्दर्भ में यह देखना रोचक और आवश्यक होगा कि एशिया में किस तरह स्वातन्त्र्य आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, किस तरह एशिया जागृति के पथ पर आगे बढ़ा और अपने वर्तमान स्वरूप तक पहुंच सका।

एशिया में स्वातन्त्र्य आन्दोलनों का सूत्रपात और उपनिवेशवाद का ढहना

एशिया के राष्ट्र पहले से ही आर्थिक दृष्टि से अविकसित अवस्था में थे। पाश्चात्य शक्तियों ने उन पर अपना आधिपत्य जमाने के बाद उनके आर्थिक शोषण की नीति अपनाई। इस नीति ने क्रमशः इतना भयावह रूप ले लिया कि एशिया के अनेक समृद्ध राज्यों को भी भुखमरी पीड़ा और विभिन्न कष्टों का शिकार होना पड़ा। जब तक एशियावासियों ने विदेशी सत्ता के वास्तविक स्वरूप और प्रकृति को नहीं पहचाना तब तक वे चुपचाप और

निष्क्रिय रहे, लेकिन जब उन्हें वास्तविकता का भान हुआ अपने बढ़ते हुए कष्टों को विचलित कर देने वाली अनुभूति हुई तो शीघ्र ही वे यह निराकरण समझ गये कि उनकी इन सब कठिनाइयों का तभी सम्भव हो सकेगा जब वे विदेशी शासन से मुक्तिपन समझेंगे। इस प्रकार की चेतना बहुत कुछ पश्चिमी ज्ञान, साहित्य, कानूनों और संस्थाओं के कारण पैदा हुई। पूर्व को 'पश्चिम' के राष्ट्रवादी विचारों और उसके उच्च जीवन स्तर ने सर्वाधिक प्रभावित किया। प्रो० शूमैन (Schuman) के शब्दों में—"इन पिछड़े हुए राष्ट्रों के नये बुद्धि-जीवियों ने विज्ञान, युद्धकला तथा राजनीति में पश्चिमी राष्ट्रों की दक्षता तथा निपुणता का ज्योंही एक आंशिक भाग प्राप्त किया त्योंही उनमें इस बात की मांग करने वाले नेतागण भी पैदा हो गये कि उन्हें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिये।"

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की पहली लहर आई। एशियावासी 'पश्चिम' की सम्पन्नता और अपनी निर्धनता तथा दीन-हीन अवस्था से परिचित होने के बाद 'आत्म निर्णय' की मांग करने लगे। 'भारत भारतीयों के लिए,' 'चीन चीनियों के लिए,' आदि आवाज बुलन्द होने लगी। एशिया करवट लेकर 'विश्व में अपने उचित स्थान' की मांग करने लगा। सम्पूर्ण महाद्वीप में एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक पाश्चात्य प्रवृत्ति से छुटकारा पाने की एक उद्दाम लालसा जाग्रत हो गई जिसने एक बड़े स्वातन्त्र्य आन्दोलन और संघर्ष का रूप धारण कर लिया। यद्यपि विभिन्न एशियाई राज्यों के इन राष्ट्रवादी आन्दोलनों का स्वरूप एकसा नहीं था, तथापि उनका उद्देश्य अवश्य एकसा था—पश्चिम के उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और जाति-भेदभाव का विरोध करना। फलस्वरूप एशिया के लगभग सभी पराधीन राज्यों ने, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति पर क्रान्तिकारी पुनर्विचार की मांग की। एशियाई राष्ट्रों की इन नवीन भावना की स्पष्ट अभिव्यक्ति अगस्त १६२६ में यूरोप में बायरविले (Biervielc) नामक स्थान पर आयोजित शान्ति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन' में एशियाई प्रतिनिधियों के उस मांग-पत्र में हुई जिसमें यह घोषणा की गई कि—

"यूरोपियन विचारकों के अनुसार विश्व सम्भवतः उन्हीं देशों तक सीमित है जिनमें यूरोपियन जातियां निवास करती हैं। मानव संख्या के बहुमत तथा अपनी सर्वाधिक प्राचीन सभ्यताओं वाला एशिया महाद्वीप यूरोपियन विचारकों के अनुसार विश्व का भाग नहीं है। हमारा यह नम्र निवेदन है कि यह दृष्टिकोण गलत है। यदि विश्व स्थाई शान्ति का इच्छुक है तो वहां स्थानीय या क्षेत्रीय शान्ति नहीं होनी चाहिये—यदि आप

शांति चाहते हैं तो पहले आपको उन कारणों को दूर करना चाहिये जिनसे एशिया में यूरोप के प्रति विरोध पैदा हुआ है—यदि आप एशिया व यूरोप में एक सहयोगी बन्धुत्व की स्थापना करने में सफल हो जाते हैं तो आप विश्व-शांति की दिशा में सबसे बड़ा कदम उठा लेंगे। जो चीज इस सहयोग के मार्ग को अवरुद्ध किए हुए है वह एशिया के शोषण तथा अधिक से अधिक राज्यों को अधीनस्थ बनाने के पश्चिमी राष्ट्रों की गुटबन्दी है।"

एशियाई प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किया गया उपरोक्त विचार सम्पूर्ण विश्व को इस बात का निश्चित संकेत था कि एशिया अब जागने लगा है और अपनी महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अब वह हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने की मन स्थिति में नहीं है। एशिया के तेजी से होने वाले नव जागरण ने एशिया के इस निश्चय को शीघ्र ही प्रकट कर दिया। द्वितीय महायुद्ध ने, जिसमें यूरोपियन राष्ट्रों के दो गुट परस्पर मरणान्तक संघर्ष में जूझ रहे थे, सदियों से उपेक्षित और शोषित एशिया महाद्वीप को अपना उद्देश्य प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान किया। सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध व अग्रणी जापान ने हिन्दचीन से फ्रांसीसियों को निकाल फेंका, डच ईस्ट इंडीज को कब्जे में कर लिया, ब्रिटेन के 'अजय' सिंगापुर को जीत लिया और फिलीपाइन्स में अमेरिका जैसी महा शक्ति को पछाड़ दिया। दूसरी ओर १९४२ के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव हिला दी। ऐसा लगने लगा कि श्वेत जातियों का सितारा अब डूबने को है। परन्तु दुर्भाग्यवश एशिया महाद्वीप को अभी कुछ वर्षों तक साम्राज्यवादी दुर्दिन और देखने थे। १९४५ में पश्चिमी शक्तियों की विजय के पश्चात् साम्राज्यवाद की पुरानी व्यवस्था पुनः ज्यों का त्यों स्थापित रह गई।

लेकिन अब यह स्थिति अधिक समय तक जारी रहने वाली न थी। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर आई हुई स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की लहर ने द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रबल बाढ़ का रूप धारण करके समस्त एशिया और अफ्रीका को आप्लावित कर दिया। द्वितीय महायुद्ध में श्वेत जातियों को जिन प्रारम्भिक गहरी पराजयों का सामना करना पड़ा था उससे एशियाई जनता को यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र अथवा 'गोरी-चमड़ी' अजेय नहीं है। इस अनुभूति के फलस्वरूप स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में नये प्राण फूंके गये। थके हुए यूरोप के लिये उनको दबाना मुश्किल हो गया और आजादी की लहर चली कि एक के बाद एक सभी राष्ट्रों के स्वप्न पूरे होते चले गये। वास्तव में यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि १९१९ के बाद एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों में साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ

हुई और १९४५ के बाद इनका सम्पूर्ण स्फुरण होने लगा। पश्चिम की प्रभुता और साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया के इस विद्रोह को अमेरिकन पत्रकार राबर्ट पेन (R Payne) ने वर्तमान युग की सबसे बड़ी घटना बताते हुए लिखा है कि एशिया को अब अपने महत्व का ज्ञान हो गया है और 'एशिया की शताब्दी' आरम्भ हो गई है। एशिया के इस नवजागरण को देखते हुए ही विख्यात इतिहासकार अर्नाल्ड टायनबी (A. Toynbee) ने यह भविष्य-वाणी की है कि "आजकल हम (पश्चिमी देश) साम्यवाद को चुनौती को अधिक महत्व दे रहे हैं। किन्तु जब भारत और चीन की अधिक शक्तिशाली सभ्यताएं पश्चिमी जगत की चुनौती का उत्तर देने लगेंगी तो साम्यवाद का महत्व कम हो जायेगा। अन्ततोगत्वा ये सभ्यताएं हमारे पाश्चात्य जीवन पर उससे कहीं अधिक गहरा प्रभाव डालेंगी जितना प्रभाव रूस अपने साम्यवाद द्वारा हमारी सभ्यता पर डाल सकता है।" एशिया की जागृति को स्वर्गीय श्री नेहरू ने १९४७ में प्रथम 'एशियाई-सम्बन्ध सम्मेलन' (Asian Relations Conference) में घोषणा की थी कि "एक परिवर्तन हो रहा है, एशिया अपने स्वरूप को पुनः पहिचान रहा है। हम परिवर्तन के महायुग में रह रहे हैं और इसमें नवयुग तब आएगा जब एशिया अन्य महाद्वीपों के साथ अपना उचित स्थान ग्रहण करे। विश्व इतिहास के इस संकट में एशिया अवश्य महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।"

भविष्य ने इन सभी भविष्यवाणियों को सच कर दिखाया। आज एशिया के अधिकांश भू भाग स्वतंत्र वातावरण में सांस ले रहे हैं। पश्चिमी देशों की प्रगति की बराबरी करने की बलवती भावना है। वे अपने को औद्योगिक एवं यान्त्रिक दृष्टि से इतना विकसित कर लेना चाहते हैं कि इनके और औद्योगिक विकास के शिखर पर को प्राप्त पश्चिमी देशों के बीच कोई अन्तर न रह जावे। इस भावना को अधिक तीव्र बनाने में राष्ट्रवाद और भी अधिक समर्थ होता जा रहा है। परिणामतः आज उपनिवेशवाद या पश्चिमी देशों के दबाव से मुक्त होने की भावना प्रबल नहीं है वरन् उससे भी अधिक अपने पुराने ढंग के रहन-सहन को बदलने के लिए प्रगति विरोधी शक्तियों से पल्ला छुड़ाने को भी वे तत्पर हैं। सदियों की दासता और सामन्तवादी व्यवस्था के कुप्रभावों से अकी हुई अपनी रीढ़ को पुनः खड़ा करके आज का एशिया अपना कायाकल्प करने को कटिबद्ध है। आस्ट्रेलिया के विदेश मन्त्री श्री पी० सी० स्पेंडर के शब्दों में—'एक अरब से अधिक जनता एशिया में राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन करने में लगी हुई है। सर्वत्र नई राजनीतिक और आर्थिक नीतियों और नई संस्थाओं का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है और यह विकास राष्ट्रीय विचार की प्रेरणा

से तथा आर्थिक और सामाजिक सुधार की माग के कारण भविष्य मे भी चलता रहेगा।'

आज एशिया राष्ट्रवाद की लहरों से व्याप्त है। इसके देश अपने को आर्थिक दृष्टि से विकसित करने में प्राणपण से सलग्न हैं और अपनी आर्थिक समस्याओ को सुलझाने के लिये तेज कदमो के आकांक्षी है। परन्तु आकांक्षाओ के अनुरूप बनने मे जिन राजनीतिक व्यवस्थाओ को प्रश्रय दिया गया है उससे तनाव पैदा हो गया है। एक तरफ एशिया का विशाल जनमत लोकतन्त्रवाद के मार्ग का अनुगामी बनने के लिए सचेष्ट है और दूसरी तरफ साम्यवाद भी अपनी सत्ता जमाने की होड म व्यस्त है। यदि एशिया मे औद्योगिक क्रान्ति एव आर्थिक विकास के कदम स्वतन्त्रता के आगमन के पूर्व ही हो गये होते, तो विशेष परेशानी नही होती किन्तु आज विडम्बना यह है कि एक तरफ तो राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलती जा रही है और दूसरी तरफ लोगो का जीवन स्तर अब भी मध्यकालीन है। परिणामत आज का एशिया विभिन्न वादो के संघर्ष का क्रीडा स्थल बन गया है। साम्यवाद अपनी नवीन किन्तु नग्न भूमिका मे अवतरित हुआ है और समग्र एशिया को अपने मे समाविष्ट कर लेना चाहता है। पश्चिमी पूजीवाद लोकतन्त्र मे अधिक विकास के कदम सहम सहम कर उठाने की प्रवृत्ति रखने के कारण सफलता की दौड में साम्यवाद से पिछड सा रहा है। रूस की तरक्की का उदाहरण तो विश्व के सामने है ही, किन्तु उससे भी अधिक एशिया मे साम्यवादी चीन का बेहतरीन उदाहरण है। यदि पश्चिम के शक्तिशाली और समर्थ लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र चाहते हैं कि एशिया पूरा लाल रग मे न रग जाय तो यह अपेक्षित है कि उन्हे भारत जैसे लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रो की प्रत्येक सम्भव सहायता जी खोल कर करनी चाहिये ताकि वे लोकतन्त्र के अजेय स्तम्भ बन कर एशिया मे बढते हुए साम्यवाद पर प्रभावी अकुश लगा सकें।

एशियायी व्यक्तित्व का विकास

भिन्न भिन्न सांस्कृतिक भूमिकाओं, धार्मिक दृष्टिकोणों और राजनीतिक अनुभवो वाले लोगों का महाद्वीप एशिया, जब स्वतन्त्रता की अंगडाइयां लेने लगा तो स्वाभाविक रूप से अनेक प्रकार की अविघटनकारी शक्तियां सत्तारूढ स्वदेशी शासकों को चुनौती देने लगी। जाति वैमनस्य और शत्रुओं ने, साम्प्रदायिकता व स्वार्थ लिप्सा ने, पूजीवाद और साम्यवाद आदि ने अपना सिर उठाया। कुछ राज्यों में गृह युद्ध हुए, कहीं साम्प्रदायिक दगे और विद्रोह हुए तो कहीं भूख और निर्धनता से तप्त और पीडित जनता के प्रदर्शन हुए। राष्ट्रीय नेताओं को, जिन्होने "विदेशी शैतानों से लोहा लिया था अब स्वदेशी शैतानों का सामना करना पड़ा। जब उन्होंने अपने इर्द-गिर्द से विश्व पर

दृष्टि डाली तो उन्हें एक दूसरे को पराजित करने पर तुले हुए दो 'शक्ति-गुटों' का संघर्ष दिखाई दिया। यह संघर्ष एशियावासियों के लिए खतरनाक था क्योंकि उनकी भयावह समस्याओं के समाधान के लिए आन्तरिक स्थिरता और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अनिवार्य आवश्यकता थी। अपने को इन खतरनाक परिस्थितियों में पाकर एशियायी राष्ट्रों में एक प्रकार के सामुदायिक दृष्टिकोण से जूझ कर विजय पाने के लिए उन्हें पारस्परिक एकता, संगठन और सहयोग का परिचय देना होगा।

इस प्रकार की एकात्मकता की नवीन चेतना की अभिव्यक्ति मार्च, १९४७ में नई दिल्ली में आयोजित 'एशियायी मैत्री सम्मेलन' (Asian Relations Conference) में हुई। इस सम्मेलन में एक 'एशियायी मैत्री संगठन' (Asian Relations Organisation) की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गई—

(१) एशियायी समस्याओं और सम्बन्धों के महाद्वीपीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं के अध्ययन और ज्ञान को प्रोत्साहित करना,

(२) एशियायी राष्ट्रों में और एशिया तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों के बीच महत्वपूर्ण सहयोग को बढ़ावा देना, एवं

(३) एशियायी जनता की प्रगति और हितों में वृद्धि करना।

एशिया में जागरण और एकता की जो यह चेतना उदित हुई वह तेजी से विकसित होती गई और यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि अप्रैल, १९५५ में होने वाले बांडुग सम्मेलन में सबसे पहले विश्व के सामने एशियायी व्यक्तित्व बड़े तेजस्वी रूप में प्रकट हुआ। इस 'अफ्रो एशियायी सम्मेलन' में भारत सहित २९ राष्ट्रों के प्रतिनिधि शामिल हुए और पहली बार एशिया का महान साम्यवादी राष्ट्र चीन भी उपस्थित हुआ। 'बांडुग-सम्मेलन' में विभिन्न महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया और 'वास्तविक स्वतन्त्रता' की अभिप्राय की खोज की गई। 'अफ्रो एशियायी' राष्ट्रों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वास्तविक स्वतन्त्रता तभी है जब उसमें निम्नलिखित तत्वों का समावेश हो—

(१) विदेशी प्रभाव से मुक्ति एवं पूर्ण लोकतन्त्रात्मक स्व शासन,

(२) जाति, समुदाय और रंग का किसी प्रकार भेद भाव किये बिना मानव प्रतिष्ठा की मान्यता,

(३) तीव्र आर्थिक समृद्धि जिसका लाभ अधिकाधिक जनता को सुलभ हो, एवं

(४) युद्ध का उन्मूलन तथा सद्भावना का प्रसार।

बाडुंग सम्मेलन में उपनिवेशवाद के सभी रूपों का विरोध किया गया और काफी विचार विमर्श के बाद सम्मेलन ने यह विचार प्रस्थापित किया कि जनता की इच्छा के विरुद्ध शक्ति और विध्वंस द्वारा स्थापित शासन भी उपनिवेशवाद ही है। बाडुंग सम्मेलन ने सह अस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के सिद्धान्तों में विश्वास प्रकट किया।

२७ अप्रेल, १९५५ को बाडुंग सम्मेलन की समाप्ति पर लगभग सम्पूर्ण विश्व को यह विश्वास हो गया कि सोया हुआ एशिया और अफ्रीका अब जाग उठा है, एक नयी आवाज और एक नये सन्देश के साथ। यह आवाज विद्रोह और शस्त्र क्रांति की नहीं थी, यह आवाज शीत-युद्ध की नहीं थी, वरन् यह आवाज तो शान्ति, मैत्री, सद्भावना और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की थी। अफ्रो एशियायी राष्ट्रों के इस महान सम्मेलन के महत्व को इंगित करते हुए सुविख्यात विद्वान बार्नेट ने लिखा है—"बाडुंग सम्मेलन एशिया और अफ्रीका के पुनरुत्थान का प्रतीक था। यह एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक सम्मेलन था जिसमें एशिया और अफ्रीका के प्रमुख नेता पश्चिमी शक्तियों के प्रभाव से मुक्त बैठक में सम्मिलित हुए थे। यह इस बात का ज्वलन्त उदाहरण था कि विश्व के मामलों में अब एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों का प्रभाव बढ़ रहा है।'

एशिया महाद्वीप कुछ विशेषताएं—एशिया महाद्वीप के उपर्युक्त वर्णन से प्रकट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दृष्टिकोण से यहाँ अनेक झुकावों और दृष्टिकोणों का विकास हो रहा है। पामर और पर्किन्स ने इन्हें अनेक शीर्षकों में विभाजित किया है। उनके मतानुसार एशिया में क्रान्ति अभी तक चल रही है। पहले इसका विरोध केवल विदेशी साम्राज्यवाद के प्रति था, किन्तु आज यह विरोध पुराने विचारों, विश्वासों, गरीबी, अज्ञानता, अशिक्षा एवं ऐसी सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध संतुलित किया जा रहा है। राष्ट्रवाद एशिया में सर्वत्र प्रभावपूर्ण बनता जा रहा है यद्यपि साम्राज्यवादी शक्तियां अपने प्रभाव जमाये रखने को प्रयत्नशील हैं। सोवियत साम्यवाद का अधिकार अब भी विशेष रूप से प्रभावशील है। पामर और पर्किन्स के अनुसार सोवियत रूस ने साम्राज्यवाद का विरोध कर एशिया-वासियों की भावनाओं को अपने पक्ष में प्रभावित कर लिया है और अब जब कि पश्चिमी शक्तियों का प्रभाव वहां से हट रहा है, वह अपना प्रभाव दिनोदिन फैलाता जा रहा है। एशिया के लगभग सभी देश आर्थिक और सामाजिक न्याय चाहते हैं। वे राजनीतिक स्वतन्त्रता के पक्षपाती और साम्राज्यवाद के विरोधी हैं। इसी मूलभूत एकता के प्रभाव से वहाँ की कोई भी बड़ी शक्ति एशिया-वासियों और एशियायी नेताओं के दृष्टिकोणों की उपेक्षा नहीं कर पाती। दो

गुटो के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी एशिया के अधिकांश देशों का मत है कि साम्यवादी व्यवस्था और पूंजीवादी प्रजातन्त्रो के बीच मे भी एक रास्ता है। आर्थिक दृष्टि से इसे मिश्रित अर्थ व्यवस्था एवं विदेश नीति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से असंलग्नता की नीति (Policy of Non-alignment) कह सकते हैं।

पामर और पर्किन्स ने एशिया के प्रमुख देशों की विदेश नीति को अथवा उनके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को ५ भागो मे विभाजित किया है—

(१) साम्यवादी चीन का दृष्टिकोण,
(२) राष्ट्रवादी चीन और कोरिया का दृष्टिकोण,
(३) पश्चिम पक्षपाती दृष्टिकोण,
(४) ईरान अरब का दृष्टिकोण, एवं
(५) असंलग्न राष्ट्रों का दृष्टिकोण।

विदेश नीति सम्बन्धी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से उपर्युक्त ५ भाग उपयुक्त हैं तथापि इन्हें तीन मुख्य भागों मे बांटना ही पर्याप्त होगा अर्थात् साम्यवाद समर्थक दृष्टिकोण, पूंजीवाद समर्थक दृष्टिकोण तथा असंलग्नता का दृष्टिकोण। असंलग्नता के दृष्टिकोण का अपना विशेष महत्व है। इस पर आगे यथा स्थान प्रकाश डाला गया है। साम्यवाद का प्रभाव एशिया मे बढ रहा है। एशिया का महानतम राष्ट्र चीन पूरी तरह लाल बन चुका है और एशिया व अफ्रीका के विभिन्न देशों पर अपना आतंक फैलाने को प्रयत्नशील है ताकि वह देश उसका प्रभुत्व स्वीकार करले और उसके बताये हुए तरीके पर चलकर साम्यवाद की स्थापना करले। इस दिशा मे उसकी टक्कर सोवियत साम्यवाद से है सोवियत रूस भी एशिया मे अपना प्रभाव बढ़ाने को प्राणपन से सचेष्ट है, जिसमे उसे उल्लेखनीय सफलता हासिल हो रही है। साम्यवादी चीन की विस्तारवादी और साम्यवादी नीतियों ने एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रो को जगा दिया है। यह स्थिति भारत पर चीन के अकारण आक्रमण के बाद पूरी तरह स्पष्ट हो चुकी है। साम्यवादी एशिया पर न छा जाए, इसलिए पश्चिमी शक्तियां भी एशिया के राष्ट्रों पर अपना प्रभाव बनाये रखने को सचेष्ट हैं। मुख्य बात यह है कि इस दिशा में नेतृत्व ब्रिटेन और फ्रांस के हाथों से खिसक कर संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथो मे आ गया है। यह कहना उपयुक्त होगा कि एशिया विश्व की दो महा शक्तियो का क्रीडास्थल बना हुआ है और एशिया की भलाई इसी बात में है कि वह दोनो महा शक्तियो को अपना मित्र मानते हुए किसी प्रभुत्व मे न जाए, वरन् अपना स्वतन्त्र मार्ग अपनाये और अपने भाग्य का निर्णायक स्वयं बने। यह तभी सम्भव है जब एशिया आपसी फूट और मतभेदों से ऊपर उठ जाए, अपनी आर्थिक उन्नति करले और परिपक्व राजनीतिक सजगता का परिचय दे।

किया। किन्तु इस प्रकार का दमन राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को समाप्त करने की बजाय भड़काने में ही सहायक रहा। डचों ने वहां के निवासियों की राष्ट्रवादी भावनाओं को पूरी तरह से समझा नहीं तथा वे उनका बराबर दमन करते रहे। १७ अगस्त, १९४५ को स्वतन्त्र इन्डोनेशियन गणतन्त्र की स्थापना हो जाने के बाद उपराष्ट्रपति हाटा ने ७ अक्टूबर, १९४५ को गणतन्त्र के ५ सिद्धान्तों की व्याख्या की जो ये थे— (i) ईश्वर में विश्वास (Belief in God), (ii) राष्ट्रवाद (Nationalism) (iii) सार्वभौमवाद (Universalism), (iv) प्रजातन्त्र (Democracy) और (v) सामाजिक सुरक्षा (Social Security)

भारत में राष्ट्रवाद के उदय के पीछे अनेक कारण थे। वैसे तो कुछ विद्वान १८५७ की क्रान्ति को भी स्वतन्त्रता संग्राम मानते हैं जिसमे राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर विदेशी शक्तियों को भारत से निकालने का असफल प्रयास किया गया था। भारत में राष्ट्रीयता की भावना का संगठित रूप से प्रारम्भ १८८५ मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के बाद से माना जाता है। कांग्रेस का इतिहास भारतीय राष्ट्रीयता के विकास का इतिहास है। कांग्रेस धीरे धीरे भारतीय राष्ट्रवाद की अधिकाधिक अभिव्यक्ति करने लगी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीयता स्वतन्त्रता प्राप्ति के अपने प्रयास में सफल हो गई किन्तु यह सफलता उस देश के विभाजन के बाद मिली।

टर्की में मुस्तफा कमालपाशा या अतातुर्क को वहां का हीरो माना जाता है। उसने टर्की में राष्ट्रवाद का प्रसार किया। उसका मूल उद्देश्य साम्राज्यवाद का निर्माण करना अथवा विस्तारवादी नीतियों पर चलना नहीं था वरन् वह तो टर्की के भीतर राष्ट्रवाद का प्रसार करना चाहता था। "तुर्कों के लिये तुर्की" (Turkey for the Turks) यह उनका एक प्रसिद्ध नारा था।

सारांश यह है कि एशिया के प्राय सभी देशों में अब राष्ट्रवाद का प्रसार हो चुका है। इस महाद्वीप का राष्ट्रवाद पश्चिमी देशों के राष्ट्रवाद से कुछ अर्थों में भिन्न रहा है। एशिया मे पश्चिमी राष्ट्रवाद को इस प्रकार अपनाया गया कि वह वहां की परम्पराओं तथा रीति रिवाजों का विरोध न करे। एशिया मे राष्ट्रवाद का रूप मुख्य रूप से निषेधात्मक रहा है। यहां इसका लक्ष्य विदेशी शासन को हटाना था। इसमें धर्म, भाषा, अशिक्षा, गरीबी, अन्ध विश्वास, स्थानीयता आदि के भेदभावों के होते हुये भी एकता प्राप्ति का प्रयास किया गया है। पाश्चात्य राष्ट्रवाद में साम्राज्यवाद, जातिवाद तथा युद्ध की प्रवृत्तियां पाई जाती थीं किन्तु एशिया महाद्वीप मे राष्ट्रवाद

ने इन सभी प्रवृत्तियों को छोड दिया। एशिया मे राष्ट्रीयता की भावना को न केवल राजनैतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये ही प्रयुक्त किया गया वरन् इसका प्रयोग आर्थिक तथा सामाजिक सुधार आन्दोलनों में भी किया गया। एशिया के राष्ट्रवाद की सबसे बडी विशेषता यह है कि यह अन्तर्राष्ट्रीयवाद, शान्ति, सहयोग एव मानवता का सहायक है। जवाहरलाल नेहरू का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रवाद प्रभावपूर्ण रूप से केवल तभी विकसित हो सकता है जबकि राष्ट्रवाद ने उन देशो मे अपने लक्ष्य प्राप्त कर लिए हों जो स्वतन्त्रता के लिए लड रहे हैं। पण्डित नेहरू का यह विचार था कि राष्ट्रवाद का प्रत्येक देश में स्थान है तथा इसको बढावा दिया जाना चाहिए किन्तु यह आक्रमणकारी तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास मे बाधक नही बने।

एशिया मे साम्यवाद—राष्ट्रवाद की भावना के बाद एशिया के देशो पर जिस अन्य तत्व का प्रभाव बढता जा रहा है यह है साम्यवाद। एशिया के देशो मे व्याप्त गरीबी, अशिक्षा, भुखमरी, बीमारी, औद्योगिक पिछडाव तथा अन्य ऐसी ही समस्यायें साम्यवाद के प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करती हैं। एशिया महाद्वीप पर साम्यवाद का प्रभाव बढने की आशका इस कारण भी है कि इस विचारधारा का प्रधान केन्द्र तथा शक्ति का स्रोत मास्को है। यद्यपि यह योरोप का एक भाग है किन्तु एशिया से भी दूर नहीं है। इसको अर्ध योरोपियन तथा अर्ध-एशियन स्वीकार किया जाता है। इस के अतिरिक्त साम्यवाद का दूसरा बडा गढ साम्यवादी चीन है। यह देश तो पूरी तरह से एशिया महाद्वीप में स्थित है। एक ओर तो साम्यवादी विचारधारा के विस्तार की इतनी सुविधा है कि इसके प्रचारक इसी क्षेत्र मे हैं साथ ही यहाँ की समस्यायें एव वातावरण भी अनुकूल ही है और दूसरी ओर साम्यवाद का विरोध करने वाली शक्तियां एशिया से दूर पड जाती हैं। इसके अतिरिक्त इनके साथ एशिया के देशो का अतीत अनुभव अधिक अच्छा नही है। इस प्रकार विधेयात्मक एवं निषेधात्मक दोनो ही दृष्टियों से एशिया मे साम्यवाद के प्रसार का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है। एशिया के अधिकाश देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों मे साम्यवादी दल द्वारा सक्रिय सहयोग प्रदान किया गया था।

एशिया में साम्यवादी चीन ने विस्तारवादी नीति को अपनाया तथा साम्यवाद के प्रचार की बागडोर अपने हाथ मे लेने के लिए बडे ज़ोर-शोर से वह एशिया के देशो को लाल रंग मे रंगने लग गया है। चाल, चालाकी या युद्ध किसी भी साधन द्वारा अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वह तैयार हो गया। उसका विचार है कि पूंजीवाद को समाप्त करने के शुभ लक्ष्य मे यदि

युद्ध भी करना पडे तो कोई खतरा नही है क्योकि चीन की जनसख्या इतनी अधिक है कि युद्ध मे ससार के समस्त हो जाने के बाद भी जो लोग बचेंगे वे साम्यवादी चीन के ही नागरिक होंगे। उस समय सारे ससार पर लाल झण्डा फहराया जायेगा। इस प्रकार के कथनो तथा उनपर किए गए व्यवहारों को देख कर पश्चिमी राष्ट्र चौकन्ने हो गये हैं। अब उनकी समझ मे आ गया है कि उनका प्रमुख शत्रु सोवियत रूस नही वरन् साम्यवादी चीन है अत चीन की घेरेबन्दी की जाने लगी। अमरीका ने दक्षिण कोरिया, फारमोसा तथा फिलीपाइन देशो के माध्यम से जापान से लेकर दक्षिण पूर्वी एशिया तक सैनिक अड्डे तथा सैनिक सन्धियो द्वारा घेराबन्दी डाल दी और चीन की प्रसारवादी नीतियो को रोका। सयुक्त राज्य अमरीका ने अभी तक चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता नही दी है। वह राष्ट्रवादी सरकार को चीन का वास्तविक शासन मान रहा है और इसी कारण वह सयुक्त राष्ट्रसघ की सुरक्षा परिषद का स्थाई सदस्य है।

साम्यवादी शक्तियो द्वारा लाओस, तिब्बत तथा भारत के विरुद्ध जो कदम उठाए गए उनका पश्चिमी देशो ने दृढता के साथ विरोध किया। इसी प्रकार पश्चिमी शक्तियो द्वारा जापान, इण्डोनेशिया, लाओस तथा फारमोसा में जो किया गया, साम्यवादियो द्वारा उसका घोर विरोध किया गया। कोरिया का युद्ध साम्यवादी तथा गैर साम्यवादी शक्तियो के बीच की लडाई का प्रमुख उदाहरण था। किन्तु इन दोनों शक्तियों के बीच वियतनाम मे होने वाले सशस्त्र सघर्ष ने उस बात को फिर से ताजा कर दिया कि विश्व के दो गुटो की तरह एशिया मे अपने स्वय के दो गुट नही हैं। इस महाद्वीप मे साम्यवादी गुट तो इसी क्षेत्र का है किन्तु साम्यवाद का विरोध करने वाली शक्तिया इस महाद्वीप की स्वय की नही हैं। पश्चिमी देशो द्वारा एशिया के देशो के हितों को उकसा कर उन्हे साम्यवाद का विरोध करने का साधन बनाया गया है। विश्वव्यापी शीत युद्ध का प्रभाव एशिया महाद्वीप को भी सहन करना पडा है और अब जबकि ससार शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की नीतियों म विश्वास करने लगा है, एशिया मे स्थित शीत युद्ध न कई बार गर्म युद्ध का रूप धारण कर लिया है। साम्यवादी तथा गैर साम्यवादी शक्तियो के बीच एशिया की भूमि पर अथवा एशिया के देशों के सक्रिय सहयोग द्वारा विश्व शान्ति को भग करने वाली विभिन्न समस्याए आज विशेष चिन्ता की विषय हैं।

एशिया मे असलग्नता —एशिया महाद्वीप केवल पूँजीवादी और साम्यवादी गुटों स ही प्रभावित नही है वरन् वहा असलग्नता (Non alignment) की विचारधारा सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान लिये है। यहा के अनेक देश असलग्नता की विदेश नीति म विश्वास रखते हैं जिनमे भारत का सर्वोपरि

स्थान है। कोलम्बो शक्तियों में सबसे अधिक प्रभावशाली यह देश अपनी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सैद्धान्तिक स्थिति के कारण अपनी आवाज प्रभुत्व पूर्ण रूप से प्रकट करने में सक्षम है। संयुक्त राष्ट्रसंघ और अन्य विश्व सम्मेलनों में भारतीय नेताओं ने सदा ही एशिया की एकता के लिये कार्य किया है और यहां के लोगों के हितों के अनुरूप अपना दृष्टिकोण अपनाया है। असलग्नता की नीति के सम्बन्ध में अगले एक अध्याय में विस्तार से विचार प्रकट किया गया है और भारत की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को इस नीति की कसौटी पर परखा गया है। अतः यहां विस्तार में न जाकर इतना ही लिखना पर्याप्त है कि एशिया और अफ्रीका में असलग्न विदेश नीति के समर्थक राष्ट्रों का अपना महत्वपूर्ण अस्तित्व है और वे विश्व के पूंजीवादी व साम्यवादी खेमों में सतुलनकारी भूमिका अदा कर रहे हैं। असलग्न राष्ट्र अपना कोई गुट बनाकर संसार में एक तृतीय शक्ति के रूप में उदित होने का लक्ष्य नहीं रखते, वरन् उनका ध्येय यह है कि वे किसी भी राष्ट्र विशेष या गुट विशेष से न बधकर अपनी स्वतन्त्र नीति पर चलते हुए अपनी इच्छानुसार अपना राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक विकास करना चाहते हैं। किसी भी प्रकार की गुटबन्दी को वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए खतरा मानते हैं। किन्तु असलग्नता की यह नीति निष्क्रियता की नीति नहीं है। यह एक सक्रिय और प्रभावशाली नीति है जो न्याय का पक्ष लेने से नहीं चूकती और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने उत्तरदायित्व के निर्वाह से पीछे नहीं हटती।

एशिया के प्रमुख राष्ट्रों में जागरण और उनके द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हमें सांकेतिक रूप में यह भी परिचय पा लेना चाहिये कि एशिया के प्रमुख राष्ट्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के चंगुल से कब और कैसे मुक्त हुए तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र में उनका वर्तमान दृष्टिकोण क्या है। अध्ययन की दृष्टि से हम एशिया को चार भागों में बांट सकते हैं और उनमें सम्मिलित प्रमुख-प्रमुख राष्ट्रों को ले सकते हैं। ये भाग और प्रमुख राष्ट्र इस प्रकार है—

(i) पूर्वी एशिया—चीन, जापान।
(ii) दक्षिण एशिया—भारत, पाकिस्तान, लंका।
(iii) दक्षिण पूर्वी एशिया—बर्मा, इण्डोनेशिया, हिन्द-चीन, मलाया, फिलीपाइन्स, थाईलैण्ड।
(iv) पश्चिम एशिया—अफगानिस्तान, अरब राष्ट्र, इजराईल, टर्की, साइप्रस।

पूर्वी एशिया (चीन एवं जापान)—पूर्वी एशिया में चीन और जापान सबसे प्रमुख राष्ट्र हैं। १९४९ से पूर्व केवल राष्ट्रवादी चीन का अस्तित्व था,

किन्तु चीन के लम्बे गृह–युद्ध मे चागकाई शेक के राष्ट्रवादी दल को पराजित होना पड़ा और साम्यवादी नेता माओत्से-तुग को न्यायिक विजय मिली। सोवियत सघ की उपेक्षा और सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रबल विरोध के बावजूद लगभग २२ वर्ष के निरन्तर सघर्ष के बाद साम्यवादियों ने चीन में अपने राज्य की स्थापना करली। चागकाई शेक ने भागकर फारमूसा द्वीप मे शरण ली और वहा चीन की 'निर्वासित सरकार' की स्थापना करली जिसे आज भी अमेरिका और सयुक्त राष्ट्रसघ को वास्तविक सरकार माने हुए है।

चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को झकझोर दिया है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि एक ऐसा देश जो कुछ समय पूर्व तक साम्राज्यवादी लिप्सा, दमन, अत्याचार और शोषण का शिकार बना हुआ था, आज स्वय एक क्रूर साम्यवाद का बाना पहिन कर अपने मित्रों और शत्रुओ को समान रूप से धमका रहा है, युद्ध का नारा बुलन्द कर रहा है और आज के आणविक युग में भी युद्ध को मनुष्य जाति के कल्याण का एक मात्र साधन बता रहा है। चीन की साम्यवादी क्रान्ति ने एशिया और अफ्रीका मे राष्ट्रवादी शक्तियो को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया है किन्तु साथ ही चीन की विस्तारवादी आकांक्षा ने कमजोर अन्य एशियाई राष्ट्रों मे आतक भी पैदा कर दिया है और उन्हें भय बता रहा है कि कहीं वे चीन के हत्थे न चढ जाय। चीन ने युद्ध और हिंसा, लम्बे सघर्ष, साम्यवादी प्रचार, सैनिक सहायता कार्यक्रम और ढोंगपूर्ण सह-अस्तित्व को अपनी विदेश नीति के साधन माना है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे चीन अपनी विदेश नीति के इन आधारभूत लक्ष्यों को प्राप्त करने में प्राणपण से सचेष्ट है —

(१) सम्पूर्ण एशिया म साम्यवाद का प्रसार आज के रूसी ढग का नहीं हो, बल्कि विशुद्ध मार्क्सवाद लेनिनवाद ढग का शुद्ध साम्यवाद हो।

(२) हिंसा, छल बल और कौशल द्वारा साम्यवादी चीन की सीमाओं का अधिकाधिक विस्तार किया जाय।

(३) एशिया के समस्त देशों पर प्रभावशाली राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया जाय।

(४) सम्पूर्ण एशिया और सुदूर पूर्व मे पश्चिम के विशेषकर अमेरिका के प्रभाव को समाप्त कर दिया जाय ताकि उसकी (चीन की) सैनिक महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति मे कोई बाधा न पडे।

(५) एशिया ही नही अपितु समस्त विश्व का एक छत्र साम्यवादी नेता बनने की दिशा मे हर उपाय से आगे बढ़ा जाय चाहे इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपने भाइयो व जाति से ही सघर्ष क्यो न मोल लेना पडे।

(६) सेना को आधुनिकतम और आणविक शस्त्रास्त्रों तथा सैनिक उपकरणों से सुसज्जित करके और चीन की राष्ट्रीय शक्ति या सैनिक आधार पर पूर्ण गठन करके उपरोक्त लक्ष्यों को प्राप्त किया जाय।

' — चीन के अन्तर्राष्ट्रीय और वैदेशिक दृष्टिकोण का ज्वलन्त प्रमाण उसका भारत जैसे निष्कपट मित्र पर किया गया, निर्लज्ज आक्रमण है। वास्तव में यह एशिया का दुर्भाग्य है कि चीन और भारत जैसे दो महान् राष्ट्र परस्पर तलवारें खींचे हुए हैं। चीन ऐसी नीति पर चल रहा है जो न केवल एशिया के लिए ही घातक है वरन् स्वयं चीन के लिए भी आत्म-घातक है और विश्व शान्ति को पलीता लगाने वाली है।

पूर्वी एशिया में साम्यवादी चीन को छोड़कर जापान ही ऐसी प्रमुख शक्ति है जो अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्र को प्रभावित करने में सक्षम है। इस छोटे से एशियायी देश में उत्थान और पतन का इतिहास खूब रहा है। इस देश ने १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न केवल सैनिक शक्ति और राजनीति के क्षेत्र में पश्चिम की अजेयता के दावे की धज्जियां उड़ा दीं थी, बल्कि सम्पूर्ण यूरोप को अच्छी तरह बता दिया था कि पूर्व (East) निष्प्राण नहीं है, इसमें साहस, शौर्य, धैर्य, दूर-दर्शिता, लगन और क्षमता है। १६वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में आक्रमणकारी राष्ट्र के रूप में जापान ने साम्राज्यवादी शराब का स्वाद चख लिया। जापान निरन्तर शक्तिशाली होता गया। १६३२ से ही जापान की शासन सत्ता सैनिकवादियों के हाथ में आ गई और वह चीन जैसे विशाल भू-खण्ड पर अपना अधिकार करने तथा समस्त एशिया महाद्वीप का एकछत्र शासक बनने का स्वप्न देखने लगा। चीन पर जोर शोर से हमले हुए, किन्तु मित्र राष्ट्रों, विशेषकर अमेरिका द्वारा चीन की आर्थिक और सैनिक सहायता करने के कारण जापान अपने इरादे में सफल नहीं हो सका। द्वितीय महायुद्ध में जापान ने चारों ओर अपनी विजयों की धूम मचादी, पर अन्त में अणु बमों की प्रलयकारी शक्ति के सामने घुटने टेकते हुए दो सितम्बर, १६४५ को जापान ने मित्र राष्ट्रों के सामने आत्म समर्पण की अन्तिम शर्तों पर हस्ताक्षर कर दिये।

आत्म-समर्पण करने के बाद जापान पूरी तरह 'पश्चिम के', विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के कब्जे में आगया। जापान की गृह और विदेश नीति पर वैदिक दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण किन्तु व्यावहारिक रूप में अमेरिकन नियन्त्रण स्थापित हो गया। अमेरिकन सैनिक शासन के आधीनस्थ काल में ही जापानी सम्राट् की निरंकुश सत्ता समाप्त हो गई, जापानी सम्राट् वैधानिक शासक मात्र रह गया और मई, १६४७ में जापानी जनता

ने एक नया संविधान स्वीकार कर लिया। जापान में उत्तरदायी प्रतिनिध्यात्मक सरकार की स्थापना की गई। जापान अपनी दीन-हीन अवस्था से ऊपर उठने की जी तोड़ कोशिश करने लगा जापान का शासन अमेरिका के लिए *अत्यधिक व्ययसाध्य* हो गया और दूसरी ओर एशिया में साम्यवाद के प्रसार के साथ साथ जापानी छात्रों और श्रमिकों में भी साम्यवाद फैलने लगा। इन सभी घटना चक्रों से प्रभावित होकर अमेरिका ने यही उचित समझा कि जापान को पुनः स्वतन्त्रता और सम्मानपूर्ण स्तर प्रदान किया जाय ताकि वह पुनरुत्थान की दिशा में अग्रसर होकर पूर्वी और दक्षिण पूर्वी एशिया में साम्यवाद के प्रभाव का मुकाबला कर सके। यह निश्चय करने के बाद अमेरिकन प्रशासन ने जापान को एक स्वतन्त्र राष्ट्र का स्तर प्रदान करने की नीति पर विशेष तत्परता से चलना शुरू कर दिया। १९५२ में शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद जापान पुनः स्वतन्त्र हो गया। अपनी स्वाधीनता के उपरान्त जापान तेजी से प्रगति पथ पर बढ़ता गया और आज स्थिति यह है कि एशिया का यह छोटासा राष्ट्र विश्व की आर्थिक शक्तियों में अपना एक विशेष स्थान बना चुका है। अब जापान यह सोचने लगा है कि बढ़ती हुई आर्थिक शक्ति को सुरक्षित करने के लिये उसके पास यथोचित सैनिक शक्ति भी होनी चाहिये। जापान के पास साधन हैं, तकनीक है, केवल समय का इन्तजार है। जिस दिन पुनर्शस्त्रीकरण के प्रतिबन्धों से मुक्त होकर जापान शस्त्र-सज्जा की होड़ में कूद पड़ेगा, उस दिन कोई भी ताकत उसे रोक नहीं पायेगी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान नष्ट-भ्रष्ट जापान आज अमेरिका और सोवियत संघ के बाद बड़ी ताकतों में नाम लिखाने का हकदार बन चुका है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही वह रूस और अमेरिका के बाद दुनिया का तीसरा सम्पन्न देश बन जायेगा।

दक्षिण-एशिया (भारत, पाकिस्तान व लंका)—दक्षिण एशिया के राष्ट्रों में भारत, पाकिस्तान व लंका प्रमुख हैं। पाकिस्तान एक नव निर्मित राष्ट्र है जो अखण्ड भारत का विभाजन करके बनाया गया है। १५ अगस्त, १९४७ से पहले अखण्ड भारत अंग्रेजों के प्रभुत्व में था। भारत में विदेशी हुकूमत के खिलाफ एक लम्बा स्वातन्त्र्य संघर्ष चला। इस स्वाधीनता संघर्ष की परिणति देश के विभाजन में हुई। १५ अगस्त, १९४७ को अखण्ड भारत को दो नये राष्ट्र, पाकिस्तान और भारत में विभाजित करके अंग्रेज विदा हुए।

अपनी दासता से मुक्त होने के बाद नये भारत ने स्वतन्त्र राष्ट्रों की मण्डली में प्रवेश किया और उसे अपनी आन्तरिक तथा विदेश नीति के

निर्धारण का पूरा पूरा अधिकार मिला। भारत ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण और विदेश नीति की रूप रेखा का निर्धारण तो स्वाधीनता संग्राम के दौरान ही कर लिया था, लेकिन इस पर क्रियात्मक रूप से चलने का अवसर स्वतन्त्रता के बाद प्राप्त हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भारत ने अपने निम्नलिखित आदर्श निर्धारित किये—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाये जाने की नीति को प्रत्येक सम्भव तरीके से प्रोत्साहन देना।

(३) सभी राज्यों और राष्ट्रों के बीच परस्पर सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में सन्धियों के पालन के प्रति आस्था बनाये रखना।

(५) सैनिक गुट-बन्दियों और सैनिक समझौतों से अपने आपको पृथक् रखना तथा ऐसी गुटबन्दी को निरुत्साहित करना।

(६) उपनिवेशवाद का, चाहे वह कहीं भी किसी भी रूप में हो, उग्र विरोध करना।

(७) प्रत्येक प्रकार की साम्राज्यवादी भावना को निरुत्साहित करना।

(८) उन देशों की जनता की सक्रिय सहायता करना जो उपनिवेशवाद, जातिवाद और साम्राज्यवाद से पीड़ित हों।

अपने इन्हीं अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों और राष्ट्रीय हितों में परस्पर मेल बैठाते हुए भारत ने विदेश नीति का निर्धारण किया। सह-अस्तित्व और साधनों की पवित्रता में विश्वास करते हुए भारत ने असंलग्नता और शान्तिवाद की नीति पर चलना ही श्रेयस्कर समझा। भारत की असंलग्नता की नीति (Policy of Non-alignment) के महत्व और उसकी प्रभावशीलता का विवेचन "असंलग्नता" (Non-alignment) के अगले अध्याय में विस्तार से किया गया है। यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि भारत ने एशिया के जागरण में विशेष और सबसे प्रभावशाली भूमिका अदा की है। भारत की प्रेरणा से अनेक एशियाई और अफ्रीकन राष्ट्रों के स्वाधीनता आन्दोलनों को बल मिला है। स्वतन्त्र भारत का इतिहास बताता है कि इस महान् देश ने इण्डोनेशिया, मलाया, लीबिया, ट्यूनीशिया, गोल्डकोस्ट, साईप्रस, अल्जीरिया आदि राष्ट्रों की स्वतन्त्रता प्राप्ति में कितना सहयोग दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत ने इतने सक्रिय रूप से भाग लिया है और अन्तर्राष्ट्रीय विवादो को सुलझाने मे इतने उत्साह से अपना सहयोग दिया कि यह कहना भ्रामक है कि वह विश्व राजनीति मे पृथक् रहने की नीति पर चल रहा है। भारत की असलग्नता एक विधेयात्मक, सक्रिय और रचनात्मक नीति है। भारत की विचारधारा आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र मे पश्चिमी तथा साम्यवादी गुटो के बीच है। अत यह आवश्यक और स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे वह दोनो के बीच के मार्ग का ही अवलम्बन करे। भारत साम्यवाद की समानता, वर्ग-भेद की समाप्ति, सामाजिक सुरक्षा, शोषण का अन्त आदि धारणाओ से सहमत है किन्तु उसमे पाई जाने वाली असहिष्णुता, हिंसा, स्वतन्त्रता के अभाव, दमन आदि दोषो को घृणित दृष्टि से देखता है। एशिया मे भारत प्रजातन्त्र का गढ है जिसके उत्थान और पतन पर न केवल एशिया के वरन् विश्व के प्रजातन्त्र का भविष्य निर्भर है। दुर्भाग्यवश पाकिस्तान और चीन जैसे दो पडौसी राज्य भारत की सद्भावना और मैत्रीपूर्ण नीति को दुर्बलता का चिन्ह माने हुए है और भारत को दबाकर उसके क्षेत्र हडपने की नीति अपनाये हुए है। हमे आशा करनी चाहिये कि अन्ततोगत्वा ये दोनो राष्ट्र एशिया और विश्व मे इस महान् प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के स्तम्भ की भूमिका का आदर करेंगे और उसके प्रति सहयोग का हाथ बढायेगे।

भारत उपमहाद्वीप के विभाजन की कीमत पर जिस पाकिस्तान का निर्माण हुआ, वह भी एक दूसरे से सैकडो मील दूर दो भू भागो को मिलाकर बनाया गया—एक पश्चिमी पाकिस्तान जिसमे पश्चिमी पजाब, सिंध, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, बिलूचिस्तान तथा कुछ देशी रियासतें हैं और दूसरा पूर्वी पाकिस्तान जिसमे बगाल का पूर्वी भाग तथा आसाम का कुछ भाग सम्मिलित है। अपने जन्म के शीघ्र बाद ही अर्थात् १९४७-४८ मे पाकिस्तान को सयुक्त राज्य सघ की सदस्यता प्राप्त हो गई। प्रारम्भ म पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे स्वतत्र नीति का अनुसरण किया और वह किसी देश अथवा गुट विशेष की ओर नही झुका। लेकिन भारत के प्रति जन्मजात वैमनस्य और शत्रुता की भावना शीघ्र ही इतनी प्रबल हो गई कि उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और परराष्ट्र नीति का मूल उद्देश्य ही यह बन गया कि भारत के विरुद्ध मित्रों की खोज की जाए और सैनिक बल पर भारत को दबाया जाए तथा उससे अनुचित रियायतें प्राप्त की जाएँ व उसके क्षेत्रो पर अनुचित रूप से कब्जा जमाया जाए।

भारत विरोध की उग्र भावना के कारण पाकिस्तान ने तटस्थता की नीति को तिलाजलि देकर स्वय को 'एक ही दिशा मे' मोड दिया। एशिया के

इस महत्वपूर्ण राष्ट्र ने पश्चिमी देशों के साथ सैनिक गठबंधन में बन्ध जाने का निर्णय किया ताकि उसके दो उद्देश्य —भारत को नीचा दिखाना और इस्लामी जगत का नेतृत्व करना—की पूर्ति हो सके। पश्चिम, विशेषकर अमेरिका के साथ सैनिक दृष्टि से आबद्ध हो जाने के मूल में साम्यवाद का हौवा दिखाया गया, लेकिन इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस नीति का वास्तविक कारण पाकिस्तान का साम्यवाद के प्रति भय या विरोध न कभी था और न है। भारत चीन के मध्य सीमा प्रश्न को लेकर युद्ध छेड़ने और पाकिस्तान द्वारा चीन के साथ सांठगांठ करने से यह तथ्य भली प्रकार स्पष्ट है।

यहां हमारा लक्ष्य पाकिस्तान की विदेश नीति की मीमांसा करना नहीं है, लेकिन उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक दृष्टिकोण और वैदेशिक नीति सम्बन्धी दृष्टिकोण को मोटे रूप में इस तरह प्रस्तुत करना है कि जिससे एशिया के नव जागरण में पाकिस्तान की भूमिका स्पष्ट हो सके। एशिया का नव-जागरण यह मांग करता है कि एशिया के राष्ट्र आपस में एकता के सूत्र में बंधें और एकजुट होकर अपना आर्थिक व सामाजिक उत्थान इस तरह करें कि वे विश्व की अन्य शक्तियों के समकक्ष खड़े हो सकें, लेकिन दुर्भाग्यवश साम्यवादी चीन और पाकिस्तान के रूप में एशिया की इन आशाओं को विशेष आघात लगा है और यह भी कम दुःखपूर्ण बात नहीं है कि अरब राष्ट्र भी आपस में बुरी तरह फूट के शिकार हैं। पाकिस्तान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मुख्यतः भारत के साथ विरोध पर आधारित है। उसकी विदेश नीति के प्रमुख लक्ष्य सदा ये ही रहे हैं—

(१) भारत के मुकाबले अधिक शक्तिशाली होकर काश्मीर समस्या को अपने अनुकूल हल कराने के लिये भारत को बाध्य करना,

(२) सैनिक दृष्टि से अपने को इतना सबल बनाना कि भारत किसी भी हालत में उससे सैनिक दृष्टि से श्रेष्ठ न होने पावे,

(३) भारत के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त करना,

(४) पश्चिम समर्थक अरब इस्लामी राज्यों को अपने साथ मिलाकर अरब राष्ट्रीयता के अग्रदूत और एशियाई एकता के समर्थक मिश्र के राष्ट्रपति नासिर के नेतृत्व को चुनौती देना तथा पाकिस्तानी झंडे के नीचे एक इस्लामी जगत का निर्माण करना,

(५) पश्चिमी देशों और अन्य देशों के साथ सैनिक गठबन्धनों से बंधकर भारत को आतंकित करना।

एशिया के लिये यह दुर्भाग्य की बात है कि भारत को अपना प्रमुख शत्रु मानना पाक विदेश नीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक आधार-

भूत अंग है जिसके लिये आवश्यकता पड़ने पर वह न मित्रो को बदलने मे सकोच करता है और न किसी भी गुट से गठबन्धन करने मे उसे कोई हिचक होती है। पाकिस्तान के रवैये का यह एक अनिवार्य परिणाम है कि भारतीय उप महाद्वीप पूरी तरह शीतयुद्ध का अखाड़ा बन चुका है। यदि एशिया को आगे बढ़ना है और विश्व राजनीति मे पाश्चात्य शक्ति अथवा साम्यवादी, रूस के समक्ष निर्बल स्थिति म नहीं रहना है तो यह आवश्यक है कि पाकिस्तान और भारत जैसे दो महान् एशियाई राष्ट्र आपस म सद्भावना और मैत्री का परिचय द तथा चीन अपने को एक पृथक् जाति का राष्ट्र न मानकर एशिया का एक अग समझते हुए अपनी विस्तारवादी और साम्राज्यवादी नीति का परित्याग करे।

दक्षिण पूर्वी एशिया का एक अन्य महत्वपूर्ण राष्ट्र श्री लका है जो भारत के दक्षिणी धलबिन्दु के समीप एक छोटे आकार का द्वीप है और भारत के साथ सास्कृतिक आधारों पर अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। हिन्द महासागर मे भारत की समीपता के कारण इसका सैनिक महत्व बहुत पहले से ही स्वीकार किया जाता रहा है। सामरिक महत्व का ठिकाना होने से भारतीय महाद्वीप पर अधिकार करने वाली अथवा आक्रमण करने वाली किसी भी महत्वाकांक्षी शक्ति की युद्ध दृष्टि से यह द्वीप अतीत में नहीं बच पाया। बाहरी देशो के आक्रमणों का शिकार बनते बनते अत मे यह ब्रिटेन का उपनिवेश बन गया। ब्रिटिश उपनिवेश के रूप मे इसका पूर्ण शोषण हुआ, क्योंकि ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति यहा भी वैसी ही थी जैसी कि अन्य देशो म। फिर भी यहा की राजनीति व्यवस्था, अंग्रेजी शिक्षा, शासन व्यवस्था की कुशल परम्परा आदि ने यहा स्वशासन का वातावरण बना दिया और प्रथम महायुद्ध के दौरान विल्सन के १४ सूत्रीय सिद्धान्त तथा भारत की राष्ट्रीयता की लहर ने यहा राष्ट्रीय आन्दोलन का बीजारोपण कर दिया। भारत की ही भांति लका में भी संवैधानिक और सुधारवादी आन्दोलन जोर पकड़ता गया। १९१९ मे श्री लका मे राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना हुई जिसके नेतृत्व मे स्वाधीनता सघर्ष चलने लगा। ब्रिटिश सरकार द्वारा द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक विभिन्न संवैधानिक सुधार किये गये, लेकिन श्री लका का जनमन तो अपने राष्ट्र की स्वाधीनता के लिये बेताब था। अन्त म १३ नवम्बर, १९४७ को ब्रिटिश ससद में श्रीलंका को स्वतन्त्रता प्रदान करने सम्बन्धी विधेयक प्रस्तुत कर दिया गया और लगभग १३३ वर्षों के अंग्रेजी राज के उपरान्त श्रीलंका ने अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुन. प्राप्त कर ली। ४ फरवरी, १९४८ को ब्रिटिश सरकार द्वारा उसे पूर्ण 'डोमिनियन स्टेटस' प्रदान कर दिया गया। जुलाई १९५६ मे श्री लका

ने राष्ट्रमण्डल में एक गणराज्य के रूप में शामिल होने की इच्छा प्रकट की और ब्रिटिश सरकार द्वारा इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया गया।

अपनी राजनीतिक परिस्थितियों, भौगोलिक स्थिति और आर्थिक विकास की आवश्यकता के कारण दक्षिण एशिया के इस महत्वपूर्ण राष्ट्र ने प्रारम्भ से ही तटस्थतावादी अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ग्रहण किया और शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व में अपनी आस्था प्रकट की। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा विदेशनीति के क्षेत्र में श्रीलंका के ये प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किये गये—

(i) श्री लंका की नवप्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा,

(ii) एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य के रूप में राष्ट्र मण्डल की सदस्यता स्वीकार करना,

(iii) दक्षिण पूर्वी एशिया के सभी देशों, विशेषकर भारत से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना,

(iv) औपचारिक रूप से किसी शक्ति गुट के साथ सम्बद्ध न होना और शीतयुद्ध से अलग रहना, एवम्

(v) मित्र देशों के साथ सहयोग करते हुए शांति और आर्थिक विकास के लिये प्रयत्नशील रहना।

यह एक उत्साहजनक बात है कि श्री लंका ने एशिया और अफ्रीका के देशों के प्रति सदैव सहयोग भावना रखी है और साम्यवाद, साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध किया है। इस देश के नेताओं द्वारा सभी की स्वाधीनता और न्यायपूर्ण मार्गों का हमेशा समर्थन किया जाता रहा है। एशिया व्यक्तित्व के विकास में श्री लंका की भूमिका महत्वपूर्ण रही है।

दक्षिण पूर्वी एशिया (बर्मा, इंडोनेशिया, हिन्द चीन, मलाया, फिलिपाइन्स, थाईलैंड) —अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और विश्व शांति के दृष्टिकोण से दक्षिण पूर्वी एशिया संसार के सर्वाधिक विस्फोटक और महत्वपूर्ण स्थलों में से एक है। एशिया का साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह कहीं भी इतना स्पष्ट और सफल न रहा जितना दक्षिण पूर्वी एशिया में। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में साम्राज्यवाद के चंगुल में फंसा हुआ दक्षिण पूर्वी एशिया आज स्वतन्त्र और मुक्त होकर विश्व राजनीति को प्रभावित कर रहा है। इस क्षेत्र के अधिकांश देशों का अपना कोई व्यवस्थित इतिहास नहीं रहा और न ही वहां किन्हीं ऐसी स्थायी प्रणालियों और संस्थाओं का विकास हो पाया जिन पर शक्ति प्राप्त करने और पथ प्रदर्शन के लिये निर्भर रहा जा सके, लेकिन भारत से उठने वाली स्वतन्त्रता की लहर बर्मा होती हुई दक्षिण पूर्वी

एशिया के अन्य राज्यों की सीमाओं से टकराई और तब औपनिवेशिक शासकों को स्वेच्छा से अथवा रक्त-रंजित संघर्ष के उपरान्त विवश होकर इस क्षेत्र से अपना बोरिया बिस्तर लादना पड़ा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त इस क्षेत्र के अधिकांश देशों को इस बात का कोई स्पष्ट आभास नहीं था कि भविष्य के लिये उन्हें कौन सा मार्ग अपनाना चाहिये और कौन सी प्रणाली उनके लिये उपयुक्त होगी ? स्वतन्त्रता इन देशों को अवश्य मिल गई, पर उस स्वतन्त्रता को सुरक्षित व सुदृढ़ करने तथा उसे आधार बनाकर शक्तिशाली और प्रगतिशील राष्ट्र बनने के लिये उचित पथ-प्रदर्शन और साधन उन्हें नहीं मिल सके। परिणाम यह हुआ कि आज भी अधिकांश दक्षिण पूर्वी एशियाई देश विभिन्न विचारधाराओं, प्रणालियों और गुट बन्दियों के शिकार बने हुए हैं तथा विश्व की महा-शक्तियाँ उन्हें अपने हाथों का खिलौना बनाए हुए हैं।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि दक्षिण पूर्वी एशिया का क्षेत्र वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय युग में संघर्ष का एक प्रमुख केन्द्र बन गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और सम्बन्धों में इस क्षेत्र का प्रधान महत्व दो कारणों से है—(1) आर्थिक दृष्टि से, एवं (11) सामरिक दृष्टि से। आर्थिक दृष्टि से यह क्षेत्र अनेक ऐसे कच्चे मालों का प्रधान उत्पादक है जिनकी औद्योगिक संसार में अत्यधिक माँग है। सामरिक दृष्टि अथवा युद्ध नीतिक दृष्टि से यह क्षेत्र इसलिये महत्वपूर्ण है क्योंकि यह विश्व के प्रधान वायु और समुद्री मार्गों पर स्थित है तथा साम्यवादी चीन व संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य संघर्ष का प्रधान केन्द्र है। चूँकि शीतयुद्ध के समय में इस प्रदेश के अधिकांश राज्यों ने एक स तटस्थतावादी नीति अपनाई है, अत दोनों ही गुटों की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है।

दक्षिण पूर्वी एशिया के देश आज जाग उठे हैं और विश्व मामलों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भाग ले रहे हैं। इनमें मुख्य राष्ट्रों का सांकेतिक परिचय जान लेना उपयुक्त होगा—

भारत की पूर्वी सरहद पर स्थित बर्मा एक प्रमुख दक्षिण पूर्वी एशियाई राज्य है। बौद्ध धर्मावलम्बियों के इस देश पर १८१२ में ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हो गया। यह प्रभुत्व बढ़ता गया और १८८५ से १९३७ तक बर्मा का शासन ब्रिटिश अधीनस्थ भारत के एक अंग के रूप में हो रहा। १ अप्रैल, १९३७ से इसे भारत से पृथक् कर दिया गया और इसके लिये एक अलग प्रशासनिक ढाँचे की व्यवस्था की गई। द्वितीय महायुद्ध काल में कुछ समय यह जापानियों के अधिकार में रहा। महायुद्ध समाप्त होने पर यहाँ पुनः ब्रिटिश प्रभुसत्ता स्थापित हो गई। लेकिन बर्मी जनता में पहले से चले

आ रहे राष्ट्रवादी आन्दोलन ने अन्त में ब्रिटिश सरकार को विवश कर दिया कि वह बर्मा को स्वाधीन कर दे। ४ जनवरी, १९४८ को बर्मा ने पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त की और इस प्रकार वर्तमान बर्मा संघ (Union of Burmis) अस्तित्व में आया। बर्मा ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और विदेश नीति-के क्षेत्र मे असंलग्नता तथा शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति पर चलना शुरू किया। भारत के ही समान एशियाई व्यक्तित्व के विकास में बर्मा की यह नीति आज भी सक्रिय है। बर्मा आज भी सैनिक गठबन्धनों से दूर है और एशिया की स्वाधीनता का समर्थक है। दुर्भाग्यवश साम्यवादी चीन बर्मा के साथ भी अपनी छेड़खानियों से बाज नहीं आया।

दक्षिण पूर्वी एशिया मे थाइलैण्ड भी एक महत्वपूर्ण देश है जिसका नाम पहले स्याम था। थाइलैण्ड ने दो साम्राज्यवादी राष्ट्रों बर्मा और मलाया मे ब्रिटेन तथा हिन्द चीन मे फ्रांस के मध्य एक बफर स्टेट के रूप मे काम किया। यद्यपि यह देश अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने में सफल रहा, लेकिन फिर भी इसे अपनी भूमि के कुछ महत्वपूर्ण भाग फ्रांस और ब्रिटेन को देने पड़े। आर्थिक असन्तुलन के कारण यहाँ के राजनीतिक जीवन में सदा उथल-पुथल होती रही। द्वितीय महायुद्ध के दौरान प्रारम्भ में थाइलैण्ड ने धुरी राष्ट्रों का पक्ष लिया, किन्तु बाद म वह मित्र राष्ट्रों के साथ मिल गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद थाइलैण्ड ने अमरिका से गहरी आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त की क्योंकि उसे साम्यवादी खतरा पैदा हो गया। आज भी थाईदेश दक्षिण पूर्वी एशिया में अमेरिका के सर्वाधिक विश्वसनीय सहचर राष्ट्रों में से है। चूँकि थाईदेश म साम्यवादी छापामारों की तोड़ फोड़ की कार्यवाहियाँ तेजी से जारी हैं, अतः अमेरिका की आर्थिक और सैनिक सहायता निरन्तर बढ़ती जा रही है। यदि परिस्थितियों मे सुधार न हुआ तो यह आशंका करना निर्मूल न होगा कि थाई देश में अमेरिका को एक दूसरे 'वियतनाम" का सामना करना पड़ सकता है।

दक्षिण पूर्वी एशिया का एक अन्य प्रमुख देश लाओस हिन्द चीन प्रायद्वीप का एक देश है। सामरिक दृष्टि से इस क्षेत्र में लाओस की भौगोलिक स्थिति बड़ी महत्वपूर्ण है लाओस में तीन दल बड़े शक्तिशाली है .... साम्यवादी पाथेट लाओ (Pathet Lao), राज सत्तावादी (Royalists) और तटस्थतावादी (Neutralists)। इनके आपसी संघर्ष के कारण लाओस में गृहयुद्ध की सी स्थिति बनी रहती है। लाओस पर पहले फ्रांस का अधिकार था, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद यह एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्र बन गया। मई, १९४७ से लाओस में एक संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। जुलाई १९४९ में लाओस को फ्रांसीसी संघ के अन्तर्गत वैधानिक रूप से

स्वतन्त्र देश बना दिया गया। लेकिन साम्यवादी दल ने इस व्यवस्था को मानने से इन्कार कर दिया और सशस्त्र गृह-युद्ध शुरू हो गये। अन्त में ३१ जुलाई, १९५४ को जेनेवा में हुए समझौते के अन्तर्गत लाओस राज्य की सर्वोच्च प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान करदी गयी। पूर्ण स्वतन्त्रता के बाद भी लाओस का आन्तरिक संघर्ष अभी तक मिटा नहीं है। वियतनाम में वियतनाम की तरह यहां पर साम्यवादियों के नेतृत्व में पाथेट लाओ दल की सैनिक सफलता से संयुक्त राज्य अमेरिका पूरी तरह चिन्तित है। लाओस की स्थिति भी निकट भविष्य में वियतनाम जैसे ही हो जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अमेरिका की मुख्य चिन्ता यह है कि यदि लाओस व दक्षिणी वियतनाम साम्यवादी शिकंजे में कस गया तो धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया ही साम्यवादी बन सकता है।

दक्षिण पूर्वी एशिया का कम्बोडिया नामक देश खामेर सम्राटों की भूमि के नाम से भी जाना जाता है। १३ वीं शताब्दी के मध्य खमेर वंश के पतन के बाद स्याम (अब थाइलैण्ड) के राजा ने कम्बोडिया पर अधिकार कर लिया। लगभग २०० वर्षों तक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कम्बोडिया स्याम की अधीनता में रहा। १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में फ्रांस ने इन्डोचीन में प्रवेश किया और कम्बोडिया ने पड़ोसियों के आक्रमणों से बचने के लिए फ्रांस का संरक्षण स्वीकार कर लिया। १८८४ में कम्बोडिया को फ्रांस द्वारा संगठित इण्डोचीन या हिन्द चीन में शामिल कर लिया गया। फ्रांस के संरक्षण में यहां की जनता पश्चिमी आधार विचारों से प्रभावित हुई और इस प्रकार कम्बोडियन राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। द्वितीय महायुद्ध के दौरान इस पर जापान का अधिकार हो गया। अंतिम अवस्था में अपनी पराजय निश्चित जानकर जापान ने जब हिन्द चीन को स्वतन्त्र घोषित कर दिया तो मार्च १९४५ में कम्बोडियन प्रधानमन्त्री ने अपने देश को स्वतन्त्रता घोषित करदी। १९४७ में कम्बोडिया का एक राष्ट्रीय संविधान बनाया गया। नवम्बर १९४९ में कम्बोडियन असेम्बली ने फ्रेन्च यूनियन के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में रहना स्वीकार कर लिया और अन्त में ९ नवम्बर १९५३ को कम्बोडिया पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित हुआ। स्वतन्त्रता के बाद से ही कम्बोडियन विदेश नीति प्रायः भारत की तरह असंलग्नता की ही रही है और वह पश्चिम के अतिरिक्त साम्यवादी देशों के साथ भी अच्छे सम्बन्ध रखने के लिए सचेष्ट है।

मलाया प्रायद्वीप दक्षिण पूर्वी एशिया के एक छोर पर स्थित है। पहले इस क्षेत्र में अनेक मुसल्मानों का शासन था जो परस्पर लड़ते रहते थे। कालान्तर में अंग्रेज लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से यहां आये।

धीरे धीरे सन १९०९ तक अंग्रेजों ने इस सम्पूर्ण प्रदेश पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया और राजनीतिक व प्रशासनिक दृष्टि से इसे तीन असमान भागों में विभाजित कर दिया। द्वितीय महायुद्ध में सिंगापुर सहित सम्पूर्ण मलाया प्रायद्वीप पर जापानियों ने कब्जा कर लिया। उनके शोषण ने मलायी राष्ट्रवाद को जागृत किया। युद्ध की समाप्ति के बाद मलाया प्रायद्वीप पुनः ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत आ गया लेकिन स्वाधीनता के लिए वहां का राष्ट्रवादी आन्दोलन और भी सक्रिय हो उठा। स्वाधीनता प्रेमी मलाया वासियों ने स्वाधीनता के अलावा अन्य कोई समझौता पसन्द नहीं किया और अन्त में विवश होकर ३१ अगस्त, १९५७ को मलाया संघ की स्वतन्त्रता घोषित करदी गयी। मलाया स्वतन्त्र तो हो गया लेकिन साम्यवादी चीनी वहां के राजनीतिक जीवन पर छाने लगे। अतः साम्यवादी चीन की विस्तारवादी नीति से बचने के लिए १९६१ में मलाया के प्रधानमन्त्री श्री टकू अब्दुल रहमान ने मलाया, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो, ब्रुनी और सारावाक को मिलाकर 'वृहत् मलेशिया' अथवा मलेशिया संघ की स्थापना की योजना प्रस्तुत की। इण्डोनेशिया ने इस योजना का घोर विरोध किया। अन्त में अनेक विकट बाधाओं के बाद १६ दिसम्बर १९६३ को मलेशिया संघ की स्थापना हो गयी जिसमें सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो और सारावाक सम्मिलित हुए। इण्डोनेशिया का विरोध जारी रहा। सौभाग्यवश १९६६ में इण्डोनेशिया और मलेशिया संघ ने सहअस्तित्व की नीति को स्वीकार कर लिया। दोनों राष्ट्रों के सम्मेलन से दक्षिणी पूर्वी एशिया के एक बड़े क्षेत्र में शांति स्थापित हो गयी।

दक्षिणी पूर्वी एशिया का एक अन्य अत्यन्त महत्वपूर्ण राज्य इण्डोनेशिया है जो सैकड़ों द्वीपों का एक विशाल समूह है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इसके अधिकांश भू भागों पर डचलोगों (हालैंडवासियों) का अधिकार था। महायुद्ध के दौरान इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर जापान का अधिकार हो गया। जापान के आत्मसमर्पण के तुरन्त बाद १७ अगस्त, १९४५ को इण्डोनेशियायी जनता के एक समूह ने डा० सुकार्णो को राष्ट्रपति और जकार्ता को राजधानी बनाकर 'स्वतन्त्र इण्डोनेशियायी गणतन्त्र' की स्थापना की घोषणा करदी। लेकिन डचों की स्थिति के लिए मित्रराष्ट्रीय सेनायें इण्डोनेशियायी भू क्षेत्र में उतर आयीं। जब इण्डोनेशियायी जनता का राष्ट्रवाद और भी अधिक भड़क उठा तथा मित्र राष्ट्रीय ब्रिटिश सेनाओं से इण्डोनेशियायी राष्ट्रवादियों की झड़पें होने लगीं। इण्डोनेशिया में डचों से मुक्ति का आन्दोलन जोर पकड़ता गया। इण्डोनेशियायी राष्ट्रवादियों और डच सेनाओं में निरन्तर छोटे-मोटे संघर्ष होते रहे और गृह युद्ध की सी स्थिति बनी रही। आखिर

इन्डोनेशियायी राष्ट्रवाद की जीत हुई। २७ दिसम्बर, १९४९ को डचों ने इन्डोनेशिया को प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से हस्तान्तरित करदी। २५ दिसम्बर, १९५० को इन्डोनेशिया संयुक्तराष्ट्रसंघ का भी सदस्य बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में स्वयं इन्डोनेशिया ने प्रारम्भ में तटस्थतावादी नीति ही अपनायी। किन्तु साम्यवादी चीन का प्रभाव बढने से इन्डोनेशियायी सरकार व्यवहार में तटस्थतावादी नहीं रह सकी। चीन प्रभावित सुकार्णो शासन के समाप्त हो जाने के बाद जनरल सुहार्तो के नेतृत्व में नया इन्डोनेशियायी शासन पुन तटस्थतावाद और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण विश्व समस्या के प्रति अपनाने लगा है।

दक्षिण प्रशान्त महासागर में स्थित हजारों छोटे बड़े द्वीपों वाला फिलीपाइन्स लगभग ३०० वर्षों तक स्पेन के और इसके बाद लगभग ५० वर्षों तक अमेरिका के अधीन रहा। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह द्वीप समूह अमेरिका के ही अधीनस्थ था। लेकिन जहां स्पेन ने इस प्रदेश का शोषण किया वहां अमेरिका ने यहां के निवासियों को स्वशासन प्राप्त करने के लिए तैयार किया। द्वितीय महायुद्ध में फिलीपाइन्स पर जापानियों ने अधिकार कर लिया। महायुद्ध के बाद ४ जुलाई १९४७ को अमेरिका ने फिलिपाइन्स को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करदी। राजनीतिक सूझबूझ और शासन काल में कुशलता के कारण फिलीपाइन्स अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रभावशाली भूमिका अदा कर रहा है। एशिया की राजनीति में भी फिलिपाइन्स की प्रारम्भ से ही गहरी रुचि रही है। इसने बाडुंग सम्मेलन में भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

पश्चिमी (मध्यपूर्व) एशिया

पश्चिमी एशिया अथवा मध्यपूर्व का क्षेत्र तीन महाद्वीपों का संगम क्षेत्र है—यूरोप, एशिया और अफ्रीका। इसने अनेक साम्राज्यों का उत्थान पतन देखा है। इस क्षेत्र में वर्तमान में अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, सीरिया, सऊदी अरब, लेबनान, जोर्डन, मिश्र (संयुक्त अरब गणराज्य), इजरायल, टर्की, यमन आदि राष्ट्र हैं। यहां पर बहुतायत में इस्लाम धर्म है, परन्तु इजरायल में यहूदी और लेबनान में ईसाई धर्म प्रमुख है।

पश्चिमी एशिया अथवा मध्यपूर्व अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। प्रथम सैनिक और सामरिक दृष्टि से यह क्षेत्र एक ऐसा मार्ग है जिसके द्वारा आक्रमणकारी तीन दिशाओं—तीन महाद्वीपों की ओर एक साथ अग्रसर हो सकता है। दूसरे, इस क्षेत्र की विशाल तेल सम्पदा विश्व की सभी प्रमुख शक्तियों के लिए इतना प्रबल आकर्षण है कि यहां की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'तेल कूटनीति' (Oil Diplomacy) कहा जाने लगा है। तीसरे, इस

इजरायल

प्रदेश में अरब का उग्र राष्ट्रवाद और यहूदियों के प्रति उनकी घोर शत्रुता ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अखाड़ा बना रखा है। चौथे, प्रगतिशील और सामन्तवादी तत्वों के मध्य का संघर्ष भी यहां की एक प्रमुख समस्या है।

पश्चिमी एशिया अथवा मध्य पूर्व के जागरण में जिस तत्व का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योग रहा है वह है—अरब राष्ट्रीयता और यहूदीवाद से उसका विरोध। यदि हम पिछले इतिहास पर दृष्टि डालें तो पाते हैं कि प्रथम महायुद्ध के बाद से ही मध्यपूर्व में राष्ट्रीयता का उदय आरम्भ हुआ। सबसे पहले टर्की ने धार्मिक कट्टरता का परित्याग करके पाश्चात्य जीवन प्रणाली और राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था को ग्रहण किया। अरबियों का यह राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता के लक्ष्य तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्रांति का भी वाहक बना। यह राष्ट्रवाद प्रथम महायुद्ध के बाद मध्यपूर्व के देशों पर थोपी गई नयी राजनीतिक और आर्थिक पराधीनता के कारण और भी अधिक उग्र हो उठा। २५ सितम्बर, १९४५ को सिकन्दरिया में 'अरब-लीग' की स्थापना के द्वारा इस क्षेत्र के लोगों ने अपनी अरब-एकता की महत्वाकांक्षा को अभिव्यक्त किया। अरब-लीग समूचे मध्यपूर्व के विकास और स्वतन्त्रता की प्रतीक बन गई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद मध्यपूर्व के देशों में जहां राजनीतिक चेतना ने स्वतन्त्रता की लहर को फैलाया, वहां आर्थिक चेतना के फलस्वरूप उन्होंने विदेशी के आर्थिक शोषण के विरुद्ध उठ खड़े होने का संकल्प कर लिया। यह संकल्प विदेशी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के रूप में अभिव्यक्त हुआ—ईरान द्वारा तेल-उद्योग का, मिस्र द्वारा स्वेज का, और कुवैत द्वारा भी अपने तेल-उद्योग का। राजनीतिक स्वतन्त्रता पा लेने के बाद अरब-राष्ट्रवाद का एक रूप अपने देशों में स्थित विदेशी फौजी अड्डों की समाप्ति के रूप में प्रकट हुआ। ये फौजी अड्डे विदेशी दासता के मूर्तिमान् प्रतीक थे और इनका बना रहना राष्ट्रीय गौरव के लिए घोर कलंक था, अतः मिस्र और ईरान ने अपने देशों से विदेशी फौजों व सैनिक अड्डों को हटाने का प्रबल अभियान छेड़ा। जुलाई १९५८ में जब अमेरिकन व ब्रिटिश फौजें लेबनान और जोर्डन में उतरीं तो सम्पूर्ण अरब जगत ने निन्दा और विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया और अन्त में इन फौजों को शीघ्र ही यहां से हटना पड़ा।

अरब-राष्ट्रवाद का एक अन्य रूप यहूदियों के साथ अपने मरणान्तक संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ। यद्यपि इस्लाम यहूदी संघर्ष बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद यहूदियों के एक पृथक राज्य इजरायल की स्थापना हो जाने से द्वेष और संघर्ष की एक नवीन राजनीति का उदय हुआ जिसमें संयुक्त अरब गणराज्य अरब-राष्ट्रों का अगुआ

बना। आज अरब-यहूदी संघर्ष मध्यपूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व बना हुआ है। यद्यपि अरब-राष्ट्रों और इजरायल के मध्य हुए पिछले युद्धों और जून, १९६७ के युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि न तो अरब राष्ट्र इजरायल को नष्ट करने की सामर्थ्य रखते हैं और न ही इजरायल अरब राष्ट्रों से और अधिक प्रदेश छीनने की स्थिति में है, फिर भी दोनों पारस्परिक शत्रुता को त्याग करने को प्रस्तुत नहीं है।

मध्यपूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक शतरंज को प्रभावित करने वाली एक महत्वपूर्ण चाल अरब राज्यों के एकीकरण की है। अरब लोग का यह प्रयास रहा है कि उत्तरी अफ्रीका और मध्यपूर्व के सब अरबी-भाषी राज्यों का एक संघ बने। वास्तव में यह मुस्लिम-प्रभुता के स्वर्णिम अतीत को पुन साकार बनाने की योजना है। मिस्र के महान नेता कर्नल नासिर अरब एकता के इस स्वप्न को साकार करना चाहते हैं। उन्होंने १ फरवरी, १९५८ को मिस्र तथा सीरिया को संयुक्त करके 'संयुक्त अरब गणराज्य' की स्थापना करके अरब-राज्यों की एकता की दिशा में पहला पग उठाया। इन दोनों देशों का एक शासनाध्यक्ष, एक विधान सभा, एक संयुक्त सेना और एक झण्डा निश्चित हुआ। ८ मार्च, १९५८ को, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए, यमन राज्य भी इसमें सम्मिलित हुआ और 'संयुक्त अरब गणराज्यों' (United Arab Nations) का निर्माण हुआ। श्री नासिर की आकांक्षा थी कि इसमें धीरे धीरे ईराक, अल्जीरिया, जोर्डन, सऊदीअरब, लेबनान, कुवैत, मोरक्को, लीबिया, ट्यूनिशिया, मारीटानिया, चाड, सूडान, अदन, मस्कत ओमन, बहरीन और कातार के प्रदेश भी सम्मिलित हो तथा इन सब के सहयोग से सब अरब राज्यों का एकीकरण हो।

परन्तु श्री नासिर का अरब राज्यों के एकीकरण का यह स्वप्न कुछ आगे बढ़ने के पहिले ही भंग हो गया। १ फरवरी, १९५८ में स्थापित हुआ मिस्र और सीरिया का संयुक्त राज्य भी अधिक समय तक नहीं चल सका। २६ २८ सितम्बर, १९६१ को सीरिया में क्रांति हुई और वह इस राज्य से पृथक् हो गया। पर श्री नासिर ने अपने देश का नाम मिस्र के स्थान पर 'संयुक्त अरब गणराज्य' ही रहने दिया। २६ दिसम्बर, १९६१ को मिस्र ने यमन के साथ अपने संघ को समाप्त कर दिया। परन्तु ८ मार्च, १९६३ को सीरिया में पुन एक नासिर समर्थक क्रांति हुई और अप्रैल में मिस्र, सीरिया तथा ईराक ने मिल कर पुन अरब संघ का निर्माण किया। यह संघ भी आगे चल कर भंग हो गया।

भविष्य ही यह बतायेगा कि अरब राज्यों की एकता का प्रयास कहाँ तक सफल होता है। अरब राज्यों में एकता का एकमात्र आधार इजरायल

का उग्र विरोध ही प्रतीत होता है, किन्तु जून १९६७ में इजरायल के साथ संघर्ष में बुरी तरह पराजित होने के बाद एकता के इस आधार को आघात पहुँचा है और कतिपय अरबराष्ट्र इजरायल के प्रति अपनी नीति पर पुनर्विचार आवश्यक समझने लगे हैं।

यह उल्लेखनीय है कि राजनीतिक चेतना के बावजूद राजनीतिक दृष्टि से मध्यपूर्व के क्षेत्र में अभी तक राजनीतिक स्थिरता नहीं आई है। १९५२ की क्रांति से पहले दस वर्षों में मिस्र में १७ सरकारें बदलती रहीं और अब भी वहाँ तानाशाही तरह का ही शासन है और कोई नहीं कह सकता कि वर्तमान में नासिर के नेतृत्व को कब उखाड़ दिया जाय। १९४५ से १९५४ तक सीरिया में २४ सरकारें बदली और आज भी वहाँ की राजनीतिक दशा अस्थिर है। मध्य पूर्व सैनिक षड्यन्त्रों और शासनाध्यक्षों की हत्याओं का घर कहा जा सकता है। यहाँ के अधिकांश देशों में सरकारों का आना-जाना चलता ही रहता है।

मध्य पूर्व अथवा पश्चिमी एशिया के राज्यों, उनके स्वातन्त्र्य दिवसों और राजनीतिक व्यवस्थाओं का चित्र अग्रिम सूची से एक ही निगाह में स्पष्ट हो सकेगा—

Country	Area (1,000 Sq Km)	Population (Mln) 1967	Capital	Date of Independence	Political System
1. Afghanistan	655 0	15 75	Kabul	28 2 1919	Constitutional Monarchy
2 Burmes Union	678 0	26 25	Rangoon	4 1 1948	Federal Republic
3 Viet Nam	328 0	36 0			
Democratic Republic of Viet-Nam	about 158	19 5	Hanoi	2.9 1945	Socialist Republic
4. Israel	14 0**	2 67	Tel Aviv	State set up in 1948	Republic
5 India	3,269	511 0	Delhi	15 1 1947	-do-
6. Indonesia	1,904 4	107 0	Jakarta	1 8 1945	-do-
7. Jordon	96 6	2 04	Amman	25 5 1946	Constitutional Monarchy
8 Irac	44 4	8 34	Baghdad	3 10 1932	Republic
9. Iran	1,648 0	26 3	Tehran	—	Constitutional Monarchy

10. Yemeni Arab Republic	195.0	about 5	San'a	1918	Republic
11. People's Republic of South Yemen	about 500	about 10	Ash Shaab	29.11.1967	Republic
12. Cambodia	172.5	6.32	Phnom-Penh	9.11.1953	Constitutional Monarchy
13. Republic of Cypus	9.3	0.61	Nicosia	16.8.1960	Republic.
14. Chinese People's Republic	9,5970***	723.14	Peking	—	Socialist Republic
15. Korea	238.8	42.18		On 15.8.1945 liberated by the Soviet Army	-do-
Korean Democratic People's Republic	127 2	12 40	Pyongyang	Proclaimed in Sept. 48 The South Korean "republic was proclaimed in May, 1948	-do-
South Korea	96.6	29.78	Seoul		

16	Kuwait	20 7	0 57	Kuwait	19 6 1961	Constitutional Monarchy
17	Laos	236 8	2 7	Vientiance	19 7 1949	Constitutional Monarchy
18	Republic of Labanon	10 4	2 46	Beirut	22 11 1943	Republic
19	Malaysia	332 6	9 7	Kula Lampur	Independene of Malaya proclaimed on 31 8 1957 On 16 9 1963 it entered the Fede ration Malaysia	Federal State
20	Maldive Island	0 3	0 1	Male	26 7 1965	Monarchy (Sulatanate)
21	Mangolian People s Republic	1 565 0	1 2	Ulan Bator	11 7 1921	Socialist Republic
22	Nepal	140 8	10 29	Kathmandu	—	Constitutional Monarchy
23	Pakistan	946 7	107 26	Rawalpindi	14 8 1947	Republic

24. Saudi Arabia	1,000, 2,400	about 8.0	Riyadh	—	Monarchy
25. Singapore	0 6	1 96	Singapore	Entered Malaysian Federation Sept 16, 1963, seceeded August 9, 1965	Republic
26 Syrian Arab Republic	185 2	5.7	Damascus	22 11 1943	Republic
27 Thailand	514.0	32 68	Bankok	—	Monarchy
28. Turkey	767.1•	33 83	Ankara	—	
29. Philippines	299 4	34 66	Quezon City (Actually Manila)	Became independent of Spain in June, 12 1698	Republic
30. Ceylon	65.6	11 49	Colombo	4,2 1948	Republic in British Common Wealth Constitutional
31. Japan	372.1	99 92	Tokyo	—	Monarchy

•Including the European part (23,500 Sq Km)

अफ्रीका की जागृति
(Resurgence of Africa)

अफ्रीका कोई एक देश नहीं है, अपितु एक महाद्वीप है जिसमें अनेक देश हैं। उत्तरी अफ्रीका विशेषत अल्जीरिया, संयुक्त अरब गणराज्य और लीबिया के निवासी गोरे हैं, किन्तु शेष अफ्रीका के मूल निवासी काले हैं। लेकिन इन गोरो और कालो के बीच पर्याप्त मात्रा में एकता और प्रेम विद्यमान है।

अफ्रीका महाद्वीप में आज से हजारों वर्ष पूर्व नील नदी की घाटी और कार्थेज की महान् सम्यताओ का विकास हुआ, फिर भी केवल एक शताब्दी पूर्व तक इसका बाह्य ससार से अत्यन्त थोड़ा सम्पर्क रहा और इसलिए इसे अन्ध महाद्वीप (Dark Continent) की सज्ञा दी जाती थी। १६ वी शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप और एशियावासी इस महाद्वीप के उत्तर तटवर्ती प्रदेशो और मिस्र से ही थोडे बहुत परिचित थे। सहारा के विशाल मरुस्थल और भूमध्यरेखा के दक्षिण मे स्थित प्रदेश से वे लगभग अपरिचित ही थे। इस समय तक अफ्रीका उनके लिए 'एक महाद्वीप न होकर एक तट मात्र था' और इस प्रदेश मे उनकी रुचि केवल इतनी ही थी कि वे यहा कुछ ऐसे बन्दरगाहों की स्थापना कर सकें जो भारत जाने वाले जहाजों के लिए विश्राम स्थल बन सकें, जहा से ये जहाज ईधन ले सकें और साथ ही अमेरिका के गन्ने और कपास के बगानो मे काम करने के लिए उन्हे गुलाम भी मिल सके।

लेकिन सन् १८७० के बाद से ही यूरोपियन शक्तियो मे अफ्रीका मे उपनिवेशो की प्राप्ति की होड लग गई। १८८० से १८६० के बीच उन्होने सम्पूर्ण अफ्रीका के विविध प्रदेशो को आपस मे बाट लिया। १८७० के बाद केवल २० वर्ष की अल्पावधि में ही यूरोपियन शक्तियो ने अफ्रीका के लगभग ६/१० भाग को आपस में विभाजित कर लिया। १८८० मे उनके पास १ लाख वर्गमील का प्रदेश था जो १० वर्ष बाद ६ लाख वर्गमील का प्रदेश हो गया। अफ्रीका महाद्वीप के समस्त देशों में से, जिनकी सख्या इस समय कुल मिलाकर ५० के लगभग है, प्रथम महायुद्ध से पूर्व केवल एबीसीनिया (अथवा इथोपिया) ही स्वतन्त्र राज्य रह गया था, किन्तु १६३६ मे इसकी स्वतन्त्रता भी इटली द्वारा समाप्त कर दी गई हालांकि द्वितीय महायुद्ध मे यह राष्ट्र पुन स्वतन्त्र हो गया था।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर १९४५ मे अफ्रीका महाद्वीप में केवल ४ राज्य स्वतन्त्र थे। एबीसीनिया, लाइबीरिया, दक्षिण अफ्रीका का सघ और

मिस्र। महायुद्धोत्तरकाल में सम्पूर्ण अफ्रीका में स्वतन्त्र होने की इच्छा बलवती होती गई और अफ्रीका 'अफ्रीकियों का हो' की भावना अँगड़ाई ले उठी। स्वतन्त्रता से पूर्व सामान्य तौर पर अधिकांश अफ्रीका महाद्वीप विभिन्न शक्तियों के मध्य इस प्रकार विभाजित था—

क्र० सं०	नाम	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या
१.	फ्रांसीसी अफ्रीका	४०,२२,३५०	४,४१,५२,६००
२.	ब्रिटिश अफ्रीका	२०,२५,७१६	६,२४,३३,६४५
३.	बेल्जियम अफ्रीका	९ २४,३००	१,२०,००,०००
४.	पुर्तगीज अफ्रीका	७,८८,०००	९५,००,०००
५.	स्पेनिश अफ्रीका	१,३४,२००	१४,६५,०००

द्वितीय महायुद्ध के बाद यह अन्जान अथवा अंधा महाद्वीप स्वतन्त्रता की आकांक्षा के इतने तीव्र प्रकाश से आलोकित हो उठा कि सम्पूर्ण क्षेत्र में यूरोपियन साम्राज्यों का उसी तीव्रता से अंत हो गया जिस तीव्रता से उनका निर्माण हुआ था। २० वर्ष के अल्पकाल में ही अफ्रीका के ६ १० देश स्वतन्त्र हो गए। जाति, भाषा, इतिहास, परम्परा और धर्म आदि की विभिन्नताओं के विद्यमान होते हुए भी अफ्रीका में राष्ट्रवाद की यह अंगड़ाई विलक्षण थी। वस्तुतः इस राष्ट्रवाद का प्रधान कारण यह था कि यूरोपियन लोग अपने जातीय सिद्धान्त के आधार पर अफ्रीका के अश्वेत लोगों को अपने से निम्नकोटि का मानते थे। इस सिद्धान्त की तीव्र प्रतिक्रिया ने अफ्रीका के दुर्दमनीय राष्ट्रवाद को जन्म दिया। अफ्रीकन राष्ट्रवाद को मुख्य प्रेरणा जातीय समानता की आकांक्षा की प्राप्ति से मिली और राजनीतिक स्वतन्त्रता उनके लिये जातीय समानता की प्राप्ति का साधन बन गई। ई० हक्सले (E. Huxley) के शब्दों में "समानों के रूप में, स्वीकृति के अर्थों में अभिज्ञान (Identity) की माग वस्तुतः अधिकांश अफ्रीका की राष्ट्रीयता का आधार है।"[1] अफ्रीका में राष्ट्रवाद और स्वतन्त्रता के जागरण के उदय का दूसरा प्रमुख कारण यह रहा कि युद्धोपरान्त भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही एशिया के विभिन्न भागों में भी स्वतन्त्रता की लहर व्याप्त हो गई। विदेशी दासता

1. Quoted in International Relations, P. 565 (by Palmer and Perkins)

से मुक्त हो कर एक-एक कर एशिया के राष्ट्र स्वतन्त्र होते गये। अरब मद्द सागर से लेकर हिन्द महासागर और प्रशान्त के तटवर्ती देशों में स्वतन्त्रता के पारिजात खिल उठे। समय और बदलती हुई हवा के रुख के साथ साथ इन पुष्पों की सुरभि हिन्द महासागर और अरब सागर की लहरों पर बहते हुए अफ्रीकन महाद्वीप के तटों से आ टकराई और अब इस महाद्वीप के करोड़ों हाथ स्वतन्त्रता देवी का वरण करने के लिए उठ गये। उक्त दो प्रमुख कारणों के अतिरिक्त पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव, महायुद्ध के दौरान स्वातन्त्र्य प्रिय अमेरिकनों के सम्पर्क और राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ आदि में उपनिवेशवाद के विरोध ने भी अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण के विकास में उल्लेखनीय भूमिका अदा की। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में बहुत सहायता दी। द्वितीय महायुद्ध ने उपनिवेशवादी शक्तियों को अत्यन्त दुर्बल बना दिया और फ्रांस, ब्रिटेन आदि विजयी राष्ट्र इतने दुर्बल हो गये कि उनमें अपने उपनिवेशों की प्रबल स्वतन्त्रता की आकांक्षा का दमन करने की शक्ति नहीं रह गई। इस तरह उनके एशिया और अफ्रीका के उपनिवेश तेजी से इनके हाथ से निकल गये। पहले एशिया के उपनिवेश तेजी से स्वतन्त्र हुए जिससे अफ्रीकी राष्ट्रवादियों में प्रबल आत्म-विश्वास जागृत हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका महाद्वीप में एक-एक करके स्वतन्त्रता की तीन उत्तरोत्तर जबर्दस्त लहरें आईं। जैसा कि कहा जा चुका है, महायुद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका में केवल ४ राज्य स्वतन्त्र थे—एबीसीनिया, लाईबीरिया, दक्षिण अफ्रीका का संघ और मिस्र। यह १३० लाख वर्गमील का क्षेत्र अफ्रीका महाद्वीप के कुल क्षेत्रफल का केवल ११ प्रतिशत था और इसकी २८ करोड़ की आबादी अफ्रीका की कुल जनसंख्या का २६ प्रतिशत थी। इसके बाद स्वतन्त्रता की पहली लहर आई। इस लहर में केवल अल्जीरिया के अपवाद को छोड़कर अरबों द्वारा आबाबित उत्तरी अफ्रीका से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों का सफाया किया। इस पहली लहर द्वारा स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रों में १९५१ में स्वतन्त्र होने वाला लीबिया और १९५६ में स्वाधीनता पाने वाले सूडान, मोरक्को तथा ट्यूनीसिया थे। इसके बाद स्वतन्त्रता की दूसरी लहर आई जिसने काले अर्थात् नीग्रो लोगों द्वारा आबाबित अफ्रीका पर प्रभाव डाला। १९५७ में ब्रिटेन द्वारा घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और १९५८ में गिनी पंचम फ्रेंच गणराज्य से पृथक हो गया। १९५९ तक अफ्रीका में ग्यारह राज्य स्वाधीन हो गये किन्तु अभी तक सहारा के दक्षिण का और जम्बेसी नदी के उत्तर का मध्य अफ्रीका पराधीन था। १९६० में स्वतन्त्रता की तीसरी जबरदस्त लहर आई जिसने

इस प्रदेश के अधिकांश गुलाम देशों को आजाद कर दिया। यह वर्ष अफ्रीका के स्वतन्त्रता का वर्ष कहा जाता है जिसमे १७ देश स्वतन्त्र हो गये। इसके बाद एक एक करके अफ्रीका के शेष देश भी स्वतन्त्र हो गये। १९६६ के अन्त तक केवल इनेगिने प्रदेशों को छोड कर सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप आजाद हो गया। इस समय तक जो विभिन्न अफ्रीकन देश स्वतन्त्र हो गये, उनका ब्योरा इस प्रकार से है—

क्र.स.	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व के प्रशासकीय देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	स्वतन्त्र होने की तिथि
१	लाइबेरिया	अमेरिका	४३,०००	२७,५०,०००	१८४७
२.	इथियोपिया	—		२ करोड	१९४१
३	लीबिया	—	६,७९,३५८	१२,००,०००	२४ नवम्बर १९५१
४.	इरिट्रिया	इटली	—	—	सितम्बर १९५२
५	सूडान	ब्रिटेन	९,६७,५००	१० करोड	जनवरी १९५६
६	मोरक्को	फ्रांस	—	—	मार्च १९५६
७.	ट्युनीशिया	फ्रांस	४८,३१३	३९,२५,०००	मार्च १९५६
८.	घाना	ब्रिटेन	९१,८४३	४८ लाख	मार्च १९५७
९	गिनी	फ्रांस	१,०५,२००	३,००,०००	अक्टूबर १९५८
१०.	संयुक्त अरब गणराज्य	—	३.८६,१९८	३ करोड	१९५९
११	कैमरून	फ्रांस	१,६६,४८९	३२,६५,०००	जनवरी १९६०
१२.	मोरक्को (कुछ अंश)	स्पेन	—	—	मार्च १९६०
१३	टोंगा	फ्रा.स	४,२१,८९३	१२ लाख	अप्रेल १९६०
१४	मालीसंघ	फ्रांस	—	—	जुलाई १९६०
१५	कांगोली गणराज्य	बेल्जियम	९,४३,०००	१,३० करोड	जुलाई १९६०
१६.	सोमालिया	ब्रिटेन व इटली	—	—	जुलाई १९६०
१७.	मालागासी गणराज्य	फ्रांस	२,२८,०००	५१,७४,५२३	जुलाई १९६०
१८.	छाद	फ्रांस	४,९६,०००	२५,८०,०००	अगस्त १९६०
१९.	नाइजर	फ्रांस	४९,४५,०००	२४ लाख	अगस्त १९६०

क्र सं	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	स्वतन्त्र होने की तिथि
२०	आइवरी कोस्ट	फ्रांस	—	—	अगस्त १९६०
२१	वोल्टाई गणराज्य	फ्रांस	—	—	अगस्त १९६०
२२	गेबेन	फ्रांस	१,०३,०००	४,१२,५००	अगस्त १९६०
२३	टोगो	फ्रांस	४५,९००	१७,११,०००	अगस्त १९६०
२४	कांगो गणराज्य	—	—	—	अगस्त १९६०
२५	मध्यवर्ती अफ्रीका	—	—	—	अगस्त १९६०
२६	नाइजीरिया	ब्रिटेन	३,७३,२५०	३ ५ करोड	अक्टूबर १९६०
२७	मारितेनिया	फ्रांस	४,१५,९००	५ लाख	नवम्बर १९६०
२८	सियरालियोन	फ्रांस	—	—	अप्रैल १९६१
२९	रुआंडा उरांडी	बेल्जियम	२०,५४०	४६,२०,०००	१ जुलाई १९६२
३०	अल्जीरिया	फ्रांस	५८,२६,०००	१,०२,६५,०००	सितम्बर १९६२
३१	युगांडा	ब्रिटेन	९३,९८१	७५,१७,०००	अक्टूबर १९६२
३२	तगानिका	ब्रिटेन	३,६२,६८८	९० लाख	दिसम्बर १९६२
३३	केनिया	ब्रिटेन	—	—	दिसम्बर १९६३
३४	जजीबार	ब्रिटेन	—	—	१० दिसम्बर १९६३
३५	(मलावी) न्यासलैंड	ब्रिटेन	—	—	१९६४
३६	जेम्बिया (उत्तरी रोडेशिया)	ब्रिटेन	—	—	१९६४
३७	गैम्बिया	ब्रिटेन	—	—	१९६५
३८	ब्रिटिश गियाना (नया नाम गुआना)	ब्रिटेन	८६,०००	६,५०,०००	२६ मई १९६६
३९	बोत्सवाना (बचूआनालैंड)	ब्रिटेन	२७,५००	३,३७,०००	३० सितबर १९६६
४०	लैसोथो (बसुतोलैंड)	ब्रिटेन	११,७१६	१,२४,०००	३ अक्टूबर १९६६
४१	बारबाडोस	ब्रिटेन	१६६	२,५०,०००	३० नवम्बर १९६६
४२	मारिशस	ब्रिटेन	—	—	मार्च १९६८

यह स्मरणीय है कि अफ्रीका महाद्वीप की राजनीतिक परम्परायें प्रारम्भ से ही अधिनायकवादी और सर्वसत्तावादी रही हैं। औपनिवेशिक युग के शुरू होने से पहले अफ्रीका महाद्वीप में एकतन्त्रात्मक शासन का बोलबाला था। कबीलों के सरदार स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करते थे। जब औपनिवेशिक युग प्रारम्भ हुआ तब भी इस स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया और इस महाद्वीप की भोली-भाली प्रजा साम्राज्यवादी शक्तियों के निरंकुश शासन से प्रताड़ित रही। इस राजनीतिक व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि अफ्रीका महाद्वीप के किसी भी देश में स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराओं का विकास नहीं हो सका, यद्यपि अब भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों में संसदात्मक लोकतन्त्र की स्थापना की गई है तथापि वहां भी उदार लोकतन्त्र बहुत सीमा तक सफल नहीं हुआ है। अल्जीरिया या घाना या इथोपिया अथवा मिस्र किसी भी देश को लें, हमें सर्वत्र यही दिखलाई पड़ेगा कि इन सभी देशों में निर्वाचित एकतन्त्र की स्थापना की गई है।

अफ्रीका में साम्यवादी प्रभाव अभी तक विशेष रूप से उग्र नहीं हो पाया है तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि साम्यवादी देशों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अफ्रीकावासियों के संघर्ष को नैतिक बल पहुंचाने में सक्रिय सहायता की है। इनमें अगुवा सोवियत संघ रहा है। वह समय-समय पर संयुक्त राष्ट्र संघ में और उसके बाहर अफ्रीकन जनता की स्वाधीनता का समर्थन करता रहा है। कांगो के प्रथम प्रधानमन्त्री पेट्रिस लुमुम्बा की मृत्यु पर मास्को में एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की गई थी जिसमें आज भी अफ्रीका के विभिन्न देशों के विद्यार्थी वैज्ञानिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस तरह सोवियत संघ अफ्रीका में साम्यवाद का प्रचार-प्रसार करने हेतु सचेष्ट है। यही नहीं उसने स्वयं को अफ्रीका के श्रम आन्दोलनों के साथ जोड़ने की चेष्टा की है और अफ्रीका के गरीब देशों को आर्थिक सहायता देकर उनकी पर्याप्त सहानुभूति अर्जित कर ली है। फिर भी अफ्रीका के राष्ट्र इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि साम्यवादी देश उनके प्रति सहानुभूति तो रखते हैं, लेकिन यह भी चाहते हैं कि अफ्रीका में साम्यवाद की स्थापना हो। अफ्रीका महाद्वीप में भी चीन सोवियत संघ का प्रतिद्वन्द्वी है। सोवियत संघ और चीन दोनों ही अफ्रीका के देशों को अपने-अपने साम्यवादी ढंग से प्रभाव में लाना चाहते हैं। इसी दृष्टि से दोनों देशों के उच्च नेतागण अफ्रीका के विभिन्न देशों के दौरे करते रहे हैं।

अफ्रीका की समस्या न केवल राजनीतिक, अपितु एक बहुत बड़ी सीमा तक आर्थिक और औद्योगिक भी है। आर्थिक दृष्टि से अफ्रीका के देश

बहुत अधिक पिछड़े हुए हैं यद्यपि प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से अफ्रीका संसार का एक सौभाग्यशाली देश है। अब तक साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्तियां अफ्रीका महाद्वीप के विशाल प्राकृतिक साधनों का शोषण अपने लिए करती रही थीं, परन्तु अब इनका उपयोग राष्ट्रीय हितों में होना [redacted]। अफ्रीका के देश इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि विकसित देश उन्हें वांछित आर्थिक और प्राविधिक सहायता दें, किन्तु साथ ही उनकी राजप्रभुता और स्वतन्त्रता पर भी किसी प्रकार की आंच न आ पाये। अब यह सम्भव नहीं है कि अफ्रीका महाद्वीप के देश पाश्चात्य औद्योगिक-उत्पादन के लिए बाजार बन कर रह जाएं।

अफ्रीका के विभिन्न देशों की एक गम्भीर राजनीतिक समस्या श्वेत यूरोपियनों की है, जिनके पूर्वज यूरोपियन देशों से आकर अफ्रीका में बस गये थे। यद्यपि अफ्रीका की जनता की तुलना में ये लोग अत्यन्त अल्प संख्या में हैं, लेकिन दीर्घकाल तक अफ्रीकावासियों पर शासन करने के कारण उनके मन में उच्चतम की भावना घर किये हुए है। साथ ही उनके अपने विशिष्ट आर्थिक स्वार्थ भी हैं। अफ्रीका के मूल निवासी इन गोरे उपनिवेशकारियों को घृणा और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद-नीति ने सम्पूर्ण संसार के समक्ष निर्लज्ज रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि वहां के गोरे उपनिवेशवादी मानवीय न्याय और सज्जनता की समस्त मर्यादाओं को लांघ कर अपने विशिष्ट आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए शासन के बल पर अपने आपको अफ्रीका महाद्वीप में बनाये रखना चाहते हैं।

कुछ प्रमुख अफ्रीकन देश
(Some Important African Countries)

अफ्रीका महाद्वीप के जागरण के इस संक्षिप्त विवेचन के उपरान्त यहां के कुछ प्रमुख राष्ट्रों की जानकारी प्राप्त करना उपयोगी है—

लीबिया—लीबिया नामक संघात्मक राज्य की स्थापना २४ दिसम्बर, १९५१ को इटली के तीन उपनिवेशों त्रिपोलीतानिया, सायरेनिका तथा फेजान को मिलाकर की गई। यह एक राजतन्त्रात्मक राज्य है जिसकी जनता अधिकांशतः मुस्लिम मतावलम्बी है। लीबिया अरब लीग का एक प्रमुख सदस्य है। दिसम्बर १९५५ से वह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है और अफ्रीकन देशों की स्वतन्त्रता के लिये अपने सिपाही देशों का साथ दे रहा है।

ट्यूनीसिया—यह प्राचीन देश अफ्रीका के भूमध्य सागर के तट पर स्थित है। पाश्चात्य सभ्यता से गम्भीर रूप में प्रभावित इस देश का राष्ट्रवाद धार्मिक संकीर्णता और सामन्तवाद से मुक्त रहा है। २० मार्च, १९५६ को

फ्रांस द्वारा ट्यूनीसिया की स्वतन्त्रता स्वीकार करने के बाद नवम्बर, १९५६ से ही वह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है। ट्यूनीसिया के नेता अफ्रीकन देशों की एकता के विशेष रूप से समर्थक हैं। दुर्भाग्यवश अरब राष्ट्रों के साथ इस देश के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य के रूप में उसने अफ्रीकी एशियाई देशों का साथ दिया है।

मोरक्को—अरब देशों में मोरक्को ही एक ऐसा देश है जो लगभग पिछले १२०० वर्षों तक एक स्वाधीन देश बना रहा, १९१२ में पहली बार उसे फ्रांस का संरक्षण स्वीकार करना पड़ा। यह स्थिति १९१२ से १९५६ तक रही। १९३० से ही वहां स्वतन्त्रता का आन्दोलन शुरू हो गया और फ्रांस के लिये मोरक्को को गुलाम बनाये रखना सम्भव न रहा। अन्त में २ मार्च, १९५६ को मोरक्को की जनता ने पुनः स्वाधीनता की सांस ली। दिसम्बर, १९५६ में मोरक्को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया।

इथोपिया—इसे एबीसीनिया भी कहा जाता था। द्वितीय महायुद्ध के बाद यह स्वतन्त्र हो गया और १९३० से चले आ रहे इथोपियन सम्राट हैल-सैलासी ने पुनः शासन का भार सम्हाल लिया। इथोपिया अफ्रीका के सर्वाधिक प्रगतिशील राष्ट्रों में से एक है और आर्थिक दृष्टि से उसने स्वयं को काफी सुदृढ़ कर लिया है। यह देश अफ्रीका राष्ट्रों की एकता का प्रतीक है।

कांगो (ब्रेजेवील एवं लियोपोल्डविले)—अफ्रीका में दो कांगो हैं जिनमें से एक फ्रांस के अधीन था और दूसरा बेल्जियम के। १९६० में दोनों ही कांगो को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई और दोनों ही में गणतन्त्रात्मक शासन की स्थापना की गई।

नाइजीरिया—यह ब्रिटिश उपनिवेश एक अक्टूबर, १९६० को स्वतन्त्र हो गया। इसका क्षेत्रफल ३,९९,९९८ वर्गमील और जनसंख्या लगभग ३,४०,००,००० है। यह जनसंख्या अफ्रीका के देशों में सबसे अधिक है। नाइजीरिया अफ्रीका का समृद्धतम और महत्वपूर्ण देश है।

यहां लोकतन्त्रात्मक परम्परायें पर्याप्त रूप से दृढ़ हैं। यह देश तीव्रता से आर्थिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ रहा है। संयुक्त राष्ट्रसंघ में नाइजीरिया ने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और रंगभेद की नीति के विरुद्ध अन्य अफ्रीकी-एशियाई देशों के साथ मिलकर संघर्ष किया है।

युगाण्डा—लगभग ६८ वर्षों तक ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत रहने के पश्चात् युगाण्डा को ८ अक्टूबर, १९६२ को स्वतन्त्र हो गया। अपनी स्वतन्त्रता के समय ही यह राष्ट्र मंडल का सदस्य बन गया। युगाण्डा एक संघात्मक राज्य है। आर्थिक दृष्टि से यह एक समृद्ध देश है। यह राष्ट्र

भी अन्य अफ्रीकन राज्यों की भांति रंगभेद नीति और पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यवाद का विरोधी रहा है।

केनिया—यह युगाण्डा के उत्तर पूर्व में स्थित है। इस देश का कुल क्षेत्रफल लगभग २ लाख २५ हजार वर्गमील और आबादी लगभग ६५ लाख है। द्वितीय महायुद्ध के बाद केनिया में, जो उस समय ब्रिटिश उपनिवेश था, स्वातन्त्र्य आन्दोलन बहुत तीव्र हो गया। १२ दिसम्बर १९६३ को यह एक स्वतन्त्र देश बन गया और उसे सर्व सम्मति से राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना लिया गया। इसके शीघ्र बाद ही केनिया ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त कर ली।

केनिया अफ्रीका में चीनी साम्राज्यवाद का प्रबल विरोधी और स्वतन्त्र, लोकतन्त्रात्मक, समाजवादी और संगठित अफ्रीका का समर्थक है।

घाना—पश्चिमी अफ्रीका में ब्रिटेन का एक उपनिवेश गोल्ड-कोस्ट था। वहाँ की जनता औपनिवेशिक दासता से छुटकारा पाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रही। जुलाई १९५३ में ब्रिटेन की सहमति से गोल्ड कोस्ट एक स्वतन्त्र प्रभुता सम्पन्न राज्य के रूप में प्रादुर्भूत हुआ। बाद में ब्रिटिश टोगोलैंड के साथ मिल कर १९५७ में गोल्ड-कोस्ट घाना के नाम से एक गणतन्त्रात्मक संघ बन गया और वहाँ अध्यक्षात्मक शासन की स्थापना हो गई। संयुक्त राष्ट्रसंघ में घाना उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति के विरुद्ध बोलता रहा है।

अल्जीरिया—भूमध्य सागर के तट पर ही अफ्रीका का एक अन्य अरब देश अल्जीरिया है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में यह एक फ्रेंच उपनिवेश था।

अल्जीरिया की जनता ने फ्रेंच शासन को कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं किया। अल्जीरिया का राष्ट्रीय आन्दोलन सन् १९२५ में मुखरित हुआ जब उसने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए स्पष्ट शब्दों में माँग की। स्वाधीनता के लक्ष्य की पूर्ति के लिए जुलाई, १९५१ को एक राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण किया गया जो 'राष्ट्रीय स्वाधीनता का मोर्चा' (Front of National Liberation, F N L) के नाम से प्रख्यात हुआ।

राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे के नेतृत्व में १ नवम्बर, १९५४ को फ्रेंच शासन के विरुद्ध सशस्त्र संग्राम प्रारम्भ हो गया, जो १९६२ तक लगातार चलता रहा जिसमें दोनों ही पक्षों के लोग लाखों की संख्या में कीड़े मकोड़ों की तरह मारे गये।

भीषण रक्त रंजित संग्राम और कठोरतम दमनकारी उपायों के उपरान्त भी जब अल्जीरिया के राष्ट्रवादियों को आत्म-समर्पण के लिए झुकाया न जा सका तो फ्रेंच साम्राज्यवादियों ने यह निश्चय किया कि अल्जीरिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर वहां जनमत संग्रह कराया जाय। फ्रेंच राष्ट्रपति डिगाल ने आत्म निर्णय और जनमत के आधार पर अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया। जनवरी १९६१ में जनमत संग्रह का कार्य हुआ जिसमें लगभग डेढ़ करोड़ लोगों ने अल्जीरिया में स्वायत्त शासन स्थापित होने के पक्ष में और पचास लाख लोगों ने इसके विपक्ष में मत दिये। परन्तु डिगाल द्वारा प्रस्तावित स्वायत्त शासन प्राप्त करने पर भी अल्जीरिया पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होता था क्योंकि किसी न किसी रूप में उस पर फ्रांस का अधिकार बना ही रहता।

कुछ दिनों बाद अल्जीरिया की समानान्तर सरकार ने वार्तालाप का ढंग अपनाया। इसी बीच डिगाल की अल्जीरिया-नीति से असन्तुष्ट कुछ फ्रेंच सैनिक अधिकारियों ने २२ अप्रेल १९६१ को सहसा अल्जीरिया पर आक्रमण करके उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया। किन्तु डिगाल द्वारा इस सैनिक विद्रोह को कुचल दिया गया। अन्त में १ जुलाई १९६२ को अल्जीरिया को स्वतन्त्रता दे दी गई और इस प्रकार एक महान् स्वतन्त्रता संग्राम का अन्त हुआ। ८ अक्टूबर, १९६२ को अल्जीरिया संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया और तब से वह अफ्रीका में विकासशील राष्ट्र का प्रतीक बना हुआ है।

स्वतन्त्र अफ्रीका महाद्वीप की समस्यायें
(Problems of Independent African Continent)

नवोदित अफ्रीका के राज्यों को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इनमें से अधिकांश समस्यायें तो यहां की पिछड़ी हुई आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक स्थिति से उत्पन्न होती है। यहां के देशों के सामने विश्व के अन्य देशों के बराबर आने के लिए पार करने को एक लम्बा रास्ता पड़ा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यहां के कुछ देशों में अशान्ति हुई, गृह युद्ध छिड़े तथा जातीय भेद भाव के आधार पर अनेकों उपद्रव किए गए। महाद्वीप के देशों में विकास के लिए आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता का सूत्रपात हुआ। उनके हित राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक प्रश्नों को लेकर परस्पर टकराने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय एवं महाद्वीपीय स्तरों पर सर्वोच्चता पाने के लिए यहां के विभिन्न देशों के बीच शक्ति का संघर्ष छिड़ गया। इस प्रकार स्वतन्त्र अफ्रीका में अनेकता, संघर्ष और प्रतियोगिता का वातावरण जोर पकड़ने लगा। यहां के राष्ट्रों के विकास के लिए परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों

की आवश्यकता प्रमुख है किन्तु यहां इस आवश्यकता के विपरीत प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही हैं। विश्व की दूसरी शक्तियों के द्वारा इस फूट का लाभ उठाया जा रहा है। साम्यवादी गुट तथा पश्चिमी देश दोनों ही अफ्रीका में अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयासों में संलग्न हैं। योरोप के जिन देशों ने अफ्रीका के अपने उपनिवेशों को आजादी प्रदान कर दी है वे भी यहां किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव जमाये रखना चाहते हैं। उनका हित इस बात में रहता है कि इन देशों पर गोरी जाति का ही प्रभुत्व बना रहे। स्वतन्त्र अफ्रीका महाद्वीप की प्रमुख समस्याएं निम्न हैं—

१ अफ्रीका महाद्वीप में मिली-जुली संस्थाओं तथा विचारों के सहारे शान्ति को सशक्त बनाने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें एक नवीन अफ्रीका की सम्भावना निहित है। किन्तु नवीन विचारों एवं संस्थाओं का यह प्रयोग अफ्रीका के पुराने रीति रिवाजों तथा परम्पराओं से भिन्न पड़ता है तथा इसके प्रति यहां के लोगों में विरोध की भावनाएं हैं। समाज के परम्परावादी रूप के विध्वंस से जो असुरक्षा की भावना पैदा होती है वह इन देशों के विकास कार्यों की सफलता में मुख्य रूप से बाधक है।

२ विकास कार्यक्रमों को फलदायक बनाने के लिये अफ्रीका महाद्वीप में पहले सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति का लाना परम आवश्यक है। यहां के धार्मिक नियम राजनैतिक विचार अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियां आदि में मूलभूत परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। हो सकता है कि इस परिवर्तन काल में यहां के देशों को अनेक हिंसात्मक तथा नृशंसतापूर्ण अनुभव भी करने पड़ जाएं।

नौकर स्वामी

३ अफ्रीका के नव दिन राष्ट्रों का अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महत्व जानने से पूर्व यह समझना उपयोगी है कि यहां की शान्ति का लोगों के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। स्वतन्त्रता से पूर्व यहां के लोगों पर हजारों मील दूर बैठे शासकों की आज्ञा शासन करती थी। उपनिवेशवादी शक्तियों के प्रतिनिधि ही यहां के सब कुछ थे। उनके साथ अफ्रीकावासियों का सम्बन्ध नौकर और स्वामी का सम्बन्ध था किन्तु आज यह स्थिति नहीं रही है तो भी जातीय उच्चता के आधार पर योरोप के देश इन देशों पर अपने पूर्ण प्रभाव को बनाए हुए हैं।

४ गोरे और काले का भेद प्रकृति से उत्पन्न होता है। यह मनुष्य-कृत नहीं है और न ही मनुष्य इस परिवर्तित कर सकता है, किन्तु यह शारीरिक भेद अफ्रीका के सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन को प्रभावित करने वाला सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व है। गन्थर (Gunther) महोदय

के अनुसार "सब चीजों से ऊपर रंग-भेद ही है जो अफ्रीका में असन्तोष तथा विद्रोह उत्पन्न करता है। यह अफ्रीकी हीनता का प्रधान कारण है जिससे उपद्रव और विद्रोह पैदा होते हैं। यह गोरे तथा काले दोनों ही प्रकार के लोगों के मस्तिष्क को बिगाड़ देता है।" गोर सिद्धान्त शासनकाल में जातीय तथा रंग पर आधारित भेद भाव की नीति का पर्याप्त बढ़ावा दिया गया था। रंग भेद के कारण पूरे महाद्वीप में ही एक प्रकार का गहरी खाई पैदा हुई थी तथा जिन देशों में यूरोपियन अधिक नहीं रहते वहां के काले लोग भी अपने आपको गोरों से हीन मानते हैं। यह खाई तब तक बनी रहेगी जब तक समाज के शोषण के आधार पर चिरकाल तक समुदाय के विरुद्ध थोड़े से लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त होते रहेंगे। जान हच (John Hatch) के शब्दों में "अफ्रीका के लोग आत्म-विश्वास को, जो सहिष्णुता के लिए आवश्यक होता है तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जब तक वे रंग के आधार पर किये जाने वाले भेद-भाव से अपने आपको स्वतन्त्र नहीं कर लेते।" धीरे धीरे अफ्रीका के देशों में अब अफ्रीकियों की सरकारें स्थापित होती जा रही हैं तथा अब गोरे लोगों के विरुद्ध काले लोगों को कुछ विशेषाधिकार देने की प्रवृत्ति पर करती जा रही है।

सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन

५ केवल रंग-भेद तथा जाति-भेद को समाप्त कर देना ही पर्याप्त नहीं है। अफ्रीका के देशों में यूरोपीय देशों द्वारा अनेक मूलभूत परिवर्तनों की स्थापना करके सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन को बदल दिया गया था। अफ्रीका में शान्ति को पूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्रान्ति को सामाजिक तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी लाया जाय। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इन देशों में जो सरकारें स्थापित की गई हैं, यद्यपि उनका संचालन देश के निवासियों द्वारा ही किया जाता है किन्तु फिर भी वे इतनी अधिक सत्ता एवं अधिकार का प्रयोग करती हैं जितना कि विदेशियों द्वारा किया जाता था।

अनेक अफ्रीकी देशों में एक दलीय व्यवस्था को अधिक महत्वपूर्ण माना गया। इस मान्यता पर अफ्रीका के आदिवासी जीवन का प्रभाव है। आदिवासी जीवन की सामान्य परम्परा के अनुसार संगठित विरोधी का होना अनुचित है क्योंकि यह अनेक प्रकार के झगड़े उत्पन्न करता है। जो भी निर्णय लिए जाते हैं उन पर सभी व्यक्तियों के मत का प्रभाव रहता है। आज एक सामान्य अफ्रीकी अपने जीवन में यह शिकायत करता है कि उसके ऊपर सत्ता की जिस मात्रा का स्वतन्त्रता के बाद में प्रयोग किया जा रहा है वह स्वतन्त्रता के पूर्व प्रयोग की जाने वाली मात्रा से कहीं अधिक है। सत्ता की इस मात्रा

का भी यहां के लोग अपनी सुरक्षा के नाम पर स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार प्रायः पूरे अफ्रीका में ही सरकार के नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच बड़ा असन्तुलन होते हुए भी कोई इसका विरोध नहीं करता और न ही किसी को इससे असन्तोष होता है।

६ राष्ट्रवाद की भावना ने अफ्रीका के देशों में एकता का सूत्रपात किया और इसी एकता के आधार पर वे विदेशी शक्तियों से अपने आपको छुड़ा सके हैं। महाद्वीप के अधिकांश भाग पर राष्ट्रवाद का भारी प्रभाव है। हैच (Hatch) के शब्दों में स्वतन्त्रता एकता की मांग करती है और राष्ट्रीयता की तेज मानसिक शराब ने सारे देश को साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध एकीकृत करने में महत्वपूर्ण कार्य किया है। शिक्षा, सभ्यता एवं विज्ञान में पिछड़े होने के कारण यहाँ के देशों में राष्ट्रवाद उतना प्रभावशाली नहीं है जितना कि यह एशिया महाद्वीप में रहा है। यद्यपि राष्ट्रवाद की जागृति को रोका नहीं जा सकता तो भी अफ्रीका के बड़े क्षेत्र अभी तक राष्ट्रवाद के प्रभावशाली व्यवहार के लिए तैयार नहीं हैं अर्थात् यहां पर स्वशासन की स्थापना के अनुकूल वातावरण अभी तक नहीं बना है।

७ अफ्रीका के देशों में नवीन जीवन के प्रति, स्वशासन के प्रति, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति, पारस्परिक सहयोग के प्रति तथा जातीय एकता के प्रति श्रद्धा की भावनायें हैं। अफ्रीका अपने इसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में आया है। अब यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों का, घटनाओं का तथा मनमुटावों का प्रभाव इस महाद्वीप के देशों पर भी पड़े। किन्तु ये देश आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं हैं इसलिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकते। अफ्रीका का आर्थिक जीवन अब भी बहुत कुछ शेष संसार पर निर्भर करता है। इस आर्थिक परनिर्भरता की अवस्था में जब ये देश उपनिवेशवाद से स्वतन्त्रता की स्थिति में आये तो अनेक समस्यायें उत्पन्न होगईं। नये राज्यों का निर्माण उन प्रदेशों में से किया गया है जिनका यूरोपीय शक्तियों ने विभाजन कर रखा था। ये राज्य आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण नहीं रखते।

८ प्रायः पूरे अफ्रीका महाद्वीप में अफ्रीकावाद की भावना का प्रभाव है। सभी अफ्रीकी यह निर्णय कर चुके हैं कि सम्पूर्ण अफ्रीका पर भविष्य में केवल अफ्रीकियों का ही राज्य रहेगा। इस दृष्टिकोण के कारण अफ्रीका में विभिन्न संघ तथा उपसंघ बनाने के प्रस्तावों पर समय समय पर विचार किया जाता रहा है। भाषा, संचार साधन तथा आर्थिक विकास जैसी कुछ बाधायें

इस प्रकार के संघ निर्माण के मार्ग [redacted] हैं जिनको दूर करने के बाद यहां के लोगों में सुरक्षा की भावना आयेगी तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में भी विकास होगा।

९. अफ्रीका महाद्वीप शीत युद्ध के प्रसार को रोकने के लिए प्रयत्नशील है और इसी उद्देश्य से इसने अन्तर्राष्ट्रीय समाज [redacted] पदार्पण किया है। यद्यपि अफ्रीकी देश संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनेक कार्यों की आलोचना करते हैं तो भी यह उनके लिए एक आशा का प्रतीक है जो उनके आर्थिक तथा राजनैतिक विकास में सहायता देकर उन्हें विश्व राजनीति को प्रभावित करने योग्य बना सकता है तथा पूर्व और पश्चिम के झगड़े से दूर रख सकता है। अफ्रीका [redacted] देश यह चाहते हैं कि संयुक्त राष्ट्रसंघ साम्यवादी अथवा पूंजीवादी शक्तियों के हाथ की कठपुतली न रहकर पूर्व, पश्चिम और निष्पक्षों का बराबर प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था बन जाय। उनके मतानुसार यह संस्था उपनिवेशवाद, नवीन उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के नये तरीकों से अछूता है। वे चाहते हैं कि यह उनके अपने आर्थिक विकास में सहायता करे, उनकी राजनैतिक परेशानियों में सहायक बने तथा यही एकमात्र ऐसा अभिकरण है जो विश्व युद्ध को रोकने की सामर्थ्य रखता है।

अफ्रीका में साम्यवाद

साम्यवाद की प्रवृत्तियों का प्रभाव अफ्रीका महाद्वीप पर एशिया महाद्वीप की अपेक्षा कम है। अफ्रीका की राजनीति में यह एक प्रकार का विरोधाभास सा लक्षित होता है। एक ओर तो इस महाद्वीप में साम्यवाद के लिए प्राय सभी आवश्यक परिस्थितियां उपस्थित हैं जिनके कारण इस विचारधारा का प्रचार एवं प्रसार बिना किसी रुकावट के किया जा सकता है। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि यहां के लोग आर्थिक शोषण तथा साम्राज्यवाद के दमन एवं आतंकों के कटु अनुभव कर चुके हैं, इन देशों के प्रति यहां पर प्रबल विरोध की भावना वर्तमान होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पश्चिमी ढंग का प्रजातन्त्र, जो स्वतन्त्रता के ऊपर इतना अधिक जोर देता है और समानता के लिए लम्बे समय तक प्रतीक्षा करा सकता है, इस महाद्वीप के लोगों की आशाओं और महत्त्वाकांक्षाओं से मेल नहीं खाता। वे तो शीघ्र ही बीमारी से छुटकारा पाकर अपने लिए यथेष्ट भोजन की प्राप्ति में रुचि रखते हैं, अन्य अमूर्त आदर्शों में उनकी कोई रुचि नहीं है। इन सभी आवश्यकताओं को पूरी करने के साधन साम्यवाद के पास मौजूद हैं तथा उसके द्वारा दिये गये आश्वासनों के प्रति इस महाद्वीप के लोगों की रुचि रहना स्वाभाविक है। साथ ही साम्यवादी देशों द्वारा साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध,

आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को सफल बनाना तथा पूंजीपति वर्ग को समाप्त करके शोषण का अन्त करना, व्यक्तियों के बीच समानता की स्थापना करना और जाति भेदभाव की नीति के किसी भी रूप में प्रयोग की निंदा आदि साम्यवादी नीतियों के कुछ उदाहरण हैं जो अफ्रीका निवासियों का ध्यान अपनी ओर खींचने के लिए पर्याप्त से भी अधिक है। इसके साथ ही यह भी एक तथ्य है कि सोवियत रूस और साम्यवादी चीन द्वारा इस महाद्वीप के अनेक देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय सहयोग प्रदान किया गया था। इस सहयोग को वे देश कभी भी नहीं भुला सकते। इन सबके होने के बाद अफ्रीका महाद्वीप पर साम्यवादी गुट की पूरी नजर है तथा यहां से हटते हुए पश्चिमी प्रभाव के स्थान को वे स्वयं ग्रहण करने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न करने को तैयार रहते हैं। आर्थिक असमानता के प्रति यहां के लोगों का दृष्टिकोण स्पष्ट है तथा इसके परिणामों से वे भली भांति परिचित हैं।

सूडान गणतन्त्र के राष्ट्रपति इब्राहीम आबूद (Ibrahim Abboud) ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में बोलते हुए कहा था कि "अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर स्थित असहयोग तथा अशान्ति का कारण आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में असमानता है जो हमारे समय की एक विशेषता है तथा जो विश्व को अति धनवान और अति गरीब में विभाजित करती है। आर्थिक विकास के ये असंतुलित स्तर ही असंतोष तथा ईर्ष्या के बीज बोते हैं।" इन सब अनुकूल परिस्थितियों तथा वातावरण के रहने पर भी अफ्रीका में साम्यवाद का प्रभाव इतना कम है। इसका कारण विश्व की स्थिति को माना जा सकता है। अफ्रीका महाद्वीप का देशों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक बड़ा लाभ यह प्राप्त हुआ कि जब यहां के देशों ने अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर पांव रखा तो इनके सामने दो विरोधी तथा प्रतिस्पर्धापूर्ण गुट स्पष्टतः आ गये थे। उनके बीच स्थित शीत युद्ध एवं उसके भयानक परिणामों की कल्पना करने में भी ये देश समर्थ थे। साथ ही दोनों गुटों से अलग रहने की असंलग्नता की नीति का भारत के नेतृत्व में अनेक देशों ने पालन करना प्रारम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में सदियों के बाद प्राप्त की गई अपनी स्वतन्त्रता को बचाये रखने के उद्देश्य से इन देशों ने भारत का अनुगमन करना ही उपयुक्त समझा। शीत युद्ध की खतरनाक लपटों से यहां के नेता अपने प्रदेशों को बचाने के पक्ष में थे। इथियोपिया के कार्यवाहक राज्य मन्त्री कटेमा यिफ्रू (Katema Yifru) ने संयुक्त राष्ट्र संघ में कहा था कि "शीत युद्ध का प्रसार एशिया और अफ्रीका के लिए विशेष खतरे का निर्माण करता है तथा यह उनके सामाजिक तथा आर्थिक रूप के शान्तिपूर्ण एवं बौद्धिक विकास के लिए चुनौतियों का निर्माण करता है।" इसी प्रकार के विचार नाईजीरिया के

प्रधानमंत्री सर अबूबकर बलेवा (Sir Abubaker Balewa) ने कांगो की समस्या पर बोलते हुए प्रकट किये थे। उनका कहना था कि "अफ्रीका को सैद्धांतिक संघर्ष की युद्ध भूमि नहीं बनने देना चाहिए और इस कारण कांगो की स्थिति पर अफ्रीकी राज्यों को राजनैतिक स्तर पर विचार करने देना चाहिए।'

इन समस्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अफ्रीका महाद्वीप के देशों में साम्यवाद की विरोधी प्रवृत्तियां वर्तमान है तथा वे किसी भी वाद से अपने आपको बांधना नहीं चाहते। कुछ विचारकों का मत है कि साम्यवाद का इस महाद्वीप के राष्ट्रीय आन्दोलनों पर अधिक प्रभाव नहीं था। अफ्रीका के कई देशों में साम्यवादियों की कूटनीतिक चौकियां बनी हुई हैं जैसे कैरो, आदिसअबाबा, प्रीटोरिया, मोनरोविया आदि तथा अल्जीरिया, ट्यूनीसिया, फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में स्थानीय साम्यवादी दलों का प्रभाव है। अफ्रीका के नेताओं में से बहुत कम ही साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। किन्तु यहां के विभिन्न देशों के लिए साम्यवाद का प्रचार एवं प्रसार करने के उद्देश्य से एजेंट भेजे जाते हैं तथा यह सम्भावना है कि यहां के कुछ देश साम्यवादी विचारधारा के प्रति झुक जाय।

अफ्रीकी एकता आन्दोलन

(African Unity Movement)

अफ्रीका के विभिन्न देशों ने जब से स्वतन्त्रता प्राप्त की है तभी से उसके एकीकरण के लिए अनेकों प्रयास किए जा रहे हैं। अफ्रीका के राज्यों की समस्यायें समान हैं तथा स्वतन्त्रता के बाद इनमें परस्पर-निर्भरता की भावना की वृद्धि हुई है। समय समय पर इस महाद्वीप के दो या दो से अधिक देशों का किसी निश्चित लक्ष्य के लिए संघ बन जाता है। किन्तु समस्या यह है कि इस एकता को किस प्रकार प्राप्त किया जाय, इसी प्रश्न को लेकर अफ्रीका के राज्यों का विभाजन हो गया है। अफ्रीकी राज्यों के एकीकरण के मार्ग में अनेक बाधायें हैं। यहां के स्वतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की भावना का उदय नवीन युग की देन है। राष्ट्रवाद से प्रभावित अनेक नेताओं ने अफ्रीका के विभिन्न राज्यों के बीच जिन मन-मुटावों की स्थापना की थी उनको अभी तक दूर नहीं किया जा सका है। उन्नीसवीं शताब्दी में योरोपियन शक्तियों ने अफ्रीका का जो विभाजन किया था उसके कारण एक उपनिवेश दूसरे से पृथक हो गया तथा उनमें उपनिवेशी एकता के भाव आ गए। वर्तमान समय में इन उपनिवेशी संघों को नवीन अन्तर्अफ्रीकी संघ में परिवर्तित करना बड़ा कठिन है। योरोपियन शक्तियों ने अफ्रीकी संघ के महत्व को पहले से नहीं पहचाना तथा इस ओर कोई महत्वपूर्ण कार्य न किया।

अफ्रीकी भ्रातृत्व (Pan Africanism) का आन्दोलन महाद्वीप के एकीकरण के प्राचीनतम आन्दोलनों में से एक है। इसके समर्थक प्रायः 'संयुक्त राज्य अफ्रीका' के लक्ष्य का प्रस्ताव रखते हैं। उनके मतानुसार एक संघ के निर्माण के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है वे सभी अफ्रीका महाद्वीप में पाई जाती हैं। किन्तु जैसा कि रूपर्ट ईमर्सन (Rupert Emerson) ने लिखा है–'एक यथार्थवादी तो यह चाहेगा कि अफ्रीकी भ्रातृत्ववाद को एक आदर्श तथा रंगीन स्वप्न मानकर अस्वीकार कर दिया जाय क्योंकि यह राज्य सम्प्रभुता की उन ठोस दीवारों का उपयोगी उल्लंघन करने में असमर्थ है जिनको बनाने में अफ्रीकी लगे हुए हैं।" अफ्रीका में अमरीका के नमूने पर संघ का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि अमरीका के १३ उपनिवेशों के सामने जो समस्यायें थी आज का अफ्रीका उनसे भिन्न तथा संश्लिष्ट समस्याओं का सामना कर रहा है। यहां एकता के प्रतीक कम हैं तथा यह राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से एक संघ बनने के लिए उपयुक्त नहीं है।

अफ्रीका के देश अपने आपको बाह्य शक्तियों के प्रभाव से बचाने में असमर्थ हैं। अफ्रीका के देश प्रायः यह चाहते हैं कि वे शीतयुद्ध के प्रभावों से अछूते रहें किन्तु शीत युद्ध की प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि संसार का कोई भी महत्वपूर्ण भाग इस समय से अछूता नहीं रह सकता। अफ्रीका जैसा क्षेत्र, जिसका आर्थिक तथा सैनिक महत्व है तथा जहां अशान्ति एवं अस्थिरता की भारी सम्भावनायें हैं, वह दोनों गुटों की छाया से दूर नहीं रह सकता। अफ्रीकी एकता के सम्बन्ध में यहां के राज्यों के बीच जो मतभेद हैं तथा अलग अलग विचारधाराएं हैं उन पर शीत युद्ध का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। अफ्रीका के अनेक नेता मार्क्सवाद की खुलकर आलोचना नहीं करते, इसे एक बुराई नहीं कहते। इसके विपरीत यहां के अनेक देश अपनी समस्याओं को सुल्झाने में साम्यवादी देशों के अनुभवों से लाभ उठाना चाहते हैं और कुछ इससे भी आगे बढ़ जाते हैं। अफ्रीका के सभी राष्ट्र निष्पक्षता अथवा असलग्नता की नीति में विश्वास करते हैं किन्तु जब वे राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आते हैं तो इनके व्यवहारों, विचारों एवं व्याख्याओं में भारी अन्तर आ जाता है। कुछ देशों के सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा सद्भावनायें पहले की उपनिवेशवादी शक्तियों एवं पश्चिमी देशों के साथ प्रमुख रूप से जुड़ी हुई हैं, किन्तु कुछ दूसरे अफ्रीकी देशों का झुकाव साम्यवादी देशों के साथ गहरे सम्बन्ध बनाने की ओर होता जा रहा है।

इस प्रकार इस महाद्वीप में अनेकों भिन्नतायें तथा मतभेद चल रहे हैं तो भी यहां के राष्ट्रवादी नेता अफ्रीका का संघ बनाने के पक्ष में हैं। इन

सभी का लक्ष्य यह घोषित किया जाता है कि ये अफ्रीकी लोगों का जीवन-स्तर सुधारना चाहते हैं ; विश्व राजनीति में अफ्रीका का प्रभाव बढ़ाना चाहते हैं, शीत युद्ध संघर्ष में अफ्रीका को निष्पक्ष रखना चाहते हैं, शेष पराधीन अफ्रीकी राज्यों को स्वतन्त्र कराना चाहते हैं तथा अफ्रीका के सभी राष्ट्रों के बीच एकता की स्थापना करना चाहते हैं। ये लक्ष्य कुछ सामान्य प्रकृति के से हैं तथा इनको पूरा नहीं किया जा सकता इसी कारण वर्तमान अफ्रीका के सम्बन्धों पर इनका अधिक प्रभाव नहीं है। तो भी इन लक्ष्यों के कारण अफ्रीका के राष्ट्रीय आन्दोलनों को पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त हुई है। राष्ट्रपति एनक्रूमा (N Krumah) को घाना के बाहर प्राय अविश्वास की दृष्टि से देखा जाता था किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसने यह आन्दोलन चलाकर इस महाद्वीप के लोगों में जागरण की लहर पैदा कर दी है। इस प्रकार की एकता की प्रेरक शक्तियों में प्रथम तो महाद्वीपव्यापी सामान्य हित है दूसरा क्षेत्रवाद के प्रति आकर्षण है जो अफ्रीकी गुटों को पुन रूप देने में महत्व-पूर्ण कार्य कर रहा है। अफ्रीका के देश कभी-कभी प्राकृतिक एवं मानवीय स्रोतों को मिलाने का मार्ग ढूंढते हैं तथा कभी उपनिवेशवादियों द्वारा स्थापित स्वेच्छाचारी विभाजन रेखा से होने वाले नुकसानों को कम करने की सोचते हैं। आजकल चल रहे समन्वय आन्दोलनों को परिवर्तन का साधन भी माना जा सकता है और इसका प्रतीक भी। इन आन्दोलनों में से प्रमुख निम्न-लिखित हैं—

1. Ghana-Guinea-Mali (Union of African States)
2. The Casablanca Powers
3. All-African People's Conferences
4. Conferences of Independent African States
5. All-African Trade Union Federation (AATUF)
6. African Trade Union Confederation (ATUC)
7. The Brazzaville Powers (African-Malagasy Organisation for Economic Co-operation)
8. Conseil de l' Entente
9. The Mourovia Powers
10. The Lagos Meeting of African Heads of State
11. East African Common Services Organisation (Formerly East Africa High Commission)
12. Pan-African Freedom Movement of East, Central, and South Africa (PAFMECSA)
13. Economic and Technical Assistance Organisations.

अफ्रीका के विभिन्न देशों, गुटों एवं समुदायों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष चल रहा है। स्थायी एकता की स्थापना की दिशा में अर्थपूर्ण प्रगति बहुत कठिन है। यहां के कुछ देश साम्यवादी शक्तियों का विरोध करने हैं तो दूसरे पश्चिमी देशों को अपने मामलों में हस्तक्षेप करने से रोकते रहते हैं। इस महाद्वीप में दोनों ही गुटों का प्रभाव है किन्तु स्पष्ट रूप से इस प्रभाव को यहां का कोई भी देश स्वीकार नहीं करता। इनमें से अधिकांश का कहना यही है कि "वे न तो पश्चिम के समर्थक हैं और न साम्यवाद के ही समर्थक किन्तु वे तो अफ्रीकियों के समर्थक हैं।" यह विश्व के हित में होगा कि यहां की राजनैतिक समस्याओं पर बाह्य शक्तियों का अनुचित हस्तक्षेप न रहे और उन पर अफ्रीका के लोगों को ही विचार करने का अवसर दिया जाय। अफ्रीका महाद्वीप की विकास योजनाओं में संयुक्त राष्ट्र संघ महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है तथा यहां के देश धीरे-धीरे आगे बढ़ते जा रहे हैं। विश्व शान्ति इस बात की मांग करती है कि इस महाद्वीप को शस्त्रों की दौड़ में न पटका जाय तथा यहां अणु-शस्त्रों के परीक्षणों को किसी प्रकार का प्रोत्साहन न दिया जाय।

लेटिन अमेरिका का जागरण
(Resurgence of Latin America)

लेटिन अमेरिका एक ऐसा प्रदेश है जहां पर राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में अनेक भिन्नतायें देखने को मिलती हैं। यहां के समाज में आर्थिक असमानता बहुत है। एक ओर तो बहुत धनवान व्यक्ति हैं तथा दूसरी ओर बहुत गरीब परिवार। इसी प्रकार राजनैतिक दृष्टि से कुछ लोग तो प्रजातन्त्र का गुण गान करते हैं किन्तु दूसरे सैनिक तानाशाही में सुन्दर भविष्य की कल्पना करते हैं। इस प्रदेश के देशों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष चलता ही रहता है, ये परस्पर झगड़ते रहते हैं फिर भी किसी बाहर के शत्रु से मुकाबला करने के लिये सभी एक हो जाते हैं। यहां के राज्यों में कुछ समानतायें भी हैं, वे इन सभी को स्पेन से समान वसीयत में प्राप्त हुई हैं। सभी एक चर्च की पूजा करते हैं। सभी को अपरिहार्य प्राकृतिक बाधाओं का समान रूप से सामना करना होता है। सभी स्वतन्त्रता के पक्षपाती हैं। सभी उत्तरी अमेरिका की भारी शक्ति से परिचित हैं तथा अधिकांश को तो इस शक्ति का आश्रित भी बनना पड़ता है।

'लेटिन अमेरिका' शब्द का प्रयोग पश्चिमी गोलार्द्ध के उन राज्यों के लिए किया जाता है जो कि लेटिन संस्कृति की समान पृष्ठभूमि रखते हैं। लेटिन अमेरिका को प्रायः तीन मुख्य भागों में बांटा जाता है वे हैं मध्य

अमरीका, इसमे सात गणतन्त्र हैं, दूसरा केरीबियन (Caribbean) इसमे तीन गणतन्त्र हैं और तीसरा है दक्षिणी अमरीका, इसमे दस गणतन्त्र हैं। इस प्रकार हम सारे प्रदेश में बीस गणतन्त्र है। बाह्य शक्तियों द्वारा प्रशासित द्वीपो को लेटिन अमरीका की परिधि म समाहित नहीं किया जाता है। लेटिन अमेरिका को केवल दक्षिणी अमरीका कहना भी पर्याप्त नहीं है क्योंकि इसकी सीमायें केवल दक्षिण तक मर्यादित न रह कर उत्तर मे भी प्रवेश कर जाती है। इस प्रदेश की भूमि का क्षेत्रफल सयुक्त राज्य अमरीका का लगभग तिगुना है तथा अफ्रीका का तीन चोथाई भाग है। यहा की जनसंख्या लगभग उन्नीस करोड है और सयुक्त राज्य अमरीका की तुलना में करीब एक करोड अधिक है। यह जनसंख्या बहुत तीव्रगति से बढती जा रही है और यह अनुमान लगाया जाता है कि १९७५ तक यह बढ कर लगभग तीस करोड हो जायेगी। यहा रहने वालो मे भारतीय, स्पेनिश, पुर्तगाली, इटालियन तथा जापानी लोग भी हैं। लेटिन अमेरिका के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रदेश पर स्पेन तथा पुर्तगाल का भारी प्रभाव पडा है। इन राज्यो को उपनिवेशवादी शक्तियो से मुक्ति पाने के लिए सघर्ष करना पडा था। राजनैतिक एव आर्थिक स्वतन्त्रता पाने के पक्षपाती यहा के राजनीतिज्ञों पर अमेरिकन क्रान्ति के साहित्य का भारी प्रभाव पडा जिसमें स्वतन्त्रता, समानता और मानव अधिकारों पर जोर दिया गया है।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद सयुक्त राज्य अमेरीका के विचारो एव राजनैतिक सस्थाओ से इन राज्यों ने प्रेरणा एव मार्ग दर्शन ग्रहण किया किन्तु यहा के राजनैतिक विचारको की यह गलती रही कि इन्होंने उत्तरी अमरीका के स्थित लिखित सविधान सरकार का गणतन्त्रात्मक रूप आदि सस्थाओ के सफल सचालन को तो देखा और यह आशा भी की कि इनके अपनाने पर स्थिरता एव सम्पन्नता प्राप्त की जा सकती है किन्तु उन्होंने यह नहीं देखा कि क्या उनके देश मे इन सस्थाओ को अपनाने योग्य अनुकूल परिस्थितियाँ हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि गृह युद्ध छिड गया तथा अनेक लैटिन अमरीकी राज्यो को रक्तपात, तानाशाही और गरीबी आदि अभिशापों का सामना करना पडा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक ब्राजील, चिली और अर्जेन्टाइना (Brazil, Chile and Argentina) ही तीन ऐसे राज्य थे जहा राजनैतिक स्थिरता एव प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओ ने विकास की आशायें की जाने लगी। बाद मे कोलम्बिया (Colombia), कोस्टारिका (Costa-rica), मैक्सिको (Mexico), युरुवे (Uruguay) आदि राज्य भी इस श्रेणी मे आ गये। अर्जेन्टाइना तथा ब्राजील में तानाशाही शासन आ गया किन्तु १९५६ में यहा पुनः प्रजातन्त्रात्मक सस्थाओ का जन्म होने लगा।

मैक्सिको में एक दलीय व्यवस्था के साथ विशेषीकृत प्रजातन्त्र (Qualified Democracy) को अपनाया गया। यूरुग्वे (Uruguay) को लटिन अमेरिका म सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा विकासशील प्रजातन्त्र वाला देश माना जाता है।

लेटिन अमेरिका से अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध

(Latin America at Home)

लेटिन अमेरिका के राज्यो की स्थित भिन्नताय तथा अन्य प्राकृतिक बाधाये अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उनको प्रभावशाली होने से रोकती हैं। इस प्रदेश के राज्यों में आपस म झगडा बना ही रहता है। अधिक झगडे सीमाओं के प्रश्न को लेकर होते हैं। *इनके अतिरिक्त रबर, तेल आदि प्राकृतिक साधन भी* संघर्ष का कारण बन जाते हैं। इन राज्यो ने अब तक आपस में तीन बडी लडाइयाँ लडी हैं—

(१) पैरागुआयन युद्ध (Paraguayan war 1865–1870)

(२) प्रशान्त का युद्ध (The war of Pacific 1879–1883)

(३) चाको युद्ध (The Chaco War 1932 – 1935)

ब्राजील की सीमाओं से आठ राज्यो की सीमाय मिलती हैं। इन सभी के साथ ब्राजील का मामा सम्बन्धी विवाद था किन्तु उसने युद्ध की अपेक्षा इसको धीरज तथा कूटनीति से सुलझा लिया। सैद्धान्तिक आधार पर इन राज्यों के बीच मतभेद प्राय नहीं होते। व्यापारिक मतभेदों के परिणाम-स्वरूप परस्पर *सहयोगपूर्ण सम्बन्धो की स्थापना कर ली जाती है।* दक्षिण अमरीका की दो बडी शक्तियाँ अर्जेन्टाइना तथा ब्राजील के बीच कोई प्रतिस्पर्धापूर्ण अर्थव्यवस्था नहा है तथा इन दोनों के सम्बन्ध सामान्य हैं। वैसे कुल मिलाकर लेटिन अमरीकी राज्यों के आपसी सम्बन्ध अधिक खराब नही रहे हैं। उनके अन्तर्राज्यीय सम्बन्ध प्राय शान्तिपूर्ण रहे हैं। इन राज्यों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में लेटिन अमेरिका

(Latin America in International Field)

ससार के अन्य राष्ट्रों में लेटिन अमेरिका का सबसे अधिक तथा गहरा सम्बन्ध संयुक्त राज्य अमेरिका से है। *यहाँ के राज्यों की दृष्टि में अमेरिका* दुनिया की एक क्रान्तिकारी शक्ति एव स्वतन्त्रता का प्रतीक था और इसलिए यह तत्कालीन उपनिवेशवादी शक्तियों के लिए एक भारी खतरा था। लेटिन

अमरीका के राज्यों का उनके स्वतन्त्रता आन्दोलनों में यू० एस० ए० द्वारा पूरा समर्थन प्रदान किया गया। इस समर्थन के पीछे उसका हित निहित था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन राज्यों को मान्यता प्रदान करने वाला सर्वप्रथम देश संयुक्त राज्य अमरीका था। १८२३ में मुनरो सिद्धान्त द्वारा पवित्र सन्धि (Holy Alliance) को सन्धियों को नई दुनिया में उपनिवेश बनाने के विरुद्ध चेतावनी दे दी गई तथा अमरीकी राज्यों के मामले में किसी दूसरे देश के हस्तक्षेप को सहन न करने की बात कही गई। लैटिन अमेरिका के राज्यों में इस सिद्धान्त के लिए अनुकूल प्रतिक्रिया हुई।

औपचारिक रूप से निष्पक्ष रहते हुए भी संयुक्त राज्य अमेरिका इन नवीन राष्ट्रों का सबसे प्रमुख बाहरी मित्र (Outside Friend) था। १९०४ में यू०एस०ए० ने पनामा के साथ हे-बुनाउ-वरीला (Hay-Bunau-Varilla) की संधि की जिसके अनुसार नहर की रक्षा के लिए वह इस राज्य के मामलों में हस्तक्षेप कर सकता था। इस प्रकार संरक्षित राज्यों (Protectorates) का समय प्रारम्भ हुआ। डोमोनिकन गणराज्यों को १९०५ से १९२४ तक अधिकार में रखा गया। निकारा गुआ, हैटी (Haiti) आदि पर यू०एस०ए० का संरक्षण बना रहा। क्यूबा ने अमरीकी सहयोग से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी अतः उसे भी स्वेच्छानुसार जीवन व्यतीत करने की अनुमति न दी गई। इन चार राज्यों पर अमरीका का सैनिक प्रभाव रहा। वुडरो विलसन के समय अमरीकन भ्रातृत्व की भावना का विकास हुआ तथा संरक्षित अमरीकन साम्राज्यवाद का पतन होने लगा और अच्छे पड़ोसियों के से सम्बन्धों की सृष्टि हुई। फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D. Roosevelt) के राष्ट्रपति काल में लैटिन अमरीका के राज्य हेटी (Haiti) पर से अमरीका के अन्तिम प्रभाव को भी हटा लिया गया। इसके बाद इन दोनों के बीच परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का जन्म होने लगा। रूजवेल्ट के शासन काल में पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा, सम्पन्नता एवं सद्भावना की दृष्टि से अनेक कार्य किये गये। अमरीका में भ्रातृत्व के भाव विकसित करने [redacted] लिए अनेक सम्मेलन हुए। स्टुअर्ट (Graham N. Stuart) के शब्दों में "राजनैतिक क्षेत्र में पूर्ति करने के लिए अमेरिकन भ्रातृत्व के सम्मेलनों का इक्कीस गणतन्त्रों के बीच उपयोग के अभिकरणों के रूप में उपयोग किया गया।"

आईजनहावर (Eizenhower) प्रशासन में यू० एस० ए० द्वारा लैटिन अमेरिका के राज्यों को काफी तकनीकी सहयोग प्रदान किया गया। संयुक्त राज्य अमरीका के निकटतम पड़ोसी तथा घनिष्ठ सम्बन्धी होने के कारण लैटिन अमेरिका के राज्यों का इसके लिए बहुत महत्व है। इन राज्यों

मे साम्यवाद का प्रसार स्वय यू० एस० ए० की सुरक्षा के लिए एक चुनौती बन जायेगा। इसी आधार पर राष्ट्रपति केनेडी द्वारा क्यूबा के प्रश्न पर दृढ निर्णय लिया गया था। क्यूबा में साम्यवादी सैनिक चौकिया स्थापित हो जाना अमरीका के हितो एव सुरक्षा पर एक गहरा आघात था, इसका विरोध करने के लिए अणु शस्त्रो के प्रयोग तक की चुनौती दे दी गई।

जहा तक लेटिन अमरीका के राज्यों तथा योरोप के देशों के सम्बन्ध का प्रश्न है इस पर यह कहा जाता है कि प्रारम्भ से ही योरोप के देशों ने यहा उपनिवेश बना रखे थे। इन राज्यो ने स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने के बाद योरोप की शक्ति राजनीति मे बहुत कम भाग लिया किन्तु विगत दोनो ही महायुद्धो मे इनका सक्रिय सहयोग रहा है। यहा के अधिकाश राज्यो पर स्पेन की सस्कृति का स्पष्ट प्रभाव पडा है अत स्वतन्त्रता के बाद स्पेन के साथ इनके सम्बन्ध गहरे हो गये। स्पेन मे फ्रांको शासन के प्रति लेटिन अमेरिका के राज्यों मे मतभेद था इससे वे सम्बन्ध कुछ कमजोर पडे। ब्राजील तथा पुर्तगाल से इनके सम्बन्ध सदा ही मित्रतापूर्ण रहे हैं। यहा के राज्यों के फ्रांस के साथ प्रारम्भ से ही अच्छे सम्बन्ध नही रहे है किन्तु फ्रांस की सस्कृति का प्रभाव यहा बहुत अधिक है। यहा की भाषा, साहित्य, कला, फैशन, पहनाव आदि पर फ्रांस का प्रभाव स्पष्ट है। जर्मनी के साथ लेटिन अमरीका के सम्बन्ध प्राय व्यापारिक रहे हैं। हिटलर के साम्राज्य का पतन हो जाने के बाद इन देशों पर बुरा प्रभाव पडा।

निकट भविष्य मे लेटिन अमरीका के राज्यो का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे महत्व बढ जायगा। इस सम्भावना के पीछे अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य निम्न प्रकार से हैं—

(१) इस क्षेत्र की जनसख्या तीव्रगति से बढ रही है।

(२) यहा कच्चे माल का सबसे अधिक उत्पादन होता है।

(३) यह अमेरिकन राज्यो के सगठन (OAS) का एक बडा भाग है।

(४) इस प्रदेश के राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सस्था में जो प्रतिनिधि भेजे जाते हैं वे अत्यन्त कुशल तथा तीव्र बुद्धि के राजनीतिज्ञ होते हैं।

(५) ये राज्य सयुक्त राष्ट्र सघ, अमरीकी राज्यो के सगठन तथा अमेरिका के सहयोग से औद्योगीकरण एव नवीनीकरण करने मे लगे हुए हैं।

लेटिन अमेरिका की प्रगति में उक्त आशा के चिन्हों के अतिरिक्त मार्ग की अनेक बाधायें भी हैं जो इस क्षेत्र के विकास की चाल को धीमा बनाती हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(१) इन राज्यों की भौगोलिक बनावट के कारण एक दूसरे के बीच आवागमन के साधन स्थापित करना तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक सम्बन्ध बढ़ाना मुश्किल है।

(२) इस प्रदेश के अधिकांश राज्यों में बहुत समय से राजनैतिक अस्थिरता, भ्रष्टाचार तथा अप्रजातांत्रिक व्यवहारों का बोलबाला है।

(३) इन राज्यों की अर्थ-व्यवस्था कुछ ऐसी है जिसका व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के साथ मेल ही नहीं हो पाता। व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा आर्थिक विकास दोनों से युक्त अर्थ व्यवस्था का इन राज्यों में अभाव है।

(४) इन राज्यों में लोगों की सामाजिक स्थिति बड़ी असन्तोषजनक है, अधिकांश लोग गरीबी तथा अशिक्षा में ही जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त रंग भेद की नीति के कारण व्यक्ति की समानता का सिद्धांत क्रियान्वित नहीं हो पाता।

(५) रोमन कैथोलिक चर्च के महत्व के सम्बन्ध में इन देशों में भारी वाद-विवाद है। कुछ कहते हैं कि चर्च को राजनैतिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये किन्तु दूसरों का विपरीत मत है। दक्षिण अमेरिका में जब स्वतन्त्रता के लिए युद्ध किया गया था तो चर्च ने स्पेन का समर्थन किया था। यह बात अभी तक इन राज्यों को याद है किन्तु फिर भी चर्च के समर्थक व चर्च के अनुयायी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ रखते हैं।

(६) इन राज्यों पर संयुक्त राज्य अमेरिका का भारी प्रभाव रहता है और इस प्रभाव के कारण इस क्षेत्र के राजनैतिक एवं आर्थिक जीवन पर अनेक नुकसानदायक प्रभाव पड़ते रहते हैं।

(७) साम्यवाद का प्रभाव इन राज्यों पर धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। इससे पूर्व यहाँ फासीवादी प्रवृत्तियों का जोर था किन्तु साम्यवाद ने आसानी से उसके स्थान को ग्रहण कर लिया क्योंकि—

(i) यहाँ प्रजातन्त्र का बाना पहने हुए फासीवाद है, (ii) यह एक जाति को सर्वोच्चता पर जोर नहीं देता, (iii) यह धर्म पर आधारित नहीं है। स्टुअर्ट का कहना है कि "लेटिन अमरीका के गणतन्त्र में प्रजातन्त्र की अपेक्षा साम्यवाद के वादवाहन अधिक प्रभावपूर्ण हैं क्योंकि यहाँ विदेशी पूंजीपतियों अथवा राष्ट्रीय राजनीतिज्ञों द्वारा जनता का शोषण एक सामान्य बात हो गई है।" लेटिन अमेरिका के साम्यवादी नेताओं पर सन् १९३० से

कामिन्टर्न (Comintern) का प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया। ब्राजील, चिली (Chile), अर्जेन्टाइना, मैक्सिको, क्यूबा आदि राज्यों में साम्यवादी नेता शक्ति प्राप्त करने लगे। ग्वाटेमाला (Guatemala) की विजय लेटिन अमेरिका में साम्यवादियों की सबसे बड़ी सफलता मानी जाती है। इन सभी सफलताओं के बाद भी लेटिन अमेरिका में साम्यवाद का यहां-वहां थोड़ा बहुत प्रभाव है, किन्तु इसको पश्चिमी देशों द्वारा कोई गम्भीर चुनौती नहीं समझी जाती। संयुक्त राज्य अमेरिका ने अनेक बहुपक्षीय सन्धियों द्वारा लेटिन अमेरिका के राज्यों को हथियार तथा सैनिक मिशन भेजे हैं। सभी सदस्यों की सहमति से अमेरिकी राज्यों के संगठन (OAS) ने यहां साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए अनेक कदम उठाये हैं।

(८) लेटिन अमेरिका के विकास की सबसे बड़ी बाधा यह मानी जाती है कि यहां के लोगों में सामाजिक चेतना नहीं पाई जाती। इस प्रदेश में अभी तक किसी ऐसे नेतृत्व का जन्म नहीं हुआ है जो सारे प्रदेश का मत अपने साथ कर विश्व राजनीति में उसका प्रयोग कर सके।

योरोप के लिए चुनौती
(The Challenge to Europe)

एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमरीका के देशों का उपनिवेशवाद से छुटकारा पाना तथा वहां एक नवीन जागरण की उपस्थिति योरोप के अधिकांश देशों के लिए एक चुनौती बन गया है जिसका सामना करने के लिए इन्हें बाध्य होना पड़ेगा। जैसे माला का सूत्र टूट जाने के बाद उसके मोतियों की एकबद्धता समाप्त हो जाती है उसी प्रकार इन महाद्वीपों एवं प्रदेशों में से साम्राज्यवाद के विस्तार उठ जाने के बाद इनके बीच अनेक प्रकार के झगड़े तथा उपद्रव पैदा हुए हैं। उपनिवेशवादी शक्तियां जब उनके विस्तार की सीमा पर पहुँच गई तभी उनकी महानता की भी सीमा रेखा आ गई। ठीक उसी प्रकार जैसे कि जब समुद्र में ज्वार आता है और वह बहुत ऊंचा उठ जाता है तब उसमें भाटा आना प्रारम्भ होता है। मार्गेन्थो (Morgenthau) का कहना है कि "योरोपीय राष्ट्रों का राजनैतिक एवं आर्थिक क्षय ही उपनिवेशी शांति का कारण तथा बहुत कुछ इसका परिणाम रहा है।" योरोप की शक्तियों का पतन उपनिवेशों के लिए शक्ति और प्रेरणा का एक स्रोत बन गया। द्वितीय विश्व युद्ध के समय जापान ने योरोप की प्रमुख शक्ति को हरा दिया तो उपनिवेशों में आत्मविश्वास की चिनगारी सुलगी और यह चिनगारी बढ़ते-बढ़ते एक सफल अथवा प्रभावशील क्रान्ति के रूप में बदल गई। ग्रेट ब्रिटेन ने स्वेच्छा से ही बर्मा, लंका, पाकिस्तान, भारत और

मिस्र को आजाद कर दिया। फ्रांस ने इन्डोचाइना में तथा ब्रिटेन ने मलाया में लड़ाई लड़ी थी इसका कारण यह नहीं है कि वे वहां की सत्ता अपने पास रखना चाहते थे वरन् यह है कि वे सत्ता को मनचाहे हाथों में सौंपना चाहते थे। उपनिवेशी शान्ति ने, जो योरोप की कमजोरी की उपज है, योरोप को और भी अधिक कमजोर बना दिया। आधुनिक काल तक योरोप को एक बड़ी शक्ति माना जा रहा है इसका प्रमुख कारण यह है कि इसने रंगयुक्त जातियों पर आधिपत्य जमा रखा था। तकनीकी, आर्थिक तथा सैनिक दृष्टि से यूरोप, अफ्रीका और एशिया के देशों से भिन्न था और इसी आधार पर इसने यहां शासन किया। किन्तु आज यह अन्तर न के बराबर रहता जा रहा है तथा अब योरोप की शक्ति का सैनिक, आर्थिक, राजनैतिक स्रोत सूखता जा रहा है जिसके कारण वे संख्या, स्थान तथा प्राकृतिक साधनों की कमी से उत्पन्न हीनता की भावना को दबा सकते थे।

जैसा कि अन्य सभी क्रान्तियों द्वारा किया जाता है उपनिवेशों की इस क्रान्ति का आधार नैतिक है तथा यह पश्चिमी राष्ट्रों के सामने एक नैतिक चुनौती प्रस्तुत करती है। एशिया के द्वारा जो नैतिक चुनौती दी गई है वह एक प्रकार से पश्चिमी विचारों की विजय है। यह दो नैतिक सिद्धान्तों के अधीन आगे बढ़ती है; ये हैं—राष्ट्रीय आत्म-निर्णय तथा सामाजिक न्याय। योरोप के देशों ने जब एशिया के देशों में पदार्पण किया तो वे अपने साथ केवल तकनीकी ज्ञान तथा राजनैतिक सत्ता ही लेकर नहीं आये थे वरन् राजनैतिक नैतिकता के सिद्धान्त भी उनके साथ थे। पश्चिम ने ही अपने उदाहरण प्रस्तुत करके एशिया के लोगों को स्वतन्त्रता के लिए लड़ना सिखाया। पश्चिम ने यहां एक मन्त्र फूंका कि गरीबी तथा दुःख ईश्वर प्रदत्त नहीं हैं किन्तु मनुष्यकृत है तथा इनको प्रयास करके दूर किया जा सकता है। आज एशिया तथा अफ्रीका के देश पश्चिमी नैतिक मापदण्डों के आधार पर ही उनकी वर्तमान राजनैतिक एवं आर्थिक नीतियों के विरुद्ध क्रान्ति कर रहे हैं तथा इनको बुरा-भला कह रहे हैं।

एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के नव जागरण से पश्चिमी देशों को जो चुनौतियां प्राप्त हुई हैं उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण साम्यवाद के प्रसार को माना जाता है। इन महाद्वीपों में साम्यवाद के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होता है तथा ये देश इसके सुहावने आश्वासनों की ओर बड़ी शीघ्रता से आकर्षित होते तथा हो सकते हैं। इन देशों का आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक विकास करने के लिए अनेक कार्यक्रम बनाये जा रहे हैं। इन कार्यक्रमों की सफलता के लिए पश्चिमी शक्तियों को यथाचित

सहयोग देना होगा, ऐसा करके ही वे इन क्षेत्रों से साम्यवाद को अलग रख सकते हैं। इस प्रकार एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका में पश्चिमी राज्यों के हित अटक रहे हैं। इन महाद्वीपों में विकासशील देशों की आवाज का महत्व एवं प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में इनकी इतनी अधिक संख्या है कि इनके मत की अवज्ञा नहीं की जा सकती। पश्चिम के देशों को इन महाद्वीपों के निवासियों के प्रति अपने पूर्व दृष्टिकोणों में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन करना है। आवश्यकता यह है कि वे इन देशों के विकास कार्यों में यथासम्भव हर प्रकार की सहायता करें, इनके साथ समानता का व्यवहार करें तथा अपनी सर्वोच्चता की भावना का परित्याग करके यहाँ के लोगों के मत, आशा एवं महत्वाकांक्षाओं का आदर करना सीखें।

१२

सोवियत संघ का उदय और उसकी विदेश नीति

(RISE OF SOVIET UNION AND ITS FOREIGN POLICY)

१९१७ की क्रान्ति के फलस्वरूप जो सोवियत व्यवस्था स्थापित हुई उसके कुछ ही महीनों बाद संसार के पूंजीवादी राज्यों ने मिल कर रूस के नवीन शासन का गला घोटने और उनका नामोनिशान मिटाने के विपुल प्रयास किये। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में यह एक अद्वितीय घटना थी। यदि यह दुर्भाग्यपूर्ण घटना पूंजीवादी राज्यों की ओर से नहीं हुई होती तो सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सोवियत संघ की नीति आज कुछ दूसरी ही होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सोवियत व्यवस्था की तथा-कथित कठोरता और सोवियत परराष्ट्र नीति में शंका तथा सन्देह के तत्वों के लिए पूंजीवादी राष्ट्र ही एक बहुत बड़े अंश तक उत्तरदायी हैं। पर प्रश्न यह उठता है कि आखिर पश्चिमी पूंजीवादी राष्ट्रों ने इस प्रकार की नीति का आश्रय क्यों लिया? इस नीति का आश्रय उन्होंने इसलिए लिया कि १९१७ की क्रान्ति राज्य प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को एक शक्तिशाली चुनौती थी, क्योंकि सोवियत रूस की नई व्यवस्था प्रवृत्ति और उद्देश्यों में अन्तर्राष्ट्रीय थी जिसका उद्देश्य समाजवाद के एक ऐसे नये युग का आरम्भ करना था जो पूंजीवादी राष्ट्रों की कब्र पर अपना भव्य महल खड़ा कर सके। पश्चिमी राष्ट्रों के लिये इस प्रकार का कोई भी उद्देश्य एक खुली चुनौती थी जिसका मुकाबला करना वे अपने हित के लिए आवश्यक समझते थे।

स्पष्ट है कि नवोदित सोवियत सरकार चारों तरफ से आन्तरिक और बाह्य खतरों से घिरी हुई थी। रूस के तत्कालीन साम्यवादी शासन की सबसे

बडी कामना यही थी कि ससार के अन्य राज्य सोवियत रूस को अपनी नीति के अनुसार अपने देश का निर्माण करने और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिये स्वच्छन्द छोड द। किन्तु जब साम्यवादी शासको ने पाया कि पूजीवादी राज्यों को जब भी मौका मिलेगा वे परस्पर मिल कर या अकेले ही सोवियत सघ का सर्वनाश करने से बाज न आयेंगे तो उन्होने एक ऐसा मार्ग ग्रहण किया कि रूसी सकटापन्न विकास के पुराने सिद्धान्तो अर्थात् आत्मरक्षा और सुरक्षा की नीति की ओर वापिस लौटा जाए और पश्चिमी प्रभाव से मुक्त देशो के साथ सधियां की जाए।

अपने उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए सोवियत शासन ने इस कहावत को सिद्ध किया कि "राजनीति वेश्या की तरह अनेक रूप बदलने वाली होती है।' सोवियत शासको ने साम्यवादी क्रान्ति से लेकर द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक, अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए सोवियत कूटनीति को अनेक रूप दिये।

७ नवम्बर, १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सोवियत कूटनीति द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक विभिन्न अवस्थाओ मे से होकर गुजरी।

प्रथम अवस्था (१९१७–१९२१) पश्चिमी राष्ट्रो के साथ उग्र विरोध और समस्त विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार करने की थी। सोवियत शासन के प्रारम्भिक ४ वर्ष केवल अपने अस्तित्व को कायम रखने के उस सघर्ष मे व्यतीत हुए जो रूसी इतिहास का सम्भवत समाज मे अधिक निराशापूर्ण सघर्ष था जिसमे मन्तत ट्रॉट्स्की द्वारा सगठित लाल सेना साम्यवादी शासन को स्थायित्व प्रदान करने मे सफल हुई।

द्वितीय अवस्था (१९२१–१९३४) रक्षात्मक पार्थक्य (Defencive Isolation) की थी। इस काल में रूस ने आत्मरक्षा की दृष्टि से विभिन्न शक्तियों के साथ सधियां सम्पन्न की, उनसे व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाये और दूसरे देशों में साम्यवादी प्रचार करना कम कर दिया। इस अवस्था मे वह सामान्यत पश्चिमी देशों की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग रहा और राष्ट्रसघ की सदस्यता भी उसने ग्रहण न की। इस अवधि मे यद्यपि रूस ने पूजीवादी राज्यो से समझौते करने की नीति का अनुसरण किया, परन्तु कोमिन्टर्न द्वारा अन्य देशों में साम्यवादी क्रान्ति फैलाने के प्रयत्नों के कारण पश्चिमी राज्य रूस को अविश्वास और सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। इसीलिए सयुक्त राज्य अमेरिका १९३३ से पूर्व रूस को वैधानिक मान्यता प्रदान करने के लिए उद्यत नही हुआ। किन्तु रूस की अधिक समय तक उपेक्षा करना सम्भव न था। रूस अब कोई सामान्य शक्ति नही रह गया

था। वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज में एक महान् शक्ति के रूप में उदित हो चुका था। अब जब रूजवेल्ट अमेरिका का राष्ट्रपति बना तो उसने सोवियत संघ को मान्यता प्रदान करने की दिशा में प्रयत्न शुरू कर दिये। लन्दन में विश्व-अर्थ-सम्मेलन (१९३३) के अवसर पर सर्वप्रथम अमेरिकन प्रतिनिधि विलियम बुलिट और रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव की मुलाकात हुई। इसके बाद दोनों देशों के मध्य एक सन्धि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा दोनों सरकारों ने एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता की सुरक्षा का और विरोधी प्रचार करने वाले दलों के दमन का वचन दिया। रूस ने अमेरिका की यह बात मान ली कि अपने देश में आने वाले अमेरिकन यात्रियों को वह धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान करेगा। इस सन्धि का यह अनिवार्य परिणाम हुआ कि रूस की साम्यवादी सरकार को संसार की सभी महान् शक्तियों ने स्वीकार कर लिया।

तीसरी अवस्था (१९३४–१९३८) के काल में रूस राष्ट्रीय संघ का सदस्य बना और साथ ही उसने पश्चिम के साथ सहयोग करने की नीति का आश्रय लिया। राष्ट्रसंघ में प्रवेश के बाद मई, १९३५ में रूस ने अपने पिछले सभी मतभेदों एवं झगड़ों को भुलाते हुए फ्रांस के साथ पारस्परिक सहायता का १८९४ जैसा सैनिक समझौता किया। इसके बाद पोलैण्ड तथा बाल्टिक राज्यों के साथ भी मास्को ने अनाक्रमण समझौते किये तथा टर्की और ग्रेट ब्रिटेन से घनिष्ठता बढ़ाई। १६ मई, १९३५ को चेकोस्लोवाकिया के साथ भी उसकी सन्धि हुई। इस तरह रूस ने फ्रांस एवं चेकोस्लोवाकिया के सहयोग से नाजी आक्रमण के विरुद्ध संघ का संगठन सुदृढ़ किया। मार्च, १९३६ में बाह्य मंगोलिया के साथ एक पारस्परिक सहायता सन्धि की गई जिसका उद्देश्य आन्तरिक मंगोलिया में जापान के प्रवेश को रोकना था। इस समय तक रूस वस्तुतः एक विशाल शक्ति सम्पन्न देश बन चुका था।

इन सभी समझौतों और सन्धियों से रूस की स्थिति पर्याप्त रूप से दृढ़ हो गई। इस समय रूसी साम्यवादी नीति ने एक और भी नया क्रान्तिकारी मोड़ लिया। देश तथा विदेश दोनों में १९३४–३५ में "कोमिन्टर्न" (Comintern) में यकायक एक उबाल उठा। विश्व क्रान्ति की नीति के प्रतिकूल रूस ने पाश्चात्य लोकतन्त्रीय राष्ट्रों में साम्यवादियों को फासिस्ट शासन का विरोध करने वाले बुर्जुआ दलों-उदारवादी, समाजवादी आदि के साथ मिल कर संयुक्त मोर्चा (United front) बनाने को कहा। फलस्वरूप अब प्रत्येक देश के साम्यवादी दलों ने अन्य प्रगतिशील तत्वों के साथ फासिस्टवाद के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा स्थापित किया। वास्तव में रूसी विदेश नीति में यह एक बिल्कुल नया परिवर्तन था क्योंकि जो समाजवादी,उदारवादी आदि उपरोक्त सभी दल "पूंजीवाद" के पिट्ठू "कहे जाते थे, वे १९३४ के

वाद अब "साम्राज्यवाद के विरुद्ध किये जाने वाले अभियान में बहुमूल्य सहयोगी" समझे जाने लगे।

१९३४ से १९३८ तक सोवियत रूस ने पाश्चात्य देशों के साथ सहयोग और मैत्री की नीति तो अपनाई, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से रूस और पश्चिम के मध्य कोई वास्तविक मित्रता स्थापित न हो सकी। हां, पश्चिमी जनतन्त्र अवश्य ही फासिज्म को साम्यवाद के विरुद्ध तथा साम्यवाद को फासिज्म के विरुद्ध करने की अपनी युक्तियों में सफल हुआ और फासिज्म का हर स्थान पर विरोध करना रूसी नीति का एक मुख्य विषय बन गया। रूस एवं पश्चिमी देशों के मैत्री सम्बन्धों पर टिप्पणी करते हुए शूमैन (Schuman) ने ठीक ही लिखा है "इस उद्वेग-पूर्ण मैत्री भाव में पारस्परिक विश्वास का अभाव था।" वास्तव में पश्चिमी राष्ट्रों का विश्वास था कि रूस का उद्देश्य अन्तिम रूप में पूंजीवाद का विनाश करना है। इसलिए उसकी मित्रता केवल एक दिखावा मात्र है। परिणामतः वे फासिस्ट शक्तियों को साम्यवाद विरोधी तत्व समझकर बढ़ावा देने की नीति पर चलते रहे। ऐसे तीन प्रमुख अवसर आये जब पश्चिमी राष्ट्रों की नीति से स्पष्ट हो गया कि वे आड़े वक्त में रूस का साथ देने को तैयार नहीं हैं, उन्हें रूस पर विश्वास नहीं है और फासिस्ट आक्रमणों को रोकने की अपेक्षा अन्य रूसी साम्यवाद को रोकने में अधिक दिलचस्पी है। पहला अवसर इटली-एबीसीनिया युद्ध था। इसमें रूस ने राष्ट्रसंघ के माध्यम से मुसोलिनी के बर्बर आक्रमणों से अबिसीनिया की रक्षा का भरसक प्रयास किया लेकिन ब्रिटेन और फ्रांस ने एबीसीनिया तथा राष्ट्रसंघ की बलि देकर भी मुसोलिनी की रक्षा की। दूसरा अवसर स्पेनिश गृहयुद्ध का था। इस अवसर पर रूस ने स्पेन की जनतन्त्रीय सरकार को सहायता भेजी और ऐंग्लो—फ्रेंच सरकारों से भी फासिस्टवादी फ्रैंको ने सहायता ली। स्टालिन ने अपने वक्तव्यों से इस बात का स्पष्ट आभास दे दिया कि रूस को पश्चिमी शक्तियों से सहयोग की आशा करना पूरी मृग-मरीचिका थी।

चौथी अवस्था (१९३८-१९३९) में रूस ने पश्चिमी राष्ट्रों से पृथक रहने एवं संकटपूर्ण पार्थक्य (Dangerous Isolation) की नीति अपनायी। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि पश्चिमी शक्तियों के राजनीतिज्ञों ने इस समय तक रूस को न केवल अपने बन्धन से निकाल बाहर किया था, बल्कि पश्चिम की ओर की सोवियत कूटनीतिक सुरक्षा व्यवस्थाओं को बारूद से उड़ा दिया था, सितम्बर, १९३८ में म्यूनिक के समझौते के बाद ही रूस ने वस्तुतः अपने आपको संकटापन्न स्थिति में पाया। रूस का कोई विश्वासपात्र मित्र नहीं था। फ्रांस पर अब कोई विश्वास नहीं किया जा सकता था और ब्रिटेन

या मास्को की अपेक्षा बर्लिन की ओर अधिक झुकाव था। रूस इस बात को भली भांति भाप चुका था कि पश्चिमी शक्तियां जर्मनी को रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रही हैं। जब रूस पश्चिमी की तरफ से निराश हो गया तो उसने अपनी आत्म-रक्षार्थ धुरी राष्ट्रों की मैत्री के प्रयास तेज कर दिये और अगस्त, १९३९ में जर्मन सोवियत अनाक्रमण समझौता हो गया। पश्चिमी राष्ट्रों के लिए सोवियत जनमत समझौता एक वज्रपात के समान था। उन्होंने यह आरोप लगाया कि "यह समझौता पाश्चात्य लोकतन्त्रों के साथ उसके मैत्री का विश्वासघात, शान्ति के मोर्चे का विघटक और सोवियत कूटनीति के दुरभिसन्धि का परिचायक है। उसने यह समझौता इसलिए किया है कि इसके परिणामस्वरूप पश्चिम और जर्मनी प्राणान्तक संघर्ष में जूझकर क्षीण हो जाए तथा संसार में साम्यवाद की प्रभुता स्थापित हो सके, रूस को पोलैण्ड के तथा बाल्टिक राज्यों के प्रदेश प्राप्त हो सकें। परन्तु इस प्रकार के आरोप लगाते समय पश्चिमी राष्ट्र यह भूल गये थे कि वास्तव मे ऐसे किसी भी समझौते के लिए वे स्वयं उत्तरदायी थे। वे बार-बार जर्मनी को एक साम्यवाद विरोधी शक्ति मान कर प्रोत्साहित कर रहे थे और उसे सोवियत रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। विश्वासघात का आरम्भ उन्हीं के द्वारा हुआ था।

यद्यपि रूस ने जर्मनी के साथ अनाक्रमण समझौता कर लिया, तथापि वह जर्मनी के इरादों को भाप कर उसके विरुद्ध अपने को शक्तिशाली बनाने के लिए निरन्तर तैयारी करता रहा। सितम्बर, १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। रूस महायुद्ध के आरम्भ मे तटस्थ बना रहा किन्तु अपनी सम्पूर्ण कूटनीतिक सावधानियों के बाद भी वह जून, १९४१ में अपने ऊपर जर्मनी के आक्रमण को नहीं रोक सका। इस आक्रमण मे समस्त धुरी राष्ट्रों की मानव शक्ति और स्रोत कार्य कर रहे थे। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच के अभिनेताओं के रूप में सोवियत नेताओं ने अपनी पोशाक बदली और अब वे नाजी जर्मनी के सहायक न होकर राष्ट्रवादी राजनीतिज्ञ बन गए तथा प्रजातन्त्रात्मक ब्रिटेन का समर्थन करने लगे। १३ जुलाई १९४१ को सोवियत रूस और ब्रिटेन ने एक पारस्परिक सहायता समझौता किया जो मई, १९४२ में औपचारिक आंग्ल-सोवियत संधि के रूप मे परिणत हो गया। २४ सितम्बर, १९४१ को सोवियत संघ ने अटलांटिक चार्टर को स्वीकार करते हुए यह घोषणा की कि सोवियत संघ अपनी विदेश नीति को राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त द्वारा निर्देशित करता था और करता है। यह प्रत्येक देश की स्वतन्त्रता व प्रादेशिक अखण्डता के अधिकार की रक्षा करता है तथा उसके इस अधिकार को मानता है कि वह अपने उपयुक्त सामाजिक

व्यवस्था एवं सरकार का रूप निश्चित कर ले। १ जनवरी, १९४२ को सोवियत रूस ने संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करके धुरी राष्ट्र विरोधी संघ में औपचारिक रूप से अपने आपको मिलाया।

जर्मन प्रचार ने रूसी आक्रमण को बोल्शेविज्म के विरुद्ध समस्त यूरोप का संघर्ष बताया। अधिकृत रूस एवं पूर्वी यूरोप में जर्मनी की नीति केवल साम्यवाद विरोधी नहीं थी वरन वह रूस विरोधी भी थी। इसके कारण सोवियत नेताओं को साम्यवाद एवं रूसी राष्ट्रवाद में एकता स्थापित करनी पड़ी। रूस ने मार्क्सवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रचार को घटा कर रूसी तथा राष्ट्रवादी प्रचार की मात्रा को बढ़ा दिया। इस प्रकार द्वितीय साम्राज्यवादी युद्ध को सोवियत रूस ने प्रचार द्वारा महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध के रूप में परिणत कर दिया। युद्ध की देशभक्तिपूर्ण प्रकृति को सिद्ध करने के लिए औपचारिक रूप से कमिन्टर्न को मई १९४३ में समाप्त कर दिया गया और इसके कर्त्तव्य सोवियत साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के विदेशी विभाग को सौंप दिए गए। युद्ध के समय चर्च ने भी साम्यवादी सरकार को राष्ट्रवाद के नाम पर समर्थन प्रदान किया। इन सब घटनाओं ने सोवियत सरकार की नीति और तकनीकी ने क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिए और यह समझा जाने लगा कि अब यह नीति अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन की अपेक्षा राष्ट्रवादी आन्दोलन की ओर मुड़ गई है।

युद्ध के सोवियत लक्ष्य
(The Soviet War Aims)

सोवियत संघ द्वितीय विश्व युद्ध के द्वारा क्या प्राप्त करना चाहता था और उसे क्या मिला, इन दोनों के बीच सम्बन्ध देखना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि सोवियत राजनीति में उसके उद्देश्यों का पता लगाना असम्भव प्रायः है। युद्ध के दौरान सोवियत सरकार द्वारा प्रचार के लिए कोई निश्चित कार्यक्रम अपनाया गया हो ऐसा दिखाई नहीं देता। सोवियत संघ के युद्ध के लक्ष्यों को इसके सैनिक और कूटनीतिक कार्यों द्वारा ही जाना जा सकता है। कई एक पर्यवेक्षकों का कहना है कि सोवियत नेता जारशाही साम्राज्यवादी लक्ष्यों से प्रेरित थे। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे उनके पद चिन्हों पर हो चल रहे हों। किन्तु फिर भी जारशाही के द्वारा सोवियत रूस के हितों का और जनता की महत्त्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व किया जाता था, इसलिए उसे अपनाया जाना उपयोगी था। रूस ने युद्ध के द्वारा पहले तो उन प्रदेशों को पाने का प्रयास किया जो जारशाही के समय दूसरे देशों द्वारा ले लिए गए थे। सुदूर पूर्व में रूसी जापानी युद्ध में हार के कारण

जारशाही ने अनेक प्रदेशों से अधिकार छोड़ दिया था। इन प्रसारवादी उद्देश्यों के साथ-साथ सोवियत सरकार ने युद्ध से कुछ एक ऐसे लक्ष्य प्राप्त करने की भी चेष्टा की जो जारशाही सरकार द्वारा रूसी साम्राज्य के हित में नियोजित किए गए थे किन्तु प्राप्त नहीं किए जा सके। इन उद्देश्यों में पहला यह था कि यूरोप में प्रभाव का क्षेत्र इतना अधिक बढ़ाया जाए कि वहां सोवियत सिमाएं और कूटनीतिक सुरक्षित रह सकें। दूसरे, काले सागर के दर्रे पर नियन्त्रण किया जाए और तीसरे, निकट मध्य एवं सुदूर पूर्व में तथा विश्व में हर जगह सोवियत संघ का प्रभाव बढ़ाया जाए, जब भी कभी ऐसा करने के लिए अवसर प्राप्त हों।

प्रत्येक विदेशी साम्यवादी का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह अपने पूरे प्रभाव से प्रत्येक सोवियत सैनिक एवं कूटनीतिक का समर्थन करे। ऐसा करते समय यदि उसे अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा उद्देश्यों की अवहेलना भी करनी पड़े तो वह पीछे न हटे क्योंकि सोवियत सरकार के लक्ष्य एवं उद्देश्य सर्वोच्च हैं और वह विश्व साम्यवादी आन्दोलन की आत्मा है। वैसे सोवियत नेताओं को विदेशी साम्यवादियों के प्रयासों का अधिक भरोसा एवं विश्वास नहीं था किन्तु फिर भी वे प्रसारवादी कूटनीति को अपनाये रखना चाहते थे। उनके लिए द्वितीय विश्व युद्ध सभी युद्धों को समाप्त करने के लिए एक युद्ध नहीं था वरन् यह तो एक ऐतिहासिक सोपान था जिससे कि दुनिया साम्यवाद की ओर मुड़ सके। स्टालिन ने युद्ध की प्रकृति पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि यह युद्ध अतीतकालीन युद्धों की भांति नहीं है। इसमें जो कोई भी जिस प्रदेश पर अधिकार कर लेता उस पर अपनी स्वयं की सामाजिक व्यवस्था को लाद देता। जहां तक उसकी सेनाएं पहुँच सकती हैं वहां तक वह अपनी सामाजिक व्यवस्था लागू कर सकता है। स्टालिन का कहना था कि "अब युद्ध जल्दी ही समाप्त हो जाएगा और हम पन्द्रह-बीस वर्षों में क्षतिपूर्ति कर पाएंगे और इसके बाद पुनः अपने खिलेगा।" इस प्रकार सोवियत नेताओं ने द्वितीय विश्व युद्ध में यद्यपि विश्व साम्यवाद का प्रचार किया किन्तु उनका मुख्य ध्यान सोवियत रूस की राजनैतिक शक्ति पर था। उन्होंने सफलता के साथ अपने सैनिक एवं कूटनीतिक कार्यों को समन्वित किया।

युद्धकालीन सोवियत कूटनीति
(Soviet War time Diplomacy)

दिसम्बर सन् १९४१ में ग्रेट ब्रिटेन के विदेश सचिव एन्थनी ईडन मास्को गए और इस प्रकार सोवियत नेताओं को पश्चिमी मित्रों के साथ उच्च स्तर के सम्मेलन का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। उस समय लाल सेना ने जर्मनी

के सैनिकों को मास्को के दरवाजों पर रोका हो था किन्तु सोवियत सत्ता का अस्तित्व अब भी संदिग्ध था। फिर भी इस सम्मेलन के दौरान स्टालिन अपनी अन्तिम विजय के प्रति आश्वस्त था। स्टालिन ने इस सम्मेलन में युद्ध के बाद की स्थिति पर विचार करने पर जोर दिया किन्तु यहां ईडन ने यह बताया कि ग्रेट ब्रिटेन सीमा सम्बन्धी प्रश्नों पर युद्ध के बाद ही विचार करने के अमरीकी विचार से सहमत है। मई, १६४२ में जब मोलोतोव आंग्ल-सोवियत संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए लंदन गए तो उन्होंने पुनः सोवियत मांग को दोहराया किन्तु ग्रेट ब्रिटेन वालों ने पुनः इसे मानने से मना कर दिया।

सोवियत संघ की यूरोप में बड़ी महत्वाकांक्षायें थी और ग्रेट ब्रिटेन इनसे परिचित था। स्टालिनग्राड के युद्ध के बाद सोवियत सेना पूर्वी क्षेत्र में निष्क्रिय बन गई और अब सोवियत सरकार को सफलता का महान् आश्वासन मिला। उसे विश्वास हो गया कि वह सन् १६४१ की सीमाओं को सुरक्षित रख सकता है, चाहे इसे पश्चिमी शक्तियों द्वारा स्वीकार किया जाए अथवा न किया जाए। पश्चिमी शक्तियों की परवाह किए बिना ही पूर्व केन्द्रीय यूरोप में उसने अपने प्रभाव का क्षेत्र बढ़ाना शुरू किया। वैसे वह बराबर यह कहता रहा कि उसकी इच्छा यह है कि पूर्व केन्द्रीय यूरोप के राष्ट्र युद्ध के बाद अपनी स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता को बनाए रख सकेंगे। सोवियत महत्वाकांक्षाओं से प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होने वाला देश पोलैण्ड था। पोलैण्ड की निष्कासित सरकार ग्रेट ब्रिटेन में रह रही थी। उसका सोवियत संघ के प्रति पर्याप्त कटु अनुभव था क्योंकि इसने सन् १६३६ में पोलैण्ड को नष्ट करने में भाग लिया था। सोवियत संघ ने यह प्रदर्शित किया कि वह युद्ध के बाद पोलैण्ड के संगठन में अपना हाथ रखता है और इसके बाद उसने सोवियत सेना के आधीन पोलिश संघ के देशभक्तों को मास्को में जमा किया जो साम्यवादी पोलिश सरकार की नाभि का काम कर सकें। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ ने चेकोस्लाव, यूगोस्लाव और रूमानिया की ब्रिगेड भी बनाई जिसमें अधिकृत सिपाहियों को भर्ती किया गया। मास्को ने लंदन में किंग पीटर II के आधीन यूगोस्लाव सरकार से बातें जारी रखी। इसने कैरो में जार्ज द्वितीय के आधीन यूनानी सरकार से भी सम्पर्क बनाए रखा। सोवियत संघ ने लन्दन स्थित राष्ट्रपति एडवर्ड बीनस (Edward Venis) के आधीन यूगोस्लाव सरकार से भी मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाए रखे। जुलाई और सितम्बर १६४३ में स्वतन्त्र जर्मनी के लिए राष्ट्रीय समिति और जर्मन अधिकारियों का संघ मास्को में निर्मित किया गया। इसका निर्देशन निष्कासित जर्मनों द्वारा किया जाता था किन्तु इनमें जर्मन अधिकारी भी शामिल थे। उस समय सम्पूर्ण

जर्मनी या उसके किसी भाग पर सोवियत संघ के अधिकार के आसार दूर दिखाई दे रहे थे। किन्तु उस समय मास्को में स्थित जर्मन समूहों का तात्कालिक कार्य तो यह था कि जर्मन सिपाहियों को आत्मसमर्पण के लिए समझा कर उनकी युद्ध क्षमता एवं प्रयासों को कम किया जावे। अवसर आने पर इसका उपयोग जनता पर सोवियत प्रभाव बढ़ाने के लिए भी किया जा सकता था।

पश्चिमी मित्र एवं सोवियत नीति

सोवियत नीति के असंतुलन ने पश्चिमी शक्तियों को भ्रम में डाल दिया तथा वे सोवियत लक्ष्यों के वास्तविक रूप का अनुमान नहीं लगा सकीं। सोवियत संघ द्वारा जो भी आश्वासन दिये जाते थे उनको प्रारम्भ में अमरीका द्वारा ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाता था किन्तु ग्रेट ब्रिटेन के लोगों को उनके बारे में विश्वास कम था। सोवियत संघ का प्रसार योरोप में होता जा रहा था किन्तु उच्च स्तर के अमरीकी कूटनीतिज्ञों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। अमरीकी सरकार एवं जनता यह मान कर चल रही थी कि युद्ध के बाद पूर्व-केन्द्रीय योरोप में सोवियत संघ का प्रभाव होना ही चाहिए। उन्होंने सोवियत प्रभाव को इन क्षेत्रों में प्रजातन्त्र की स्थापना के विपरीत नहीं माना। उनका तर्क था कि यदि ऐसा कुछ होता तो सोवियत संघ द्वारा अटलान्टिक चार्टर एवं संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा में विश्वास ही क्यों किया जाता। उस समय संयुक्त राज्य अमरीका में साम्यवाद एवं सोवियत मामलों के कुछ ही ऐसे जानकार थे जो सोवियत संघ के इरादों को संदेह की नजर से देखते थे। उनका विचार था कि सोवियत संघ द्वारा पड़ौसियों के मित्र होने पर जोर दिये जाने के पीछे कुछ रहस्य है और वह सम्भवतः यह है कि उसके पड़ोसी भी साम्यवादी देश ही होने चाहिए, क्योंकि लेनिन की दो गुट की विचारधारा के अनुसार पूंजीवादी एवं समाजवादी गुट तो कभी मित्र हो ही नहीं सकते और इसलिए एक राष्ट्र सोवियत संघ का दोस्त तभी बन सकता है जबकि वह लाल झंडे के नीचे आ जाय। सामान्यतः अमरीकी सरकार एवं जनता को सोवियत मैत्री में कोई शक नहीं था और पश्चिमी सामान्य हित के विचार उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन को सौंप दिये।

मित्र राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों का प्रथम सम्मेलन मास्को में अक्टूबर, १९४३ में हुआ। इस समय अमरीकी राज्य सचिव कार्डेल हल (Cordell Hull) एवं ब्रिटिश विदेश मन्त्री ईडन (Eden) ने सोवियत एवं पोलिश सरकारों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया किन्तु कोई सफलता न

मिली। अमरीकी दृष्टिकोण पर इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त स्टालिन ने वादा किया कि जर्मनी के साथ युद्ध समाप्त हो जाने के बाद सोवियत संघ जापान के विरुद्ध युद्ध में हस्तक्षेप करेगा। सोवियत संघ ने अप्रैल १९४१ में जापान के साथ अनाक्रमण सन्धि की थी और इस प्रकार का कोई इरादा इस सन्धि का स्पष्ट उल्लंघन था। अनैतिक होते हुए भी यह आश्वासन उन अमरीकी सैनिक नेताओं को पसन्द आया जो जापान के विरुद्ध युद्ध में रत थे। किन्तु युद्ध के अन्तिम दिनों तक भी मनरेल मार्शल प्रशान्त युद्ध में सोवियत सहायता के वायदे को भुलाता रहा, साथ ही योरोप में सोवियत प्रसारवादी नीतियों से भी वह निश्चिन्त हो रहा।

तेहरान सम्मेलन
(The Teheran Conference)

तेहरान में २८ नवम्बर से १ दिसम्बर, १९४३ तक तीन बड़े राष्ट्र-अध्यक्षों का प्रथम सम्मेलन हुआ। चर्चिल, रूजवेल्ट एवं स्टालिन ने ईरान की राजधानी में पारस्परिक हित के विषयों पर विचार किया। यह तय किया गया कि ब्रिटेन, अमरीका मिल कर सन् १९४४ में फ्रांस पर आक्रमण करेंगे और जर्मनी के साथ अपना युद्ध समाप्त करके सोवियत संघ प्रशान्त महासागर के युद्ध में शामिल हो जायेगा। इस विचार विमर्श में पोलैण्ड का प्रश्न मुख्य बना रहा। चर्चिल ने यह सोचा कि शायद सोवियत संघ और पोलैण्ड की सरकारों के बीच समझौता होने में मुख्य बाधा सोवियत पोलिश सीमा का प्रश्न है। अतः उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि १९४१ की सीमा को स्वीकार कर लिया जाये और पोलैण्ड को पूर्व में जो क्षति होगी उसे पश्चिम में जर्मनी के भागों से पूरा कर दिया जाये। यद्यपि यह प्रस्ताव अटलांटिक चार्टर का उल्लंघन था किन्तु व्यावहारिक सुविधा के लिए इसे अपनाया गया। स्टालिन ने शीघ्र ही इस विचार को अपना लिया किन्तु पोलिश सरकार से मनमुटाव बनाये ही रखा। रूजवेल्ट इस सम्बन्ध में चुप ही रहे। चर्चिल ने एक अन्य कार्यक्रम रखा जिसके अनुसार जर्मनी के लोगों को एगीयन द्वीपों (Aegean islands) से निकाल कर युद्ध को भूमध्यसागर में बढ़ा दिया गया, किन्तु यह कार्यक्रम रूजवेल्ट तथा स्टालिन दोनों ने ही स्वीकार नहीं किया। यह कार्यक्रम असफल रहा क्योंकि यह टर्की के सहयोग पर निर्भर करता था। जब पश्चिमी नेता कैरो में राष्ट्रपति इस्मत इनोनू (Ismet Inonu) से मिले तो उन्होंने टर्की को युद्ध तक सहयोग में, पहल कर, दिया, जब तक कि युद्ध का फैसला नहीं हो जाये।

राष्ट्रपति बनस (Benes) तेहरान होते हुए मास्को गये और ब्रिटिश परामर्श के विरुद्ध भी १२ अक्टूबर, १९४३ को सोवियत चेकोस्लोवाक सन्धि

समझौता कर लिया। बेनस मूल रूप से प्रजातन्त्र का समर्थक एवं पश्चिमी राजनीति की ओर झुका हुआ था किन्तु म्यूनिक समझौते में ब्रिटेन व फ्रांस के योगदान से वह नाराज था। इसके अतिरिक्त उसे यह विश्वास हो गया था कि पश्चिमी शक्तियों ने पूर्व-केन्द्रीय योरोप से अपना हाथ खींच लिया है अतः उसने सोवियत संघ के साथ सन्धि करना उपयुक्त समझा। चेकोस्लोवाक विदेश मन्त्री जान मेसेरिक (Jan Masaryk) ने लन्दन में अपने साथियों के सम्मुख इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा था कि—"हम आइजनहॉवर के नक्शे में ही नहीं हैं।"

जब चर्चिल ने लन्दन लौटने पर पोलिश सरकार को १९४१ की सीमा का बलिदान करके सोवियत रूस से समझौता करने की बात कही तो पोलिश सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस पर पश्चिमी शक्तियों को यह विश्वास हो गया कि पोलिश सरकार की अबुद्धिमत्ता के कारण ही सोवियत रूस से उसका समझौता नहीं हो पा रहा है। किन्तु सन् १९४८ में घटने वाली घटनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि बेनस की बुद्धिमत्ता भी उसकी सरकार को बचाने में सफल नहीं हो सकी।

पूर्व केन्द्रीय योरोप पर सोवियत विजय
(The Soviet Conquest of East Central Europe)

जून, १९४४ में मित्र राष्ट्रों ने फ्रांस पर आक्रमण किया। इस अवसर पर सोवियत सेना १९४१ की सीमा पर पहुंच गई तथा वहां से उसने पोलैण्ड, रूमानिया तथा बाल्टिक राज्यों पर आक्रमण करने का कार्यक्रम बनाया। २२ जून, १९४४ को इसने पूरी शक्ति के साथ आक्रमण किया जिसके परिणाम-स्वरूप यह जुलाई के अन्त तक विस्टुला (Vistula) तक पहुँच गया। १ अगस्त, १९४४ को सोवियत सेना वार्सा (Warsaw) पहुंच गई तथा वहां सोवियत संघ के रेडियो प्रसारण द्वारा उकसाने पर पोलिश भूमिगत सेना जर्मनी के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। फिर भी सोवियत सेना विस्टुला के पूर्वी किनारे पर ही रुक गई तथा विद्रोहियों की रक्षा के लिए कुछ भी नहीं किया किन्तु पोलिश तथा पश्चिमी सरकारों के प्रयास भी निरर्थक गये। ब्रिटिश तथा अमरीकी जहाज जब आक्रान्त वार्सा को सामग्री पहुँचाने के लिए जाते थे तो उन्हें सोवियत सेना द्वारा अधिकृत भूमि पर नहीं रुकने दिया जाता था। यदि वे रुकते भी थे तो रूसी वायुयान भेदी बन्दूकों के निशाने बन जाते थे।

इस व्यवहार के स्पष्टीकरण के रूप में सोवियत सरकार द्वारा यह तर्क दिया जाता था कि सोवियत हाई कमाण्ड ने रण-कौशल की

दृष्टि से यह निर्णय लिया है कि कुछ समय तक विस्टुला से आगे न बढ़ा जाये। विचारकों का कहना है कि यह व्यवहार युद्ध रूप से एक राजनैतिक चाल थी। वार्सा में जो नेतृत्व उभर रहा था वह साम्यवादी नहीं था और ग्रेट ब्रिटेन स्थित पोलिस सरकार को मान्यता दे रहा था। सोवियत संघ ने मई, १९४४ में ही मास्को में प्राविधिक पोलिस सरकार की रचना कर दी थी। अतः वह वार्सा में पूंजीवादी प्रतियोगियों की सहायता करने में कोई रुचि नहीं लेता था। दो माह की अमानवीय लड़ाई के बाद २ अक्टूबर, १९४४ को जर्मनों द्वारा उपद्रवियों को दबा दिया गया।

जब सोवियत सेना पोलैण्ड के विरुद्ध खड़ी थी तो उसने बाल्टिक एवं बल्कान्स की ओर भी अपनी टुकड़ियां भेजना प्रारम्भ किया। जर्मनी के पूर्वी प्रदेश विजयी मित्र राष्ट्रों की ओर मिलने के लिए तैयार ही बैठे थे। वे सम्भवतः पश्चिमी देशों को आत्मसमर्पण करने को प्राथमिकता देते किन्तु जब सोवियत सेनायें उनके ऊपर आ लदी तो उनके सामने कोई विकल्प ही नहीं था। २५ अगस्त, १९४४ को फिनलैण्ड ने हथियार डाल दिये और दस दिन बाद सोवियत फिनिश युद्ध बन्दी समझौता क्रियान्वित किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय परम्परा के अनुसार युद्धबन्दी समझौता मुख्य रूप से एक सैनिक परिपत्र होता है जिसका अर्थ यह है कि जब तक शान्ति-वार्ता के बाद समझौता नहीं हो जाता तब तक कोई लड़ाई नहीं होगी। किन्तु सोवियत संघ ने किसी शान्ति सम्मेलन की प्रतीक्षा करना उचित नहीं समझा और उसने तुरन्त ही फिनलैण्ड तथा जर्मनी के अन्य पूर्वी उपराज्यों के साथ सम्बन्ध निश्चित करना उचित समझा।

इसी समय रूमानिया ने भी मित्रराष्ट्रों की ओर मिलने का निर्णय किया। रूमानिया की सरकार ने, यह कहा जाता है कि, पश्चिमी शक्तियों से गुप्त समझौता करने का प्रयास किया था किन्तु उन्होंने इसे सोवियत रूस के ही हवाले कर दिया। रूमानिया का प्रतिनिधि मण्डल मास्को गया तथा उसने १२ सितम्बर १९४४ को युद्धबन्दी समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। रूमानिया को सह योद्धा का स्तर प्रदान कर दिया गया तथा रूमानिया की सेनाएं मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध के अन्त तक लड़ती रहीं।

रूमानिया में जुड़ने के कारण सोवियत सेना दक्षिण में डन्यूबी (Danube) तथा बलगारिया की ओर तेजी से बढ़ सकती थी तथा कार्पेथियन पर्वतमाला को पार करके पश्चिम में हंगरी की ओर बढ़ सकती थी। बलगारिया ही एकमात्र ऐसा पश्चिमी उपराज्य था जिसने सोवियत संघ के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की थी वरन् केवल पश्चिमी मित्र देशों के विरुद्ध

ही युद्ध की घोषणा की थी। कुछ समय तक तो बलगारिया की सरकार पश्चिमी देशों के साथ आत्मसमर्पण के लिए गुप्त-वार्ता करती रही किन्तु बल्कान्स में मित्र राष्ट्रों की सेना नहीं थी अत वह ऐसा नहीं कर सकती थी। ५ सितम्बर, १९४४ को बलगारिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके सोवियत सघ ने इस समस्या का समाधान कर दिया। सोवियत सेना ने डनूबी को पार करके बिना किसी विरोध का सामना किये ही देश पर अधिकार कर लिया। २८ अक्टूबर, १९४४ को युद्धबन्दी समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए बल्गारिया का प्रतिनिधि मण्डल मास्को गया। बलगारिया को भी सह योद्धा का स्वर प्राप्त हो गया तथा उसकी सैनाएं मित्र राष्ट्रों के पक्ष मे मिल गई।

हगरी इस दृष्टि से कम सौभाग्यशाली था। रूमानिया, स्लोवाकिया एव युगोस्लाविया को रौंदने के बाद सोवियत सेनाएं हगरी पर चढ गई। हगरी की सरकार एडमिरल निकोलस होर्थी के शासन में पश्चिमी मित्रो से सन्धि करना चाहती थी किन्तु उसे भी सोवियत रूस के हवाले कर दिया गया। १५ अक्टूबर को हगरी ने जर्मनी से अपने मैत्री सम्बन्ध तोड़ने की घोषणा की तथा सघर्ष समाप्ति की बात रही किन्तु जर्मनी वालो ने हगरी कि इस निर्णय को ठुकरा दिया। उन्होंने बुडापेस्ट को घेर लिया तथा होर्थी को बन्दी बनाकर जर्मनी भेज दिया। इसके अतिरिक्त डेनुबे के निकट सुरक्षा की पक्ति तैयार की। अन्तत हगरी को इटली जैसे भाग्य का सामना करना पड़ा व इसका विभाजन कर दिया गया। जर्मनी की सरकार ने हगरी के फासीवादी नेता फरेन्ज सालासी (Ferencz Szalasi) के नेतृत्व मे बुडापेस्ट मे एक कठपुतली सरकार की स्थापित की। दूसरी ओर सोवियत सघ ने जनरल बेला मिक्लोस (Bela Miklos) के अधीन डेबेरसेन (Debrecen) में अन्य सरकार की स्थापना की।

बाद मे जनवरी २०, १९४५ को हगरी ने मास्को के साथ युद्धबन्दी समझौता किया जिसके अनुसार हगरी को म्यूनिक से पूर्व की सीमाएं प्रदान की गई तथा उसे क्षतिपूर्ति के रूप में लगभग तीन सौ मिलियन डालर सोवियत सघ, चेकोस्लोवाकिया एव युगोस्लाविया को देने थे।

सोवियत सघ ने जब इन उपराज्यों के साथ शान्ति सन्धियां की तो पश्चिम से नहीं पूछा गया। यह एक प्रकार से उनको चेतावनी को एक धक्का तथा उनके गर्व के लिए गहरी चोट थी। इतने पर भी इन देशों ने मित्र राष्ट्रों की एकता की खातिर इन पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी। इस प्रकार इन सन्धियों को सभी मित्र राष्ट्रों द्वारा किया हुआ मान लिया गया।

उस समय यह कल्पना की गई थी कि ये समझौते केवल अस्थायी प्रकृति के हैं जिनको भावी शान्ति सम्मेलन में परिवर्तित किया जा सकता है। पश्चिमी देशों ने इन व्यवस्थाओं में सोवियत गतिविधियों पर नजर रखने की व्यवस्था की। यह काम उन्होंने बुखारेस्ट, सोफिया एवं बुडापेस्ट में रखे गये अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से किया। इन प्रतिनिधियों को ऐसा अनुभव हुआ कि मानो सोवियत प्रतिनिधियों से वे पृथक हैं तथा उनकी अवहेलना की जा रही है। सोवियत प्रतिनिधियों को मित्र राष्ट्र युद्धबन्दी आयोगों का सभापति बनाया गया क्योंकि सामान्यतः स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार प्रमुख दायित्व उसी देश का माना जाता है जिसने कि एक प्रदत्त क्षेत्र पर विजय प्राप्त की है।

ज्यों ज्यों सोवियत सेना पूर्व-केन्द्रीय योरोप में बढ़ती चली गई त्यों-त्यों उस हत्या, अत्याचार, बलात्कार एवं अमानवीय व्यवहार की चर्चा बढ़ने लगी जो सोवियत सेना द्वारा विजित क्षेत्र की जनता पर किया जाता था। इस सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह थी कि सोवियत सेना के सहारे देशी साम्यवादी या तो मास्को से लौटकर अथवा भूमिगत क्षेत्रों से निकाल कर सत्ताधारी बनने लगे। सोवियत शक्ति द्वारा इस काम में इनकी पूरी सहायता की जाती थी। अमरीका अभी तक भी इन घटनाओं से सचेत नहीं हुआ था किन्तु ग्रेट ब्रिटेन पर्याप्त उत्सुक बन गया। चर्चिल ने पहले भूमध्य-सागर से योरोप पर आक्रमण का समर्थन किया किन्तु अब वह बाल्कन में एड्रियाटिक सागर के शीर्ष पर मित्र राष्ट्रों की सेना रखने पर जोर देने लगा ताकि पूर्व केन्द्रीय योरोप में सोवियत शक्ति को मर्यादित रखा जा सके। किन्तु जो अमरीकी जनरल भूमध्यसागर में कार्यवाही करने में रुचि नहीं लेते थे उन्होंने इस कार्यक्रम को रण-कौशल की दृष्टि से अनुपयुक्त एवं हल्का बताया। सच यह है कि प्रथम विश्व युद्ध के समय इस क्षेत्र में इटली की सेना न केवल आगे बढ़ सकी थी वरन् उसे बुरी तरह मार भी खानी पड़ी थी। जब चर्चिल ने आइजनहॉवर के मुख्यालय में जाकर यह बात कही तथा इसके पक्ष में तर्क प्रदान किये तो इके (Ike) ने कहा "नहीं, वह दोपहर बाद तक नहीं कहता गया और अन्त में भी उसने अंग्रेजी भाषा के प्रत्येक रूप में नहीं ही कहा।'

चर्चिल का प्रतिशत सिद्धान्त
(Churchill's Percentage Deal)

चर्चिल आसानी से ही हिम्मत हारने वाला नहीं था। उसने सितम्बर १९४४ में द्वितीय क्यूबेक सम्मेलन (Quebec Conference) में रूजवेल्ट के

सामने भी इस बात को रखा। इस समय राष्ट्रपति चुनाव की उलझनों में व्यस्त था। साथ ही वह साम्यवादी खतरे की अपेक्षा नाजीवाद के सम्भावित खतरे से अधिक परेशान हो रहा था। किन्तु फिर भी उसने इस पर कोई ऐतराज नहीं किया कि चर्चिल अकेला ही स्टालिन के साथ समझौता कर ले। अक्टूबर १९४४ में चर्चिल तथा ईडन मास्को गये। यहां उन्होंने पुनः पोलैण्ड के प्रश्न को सुलझाने की बात कही। किन्तु तानाशाह अधिक से अधिक केवल इस बात पर राजी था कि लन्दन के पोलों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए पोलिश समिति में प्रतिनिधित्व दिया जा सकता है। स्टालिन ने अन्य ब्रिटिश सुझावों के प्रति अधिक अच्छा रुख अपनाया। इस अवसर पर चर्चिल ने स्टालिन को प्रतिशत का विचार सुझाया जिसके अनुसार बल्कान में उत्तरदायित्व को प्रतिशत के आधार पर बाटना था। उदाहरण के लिए रूमानिया पर ९० प्रतिशत सोवियत और १० प्रतिशत पश्चिमी प्रभाव रहे, इसी तरह बलगारिया पर ७५ प्रतिशत सोवियत और २५ प्रतिशत पश्चिमी। यूनान पर ९० प्रतिशत पश्चिमी और १० प्रतिशत सोवियत, यूगोस्लाव पर ५० प्रतिशत पश्चिमी और ५० प्रतिशत सोवियत तथा हंगरी पर भी ५० प्रतिशत सोवियत एवं ५० प्रतिशत पश्चिमी प्रभाव रहे। स्टालिन ने यह प्रस्ताव बिना किसी आपत्ति के ही स्वीकार कर लिया। उत्तरी आड्रियाटिक में ब्रिटिश के रहने की योजना को भी उसने इसी प्रकार स्वीकार कर लिया।

घर लौटने पर चर्चिल ने पाया कि उसके स्टाफ के जनरल पूरी अमरीकी सहायता के बिना इन कार्यवाही के करने में उत्सुक नहीं थे। उन्होंने यह भी सुझाया कि यह कदम फरवरी, १९४५ से पूर्व उठाना प्रभावशील नहीं रहेगा। दिसम्बर, १९४५ में उसने इस कार्यक्रम का बहिष्कार कर दिया। इस लेन देन का एकमात्र फायदा चर्चिल को यह हुआ कि वह यूनान में अपना प्रभाव बढ़ाने में सफल हो सका। अक्टूबर में ब्रिटेन की सैनिक टुकड़ियां यूनान तथा उसके आगे तक पहुंच गई। दिसम्बर की भारी लड़ाई में यूनानी साम्यवादियों ने एथेन्स को अधिकार में कर लिया। यद्यपि राजधानी में इनकी हालत खराब कर दी गई किन्तु देहाती क्षेत्रों में साम्यवादियों को नहीं दबाया जा सका और यह गृह संघर्ष वर्षों तक चलता रहा। सोवियत सरकार ग्रेट ब्रिटेन के साथ समझौते के परिणामस्वरूप इतनी सीमित रही कि उसने बाल्कन क्षेत्र में आगे बढ़ना रोक दिया। २१ अक्टूबर, १९४४ को बेलग्रेड को अधिकार में करने के बाद सोवियत सेना बुडापेस्ट की ओर उत्तर में मुड़ गई। जर्मन के लोगों ने हंगरी की राजधानी को अपने अधिकार में करने के लिए भरसक प्रयत्न किए। दूसरी ओर सोवियत सेना १७ जनवरी, १९४५ को

वार्सा पर अधिकार कर लिया। वार्सा और बुडापेस्ट पर अधिकार १२ जनवरी, १९४५ को किए गए अन्तिम सोवियत आक्रमण के भाग थे। बेलग्रेड, बुडापेस्ट और वार्सा होती हुई सोवियत सेनाएं पश्चिम वियना, प्राग, बर्लिन की ओर आगे बढ़ी।

याल्टा सम्मेलन
(The Yalta Conference)

सोवियत रूस की बढ़ती हुई शक्ति पर याल्टा सम्मेलन ने एक रोक लगा दी जो 'तीन बड़ों' का द्वितीय सम्मेलन था। इस सम्मेलन में सामान्यतः सोवियत नेताओं ने उन विजयों की रक्षा का प्रयास किया जो सोवियत सेना प्राप्त कर चुकी थी और उन विजयों के लिए गारन्टी चाही जिन्हें सोवियत सेना प्राप्त कर सकती थी। सोवियत रूस पूर्व-केन्द्रीय यूरोप पर तो अधिकार कर ही चुका था। याल्टा में सोवियत नेताओं की समस्या यह थी कि वे इस प्रदेश में अपने अधिकार पर पश्चिम की मान्यता प्राप्त करलें। जहां तक अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट का सवाल है वह पूर्व केन्द्रीय यूरोप के भाग्य की ओर से उदासीन थे और इसलिए उन्होंने थोड़ा बहुत आगा पीछा करके बात मान ली। किन्तु चर्चिल ने कई कठिनाइयां उठाईं। सबसे बड़ा प्रश्न तो पोलैण्ड की समस्या थी जिसने याल्टा में इन 'तीन बड़ों' का ध्यान केन्द्रित रखा। पोलैण्ड की सीमाओं के सम्बन्ध में चर्चिल तेहरान सम्मेलन में पहले ही यह सुझाव दे चुके थे कि पोलैण्ड रूस की क्षतियों को पूर्वी भाग में चुकाएगा और पश्चिम में जर्मनी के प्रदेश से इसका भरोता कर लेगा। अब प्रश्न यह था कि क्षतिपूर्ति की मात्रा क्या हो ? सोवियत नेताओं का प्रस्ताव था कि वे ओडर-निसी पंक्ति (Oder Neisse Line) और पूर्वी प्रशा के उत्तरी भाग को अपने लिए सुरक्षित रखेंगे जिसमें कि कोनिसबर्ग भी सम्मिलित है। पश्चिमी नेताओं के मतानुसार कोनिसबर्ग से युक्त पूर्वी प्रशा के उत्तरी भाग तक तो बात ठीक थी किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ मांगना बहुत अधिक हो जाता। इस प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका। ब्रिटेन वालों ने पोलिस सरकार और सोवियत सरकार के बीच समझौता करने वाले प्रयासों को ठुकरा दिया और अब वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पोलिस समिति को मान्यता देने के लिए तैयार थे। यह समिति मास्को में पोलैण्ड की प्राविधिक सरकार के रूप में मानी गई। ग्रेट ब्रिटेन ने इस बात पर जोर दिया कि इस समिति में लन्दन में रहने वाले पोलों के कुछ प्रतिनिधि होने चाहिए। सोवियत नेताओं ने सिद्धान्त रूप से यह बात मान ली। किन्तु ब्रिटेन तथा सोवियत संघ के नेता यह समझौता करने

मे असमर्थ रहे कि सिद्धान्त को कैसे क्रियान्वित किया जाए ? इस प्रश्न को आगे अध्ययन के लिए एक विशेष आयोग को सौंप दिया गया जिसमें सोवियत विदेश कमीसार एवं मास्को स्थित ग्रेट ब्रिटेन के और अमरीकी राजदूत थे।

पूर्व केन्द्रीय यूरोप में ब्रिटेन निराशा का एक अन्य कारण यह था कि वह लन्दन स्थित युगोस्लाव सरकार को समर्थन दे रहा था। इस प्रश्न पर माल्टा सम्मेलन में सोवियत नेताओं ने इसे सुलझाया और ब्रिटिश सरकार ने इसे स्वीकार किया तथा इसके आधार पर मार्शल टीटो और लन्दन स्थित युगोस्लाव प्रधानमन्त्री ईवान सुबासिक (Ivan Subasic) ने समझौता किया जिसमें नई युगोस्लाव सरकार में विभिन्न प्रजातन्त्रात्मक दलों को सांकेतिक प्रतिनिधित्व (Token Representation) देने की व्यवस्था की गई। यह सरकार टीटो के अधीन कार्य करेगी और वहां राजतन्त्र की स्थापना की जाए अथवा गणराज्य की स्थापना की जाए—यह बात जनमत के आधार पर तय की जाएगी।

सामान्य रूप से पूर्व केन्द्रीय यूरोप में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की गारन्टी के सम्बन्ध में अमरीका द्वारा यह प्रस्ताव किया गया कि स्वतन्त्र यूरोप के सम्बन्ध में एक घोषणा जारी की जाए जिसके अधीन मित्र राष्ट्रों द्वारा यूरोप के स्वतन्त्र लोगों को उनकी मर्जी की प्रजातन्त्रात्मक संस्था बनाने में सहायता की जाए। यह अटलांटिक चार्टर के अनुरूप होगा। सोवियत नेता इस प्रस्ताव से सहमत हो गए क्योंकि उन्हें इस बात का विश्वास था कि यूरोप की जनता किस प्रकार की प्रजातन्त्रात्मक संस्थाएं चाहती है। यही सब ध्यान में रख कर सोवियत नेता बिना कुछ आगा-पीछा किए इस बात को स्वीकार कर गए। कहा जाता है कि उन्होंने स्वतन्त्र यूरोप पर घोषणा को उसी प्रकार बिना किसी परेशानी के स्वीकार किया जिस प्रकार कि बाद में बिना किसी परेशानी के तोड़ दिया।

सोवियत रुचि का एक अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्र जर्मनी था। सितम्बर, १९४४ में लन्दन में यूरोपीय परामर्शदाता परिषद् (European Advisory Council) में जर्मनी के भावी क्षेत्रों पर सहमति हो चुकी थी। अमरीकी सैनिक प्रतिनिधि इस परिषद में जर्मनी के मामलों को हस्तगत करने के लिए अमरीकी सेना को उलझाने के पक्ष में नहीं थे। उनका विचार था कि अमरीका जापान के साथ युद्ध में उलझा हुआ है अतः जर्मनी में उसे अधिक नहीं उलझना चाहिए। सन् १९३७ के जर्मनी के क्षेत्र का ५२ प्रतिशत भाग जिसमें कि ४८ प्रतिशत जनता रहती थी, सोवियत क्षेत्र माना गया। यह क्षेत्र

उस क्षेत्र की अपेक्षा अधिक था जो सोवियत सेना ने अधिकृत किया था। जर्मनी का प्रशासन मित्र राष्ट्रों द्वारा मिल कर करना था और इसके लिए बर्लिन में मित्र राष्ट्रों की नियन्त्रण परिषद स्थापित की गई। बर्लिन का अधिकांश भाग सोवियत क्षेत्र में आता था, इसको भी अनेक भागों में बांटा जाना था किन्तु प्रशासन मिल कर किया जाना था। बर्लिन तक पहुंचने के तरीका पर यूरोपीय परामर्शदाता परिषद में कोई विचार नहीं किया गया क्योंकि अमरीकी सैनिक अधिकारियों के मतानुसार जर्मन संचार व्यवस्था के बारे में भली भांति ज्ञान बिना यह सब सोचना गलत होगा। याल्टा में 'तीन बड़ों' ने यूरोपीय परामर्शदाता परिषद् की सिफारिशों को स्वीकार किया। इसमें केवल एक परिवर्तन किया गया वह यह कि फ्रान्स के लिए एक भाग और दिया जाए जो ब्रिटिश तथा अमरीकी भागों में से बनाया जाए।

जर्मनी के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात क्षतिपूर्ति की थी। सोवियत रूस का कहना था कि इसके बिना उसका युद्धोत्तर रचना कार्यक्रम पूरा नहीं हो सकता। याल्टा सम्मेलन में रूस ने यह प्रस्तावित किया कि जर्मनी को सामान और सेवा के रूप में २० बिलियन डालर की क्षतिपूर्ति देनी चाहिए और इसमें से आधी पर सोवियत रूस का अधिकार हो। पश्चिमी देश इस बात पर सहमत थे कि जर्मनी को क्षतिपूर्ति देनी चाहिए किन्तु इस क्षतिपूर्ति की मात्रा कितनी हो इसके सम्बन्ध में सहमति नहीं थी। सोवियत नेता रूजवेल्ट द्वारा सुझाए गए शर्त विहीन आत्मसमर्पण के सूत्र को मान रहे थे किन्तु जर्मनी के भविष्य के सम्बन्ध में कोई वास्तविक समझौता न कर सके। याल्टा में 'तीन बड़ों' ने केवल इस बात पर सहमति प्रकट की कि वे जर्मनी की सैनिक शक्ति तथा सम्भाव्य शक्ति को घटा सकें तथा इन समस्याओं को आगे अध्ययन के लिए आयोग को सौंप दें।

याल्टा सम्मेलन में उस समय जर्मनी के साथ युद्ध समाप्त होने को था इसलिए तहरान की अपेक्षा यहां सुदूर पूर्व की समस्याओं पर अधिक ध्यान दिया गया। सोवियत नेता यह चाहते थे कि जापान पर विजय के बाद उनको क्या हिस्सा दिया जाएगा, इस बात को पहले ही तय कर लिया जाए। जिस समय यूरोपीय मामलों पर सौदेबाजी हो रही थी उस समय पश्चिमी हितों की रक्षा का उत्तरदायित्व ग्रेट ब्रिटेन पर छोड़ा गया। किन्तु जब सुदूर पूर्व के मामलों पर सौदे-बाजी हुई तो यह उत्तरदायित्व सोवियत रूस पर डाला गया। सोवियत नेताओं ने अपने इस आश्वासन को दोहराया कि जर्मनी के साथ अपना युद्ध समाप्त करने के बाद दो या तीन महीने के अन्दर-अन्दर जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाएगा। किन्तु इस समय उन्होंने इसके लिए

कीमत मांगी और वह यह थी कि सन् १९०४ में जापान के आक्रमण द्वारा जो सोवियत अधिकार छीन लिए गए हैं वे उसको वापस मिल जाएं। इस प्रकार साम्यवादी सोवियत संघ भी जारशाही साम्राज्यवाद के अवशेषों एवं निशानियों को बनाए रखने में पूरी रुचि ले रहा था।

सोवियत संघ के इन दावों ने चीन के हितों को बहुत प्रभावित किया, किन्तु चीन याल्टा सम्मेलन में प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा था। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रूस की मांगों को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि वे च्यागकाई शेक की स्वीकृति प्राप्त करलें। वह स्वीकृति प्राप्त करने का उन्हें विश्वास था। इसके बदले सोवियत नेताओं ने चीन की राष्ट्रवादी सरकार का समर्थन करने का आश्वासन दिया जिससे कि अमरीकी नेता बहुत प्रसन्न हुए। अमरीका को सन्तोषजनक लगने वाला एक अन्य सोवियत वायदा यह था कि संयुक्त राज्य अमरीका की वायु सेना उस समय सोवियत सुदूरपूर्व के अड्डों का प्रयोग कर सकती है जब कि सोवियत रूस प्रशान्त युद्ध में सम्मिलित हो जाए। यह वायदा बाद में महत्वहीन प्रतीत हुआ।

सोवियत रूस और संयुक्त राष्ट्र संघ
(Soviet Russia and U. N O)

याल्टा सम्मेलन में स्वीकार की गई दूसरी योजना संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का प्रारूप थी। इसको अगस्त अक्टूबर १९४४ में उनके प्रतिनिधियों द्वारा डम्बर्टन ओक्स (Dumbarton Oaks) सम्मेलन में कार्य रूप प्रदान किया गया। सोवियत नेताओं की इस प्रकार के संगठन के मूल्य के सम्बन्ध में पर्याप्त शक था। वे इसे केवल अपने प्रचार के साधन के रूप में देखते थे। किन्तु फिर भी सोवियत नेताओं ने यह निर्णय किया कि वे अब विश्व राजनीति से पृथक रहने की नीति नहीं अपनाएंगे और प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में अपना प्रतिनिधित्व करेंगे। किन्तु शर्त यह है कि उसका प्रयोग राष्ट्र संघ को भांति सोवियत संघ के विरुद्ध नहीं किया जाना चाहिए।

सोवियत संघ को अंदेशा था कि संयुक्त राष्ट्र संघ में उसका अल्पमत हमेशा रहेगा और इसलिए उन्होंने प्रस्तावित संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में मतदान की विशेष व्यवस्था का प्रस्ताव रखा। इसके अनुसार प्रक्रिया से सम्बन्धित निर्णयों के अतिरिक्त निर्णयों को इसे ११ सदस्यों में से ७ के द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए। इन ७ में इसके सभी स्थायी सदस्य अर्थात् बड़ी शक्तियां होनी चाहिए। इस एकमत सम्बन्धी धारा ने महाशक्तियों को सुरक्षा परिषद के निर्णयों पर निषेधाधिकार प्रदान किया। इस प्रक्रिया में पश्चिमी शक्तियां सोवियत रूस के विरुद्ध कार्यवाही नहीं कर पायेंगी। इसी

प्रकार सोवियत नेताओं ने प्रस्तावित संयुक्त राष्ट्र महा सभा में अपनी मत शक्ति को बढ़ाने की दृष्टि से यह माग की कि सोवियत संघ के १६ गणराज्यों को इसमें अलग से मताधिकार प्रदान किया जाए। उनका तर्क था कि ब्रिटिश साम्राज्य के सदस्यों को भी महासभा मे पृथक से प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाएगा और इस प्रकार उसके मत बढ जायेंगे। सोवियत संघ के इस तर्क का जवाब इस रूप में दिया गया कि इस आधार पर संयुक्त राज्य अमरीका भी अपने ४८ राज्यों के लिए ४८ मतों की माग कर सकता है। ऐसी स्थिति में सोवियत रूस को दो अतिरिक्त मतों से ही सन्तोष करना पड़ा–एक यूक्रेन (Ukrain) के लोगो के लिए तथा दूसरा सफेद रूसियों के लिए।

याल्टा सम्मेलन को भंग करने से पूर्व 'तीन बड़ो' ने सभी मित्र राष्ट्रों को तथा धुरी राष्ट्रो पर आक्रमण करने वाले राष्ट्रों को १ मार्च १९४५ को सान फ्रान्सिस्को मे एक महासम्मेलन के लिए आमन्त्रित किया जिसमें कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के प्रारूप पर विचार किया जा सके।

जर्मन का आत्मसमर्पण
(The German Surrender)

सान फ्रान्सिस्को सम्मेलन (San Francisco Conference) २५ अप्रेल से २६ जून, १९४५ तक चला। इस समय तक युद्ध भी समाप्त होने को आ रहा था। युद्ध के अन्तिम समय मे सोवियत सेना तथा पश्चिमी सेनाओ के बीच जर्मनी पर हावी होने की दौड लगी हुई थी। मार्च के प्रारम्भ मे सोवियत सेना क्यूस्ट्रिन (Kuestrin) पर पहुँच गई जहा से बर्लिन केवल ५० मील दूर रह गया था। किन्तु उसी समय जर्मनी का विरोध कडा हो गया और सोवियत सेनाओ का बढ़ना १६ अप्रेल तक के लिए रुक गया। इस बीच अमरीकी सेनायें राइन नदी को पार कर चुकी थी तथा ११ अप्रेल को वे एल्बे पहुँच गई। यहा से बर्लिन केवल साठ मील पूर्व मे था। बर्लिन सोवियत एव अमरीकी सेनाओ के बीच मे आ गया। इसको हस्तगत करना एक मूल्यवान राजनैतिक चाल बन गई। सोवियत संघ को निरन्तर यह भयकर स्वप्न आ रहा था कि जर्मनी पश्चिमी शक्तियों से साथ सन्धि वार्ता करेगा अथवा पश्चिमी सीमा को खोल देगा और पूर्वी सीमा पर कडा रुख अपनायेगा। ऐसी स्थिति में पश्चिमी सेनायें जर्मनी पर छा जायेंगी। यह बात कुछ नाजी जनरलों एवं नेताओं के मस्तिष्क में भी बनाई जाती थी। किन्तु यह सब नहीं हुआ क्योंकि पश्चिमी देशो ने अपने सोवियत मित्र पर पूरा विश्वास रखा तथा युद्धकालीन समझौते से उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि जर्मनी एक साथ सभी मित्र राष्ट्रों के सामने आत्मसमर्पण करे।

चर्चिल के पूरे प्रयासों के बावजूद भी जनरल आइजनहॉवर ने अमरीकी सेनाओं को एलबो (Elbe) पर रोक दिया तथा जानबूझ कर बर्लिन के आधिपत्य का अवसर खो दिया। सोवियत सेनाओं ने १३ अप्रेल को वियना पर अधिकार कर लिया और २ मई को बर्लिन उनके नीचे आ गया। अब केवल प्राग रह गया था। अमरीकी सेनायें चेकस्लोवाकिया में आगे बढ़ीं; उधर बाद ५ मई, १९४५ को प्राग भी जर्मनों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। इसी समय जनरल आइजनहॉवर ने सेना को पिल्सन (Pilsen) पर ही रोक दिया। चैकस्लोवाकिया के साम्यवादियों के मतानुसार यह कदम इसलिए उठाया गया था ताकि जर्मनी के लोगों को विद्रोह दबाने के लिए समय मिल सके। सम्भवतः ऐसा ही सोवियत सेनाओं द्वारा वार्सा में किया गया था। सोवियत सेना ने प्राग को ९ मई, १९४५ को स्वतन्त्र कराया। सोवियत रूस ने राजधानियों पर कब्जा करने में तथा युद्ध को समाप्त करने में पर्याप्त रुचि ली। जब जर्मनों ने आइजनहॉवर के हैडक्वार्टर में ७ मई, १९४५ को बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया तो सोवियत सेना ने इस बात पर जोर दिया कि यही प्रक्रिया मार्शल जार्ज जुकोव के सामने भी दूसरे दिन बर्लिन में दोहरायी जाये।

पूर्व-केन्द्रीय योरोप में प्रादेशिक समझौते
(Teritorial Settlement in East Central Europe)

तीन बड़ों के बीच की एकता में दरारें जर्मन आत्मसमर्पण से पूर्व ही पड़ गई थी। सोवियत सरकार का मत था कि उसकी सेनाओं द्वारा विजित प्रदेशों के साथ वह जी-चाहा व्यवहार करेगी। ऐसी स्थिति में उसने पश्चिमी शक्तियों के मत की ओर ध्यान दिये बिना ही पूर्व केन्द्रीय योरोप के क्षेत्रीय प्रश्नों को सुलझाना प्रारम्भ किया। फिनलैण्ड तथा रूमानिया से रूस ने सन् १९४४ की सन्धि में ही वांछित प्रदेश ले लिया था। २५ जुलाई, १९४४ को ही मास्को में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पोलिश समिति के साथ एक संधि पर हस्ताक्षर किये गये जिसके द्वारा पोलिश-सोवियत सीमा विवाद को सुलझाया गया। बाद में सोवियत सेना के साथ पोलिश समिति को पोलैण्ड भेजा गया। *मई, १९४५ में इसने पश्चिमी शक्तियों को पूछे बिना ही पोलैंड को* ओडरनीसी पंक्ति का जर्मन-क्षेत्र देकर उसकी क्षतिपूर्ति कर दी।

इसके साथ ही सोवियत संघ कोनिग्सबर्ग तथा पूर्वी प्रशा के भाग की ओर बढ़ने लगा। चैकस्लोवाकिया भी वैसे तो पोलैण्ड की भांति एक मित्र राष्ट्र था किन्तु उससे कहा गया कि वह स्वेच्छा से ही अपने बड़े 'स्लाव' भाईयों को प्रदेश प्रदान करे। २९ जून, १९४५ को मास्को में एक सन्धि पर

हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार चैकोस्लोवाकिया ने सोवियत संघ को रुथेनिया (Ruthenia) सौंप दिया जो पहले कभी भी सोवियत साम्राज्य का भाग नहीं रहा था। इसके फलस्वरूप सोवियत रूस और हंगरी सीमायें सामान्य बन गई तथा डनुबियन के मैदान पर उसकी शक्ति बढ़ गई। सोवियत संघ ने अपने इन पड़ोसी राज्यों को, चाहे वे औपचारिक रूप से मित्र थे अथवा शत्रु, अब अपना उपराज्य बना लिया।

सोवियत संघ ने अपनी प्रदेशों की भूख मिटाने के बाद पोलैण्ड की क्षतिपूर्ति की तथा बल्गारिया को छोटी सी प्राप्ति कराई और शेष के लिए उसने युद्ध पूर्व की सीमाओं को बनाये रखा। कहा जाता है कि इससे सोवियत रूस को लगभग दो लाख वर्ग मील प्रदेश का लाभ हुआ जिसमे २२ मिलियन निवासी रहते थे। पूर्व केन्द्रीय योरोप के राज्यों में यदि असमानता एवं समस्यायें बनी रही तो उसने इसके लिए पेरिस के शान्ति समझौता करने वालों को उत्तरदायी ठहराया।

युद्ध के अन्तिम दिनों में युगोस्लाव के सैनिकों ने उस समस्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसके बारे में प्रथम विश्व युद्ध से ही संघर्ष चल रहा था। उन्होंने आस्ट्रिया में भी ट्रीस्टे (Trieste) तथा क्लागेनफर्ट (Klagenfurt) पर भी अधिकार कर लिया। ग्रेट-ब्रिटेन यह जान चुका था कि यूगोस्लाविया उसके प्रभाव से गया। अब उसे इटली को बचाने की अधिक चिन्ता थी क्योंकि यहां साम्यवादी आन्दोलन प्रखर होता जा रहा था। ब्रिटेन के प्रोत्साहन पर अमरीका ने शक्ति प्रयोग के आधार पर इन बन्दरगाहों से यूगोस्लाविया को पीछे हटाने का उपक्रम किया। हॉपकिन्स तथा स्टालिन की वार्ता के बाद ६ जून, १९४५ को बेलग्रेड में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इसके अनुसार एक विभाजक रेखा 'मॉर्गन लाइन' बना दी गई जो कि आंग्ल-अमरीकी तथा यूगोस्लाव सेनाओं के बीच रखी गई। इसका अन्तिम निर्णय शान्ति सम्मेलन के लिए छोड़ दिया गया। इस लाइन के अनुसार ट्रीस्टे तथा आस्ट्रिया के उत्तर में एक रेलरोड तो आंग्ल-अमरीकी नियन्त्रण में रखी गई तथा पहले के अन्य इटालियन क्षेत्र यूगोस्लाविया के पास रहे।

पोट्सडाम सम्मेलन
(The Potsdam Conference)

यह सम्मेलन 'बड़े तीन' का अन्तिम सम्मेलन माना जाता है जो १७ जुलाई, १९४५ से २ अगस्त १९४५ तक पोट्सडाम में चलता रहा। इस सम्मेलन में सोवियत नेताओं के लिए मुख्य प्रश्न जर्मनी तथा क्षतिपूर्ति

से सम्बन्धित थे। स्वतन्त्र यूरोप पर याल्टा घोषणापत्र द्वारा अमरीका ने यह प्रयास किया कि पूर्व केन्द्रीय यूरोप का साम्यवादीकरण होने से रोका जावे। किन्तु सोवियत नेताओं ने इस क्षेत्र को सुरक्षित बताया तथा इसके सम्बन्ध में पश्चिमी नेताओं को कुछ भी हस्तक्षेप न करने के लिए कहा। पश्चिमी राजनीतिज्ञों ने बोसिवर्ग पर सोवियत अधिकार तुरन्त स्वीकार कर लिया किन्तु पोलैण्ड को दी जाने वाली क्षतिपूर्ति का आकार कम करने पर जोर डाला। पर्याप्त झगड़े के बाद वे इस बात पर सहमत हुए कि क्षेत्रीय प्रश्नों को शान्ति समझौते के अन्तिम निर्णय के लिए रखा जावे तब तक इस प्रदेश पर पोलिश राज्य का प्रशासन रहे।

जहाँ तक क्षतिपूर्ति का सम्बन्ध है, सोवियत सरकार उन मांगों को दोहराती रही जो उसने याल्टा में प्रथम बार रखी थी। वह १० बिलियन डालर की कीमत की क्षतिपूर्ति चाहता था किन्तु पश्चिमी सरकारों ने पुनः इस मांग को ठुकरा दिया। सोवियत संघ ने मित्र राष्ट्रों के क्षति पूर्ति आयोग के गठन की प्रतीक्षा नहीं की तथा जर्मनी पहुँचते ही उसने अपने क्षेत्र को समस्त चल सम्पत्ति से वंचित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया। दुर्भाग्य से रूसी क्षेत्र कृषि प्रधान था जबकि उसे औद्योगिक सामान तथा यन्त्रों की जरूरत थी। किन्तु ये चीजें जर्मनी के पश्चिमी भाग में थी, विशेषतः उस भाग में जो ब्रिटेन के अधिकार में था। इतने पर भी सोवियत संघ सौदेबाजी करने की स्थिति में था क्योंकि जर्मनी के पश्चिमी भागों को सोवियत भाग से ही अनाज आयात करना जरूरी था। यदि ऐसा नहीं करते तो विदेशों से अन्न मंगाना होता और इसका खर्चा उनको स्वयं चुकाना पड़ता। उस समय जर्मनी के व्यापार का भण्डार अधिक नहीं था। इसकी अर्थव्यवस्था पर युद्ध का बुरा असर पड़ा तथा सत्ताधारी शक्तियों को भार का बोझा ढोना पड़ा था। ऐसी स्थिति में जर्मनी क्षतिपूर्ति करने में असमर्थ था। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद तीन बड़े एक जटिल सूत्र पर सहमत हुए। इसकी मूल बात यह थी कि जर्मनी को एक आर्थिक इकाई (Economic Unit) माना जावे। सोवियत रूस को उसके क्षेत्र में जो भी प्राप्त हुआ उसके अतिरिक्त पश्चिमी क्षेत्र की शान्तिकालीन आवश्यकताओं से ऊपर के औद्योगिक सामान में से दस प्रतिशत दिया जाना था। जब पश्चिमी क्षेत्र सोवियत क्षेत्र से खाद्य सामग्री तथा अन्य चीजें लेंगे तो इसके लिए वे १५ प्रतिशत और देंगे। इधर पोलैण्ड भी अपनी क्षतिपूर्ति की मांग कर रहा था। उसे सन्तुष्ट करने के लिए सोवियत संघ को जर्मनी के एक-तिहाई व्यापारिक पोत एवं युद्ध-पोत दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी की पूर्व-केन्द्रीय यूरोप में स्थित सम्पत्ति पर सोवियत संघ का अधिकार हो गया।

जर्मनी के राजनैतिक भविष्य के बारे में सोवियत संघ एवं पश्चिमी राजनीतिज्ञ स्पष्ट नहीं थे। पोट्सडाम सम्मेलन में इस बात पर विचार ही नहीं किया गया। वे जर्मनी के राजनैतिक रूप का विकेन्द्रीकरण करके ही संतुष्ट हो गये। किसी केन्द्रीय सरकार की स्थापना नहीं की गई। कुछ समय तक मित्र राष्ट्रों की नियन्त्रण परिषद यह कार्य करती रही। स्थानीय एवं राज्य स्तर पर प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों पर आधारित स्वायत्त सरकार को बनाये रखा गया। प्रशा राज्य को पहले तो अनेक राज्यों में विभाजित कर दिया गया और बाद में उसे समाप्त कर दिया गया। तीन बड़े जर्मनी का विसैन्यीकरण करने पर राजी हो गये तथा जर्मन युद्ध अपराधियों पर मुकदमा चलाने पर भी सहमत हो गये।

अप्रैल, १९४५ में पश्चिमी शक्तियों को पूछे बिना ही सोवियत अधिकारियों ने समाजवादी नेता कार्ल रेनर (Karl Renner) के नेतृत्व में आस्ट्रियन सरकार बनाने के लिए कदम उठाये। कार्ल रेनर १९१८ में आस्ट्रियन गणराज्य का प्रथम अध्यक्ष था। सोवियत संघ का यह चयन आश्चर्यजनक था क्योंकि रेनर लेनिन के साथ सैद्धान्तिक मतभेद रखता था तथा उसे साम्यवाद विरोधी माना जाता था। यह कहा जाता है कि उस समय आस्ट्रिया में अन्य कोई साम्यवादी ही नहीं था। आस्ट्रियन मन्त्रीमण्डल के १२ पदों में से केवल तीन पदों पर ही साम्यवादी थे। इनमें से एक को आन्तरिक का मन्त्री बनाया गया तथा पुलिस उसके हाथ में सौंपी गई।

सोवियत संघ के इस एक तरफा कार्य से पश्चिमी शक्तियां नाराज हुयी तथा आस्ट्रिया की सरकार को पोट्सडाम सम्मेलन तक मान्यता प्रदान नहीं की। सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि वियना में मित्र राष्ट्रों की एक नियन्त्रण परिषद बनाई जाये तथा नगर और शहर को कार्यकारी क्षेत्रों (Occupation Zones) में बांट दिया जावे। इस प्रकार आस्ट्रिया में भी जर्मनी की सी स्थिति पैदा हो गई। रेनर ने इसकी तुलना करते हुए बताया कि यह ऐसा लगता है जैसे कि चार बड़े हाथी किसी छोटी नाव डोंगी में चढ़ गये हैं। आस्ट्रिया को क्षतिपूर्ति के भार से मुक्त कर दिया गया।

तेहरान तथा याल्टा सम्मेलनों में स्टालिन ने कालासागर स्ट्रेट का प्रश्न उठाया किन्तु उन पर अधिक जोर नहीं दिया। उसने स्ट्रेट में अड्डों की मांग इस आधार पर की कि इन पर अधिकार करके ही टर्की रूस के गले को पकड़ने में असमर्थ हो जावेगा। याल्टा सम्मेलन के बाद टर्की ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार यह एक मित्र राष्ट्र बन गया। २० मार्च को सोवियत सरकार ने सन् १९२५ की सोवियत-टर्किश सन्धि को

रद्द कर दिया। टर्की ने इसकी प्रतिक्रियास्वरूप अपनी सेना को सक्रिय रखते हुए पश्चिमी शक्तियों से अपील की। पोट्सडाम सम्मेलन में सोवियत अधिकारियों ने स्ट्रेट के सोवियत कब्जे पर पश्चिमी स्वीकृति प्राप्त करने का प्रयास किया। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इस प्रश्न के सम्बन्ध में यह सुझाया कि स्ट्रेट का विसैन्यकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाना चाहिए। पर्याप्त वाद-विवाद के बाद यह निर्णय लिया गया कि १६३६ की मान्ट्रोक्स कन्वेन्शन का संशोधन किया जाये क्योंकि यह समय की आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ है। इस कन्वेन्शन के अनुसार टर्की को स्ट्रेट का संरक्षक बनाया गया था।

जापान की हार
(The Defeat of Japan)

पोट्सडाम सम्मेलन में तीन बड़ों ने इस बात पर विचार किया कि जापान को किस प्रकार हराया जाये। अमरीकियों की भांति सोवियत संघ का भी यह विचार था कि शायद जापानियों के साथ युद्ध कुछ समय तक चलाना पड़ेगा। याल्टा सम्मेलन में रूस ने यह वायदा किया था कि यूरोपीय युद्ध के समाप्त होने के तीन माह बाद ही वह प्रशान्त-युद्ध में शामिल हो जायेगा। अप्रैल १६४५ में रूस ने १६४१ में किये गये सोवियत-जापान समझौते को रद्द कर दिया। स्टालिन ने मई-जून में जब हॉपकिन्स से वार्तालाप किया तो यह शिकायत की कि चीन युद्ध में शामिल होने की उन सोवियत शर्तों पर सहमत नहीं है जो तीन बड़ों द्वारा याल्टा सम्मेलन में मानी गई थीं। जब तक चीन इनको नहीं मानेगा तब तक रूस भी प्रशान्त युद्ध में शामिल नहीं होगा।

चीन की सरकार ने याल्टा सम्मेलन के निर्णयों का बहिष्कार कर दिया था क्योंकि इनमें चीन के हितों का ध्यान नहीं रखा गया था तथा इससे बातचीत भी नहीं की गई थी। चीन का प्रतिनिधि मण्डल जुलाई में मास्को आया। अभी इससे बात चल रही थी कि सोवियत नेताओं को पोट्सडाम जाना पड़ा। जाने के कुछ समय पूर्व ही उनको जापान का वह प्रार्थनापत्र मिला जिसमें उनसे शान्ति के लिए मध्यस्थता करने को कहा गया था। इससे यह लगने लगा कि युद्ध सम्भवतः सोचे गये समय से पूर्व ही समाप्त हो जायेगा।

कहा जाता है कि पोट्सडाम में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने प्रथम अणुबम के सफल परीक्षण की सूचना दी थी किन्तु सोवियत तानाशाह पर इस सूचना का बहुत कम प्रभाव हुआ। यह परीक्षण १६ जुलाई, १६४५ को आलामागोर्डो

(Alamagordo) मे किया गया था। सम्मेलन मे स्टालिन के दृष्टिकोण पर इस परीक्षण का कोई प्रभाव न हुआ।

पोट्सडाम से लौटने के बाद सोवियत नेताओ ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। सोवियत सेना ने ८ अगस्त, १९४५ को मचूरिया पर आक्रमण किया। इस दिन जर्मनी के आत्मसमर्पण को ठीक तीन माह हुए थे। इसके एक सप्ताह बाद अर्थात १४ अगस्त, १९४५ को जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस एक सप्ताह के युद्ध के लिए सोवियत सघ ने प्रचुर पुरस्कार प्राप्त किया।

१४ अगस्त, १९४५ को ही चीन के विदेशमन्त्री ने मास्को मे एक सन्धि समझौते पर दस्तखत किये। इसके छ सहायक समझौते भी सयुक्त थे। इनके अनुसार ये दोनो देश जापान के विरुद्ध तीस वर्ष के लिए सन्धि समझौते में बधे। दोनों देशो ने एक दूसरे के सम्मान एव सम्प्रभुता का आदर करने का तथा एक दूसरे के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया। सोवियत सरकार ने चीन की राष्ट्रीय सरकार को नैतिक एव भौतिक समर्थन देने का वायदा किया। रूस ने सिन्क्यिाग तथा मचूरिया मे चीन के अधिकार को मान्यता दी तथा युद्ध के तीन माह बाद इन प्रदेशों को खाली करने का आश्वासन दिया। आर्थर बन्दरगाह चीन तथा सोवियत सघ का सयुक्त रूप से नौसैनिक अड्डा बन गया। डाइरन (Dairen) को स्वतन्त्र बदरगाह घोषित कर दिया गया। चीनी चाग्चुग रेलवे को सोवियत सघ व चीन के सम्मिलित स्वामित्व एव प्रबन्ध के आधीन रखा गया। चीन ने बाहरी मगोलिया की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी किन्तु इसके लिए यहा जनमत सग्रह किया जाना जरूरी था। २ अक्टूबर, १९४५ को प्रसारित शान्ति के घोषणा पत्र मे स्टालिन ने कहा कि पुरानी पीढ़ी के लोग चालीस वर्ष से इस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

जापान मे सोवियत सघ को पर्याप्त लाभ रहा। इसके अतिरिक्त योरोप तथा अन्य प्रदेशो म उसकी प्राप्तिया पर्याप्त थी। पूर्व एशिया में जारशाही की सरकार ने जो खो दिया था उसे सोवियत सघ ने पा लिया। इसके साथ ही योरोप म भी उसने नये प्रदेशो को जोड लिया। इस सबको मिलाकर सोवियत सघ को लगभग ४६०००० वर्ग मील भूमि प्राप्त हो गई जिस पर लगभग दस करोड लोग रहते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के समाप्त होते ही जो शान्ति स्थापित हुई वह शीत युद्ध की भूमिका बन गई। क्लासविज (Clausewitz) के मतानुसार सोवियत नेताओं के लिए सन्धि व अन्य साधनों से युद्ध को जारी रखना था।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सोवियत रूस
अथवा
द्वितीय महायुद्धोत्तर सोवियत विदेश नीति

द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे सोवियत रूस ने जो भूमिका अदा की अथवा उसकी जो वैदेशिक नीति रही, उसे हम दो भागों मे बाट सकते हैं—

(१) उग्रवादी नीति का स्टालिन काल (१९४५–५३), एवं

(२) शातिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर काल (१९५३–१९६९)

उग्रवादी नीति का स्टालिन काल, १९४५–१९५३
(Stalin Period, 1945–1953)

सोवियत रूस के इस काल मे सोवियत नीति का नियामक मार्शल स्टालिन था। जहा द्वितीय महायुद्ध के समय स्टालिन ने मित्र राष्ट्रो को पूर्ण सहयोग दिया वहा युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उसकी नीति उग्रवादी, कठोर एव दाकालु हो गई। युद्धोत्तर उसकी नीति ने उसके इस विश्वास को प्रकट कर दिया कि पून्जीवादी पश्चिमी जगत सोवियत रूस के विनाश का षडयन्त्र रच रहा है और उनके साथ मैत्री असम्भव है। पूर्वी यूरोप मे स्टालिन की सैनिक एव राजनीतिक साम्राज्यवादी नीतिया और देश-विदेश मे मार्क्स, लेनिन के सिद्धातो के पूर्ण पालन पर जोर देना, तथा कभी समझौता न होने योग्य मत मुटावो को बनाये रखना आदि स्टालिन के कार्य शीत-युद्ध को संस्थागत रूप देने के कारण बन गये।

परन्तु इस प्रकार के वातावरण और शीतयुद्ध के विकास के लिये अकेला रूस ही जिम्मेदार नही था। पश्चिमी राष्ट्रों ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान ही प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप से और द्वितीय महायुद्ध के बाद भयावह रूप से साम्यवाद का हौवा खडा करना आरम्भ कर दिया था। उनके इस व्यवहार ने सोवियत रूस के हृदय मे प्रस्फुटित हुई सहयोग और सौहार्द की कलियों को खिलने के पहले ही नष्ट कर दिया और स्टालिन ने महायुद्ध के उपरान्त एक उग्रवादी और हठधर्मी का रुख अपनाया जिसने शीतयुद्ध को उसकी मृत्यु तक चरम सीमा पर पहुचा दिया।

स्टालिन द्वारा इस दुराग्रही मनोवृत्ति एव व्यवहार पर आगे बढते जाने का एक प्रधान कारण यह था कि युद्ध समाप्त होने पर सोवियत संघ की स्थिति कई दृष्टियों से पूर्वापेक्षा अधिक अच्छी हो गई थी। पश्चिम मे उसकी लाल सेनाएं मध्य यूरोप तक के प्रदेश पर अधिकार जमाए बैठी थी। पश्चिम और पूर्व मे उसके दो बडे शत्रु जर्मनी और जापान पूर्णतः धराशाही हो

चुके थे। पश्चिमी यूरोप की भीषण आर्थिक दुर्दशा से ग्रस्त जनता साम्यवाद को आमन्त्रण दे रही थी वहां सरकारें अस्थिर थीं और साम्यवाद के प्रसार की बड़ी सम्भावनाएं विद्यमान थीं। एशिया और अफ्रीका में यूरोपियन साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रबल विद्रोह और असन्तोष का सागर लहरा रहा था। ब्रिटिश फ्रेंच और डच साम्राज्य अपने विनाश की अन्तिम कहानी सुनाने को थे। स्वयं साम्यवाद के घोर शत्रु पाश्चात्य पूंजीपति राष्ट्र युद्ध से विध्वस्त और आर्थिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त अवस्था में थे, और भी नाना प्रकार की घरेलू समस्याएं उन्हें निर्बल एवं क्षीण बनाये हुई थीं। इस तरह द्वितीय महायुद्धोत्तर स्थिति लगभग सब ओर इस प्रकार की थी कि जहां साम्यवाद अपने पैर रोपने में हर दिशा में न्यूनाधिक रूप से सफल हो सके। विश्व का यह वातावरण साम्यवाद के प्रसार के अनुकूल था और रूस के लिये अपना प्रभाव बढ़ाने का यह स्वर्ण अवसर था। स्टालिन जैसा चाणक्य राजनीतिज्ञ इस अवसर का प्रत्येक लाभ प्रत्येक तरीके से उठाना चाहता था, और इसके लिये सबसे उपयुक्त मार्ग यही था कि पश्चिम की अतीत की कहानी को कुरेदा जाय। आरोपों-प्रत्यारोपों की गोली वर्षा में शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया जाय और पश्चिम के प्रत्येक प्रस्ताव के प्रति अड़ंगेबाजी की नीति अपनाई जाय। चारों ओर के साम्यवाद के लिये अनुकूल वातावरण से लाभ उठाने का लोभ संवरण कर पाना स्टालिन के लिये मुश्किल था और स्थिति ऐसी थी कि यदि पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति निरन्तर के गूढ़ आवेश कारण वास्तव में न हो तो भी सोवियत रूस द्वारा इन्हें पैदा किया जाता। मोलोटोव ने ६ नवम्बर, १९४७ को रूस की उपर्युक्त भावना को व्यक्त करते हुए ही, ये शब्द कहे थे—"हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें सब सड़कें साम्यवाद की ओर ले जाने वाली हैं।"

स्टालिन का विश्वास था कि इस समय पश्चिमी देशों पर डाला गया प्रबल दबाव साम्यवाद के प्रसार में सहायक होगा और इसीलिए उसने सर्वत्र उग्र, आक्रमणात्मक एवं अग्रगामी नीति का अनुसरण किया। उसके शासन काल में मध्यपूर्व में टर्की और ईरान पर दबाव डालने की घटनायें हुईं, यूनान के गृहयुद्ध में भाग लेने, कामिनफोर्म बनाने, बर्लिन का घेरा डालने, संयुक्त राष्ट्र संघ में अमेरिका के साथ संघर्ष करने, साम्यवादी चीन से समझौता करने और कोरिया के युद्ध में उलझने आदि की दूसरी महत्वपूर्ण बातें हुईं जिन सब पर पहले यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है। स्टालिन काल में रूस की विदेश नीति की जो प्रवृत्ति रही, उसे निम्नानुसार प्रकट करना सुविधाजनक होगा—

(११) पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार

पूर्वी यूरोप में रूसी प्रभुता की स्थापना पीटर महान् के काल से ही रूसी विदेश नीति का एक प्रधान लक्ष्य रहा है। द्वितीय महायुद्ध ने सोवियत संघ को अपने इस प्राचीन स्वप्न को पूरा करने का एक स्वर्ण अवसर प्रदान कर दिया। युद्ध के अनुभव से लाभान्वित होकर रूस ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उसकी विदेश नीति का सचालन इस प्रकार होना चाहिये जिससे उसके पश्चिम में स्थित पड़ोसी राज्य उसके साथ हमेशा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखें। चूंकि सौभाग्यवश पूर्वी यूरोप के सभी देशों को जर्मनी की दासता से लाल सेना ने ही मुक्ति दिलाई थी, अतः इन देशों में सोवियत संघ के प्रति अपार सहानुभूति थी। रूसी प्रभाव इन देशों में पहले ही से इसलिए भी व्याप्त था कि युद्धकाल में इन देशों की साम्यवादी पार्टियों ने ही जर्मनी के विरुद्ध लड़े जाने वाले छापामार संघर्षों का नेतृत्व किया था। इन परिस्थितियों में युद्धोपरान्त इन देशों की साम्यवादियों के हाथ में ही राजनीतिक सत्ता आयी। इस सत्ता स्थापना में रूसियों की लाल सेना से बड़ी सहायता मिली जिसने लड़ाई रूप से युद्धकाल में ही मध्य और पूर्वी यूरोप के बड़े भाग पर अधिकार कर रखा था। १९३९ से सोवियत रूस ने अपने क्षेत्रफल में २७ करोड़ ४० लाख वर्गमील की वृद्धि कर ली थी, और अब चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, अल्बानिया, बल्गेरिया तथा यूगोस्लाविया ये लगभग ३६ करोड़ वर्गमील के क्षेत्र के ७ राज्य मास्को के पृष्ठपोषक बन गये यद्यपि यूगोस्लाविया कुछ समय तक सोवियत गुट में रहने के बाद सोवियत प्रभाव से काफी दूर हट गया। इन देशों के अतिरिक्त अविभक्त पूर्वी जर्मनी भी रूसी संरक्षण में ही था और वहां जिस शासन प्रणाली को कायम किया गया वह समाजवाद के सिद्धान्तों के ऊपर आधारित थी।

रूस की वास्तव में यह एक आश्चर्यजनक सफलता थी कि उसने युद्धोपरान्त १९४८ तक की तीन वर्ष की अल्पावधि में पूर्वी यूरोप के सात देशों को पूरी तरह लाल बना दिया था। स्वभावतः पश्चिमी देश सोवियत संघ के प्रभाव को इस तरह बढ़ता हुआ नहीं देख सकते थे। फरवरी, १९४५ के याल्टा सम्मेलन में पश्चिमी शक्तियों ने पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुत्व के विकास को रोकने का जो प्रयास किया था उसकी यह पूर्ण हत्या थी। इस सम्मेलन में रूजवेल्ट, स्टालिन और चर्चिल ने "मुक्त यूरोप सम्बन्धी घोषणा" (Declaration on Liberated Europe) पर हस्ताक्षर किये थे जिसमें पूर्वी यूरोप के देशों के लिए यह वचन दिया गया था कि उनमें से प्रत्येक में "जनता के लोकतान्त्रिक तत्वों का विस्तृत रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली एक ऐसी

अन्तरिम सरकार स्थापित की जायगी जो यथाशीघ्र स्वतन्त्र चुनावों के जरिये जनता की इच्छा के अनुकूल एक नयी सरकार स्थापित करने के लिए कटिबद्ध हो। परन्तु पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करने सम्बन्धी कार्य 'याल्टा भावना' का परित्याग था। स्टालिन द्वारा अपने वचन को पूरा नहीं किया गया था और यह स्थिति पश्चिमी देशों को क्रुद्ध करने वाली थी।

स्टालिन फिनलैण्ड को भी अपने वशीभूत करने से नहीं चूका। फरवरी, १९४७ में फिनलैण्ड के साथ उसने शांति संधि की और अप्रेल, १९४८ में मैत्री की सन्धि। इस संधि द्वारा स्टालिन ने फिनलैंड की स्वतन्त्रता को बने रहने दिया, परन्तु फिनलैंड से यह वचन भी ले लिया कि वह रूस विरोधी विदेश नीति नहीं अपनायेगा।

सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करके अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ़ बनाने के लक्ष्य में निश्चित रूप से उत्साहप्रद सफलता प्राप्त की। सोवियत संघ ने इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने हेतु बहुत से समझौते किये। इनके अन्तर्गत उसने इन्हें निश्चित अवधि के लिए विभिन्न प्रकार की सामग्री देना स्वीकार किया। १९४७ की 'मोलोटोव योजना' ने इन देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए इनके औद्योगीकरण पर बल दिया। लोक गणतन्त्रों की स्थापना अथवा दूसरे शब्दों में साम्यवादी शासन सत्ता की स्थापना के बाद इन देशों का पश्चिम के साथ व्यापार पूर्वापेक्षा बहुत कम हो गया। जहां १९३८ में पश्चिमी देश पूर्वी यूरोप को ३४ करोड़ डालर का सामान भेजते थे वहां १९५० में यह राशि गिरकर केवल १४ करोड़ डालर पर आ गयी। इसके विपरीत जहां १९३८ में सोवियत संघ का इन देशों के साथ व्यापार कुल २ प्रतिशत था, वहां १९५२ में यह बढ़कर ८० प्रतिशत हो गया।

६ मार्च, १९४१ को सोवियत संघ और पोलैण्ड के मध्य हुए एक समझौते के अन्तर्गत रूस ने पोलैण्ड को ३,७८,७५,००० डालर विदेशों से खाद्यान्न, मशीनरी और कच्चा माल खरीदने के लिए उधार दिये। १२ जुलाई, १९४७ को चैकोस्लोवाकिया के साथ एक व्यापारिक संधि की गयी जिसके अनुसार सोवियत संघ ने चैक मशीनरी एवं मशीनों द्वारा उत्पादित सामग्री के बदले में चैकोस्लोवाकिया को खाद्यान्न, रुई, खाद और धातुएं देना स्वीकार किया। चैकोस्लोवाकिया के साथ ही १९४८ में एक अन्य समझौता हुआ जिसके द्वारा रूस ने उसे ऋण के रूप में एक बड़ी राशि देना मंजूर किया। १९४८ में हंगरी के साथ भी दो व्यापारिक संधियां की गयीं जिनके अनुसार कपड़ा, तेल और बाक्साइट के बदले में रूस ने उसे कच्चा

माल लेना स्वीकार किया। इस क्षेत्र में अन्य देशों के साथ भी स्टालिन काल में सोवियत संघ द्वारा इसी प्रकार की संधियां सम्पन्न की गयी।

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में आर्थिक क्षेत्र में सहयोग को और भी घनिष्ठ बनाने के लिए १९४९ में 'आर्थिक क्षेत्र में पारस्परिक सहायता के लिए कौंसिल' (Council for Economic Mutual Assistance, Com Con) की स्थापना की गयी। इस 'कोम कोन' को पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपियन पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme, E R P) का प्रत्युत्तर कहा जा सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव स्थापित होने का आघात तो पश्चिमी शक्तियों को लगा ही था, आर्थिक क्षेत्र में भी रूस के व्यापक प्रभुत्व से पश्चिमी देशों और रूस के तनावों में अभिवृद्धि हुई। पूर्वी यूरोप परम्परा से पश्चिमी देशों को खाद्यान्न एवं कच्चे माल का निर्यात करता था। पश्चिम के कुछ देश तो अपनी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए पूर्वी यूरोप पर आश्रित थे, उदाहरणार्थ इमारती लकड़ी और निकिल (Nickel) पश्चिम को अधिकांशतः पूर्वी यूरोपियन देशों से ही प्राप्त होती थी। ये देश सोवियत प्रभाव क्षेत्र में चले जाने से पश्चिम के लिए 'निर्यातक' देश नहीं रहे जिससे पश्चिम के कुछ देशों की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ा। साथ ही पूर्वी यूरोप में बैंकों, कारखानों और उद्योग धन्धों के राष्ट्रीयकरण हो जाने से पश्चिमी देशों की जो पूंजी इन देशों में लगी हुई थी, उससे भी उन्हें हाथ धोना पड़ा। इन सब बातों का परिणाम यही निकला कि पश्चिमी देशों में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासन तन्त्रों के प्रति पूर्ण कटुता पैदा हो गयी। स्टालिन की नीति ने शीत युद्ध को तेज किया।

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के बीच मैत्री और पारस्परिक सहायता की अनेक सैनिक संधियां भी हुईं। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया तथा युगोस्लाविया के साथ तो सैनिक संधियां युद्धकाल में ही की जा चुकी थीं। इसके बाद १८ मार्च, १९४८ से १६ अप्रेल, १९४९ तक १७ द्विपक्षीय संधियां (Bilateral Treaties) की गयीं। इन संधियों को किन्हीं भी सम्भावित जर्मन आक्रमणों को रोकने के लिए किया गया। बाद में १४ मई, १९५५ को इन देशों ने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर करके सोवियत संघ के साथ अपने को और भी घनिष्ठ मैत्री में आबद्ध कर लिया।

स्टालिन काल में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के पारस्परिक सम्बन्धों में जहां हर प्रकार से सफलता का पलड़ा रूस के पक्ष में भारी रहा,

वहां रूस को इस क्षेत्र में कुछ असफलताओं का सामना भी निश्चित रूप से करना पड़ा। यूनान में एक साम्यवादी शासन की स्थापना के रूसी प्रयास असफल रहे। ट्रूमैन सिद्धान्त के कारण रूस काले सागर में टर्की से मनोवांछित रियायत और अधिकार पाने में सफल नहीं हो सका। परन्तु इनमें सबसे अधिक साघातिक असफलता रूस को युगोस्लाविया के मामले में हाथ लगी, क्योंकि कुछ समय तक रूसी गुट में बने रहने के बाद युगोस्लावियन राष्ट्रपति टीटो ने रूस के प्रभुत्व को स्वीकार करने से मना कर दिया और जून, १९४८ में युगोस्लाविया रूसी गुट से पृथक हो गया। मार्शल टीटो ने, जो स्वतन्त्र विचारों वाले एक कट्टर राष्ट्रवादी हैं, स्टालिन की इस नीति को पसन्द नहीं किया कि सोवियत रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासन तन्त्रों पर या युगोस्लाविया पर अपनी निगरानी रखे और उन्हें 'लौह आवरण' (Iron Curtain) के भीतर छिपाये रखे। मार्शल टीटो ने जर्मन दासता से अपने राष्ट्र को मुक्त करने के लिए घोर छापामार संघर्ष किया था, रूसी सहायता तो उन्हें बहुत बाद में आकर मिल पायी। अत टीटो की लोकप्रियता युगोस्लाविया में आकाश छूती थी और वह इस बात को पसन्द नहीं करते थे कि उन्हें 'स्टालिन का अनुचर' माना जाय, अथवा उनके राष्ट्र को 'सोवियत रूस का पिछलग्गू' कहा जाय। अत युद्ध समाप्त होने के उपरान्त जब शनैः-शनैः मार्शल टीटो ने स्टालिन के शिकंजे से बचने का प्रयास किया और मास्को के नियन्त्रण में रहने के प्रति अनिच्छा जाहिर की तो रूस की साम्यवादी पार्टी ने मार्शल टीटो की दल विरोधी एवं रूस-विरोधी नीतियों को मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद के विरुद्ध बताया और कहा कि यह राष्ट्रवाद से प्रभावित एवं पूंजीवाद की ओर झुका हुआ कृत्य है जिससे विश्व के मजदूर आन्दोलन पर गहरा एवं विपरीत प्रभाव पड़ेगा। मार्शल टीटो पर स्टालिन ने हर प्रकार से दबाव डालने की चेष्टा की किन्तु वह टीटो को अपने कब्जे में नहीं ला सका। टीटो को यह कतई पसन्द न था कि युगोस्लाविया स्थित लाल सेना युगोस्लाविया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करे, अतः उसने सोवियत नागरिक और सैनिक अफसरों पर कड़ी निगरानी रखते हुए स्टालिन से स्पष्ट शब्दों में मांग की कि रूसी फौजें युगोस्लावियन क्षेत्र से हटा ली जाय।

स्टालिन और टीटो के मतभेद बढ़ते गये। फलस्वरूप २८ जून, १९४८ को 'कौमिनफोर्म' (Communist Information Bureau, *Cominform*) ने *युगोस्लाव साम्यवादी पार्टी पर यह आरोप लगाकर* उसे अपनी सदस्यता से निष्कासित कर दिया कि उसकी नीतियां मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि

युगोस्लाविया की सरकार सोवियत संघ के प्रति अमैत्री की नीति का अनुसरण कर रही है और कृषकों के प्रति अपनी नीति को निर्धारित करते समय वह वर्ग विभेदों की अवहेलना करके मार्क्सवाद के सुस्थापित मार्ग से हट गयी है। प्रस्ताव में यह आरोप भी लगाया गया कि युगोस्लाविया की साम्यवादी पार्टी ने उसके विरुद्ध की गयी आलोचनाओं को आत्म-आलोचना की कसौटी पर नहीं कसा है और इस प्रकार साम्यवादी पार्टी संघटनात्मक सिद्धान्तों के विपरीत आचरण करने की दोषी है। २९ जून को युगोस्लाव नेताओं ने कोमिनफोर्म द्वारा लगाये गये आरोपों को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद सोवियत संघ और युगोस्लाविया के बीच शीत युद्ध की स्थिति पैदा हो गयी जो स्टालिन की मृत्यु पर्यन्त (मार्च १९५३) चलती रही। वास्तव में स्टालिन ने टीटो को अपने समकक्ष मानने से इन्कार कर दिया और उसके प्रति पूर्ण विरोध की नीति पर आचरण किया। रोबिन्सटीन (Alvin Y Rubinstein) के शब्दों में 'टीटोवाद' सोवियत प्रभाव की प्रतिक्रिया से कुछ अधिक था। इसमें राष्ट्रवाद तथा साम्यवाद को एक ऐसी विचारधारा व आन्दोलन में मिला दिया गया जिसके विभिन्न रूप में स्वतन्त्रता की बू थी जो मास्को को स्वीकार नहीं थी।''[1]

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के 'भाईचारे' के विरुद्ध किये गये टीटो के इस विद्रोह का पश्चिमी देशों ने स्वभावतः मुक्त कंठ से स्वागत किया। इस विद्रोह को 'सोवियत साम्राज्यवाद' के विरुद्ध पूर्वी यूरोप के विद्रोह का सूचक बताया गया। जुलाई, १९४८ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने युगोस्लाविया की ६ करोड़ डालर की सम्पत्ति उसे लौटा दी। युगोस्लाविया ने भी अमेरिका को १ करोड़ ७० लाख डालर का भुगतान किया। अन्य पश्चिमी देशों के साथ भी इसी तरह के सद्भावनापूर्ण और लेन-देन की भावना के समझौते किये। मार्शल टीटो ने, सोवियत रूस से क्षुब्ध होकर, पूर्वी यूरोप के देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा पश्चिमी देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध कायम करना शुरू कर दिया, किन्तु यह सदैव ध्यान रखा कि उनका राष्ट्र पूर्णतः एक स्वतन्त्र राष्ट्र रहे जो सोवियत या पश्चिमी प्रभाव से उन्मुक्त अवस्था का आनन्दोपभोग करे।

(२) विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार

साम्यवाद का एक मौलिक सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार व पूंजीवाद का उन्मूलन है। द्वितीय महायुद्ध के बाद

1. Alvin Z. Rubinstein, The Foreign Policy of the Soviet Union, P. 245.

विश्व की परिस्थितियों को सोवियत संघ के अनुकूल पाकर मास्को ने साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की नीति पर चलना शुरू किया। साम्यवादी क्रान्ति को दूसरे देशों में फैलाने के लिए स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ द्वारा सभी प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया गया। यूनान में गृहयुद्ध में यूनानी साम्यवादियों को पड़ोसी साम्यवादी देशों अल्बानिया, बल्गेरिया और यूगोस्लाविया द्वारा सहायता पहुंचाई गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) के विश्व व्यापी क्रांति के कार्यों को करने के लिए १९४७ में वारसा में एकत्रित यूगोस्लाविया, बल्गेरिया, रुमानिया, हंगरी, पोलैण्ड, रूस, फ्रांस, चैकोस्लोवाकिया और इटली की साम्यवादी पार्टियों के नेताओं ने 'बेलग्रेड में साम्यवादी सूचना संस्थान या कामिनफार्म (Communist Information Bureau Cominform) की स्थापना की। इस संस्थान की स्थापना के घोषणा पत्र में कहा गया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा पिछला युद्ध "विश्व की मण्डियों में प्रतियोगिता को समाप्ति के लिए लड़ा गया था।" लेकिन रूस ने यह युद्ध यूरोप में लोकतन्त्र के पुनर्निर्माण और उसे सुदृढ़ बनाने के लिए लड़ा था। कामिनफार्म का उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था।

विश्व में साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार के मौलिक सिद्धान्त की पूर्ति के हेतु द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस ने ऐसी नीति का अनुसरण किया कि जिससे पूर्व और पश्चिम में रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओं पर रूस समर्थक राज्यों की सरकार स्थापित हों, पुराने बुर्जुआ साम्राज्यों का विध्वंस हो और इस सम्पूर्ण नवीन सोवियत साम्राज्य का साम्यवादी विचारधारा के आधार पर निर्माण हो। अपने इन्हीं उद्देश्यों को पाने के लिए स्टालिन ने युद्धोत्तर विश्व समस्याओं का समाधान करने में शीघ्रता प्रदर्शित नहीं की। वह अड़गेबाजी करके शांति व्यवस्था में विलम्ब करना चाहता था ताकि संसार की स्थिति सोवियत संघ के लिए और भी अनुकूल हो जाय। मास्को के विदेश मंत्री सम्मेलन में अमेरिकन विदेश मंत्री मार्शल जब सोवियत नीति से व्याकुल हो गया तो स्टालिन ने उसे कहा "घबराने की कोई बात नहीं है। समय हमारे पक्ष में है, वह स्वयं समझौता करा देगा।"

(३) पश्चिम का विरोध और शीत युद्ध की उग्रता

सोवियत रूस की पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी शासनों की स्थापना के प्रयत्नों और पश्चिमी शक्तियों द्वारा रूसी प्रभाव के प्रसार को रोकने की चेष्टाओं के कारण सोवियत संघ और पश्चिम की 'अनोखी मैत्री' का अन्त हो गया तथा युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष के अन्दर ही दोनों गुटों में गम्भीर

शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया । जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि शत्रु राज्यों के साथ सन्धियों की शर्तें इटली के उपनिवेशों का तथा राष्ट्रसंघ के मैण्डेट वाले प्रदेशों का विभाजन, जर्मनी के निःशस्त्रीकरण और एकीकरण की समस्या, पश्चिमी देशों तथा रूस के स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र सम्बन्धी विचारों का मौलिक अन्तर, क्षतिपूर्ति, मध्यपूर्व में प्रभुता पाने के लिये तीव्र प्रतियोगिता आदि ऐसी घटनाएं या बातें उपस्थित हुई कि जिन पर दोनों पक्षों में उग्र मतभेद प्रकट हुए और फलस्वरूप शीत युद्ध की उग्रता बढ़ी । जहां पश्चिमी राष्ट्र कामिनफोर्म की गतिविधियों और रूसी प्रभाव के प्रयासों व स्टालिन की अद्भुत कूटनीतिक चालों व हठधर्मी आदि से आशंकित और त्रस्त हो गये वहां सोवियत संघ के इस विश्वास को सम्बल मिला कि पश्चिमी राष्ट्र उसके उन्मूलन का षड्यन्त्र करने में लगे हुए हैं । रूस की दृष्टि में ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान व जर्मनी का पुनः शस्त्रीकरण, शूमैन एवं प्लेवन योजनाएं, कोरिया युद्ध आदि पश्चिमी राष्ट्रों के ऐसे कार्य थे जो रूस के प्रति पश्चिम के विशेष कर अमेरिका के घोर विरोध और उनकी उग्र शत्रुता के प्रमाण कहे जा सकते थे । आणविक शक्ति से सम्पन्न संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी गुट को इन कार्यवाहियों से स्टालिन की आशंकाएं उत्तरोत्तर बढ़ती गईं और वह पश्चिम की प्रत्येक कार्यवाही तथा गतिविधि का विरोध करने लगा ।

यद्यपि स्टालिन पश्चिम के प्रति अपनी नीति को शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, (Peaceful Coexistence) का जामा पहनाता था, परन्तु उसके कार्य-कलापों से यह स्पष्ट हो गया कि 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' की इस नीति से उसका अभिप्राय केवल इतना था कि दोनों पक्षों में सशस्त्र युद्ध नहीं होना चाहिए । एक प्रचारात्मक वाक् युद्ध और कोरिया जैसे स्थानीय युद्धों को वह इस नीति के विरुद्ध नहीं समझता था । स्टालिन की इस नीति का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे पश्चिम और साम्यवादी शक्तियों का शीत युद्ध उग्रतर होता चला गया । स्टालिन ने अपने समय में जो बीज बो दिये और उसके फलस्वरूप पश्चिमी राष्ट्रों की जो प्रतिक्रियाएं हुईं तथा उन प्रतिक्रियाओं के कारण रूस में जो अन्य प्रतिक्रियाएं हुईं और इस प्रकार क्रियाओं प्रतिक्रियाओं का जो चक्कर चला उसके फलस्वरूप जर्मनी से अब तक और आस्ट्रिया से १९५५ तक शान्ति सन्धि नहीं हो सकी । रूस और उसके साथी देशों ने जापानी शान्ति सन्धि पर हस्ताक्षर करने से भी इन्कार कर दिया । वस्तुतः स्टालिन युग में जो जो कार्य किये गये उन सभी से न्यूनाधिक रूप में शीत युद्ध की अभिवृद्धि ही हुई ।

(४) लौह आवरण की नीति

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सोवियत संघ ने एक ओर तो विश्व में साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार के उद्देश्य से एक उग्र नीति को अपनाया तथा दूसरी ओर पूर्वी यूरोप में स्थापित साम्यवादी व्यवस्थाओं और स्वयं सोवियत रूस को सभी प्रकार के पश्चिमी प्रभावों से अछूता रखने के उद्देश्य से लौह आवरण (Iron Curtain) की नीति का आश्रय लिया। महायुद्ध के तुरन्त बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी राज्य साम्यवादी प्रसार को सीमित करने (Policy of Containment of Communism) की नीति का अनुसरण करने लगे जिसके अन्तर्गत साम्यवादी देशों की जनता को साम्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध भड़का कर विद्रोह करने का कार्यक्रम भी रखा गया। साम्यवादी देशों के इर्द गिर्द अनेक रेडियो स्टेशन स्थापित किये गये जिनका नाम आजाद हंगरी रेडियो' 'आजाद पोलैंण्ड रेडियो' आदि रखा गया और इनके माध्यम से साम्यवाद के विरुद्ध घनघोर जहरीला प्रचार कार्य शुरू हो गया। स्टालिन को यह समझने देर न लगी कि पश्चिमी राज्य साम्यवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न जोर शोर से शुरू कर चुके हैं। उसे भय लगा कि कहीं पश्चिमी शक्तियां रूस या पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासन को दुर्बल न बना दें। इस भय से बहुत कुछ मुक्ति का अथवा पश्चिमी शक्तियों के उद्देश्य को विफल बनाने का एक ही उपाय था कि साम्यवादी जगत के चारों ओर एसी दीवार खड़ी कर दी जाय कि उसके भीतर अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी राष्ट्रों का प्रचार प्रवेश न कर सके। स्टालिन ने इसी उपाय को अपनाते हुए यह निर्णय कर लिया कि वह रूस एवं पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जगत को गैर साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक रखेगा ताकि यह क्षेत्र पश्चिमी प्रभावों से अछूता रह सके। स्टालिन इस बात को समझता था कि रूसियों तथा विदेशियों के पारस्परिक सम्पर्क साम्यवादी व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले सिद्ध हो सकते हैं।

पश्चिम के प्रचार को निरस्त करने और साम्यवाद को उसमें 'दूषित' होने से बचाने के लिए १९४५ से ही ऐसे कानून बनाये जाने लगे कि जिनसे बाह्य जगत के साथ रूसियों का सम्पर्क रुक जाय। ऐसे ही एक कानून के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के समय रूस में आये हुए विदेशी सैनिकों के साथ जिन रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था वे अपने पतियों के पास विदेश नहीं जा सकेंगी। एक अन्य कानून के द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों को निषिद्ध बना दिया गया। इतना ही नहीं, विदेशी राजदूतों तथा पत्र प्रतिनिधियों के साथ भी बड़ी कड़ाई का व्यवहार किया

गया। विदेशों में स्थित सोवियत मजदूरों पर भी कठोर अनुशासनात्मक प्रतिबन्ध लगाये गये। रूसी प्रेस पर भी कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया।

(५) अफ्रीका तथा एशिया के प्रति सोवियत नीति एवं शांतिवादी आन्दोलन

अफ्रीका एवं एशिया के प्रति स्टालिन की नीति कौशलपूर्ण किन्तु अनुदार थी। उसने मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव को बढ़ाने की चेष्टा की और दक्षिण कोरिया को साम्यवादी बनाने के लिए कोरिया-युद्ध की प्रेरणा दी। यद्यपि इन दोनों ही प्रयासों में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई, तथापि कोरिया युद्ध ने चीन की सोवियत संघ पर निर्भरता को स्पष्ट कर इस बात का सबूत दे दिया कि तत्कालीन समय में सम्पूर्ण साम्यवादी जगत पर सोवियत नियन्त्रण भली प्रकार स्थापित करने में स्टालिन को पर्याप्त सफलता मिली है।

इसके अतिरिक्त, आणविक आयुधों एवं अणुबमों के आतंक से पीड़ित मानवता के परित्राण के लिए सोवियत संघ ने "शांति आन्दोलन" (Peace-Offensive) आरम्भ किया और पूंजीवादी पश्चिम को युद्ध-लोलुप (War-monger) कहकर बदनाम करने की प्रत्येक चेष्टा की। स्टालिन का "शांतिवादी-आन्दोलन" एक अत्यन्त चातुर्य पूर्ण और सफल चाल सिद्ध हुई। इस आन्दोलन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना मार्च, १९५० तक स्टाकहोम में हुई विश्वशांति समिति की आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील थी।

इस अपील पर कुछ समय ही में लगभग ५० करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर प्राप्त किये गये। इस शांति-आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बड़ा प्रभावित किया। वे साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए तथा सोवियत रूस को पश्चिम की अपेक्षा अधिक शांतिप्रिय और उपनिवेशवाद विरोधी मानने लगे। साम्यवादियों ने इस आन्दोलन में सब देशों के मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों से सहयोग मांगा। इन्होंने जहाज से सामान उतारने वाले श्रमिकों में यह प्रचार किया कि अमेरिका से शस्त्रास्त्रों को लाने वाले जहाजों से माल न उतारा जाए और हड़ताल कर दी जाए।

प्रचार की दृष्टि से शांतिवादी आन्दोलन को प्रारम्भ में बड़ी सफलता मिली और न केवल एशिया तथा अफ्रीका बल्कि पश्चिमी राष्ट्रों की सामान्य जनता ने भी इसका स्वागत किया। परन्तु स्टालिन के अनुदार दृष्टिकोण के कारण रूस इस आन्दोलन से प्राप्त लोकप्रियता का पूरा लाभ नहीं उठा सका। वह तटस्थ राष्ट्रों की भावनाओं को ठीक प्रकार से न समझकर उन्हें अपना शत्रु मानता रहा। पश्चिमी राष्ट्रों ने रूस के शांतिवादी आन्दोलन

को एक 'निरे ढोंग' की संज्ञा दी और कहा कि यह तटस्थ एवं गैर साम्यवादी देशों को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा अपना समर्थक बनाने का सोवियत कूटनीतिक जाल है ।

(६) संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति सोवियत नीति

स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण में सक्रिय भाग लिया । वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र इसी विश्वास पर आधारित था (और है) कि महाशक्तियां, विशेषतः सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका सहयोगपूर्वक कार्य करते हुए संघ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक बनेंगी । परन्तु दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी न हो सकी और अपने जन्म काल के कुछ ही समय उपरान्त संघ शीतयुद्ध का प्रधान अखाड़ा बन गया । लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनों राष्ट्र अथवा दोनों गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर संघ के मंच पर उपस्थित हुए । चूंकि संघ में पश्चिमी शक्तियों और उनके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था, अतः सोवियत रूस ने अपने को एक स्थाई एवं निरन्तर अल्पमत में पाया । ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद में खुल कर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करे जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ पश्चिमी शक्तियों के इशारों पर नाचता हुआ उनके पक्ष में कोई प्रभावशाली कार्य न कर सके । कोरिया युद्ध के समय अल्पकाल के लिए रूस ने संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों का बहिष्कार कर दिया । लेकिन यह बहिष्कार उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ, क्योंकि इस बहिष्कार के कारण ही संयुक्त राष्ट्रीय सेनाएं दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए भेजी जा सकीं । इस घटना से रूस ने यह समझ लिया कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाहियों में भाग लेकर, परिषद की बैठकों में उपस्थित होकर पश्चिमी राष्ट्रों के इरादों को अधिक अच्छी तरह रोक सकता है बनिस्पत इसके कि वह संघ से बाहर रहे और ऐसी चेष्टा करे । इस अनुभूति के बाद से ही फिर कभी रूस ने संघ की बैठकों का बहिष्कार नहीं किया । इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद में अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्यायपूर्ण प्रस्तावों को, जिनमें काश्मीर प्रस्ताव भी शामिल है, धराशायी किया ।

स्टालिन की विदेश नीति का मूल्यांकन

यद्यपि स्टालिन ने १९४५ [redacted] १९४८ के बीच पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभुत्व स्थापित करके एक बड़ी सीमा तक पीटर महान् के काल से चली आ रही रूसी महत्वाकांक्षाओं को पूरा कर लिया, परन्तु उसके बाद स्टालिन

के गर्व, अहंकार और हठधर्मिता से भरी हुई उग्र नीति सोवियत संघ के लिए अलाभकारी ही सिद्ध हुई। दरअसल में स्टालिन ने मृत्यु पर्यन्त एक आक्रमणकारी, गतिशील, उग्रवादी और लौह आवरण की तथा समझौता विरोधी नीति का अनुसरण किया। पूर्वी यूरोप में अपने वचनों को झुठला कर सोवियत प्रभुत्व का विस्तार किया गया, यूनान के गृह युद्ध में साम्यवादियों की सहायता की गई टर्की पर बास्फोरस तथा दर्रे दानियाल के जलडमरूमध्यों के सम्बन्ध में मान्ट्रेक्स (Montreaux) के समझौते को बदलने के लिए दबाव डाला गया, मार्शल योजना की सहायता लेना अस्वीकार कर दिया गया, ईरान से सोवियत सेनाओं के हटाने में देर लगाई गई, टीटो को मास्को के गुट से निष्कासित किया गया, कोरिया व हिन्द चीन में युद्ध हुए। स्टालिन की इस आक्रामक नीति से पश्चिमी शक्तियां सशंकित हो गईं और उन्होंने बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा साम्यवाद के प्रसार के विरोध के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल योजना, डनकर्क, ब्रूसेल्स सन्धियां, नाटो, पश्चिम यूरोप की एकता के लिये बनाए गए विभिन्न संगठन आदि स्टालिन की कठोर नीति के प्रभावशाली प्रत्युत्तर थे। १९४५-४७ तक यूरोप की स्थिति स्टालिन के लिए बड़ी अनुकूल थी, लेकिन १९५३ तक यह स्थिति ऐसी नहीं रही। १९४९ में चीन में साम्यवादी विजय तथा १९५० में कोरिया-युद्ध के प्रारम्भ ने पश्चिमी शक्तियों को कोरिया, जापान, फारमोसा और दक्षिणी पूर्वी एशिया में साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए कटिबद्ध कर दिया। मध्यपूर्व में टर्की और यूनान में हस्तक्षेप के कारण सोवियत रूस को वैसी ही बदनामी मिली जैसी बाद में आइजनहोवर सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका को मिली। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। अपनी हठधर्मिता के कारण वह इन राष्ट्रों की, स्वयं को दोनों शक्ति गुटों के प्रभाव से बचाने की इच्छा और नीति को नहीं समझ सका, उन्हें साम्यवाद का शत्रु मानने लगा। इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रों का समर्थन खो दिया। तटस्थ देशों के प्रति स्टालिन ने विरोधी नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ, भारत को उसकी तटस्थता के कारण ही स्टालिन रूस विरोधी समझता रहा था। इसीलिए स्टालिन काल के रूसी विश्वकोष में भारत के स्वाधीनता संग्राम को और महात्मा गांधी को पूंजीवाद का समर्थक बताया गया था।

स्टालिन की उग्रवादी कठोर नीति ने स्वयं साम्यवादी गुट में काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया। जब यूगोस्लाविया में मार्शल टीटो ने सोवियत संघ का अंधानुकरण करने से इन्कार कर दिया तो स्टालिन के शिकंजे से निकल पड़ने के लिए अन्य साम्यवादी देशों में भी राष्ट्रवादी साम्यवाद की प्रवृत्तियों

को अधिक समर्थन मिलने लगा। इसकी अभिव्यक्ति बाद में १९५६-५७ में पोलैण्ड तथा हंगरी के उपद्रवों में हुई। स्टालिन की 'लौह आवरण' की नीति से अन्य देशों में रूस के प्रति सन्देह और अविश्वास की धारणाओं को बल मिला। जार्ज एफ केनन (George F Kennen) का मत है कि १९५२ तक सोवियत नीति अनुदार हो गई थी और १९५३ में स्टालिन के उत्तराधिकारियों के लिए उसमें परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया।

कुछ लोग स्टालिन की विदेश नीति में रूढ़िवाद (Conservatism) की झलक पाते हैं। उनके अनुसार वह पश्चिम पर शक्ति के बल पर हावी नहीं होना चाहता। उसने पश्चिमी शक्ति एवं सम्मान को नीचे गिराने तथा अपने साम्राज्य को शक्ति एवं स्थायित्व देने के प्रयास किये। अधिराज्यों में व्याप्त असन्तोष के प्रति वह सजग था तो भी सोवियत शक्ति के विस्तार के प्रत्येक अवसर का उसने लाभ उठाया। सन् १९५३ को पश्चिमी विचारकों द्वारा सौभाग्यशाली माना जाता है जबकि स्टालिन अपने नाम को छोड़ कर इस विश्व से सिधार गये। कहा जाता है कि स्टालिन ने रूस जैसे पिछड़े व अविकसित देश को दुनिया की महान् औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति बना दिया तथा चंगेजखान और तैमूरलंग जैसा साम्राज्य स्थापित कर दिया।

शांतिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर काल (१९५३–१९६७)

स्टालिन की मृत्यु तक सोवियत विदेशी नीति में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, किन्तु बाद में उसकी नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और यह फिर से विकासोन्मुखी बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य विकासों ने सोवियत संघ की शक्ति को बढ़ा दिया। पहला विकास यह था कि पूर्वी यूरोप में सोवियत साम्राज्य में स्थायित्व आ गया। दूसरे सोवियत संघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढ़ने लगी। तीसरे, रूस के दक्षिणी क्षेत्र में उसका प्रभाव बढ़ने लगा। मध्यपूर्व, दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उनके प्रभाव के क्षेत्र बन गये। विश्व का सन्तुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुक गया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य नहीं बढ़ा किन्तु सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी बढ़ गयी जितनी कि पहले कभी नहीं थी। स्टालिन के उत्तराधिकारियों को जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ा वे थीं—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना, पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व का पारस्परिक स्वीकृति प्राप्त करना, तथा जहाँ सम्भव हो सके वहाँ बिना सोवियत सुरक्षा को खतरे में डाले देश की शक्ति का विस्तार करना, साम्राज्य की रक्षा करना, उसे प्राप्त करने से अधिक

कठिन होता है इसलिए उन्होंने इनको स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की, आर्थिक सम्बन्धों को कम शोषणयुक्त बनाया तथा जीवन स्तर के आधुनिक विकास को प्रोत्साहन दिया। स्टालिन के बाद सोवियत रूस को जटिल समस्या का सामना करना पड़ा, साम्यवादी चीन के साथ इसका सैद्धांतिक विवाद बढ़ा, मार्शल टीटो के साथ मतभेदों का उतार चढ़ाव आया, पोलैण्ड और हंगरी में क्रांतियां हुई तथा एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन एवं संघर्ष हुए और इन सबके कारण सोवियत संघ की विदेश नीति के चक्र की गति काफी तेज हो गई।

मालेन्कोव-काल

स्टालिन की उग्रतावादी कठोर वैदेशिक नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एवं तटस्थ देशों में उनकी जो प्रतिक्रियायें हुईं, उनके फलस्वरूप अब सोवियत नीति का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। इसीलिए स्टालिन के अविलम्ब उत्तराधिकारी मालेन्कोव ने दिवंगत नेता के अन्त्येष्टि संस्कार में ही घोषणा की कि—"लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूंजीपति देशों में शांतिपूर्ण सह अस्तित्व स्थापित करने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जायेगा।" मालेन्कोव का यह आश्वासन स्पष्टतः इस बात का संकेत था कि स्टालिन के उत्तराधिकारी पश्चिमी एवं गैर साम्यवादी देशों के प्रति स्टालिन-कालीन विरोध की उग्रता और कठोरता में कमी लाना चाहते थे। इसके तुरन्त बाद ही १६ मार्च, १९५३ को सुप्रीम सोवियत में अपने देश की वैदेशिक नीति का उल्लेख करते हुए सोवियत प्रधानमन्त्री ने जोरदार शब्दों में कहा—"अब सोवियत विदेश नीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शांति को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से किया जायेगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसे शांतिपूर्वक हल न किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" सोवियत रूस की नीति में परिवर्तन का संकेत करने वाली इन विभिन्न घोषणाओं के कारण अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के विरुद्ध प्रचार में कमी आयी। इसी के परिणामस्वरूप, अब तक पश्चिम के विरुद्ध आग बरसाने वाले रूसी विदेश मन्त्री विशिंस्की ने संयुक्त राष्ट्र संघीय महा सभा की एक बैठक में भाषण देते हुए पश्चिम को निमन्त्रण दिया कि "आप मित्रता की सुरंग में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर हमसे मिलें।" इसके साथ ही पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किये जाने वाले विरोधी प्रचार की उग्रता में भी कमी आ गई।

रूस की इस नई विदेशी नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही निकलने प्रारम्भ हो गए। अक्टूबर, १९५२ से चले आने वाले कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और १० अप्रेल, १९५३ को पानमुनजोन मे रुग्ण एव घायल युद्ध बन्दियो का समझौता होने पर युद्ध भी समाप्त हो गया। इस द्वारा टर्की और जर्मनी के प्रति मृदु नीति अपनाई गई। १५ मई, १९५५ को आस्ट्रिया के सम्बन्ध मे शाति सधि हो गई। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे सोवियत सैनिकों द्वारा खाली कर दिये गये। सोवियत सेना मे १ लाख ८० हजार सैनिको की कमी की गई। १९५४ में जेनेवा सम्मेलन द्वारा हिन्दचीन की समस्या का शातिपूर्ण हल निकाला गया। सोवियत सघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुन कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। युगोस्लाविया के साथ मतभेदो को दूर करके उसे पुन साम्यवादी परिवार में लाने की चेष्ठा की गई। २९ अप्रेल, १९५३ को मोलोटोव ने युगोस्लाव प्रतिनिधि से कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना के सम्बन्ध में बातचीत की और मई, १९५३ मे दोनो देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध फिर से कायम हो गए। इसके उपरान्त सोवियत नेताओं ने युगोस्लाव साम्यवादी पार्टी के साथ भी अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को दूर करने के प्रयत्न किए।

मालेन्कोव के नेतृत्व में सोवियत रूस की लौह आवरण की नीति में भी शिथिलता का बर्ताव किया जाने लगा। बाह्य दुनिया से निकट सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया ताकि सोवियत सघ लोहे की दीवार में बन्द नही समझे जायें। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटो मे विभाजित मानता था, लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शक्ति सतुलन की प्रक्रिया माना गया और इसको अपने पक्ष मे करने के लिए तटस्थ राष्ट्रो की सदिच्छा प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

ख्रुश्चेव युग

इस समय सोवियत सघ में भीतर ही भीतर नेतृत्व के लिए सघर्ष चल रहा था। श्री मालेन्कोव इस सघर्ष में पराजित हुए, फलत ८ फरवरी, १९५५ को उन्हे प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पडा। अब मार्शल बुल्गानिन नये सोवियत प्रधानमन्त्री बने तथा श्री ख्रुश्चेव पार्टी के महा सचिव नियुक्त हुए।

१९५५ से १९६३ तक की सोवियत विदेश नीति का युग ख्रुश्चेव युग है क्योंकि फरवरी, ५५ से मार्च १९५८ तक के बुल्गानिन के प्रधान मन्त्रीत्व काल मे भी वास्तविक प्रभाव एक प्रकार से श्री ख्रुश्चेव का ही था। इस युग में सोवियत विदेश नीति मे जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए और उसका जिस प्रकार

सचालन हुआ, इन सबका अध्ययन पृथक्-पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत निम्न रूप से किया जा सकता है—

(१) लौह आवरण मे शिथिलता, यात्राओं की कूटनीति—इस युग में सोवियत लौह आवरण की नीति मे पर्याप्त शिथिलता आई और 'यात्रा-कूटनीति' का महत्व बढा। सोवियत संघ के विभिन्न सांस्कृतिक, राष्ट्रीय शिष्ट मण्डल विदेशो मे जाने लगे और विदेशों के ऐसे ही शिष्ट मण्डल साम्यवादी जगत मे आमन्त्रित किए जाने लगे। स्टालिन बाह्य देशो के साथ सम्पर्क का घोर विरोधी था और सम्भवतः केवल एक बार तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था अथवा युद्ध सम्मेलनों मे ही चर्चिल और रूजवेल्ट से उसकी मुलाकात हुई। लेकिन अब श्री ख्रुश्चेव, बुल्गानिन आदि उच्चतम स्तर के सोवियत नेता दूसरे देशों का सद्भाव पाने और उनकी मैत्री अर्जित करने के लिए विभिन्न देशों की यात्रायें करने लगे और उन देशों के नेताओं को अपने यहा निमन्त्रित करने लगे।

जून, १९५५ मे भारतीय प्रधानमन्त्री श्री नेहरू सोवियत रूस द्वारा आमन्त्रित किए गए और नवम्बर, १९५५ मे श्री ख्रुश्चेव तथा बुल्गानिन ने भारत यात्रा की। इससे दोनो देशों में सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई तथा सोवियत नेताओ की भारत की असलग्नता की नीति के प्रति स्टालिन काल से जो सन्देह बना हुआ था, वह दूर हो गया। अप्रेल, १९५६ मे दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गए। १९५९ के आरम्भ मे प्रथम सोवियत उपप्रधानमन्त्री श्री मिकोयान ने १५ दिन तक अपने प्रबल विरोधी समझे जाने वाले अमेरिका की यात्रा की और १७ जनवरी को राष्ट्रपति आइजनहॉवर द्वारा अमेरिका मे १९४५ में मोलोटोव के बाद पहली बार व्हाइट हाउस में किसी रूसी राजनीतिज्ञ का स्वागत किया। सोवियत उपप्रधानमन्त्री ने दोनो देशो में व्यापार की वृद्धि को आवश्यक बताया और इस बात पर बल दिया कि 'शीत-युद्ध (Cold-war) का स्थान 'शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता' (Peaceful competition) को लेना चाहिए। स्वदेश वापस लौटने पर श्री मिकोयान ने ३१ जनवरी, १९५९ को सोवियत साम्यवादी पार्टी के २१ वें अधिवेशन मे मास्को मे कहा कि उन्होंने अमेरिकन राजनीतिज्ञों और नेताओं के साथ जो भी वार्तालाप किया उसमे उन्हें कहीं सोवियत साम्यवाद के 'निरोध' (Containment), "पीछे धकेलने" (Roll back) तथा "साम्यवाद की दासता से मुक्ति" (Liberation) की कोई चर्चा नही सुनाई दी। मिकोयान द्वारा अमेरिका की अपनी यात्रा से उपर्युक्त वातावरण तैयार कर दिए जाने के उपरान्त सितम्बर १९५९ में सोवियत प्रधानमन्त्री श्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की। फरवरी-मार्च,

१९६० में श्री ख्रुश्चेव ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशो–भारत, बर्मा इण्डोनेशिया अफगानिस्तान आदि की यात्रा की ।

सोवियत नेताओ द्वारा लौह आवरण म शिथिलता किए जाने और विश्व के विभिन्न देशो की यात्रा करने से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव म निश्चित कमी हुई और दोनो विरोधी पक्ष एक दूसरे के प्रति उतने जबरदस्त सदेहशील न रहे जितने स्टालिन काल म थे ।

अपनी इन यात्राओ म रूसी नेताओ ने शासनाध्यक्षो के शिखर सम्मेलन बुलाने पर बारम्बार बल दिया । ऐसा एक सम्मेलन जुलाई, १९५५ में जेनेवा मे हुआ जिसने हि दचीन की समस्या को हल किया । दूसरा सम्मेलन मई १९६० मे हुआ जो दुर्भाग्यवश यू २ विमानकाड से उत्पन्न वातावरण का शिकार बनकर असफल हो गया ।

(२) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की ओर विवादों का शान्तिपूर्ण ढग से निपटारा करने की नीति—स्टालिन की मृत्यु के बाद शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का शुभारम्भ मालेन्कोव के प्रधानमन्त्रित्व काल मे ही हो चुका था, किन्तु इसे निखार ख्रुश्चेव युग मे और बाद मे वर्तमान कोसीगिन युग मे मिला । फरवरी १९५६ म रूसी साम्यवादी दल की जो २०वी काग्रस हुई उसमे स्टालिन तथा उसकी नीतियो की कटु आलोचना की गई और साम्राज्यवादी देशों म युद्ध की अनिवार्यता के लेनिन सिद्धात को सशोधित कर शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का सोवियत विदेश नीति का आधार बना दिया । काग्रस की विशेष रिपोर्ट म श्री ख्रुश्चेव ने स्टालिन युग में किए गए अपराधो का उल्लेख किया । उन्होंने बताया कि स्टालिन इस प्रकार से व्यवहार करता था मानों वह सब कुछ जानता है सब कुछ देखता है सब के लिये सोचता है सब कुछ कर सकता है और गलती कभी भी नही करता है । वह अपना आपको ईश्वर मान कर चलता था । उसका व्यवहार अमानवीय एव हिंसात्मक था । श्री ख्रुश्चेव ने कहा कि यदि उन्हे और बुल्गानिन को कभी स्टालिन बुलाता था तो उन्हे यह विश्वास नही होता था कि वे सकुशल अपने घर लौट सकेगे । "स्टालिन कभी भी समझा बुझाकर काम नही लेता था किन्तु वह अपनी मान्यताओ को लादता था तथा अपने मतो पर पूर्ण समर्पण की माग करता था । स्टालिन ने एक बार ख्रुश्चेव स मार्शल टीटो के प्रति रोष प्रकट करते हुए कहा था कि—'मैं अपनी छोटी अगुली हटा दूगा और टीटो नहीं रहेगा, वह गिर जायेगा ।'

श्री ख्रुश्चेव की प्रेरणा से इनके समय जो विदेश नीति अगीकृत की गई उसकी ५ प्रमुख विशेषताये थी—

प्रथम, जहाँ स्टालिन के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का अर्थ केवल युद्ध का न होना मात्र था, वहाँ श्री ख्रुश्चेव ने इसका अर्थ यह माना कि सभी गैर साम्यवादी राष्ट्र (विशेषत एशिया और अफ्रीका के तटस्थ राष्ट्र) सोवियत संघ के शत्रु नहीं हैं।

दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया।

तीसरे, यात्राओं की कूटनीति स्वीकार की गई और यह माना गया कि दूसरे देशों से अच्छे सम्बन्धों की स्थापना करने के लिए सोवियत नेताओं को अन्य देशों की यात्रायें करनी चाहिये तथा लौह आवरण को शिथिल कर साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी देशों के मध्य सम्पर्क की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए।

चौथे, सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्प-विकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की गई।

पाँचवें, पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी बता कर उनकी निन्दा करते हुए भी उनके साथ खुले संघर्ष की नीति का परित्याग किया गया। ख्रुश्चेव के शब्दों में "सोवियत संघ शांति और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को मानता है। "हम संयुक्त राज्य अमेरिका या अन्य किसी भी देश के विरुद्ध युद्ध करने की नहीं सोच रहे हैं' हम शान्तिपूर्ण निर्माण में, रचनात्मक कार्य में प्रतियोगिता करना चाहते हैं।"

शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नई सोवियत नीति के अनुसार गैर साम्यवादी देशों को एक नहीं, अपितु तीन वर्गों में बांटा गया है—(१) संयुक्त राज्य अमेरिका (२) अमेरिका के समर्थक और सहयोगी, एवं (३) तटस्थ देश, जैसे भारत, इन्डोनेशिया, बर्मा, मिस्र, सीरिया, यूगोस्लाविया, अफगानिस्तान स्विट्जरलैण्ड। दूसरे शब्दों में पहले रूस दुनिया में दो ही रंग के फूल देखता था—लाल और सफेद। अब वह इसमें लाल, पीले, नीले, हरे, सभी प्रकार के फूल देखने लगा। पहले उसकी नीति लाल रंग के फूलों के सिवाय सब तरह से फूलों के समूलोन्मूलन की थी, अब वह सबके साथ-साथ रहने के 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व' की बात करने लगा था। १२ अक्टूबर, १९५४ को सोवियत संघ और चीन की सरकारों की एक संयुक्त घोषणा में स्पष्टतः कहा गया कि वे समस्त देशों के साथ पंचशील के सिद्धान्तों के आधार पर मैत्री सम्बन्ध कायम करना चाहते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति ने सोवियत

संघ मे किसी प्रकार का घरेलू परिवर्तन नही किया है। हा इस सिद्धान्त के आधीन रूसी विदेश नीति में एक निश्चित लचीलापन (Flexibility) अवश्य प्रविष्ट कर सका है। इण्टरनेशनल न्यूज़ सर्विस एजेन्सी के मुख्य सम्पादक डब्लू आर हर्स्ट (W R Hearst) को एक इन्टरव्यू में श्री खुश्चेव ने स्पष्ट किया था कि यदि संयुक्त राज्य अमेरिका का शासक वर्ग इसी आधारभूत तथ्य को स्वीकार कर ले कि विश्व मे एक समाजवाद की दुनिया कायम है जो अपने आदर्शों के अनुरूप उन्नति के मार्ग पर अग्रसर है एव इस समाजवादी दुनिया के अतिरिक्त एक पू जीवाद का ससार भी है तो वह (सोवियत रूस) इन दो विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच सह-अस्तित्व की सम्भावनाओं को स्वीकार कर ले। अपने इसी इन्टरव्यू मे श्री खुश्चेव ने दृढ शब्दों मे यह स्पष्ट कर दिया कि रूस इस बात को किसी सूरत मे स्वीकार नही कर सकता कि ससार के प्रत्येक देश पर संयुक्त राज्य अमेरिका हावी होने की चेष्टा करे। यदि अमेरिका पू जीवादी दृष्टिकोण से विश्व का सर्वाधिक विकसित और और शक्तिशाली देश है तो सोवियत संघ भी सबसे अधिक शक्तिशाली समाजवादी देश है। अत उचित यही है कि दोनों देश अपने विवादों का हल शस्त्रीकरण की दौड मे भाग लेकर के और युद्ध सामग्री एकत्रित करके नही करें बल्कि इन्हे हल करने के लिए अपने देश की आर्थिक व्यवस्था को समृद्ध बनाने और अपनी जनता के सांस्कृतिक विकास व कल्याण को आगे बढ़ाने का प्रयास करें। श्री खुश्चेव ने तथ्यपूर्ण शब्दों मे बताया कि कौनसी व्यवस्था अच्छी है—इसका निर्णय हथियारों द्वारा नही किया जा सकता, इसके लिए तो विवेक की आवश्यकता है।

स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढग से हल करने और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त को मानने के निश्चित प्रमाण भी सोवियत रूस ने प्रस्तुत किये। उदाहरणार्थ, जुलाई, १९५३ को कोरिया युद्ध की समाप्ति म रूसी सहयोग मिला, जनवरी-फरवरी १९५४ में चार बडो के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें किये गये निश्चय के अनुसार अप्रैल में जो जेनेवा सम्मेलन हुआ उसमे वियतनाम की समस्या को शांतिपूर्ण ढग से सुलझाया गया। १५ मई, १९५५ को आस्ट्रिया के साथ शांति संधि हुई। जुलाई, १९५५ मे चार बडों का शिखर सम्मेलन हुआ जो १९४५ के पोट्सडम सम्मेलन के बाद चार बडों की पहली बैठक थी। इसमे हिन्दचीन के प्रश्न का शांतिपूर्ण निबटारा हुआ। इसी मध्य १५, जून १९५५ को सोवियत संघ ने काले सागरीय प्रदेश मे टर्की के विरुद्ध अपनी प्रादेशिक मांगों का परित्याग करने की घोषणा की।

सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति पर अपने पहले के दुराग्रही रुख को छोड़कर श्री डाग हैमरशोल्ड को महासचिव के रूप में स्वीकार कर लिया। जुलाई, १९५५ में भारत के प्रयत्नों और रूस के समर्थन से साम्यवादी चीन ने ११ वंदी अमेरिकन विमान चालकों को रिहा कर दिया। रूस द्वारा अपनायी गयी इस सहयोगपूर्ण और उदार नीति का संयुक्त राष्ट्रसंघ पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। इसी सहयोग पाकर अब वह अधिक प्रभावशाली रूप में कार्य करने लगा। नवम्बर-दिसम्बर १९५५ में एक तरफ सोवियत रूस ने और दूसरी तरफ फ्रांस, ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह निश्चय किया कि वे एक दूसरे के द्वारा प्रस्तावित राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने के प्रस्तावों का विरोध नहीं करेंगे। इस निश्चय के परिणामस्वरूप ८ दिसम्बर, १९५५ को १८ राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान की गई। सोवियत नेताओं ने दूसरे देशों की सद्भावना यात्राएं करना शुरू किया। १८ अप्रैल, १९५६ को कामिनफोर्म को भंग कर दिया। जुलाई-अगस्त १९६३ में अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि सम्पन्न की गई जिसे १९२२ की वाशिंगटन संधियों के पश्चात् निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों की प्रथम सफलता कहा जा सकता है। अगस्त में ही मास्को और वाशिंगटन के मध्य सीधा टेलिफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U. S. Soviet Hot Line Agreement) किया गया जिसका उद्देश्य यह था किसी भी संकटकालीन स्थिति में दोनों राष्ट्रों के अध्यक्ष एक-दूसरे से सीधी वार्ता के द्वारा विश्व को आणविक शिकार होने से बचा सकें।

ख्रुश्चेव काल में 'पूर्व' और 'पश्चिम' के सम्बन्धों में निश्चित रूप से सुधार हुआ, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि शीतयुद्ध समाप्त हो गया अथवा रूस और पश्चिमी शक्तियां परस्पर मित्र बन गये। इसके विपरीत राजनीतिक शत्रु के रूप में दोनों की स्थिति यथा पूर्व रही और कूटनीतिक दाव पेचों के जरिये अपना-अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में दोनों ही पक्ष अग्रसर रहे। मूल अन्तर केवल यही हुआ कि स्टालिनशाही उग्रवादी नीति का स्थान चातुर्यपूर्ण और गहन कूटनीतिक उदार नीति ने ले लिया जिसमें प्रत्येक अनुकूल अवसर से प्रत्येक लाभ उठाने की चेष्टा जारी रही। मौके-बमौके ऐसे अवसर उपस्थित होते रहे और ऐसी घटनायें घटी जिनसे समय-समय पर शीत युद्ध को तीव्रता मिली और दोनों पक्षों में कटुता का व्यापक प्रसार हुआ; उदाहरणार्थ, १९५६ में स्वेज नहर और हंगरी के प्रश्न को लेकर दोनों खेमों में अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो गई, मई १९६० में यू-२ विमान की घटना ने दोनों पक्षों में शीत युद्ध का ज्वार ला दिया और १९६२ में क्यूबा के संकट

ने दोनों महाशक्तियों को संघर्ष के इतने निकट ला दिया कि तृतीय महायुद्ध के विस्फोट की सम्भावना से विश्व की सम्पूर्ण शांतिवादी जनता त्रस्त हो उठी। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि संकट के प्रत्येक अवसर को टालने में न्यूनाधिक रूप से दोनों ही पक्षों ने विवेक और धैर्य का सहारा लिया तथा रस्सी को इतना नहीं खिंचने दिया कि वह टूट जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ इन दोनों महाशक्तियों में इस अनुभूति को बल मिला कि सैनिक शक्ति अथवा युद्ध के द्वारा एक-दूसरे को समाप्त करने की नीति न केवल अव्यावहारिक वरन् आत्मघाती होगी और यदि सह अस्तित्व को नहीं अपनाया जायगा तो उसका एक मात्र विकल्प सह-विनाश होगा।

(३) अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग—जैसा कि कहा जा चुका है, मालेन्कोव और ख्रुश्चेव के युग में सोवियत संघ ने भी अल्प-विकसित देशों को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता की नीति अपनायी जो आज तक सोवियत विदेश नीति का एक प्रमुख अंग बनी हुई है। संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा १९४८ से ही ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल योजना के अन्तर्गत अल्प-विकसित देशों के लिये आर्थिक सहायता का कार्यक्रम अपनाया गया था ताकि उन देशों में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोका जा सके। इसके प्रत्युत्तर में स्टालिन युग में सोवियत रूस ने अल्प विकसित देशों को विकसित करने की अपेक्षा उनमें साम्यवाद के प्रचार और तोड़फोड़ के सिद्धान्त को अपनाया। परन्तु स्टालिनोत्तर युग में नवीन नीति का समारम्भ हुआ जिसके अनुसार रूस द्वारा अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास पर बल दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप जनवरी १९५४ से जनवरी १९६३ तक दोनों ही देशों द्वारा अल्प विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देने की एक प्रतियोगिता सी प्रारम्भ हो गई।

सोवियत संघ द्वारा अविकसित तथा अल्पविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग प्रदान करने की संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति का प्रभावशाली रूप में अनुकरण करने ने ही वॉल्टर लिपमन (Walter Lippmann) को यह लिखने पर विवश कर दिया कि "पहले रूस ने आणविक आयुधों पर पश्चिम के एकाधिपत्य को भंग किया और अब वह अल्प-विकसित देशों का आर्थिक नेतृत्व ग्रहण करने में पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार को तोड़ने लगा है।"

अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की नीति का अवलम्बन करने के साथ सोवियत रूस ने उत्पादन और सैनिक शक्ति में अपने को पश्चिमी देशों से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया। श्री ख्रुश्चेव का

स्पष्ट मत था कि, "अब सबसे महत्वपूर्ण समस्या क्या है ? यह है पूंजीवाद को पराजित करना। जो बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा अधिक पैदा करेगा वह विजयी होगा।" इस नीति के फलस्वरूप रूस के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई सैनिक शक्ति में भी सोवियत संघ तेजी से आगे बढ़ा। १९५७ में स्पूतनिक और १९६१ में ५० मेगाटन बम का निर्माण करके वह राकेट तथा आणविक शस्त्रों की होड़ में संयुक्त राज्य से भी आगे निकल गया।

(४) उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध—श्री ख्रुश्चेव ने एशिया और अफ्रीका के देशों तथा असलग्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को और भी तीव्र कर दिया। संयुक्तराष्ट्र संघ में और अन्यत्र वह साम्राज्यवादी शक्तियों की घोर निन्दा करने लगा और उपनिवेशों तथा गुलाम राष्ट्रों को स्वतन्त्र बनाने के सभी प्रस्तावों और आन्दोलनों को प्रबल समर्थन देने लगा। रूसी नेताओं की मान्यता थी कि इस नीति से उन्हें दोहरा लाभ मिलता है। पहला तो यह कि एशिया और अफ्रीका की साम्राज्यवाद से पीड़ित जनता की सहानुभूति उसे प्राप्त होती है और दूसरे साम्राज्यवाद के विघटन से रूस के प्रबल एवं कट्टर शत्रु पूञ्जीपति पश्चिम की प्रभुता क्षीण होती है।

वास्तव में स्टालिन की मृत्यु के बाद से ही, विशेषकर श्री ख्रुश्चेव के प्रभाव में आने के उपरान्त से एशिया और अफ्रीका के अल्प विकसित या अविकसित देशों और उपनिवेशों के प्रति सोवियत नीति के निम्नलिखित प्रमुख लक्ष्य रहे—

(i) भूतपूर्व उपनिवेशी अथवा अर्ध-उपनिवेशी देशों के सदेह एवं राष्ट्रीय उन्माद का अच्छी प्रकार ध्यान रखते हुए इनके प्रति पूरी तरह मित्रता एवं सौहार्द दिखाना,

(ii) इन देशों के पश्चिम के साथ अतीत के कटु सम्बन्धों का फायदा उठाते हुए इन्हें पश्चिम से और भी विमुख बना देना;

(iii) न केवल उपनिवेशवाद विरोधी वरन जातिवाद विरोधी प्रवृत्तियों को भी उभाड़ना;

(iv) राजनीतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना;

(v) औद्योगीकरण के द्वारा उनको अपनी अर्थ व्यवस्था को विकसित करने की महत्वाकांक्षा को सहारा देना; हो सके तो सोवियत सहायता एवं पारस्परिक व्यापार के सम्बन्धों की ओर उनको झुकाना,

(vi) प्रत्येक झगडे को उकसाना जो वे पश्चिम के साथ रख सकते हैं,

(vii) विदेशी पूञ्जी या सहायता को उनकी स्वतन्त्रता एव सम्मान के विरुद्ध बना कर सन्देह की भावना फैलाना,

(viii) उनकी आखो के सामने सोवियत रूस के तीव्र औद्योगीकरण को आदर्श के रूप मे प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय मे ऐसी उपलब्धियो को साकार कर सकता है।

सोवियत सघ के शक्ति एव प्रभाव के विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन हैं, अफ्रीका, एशिया एव लैटिन अमेरिका। शेपिलोव (Shepilov) ने पूर्व के सम्बन्ध मे कहा था कि सोवियत जनता पूर्वी राष्ट्रो के समाप्त होते हुए उपनिवेशवाद एव साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वार्थहीन सघर्ष को प्रेम तथा सहानुभूति से सम्मान प्रदान करती है। उन्होंने एक बार कहा था कि हमारा विश्वास है कि प्रत्येक जनता (People) को उसकी राष्ट्रीय स्वाधीनता, स्वतन्त्रता तथा आत्म निर्णय का कभी न छीना जाने वाला अधिकार है।

ख्रुश्चेव का पतन, उसकी नीति का मूल्याकन—ख्रुश्चेव के समय सोवियत नीति मे जो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र मे वह जिन नई दिशाओं की ओर उन्मुख हुई, उसका समीक्षात्मक वर्णन हम कर चुके हैं।

ख्रुश्चेव की नीति का मूल्याकन करते समय प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि क्या उसके समय की विदेश नीति की नई विशेषतायें मौलिक परिवर्तनों की सूचक हैं? स्टालिन द्वारा प्रतिपादित नीतियों का विरोध और वि-स्टालिनीकरण (De Stalinization) स्थाई है अथवा अस्थाई। और क्या यह एक स्थाई तथ्य है कि रूस म विश्व शान्ति का उत्साह वास्तव मे शिथिल हो गया है तथा उसमे उदारवाद की प्रवृत्तिया स्थाई रूप मे प्रबल हो गई हैं। इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर तो भविष्य ही देगा। यद्यपि श्री ख्रुश्चेव के बाद से (अक्टूबर १९६४ के बाद से अभी तक) (अगस्त १९६९ तक) सोवियत नेताओं की नीति ख्रुश्चेववादी ही रही है और सोवियत प्रधानमन्त्री श्री कोसीगिन एव राष्ट्रपति ब्रेजनेव रूस की सह अस्तित्व एव शान्तिवादी नीति को जारी रखने के लिए कटिबद्ध प्रतीत होते हैं, तथापि इतने अल्पकाल में एक राष्ट्र की परिवर्तित विदेश नीति का सही मूल्याकन नहीं किया जा सकता, हा कुछ वर्षों के इतिहास से इसी बात की आशा बनती है कि सोवियत रूस अपनी उदार नीति पर चलता रहेगा।

इस सदर्भ मे यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने सोवियत विदेश नीति के बारे में अनेक मनोरंजक कल्पनायें की हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने रूसी सह अस्तित्व एव उदारवाद की नीति की व्याख्या के लिए साम्यवाद की इस्लाम के साथ तुलना की है। उनका कहना है कि साम्यवाद इस्लाम की भांति उग्र प्रचारक, सैनिकवादी आंदोलन है। जिस तरह दूसरे देशों को जीतने और वहां की जनताओं को मुसलमान बनाने के बाद इस्लाम का उत्साह शिथिल हो गया था और उसने अन्य धर्मों के साथ समझौता कर लिया था उसी प्रकार साम्यवादियों का जोश मन्द पड़ रहा है और उन्होंने भी अन्य देशों के साथ मित्रता पूर्वक रहने के लिए शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति ग्रहण की है।

लेकिन श्री रॉबर्ट स्ट्रोज-हुपे(Robert Strausz-Hupe) ने टायनबी के मत का खंडन किया है। उनका कहना है कि "इस्लाम के उत्साह म कमी या कमी कई शताब्दियों बाद लाखों काफिरों को मुसलमान बनाने और मारने के बाद विरोधी शक्तियों के प्रबल होने से आई थी। साम्यवाद मे अभी ऐसी कोई अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती।" श्री हुपे और उन्हीं के समान कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि उदारवाद रूस की अल्पकालिक नीति है अन्यथा उसकी मूल नीति मे कोई परिवर्तन नहीं आया है। स्टालिन के समय शुद्धि-आंदोलनों में अनेक बड़े नेताओं की पदावनति होती थी जो आज भी ज्यों की त्यों है। उदाहरण के लिए स्टालिन के बाद उसके विश्वास-पात्र बेरिया को मौत की सजा मिली। स्टालिन के उत्तराधिकारी प्रधानमंत्री मालेन्कोव कजाकस्तान के एक बिजली घर के संचालक बनाकर राजनीति से दूर फेंक दिये गये, प्रधानमंत्री बुल्गानिन को स्तावरोपोल प्रदेश की आर्थिक परिषद का अध्यक्ष बना कर निकाल फेंका गया और इसके बाद, स्टालिन ही की तरह रूस पर छा जाने वाले श्री ख्रुश्चेव तक को अक्टूबर १९६४ मे अपदस्थ कर दिया गया और १५ अक्टूबर, १९६४ को तास एजेन्सी ने घोषणा की कि, "अधिक आयु तथा स्वास्थ्य खराब होने के कारण श्री ख्रुश्चेव को साम्यवादी पार्टी के मंत्री तथा प्रधानमंत्री के पद से मुक्त किया गया है। केन्द्रीय समिति ने १४ तारीख को इन दोनों पदों से ख्रुश्चेव का त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया है तथा कोसीगिन को प्रधानमंत्री और ब्रेजनेव को साम्यवादी पार्टी का सचिव बनाया गया है।" रूस के मामलों के विशेष रूप से सिद्धहस्त पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों की मान्यता है कि रूसी विदेश नीति का प्रमुख ध्येय पूंजीवादी समाज और वातावरण का उन्मूलन है, इसमें कोई परिवर्तन आने की सम्भावना नहीं है।

ख्रुश्चेव के पतन के बाद सोवियत विदेश नीति तथा सोवियत कूटनीति की नयी दिशायें

ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्तूबर, १९६४ में सोवियत संघ का नेतृत्व दो नये व्यक्तियों—कोसिगिन और ब्रेजनेव के हाथों में आया। अनेक क्षेत्रों में यह आशंका व्यक्त की गई कि नया नेतृत्व स्तालिनवादी होगा तथा सोवियत विदेश नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन आयेगा। किन्तु इस प्रकार की आशंकाओं का समाधान करते हुए नये सोवियत नेताओं ने घोषणा की कि नयी विदेश नीति के क्षेत्र में ख्रुश्चेव वादी परम्परा ही अपनायी जायेगी। नये नेताओं ने कहा कि पहले की विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होंगे तथा सोवियत संघ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास करता रहेगा। यह भी कहा गया कि परमाणविक परीक्षण को बन्द कराने और निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयास जारी रहेंगे, शीत युद्ध में तीव्रता नहीं आने दी जायेगी तथा संसार के पिछड़े राष्ट्रों की विकास योजनाओं में रूस यथाशक्ति सहायता देता रहेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९६४ के अन्त से लेकर अब तक अर्थात् १९६९ की समाप्ति तक सोवियत विदेश नीति में अधिकांशतः ख्रुश्चेववादी परम्परा का ही निर्वाह किया गया है और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की सम्भावनाओं को पहले से अधिक सबल बनाया गया है, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि सोवियत कूटनीति ने कुछ नये पैंतरे भी बदले हैं—विशेषकर भारत व पाकिस्तान के सम्बन्ध में। अग्रिम पंक्तियों में हम ख्रुश्चेवोत्तर युग में सोवियत विदेश नीति और कूटनीति के क्षेत्र में उसके नये पैंतरों का उल्लेख करेंगे।

अमेरिका व पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति रूसी रवैया—पश्चिमी राष्ट्रों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति सोवियत विदेश नीति का रवैया बहुत कुछ ख्रुश्चेववादी है। रूसी नेताओं का विश्वास है कि अमेरिका से उन्हें कोई तात्कालिक सैनिक या राजनीतिक खतरा नहीं है। ख्रुश्चेव के बाद की सोवियत विदेश नीति में पश्चिम के प्रति किसी विशेष परिवर्तन का संकेत नहीं मिला है। अमेरिका के साथ उलझने और शीत युद्ध को पुनः चालू करने के कई अवसर आये हैं, लेकिन सोवियत नेताओं ने स्थिति को बिगड़ने देने का प्रयास नहीं किया है। उत्तरी कोरिया में जॉनसन प्रशासन और निक्सन प्रशासन के समय हुए अमेरिकी जासूसी काण्डों के दौरान भी सोवियत रूस ने संयम ही प्रदर्शित किया और ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की जिससे आपसी तनाव बढ़े तथा शीत युद्ध का प्रसार हो। वियतनाम की समस्या पर भी रूस का यही

चल रहा है कि वार्ता द्वारा समस्या का समाधान हो जाय। उत्तरी वियतनाम को विशाल सैनिक सहायता देते हुए भी सोवियत नेताओं ने ऐसा वातावरण पैदा नहीं किया है जिससे अमेरिका के साथ समझौता वार्ता के द्वार ही बन्द हो जाय।

ख्रुश्चेवकालीन यात्राओं की कूटनीति भी जारी रखी गई है। अक्टूबर, १९६६ में सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमिको ने राष्ट्रपति जानसन से मुलाकात करके निःशस्त्रीकरण और वियतनाम के प्रश्न पर बातचीत की थी। तब राष्ट्रपति द्वारा सोवियत प्रधान मंत्री कोसिगिन को अपने देश आने का निमन्त्रण दिया गया और यह भी संकेत किया गया कि बदले में वह रूस की यात्रा के निमन्त्रण का स्वागत करेंगे। सौभाग्यवश इन दो महान् राष्ट्रों के सर्वोच्च नेताओं का शिखर सम्मेलन जून, १९६७ में सम्भव हो सका। जून १९६७ में हुए अरब-इजराइल संघर्ष के फलस्वरूप दोनों देशों के सुधरते हुए सम्बन्धों में कुछ कटुता आ गई। संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों ने इजराइल का और सोवियत रूस ने अरब राष्ट्रों का पक्ष लिया। अरब-इजराइल संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुए पश्चिमी एशियायी संकट पर संयुक्त राष्ट्र संघ की महा-सभा का जो अधिवेशन जून, १९६७ में हुआ उसमें भाग लेने के लिए सोवियत प्रधान मंत्री कोसिगिन स्वयं उपस्थित हुए। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो दिली इच्छा होने के बावजूद जानसन और कोसिगन में से कोई भी शिखर वार्ता के लिए उत्सुकता नहीं दिखाना चाहता था। किन्तु बाद में अचानक ही ग्लासबरो में दोनों नेताओं ने घंटों एकान्त मन्त्रणा की और फिर अपने परामर्शदाताओं के साथ की गई बातचीत अगले दिन रविवार, २५ जून, १९६७ को भी जारी रखी। वार्तालाप में वियतनाम और पश्चिमी एशिया पर मुख्य रूप से वैचारिक आदान-प्रदान हुआ और निःशस्त्रीकरण तथा परमाणु शक्ति के विस्तार के सवाल भी अछूते नहीं रहे। परमाणु अस्त्रों के विस्तार पर अंकुश लगाने के बारे में दोनों पक्षों की ओर से अनुकूल वातावरण बनाने की बात कही गई।

विश्व की दोनों महा शक्तियों द्वारा एक दूसरे के प्रति संयम बरतने की कूट नीति से यही संकेत मिलता है कि आधुनिक विश्व शान्ति में ये दोनों महान् राष्ट्र पहले की अपेक्षा अब एक दूसरे के अधिक नजदीक आने लगे हैं। साम्यवादी चीन के साथ सोवियत रूस के सम्बन्ध कटु से कटुतर होते जा रहे हैं और सीमा क्षेत्रों पर दोनों देशों में सैनिक झड़पें भी हुई हैं। अतः अनेक राजनीतिज्ञों की धारणा है कि पश्चिमी, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति सोवियत रुख में इस प्रकार का परिवर्तन परिस्थितियों से विवश

हो कर किया गया है। चीन से उलझने की भावी आशंका को ध्यान में रखते हुए ही सोवियत नेताओं ने पश्चिम के प्रति कुछ अधिक सामंजस्यपूर्ण और शान्त नीति ग्रहण की। लेकिन यह स्थिति आगे कब तक बनी रहेगी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जून, १९६७ में यूरोप के साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों की बर्लिन में जो बैठक हुई थी उसमें सोवियत नेताओं की इस बात के लिए कटु आलोचना की गई थी कि वे अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति उदार नीति का अनुसरण कर रहे हैं। साम्यवादी जगत के इस प्रकार के प्रभाव का सामना सोवियत नेता कब तक कर सकेंगे, यह भविष्य के गर्भ में है। समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीय जगत में ऐसे तूफान उठते रहते हैं जिनसे रूस और अमेरिका के सम्बन्धों में पुनः जबरदस्त बिगाड़ आ जाने और शीत-युद्ध भड़क उठने का खतरा पैदा हो जाता है। अगस्त १९६८ [redacted] चेकोस्लोवाकिया पर रूसी आक्रमण की घटना के समय इसी प्रकार का खतरा पैदा हो गया था। यह स्वाभाविक था कि संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके साथी राष्ट्र सोवियत रूस के इस अन्यायपूर्ण कदम का विरोध करते। चेकोस्लोवाकिया में सोवियत सेनाओं और वारसा पैक्ट के अन्य साम्यवादी राज्यों की सेनाओं का प्रवेश एक प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में खुला हस्तक्षेप था। यह एक शक्तिशाली राष्ट्र का छोटे राष्ट्र पर आक्रमण था। रूस की इस कार्यवाही ने शीत-युद्ध के महारथियों को एक नया अवसर प्रदान किया। पश्चिमी यूरोप, ब्रिटेन और अमेरिका ने "चैक जनता के मुक्ति संग्राम" का समर्थन किया और तुरन्त ही इस मामले को सुरक्षा परिषद् में उठाया गया। सुरक्षा-परिषद् में एक प्रस्ताव पेश करके सोवियत रूस और उसके साथी देशों की इस कार्यवाही की निन्दा की गई। बहुमत होने पर भी यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका क्योंकि रूस ने १०५वी बार अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करते हुए इसे रद्द कर दिया। बाद में चेकोस्लोवाकिया और रूस में परस्पर समझौता हो गया और धीरे धीरे चेकोस्लोवाकिया की स्थिति सामान्य होती गई।

जर्मनी के प्रश्न पर यद्यपि रूस और अमेरिका में मतभेद यथापूर्व कायम है, किन्तु बर्लिन में साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों की जून, १९६७ में हुई बैठक के बाद जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति से इस बात की पुष्टि होती है कि सोवियत संघ पश्चिमी जर्मनी से अपने सम्बन्ध सुधारना चाहता है। पर इसके लिए शर्तें वही दोहराई जा रही हैं जिनकी रट सोवियत संघ प्रारम्भ से ही लगाये हुए है। इनमें पहली प्रमुख शर्त यह है कि पश्चिमी जर्मनी समूचे जर्मनी का प्रतिनिधित्व करने का अपना दावा छोड़ दे और दूसरी प्रमुख शर्त यह है कि पूर्व जर्मनी को यह अपनी मान्यता प्रदान करे।

सोवियत रूस को कुछ इस प्रकार का विश्वास हो चला है कि पश्चिमी जर्मनी में ऐसे तत्वों का विकास हो रहा है जो उसकी नीति में बुनियादी परिवर्तन ला सकते हैं और सोवियत रूस को इन तत्वों के विकसित होने में सहायक बनना चाहिए।

ताशकन्द : सोवियत कूटनीति में एक नया मोड़—सितम्बर, १९६५ में सोवियत कूटनीति के क्षेत्र में एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ। सितम्बर में भारत और पाकिस्तान के बीच काश्मीर को लेकर जो भयंकर युद्ध हुआ उसको बन्द कराने में सोवियत नेताओं ने प्रशंसनीय प्रयास किये। सोवियत प्रधान मन्त्री ने पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति अयूब खां और भारत के प्रधान मन्त्री लाल बहादुर शास्त्री को पत्र लिख कर तत्काल युद्ध बन्द करने का अनुरोध किया और यह सुझाव दिया कि यदि दोनों पक्ष समझौता वार्ता को तैयार हों तो सोवियत संघ अपनी भूमि पर शान्तिपूर्ण वातावरण में वार्तालाप करने की सुविधा प्रदान कर सकता है और दोनों पक्षों में समझौता कराने के लिए अपनी सेवायें अर्पित कर सकता है। सोवियत संघ का यह सुझाव वास्तव में सोवियत कूटनीति के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन था। सोवियत संघ ने अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया था। अतः जब उसने भारत और पाकिस्तान के झगड़े को सुलझाने में मध्यस्थता का प्रस्ताव किया तो समूचा राजनीतिक विश्व स्तब्ध रह गया।

इन्हीं प्रयत्नों से ४ जनवरी, १९६६ को सोवियत संघ के प्राचीन नगर ताशकन्द में भारतीय प्रधानमन्त्री और पाकिस्तानी राष्ट्रपति के बीच समझौता वार्ता प्रारम्भ हुई। १० जनवरी को प्रातःकाल यह निश्चित सा हो गया कि ताशकन्द वार्ता का कोई परिणाम नहीं निकल सकेगा लेकिन सोवियत कूटनीति अत्यन्त सक्रिय रही। ताशकन्द में सोवियत संघ के शीर्षस्थ नेता मौजूद थे। १० जनवरी को उनके अथक प्रयासों से फलस्वरूप गतिरोध टूट गया। रात्रि को ६ बजे सोवियत प्रधानमन्त्री कोसिगिन की उपस्थिति में श्री अयूबखां और श्री लालबहादुर शास्त्री ने ताशकन्द समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। ताशकन्द समझौता वस्तुतः रूसी कूटनीति की एक महान सफलता थी।

यदि ध्यान से देखा जाय तो ताशकन्द समझौते के मूल में सोवियत संघ की भारत और पाकिस्तान के प्रति परिवर्तित होती हुई नयी नीति के बीज निहित थे। सोवियत रूस के नये नेताओं ने भारत और पाकिस्तान के प्रति ख्रुश्चेववादी नीति को जारी न रखने का निश्चय कर लिया था। ख्रुश्चेव के पतन के कुछ काल बाद से लेकर अब तक का इतिहास बताता

है कि भारत के प्रति सोवियत रुख उतना मैत्रीपूर्ण नहीं रहा है जितना ख्रुश्चेव के समय था। काश्मीर के प्रश्न पर सोवियत रुख में पाकिस्तान के पक्ष में निश्चित रूप से कुछ नरमी आयी है। १९६५ में भारत पर पाकिस्तान के आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ में और उसके बाहर सोवियत रूस ने भारत तथा पाकिस्तान को समान स्तर पर माना और दोनों ही को युद्ध बन्दी तथा वार्ता द्वारा समझौता करने को कहा। इसके बाद दोनों देशों के नेताओं को अपनी भूमि पर आमन्त्रित कर बराबरी के स्तर पर ताशकन्द समझौता करवाया। रूसी रुख इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि रूस के नये नेताओं ने भारत को वह समर्थन देने से इन्कार कर दिया है जिसका आश्वासन ख्रुश्चेव ने अपनी भारत यात्रा के दौरान काश्मीर पर खड़े हो कर इन शब्दों में दिया था—"आप हमें यहां खड़े होकर आवाज दीजिए, हम आपकी मदद को दौड़े आयेंगे।"

सोवियत नेताओं का मन और मस्तिष्क भारत राष्ट्र के प्रति कितना निष्कपट, उदार और मैत्रीपूर्ण है, इसे अब भविष्य ही सिद्ध करेगा। वर्तमान में तो भारत की आशाओं को उनकी तरफ से आघात ही पहुँच रहा है। जुलाई १९६८ में उसके द्वारा पाकिस्तान को फौजी सहायता देने का निर्णय भारत की मैत्री पर एक तमाचा ही कहा जायेगा। भारत के विरोध के बावजूद पाकिस्तान को रूसी शस्त्रास्त्रों की सप्लाई बढ़ती जा रही है। जनवरी १९७० में रूस द्वारा पाकिस्तान को भारी मात्रा में शस्त्रास्त्र दिये जाने के समाचारों पर सरकार सहित सभी राजनीतिक क्षेत्रों में बड़ी चिन्ता व्यक्त की गयी है। पाकिस्तान के पिछले व्यवहार को देखते हुए इस प्रकार के आश्वासन कोई महत्व नहीं रखते कि रूसी शस्त्रों का प्रयोग पाकिस्तान द्वारा भारत के खिलाफ नहीं किये जायगे।

पाकिस्तान के प्रति नवीन दृष्टिकोण—जैसा कि कहा जा चुका है, ख्रुश्चेव युग तक रूस का दृष्टिकोण पाकिस्तान के प्रति सख्ती का था। लेकिन नये नेतृत्व के रुख में शनै शनै नर्मी आने लगी जो भारत पाक युद्ध, ताशकन्द समझौते, पारस्परिक यात्राओं और विभिन्न व्यापारिक, आर्थिक तथा राजनीतिक समझौतों के रूप में स्पष्ट रूप से प्रकट हो गयी। अप्रेल, १९६५ में ही दोनों देशों के बीच कुछ व्यापारिक, आर्थिक और राजनीतिक समझौते हुए। सितम्बर १९६५ में भारत पाक संघर्ष और तत्पश्चात् ताशकन्द सम्मेलन के समय सोवियत रूस ने भारत और पाकिस्तान को समान स्तर पर माना। अप्रेल, १९६८ में सोवियत प्रधानमन्त्री ने पाकिस्तान की यात्रा की और जुलाई में रूस ने पाकिस्तान को फौजी सहायता देने का

दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय किया। सोवियत संघ की यह नीति तो अवसरवादी होती है, अतः भारत को रूस या किसी अन्य राष्ट्र की अटूट मैत्री के धोखे में न रह कर यथाशीघ्र हर क्षेत्र में आत्मनिर्भर और शक्तिशाली बन जाना चाहिए।

वियतनाम के सम्बन्ध में सोवियत नीति—ख्रुश्चेव के समय से ही वियतनाम के सम्बन्ध में सोवियत नीति प्रायः तटस्थता की थी। लेकिन १९६४ में जब वियतनाम में अमेरिकन सैनिक हस्तक्षेप व्यापक रूप में बढ़ता गया तो रूस ने वियतनाम के प्रति अपनी नीति बदलते हुए उत्तरी वियतनाम को आवश्यक सैनिक सहायता देने की घोषणा की। अप्रैल १९६७ में हुए एक समझौते के अनुसार उत्तरी वियतनाम को सोवियत संघ से निरन्तर सैनिक सहायता दिया जाना तय हुआ। ३१ मार्च, १९६८ को जब राष्ट्रपति जानसन ने वियतनाम में बमबारी को सीमित करने की घोषणा की तो रूस ने इसे 'पहली अप्रैल का मजाक' बताया। सौभाग्यवश जान्सन प्रशासन ने बाद में युद्ध को तीव्र नहीं किया और निक्सन प्रशासन तो युद्ध को समाप्त करने की दिशा में पूरी तरह सक्रिय है। अमरीका की इस परिवर्तित नीति को देखते हुए सोवियत रूस का भी यही प्रयत्न है कि बातचीत द्वारा समस्या का समाधान निकल आवे और वियतनाम में युद्ध की लपटें बुझ जाएं।

चेकोस्लोवाकिया पर रूसी आक्रमण और उदारवाद का दमन—ख्रुश्चेव के समय से शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और राष्ट्रों से पारस्परिक मैत्रीपूर्ण व्यवहार करने वाले रूस ने अगस्त १९६८ में चेकोस्लोवाकिया पर जिस ढंग से आक्रमण किया, उसने रूस के नेक इरादों में एक बार फिर सन्देह पैदा कर दिया। चेकोस्लोवाकिया रूसी कार्यवाही का शिकार इसलिए बना क्योंकि १९६७ के मध्य से ही वहां उदारवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ती गयी। उदारवादियों का प्रभाव इतना बढ़ गया कि स्तालिनवादी नीति पर चलने वाले अनेक अधिकारियों को पद त्याग करना पड़ा। जनवरी १९६८ में अलेक्जेण्डर दुबचेक साम्यवादी दल के महामन्त्री बने जिनके नेतृत्व में चेकोस्लोवाकिया के साम्यवादी दल ने समाजवादी लोकतन्त्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया और उदारवाद के पक्ष में अनेक सुधार प्रस्तावित किये जो सोवियत समाजवादी व्यवस्था से मेल नहीं खाते थे।

सोवियत रूस को चेकोस्लोवाकिया में उदारवाद की यह प्रवृत्ति पसन्द नहीं आयी। उसने पहले तो इस प्रवृत्ति का धीरे-धीरे विरोध किया, किन्तु बाद में उसका रुख कठोर होता गया। जब चेकोस्लोवाकिया के सुधारवादी नेताओं ने रूसी नाराजी की कोई परवाह नहीं की और एक पूर्ण प्रभुत्व-

सम्पन्न राष्ट्र के रूप में अपनी स्वतन्त्र नीति पर चलने का निश्चय किया तो सोवियत रूस ने चेकास्लोवाकिया में हस्तक्षेप करने का दुर्भाग्यपूर्ण निश्चय कर लिया। रूस ने वारसा पैक्ट के अन्य सदस्यों हंगरी, पूर्वी जर्मनी, पौलेण्ड और बलगेरिया के साथ २१ अगस्त, १९६८ की रात्रि को अचानक ही चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर दिया और कुछ ही घन्टों में राजधानी प्राग सहित सभी बड़े नगरों पर अधिकार कर लिया गया। चेकोस्लोवाकिया ने रूसी सैनिक शक्ति से न टकराने में ही भला समझा। पारस्परिक वार्ता चलती रही और अन्त में रूसी दबाव के समक्ष चेकोस्लोवाकिया को झुकना पड़ा। चेक नेताओं ने यह मान लिया कि चेकोस्लोवाकिया में समाजवाद को सुदृढ़ बनाने के लिए आवश्यक कदम उठाये जायेंगे। धीरे-धीरे स्थिति सामान्य होने पर ११–१२ सितम्बर १९६८ तक राजधानी प्राग से सोवियत टैंक सेनायें लौट गयी। लेकिन इस वापसी की भारी कीमत चेक जनता को चुकानी पड़ी। प्रेस की स्वतन्त्रता पर कठोर प्रतिबन्ध लग गया, नये राजनीतिक दलों के निर्माण पर अंकुश लगा दिया गया और सैंसरशिप स्थापित कर दी गयी। अप्रैल, १९६९ में दुबचेक को चेक साम्यवादी दल के प्रथम सचिव के पद से हटना पड़ा और उनका स्थान रूसी विचारधारा के प्रबल समर्थक डा० गुस्ताव हुसाक ने लिया। इस प्रकार चेकोस्लोवाकिया में पुन: ऐसा दलीय मंत्र और शासन मंत्र स्थापित कर दिया गया जो रूस का पिछलग्गू बना रहे। चेकोस्लोवाकिया काण्ड संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् में भी गूंजा और सोवियत संघ की इस कार्यवाही के प्रति पश्चिमी देशों ने निंदा प्रस्ताव रखा जिसे रूस ने १०५वीं बार अपने वीटो का प्रयोग करके रद्द कर दिया।

अरब इजरायल युद्ध और सोवियत संघ—प्रारम्भ में रूस का रवैया इजरायल समर्थक था लेकिन बाद में अरब समर्थक बन गया क्योंकि रूस ने अनुभव किया कि मध्यपूर्व के अरब राज्यों में समाजवादी क्रान्ति लायी जा सकती है और रूसी प्रभाव बढ़ाया जा सकता है। रूस ने पहले तो अरबों को नैतिक समर्थन देना शुरू किया और बाद में सैनिक सहायता के द्वार भी खोल दिये। १९५५ के बाद से ही अरब राज्यों को भारी मात्रा में सोवियत सैनिक सामग्री पहुंचने लगी। १९५६ के स्वेज संकट के समय सोवियत संघ ने अरबों को पूर्ण समर्थन दिया।

जून १९६७ में पुन: अरब इजरायल संघर्ष भड़क उठा। इस बार भी सोवियत संघ ने अरब राज्यों का खुलकर समर्थन किया। सोवियत रूस अरबों के पक्ष में विश्व युद्ध का खतरा उठाने तक के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि अमरीका उसके साथी इजरायल का पक्ष लेकर युद्ध में कूद पड़े। पर

चूँकि पश्चिमी राष्ट्र सैनिक हस्तक्षेप से दूर रहे, अतः इजरायल के हाथों अरब राष्ट्रों को पिटते देखकर भी रूस ने सक्रिय हस्तक्षेप नहीं किया।

सोवियत संघ ने यद्यपि युद्ध क्षेत्र में अरबों को सक्रिय सहयोग नहीं दिया, लेकिन उनके असंतोष को दूर करने के लिए एक ओर तो सुरक्षा परिषद् में और बाहर भी इजरायल के विरुद्ध जबरदस्त कूटनीतिक युद्ध छेड़ दिया और दूसरी ओर अरबों को विपुल सैनिक सहायता दी। उसने इजरायल के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भी तोड़ लिये। अरब राज्यों में अपनी साख बनाये रखने के लिए जून १९६७ में सोवियत राष्ट्रपति स्वयं काहिरा गये और बाद में संयुक्त अरब गणराज्य को आधुनिकतम रूसी शस्त्रास्त्र मिलने लगे। सितम्बर १९६८ में रूस ने अपनी एक शांति योजना रखी जिसमें निम्नलिखित बातें प्रस्तावित की गयीं :—

(i) शांति कायम रखने के लिए सीमाओं पर सुदृढ़ संयुक्त राष्ट्रीय व्यवस्था की जाए।

(ii) इजरायली सेनायें जून १९६७ से पहले की सीमाओं पर लौट जाएं।

(iii) दोनों पक्षों के चार बड़े देश (अमरीका, फ्रांस, ब्रिटेन, और सोवियत संघ) दोनों पक्षों के बीच युद्ध को पुनः प्रारम्भ न होने दें।

(iv) अरब राष्ट्र भी इजरायल के विरुद्ध युद्ध की स्थिति समाप्त करदें।

सोवियत संघ का यह उचित प्रस्ताव इजरायल और उसके समर्थक देशों को मान्य नहीं हुआ। ३ अप्रैल १९६९ को पश्चिमी एशिया के लिए न्यूयार्क में अमेरिका, फ्रांस और रूस का सम्मेलन हुआ जिसमें रूस ने अरब राज्यों का पूर्ण पक्ष लिया। सम्मेलन का कोई परिणाम न निकल सका। पश्चिमी एशिया का यह संकट आज भी जारी है। सोवियत संघ की पूर्ण सहानुभूति अरब राज्यों के साथ है। कूटनीतिक स्तर पर वह उन्हें पूर्ण समर्थन दे रहा है और सैनिक स्तर पर उन्हें शस्त्रास्त्र की भारी मदद दे रहा है। रूसी सहायता के बल पर ही अरब राज्य न केवल युद्ध में विनष्ट अपनी शक्ति को ही पुनः प्राप्त कर सके हैं बल्कि वे पहले से भी अधिक सैनिक शक्ति सम्पन्न हो गये हैं।

सोवियत संघ और चीन

साम्यवादी जगत के इन दो महारथियों के आपसी सम्बन्धों का उल्लेख 'रूसी चीनी संघर्ष' नामक एक अगले अध्याय में सविस्तार किया है। यहां केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि प्रारम्भ में इन दोनों महान् राष्ट्रों

मे बडे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे लेकिन आज विश्व नेतृत्व के लिए दोनों में भारी होड लगी हुई है। दोनों देशों मे सैद्धान्तिक संघर्ष तो छिड़ा हुआ है ही, लेकिन सीमा विवाद भी बड़ा गहरा है और कभी कभी सैनिक झड़प भी होने लगी हैं।

सोवियत विदेशी नीति का मूल्यांकन

सोवियत संघ के द्वितीय महायुद्ध के बाद के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी उतार चढाव के रहे हैं। विदेश नीति के क्षेत्र मे सोवियत संघ की नीति समय समय पर बदलती रही है। अतः न तो सोवियत विदेश नीति के बारे मे कोई निश्चित भविष्यवाणी ही की जा सकती है और न निश्चित अनुमान ही लगाया जा सकता है। सोवियत विदेश नीति के कुछ सैनिक हित हैं जो सम्भवत किसी समय से बचे हुए नहीं हैं। स्टालिन काल के बाद रूस ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का नारा बुलन्द किया है, लेकिन उसके इरादों की नेक नियती पर विश्वास करने के सम्बन्ध में विद्वानों और कुशल प्रेक्षकों के बीच घोर मतभेद है। अनेक आलोचकों का कहना है कि सोवियत चालबाजी और इसके हथियार बदलते रहते हैं। रूस का सह अस्तित्व का नारा भी एक ढोंग है जो तटस्थ राष्ट्रों को अपना समर्थक बनाने के लिए रचा गया है।' रूस की विदेश नीति में एक प्रकार का लचीलापन रहता है और इसके व्यवहार पर कोई एक मात्र कठोर व्याख्या नहीं दी जा सकती। आलोचक अपने पक्ष में उदाहरण देते हैं कि जो रूस प्रारम्भ में इजराइल का समर्थक था वही अरब राज्यों में अपना प्रभाव को बढाने की दृष्टि से और साम्यवाद का प्रसार करने के लिए इजराइल का विरोधी बन गया है। इसी तरह भारत और पाकिस्तान के प्रति भी इसी रवैया बहुत बदल गया है। पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा फौजी सहायता देने के विरोध मे जो रूस कभी तूफान खड़ा करता था वही अब स्वयं उसे सैनिक सहायता देने को तत्पर है। अपने पुराने और विश्वस्त मित्र भारत की आशाओं का महत्व उसके लिए पहले जैसा नहीं रहा है। चेकोस्लोवाकिया जैसे निर्बल और असहाय देश पर अपना नग्न आक्रमण करके रूस ने सहअस्तित्व के सिद्धान्त का जो निश्चय दिया है वह कुछ अजीब है।

इस प्रकार की आलोचनाओं के प्रत्युत्तर मे कुछ अन्य समीक्षक यह विश्वास प्रकट करते हैं कि विश्व क्रांति मे रूस का उत्साह मन्द पड गया है। सोवियत संघ में उदारवादी प्रभाव बढ़ता जा रहा है। सोवियत रूस अपनी विदेश नीति का निर्धारण कठोर साम्यवादी सिद्धान्त के आधार पर नहीं बल्कि वस्तु स्थिति पर आधारित करता जा रहा है। रूस अब व्यावहारिक दृष्टि से शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की बात करने और सोचने लगा है।

यह समझता है कि कोई भी महायुद्ध विजेता और विजित के लिए समान रूप से विनाशकारी सिद्ध होगा।

सोवियत विदेश नीति के सम्बन्ध में बदलते हुए स्वरूपों के कारण कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। वास्तव में जान रेशेतर (John Reshekar) का यह निष्कर्ष ठीक ही है कि सोवियत नेता क्या कैसा व्यवहार कर बैठेंगे इसका कोई निश्चित अनुमान नहीं लगाया जा सकता। केवल यही कहा जा सकता है कि वे अपने लाभों को अधिक से अधिक बनाना चाहेंगे और उसके लिए कम से कम जोखिम उठाना पसन्द करेंगे। सोवियत विदेश नीति में परिवर्तन की सम्भावनाओं और स्रोतों का एक मूल्यवान विश्लेषण एलेक्स इन्केलेस (Alex Inkeles) ने किया है। उनके अनुसार सोवियत विदेश नीति में यदि कोई परिवर्तन आया तो वह तीन मुख्य स्रोतों से आ सकता है—

पहली सम्भावना तो यह है कि सोवियत रूस में उत्तराधिकार के संकट की समस्या कभी भी नहीं सुलझायी जा सकती। जब कभी भी शीर्ष पर शक्ति [illegible] लिए खुले रूप से संघर्ष होता है तो यह सम्भावना बनी रहती है कि नया नेतृत्व पुरानी व्यवस्था को समाप्त कर देगा। इस प्रकार के संघर्षों के जो अब तक परिणाम निकलते रहे हैं उनसे यह आशा की जाती है कि रूस प्रजातन्त्र की दिशा में कुछ आगे बढ़े।

दूसरी सम्भावना यह है कि सोवियत अधिराज्यों का साम्राज्य सम्भवतः छलक जाए। हंगरी में क्रान्ति हो चुकी है, युगोस्लाविया रूसी पंजे से निकल रहा है और अब चैकोस्लोवाकिया में उदारतावाद ने सिर उठाया है। इन बातों से यह आशा की जाती है कि सोवियत संघ प्रजातन्त्र की दिशा में जाने की अपेक्षा अधिकाधिक सम्पूर्णतावाद या सर्वाधिकार की ओर अग्रसर होगा।

तीसरी सम्भावना यह है कि औद्योगिक दृष्टि से परिपक्व सोवियत रूस का सामाजिक ढांचा अब तानाशाही में नहीं रह सकेगा। रूस के सामाजिक जीवन में परिवर्तन होगा। ये परिवर्तन सोवियत समाज के प्रजातन्त्रीकरण और सोवियत विदेश नीति में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करेंगे। यह कहा जाता है कि महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हो जाने पर भी रूस में तानाशाही बनी हुई है। किन्तु इसका कारण यही है कि वहां के नेता वर्तमान परिस्थितियों से पुराने तत्वों का सामञ्जस्य कर लेते हैं। फिर भी एक स्थिति ऐसी आयेगी जब इस प्रकार का सामञ्जस्य पूरी तरह से असम्भव बन जायेगा।

यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि उपर्युक्त तीनों ही तत्वों और संभावनाओं पर सोवियत संघ की विदेशी नीति का भावी रूप बहुत कुछ अवलम्बित है।

१३

संयुक्त राज्य अमेरिका का उदय और उसकी विदेश नीति

(RISE OF U S A AND ITS FOREIGN POLICY)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का एक महानतम प्रजातान्त्रिक राष्ट्र है जिसकी विदेश नीति की प्रकृति एवं व्यवहार का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की आरम्भिक विदेश नीति के मुख्य आधार दो थे—पार्थक्य (Isolation) और मुनरो सिद्धान्त (Munroe Doctrine)।

पार्थक्य की नीति—संयुक्त राज्य अमेरिका का एक राष्ट्र के रूप में जन्म १७७६ के अमेरिकन स्वातन्त्र्य संग्राम के फलस्वरूप हुआ था। अपने जन्मकाल की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से मजबूर हो कर अमेरिका के इस नये गणतन्त्र को तटस्थता और पार्थक्यवाद की नीति का सहारा लेना पड़ा। १७९७ में प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन ने अपने विदाई-भाषण में पार्थक्य नीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"विदेशों के सम्बन्ध में हमारे व्यवहार का महान् नियम यह है कि हम उनके साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखें किन्तु राजनीतिक सम्बन्ध यथासम्भव कम से कम रखें। ...... हमारी सच्ची नीति यह है कि हम विदेशी जगत के किसी भी अंश के साथ स्थायी सन्धियां न करें।" चूंकि अमेरिका यूरोप के झगड़ों से बिल्कुल पृथक और तटस्थ रह कर अपनी उन्नति करना चाहता था, इसीलिए उसकी नीति को पार्थक्य-वादी कह कर सम्बोधित किया गया। इस सन्दर्भ में यह ध्यान देने योग्य

बात है कि अमेरिका का यह पार्थक्य केवल यूरोप के मामलों तक ही था उसने पश्चिमी गोलार्द्ध के अन्य अमेरिकन राज्यों के बारे में पार्थक्य की नीति का कभी अनुसरण नहीं किया, और न ही एशिया के सम्बन्ध में वह इस नीति को व्यवहार में लाया। उदाहरण के लिए, १८१४ में अमेरिकन नौसेना ने जापान को अपनी परम्परागत पार्थक्यवादी नीति का परित्याग करने को बाध्य किया तो १६०० में चीन के बाक्सर विद्रोह में अमेरिकन सेनाओं का हस्तक्षेप हुआ तथा सुदूरपूर्व के मामलों में अमेरिका ने गहरी दिलचस्पी प्रकट की। इस दृष्टि से शूमैन का यह लिखना ठीक ही है कि "वास्तविक राजनीति की परिभाषा में पार्थक्यवाद तथा इस पर आधारित अहस्तक्षेप और संघर्षों में न उलझने द्वारा सुरक्षा पाने की नीति का वस्तुतः कभी अस्तित्व नहीं रहा।"

तटस्थता और पार्थक्य की अमेरिकन नीति को सिद्धान्त रूप में राष्ट्रपति जेफरसन (Jefferson) ने १८०१ में इस प्रकार किया—"शान्तिपूर्ण व्यापार सब के साथ, पर झगड़ा पैदा करने वाले सन्धि-बन्ध किसी के साथ भी नहीं।" इसका आशय यही था कि अमेरिका यूरोपीय देशों के साथ व्यापार करे लेकिन यूरोपीय राजनीति के फन्दे में नहीं फंसे।

मुनरो सिद्धान्त—१८२३ में मुनरो सिद्धान्त के प्रतिपादन से अमेरिकन विदेश नीति के इतिहास में एक दूसरा अध्याय शुरू हुआ। १८२३ में जब प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस के "पवित्र संघ" ने स्पेन में निरंकुश शासन के विरुद्ध हुई क्रान्ति को कुचलने के बाद स्पेन के दक्षिण-अमरीका के उपनिवेशों में मैड्रिड के विरुद्ध हुए स्वातन्त्र्य आन्दोलनों को दबाना चाहा तो २ दिसम्बर, १८२३ को तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति मुनरो ने यूरोपीय राज्यों को अमेरिकन महाद्वीप के मामलों में हस्तक्षेप न करने की चेतावनी देते हुए यह ऐतिहासिक घोषणा की कि—

१. "हम यह जता देना चाहते हैं कि यूरोपियन शक्तियों के युद्धों में हमने कभी कोई भाग नहीं लिया और न कभी भाग लेने का हमारा विचार है, हम इनसे सर्वथा पृथक रहे हैं,"

२. "हम अपनी शान्ति और सुख की दृष्टि से अमेरिका के किसी भी भाग में यूरोपीय शक्तियों की राजनीतिक सत्ता का विस्तार नहीं होने देंगे और दक्षिणी अमेरिका के गणराज्यों की स्वतन्त्रता में किसी हस्तक्षेप को सहन नहीं करेंगे," एवं,

३. "अमेरिकन महाद्वीप का प्रदेश भविष्य में यूरोपियन शक्तियों द्वारा उपनिवेशन (Colonisation) का क्षेत्र नहीं बनाया जा सकेगा।"

राष्ट्रपति मुनरो ने यह स्पष्ट कर दिया कि यदि किसी यूरोपीय राष्ट्र द्वारा अपनी प्रणाली को अमेरिकन गोलार्द्ध में फैलाने का प्रयत्न किया गया तो संयुक्त राज्य अमेरिका उसे पूर्णतः अमैत्रीपूर्ण कार्यवाही समझेगा। स्पष्टतः मुनरो सिद्धान्त यूरोपियन राज्यों को एक चेतावनी थी कि वे अमेरिकन महाद्वीपों में साम्राज्यवादी चेष्टाओं से दूर रहें। साथ ही यह एक आश्वासन भी था कि अमेरिका भी यूरोपीय झगड़ों से अलग रहेगा। दूसरे शब्दों में, मुनरो सिद्धान्त का अर्थ था "तुम पृथक रहो, हम भी पृथक रहेंगे।"

मुनरो सिद्धान्त १८२३ में अपने प्रतिपादन से लेकर प्रथम महायुद्ध तक पार्थक्यवादी नीति के साथ-साथ सुचारु रूप से चलता रहा। परन्तु, १९१४ में प्रथम महायुद्ध का समारम्भ हो जाने पर संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए परम्परागत पार्थक्यवादी नीति पर चलते रहना सम्भव न रहा। ४ सितम्बर, १९१४ को विल्सन ने कांग्रेस के समक्ष कहा, "हमारा इस युद्ध में कोई भाग नहीं, किन्तु इसके बिल की अदायगी हमें करनी पड़ेगी।" विल्सन का यह वक्तव्य एकदम सत्य और मानो की चेतावनी जैसा प्रमाणित हुआ। अमेरिका महायुद्ध से किसी भी रूप में अप्रभावित नहीं रह सकता था। "अमेरिकन जन संख्या में प्रत्येक वर्गीय दल के प्रतिनिधि शामिल थे, इनके दल युद्ध से ग्रस्त थे, अतः उनके उद्देश्य स्वाभाविक रूप से उत्तेजित हुए। इसके अतिरिक्त अमेरिका का व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्ध यूरोप के प्रत्येक राष्ट्र से था और विशेष रूप से वह जर्मनी की अपेक्षा सम्बन्धित था।"

महायुद्ध में अमेरिका प्रारम्भ में तो किसी प्रकार तटस्थ बना रहा, लेकिन शीघ्र ही १९१५ के मध्य उसे युद्ध क्षेत्र में कूदना पड़ गया। हुआ यह कि मित्र राष्ट्रों के आर्थिक अवरोध (Economic Blockade) को तोड़ने के लिए जर्मन पनडुब्बियों ने मित्र राष्ट्रीय जहाजों को डुबोना शुरू किया। मई में एक अमेरिकन तेलवाहक जहाज पर आक्रमण हुआ और इसके ६ दिन बाद ही एक निःशस्त्र जहाज जो न्यूयार्क में सैनिक सामग्री ला रहा था, डुबो दिया गया जिसके फलस्वरूप १२८ अमेरिकनों सहित लगभग १२०० व्यक्तियों की हत्या हुई। २४ मार्च १९१६ को एक दस्त रहित मैच चैनल स्टीमर पर बिना चेतावनी के जर्मन पनडुब्बी द्वारा प्रहार किया गया और कितने ही अमेरिकनों के जीवन को क्षति पहुँचाई गई। इन काल में अमेरिका समुद्री की स्वतन्त्रता (Freedom of Seas) तथा तटस्थ देशों के अधिकारों (Neutral Rights) पर बड़ा बल देता रहा।

जर्मनी द्वारा समुद्री आक्रमणों की इन दुष्कृतों ने अमेरिकन राष्ट्र को एक बारगी ही झकझोर दिया और अमेरिकन सरकार कोई दृढ़ रुख अपनाने

के निश्चय की ओर अग्रसर होने लगी। इस समय अमेरिकन पूंजीपति मित्र राष्ट्रों की सरकारों को भारी कर्ज दे रहे थे तथा बहुत बड़े मुनाफे के साथ उन्हें शस्त्रास्त्र एवं अन्य उपयोगी सामग्री बेच रहे थे। मित्र राष्ट्रों की पराजय का अर्थ इनका दिवालिया होना था, अत: इस स्थिति से भी अमेरिकन सरकार और जनता विशेष चिंतित होने लगी। अमेरिका का हित मित्रराष्ट्रों की विजय में सन्निहित था। जर्मनी की विजय से अमेरिका को न केवल भीषण आर्थिक क्षति होती अपितु इससे यूरोप का शक्ति सन्तुलन बिगड़ने की तथा यूरोपियन महाद्वीप सहित सम्पूर्ण विश्व में जर्मनी के हावी होने की और अमेरिकन सुरक्षा को संकट उत्पन्न होने की आशंका थी। इन सब राष्ट्रीय स्वार्थों ने अमेरिका में इस निश्चय को परिपक्व किया कि मित्र राष्ट्रों की विजय होनी ही चाहिए। अतः इस पक्ष को न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिए जनता से यह कहा जाने लगा कि जर्मनी में निरंकुश शासन है और मित्र राष्ट्र लोकतन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं तथा उनकी सहायता करना अमेरिकन लोकतन्त्र का पवित्र कर्तव्य है।

इसी समय ३१ जनवरी १९१७ को जर्मनी ने घोषणा की कि ब्रिटिश को दण्डित को समूल नष्ट कर देने के लिए ब्रिटिश द्वीप समूह, फ्रांस और इटली के निकट आने वाले प्रत्येक जहाज को जर्मनी "बिना किसी चेतावनी के" सब उपायों से डुबो देगा। इस घोषणा ने सम्पूर्ण अमेरिकन राष्ट्र को क्षुब्ध कर दिया। ३ फरवरी १९१७ को राष्ट्रपति विल्सन ने जर्मनी से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिये। १ अप्रैल १९१७ तक ८ अमेरिकन जहाज डुबो दिये गये। अमेरिकावासियों का क्रोध अपनी सीमा लांघ गया और ६ अप्रैल १९१७ को अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार १७९३ से चलती आ रही पार्थक्यवादी एवं तटस्थतावादी अमेरिकन नीति का पहली बार सम्पूर्ण रूप से परित्याग हुआ।

अमेरिका ने बड़े ही संकटपूर्ण काल में मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध-प्रवेश किया। अमेरिकन सैन्य शक्ति ने युद्ध का पासा पलट कर जर्मनी की भीषण पराजय को निश्चित बना दिया। "तटस्थता की नीति अमेरिकन स्वार्थों की रक्षा में असमर्थ सिद्ध हुई थी, अतः पार्थक्य के स्थान पर यूरोपीय महासमर में भाग लेने की नीति अपनाई गई" जिसके फलस्वरूप विजयी जर्मनी पराजित जर्मनी में बदल गया और ११ नवम्बर १९१८ को जर्मनी ने बिना शर्त आत्मसमर्पण करते हुए विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये।

दो महायुद्धों के बीच अमेरीका
(America between Two World Wars)

अमरीकी सहायता के बल पर प्रथम महा युद्ध में मित्र राष्ट्रों ने विजय

पादी जिससे अमेरिका की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग गये। राष्ट्रपति विल्सन ने मत प्रकट किया कि महायुद्ध में उलझने के बाद अब अमेरिका की पार्थक्य-वाद की नीति समाप्त हो गयी है तथा अमेरिका की नीति के इस मूलभूत परिवर्तन का कोई विकल्प नहीं है। ६ सितम्बर १९१९ को अपने एक भाषण में उन्होंने बताया कि 'संयुक्त राज्य अमेरिका के पार्थक्य का केवल इसीलिए अन्त नहीं हुआ है कि हमने विश्व राजनीति में भाग लेना पसन्द किया है वरन् इसलिए हुआ है कि अमेरिकी जनता की योग्यता और हमारी शक्ति के विकास के कारण हम मानव जाति के इतिहास में निर्णायक तत्व बन गये हैं। ऐसी स्थिति में आप चाहें या न चाहें, पृथक नहीं रह सकते।"

अमरीकी जनता की प्रतिक्रिया को देखकर राष्ट्रपति विल्सन को यह पूरा-पूरा भरोसा हो चला था कि वार्साय की सन्धि को तथा राष्ट्रसंघ की सदस्यता को उसका देश स्वीकार कर लेगा। किन्तु जब रिपब्लिकन पार्टी से प्रभावित सीनेट ने विल्सन-विरोधी रुख अपनाया तो न केवल राष्ट्रसंघ का ही बहिष्कार किया गया वरन् जर्मनी की हार से उत्पन्न किसी भी राजनैतिक एवं आर्थिक समस्या को सुलझाने के लिए किये जाने वाले सामूहिक प्रयास का भी विरोध किया गया। जब अमरीका की सदस्यता पर राष्ट्रसंघ में विचार किया जा रहा था अधिकांश सदस्यों का विचार यह था कि युद्ध समाप्त हो जाने के बाद संयुक्त राज्य अमरीका को १९१३-१४ की स्थिति में हो आ जाना चाहिए जहां से कि वह चला है। उसे अपनी पहले वाली पार्थक्य नीति को अपना लेना चाहिए। अन्तर्देशीय घटनाओं ने भी इस प्रक्रिया पर प्रभाव डाला। सन् १९१९ का वर्ष संयुक्त राज्य अमरीका के इतिहास में महत्वपूर्ण है क्योंकि इसमें घातक आर्थिक मन्दी आई, हिंसात्मक तथा अव्यवस्थापूर्ण औद्योगिक आन्दोलन किये गये, आधे दर्जन के करीब राज्यों में जाति के आधार पर रक्तपूर्ण दंगे हुए। इन सबके कारण उत्पन्न अशान्ति एवं अव्यवस्था में यह डर होने लगा था कि कहीं बोल्शेविक क्रान्ति यहां भी न दुहरा दी जाये। इन सभी समस्याओं को समाचार पत्रों में मुख्य स्थान दिया गया तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का महत्व कम हो गया। राष्ट्रसंघ की सदस्यता के समर्थक जनमत को इन समस्याओं द्वारा उलट दिया गया।

युद्धकालीन आदर्शवाद का किला टूट चुका था तथा यह आशंका की जाती थी कि यदि संयुक्त राज्य अमरीका राष्ट्रसंघ का सदस्य बन भी गया तो क्या फायदा होगा। लड़ाई से लौटने वाले सैनिकों को जो अनुभव प्राप्त हुए उनका वांछित लक्ष्यों से बहुत कम सम्बन्ध था। उत्तरी फ्रांस के रक्तपूर्ण क्षेत्रों पर जो व्यापक संहार हुआ उसे स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र के

लिए किये जाने वाले युद्ध की मान्यता से नहीं जोड़ा जा सकता था। इन कठोर अनुभवों के कारण युद्ध से लौटने वालों का यह विचार था कि अब संयुक्त राज्य अमरीका को युद्ध में फंसने से यथासम्भव बचना चाहिए। यदि संयुक्त राज्य अमरीका राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया तो निश्चय ही वह कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता की परम्परागत नीति से वंचित हो जायेगा। वार्साय की सन्धि को स्वीकार करने के लिए कुछ शर्तों की व्यवस्था का लॉज (Lodge) द्वारा समर्थन किया गया। किन्तु बोरा (Borah) का मत था कि राष्ट्रसंघ में अमरीकी सदस्यता जैसे विषय पर कोई शर्त लगाना महत्वहीन है। इस प्रकार का कदम या तो मौलिक रूप से सही है अथवा गलत है। संयुक्त राज्य अमरीका को राष्ट्रसंघ की सदस्यता का या तो पूरा उत्तरदायित्व सम्भालना चाहिए अथवा इस प्रकार के उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर देना चाहिए।

राष्ट्रपति विल्सन ने अपने अनेक भाषणों द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि संयुक्त राज्य अमरीका के पूर्ण योगदान से युक्त प्रभाव पूर्ण राष्ट्रसंघ के बिना संसार पुन. एक बार युद्ध के गर्त में गिर जायेगा। उसके तर्कों का रूप अब भी आदर्शवादी था, वह राष्ट्रसंघ की सदस्यता राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टि से नहीं वरन् एक नयी विश्व व्यवस्था की दृष्टि से चाहता था। विल्सन ने जो भी तर्क एवं विचार प्रस्तुत किये वे आदर्श के रूप में तो प्रशंसनीय थे किन्तु उनके द्वारा अव्यावहारिक, संकीर्ण, स्वार्थी एवं कठोर पार्थक्यवादियों के विरोध का जवाब न दिया जा सका। फोस्टर डलेस का कहना है कि "वह अपने शत्रुओं से उनके अपने स्तर पर ही बात नहीं करना चाहता था क्योंकि वह उनसे बहुत ऊँचा उठ चुका था।"

अन्त में वार्साय सन्धि को अस्वीकार कर दिया गया। रिपब्लिकन मतदाताओं ने हार्डिंग (Harding) को अपना राष्ट्रपति चुना। हार्डिंग ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि संयुक्त राज्य अमरीका दूसरे राष्ट्रों के साथ विचार करने के लिए तथा सम्मेलन करने के लिए सदैव तैयार रहेगा। वह विश्व में निःशस्त्रीकरण की स्थापना का प्रयास करेगा तथा पंच-फैसले एवं मध्यस्थता को प्रोत्साहन देगा। इन सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए जो भी समझौते किये जायेंगे वे राष्ट्रीय सम्प्रभुता को ध्यान में रख कर किये जायेंगे न कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय विश्व संस्था द्वारा। हार्डिंग ने यह स्वीकार किया कि संयुक्त राज्य अमरीका को विश्व में एक नया स्थान प्राप्त हुआ है किन्तु उसके मतानुसार राष्ट्रवाद को ताक पर रख कर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की नीति अपनाना उचित नहीं है। वार्साय की सन्धि पर स्वीकृति प्राप्त न

करने के कारण विलसन को गम्भीर आघात लगा और निराशा भरे शब्दों मे उसने यह कहा कि अमरीकी जनता अपने कडवे अनुभवो के बाद यह सीखेगी जो उसने अभी खो दिया है। हमें विश्व का नेतृत्व करने का अवसर प्राप्त हुआ था किन्तु हमने इसे खो दिया तथा शीघ्र ही हमें इन सबका दुष्परिणाम ज्ञात हो जायेगा।

यद्यपि प्रथम विश्व युद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमरीका ने पार्थक्य की नीति को ग्रहण कर लिया किन्तु तो भी इसके कारण उसका प्रभाव विश्व राजनीति में अधिक कम न हुआ। यह जरूर है कि यदि उसने सक्रिय रूप में भाग लिया होता तो सम्भवतः उसका प्रभाव और भी अधिक हो जाता। राष्ट्रपति विल्सन द्वारा यद्यपि आदर्शवादी भाषा में बात की जाती थी किन्तु वह भी राष्ट्रीय प्रभाव की भौतिक उपलब्धियों के प्रति अचेत न था। पेरिस के शान्ति सम्मेलन में उनका यह विश्वास था कि अब योरोप के देश उसके नेतृत्व को स्वीकार कर लेंगे। राष्ट्रसंघ में अमरीका को वह एक वरिष्ठ भागीदार के रूप में शामिल करना चाहता था। विलसन के कथनानुसार वित्तीय नेतृत्व हमारा होगा औद्योगिक प्रधानता हमारी होगी व व्यापारिक लाभ भी हमको ही प्राप्त होगा। दुनिया के दूसरे देश हमारी ओर निर्देशन तथा नेतृत्व के लिए देख रहे हैं। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा इस समय शक्ति सन्तुलन कर्ता का कार्य किया जा रहा था।

अमरीका की शक्ति अनेक तत्वों पर आधारित थी जैसे प्राकृतिक साधन औद्योगिक तकनीकी के तरीके उद्यमी एवं साहसी जनता की गत्यात्मक प्रकृति आदि। केवल यही सब कुछ नहीं था। युद्ध के समय की माग के कारण उत्पादन एवं आविष्कार की गति पर्याप्त तेज हो गई थी। विश्व व्यापी व्यापार की व्यवस्था के कारण अमरीकी वाणिज्य को नये विदेशी बाजार स्थापित करने के अवसर एवं क्षमता मिली। विश्व की वित्तीय राजधानी लन्दन की अपेक्षा वाशिंगटन बन गयी। रेमण्ड माइकसल का विचार है कि बहुत कम लोग ही इतनी जल्दी आर्थिक प्रभुता प्राप्त करते हैं जो कि अमरीका ने १९१४ व १९१९ के बीच प्राप्त कर ली। संयुक्त राज्य अमरीका एक ऐसा देश था जिसने युद्ध में हुए अपने नुकसान की पूर्ति की और साथ ही आर्थिक प्रगति को भी आगे बढ़ाया। इसके मूल स्रोतों की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा दुनिया के कोयले का ४० प्रतिशत उत्पादित किया गया। यह मात्रा उसके निकटस्थ प्रतिद्वन्द्वी ग्रेट ब्रिटेन से दो गुनी थी। यह देश समस्त पट्रोल का लगभग ७० प्रतिशत उत्पादन करता था। अन्य कच्चे माल की दृष्टि से इसका उत्पादन व्यापक था। कुछ एक चीजों का उत्पादन

यहा नही होता था, जैसे रबड, युद्ध के लिए आवश्यक कुछ धातुयें, कॉफी, चीनी और चाय, आदि। इनके लिए वह अन्य देशो पर अवलम्बित था। सन् १९३० तक अमरीका के व्यापार और वित्त की स्थिति पर्याप्त एकीकृत बन गई। दुनिया का लगभग १६ प्रतिशत निर्यात इसके द्वारा किया जाता था। इसका औद्योगिक उत्पादन इससे भी अधिक व्यापक था।

इन सभी विकासो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राज्य अमरीका दुनिया के आर्थिक और वित्तीय मामलो मे एक प्रभावशाली योगदान कर रहा था। वह यूरोप के पुनर्निर्माण मे कर्ज और भट दे कर योगदान कर रहा था। व्यक्तिगत एव सरकारी अभिकरणों की राहत के लिए एव पुनर्रचना के लिए बहुत बड़ा धन खर्च किया जा रहा था। अमरीका द्वारा जर्मनी, फ्रान्स और इटली को उनकी साख बनाए रखने के लिए पर्याप्त मदद की गई। इसके साथ ही स्थानीय सरकार की इकाइयों को, सार्वजनिक उपयोगिताओ को एव व्यक्तिगत निगमो को कर्ज देने के लिए व्यवस्था की गई। इस देश ने पोलैण्ड में रेल रचना के लिए, यूगोस्लाविया में बदरगाह की रचना के लिए, आस्ट्रिया म गृह रचना के लिए सहायता की। मध्यपूर्व मे तैल के नए कुयें खोदने के लिए, क्यूबा मे चीनी के नए उद्यम स्थापित करने के लिए और टोकियो तथा शघाई मे सार्वजनिक उपयोगिताओं के विकास के लिए पर्याप्त खर्च किया गया।

संयुक्त राज्य अमरीका का सोवियत रूस से भी पर्याप्त आर्थिक लेन-देन रहा। वैसे अमरीका ने १९३३ तक सोवियत रूस को कूटनीतिक मान्यता प्रदान नही की किन्तु फिर भी व्यापार को नए बाजार खोजने से नही रोका जा सका। जनरल इलेक्ट्रिक ने बोल्शेविको को लाखो रुपये का बिजली का सामान दिया। यहा की तेल कम्पनियो ने रूस के साथ समझौते किए। कई कम्पनियों ने सोवियत स्वचालित उद्योगो की स्थापना मे सहायता की। अमरीकी तकनीकी सहायको ने सोवियत बान्धो की रचना मे सहयोग दिया।

संयुक्त राज्य अमरीका ने यद्यपि वार्साई की सधि और राष्ट्र संघ की सदस्यता को अस्वीकार किया किन्तु फिर भी उसने विश्व राजनीति से सन्यास नही लिया और मार्च १९३३ मे फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट के राष्ट्रपति बनने के बाद तो अमेरिकन विदेशनीति स्पष्ट रूप से पार्थक्यवाद से शनै शनै अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर उन्मुख होने लगी। यथार्थत युद्ध से अनेक कारणो वश अमेरिका की शक्ति और महत्ता बढती चली गयी। इनमे से कुछ का वर्णन उल्लेखनीय है—

(१) अमरीका के उपनिवेश
(The American Colonies)

अमरीका का क्षेत्र केवल अमरीका महाद्वीप तक ही सीमित नहीं था। अमन्त में अमरीका का एक साम्राज्य या अन्य क्षेत्रों पर इसका राजनैतिक प्रभाव था और कई पर स्वयं का शासन भी। इससे विश्व में उसका स्थान महत्वपूर्ण बना। संयुक्त राज्य अमरीका का लेटिन अमरीका के राज्यों पर दक्षिण की दिशा में और एशिया के किनारों पर पश्चिमी दिशाओं में पर्याप्त प्रभाव था। यह इस महाद्वीप में सर्वोच्च स्थिति रखता था तथा प्रशान्त महासागर तक इसका प्रभाव था। प्योर्टो रिको (Puerto Rico) संयुक्त राज्य अमरीका का प्रथम समुद्र-पार का उपनिवेश था। इसे जब से स्पेन से प्राप्त किया गया था तब से यहां स्वायत्त सरकार का विकास प्राप्त हो चुका था। व्यवस्थापिका की शक्तियां व्यापक कर दी गई और सन् १९१७ के नए अधिनियम के अनुसार एक नियुक्त परिषद की जगह निर्वाचित उच्च सदन स्थापित किया गया। यहां के नागरिकों को संयुक्त राज्य अमेरिका का नागरिक बना दिया गया और उनको अधिकार-पत्र सौंप दिया गया। सन् १९५० में यहां का नया संविधान बना और इस प्रकार इस द्वीप को पूर्णतः स्वायत्त शासन प्रदान कर दिया गया। इसके दो वर्ष बाद इसका स्तर एक स्वतन्त्र सलग्न राष्ट्र मण्डल का हो गया।

इस प्रदेश से अधिक महत्वपूर्ण वर्जिन द्वीपों (Virgin Islands) एवं पनामा नहर क्षेत्र को माना गया। वर्जिन द्वीपों को लेने के लिए अनेक असफल समझौता-वार्तायें की गयी और अन्त में उन्हें डेनमार्क से खरीद लिया गया। प्रारम्भ में इन्हें नौसेना आयोग के आधीन रखा गया और सन् १९३१ में इन्हें *अन्तरंग विभाग को सौंप दिया गया।* पनामा नहर क्षेत्र पर सन् १९०३ से अमेरिका का नियन्त्रण था और इसका प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा युद्ध विभाग के माध्यम से किया जाता था। इन प्रदेशों पर अधिकार के द्वारा कैरिबियन पर अमेरिका के नियन्त्रण ने उसकी शक्तियों को और व्यापक बना दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका का क्यूबा में एक महत्वपूर्ण सैनिक-अड्डा था तथा वह वहां भी इस देश के मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार रखता था। पनामा गणराज्य, निकारागुआ, हैटी तथा डोमीनिकन गणराज्य भी कुछ-कुछ संरक्षित राज्य की स्थिति में थे। संयुक्त राज्य अमेरिका सन् १९३० के अन्तिम काल तक इन राज्यों पर से अपने अधिकार को त्यागने के लिए तैयार हो गया।

प्रशान्त क्षेत्र में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी रक्षा के लिए एलूशियन महाद्वीपों से हवाई होते हुए पनामा नहर क्षेत्र तक एक पंक्ति को

रचना की। बाद में एलास्का (Alaska) और एल्यूसियन द्वीपों का महत्व बढ़ गया। ब्रिगेडियर-जनरल विलियम मिचैल (William Mitchell) ने सन् १९३५ में यह दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया था कि वायु शक्ति एलास्का को धरती पर सबसे अधिक महत्वपूर्ण रणकौशल का स्थान बना देगी। उसके कथनानुसार जो कोई भी एलास्का पर अधिकार रखेगा वह सारी दुनिया पर शासन करेगा।

संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रशान्त क्षेत्र के उपनिवेशों में हवाई का सम्बन्ध निकट का और गहरा था। जब से इसे स्पेन-अमेरिका के युद्ध में लिया गया था तब से इसको रणकौशल सम्बन्धी एवं आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया। अमेरिका से दूर स्थित सबसे अधिक महत्वपूर्ण एवं कष्टदायक समुद्र-पार के प्रदेशों में फीलिपाइन द्वीप समूह था। यह आशा की गई थी कि इसके द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका को प्रशान्त महा सागर में नौसैनिक एवं व्यापारिक सर्वोच्चता प्राप्त हो जाएगी किन्तु बाद में यह भावना जोर पकड़ने लगी कि आक्रमण की दशा में उसकी रक्षा नहीं की जा सकती। अनुभव ने यह प्रदर्शित किया कि पूर्वी एशिया में व्यापार के विकास की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं था। बहुत समय से संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपना यह उद्देश्य जाहिर किया कि फिलिपाइन के लोगों को यथा सम्भव स्वायत्त सरकार प्रदान करेगा और अन्त में उनको पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर देगा। सन् १९०२ के कानून के अनुसार वहाँ निर्वाचित व्यवस्थापिकाओं की स्थापना की गई तथा आने वाले वर्षों में स्वायत्त सरकार की दिशा में पर्याप्त प्रगति की गई। सन् १९१६ के जोन्स अधिनियम में यह बताया गया कि स्थायी सरकार की स्थापना होते ही यहाँ स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाएगी। फिलिपाइन के लोगों की बढ़ती हुई स्वतन्त्रता की माँग को अधिक समय तक दबाए रखना सम्भव नहीं था। हूवर प्रशासन ने फिलिपाइन को स्वतन्त्रता देने का विरोध किया क्योंकि उसके मतानुसार ये प्रदेश पूर्ण स्वायत्त सरकार के लिये तैयार नहीं [illegible] तथा दूसरे, उनको तत्काल स्वतन्त्रता दे दी गई तो प्रशान्त महा सागर में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर खतरनाक रूप से प्रभाव पड़ेगा। फिलिपाइन के सम्बन्ध में अमेरिकी नीति विरोधाभासपूर्ण थी क्योंकि एक ओर तो यहाँ के लोगों को स्वायत्त सरकार प्रदान करके स्वतन्त्रता प्राप्ति के हेतु प्रोत्साहित किया और दूसरी ओर इसके प्रति जो आर्थिक नीति अपनाई गई उसके परिणामस्वरूप यह प्रदेश अधिक से अधिक आश्रित होता गया। वैसे अमेरिका इस प्रदेश पर नियन्त्रण रखने में रुचि नहीं ले रहा था किन्तु वह नियन्त्रण को हटाना भी नहीं चाहता था। कहने का अर्थ यह है कि

यहां से पुराना राजनैतिक साम्राज्यवाद तो टूट रहा था किन्तु नए प्रकार का आर्थिक साम्राज्यवाद छा रहा था।

(२) नौसेना का विकास
(Growth of the Navy)

संयुक्त राज्य अमेरिका की शक्ति के विकास में प्रभाव डालने वाला अन्य तत्व उसकी नौसेना का विकास था। समुद्रों पर नियन्त्रण अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की दुनिया में एक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका का विकास यहां तक होना जरूरी था कि वह ग्रेट ब्रिटेन की नौसैनिक सर्वोच्चता को चुनौती दे सके। जब अमेरीका ने आर्थिक शक्ति को अपने प्रभाव का मौलिक आधार बना लिया तो यह जरूरी था कि उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए अमेरिकी नौसेना का विकास किया जाता। थ्योडोर रुजवेल्ट ने सन् १६०० में ही जो नौसेना शक्ति का विकास किया उसके कारण अमेरिका हवाई और क्यूबा आदि में अपने नौसैनिक अड्डे खोल सका तथा कैरिबियन और पूर्वी प्रशान्त महासागर पर अपना अधिकार रख सका। किन्तु दो महायुद्धों के बीच जो अमेरिकी नौसेना की स्थिति थी उसके कारण विश्व राजनीति में उसे प्रभावशील नहीं कहा जा सकता था। प्रथम विश्व युद्ध ने संयुक्त राज्य अमेरीका को नौसैनिक शक्ति बढ़ाने की ओर प्रेरित किया। सन् १६१६ के नौसेना विनियोग कानून में यह उद्देश्य बनाया गया कि नौसैनिक शक्ति का इतना विकास किया जाए जिसकी कोई प्रतियोगिता न कर सके। राष्ट्रपति विल्सन की यद्यपि नौसेना में अधिक रुचि नहीं थी किन्तु फिर भी उन्होंने उन योजनाओं को स्वीकार किया। विल्सन के परामर्शदाताओं ने भी अमरीकी नौसैनिक शक्ति पर पर्याप्त ध्यान दिया। राज्य सचिव डेनियल्स (Daniels) के कथनानुसार यदि संयुक्त राज्य अमरीका प्रजातन्त्रात्मक भावना के नेता के रूप में अपने कर्त्तव्यों को पूरा करना चाहता है तो उसे आक्रमण के विरुद्ध रक्षा के लिए अद्वितीय रूप से शक्तिशाली होना चाहिए और अत्याचारियों के विरुद्ध आक्रमण करने के लिए प्रशस्त होना चाहिए।

अमरीकी जनता का यह मत नहीं था कि जर्मन फ्लीट को नष्ट करने वाली नौसेना के देश को अपनी सुरक्षा के लिए खतरा होना चाहिए। यद्यपि प्रशान्त में जापान की शक्ति का उदय इस बात का द्योतक था कि अमरीका अपनी शक्ति को कम नहीं कर सकता। कुल मिला कर अमरीकी जनता का यह विश्वास नहीं था कि अमरीका को ग्रेट ब्रिटेन से अधिक शक्तिशाली

नौसेना रखनी चाहिए। अनेक लोगों ने सरकारी व्यय को कम करने के लिए तथा शान्तिपूर्ण नीति को अपनाने के लिए भी इन कार्यक्रमों का विरोध किया। ऐसी स्थिति में नौसैनिक प्रसार की योजनाओं पर रोक लगी और हार्डिंग प्रशासन को शस्त्रों का प्रसार रोकने के लिए वाशिंगटन सम्मेलन बुलाना पड़ा।

कुछ समय बाद यह अनुभव किया गया कि संयुक्त राज्य अमरीका अनेक दृष्टियों से एक सर्वोच्च शक्ति बन गया है और इसलिए उसे नौसेना के क्षेत्र में भी प्राथमिकता प्राप्त करनी चाहिए।

(३) अमरीकी निर्यात
(The American Exports)

सन् १९२० के दौरान अमरीकी संस्कृति को फैलाने वाले तत्त्वों में इनके द्वारा किये जाने वाला सामान, डालर, टेक्नीक और विचारों का निर्यात था। यूरोप में तथा एशिया के अनेक भागों में संयुक्त राज्य अमरीका की अनेक सामाजिक संस्थाओं ने और सांस्कृतिक मूल्यों ने विदेशों की सभ्यता एवं रहन-सहन के तरीके पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाला। अमरीका का विदेशी व्यापार बढ़ता चला गया और उसके ही अनुपात में मात्रा अधिक होती गई। सम्पूर्ण यूरोप में और ऑस्ट्रेलिया, जापान, चीन, लैटिन अमरीका तथा एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्यों में अमरीका द्वारा निर्मित अनेक चीजें जाने लगीं। इन दैनिक उपयोग की वस्तुओं ने विभिन्न देशों के रहन-सहन एवं सोचने विचारने के ढंग पर स्थायी प्रभाव डाला। जब यूरोपीय उत्पादकों को इन चीजों के आयात से प्रतिद्वन्द्विता हुई तो उन्होंने भी उत्पादन के तरीकों को संयुक्त राज्य अमरीका के अनुसार बदला। जापान अमरीकी उदाहरण से स्पष्ट प्रभावित हुआ। सोवियत रूस और अन्य देशों के लोगों ने भी इसकी बहुत सी विशेषताओं को अपनाया। इस क्षेत्र में अमरीका द्वारा जो व्यय किया गया वह वैदेशिक व्यापार की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण था।

(४) अमरीकी पर्यटक
(The American Tourists)

सन् १९२० के दौरान जिस तरह अमरीकी सामान और धन अन्य देशों में फैल गया उसी तरह अमरीकी यात्रियों की कतारें भी अनेक देशों में छा गयीं। यूरोप के प्रायः प्रत्येक भाग में उनका प्रवेश हो गया। दुनिया के दूसरे भागों में भी वे पर्याप्त मात्रा में जाने लगे। इन यात्रियों के द्वारा दूसरे राज्य को जो आर्थिक लाभ होता था उसके कारण वह इन्हें कुछ सुविधाएं उपलब्ध कराने का प्रयास करने लगा। अमरीकी नागरिकों,

विद्यार्थियों तथा अवकाश व्यतीत करने वालों, आदि के द्वारा अमरीकी संस्कृति का प्रसार किया गया। इन्होंने अमरीकी विचारों एवं परम्पराओं के प्रसार द्वारा विदेशों में संयुक्त राज्य अमरीका का सम्मान और प्रभाव बढ़ाया।

(५) अमरीकी चलचित्र
(The American Films)

विदेशों में अमरीकी संस्कृति का जो प्रभाव पड़ा उसमें अमरीकी चलचित्रों ने पर्याप्त योगदान दिया। हालीवुड को पश्चिम यूरोप के देशों में भी वैसा ही सर्वोच्च माना जाता था जैसा कि यह अपने स्वयं के देशों में था। जो लोग अमरीकी चलचित्र देखते थे उनकी यह इच्छा होती थी कि उस देश का वास्तविक जीवन भी देखा जाए जो उन्होंने पर्दे पर देखा है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि अमरीकी फिल्मों ने किस मात्रा में अपना प्रभाव डाला किन्तु फिर भी यह निश्चित है कि यह प्रभाव पर्याप्त महत्वपूर्ण रूप से हुआ जिसे कि गम्भीरतापूर्वक लिया जाना चाहिए। चलचित्रों के माध्यम से अमरीका, पेरिस और रोम, ओसलो और बर्लिन, लन्दन और मेड्रिड के मध्यम वर्गों के फैशन तथा आचार विचारों को प्रभावित करने में प्रभावशाली रहा।

सन् १९२० में अपनाई गई विदेश नीति की प्रशासकीय सुविधाओं तथा विदेशी मामलों को राष्ट्रीय शक्ति के तत्व नहीं माना जा सकता। वाणिज्य सचिव हूवर ने व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए पर्याप्त कोशिशें की व राज्य विभाग को पुनर्गठित किया गया। संयुक्त राज्य अमरीका की शक्ति एवं क्षमता को देखन के बाद रीनहोल्ड नेबर (Reinhold Niebuhr) ने यह कहा कि संयुक्त राज्य अमरीका आधुनिक सभ्यता का वास्तविक साम्राज्य बन गया है किन्तु यह शस्त्र शक्ति के आधार पर नहीं वरन् डालर के आधार पर। कुछ अमरीकी लेखकों को अपने देश के सद्गुणों पर अभिमान है। उनके कथनानुसार अमरीका की शक्ति की अपेक्षा वहां के सद्गुणों से अन्य देशों को ईर्ष्या होती है।

सन् १९३० के मध्य में संयुक्त राज्य अमरीका के सामने एक विरोधाभास पैदा हुआ। राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी रूजवेल्ट ने कांग्रेस को अपने वार्षिक सदेश में कहा कि संयुक्त राज्य अमरीका शान्ति एवं युद्ध की समस्याओं पर नैतिक दृष्टि से देखता है। केलागब्रियां सन्धि द्वारा जो पूरा कार्यक्रम स्थापित किया गया था उसे अनुचित माना गया। इस काल के बड़े देश तलवार के कानून को ही महत्व देने लगे थे और इस प्रकार उनके विश्वास की गति

विपरीत दिशा मे जा रही थी। ऐसी स्थिति मे सभी अन्तर्राष्ट्रीय झगडों का शान्तिपूर्ण निपटारा कठिन बन गया। समस्या यह थी कि क्या संयुक्तराज्य अमरीका को शान्तिप्रिय एव युद्ध प्रिय राष्ट्रों के बीच एक समझौते पूर्ण दृष्टिकोण का विकास करना चाहिए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग स्थापना के कार्य से अपना हाथ खीच कर केवल स्वय की सुरक्षा एव शान्ति के लिए प्रयास करना चाहिए ? क्या उसे अन्य राष्ट्रों के विवादों म एक तटस्थ दर्शक का ही काम करना चाहिए ?

एक अन्य विकास ने इस समस्या को और भी अधिक गम्भीर बना दिया। सन् १६२० की दुनिया म जो परिस्थितिया थी उनमे प्रजातन्त्र अपक्षाकृत सुरक्षित था। उस समय तक फासीवाद एक गम्भीर चुनौती का रूप धारण नही कर पाया था। साथ ही साम्यवाद के पीछे भी इतनी सैनिक शक्ति नही थी। इस वातावरण मे रह कर सयुक्त राज्य अमरीका के नेता अपनी विदेश नीति के शान्तिवाद पर जोर देते थे और वहा की जनता को यह विश्वास हो गया था कि इस देश को अब कभी भी हथियार उठाने की आवश्यकता नही पडेगी। किन्तु सन् १६३० के समय से फासीवाद की कई एक जगह विजय प्राप्त हो चुकी थी तथा अन्य प्रदेशो मे तानाशाही शासको का विकास हो गया था। इससे वहा के विचारो मे पर्याप्त परिवर्तन आया तथा सयुक्त राज्य अमरीका को भी अपनी नीति के व्यापक लक्ष्यो पर विचार करना पडा। अब समार सम्पूर्णतावाद के खतरे मे पड चुका था और यह असम्भव था कि सयुक्त राज्य अमरीका इस विकास से आख मूद ले।

सयुक्त राज्य अमरीका के नेताओ का अब यह विश्वास हो चला था कि तटस्थता एव पार्थक्य का अब कोई महत्व नही रह गया है। राज्य सचिव हल (Hull) का कहना था कि पार्थक्यवाद कभी भी सुरक्षा का साधन नही बन सकता वरन् यह तो असुरक्षा का एक फलदायक स्रोत है।[1] इधर योरोप की घटनायें बद से बदतर होती जा रही थी। हिटलर जर्मनी को एकीकृत एव शक्तिशाली बनाने के लिए सभी सम्भव उपाय कर रहा था। वह सैनिक साधन भी अपनाने मे नही झिझक रहा था। मार्च, १६३८ में जर्मनी ने आस्ट्रिया पर कब्जा कर लिया तथा छ महीने बाद वह चेकोस्लोवाकिया से यह माग करने लगा कि जर्मन जनसख्या वाले सूडेटनलैण्ड को समर्पित कर दे। इग्लैण्ड तथा फ्रास आस्ट्रिया के जर्मनी क साथ विलय को देखते रहे किन्तु चेकोस्लोवाकिया के समर्थन म उन्होने कदम उठाना उपयुक्त समझा। ऐसी स्थिति ■ योरोप मे सम्भावित युद्ध के लक्षण दिखाई देने लगे। बर्लिन, प्राग,

1 Peace and War, PP 57, 416, Vital Speeches, VI (April 1, 1938), 368-372

पेरिस, रोम और लन्दन में इस संघर्ष को दूर करने के लिए कूटनीतिक प्रयास किये गये। अनेक प्रारंभिक वाद विवादों के बाद हिटलर ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस तथा इटली के राज्य अध्यक्षों के साथ वार्तालाप करने को तैयार हो गया। म्यूनिक समझौता किया गया किन्तु यह समझौता हिटलर को मार्च, १९३९ में शक्ति के आधार पर चेकोस्लोवाकिया को लेने से नहीं रोक सका। इससे प्रोत्साहित होकर मुसोलिनी ने अल्बानिया को भी दबोचा। समस्त योरोपीय शक्ति विध्वंस की दिशा में बढ़ती गई।

द्वितीय विश्व युद्ध और अमरीका
(Second World War and U S A)

सन् १९३८ की शरद् में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने एक के बाद एक करके अनेक संदेश विदेशों को प्रसारित किये तथा अमरीका की यह आशा व्यक्त की कि शान्ति स्थापित करने के लिए कोई तरीका मिल सकेगा। जनवरी, १९३९ में कांग्रेस को भेजे गये भाषण संदेश में राष्ट्रपति ने विदेशी समस्याओं पर ही अधिक प्रकाश डाला। उनका मत था कि म्यूनिक समझौते ने अन्तिम संकट को सुलझाया नहीं है वरन् टाल दिया है।

१ सितम्बर १९३९ को यह बात सत्य साबित हो गई जब कि हिटलर ने अपनी सेनायें पोलैण्ड को आत्मसात् करने के लिए भेज दीं। संयुक्त राज्य अमरीका की जनता अभी भी तटस्थता एवं पार्थक्य के विचारों से प्रभावित थी। उनका मत था कि योरोप में चाहे कुछ भी हो रहा हो हमको इससे कोई मतलब नहीं है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह वायदा किया कि वह अपनी पूरी शक्ति से यह प्रयास करेगा कि अमरीका की शान्ति भंग न हो। बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि अमरीका अधिक समय तक पार्थक्यवाद की नीति को नहीं अपना सकता है और इसलिए मानव जाति की अस्तव्यस्त सभ्यता, संस्कृति, व्यापार एवं शान्ति में उसे हस्तक्षेप करना जरूरी है।

राष्ट्रपति एवं राज्य सचिव यद्यपि कुछ करने के लिए उद्यत थे किन्तु अमरीकी वातावरण को देखते हुए कुछ भी न किया जा सका। वे जनता को अमरीका के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में केवल कुछ भाषण एवं संदेश देने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं कर पाये किन्तु जर्मनी के आगे बढ़ते हुए कदमों ने परिस्थिति में फेर बदल किया। अप्रैल, १९४० में हिटलर ने नोर्वे तथा डेनमार्क पर अचानक ही आक्रमण कर दिया। मई में इन देशों को जीत लिया गया। जून के मध्य में फ्रांस का पतन हो गया तथा युद्ध में रत ग्रेट ब्रिटेन को भी धमकी दे दी गई। इन सबको देख कर अमरीका की जनता की आंखें खुल गयीं। पश्चिमी योरोप पर जर्मनी की विजयों ने राष्ट्रीय सुरक्षा की

माँग को बढ़ा दिया तथा देश का जनमत रातो रात कुछ करने के विचार का समर्थक बन गया। उन देशों को तुरन्त सहायता देने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जो आक्रान्ता एवं अमरीका के किनारों के बीच स्थित थे। रूजवेल्ट ने यह विचार व्यक्त किया कि यदि शक्ति और घृणा के देवताओं ने थल सेना एवं नौ सेना के द्वारा ही विजय प्राप्त करली तो पश्चिमी दुनियाँ में प्रजातंत्र की संस्थायें खतरे में पड़ जायेंगी।

संकट की गम्भीरता को देख कर संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी नौसेना एवं थल सेना को बढ़ाया। १९४० के अन्त तक इन कार्यों पर किये जाने वाले व्यय की मात्रा १७ बिलियन पौंड तक पहुँच गई। जब रूजवेल्ट ने दो समुद्री नौसेना बनायी तथा शान्तिकालीन प्रबन्ध किये तो उसे किसी भी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। जुलाई १९४० के हवाना सम्मेलन में कुछ समझौते किये गये जिनमें कि अमरीकी गणराज्यों ने यह मत प्रकट किया कि पश्चिमी गोलार्द्ध में यथास्थिति को तोड़ने वाले किसी भी कार्य का विरोध किया जायगा और नई दुनिया में किया गया कोई भी आक्रमण इन सबके द्वारा उनके अपने विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा। कुछ समय बाद ही आगडन्सबर्ग (Ogdensburg) में कनाडा एवं संयुक्त राज्य अमरीका की सम्मिलित सुरक्षा के लिए व्यवस्था की गई। हिटलर के विरुद्ध योरोपीय देशों को अब भी सहायता दी जा रही थी।

संयुक्त राज्य अमरीका मित्र राष्ट्रों की विजय में पूरी तरह से रुचि लेने लगा क्योंकि यदि पूरे योरोप पर हिटलर की विजय हो जाती है तो उस पर भारी संकट आ जाता। इस सम्बन्ध में किसी को कोई संदेह नहीं था किन्तु समस्या यह थी कि क्या इस संकट के निवारणार्थ अमरीका को प्रत्यक्ष रूप से युद्ध में आना चाहिये अथवा उसे अपने स्वयं के स्रोतों पर भरोसा करके केवल महाद्वीपीय सुरक्षा का ही प्रबन्ध करना चाहिए। दूसरे विकल्प को मानने वालों का कहना था कि धुरी राष्ट्रों के जीत जाने पर भी संयुक्त राज्य अमरीका अपने साधन स्रोतों के आधार पर अपनी रक्षा करने में समर्थ है। यद्यपि पश्चिमी प्रजातन्त्रों को बचाना जरूरी था किन्तु फिर भी यह आवश्यक था कि देश में शान्ति रहे। युद्ध और शान्ति के इस द्वन्द्व में फंस कर अमरीका यह निर्णय नहीं ले पा रहा था कि उसे क्या करना चाहिए।

११ मार्च, १९४१ को संयुक्त राज्य अमरीका ने लेण्डलीज अधिनियम को कानून का रूप दिया। इसका समर्थन करते हुए रूजवेल्ट ने बताया कि मान लीजिए मेरे मित्र के घर में आग लग जाती है और मेरे पास बगीचे की एक बड़ी टंकी है। यदि वह पड़ोसी उस टंकी का प्रयोग करके आग बुझा

सकता है तो मैं इस कार्य मे उनकी सहायता करूंगा। १५ मार्च, १९४१ को रूजवेल्ट ने यह बताया कि संयुक्त राज्य अमरीका प्रजातन्त्र के लिए शस्त्रागार का काम करेगा। उसके कथनानुसार 'यदि ब्रिटिश जनता तथा उसके मित्रों को जहाजों की जरूरत है तो अमरीका से वे जहाज प्राप्त करेंगे। यदि उनको हवाई जहाजों की आवश्यकता है तो उनको प्रदान किये जायेंगे। उनको खाद्य की आवश्यकता है अमरीका इसे पूरी करेगा। उनको टैंक, बन्दूक, शस्त्र एवं अन्य साधनों की आवश्यकता है, उनको यह सब दिया जायगा। 'अमरीका' वहा के लोगों की घोषणा के अनुसार प्रजातन्त्र का शस्त्रागार होता जा रहा था।

जब रूजवेल्ट प्रशासन ने मित्र राष्ट्रों को प्रत्येक प्रकार की सहायता देने का विचार सामने रखा तब वह युद्ध में नहीं उलझ रहा था वरन् वह असैनिक साधनों को स्थापना कर प्रजातन्त्र विरोधी तत्वों के विनाश को रोकने का प्रयास कर रहा था। कई एक अमरीकी लेखकों का मत है कि संयुक्त राज्य अमरीका युद्ध को बढ़ाना नहीं चाह रहा था और मित्र राज्यों को दिया गया उसका आश्वासन इस बात पर आधारित था कि हिटलर द्वारा प्रभावित विश्व से संयुक्त राज्य अमरीका की सुरक्षा नहीं रह सकती तथा पार्थक्यवाद के आधार पर सुरक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती।

संयुक्त राज्य अमरीका की इस नीति ने उसे युद्ध की ओर प्रेरित किया किन्तु फिर भी यह कहा जाता है कि वह धुरी राष्ट्रों के साथ अपने अन्तिम संघर्ष को रोक ही नहीं सकता था। संयुक्त राज्य अमरीका के युद्ध में प्रविष्ट होने से ही नाजीवादी और फासीवादी शक्तियां पराजित हो सकीं। जब जापान और जर्मनी को अन्तिम रूप से हराने के लिए अमरीका को अपने बल, थल नौसेनिक का पूर्ण पूरा प्रयोग करना पड़ा तो यह स्पष्ट हो गया कि ऐसा न किया जाता तो वह इनको हरा नहीं सकता था। यह कहा जाता है कि धुरी राष्ट्रों के हारने के बाद भी विश्वव्यापी शान्ति जैसी कोई चीज स्थापित नहीं हुई क्योंकि साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव और पूंजीवाद से उसका संघर्ष गम्भीर रूप धारण कर चुका था। किन्तु फिर भी सन् १९४१ ने जापान और जर्मनी के आक्रमण ने जो समस्या उत्पन्न की उसमें और कोई विकल्प नहीं रह गया था।

जून १९४० में जब फ्रान्स का पतन हुआ और दिसम्बर १९४१ में पर्ल हार्बर पर जो सफल जापानी आक्रमण हुआ उसके बीच, शान्ति, या युद्ध की प्रभावशाली विदेश नीति अपनाने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका की जनता में भेद भाव चलता रहा। यहां राष्ट्रपति रूजवेल्ट को जनता के पूरे

समर्थन की जरूरत थी। उसके बाद ही वह राष्ट्रीय सुरक्षा और लैण्डलीज (Lend lease) सहायता के कार्यक्रमों को क्रियान्वित कर सकता था। प्रभावशाली रूप से कार्य करने के लिए अमरीकी जनता को यह समझना जरूरी हो गया कि वह राष्ट्रीय सुरक्षा की खातिर आवश्यक बलिदान करे।

जब १० अप्रैल १९४१ को अमरीका के राज्य विभाग ने यह घोषणा की कि जर्मन नियन्त्रण के हेमिस प्रभाव की सम्भावित प्रसार से रोकने के लिए ग्रीन लैण्ड पर कब्जा करना जरूरी है तो इस दिशा में कार्यवाही की गई और तीन महीने बाद राष्ट्रपति ने यह कहा कि इस द्वीप के लोगों से समझौता हो गया है जिसके आधार पर यहां सुरक्षा की दृष्टि से अमरीकी सैनिक टुकड़ियां रखी जा सकती हैं। रूजवेल्ट ने कांग्रेस को बताया कि संयुक्त राज्य अमरीका अटलांटिक में जर्मनी को रणकौशल के लिए महत्वपूर्ण ऐसी चौकियों पर अधिकार नहीं करने देगा जिनको पश्चिमी गोलार्द्ध पर आक्रमण करने के लिए जल सेना या वायु सेना के अड्डे के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। कुछ दिनों बाद जर्मनी की सेनाओं ने यूगोस्लाविया और यूनान का पतन कर दिया। सोवियत रूस की ओर विजय के उत्साह में भरी हुई वे बढ़ने लगीं।

जापान और संयुक्त-राज्य अमेरिका

संयुक्त राज्य अमेरिका अटलांटिक महासागर की घटनाओं को अधिक महत्व दे रहा था और उसके मतानुसार प्रशान्त की घटनाओं से शांति को अधिक खतरा था। जापान चीन में लगातार आक्रमण कर रहा था। सन् १९४० की शरद ऋतु में उसने धुरी राष्ट्रों से सन्धि कर ली। उत्तरी इण्डोचीन पर उसने शीघ्र ही अधिकार कर लिया। अब पूर्वी एशिया में युद्ध के प्रसार का खतरा स्पष्ट हो गया। अमेरिका की नीति यह रही कि कूटनीतिक और आर्थिक दबावों के आधार पर जापान को रोकने के लिए कुछ किया जाए तथा राष्ट्रवादी चीन की सहायता दी जाए। फलस्वरूप जापान को भेजे जाने वाले माल के व्यापार पर निर्यात नियन्त्रण कठोर कर दिया गया और जब जापान ने इण्डो चीन और चीन से हटना अस्वीकार कर दिया तो २५ जुलाई, १९४१ को जापान-अमेरिकी व्यापार समाप्त हो गया। जापान और अमेरिका के सम्बन्ध बिगड़ते गये और ७ दिसम्बर १९४१ को एकदम आकस्मिक रूप से जापान ने पर्ल हार्बर पर प्रलयकारी बम वर्षा करदी। अमेरिका में कोई भी यह आशा नहीं कर रहा था कि संकट इतना जल्दी उपस्थित हो जायेगा।

■ दिसम्बर को पर्ल हार्बर पर जापानी बम वर्षा ने सम्पूर्ण अमेरिकी राष्ट्र को एकबारगी ही झकझोर दिया। ८ दिसम्बर को जापान के विरुद्ध

अमेरीकी कांग्रेस ने युद्ध की घोषणा कर दी और ३ दिन बाद ही अमेरिका को जर्मनी और इटली के साथ भी उलझ जाना पड़ा। राष्ट्र के नाम अपने एक रेडियो प्रसारण में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अमेरिकी जनता को संकट का मुकाबला करने के लिए आह्वान किया और कहा कि "हम अब युद्ध के बीच में हैं, विजय के लिए नहीं, बदले के लिए नहीं वरन् एक ऐसी दुनिया के लिए जिसमें कि यह राष्ट्र और इसके द्वारा प्रतिनिधित्व की जाने वाली सारी चीजें इसके बच्चों के लिए सुरक्षित रहेगी। हम आशा करते हैं कि जापान से उत्पन्न खतरे को समाप्त कर सकेंगे किन्तु यह भी हमारे विरुद्ध होगा कि शेष दुनिया पर हिटलर और मुसोलिनी का अधिकार हो जाए। हम युद्ध जीतने जा रहे हैं और उसके बाद आने वाली शान्ति को जीतने जा रहे हैं।" पर्ल हार्बर की घटना से अमेरिका पर एक बहुत बड़ा भावात्मक असर हुआ और रातों रात अमेरिका की जनता यह समझ गई कि उनका देश विश्व समाज का एक अंग है और इसका भाग्य उसी के साथ जुड़ा हुआ है। युद्ध में उसके प्रत्यक्ष संघर्ष को भौगोलिक स्थिति के कारण रोका नहीं जा सकता।

संयुक्त राज्य अमरिका द्वितीय विश्व युद्ध में परिस्थितियों के कारण उलझा और जब धुरी राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करली गई तो उसे कुछ आत्म-सतोष हुआ। मई १९४५ में जोसेफ ग्रू ने बताया कि "जहां तक संयुक्त राज्य अमरिका के हितों का सवाल है यह युद्ध एक उद्देश्य प्राप्त करना था और वह यह है कि जर्मनी और जापान के सैनिक प्रसार से रक्षा। इस उद्देश्य के लिए हमको लड़ना पड़ा। यदि हम न लड़ते तो हमारा राष्ट्र प्रत्यक्ष रूप से खतरे में पड़ जाता। जहां तक हमारे स्वयं के हितों का सम्बन्ध है, युद्ध पूर्ण रूप में आत्मरक्षा के लिए युद्ध था जो हम पर थोपा गया।"

द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अमेरीका

अथवा

द्वितीय महायुद्धोत्तर अमरीकी विदेश नीति

(America in the Field of International Politics after the Second World War)

१९३९ में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने पार्थक्यवाद की नीति को तिलांजलि दे दी और अपने अतीत के अनुभवों से लाभ उठाकर फिर कभी इस नीति का अनुसरण नहीं किया। पार्थक्यवाद की नीति का परित्याग होने से अमेरिका की महायुद्धोत्तर वैदेशिक नीति में वस्तुतः एक बड़ा क्रान्तिकारी सूत्रपात हुआ। अब संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए सब देशों से

सैनिक समझौते करने और उन्हें लगभग सभी प्रकार की सैनिक एवं आर्थिक सहायता देने की नीति का अनुसरण करने लगा। तथापि, माइकेल डोनेलन (Michael Donelan) के अनुसार युद्धोपरान्त अमेरिकन वैदेशिक नीति की आत्मा सुरक्षात्मक ही बनी रही और इस ही कारणवश जहां उसे अनेक लाभ हुए वहां अनेक हानियां भी उठानी पड़ी। किन्तु यह सुरक्षात्मक नीति सैनिक रण कौशल (Military Strategy) से कहीं अधिक विस्तृत थी और केवल अमेरिका की सुरक्षा से इसका क्षेत्र कहीं अधिक चौड़ा था। युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश नीति द्वारा मानव कल्याण की भावना भी एकत्रित का गई थी, यह केवल अमेरिका की सुरक्षा के लिए एक नये प्रकार की अवसरवादिता नहीं थी।

वास्तव मे द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद की अमेरिकन विदेश नीति मुख्य रूप से साम्यवादी देशों के साथ उसके विरोध, समझौते, प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष की कहानी है जिसमें कभी व पुनः अपनी पार्थक्यवादी नीति पर आ गए और कभी अपने विचार के आदर्श समाज की रचना में भी कूद पड़े। आखिर उन्होंने बीच का रास्ता अपनाया जो असंतोषजनक परिस्थितियों मे रहना था। यह आशा की गई कि समय के साथ साथ या तो ये समस्याएं सुलझ जायेंगी अथवा स्वतः ही मिट जायगी और इस प्रकार संपूर्ण युद्ध के खतरे को टाला जा सकेगा। युद्धोपरान्त वर्षों मे अमेरिकन विदेश नीति ने विश्व के आकार को कल्पनातीत एवं तीव्र गति से विस्तृत कर लिया। पश्चिमी यूरोप की साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक शक्तियां शताब्दियों से विश्व में अपनी क्रियाओं को बढ़ाती जा रही थी किन्तु संयुक्त राज्य ने दो दशाब्दियों मे ही अपने शान्तिकालीन उत्तरदायित्वों को यूरोप, मध्यपूर्व, दक्षिणी एशिया तथा अफ्रीका मे बढ़ा लिया। माइकेल डनेलन (Michael Donelan) के शब्दों में युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश नीति का विषय 'ग्लोबल' सम्बन्धी मान्यताओं का समग्र विश्व के रूप में विस्तार कर लेना था। युद्धोत्तरकालीन अमेरिकन कार्यकलापों से स्पष्ट है कि युद्ध के बाद अमेरिका ने न केवल यूरोप के मामलों में रुचि ली है, वरन् सुदूरपूर्व, मध्य-पूर्व और अफ्रीका के मामलों में भी सक्रिय भाग लिया है।

महायुद्ध के बाद अमरीकी विदेश नीति अनेक परिवर्तनों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रकट होती रही है और अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अमरीका ने स्वयं को बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। सुविधा की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अमरीका के युद्धोत्तर स्वरूप को निम्नलिखित ५ भागों में बांटना अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी होगा—

१ मधु-रात्रि का काल (The Honeymoon Period)-मई १९४५ से अगस्त १९४६ तक,
२ नवीन दिशान्वेषण का काल (Period of New Departure)-अगस्त १९४६ से जून १९५० तक,
३ खुले संघर्ष का काल (Period of Open Conflict)—जून १९५० से जुलाई १९५३ तक,
४ नवीन दृष्टि का काल (Period of New Look)—जुलाई १९५३ से जनवरी १९६१ तक,
५ सह अस्तित्व का काल (Period of Co-existance)—जनवरी १९६१ के उपरान्त।

मधु-रात्रि का काल
(मई १९४५ से अगस्त १९४६ तक)

द्वितीय महायुद्ध के बाद अमेरिका को लगभग एक डेढ़ वर्ष तक यह विश्वास बना रहा कि युद्ध काल में अमेरिका और रूस की जिस मित्रता का विकास हुआ है, वह युद्धोत्तर शान्तिकाल में भी बनी रहेगी। अमरिका और रूस का युद्धकालीन सौहार्द फरवरी १९४५ के याल्टा सम्मेलन में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था और तभी से सामान्यतः यह विश्वास किया जाने लगा था कि याल्टा की भावना युद्धोत्तर काल को भी अनुप्राणित करती रहेगी। इसी विश्वास के आधार पर अप्रैल-जून १९४५ के सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तैयार किया गया तथा जुलाई-अगस्त में पोट्स-डम सम्मेलन में जर्मनी व जापान से शान्ति-सन्धियों एवं युद्धोत्तर व्यवस्थाओं के बारे में विभिन्न समझौते किये गये।

युद्धकालीन सहयोग और मैत्री की युद्ध के बाद इतनी खुमारी छायी रही कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने 'सहयोग और अनुकूलन की नीति' (Policy of Co-operation and Accommodation) का अनुसरण करते हुए युद्ध से विध्वस्त देशों के पुनर्वास और पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ किया, अणु शक्ति के नियन्त्रण की योजनायें बनायीं, यूरोप से अपनी सेनाओं को हटाया, चीन में साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों के मध्य समझौता कराने के प्रयास किये, जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों के साथ यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र शान्ति सन्धियां करने का आग्रह और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संगठन की स्थापना का प्रस्ताव रखा। २८ अक्टूबर, १९४५ को तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सहयोग और अनुकूलन की तत्कालीन अमेरिकन विदेशी नीति के 'बारह सूत्री

(Twelve Point) उद्देश्यों की घोषणा की। ये उद्देश्य सा. रूप में इस प्रकार थे—

(i) अमेरिका प्रादेशिक विस्तार अथवा स्वार्थपूर्ण लाभ नही चाहता, वह किसी छोटे या बड़े देश पर आक्रमण नही करेगा।

(ii) अमेरिका का मत है कि जिन देशो से सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अधिकार बलपूर्वक छीने गये थे, वे उन्हें वापिस किये जाने चाहिए।

(iii) अमेरिका किसी मित्र देश मे स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त की गयी जनता की सहमति के बिना किये गये किसी प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नही करेगा।

(iv) अमेरिका का यह विश्वास है कि स्वशासन के लिए समर्थ और उद्यत देशो को विदेशी हस्तक्षेप के बिना अपने शासन का स्वरूप चुनने मे स्वाधीनता होनी चाहिए। यह सिद्धान्त यूरोप, एशिया, अफ्रीका और पश्चिमी गोलार्द्ध मे समान रूप से लागू होता है।

(v) अमेरिका का लक्ष्य अपने साथियों के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशो में शान्तिपूर्ण लोकतन्त्रीय शासन स्थापित करना है।

(vi) संयुक्त राज्य अमेरिका विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश मे बलपूर्वक थोपी गयी सरकार को मान्यता प्रदान नही करेगा।

(vii) अनेक देशों मे से होकर गुजरने वाली नदियों में तथा समुद्रों मे आवागमन की निर्बाध स्वतन्त्रता सब देशो को होनी चाहिए।

(viii) विश्व में कच्चे माल की प्राप्ति तथा व्यापार मे सब देशो को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

(ix) अमेरिका का यह मत है कि पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यो को इस गोलार्द्ध के बाहर से किसी शक्ति के हस्तक्षेप के बिना, उत्तम पड़ोसियो की भांति अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान करना चाहिये।

(x) अमेरिका चाहता है कि समूचे विश्व मे दरिद्रता को दूर करने तथा जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए सब देशो मे पूर्ण आर्थिक सहयोग होना चाहिए।

(xi) संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व मे अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतन्त्रता को बढ़ाने के लिए प्रयत्न करेगा।

(xii) अमेरिका का यह दृढ विश्वास है कि राष्ट्रो मे शान्ति बनाये रखने के लिए ऐसे संयुक्त राष्ट्र संघ की आवश्यकता है, जिसके सदस्य शान्तिप्रेमी हो, तथा शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही करने के लिए भी तैयार हों।

युद्धोत्तरकाल मे, युद्धकाल की भांति ही, रूसी सहयोग के प्राप्त हुते रहने की अमेरिकन आशा इतनी बडी चढी थी कि अमेरिका ने अपनी सशस्त्र सेनाएं लगभग दो वर्ष के भीतर १ करोड २० लाख सैनिकों से घटा कर १५ लाख सैनिक कर दिये। परन्तु शीघ्र ही इस आशा का खोखलापन सिद्ध होने लगा। अनेक क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति करते हुए भी अमेरिका विश्व राजनीति के दो महत्वपूर्ण विकासों के प्रति चूक कर बैठा—सोवियत सघ की आक्रमणकारी चाल और एशिया महाद्वीप में क्रान्ति। लगभग सभी क्षेत्रों में शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि रूस एवं अमेरिका परस्पर एक दूसरे के पूर्ण विरोधी है और विश्व के प्रत्येक भाग की प्रत्येक समस्या पर उन दोनों मे मतभेद है। स्पष्टता की दृष्टि से यह कहना होगा कि विशेषत ५ क्षेत्रों मे उनके मतभेद विशेष रूप से उग्र हो गये—

(i) जर्मनी के समीकरण का प्रश्न,

(ii) पोलैण्ड मे रूस द्वारा याल्टा सम्मेलन मे दिये गये वचनों के उल्लघन की अमेरिकी शिकायत,

(iii) इटली, हगरी रूमानिया, बल्गेरिया तथा फिनलैण्ड के साथ शान्ति सधियों का प्रश्न,

(iv) सयुक्त राष्ट्र सघ तथा उसमे रूस द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग का प्रश्न, तथा

(v) ईरान, टर्की और यूनान में रूसी महत्वाकांक्षाओं का प्रश्न।

इन सभी मतभेदों के कारण और अन्य विभिन्न असहमतियों के फल स्वरूप धीरे धीरे पश्चिम और पूर्व की युद्धकालीन अनोखी मैत्री' (Strange Alliance) एक 'शीतयुद्ध (Cold War) में परिवर्तित हो गयी। रूस के असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण स अमरिका के आशावादी नेताओं को बडा धक्का लगा। एशिया महाद्वीप मे जो क्रान्ति हो रही थी उसका साम्यवादी देशों ने लाभ उठाया तथा पश्चिम विरोधी, उपनिवेश विरोधी और साम्राज्य विरोधी भावनाओं का प्रचार कर यहा के देशों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया तथा विश्व की नजरों मे अमरिका को प्रतिक्रियावादी तथा पूजीवादी बना दिया।

नवीन दिशान्वेषण का काल
(अगस्त १९४६ से जून १९५०)

१९४६ के मध्य तक "अनोखी मैत्री" की असफलता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक कटु यथार्थता बन गयी। साम्यवादी देशों के रुख को देखकर राष्ट्रपति रूजवैल्ट और टूमैन के प्रधान परामर्शदाता एवरिल हैरीमैन

तथा विदेश विभाग के रूसी विशेषज्ञ जार्ज केनन (Kennan) ने क्रेमलिन के साथ सहयोग की नीति में सन्देह प्रकट किया। रूस के साथ सहयोग करने की नीति को अविवेकपूर्ण बताते हुए यह मत प्रकट किया गया कि "रूस केवल दृढ़ता की नीति को ही समझ सकता है और उसी का सम्मान भी कर सकता है, किसी दूसरी नीति को तो वह दुर्बलता और शिथिलता की ही निशानी समझता है।" दिसम्बर १९४६ में विदेश मन्त्री बर्न्ज एवं अगले वर्ष उनके उत्तराधिकारी विदेश मन्त्री मार्शल भी मास्को के विदेश-मन्त्री-सम्मेलनों से ऐसे ही विचार लेकर लौटे। दोनों का यह विश्वास हो गया कि रूस के साथ सहयोग की नीति सफल होने की कोई सम्भावना नहीं है।

उपरोक्त अनुभूति होने के फलस्वरूप अमेरिकन विदेश नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और उसे सहयोग की अपनी प्रारम्भिक नीति का परित्याग करना पड़ा। यह समझा जाने लगा कि रूस, चीन एवं पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के प्रसार ने अमेरिका की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा पैदा कर दिया है, अतः अमेरिका को तुरन्त ही ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे साम्यवादी प्रसार को प्रभावशाली रूप से अविलम्ब 'अवरुद्ध' कर दिया जाय। इस प्रकार अमेरिका "सहयोग और आनुकूल्य" (Co-operation and Accommodation) की नीति के स्थान पर "अवरोध की नीति" (Policy of Containment) पर आया। सोवियत चुनौती के प्रति जागरूक होकर अमेरिका ने कठोर नीति को अपनाना आरम्भ किया। किन्तु फिर भी राष्ट्रपति ट्रूमैन का मत इस धारणा में बना रहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मूल हित इसी बात में निहित हैं कि शान्ति बनायी रखी जाय ताकि विश्व के सभी देश उत्पादन और पुनर्निर्माण के अपने मूल कार्यों की ओर लौट सकें। उपराष्ट्रपति हेनरी वेलेस (Henry Wallace) का विश्वास था कि सोवियत संघ भयभीत है और पश्चिमी आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन चाहता है।

जो भी हो, साम्यवाद को सीमित या अवरुद्ध करने की नीति राष्ट्रपति ट्रूमैन के युग में प्रारम्भ हो गई और इसकी निश्चित अभिव्यक्ति 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) में हुई जिसकी पूर्ण आधिकारिक व्याख्या स्वयं राष्ट्रपति ट्रूमैन ने १२ मार्च, १९४७ को अपने एक भाषण में कांग्रेस के समक्ष की।

ट्रूमैन सिद्धान्त का विवरण देने से पूर्व उन तीन मुख्य घटनाओं को संक्षेप में जान लेना चाहिए जिनके वशीभूत होकर इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। अमेरिका ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यही प्रकट किया कि

यूनान, टर्की और ईरान पर बढ़ते हुए साम्यवादी दबाव के कारण ही "विपुल आर्थिक सहायता द्वारा साम्यवाद के प्रसार को रोकने की नीति" कार्यान्वित की गई। इन तीनों देशों की समस्यायें इस प्रकार थी—

(क) यूनान की समस्या—यूनान में दो राजनीतिक दल थे—एक साम्यवादी समर्थक (E.A.M.) और दूसरा राजतन्त्रवादी (E.D.E.S.)। द्वितीय महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश फौज ने यहां प्रवेश किया। अक्टूबर, १९४४ में एक समझौते के अनुसार रूस ने यूनान को ब्रिटेन का प्रभाव क्षेत्र स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन यूनान को अपने प्रभाव क्षेत्र में इसलिए रखना चाहता था कि उसके साम्राज्य के पूर्वी हिस्से को जाने वाला मार्ग सुरक्षित रह सके।

यूनान में प्रवेश के बाद ब्रिटेन ने यूनान के साम्यवादी दल (E.A.M.) का विरोध किया। इसके समर्थन से मार्च, १९४५ के चुनावों में राज-सत्तावादियों की विजय हुई और यूनान में राजतन्त्र की स्थापना हो गई। साम्यवादियों ने यूनानी सरकार के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। दिसम्बर, १९४६ में सुरक्षा परिषद् में यूनान ने विद्रोही दलों को विदेशों से सहायता दिये जाने की शिकायत पेश की। संयुक्त राष्ट्रसंघीय आयोग की रिपोर्ट से इसकी पुष्टि हुई।

इस समय ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि वह अपनी सेना बढ़ा कर अकेला विद्रोहियों का मुकाबला करता। इसलिए ब्रिटेन ने घोषणा की कि वहां वित्तीय वर्ष की समाप्ति तक ५ सप्ताह के भीतर अपनी फौजें यूनान से हटा लेगा। अमेरिका के सामने यह चिन्ता खड़ी हो गई कि ब्रिटिश फौजों के हटते ही यूनान पूरी तरह साम्यवादी प्रभाव में चला जायेगा। राष्ट्रपति ट्रूमैन के सहायकों—एचेसन और मार्शल ने स्पष्ट शब्दों में कहा—"यदि यूनान हाथ से निकल गया तो टर्की के टापू की रक्षा असम्भव हो जायगी" (२६ फरवरी, १९४७)। फलस्वरूप ट्रूमैन ने निश्चय कर लिया कि यूनान को आर्थिक सहायता दी जाय।

(ख) टर्की की समस्या—महायुद्ध के बाद भूमध्य सागर और कृष्ण सागर को जोड़ने वाले बासफोरस और दर्दानियाल जल-डमरूमध्य पर जो टर्की के अधिकार में थे, सोवियत रूस कब्जा करना चाहता था। इस क्षेत्र पर कब्जे से वह कृष्ण सागर के तटवर्ती देशों का व्यापार बन्द कर सकता था और कृष्ण सागर एवं भूमध्य सागर से नौसैनिक आक्रमण भी कर सकता था। अतः ७ अगस्त, १९४६ को रूस ने टर्की के समक्ष जल-डमरूमध्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किये—

(१) वे युद्ध और शान्तिकाल में सब देशों के व्यापारिक जहाजों के लिए खुले रहेंगे।

(२) कृष्ण सागर की शक्तियों के युद्ध पोतों के लिए वे सदैव खुले रहेंगे।

(३) विशेष अवस्थाओं को छोड़कर कृष्ण सागर से भिन्न शक्तियों के युद्धपोत इनमें से गुजरें।

(४) इनका शासन प्रबन्ध टर्की व कृष्ण सागर की अन्य सभी शक्तियों के हाथ में हो, तथा

(५) इनकी रक्षा टर्की और रूस दोनों के सामान्य साधनों से हो।

काफी आरोपों प्रत्यारोपों के बाद और अन्त में वाशिंगटन की सलाह के आधार पर टर्की ने मास्को के सभी प्रस्तावों को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया। साथ ही अमेरिका ने भी रूस को चेतावनी देदी कि यदि टर्की पर आक्रमण किया गया तो मामला सुरक्षा परिषद में उठाया जायेगा। टर्की ने भी अपनी सुरक्षात्मक तैयारियां आरम्भ करदी। चूंकि आवश्यक सैन्य शक्ति जुटाने के लिए उसके पास समुचित आर्थिक साधन न थे, अतः उसने अमेरिका से सहायता की प्रार्थना की और राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यूनान की भांति टर्की को भी सहायता देने का निश्चय कर लिया।

(ग) ईरान की समस्या—द्वितीय महायुद्ध के दौरान ब्रिटेन और रूस की सेनायें क्रमशः उत्तरी यूनान और दक्षिणी यूनान में प्रवेश कर गईं। जर्मनी के पराजित होने के बाद २ मार्च, १९४६ के दिन ईरानी क्षेत्रों से सभी सेनाओं का हट जाना निश्चित हुआ। कतिपय कारणों से रूस ने ईरानी क्षेत्र से हटना अस्वीकार कर दिया। सुरक्षा परिषद के प्रयासों का कोई फल नहीं निकला। अन्त में अप्रैल, १९४६ में रूस और ईरान के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार मई, १९४६ में रूसी फौजें ईरान से हट गईं। ईरान में घटी इस घटना से राष्ट्रपति ट्रूमैन को रूसी महत्वाकाक्षाओं के बारे में कोई सन्देह नहीं रहा।

टर्की, यूनान और ईरान की घटनाओं के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका ने निश्चय कर लिया कि मध्य-पूर्वी क्षेत्र में रूस को शिकस्त देने के लिए इन देशों को सहायता देने की नीति पर चला जाय। यह नीति उस समय के राष्ट्रपति ट्रूमैन के नाम पर 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) कहलाती है।

ट्रूमैन सिद्धान्त
(Truman Doctrine)

मार्च १९४७ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने मन्त्रिमण्डल की बैठक में

बताया कि उन्होंने कांग्रेस से यह सिफारिश की है कि यूनान को २५ करोड डालर को तथा टर्की को १५ करोड डालर की सहायता दी जाय। १२ मार्च, १९४७ को कांग्रेस में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपील की कि साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए यूनान और टर्की को आर्थिक सहायता स्वीकार की जाय। उन्होंने घोषणा की कि स्वतन्त्र देशों की बाह्य प्रभाव से रक्षा करना संयुक्त राज्य की नीति होनी चाहिए। श्री ट्रूमैन की इस ऐतिहासिक भाषण की, जिसमें 'ट्रूमैन सिद्धांत' की व्याख्या निहित है, मुख्य बातें इस प्रकार थी—

'आज यूनान राज्य की सत्ता संकट में है। इसका कारण कम्यूनिस्टों के, सरकार को चुनौती देने वाले कई हजार सशस्त्र व्यक्तियों के आतंकवादी कार्य हैं। यूनान सरकार इस स्थिति का सामना करने में असमर्थ है। उसको सहायता की आवश्यकता है, संयुक्त राज्य अमेरिका को उसे सहायता देनी चाहिए। टर्की की भी यही स्थिति है, अभी हाल में दुनिया के कई देशों में सर्वाधिकारवादी शासन वहां की जनता की इच्छा के विरुद्ध स्थापित कर दिये गये हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका ने याल्टा समझौते को भंग करते हुए पोलैण्ड, रूमानिया, बल्गेरिया में धमकी और दबाव से स्थापित शासनों के विरुद्ध प्रतिवाद किया है।

मेरा विश्वास है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की यह नीति होनी चाहिए कि वह बाह्य दबाव से या सशस्त्र अल्प संख्या द्वारा स्थापित किये जाने वाले शासनों का प्रतिरोध करने वाली स्वतन्त्र जनताओं का समर्थन करे। मेरा विश्वास है कि हमें स्वतन्त्र जनताओं को अपने तरीके से अपना भाग्य निर्माण करने में सहायता देनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि हमारी सहायता प्रधानतः आर्थिक और वित्तीय सहायता के द्वारा होनी चाहिए, जो कि आर्थिक स्थायित्व और सुव्यवस्थित राजनीतिक प्रक्रियाओं के लिए अनिवार्य है। यदि यूनान सशस्त्र अल्पसंख्या के हाथ में आ जाता है तो इसका तत्कालिक और भीषण प्रभाव इसके पड़ोसी पर पड़ेगा। समस्त मध्यपूर्व में गड़बड़ और अव्यवस्था का साम्राज्य हो जायगा। इसका प्रभाव यूरोप में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाली जनता पर पड़ेगा। स्वतन्त्र संस्थाओं का विध्वंस और स्वाधीनता का अपहरण न केवल उनके लिए वरन् समस्त विश्व के लिए घातक होगा।

सर्वाधिकारवादी शासनों के बीज दुःख और दरिद्रता में पनपते हैं। उनका विकास और वृद्धि निर्धनता तथा संघर्ष में होता है। जब जनता में उत्कृष्ट जीवन के लिए आशा नष्ट हो जाती है तो इनका पूर्ण विकास होता है, हमें यह आशा नष्ट नहीं होने देनी चाहिए।

जगत की स्वतन्त्र जनता अपनी अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए हमारी ओर निहार रही है। यदि हमने नेतृत्व में चूक की तो समस्त विश्व की शान्ति संकट में पड़ जायगी। हम अपने राष्ट्र के कल्याण को संकटपूर्ण बना देंगे। समय तथा परिस्थिति के परिवर्तन के कारण हमारे ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ गया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कांग्रेस उन समस्त उत्तरदायित्वों को पूर्ण रूप से निभायेगी।"

मई के प्रारम्भ में अमेरिकन कांग्रेस ने यूनान और टर्की को ४० करोड़ डालर की सहायता देने का राष्ट्रपति ट्रूमैन का बिल स्वीकार कर लिया और इस पर २२ मई, १९४७ को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गये।

'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अन्तर्गत प्राप्त विपुल सहायता के बल पर १९५० के अन्त तक यूनान और टर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली। वास्तव में ट्रूमैन सिद्धान्त ने अमेरिकन वैदेशिक नीति के इतिहास में असाधारण महत्व के कीर्ति-स्तम्भ की स्थापना की। जिन दृष्टियों अथवा कारणों से इसका इतना महत्व है, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(i) यह अमेरिकन विदेश नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन और अमेरिकन परम्पराओं में मौलिक क्रान्ति का प्रणेता था। इस सिद्धान्त के मान्य होने के समय से ही विश्व को यह ज्ञात हो गया कि संयुक्त राज्य अमेरिका अब पृथकतावादी नीति का परित्याग करके संपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत की समस्याओं के सम्बन्ध में सक्रिय बनता जा रहा है।

(ii) ट्रूमैन के 'सर्वाधिकारवादी' और "स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला राज्य" आदि शब्द निःसन्दिग्ध रूप में रूस को एक स्पष्ट चेतावनी थी, रूस के साथ शीत युद्ध की घोषणा थी और रूजवेल्ट की मास्को के साथ सहयोग करने वाली नीति का परित्याग था।

(iii) ट्रूमैन सिद्धान्त 'अवरोध' की नीति के विकास का प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरण था। यह सोवियत रूस को स्पष्ट संकेत था कि उसकी अपने प्रभाव का विस्तार करने की महत्वाकांक्षाओं को सहन नहीं किया जायगा।

(iv) ट्रूमैन सिद्धान्त से अमेरिका की यह धारणा पुष्ट हो गई कि विश्व की विचारधारा दो मार्गों में विभक्त है—एक तो स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले राष्ट्रों की विचारधारा' और दूसरी 'उसकी रक्षा करने वाली विचारधारा।' ट्रूमैन के अनुसार रूस पहली विचारधारा का प्रवर्तक था जबकि अमेरिका दूसरी का।

(v) यह सिद्धान्त 'मुनरो सिद्धान्त' का वृहत् और विश्वव्यापी रूप था। मुनरो सिद्धान्त में वाशिंगटन ने घोषणा की थी कि पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी राज्य में अमेरिका के बाहर की कोई शक्ति हस्तक्षेप न करे। इसी नीति को व्यापक बनाते हुए ट्रूमैन सिद्धांत में कहा गया था कि अमेरिका द्वारा पूर्वी और पश्चिमी गोलार्द्ध में स्वतन्त्रता की आकांक्षी जनता को उसके स्वाधीनता संघर्ष में सहायता दी जायगी।

(vi) ट्रूमैन सिद्धान्त इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति थी कि ब्रिटेन अपनी आर्थिक दुर्बलता के कारण पूर्वी भूमध्यसागर और मध्य पूर्व में अपना प्रभाव बनाये रखने में असमर्थ है अतः ऐसी स्थिति में उत्पन्न हुए 'शक्तिशून्य' का साम्यवादी रूस द्वारा लाभ उठाये जाने से पूर्व अमेरिका द्वारा लाभ उठा लिया जाना चाहिए।

(vii) टर्की और यूनान को 'स्वतन्त्रता की रक्षा' के नाम पर सहायता देना अमेरिकन वास्तविक उद्देश्यों को मनमोहक शब्दों के जाल में छिपाना था। ट्रूमैन सिद्धांत का मूल उद्देश्य तो यूनान एवं टर्की को, बाल्कन प्रायद्वीप में रूसी अधिकार को रोकने के लिए और साथ ही रूस को घेरने के लिए महत्वपूर्ण सैनिक अड्डे के रूप में सुरक्षित रखना तथा मध्य पूर्व के विशाल तेल भण्डार को अपने अधिकार में बनाये रखना था।

(viii) ट्रूमैन सिद्धांत से यह स्पष्ट होता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन रूस के प्रति अपने मन मुटाव, घृणा, वैमनस्य, अविश्वास आदि के परिणामस्वरूप ही किया गया था। ट्रूमैन सिद्धान्त रूस के प्रति अमेरिकन वैमनस्य की स्थूल अभिव्यक्ति थी।

ट्रूमैन सिद्धान्त को जहां इतना असाधारण महत्व मिला है वहां अनेक दिशाओं से इसे कटु आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ा—

प्रथम, साम्यवादियों ने अमेरिका की आर्थिक और सामरिक सहायता देने की नीति को साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का एक नवीन रूप बताया। सोवियत संघ ने आरोप लगाया कि अमरीका मध्य पूर्व के अल्प विकसित देशों की आर्थिक कठिनाइयों का अपने स्वार्थ के लिए लाभ उठाता है, "सहायता के नाम पर इन देशों के साथ ऐसे समझौते होते हैं जिनसे अमरीकन अर्थ-व्यवस्था इन पर हावी हो जाती है। वह इन देशों के कच्चे माल पर अधिकार कर लेता है, सैनिक अड्डों और सामरिक महत्व के मार्गों को अपने काबू में कर लेता है।"

दूसरे, इस सिद्धान्त को सर्वाधिकारवाद के विरुद्ध लोकतन्त्र का रक्षक कहना विश्व को भ्रम में डालना है क्योंकि यूनान अथवा टर्की को इस सिद्धांत

को बाद में जब सहायता दी गई तो दोनों में से एक का भी शासन लोक-तान्त्रिक नहीं था। इस सिद्धांत का उद्देश्य तो पश्चिमी और मध्य एशिया के तेल भण्डारों को रूसी प्रभाव से बचाना था।

तीसरे, इस सिद्धांत से संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति दुर्बल हो गई क्योंकि यूनान और टर्की को संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से नहीं, वरन् पृथक रूप से सहायता प्रदान की गई।

चौथे, स्वयं अमेरिकनों की दृष्टि में ट्रूमैन सिद्धांत मुनरो सिद्धांत का ही विकसित रूप है।

युद्धोपरान्त की प्रारम्भिक नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तनों के फल-स्वरूप अब यह भली-भांति स्पष्ट हो गया कि अमेरिकन विदेश नीति का मौलिक उद्देश्य साम्यवाद और सोवियत प्रसार को रोकना बन गया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने अपनी विदेश नीति में तीन तत्वों को अपनाया—प्रथम, आर्थिक, द्वितीय राजनीतिक, एवं तृतीय सैनिक। आर्थिक तत्व में आर्थिक सहायता और आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम अपनाये गये, राज-नीतिक नीति को सम्पादित करने के लिए पश्चिमी यूरोपियन संघ की स्थापना की दिशा में आगे बढ़ा गया और सैनिक नीति के अन्तर्गत सैन्य संगठनों की स्थापना पर बल दिया जाने लगा।

मार्शल योजना

(Marshall Plan)

"अवरोध" की नीति (Policy of Containment) का दूसरा चरण मार्शल योजना थी जिसका उद्देश्य युद्ध विध्वस्त यूरोप का आर्थिक पुनर्निर्माण करके उसे साम्यवाद से बचाना था। यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण वाले अगले एक अध्याय में इस योजना पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है। यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि मार्शल योजना समसामयिक कूटनीतिक इतिहास की सर्वाधिक दिलचस्प और युग-प्रवर्तक घटनाओं में से एक थी जिससे रूस और पश्चिम का विरोध पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हुआ। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (१९४७-१९५१) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग ११ मिलियन डालर की सहायता दी। इस योजना के बल पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका पाश्चात्य जगत का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोपीयन देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगाई कि वे अपनी सरकारों में साम्यवादी तत्वों का उन्मूलन करेंगे। १९४६-४७ तक फ्रेंच शासन में साम्यवादी थे, लेकिन १९४८ में जब ब्लूम फ्रांस के

लिए ऋण प्राप्त करने हेतु वाशिंगटन गया तो उस पर दबाव डाला गया कि ऋण प्राप्ति के लिए फ्रेंच सरकार से साम्यवादियों का निकाला जाना आवश्यक है। इसी प्रकार इटली में मार्शल सहायता पाने वाली सरकार को मंत्री-मण्डल में से साम्यवादियों को निकालना पड़ा।

मार्शल योजना एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धान्त का एक ही विकसित रूप थी। इसने ट्रूमैन सिद्धान्त में प्रतिपादित 'अवरोध की नीति' को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया—

(१) ट्रूमैन सिद्धान्त में अलग अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गई थी, मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप से सहायता देने की व्यवस्था की गई।

(२) मार्शल योजना की 'अवरोध की नीति' में आर्थिक तत्वों के महत्व को भली प्रकार स्पष्ट कर दिया गया।

(३) इसके द्वारा पहली बार अमेरिकन आर्थिक सहायता को एक सहयोगी एवं योजनाबद्ध रूप दिया गया।

यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक स्तर पर साम्यवाद के अवरोध की नीति के अनुसार अमेरिका ने जर्मन अर्थ-व्यवस्था को भी पुनर्गठित करने का प्रयास किया। जून, १९४८ में पश्चिमी शक्तियों द्वारा जर्मनी के अपने क्षेत्रों में उन्होंने कुछ मुद्रा सम्बन्धी सुधार किये, जिसके विरोध में रूस द्वारा बर्लिन की 'कुख्यात नाकेबन्दी' की गयी जो अन्ततः असफल सिद्ध हुई। पश्चिमी शक्तियों के मौद्रिक सुधारों और बर्लिन संकट पर उनकी दृढ़ता ने जर्मन जनता को यह विश्वास दिला दिया कि पश्चिमी शक्तियां उनके हितों की रक्षा करने के लिए उत्सुक और समर्थ हैं।

चार सूत्री कार्यक्रम
(Four Point Programme)

मार्शल योजना का उद्देश्य केवल यूरोप की आर्थिक अस्त-व्यस्तता को पुनः दृढ़ करना था, लेकिन चीन में साम्यवादियों की महान् विजय से अमेरिकन और अन्य पश्चिमी राजनेता इस बात से चिन्तित हो गये कि विश्व के अल्प विकसित देश साम्यवादी प्रसार के उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं। अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने, ऐसे प्रदेशों में साम्यवादी प्रसार के अवरोध के लिए, अमेरिकन विदेश नीति के 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा करते हुए २० जनवरी, १९४९ को कहा कि—

"आगामी वर्षों में शांति और स्वतन्त्रता के कार्यक्रम में चार प्रधान बातों पर बल दिया जायेगा—

(i) संयुक्त राष्ट्रसंघ का पूर्ण समर्थन,
(ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य को करते रहना,
(iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतन्त्रता प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना, एवं
(iv) अल्पविकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक (Technical) सहायता देना।"

कांग्रेस ने १९५० के 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम' (Act for International Development) के द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टेबिन्स (Richard P. Stebbins) के शब्दों में "यह कानून अमेरिकी विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था।"[1] इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ने लगी क्योंकि अर्ध-विकसित देशों की आवश्यकताएँ बहुत अधिक थीं तथा अमेरिका के राष्ट्रीय हित की इसके द्वारा साधना होती थी। आलोचकों द्वारा चार सूत्री कार्यक्रम को शीतयुद्ध का ही एक अस्त्र माना गया और कहा गया कि यह अर्ध-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने तथा उनसे आवश्यक रणनीति का सामान प्राप्त करने का एक तरीका है न कि अर्ध-विकसित देशों को आर्थिक सहायता प्रदान कर अपने पाँवों पर खड़े होने तथा अन्य स्वतन्त्र देशों के साथ अपना सामान्य सम्बन्ध बनाने की सुविधा देने का प्रयास।

नाटो : अवरोध की रण विधि
(NATO : The Strategy of Containment)

राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न किया। उसने दूसरे देशों के साथ सैनिक सन्धियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) का तरीका प्रारम्भ किया जो अमेरिकन विदेश नीति का एक नवीन प्रयोग था। वैसे इस दिशा में प्रथम पग १७ मार्च, १९४८ की ब्रुसैल्स सन्धि थी, जिसके द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग ने यूरोप से सशस्त्र आक्रमण होने की दिशा में परस्पर सहायता देने का वचन दिया। किन्तु यह सन्धि, वस्तु स्थिति की दृष्टि से, संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा की वचनबद्ध सशस्त्र सहायता के अभाव में कुछ भी प्रभावशाली नहीं थी। अतः सैनिक अवरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए अमेरिका द्वारा

1. Richard P. Stebbins, The U. S. in World Affairs, 1950 P. 96.

नाटो का आयोजन किया गया और ४ अप्रेल, १९४९ को यह प्रथम सैनिक सन्धि संयुक्त राज्य, कनाडा, इटली, आइसलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच हो गई। यह उत्तरी अटलान्टिक संधि अनेक तरह से एक 'नवाचार' (Innovation) थी। यह प्रथम सन्धि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वयं को वचनबद्ध किया। इसी के साथ यूरोपीयन देशों की रणशक्ति बढ़ाने के लिए पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम भी अपनाया गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका को तेजी से सैनिक संधियों के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए उत्तरदायी एक और महत्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत रूस ने १९४९ में ही एटम बम (Atom Bomb) के रहस्यों को खोज निकाला था जिन्हें कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा था। रूस की खोज से अणुबम पर संयुक्त राज्य अमेरिका का अणुशक्ति पर एकाधिकार (Monopoly) का अन्त हो गया और उसकी सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया। इस घटना के परिणामस्वरूप अमरिका के लिए साम्यवाद का आतंक बढ़ गया। इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने कोरिया (Korea) में साम्यवाद के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही का भी नेतृत्व किया।

खुले संघर्ष का काल
(जून १९५० से जुलाई १९५३)

वास्तव में साम्यवाद का खतरा ज्यों ज्यों बढ़ता जा रहा था, अमेरिकन प्रतिक्रिया उसी के अनुरूप हो रही थी और इसी प्रतिक्रिया का एक स्वरूप यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका महत्वपूर्ण सैनिक संधियों व प्रतिरक्षा संगठनों की स्थापना की दिशा में झुका। जून १९५० में दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से, जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत अमेरिकन सेनाओं ने लगभग पूर्ण युद्ध किया, अमेरिकन विदेश नीति में सैनिक शक्ति का महत्व द्विगुणित हो गया। श्लिचर (Schleicher) महोदय के शब्दों में "अमेरिकी सैनिक शक्ति के लिए विनियोग तिगुने से भी अधिक हो गया, यूरोप को दिये जाने वाले सहयोग में सैनिक शक्ति पर जोर दिया जाने लगा, तथा मार्शल योजना की मदें 'सुरक्षा समर्थन की मदें' बन गयी।"[1]

कोरिया युद्ध जून, १९५० से जुलाई १९५३ तक चला और यह अवधि शीत युद्ध की जगह खुले संघर्ष अथवा सक्रिय युद्ध की रही। इसलिए अमेरिकन युद्धोत्तर वैदेशिक नीति के इतिहास में यह एक प्रकार का 'खुले संघर्ष का काल' (Period of Open Conflict) रहा। इस अवधि में, अवरोध नीति के राजनीतिक और आर्थिक पक्ष की अपेक्षा सैनिक पक्ष को विशेष -

1. Schleicher, International Relations, p 460.

महत्व देते हुए ३० अगस्त, १६५१ को अमेरिका ने फिलिपाइन्स के साथ एक प्रतिरक्षा समझौता किया, १ सितम्बर १६५१ को आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड के साथ एन्जस समझौता किया और इसी तरह ८ सितम्बर, १६५१ को जापान के साथ एक प्रतिरक्षा समझौता सम्पन्न हुआ।

स्पष्ट है कि अमेरिकन प्रशासन में सैनिक शक्ति के उपयोग एवं सैनिक तथा प्रतिरक्षा समझौतों के महत्व को विचारधारा बलवती हुई। इस तरह अमेरिका अपनी विदेशी नीति में अब आर्थिक और सैनिक दोनों ही तत्वों को प्रधानता देने लगा। ये दोनों ही तत्व आज भी अमेरिकन विदेशी नीति के प्रधान अंग बने हुए हैं और यदि देखा जाय तो द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद के कुछ काल को छोड़कर अमेरिकन विदेश नीति का अब तक सम्पूर्ण इतिहास इन दोनों तत्वों की प्रधानता ग्रहण किये हुए है।

नवीन दृष्टि का काल
(जुलाई १६५३ से जनवरी १६६१ तक)

जनवरी १६५३ में २० वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति के रूप में जनरल आइजन होवर ने ह्वाइट हाउस में प्रवेश किया। उन्होंने अपने निर्वाचन अभियान में कोरिया युद्ध को समाप्त करने का वचन दिया था और जुलाई १६५३ में कोरिया युद्ध समाप्त हो गया। इसके पूर्व ही मार्च, १६५३ में रूस के कठोर और लौह पुरुष स्टालिन की मृत्यु हो चुकी थी। १६५३ के वर्ष की इन सब घटनाओं के सम्मिलित परिणामस्वरूप शीतयुद्ध की गर्मी में कुछ समय के लिए कमी आई, अमरिकन विदेश नीति में इस स्थिति से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

कई कारणों से अमरिका की इस नवीन सरकार, नवीन राष्ट्राध्यक्ष और नवीन सचिव के प्रति लोग संदेह भरी दृष्टि से, देखते हुए आशंका कर रहे थे कि सम्भवतः ये अपने पहले वालों से अधिक सैनिकवादी एवं युद्धप्रिय रहेंगे। किन्तु जैसा कि पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) का कहना है, कि आइजन होवर ने किसी विदेश नीति को रूपरेखा नहीं रखी वरन् 'कुछ निश्चित सिद्धान्त' रखे जो उनके प्रशासन का संरक्षण करने का थे।[1] विदेश नीति के ये सिद्धान्त मुख्य रूप से इस प्रकार थे—युद्ध का तिरस्कार, अमेरिकन शक्ति का विकास, दूसरे देशों के साथ सहयोग की इच्छा, तुष्टीकरण का अभाव, अमेरिकन शक्ति का दुरुपयोग नहीं, दूसरे देशों की सुरक्षा के लिए समर्थन, विश्व के उत्पादन तथा लाभ पूर्ण

1. Palmer and Perkins, op. cit. P. 710.

व्यापार को प्रोत्साहन देना, संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति भक्ति भावना, पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों के साथ सहयोग, यूरोपीय एकता को बढ़ावा देना, सभी लोगों एवं जातियों की समानता तथा संयुक्त राज्य को शान्ति के लिए एक प्रभावशाली शक्ति बना देना।

वास्तव में रूस द्वारा परमाणु बम के निर्माण, विपुल अमेरिकन सहायता के बावजूद चीन में साम्यवाद की विजय और उसके बाद में कोरिया के युद्ध ने संयुक्त राज्य अमरीका को अपनी विदेश नीति पर एक नई दृष्टि (New look) डालने पर विवश कर दिया। अब रूस के साथ सहअस्तित्व का इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना आवश्यक हो गया। साम्यवादी चीन की बढ़ती हुई शक्ति ने भी यह जता दिया कि रूस का अवरोध न केवल यूरोप में वरन् सुदूर पूर्व में भी किया जाना आवश्यक है। फिर कोरिया युद्ध से यह आशंका और भी दृढ़ हो गई कि यूरोप और पूर्वी एशिया में अवरुद्ध हो जाने के बाद रूस मध्यपूर्व में बढ़ने का प्रयत्न करेगा। इस आशंका के फलस्वरूप मध्यपूर्व का प्रदेश संयुक्त राज्य अमेरिका की दिलचस्पी का प्रधान केन्द्र बन गया।

राष्ट्रपति आइजनहोवर के शासन काल में घटना चक्र कुछ ऐसा घूमा कि जिससे शीत युद्ध में कुछ समय के लिए शिथिलता आ गई और अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटाव मिटने की आशायें की जाने लगी। मार्च १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत नेतृत्व जिन लोगों के हाथों में आया उन्होंने भी पूर्वापेक्षा कुछ स्फीती और समझौतापूर्ण नीतियाँ अपनानी चाहीं। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। १६ अप्रैल, १९५३ को राष्ट्रपति आइजनहोवर ने शान्ति के पक्ष में दस दलील दी जिन्हें सुन कर लोगों का यह भ्रम बहुत कुछ दूर हो गया कि यह सैनिक जनरल अमेरिका को पूरी तरह सैनिकवाद की ओर ढकेल देगा। ११ मई को चर्चिल द्वारा फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका का शिखर सम्मेलन बुलाया गया। पश्चिमी यूरोप को अधिकाधिक एकीकृत करने के प्रयत्न किये गये। जुलाई १९५३ में ३ साल से भी अधिक समय से चलने वाला कोरियाई युद्ध बन्द हो गया। अगस्त में सोवियत रूस ने घोषणा की कि उसने हाइड्रोजन बम का विस्फोट कर लिया है। इसके तुरन्त बाद दिसम्बर में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में आइजनहोवर ने अणु शक्ति पर नियन्त्रण रखने और उसका शान्ति के लिये प्रयोग करने का प्रस्ताव रखा।

सन् १९५४ में इतने अधिक सम्मेलन हुए कि जॉन फोस्टर डलेस को यात्री राज्य सचिव की संज्ञा दी जाने लगी। पश्चिमी यूरोप को एकीकृत

करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसी वर्ष पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union) की स्थापना की गई और जर्मनी को नाटो का सदस्य बना लिया गया। १९५४ में ही साम्यवादी चीन की सहायता से साम्यवादी छाप मारों द्वारा हिन्द चीन में गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी गई जिसके फलस्वरूप जुलाई में हिन्द चीन, फ्रांस, साम्यवादी चीन, रूस और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने जेनेवा सम्मेलन में हिन्द चीन को विभाजित करने का निर्णय लिया। इसके उत्तरी भाग में वियतमिन्ह (बाद में उत्तरी वियतनाम) का साम्यवादी राज्य स्थापित किया गया और दक्षिणी भाग को लाओस, कम्बोडिया तथा दक्षिणी वियतनाम के तीन गैर-साम्यवादी राज्यों में विभाजित कर दिया गया। इस घटना-चक्र ने संयुक्त राज्य अमेरिका को साम्यवादी चीनी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए कृत-संकल्प बना दिया, और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सितम्बर १९५४ में थाइलैंड, फिलिपाइन्स, पाकिस्तान, ब्रिटेन फ्रांस, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के साथ 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा संधि' (South East Asia Collective Defence Treaty) पर हस्ताक्षर करके सीटो (SEATO) की स्थापना की गई।

मध्यपूर्व आइजनहोवर सिद्धान्त
(Middle East Eisenhower Doctrine)

यूरोप और सुदूरपूर्व में साम्यवादी प्रसार के अवरोध के लिए सैन्य संगठनों व प्रतिरक्षा संधियों आदि की स्थापना के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका मध्य-पूर्व की ओर मुड़ा। इस क्षेत्र में साम्यवाद के प्रसार पर अंकुश लगाने के लिए आइजनहोवर प्रशासन ने टर्की, ईरान, पाकिस्तान और ब्रिटेन आदि को प्रेरित कर के १९५५ में बगदाद पैक्ट (जिसे १९५९ में सेण्टो कहा जाने लगा) की रचना कराई। यद्यपि मध्यपूर्व में अमरिका का यह प्रयास प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ परन्तु इस क्षेत्र में अपना प्रभाव जमाने का उसे एक अन्य सुअवसर मिल गया। हुआ यह कि १९५६ में स्वेज नहर के प्रश्न को लेकर ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल ने संयुक्त रूप से मिस्र पर आक्रमण कर दिया। सौभाग्यवश संयुक्त राज्य अमेरिका ने ब्रिटेन और फ्रांस को इस कार्यवाही को अपना समर्थन प्रदान नहीं किया प्रत्युत उन्हें यही सदपरामर्श दिया कि वे अपना आक्रमण खत्म कर दें। अन्त में, अमेरिका सहित विश्व-जनमत के विरोध पर, विदेशी आक्रान्ताओं को स्वेज से हटना पड़ा। स्वेज काण्ड में पराजय का परिणाम यह निकला कि एक लम्बे समय से मध्यपूर्व की राजनीति पर नियन्त्रण करने वाले ब्रिटेन और फ्रांस इस क्षेत्र में अपना प्रभाव खो बैठे और मध्यपूर्व में इस शक्ति शून्यता से यह आशंका हो गई कि रूस इस क्षेत्र में

अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा। इस सम्भावना को रोकने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका इस क्षेत्र मे कूद पडा। उसने यहां शांति बनाये रखने तथा साम्यवादियो का प्रसार रोकने के लिए सुप्रसिद्ध 'आइजनहावर सिद्धान्त' प्रतिपादित किया।

"आइजनहोवर सिद्धात' की घोषणा ५ जनवरी, १९५७ को राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा कांग्रेस को भेजे गये एक सदेश मे की गयी। यह सदेश मध्यपूर्व के सम्बन्ध में अमेरिका की नीति की घोषणा थी। इस सदेश के अनुसार कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा संयुक्त रूप मे पास किये गये कानून पर राष्ट्रपति ने ९ मार्च १९५७ को हस्ताक्षर कर दिये। इस कानून के अन्तर्गत राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश मे अपनी विवेक बुद्धि से साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए फौजें भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार मिल गया।

कांग्रेस ने आइजनहोवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकन सहायता के इच्छुक मध्यपूर्व के देशो की सहायता के लिए २०० मिलियन डालर की धनराशि की स्वीकृति दी।

आइजनहोवर सिद्धान्त की प्रतिक्रियायें और सिद्धान्त का विश्लेषण—आइजनहोवर सिद्धात और कानून की प्रतिक्रियाएं मिश्रित हुईं। मध्यपूर्व में जोर्डन, लेबनान, ईरान, ईराक, सऊदी अरब और पाकिस्तान आदि ने इसका स्वागत किया। परन्तु मिस्र और सीरिया आदि ने इसे एक साम्राज्यवादी चाल बताया। सोवियत रूस ने इसका घोर विरोध करते हुए इसे संयुक्त राज्य अमेरिका की आक्रामक नीति की शृंखला की एक और कडी कहा। स्वर्गीय श्री नेहरू ने शक्ति शून्य के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा—"यदि पश्चिमी एशिया में एक शून्य है तो यह स्वयं उस क्षेत्र के देशों के द्वारा भरा जाना चाहिए। यदि दूसरे लोग आने का प्रयत्न करते हैं तो विपत्ति प्रारम्भ हो जाती है और सुरक्षा के स्थान पर हम उसका उल्टा पाते हैं।"

आइजनहोवर सिद्धान्त का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त स्पष्टतः ट्रूमैन सिद्धान्त का एक विकसित रूप था—

प्रथम, ट्रूमैन सिद्धान्त मे सहायता का क्षेत्र बिल्कुल सुनिश्चित—टर्की और यूनान था, जबकि आइजनहोवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकन राष्ट्रपति मध्यपूर्व के विशाल प्रदेश मे किसी भी देश को सहायता दे सकता था।

दूसरे, इसके अन्तर्गत दी जाने वाली सहायता का क्षेत्र भी अधिक व्यापक था। जहां ट्रूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रधानतः आर्थिक सहायता की

व्यवस्था की गई थी वहां आइजनहोवर सिद्धान्त के अन्तर्गत आर्थिक और सैनिक दोनों प्रकार की सहायता की व्यवस्था थी।

तीसरे, इस सिद्धान्त ने राष्ट्रपति को ट्रूमैन सिद्धान्त की अपेक्षा सेनायें भेजने व लड़ाई छेड़ने के अधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये।

चौथे, इस सिद्धान्त में आक्रमण की प्रवृत्ति की भी अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई। यह स्पष्ट कर दिया गया कि सहायता बाह्य साम्यवादी आक्रमण अथवा उसकी आशंका पर सम्बन्धित देशों की प्रार्थना और इच्छा पर ही भेजी जायगी।

पांचवें, ट्रूमैन सिद्धान्त की भांति इस सिद्धान्त का घोषित लक्ष्य भी मध्यपूर्व के देशों में स्थिरता और स्वतन्त्रता की रक्षा करना था, जबकि इसका वास्तविक लक्ष्य मध्यपूर्व के तेल भण्डारों को पश्चिमी गुट के लिए सुरक्षित रखना था। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि ट्रूमैन सिद्धान्त की भांति आइजनहोवर सिद्धान्त भी अमेरिका के नवीन साम्राज्यवाद का सूचक था।

आइजनहोवर सिद्धांत का प्रयोग—इस सिद्धान्त के प्रचार और प्रसार के लिए अमेरिका के विशेष राजदूत जेम्स पी रिचर्ड्स को मध्यपूर्व के देशों का दौरा करने के लिए भेजा गया। इस समय इन देशों में दो बड़े वर्ग थे—पश्चिम के समर्थक, एवं पश्चिमी विरोधी किन्तु सोवियत पक्षपाती। पश्चिम समर्थक टर्की, ईरान, ईराक और पाकिस्तान (बगदाद पैक्ट के सदस्य राज्य) ने २१ जनवरी को इस सिद्धान्त का समर्थन कर दिया। इन राज्यों के अलावा लेबनान, लीबिया और इजरायल ने भी इसके प्रति अपनी सहमति प्रकट की। किन्तु पश्चिम विरोधी सीरिया और यमन ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया, सूडान ने कोई निश्चित जवाब नहीं दिया और मिस्र ने मौन साध लेना उचित समझा।

शीघ्र ही ऐसा अवसर भी उपस्थित हो गया जबकि दो देशों में अमेरिका को 'आइजनहोवर सिद्धान्त' का प्रयोग करने का मौका मिला। ये देश थे—लेबनान और जोर्डन। लेबनान में अमेरिका ने स्वयमेव इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जबकि जोर्डन में ब्रिटेन की सहायता से। परन्तु इन दोनों देशों में ही यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से सफल न हो सका।

(1) लेबनान में अमेरिकी सेना का प्रवेश—ईसाई और मुसलमानों के प्रदेश लेबनान के तत्कालीन राष्ट्रपति चामों और प्रधानमन्त्री सामी सोलह के विरुद्ध ६ मई, १६५८ को विद्रोह हो गया। यह सरकार अमेरिका समर्थित थी जिसने आइजन-होवर सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था। लेबनान

ने सुरक्षा-परिषद में शिकायत की कि इस विद्रोह को मिस्र और सीरिया ने भड़काया है तथा वे विद्रोहियों की सहायता कर रहे हैं।

राष्ट्रसंघीय जांच आयोग ने लेबनानी आरोपों को गलत बताया, लेकिन लेबनानी सरकार ने आयोग की रिपोर्ट को अस्वीकार करते हुए तुरन्त संयुक्त राज्य अमरिका से सैनिक सहायता की माग की। १५ जुलाई, १९५८ को राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा घोषणा की गई कि लेबनानी राष्ट्रपति की अत्यावश्यक अपील पर अमेरिकन सेनायें वहां भेजी जा रही हैं। इसी दिन अमरिकी सैनिक लेबनान की राजधानी बेरूत उतर गये और २० जुलाई तक अमेरिकन सैनिकों की संख्या १० हजार तक पहुँच गई। अमेरिकन फौजों ने विद्रोह को तो दबा दिया लेकिन लेबनानी जनता ने अपनी भूमि पर विदेशी सैनिकों की उपस्थिति को पसन्द नहीं किया।

सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद में २५ जुलाई को यह प्रस्ताव रखा कि लेबनान से अमेरिकी सेना वापस बुला ली जाय। किन्तु अमेरिकन गुट से नियन्त्रित परिषद ने इस प्रस्ताव को नामंजूर कर दिया। १३ अगस्त को प्रश्न महासभा में पेश हुआ और २१ अगस्त को वहां एक प्रस्ताव पारित हुआ जिसमें अमेरिका से अपनी सेनायें वापस बुलाने की माग की गई। अमेरिका ने ऐसा करने से साफ इनकार कर दिया।

इस बीच लेबनान में गृह-युद्ध जारी रहा। ३१ जुलाई, १९५८ को राष्ट्रपति चामाँ के स्थान पर चहाब राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये। चूंकि विरोधी दलों की पश्चिमी-समर्थक चामाँ को हटाने की मुख्य माग पूरी हो गई अतः लेबनान का गृह-युद्ध भी शान्त हो गया। नयी सरकार ने अमेरिका से तुरन्त अपनी फौजें लेबनान से हटा लेने की माग की। अतः विवश हो कर उसे अपनी फौज लेबनान से हटानी पड़ी। २६ अक्टूबर, १९५८ तक अमरिकन फौजों ने लेबनान खाली कर दिया।

(ii) जोर्डन में हस्तक्षेप—१४ जुलाई, १९५८ को ईराक पश्चिम-पक्षपाती सरकार के विरुद्ध एक सैनिक विद्रोह हो गया। अतः यह आशंका की जाने लगी कि कहीं जोर्डन भी ऐसी क्रान्ति का शिकार न हो जाय। फलस्वरूप १७ जुलाई को जोर्डन के शाह हुसैन ने रेडियो से घोषणा की कि ईराक क्रान्ति से उत्पन्न स्थिति में जार्डन की रक्षा के लिए मित्र राज्यों से प्रभावशाली सैनिक सहायता की याचना की गई है। शाह हुसैन ने ब्रिटेन और अमेरिका से अविलम्ब सैनिक सहायता देने की अपील की। ब्रिटेन ने शीघ्र ही अपनी सेनायें जोर्डन भेज दी और अमरिका ने शाह हुसैन को ८५ लाख डालर की नयी आर्थिक सहायता दी। इसके अतिरिक्त अमेरिका की

वायु-शक्ति ने जोर्डन में उत्पन्न हुई पेट्रोल की कमी दूर करने के लिए बहरीन से तेल ढोना शुरू कर दिया।

जार्डन के मामले में भी अमेरिका की कार्यवाही असफल रही। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के २१ अगस्त, १९५८ के एक प्रस्ताव के अनुसार ब्रिटेन को अपनी सेनायें जोर्डन से वापस बुलानी पड़ी। इस तरह ब्रिटेन की सहायता से आइजनहोवर सिद्धान्त का सैनिक प्रयोग जोर्डन में किया गया, वह अन्त में निष्फल हुआ।

आइजनहोवर सिद्धान्त का मूल्यांकन—लेबनान और जोर्डन इन दोनों देशों में आइजनहोवर सिद्धान्त का जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रयोग किया गया, उससे इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं—

(i) आइजनहोवर सिद्धान्त को मध्य-पूर्व में साम्यवादी एवं सोवियत प्रभाव को रोकने में सफलता नहीं मिली और न ही वह इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने अथवा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने में सफल हुआ। इसके विपरीत लेबनान और जोर्डन में सैनिक हस्तक्षेप का उल्टा प्रभाव यह हुआ कि इन देशों में पश्चिमी विरोधी एवं साम्यवादी तत्वों को पुष्टि मिली तथा दोनों राज्यों में पश्चिमी प्रभाव का प्रतिरोध करने वाली सरकारों की स्थापना हुई।

(ii) यह स्पष्ट हो गया कि ट्रूमैन सिद्धान्त की तरह आइजनहोवर सिद्धान्त भी संयुक्त राष्ट्र संघ को निर्बल बनाने वाला था क्योंकि इसके कारण संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के काम को अपने हाथ में लेने का प्रयास किया गया था।

(iii) राष्ट्रपति आइजनहोवर ने मध्य पूर्व में नवीन राष्ट्रीयता के जागरण की उपेक्षा की। वह भूल गये कि अरब देश अब विदेशी हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। इस सिद्धान्त की असफलता का एक अन्य कारण मध्य-पूर्व में कर्नल नासिर का व्यक्तित्व भी था जिसकी अमरीका द्वारा घोर उपेक्षा ही कर दी गयी थी।

निष्कर्ष रूप में यही कहना चाहिए कि व्यावहारिक दृष्टि से आइजन-होवर सिद्धान्त एक साधारण सफलता रही। इसके अन्तर्गत १९५८ में लेबनान में भेजी गयी अमरीकन सेनाओं के द्वारा शांति अवश्य स्थापित की गयी, किन्तु पश्चिम के कट्टर समर्थक राष्ट्रपति चामों पुनर्निर्वाचित नहीं हो सके और बाद में अमेरिकन फौजों को लेबनान से हटना पड़ा। इसी प्रकार जोर्डन में भी अमेरिकन सहायता से शाह हुसैन के विरुद्ध विद्रोह को दबा दिया गया, परन्तु इसके बावजूद सीरिया, ईराक और मिस्र में साम्यवादी प्रभाव में वृद्धि हुई तथा ईराक बगदाद समझौते से अलग हो गया।

शीत-युद्ध में शिथिलता (१६५६-६०)—आइजन होवर सिद्धांत के कारण शीत-युद्ध तीव्र हो गया और आइजन होवर प्रशासन की विश्व के अधिकांश भाग में कटु-आलोचना होने लगी। लेकिन सितम्बर, १६५६ में जब अमेरिकन राष्ट्रपति के निमन्त्रण पर सोवियत प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की राजकीय यात्रा की, तो वातावरण में सुधार हुआ। दोनों महान् नेताओं के मध्य वार्ता से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में बड़ी कमी आयी। दोनों नेताओं ने यह निर्णय किया कि पारस्परिक मतभेदों के प्रश्नों पर बातचीत करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ब्रिटेन और फ्रांस इन चार बड़े राष्ट्रों का एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया जाय। अमेरिकन राष्ट्रपति ने १९६० के बसन्त काल में रूस की यात्रा के निमन्त्रण को भी स्वीकार किया।

शिखर-सम्मेलन की असफलता—काफी विचार-विमर्श के बाद १६ मई, १९६० को प्रस्तावित शिखर सम्मेलन होना निश्चित हुआ। दुर्भाग्यवश सम्मेलन के पूर्व ही कुछ ऐसे अपशकुन हो गये जिन्होंने पहले तो सम्मेलन के होने में ही सन्देह उत्पन्न कर दिया और बाद में जब सम्मेलन हुआ तो उसे असफल बना दिया। मुख्य रूप से ये अपशकुन दो हुए—

(i) जर्मनी से सम्बन्धित विवाद, एवं

(ii) यू-२ विमान काण्ड।

(i) **जर्मनी से सम्बन्धित विवाद**—पहला अपशकुन जर्मनी पर हुआ। १४ जनवरी, १९६० को पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर आडेनौर ने आरोप लगाया कि रूसी बर्लिन पर हमला कर रहे हैं तथा शिखर सम्मेलन का मुख्य विषय जर्मनी नहीं वरन् निःशस्त्रीकरण का प्रश्न होना चाहिए। ख्रुश्चेव ने धमकी दी कि "यदि पूर्व और पश्चिम की वार्ता ने बर्लिन की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया तो वह पूर्वी जर्मनी से पृथक सन्धि कर लेगा और पोलैंड तथा चेकोस्लोवाकिया के साथ उसकी सीमा का निर्धारण करेगा।"

फरवरी, १९६० में रूस ने बर्लिन में एक नया संकट पैदा कर दिया। पूर्वी जर्मनी में विद्यमान पश्चिमी देशों के सैनिक मिशनों को दिये जाने वाले पास पूर्वी जर्मन सरकार के नाम से जारी कर दिए गये जब कि अब तक ये पूर्वी जर्मनी के सोवियत अधिकारियों द्वारा जारी किये जाते थे। इस नयी व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि रूस इस प्रकार पश्चिमी देशों से पूर्वी जर्मनी की सरकार को 'तथ्यानुसार मान्यता' (Defacto recognition) दिलवाना चाहता था। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के दृढ़

विरोध के उपरान्त अन्त में १४ मार्च, १९६० को सोवियत रूस इस बात पर राजी हो गया कि पश्चिमी देशों के सैनिक अधिकारियों को पूर्वी जर्मनी में यात्रा के लिए जो पास दिये जायेंगे उन पर सोवियत अधिकार का क्षेत्र (Zone of Soviet Occupation) लिखा रहेगा।

इसके बाद फिर तनाव पैदा हुआ। १६ मार्च को पश्चिमी जर्मन-चान्सलर ने घोषणा की कि १६ मई को शिखर सम्मेलन होने से पहले ही पश्चिमी बर्लिन में इस बात पर जनमत संग्रह लिया जाय कि लोग बर्लिन में वर्तमान स्थिति बनाये रखने के पक्ष में हैं अथवा नहीं। इसके विरोध में दूसरे पक्ष की ओर से कहा गया कि इस प्रकार का जनमत संग्रह बर्लिन के दोनों भागों में हो।

स्पष्ट ही, ऐसे वातावरण में, दोनों पक्षों में एक दूसरे के प्रति सन्देह पूर्वापेक्षा अधिक बढ़ गया जिसका कुप्रभाव शिखर-सम्मेलन पर पड़ा।

(ii) यू-२ विमान-काण्ड—शिखर सम्मेलन के मार्ग में दूसरा सबसे बड़ा अपशकुन यू-२ विमान काण्ड हुआ। ५ मई, १९६० को सोवियत प्रधानमन्त्री ने रोषपूर्ण शब्दों में घोषणा की कि रूस के हवाई अड्डों की जासूसी करते हुए एक यू-२ अमेरिकन विमान को १ मई, १९६० को राकेट द्वारा नीचे गिरा दिया गया है। रूस ने अमेरिका पर वाक्-प्रहार किये और बाद में राष्ट्रपति आइजन होवर की इस घोषणा ने आग में घी का काम किया कि अमेरिका की हवाई जासूसी उड़ाने न्यायसंगत हैं और 'पर्लहार्बर की पुनरावृत्ति रोकने के लिए उत्तम आवश्यक हैं।' सोवियत रूस ने आइजन होवर के इन चुनौती भरे शब्दों को अपना राष्ट्रीय अपमान समझा।

यू-२ विमान काण्ड से दोनों महाशक्तियों के बीच तनाव चरम सीमा पर पहुँच गया और शिखर सम्मेलन की सफलता की आशा धूमिल हो गई, लेकिन ख्रुश्चेव की इन घोषणाओं से फिर भी आशा बनी रही कि 'अन्तर्राष्ट्रीय दबाव कम करने के प्रयत्नों में शिथिलता नहीं आने देनी चाहिए' और 'शिखर सम्मेलन में यू-२ का विषय नहीं उठाया जायेगा।'

लेकिन जब १६ मई को शिखर सम्मेलन प्रारम्भ हुआ तो सोवियत प्रधानमन्त्री ने अचानक ही यू-२ काण्ड के लिए अमरीका की निन्दा करते हुए निम्नलिखित मांगें पेश करदीं—

(१) अमेरिका को अपने उत्तेजनात्मक कार्य की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए क्षमा मांगनी चाहिए, इस कार्य को बन्द करना चाहिए और इस काण्ड के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्डित करना चाहिए।

(ग) यदि ऐसा नहीं किया जाता तो रूस की दृष्टि से शिखर सम्मेलन में अमेरिका के साथ बातचीत करना व्यर्थ है और वह इसमें भाग नहीं ले सकता।

ख्रुश्चेव ने यह भी कहा कि सम्मेलन को ६ या ८ महीने के लिए स्थगित कर दिया जाय ताकि अमरिकन राष्ट्रपति के चुनावों के बाद जनवरी, १६६१ में यह आयोजित हो सके। आइजन होवर द्वारा जासूसी उड़ानों को भविष्य में स्थगित कर देने के आश्वासन के बावजूद ख्रुश्चेव अपनी माग पर अड़े रहे। १७ मई को सम्मेलन आरम्भ होने पर ख्रुश्चेव जब नहीं आये तो यह घोषणा करदी गई कि 'ख्रुश्चेव द्वारा अपनाये रुख के कारण शिखर सम्मेलन की वार्ता आरम्भ करना सम्भव नहीं है।' अमेरिकन राष्ट्रपति आइजन होवर, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैकमिलन तथा फ्रैंच राष्ट्रपति दिगॉल के सम्मिलित प्रयास भी सम्मेलन को निष्फल होने से नहीं बचा सके।

सहअस्तित्व का काल
(जनवरी, १६६१ के उपरान्त)

कैनेडी युग

जासूसी विमान-कांड को लेकर रूस और अमेरिका के मध्य सम्बन्धों में कुछ बिगाड़ अवश्य आ गया लेकिन अक्टूबर, १६६० में श्री ख्रुश्चेव ने अपने एक दस्ताहरू्जनक और शान्तिवादी भाषण से दोनों देशों के बीच सुधार की आशा को पुनः जागृत कर दिया। इसके बाद ही ८ नवम्बर, १६६० को अमेरिकी राष्ट्रपति के निर्वाचन में सीनेटर जान फिटजेराल्ड कैनेडी की सफलता से शीत युद्ध की समाप्ति की और सह-अस्तित्व के विचार की अभिवृद्धि की आशा बढ़ गई। कैनेडी-प्रशासन ने विदेश नीति के मूल सिद्धान्तों को लगभग अपरिवर्तनीय ही रखा, लेकिन उन्हें इतना सजीव और सक्रिय अवश्य बना दिया कि ऐसा लगने लगा मानो अमेरिकन विदेश नीति में नई जान आ गई हो। श्री कैनेडी ने १६५६ की "कैम्प डेविड भावना" में विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि महा शक्तियों के हित स्पष्ट हैं और उन्हें अधिक दिन तक अपने पारस्परिक सम्बन्धों को ढीला या बिगड़ा हुआ नहीं रखना चाहिये। जून, १६६१ में वियना में कैनेडी और ख्रुश्चेव की मुलाकात हुई,और कैनेडी का यहां यह मत पुष्ट हुआ कि दोनों गुटों के बीच अस्पष्टता, सन्देह, गलत फहमी के कारण अनेक संकट पैदा हो जाते हैं किन्तु विचारों के स्पष्ट आदान प्रदान के द्वारा इन्हें मिटाया जा सकता है।

कैनेडी प्रशासन ने विदेश नीति में एक महत्वपूर्ण विकास यह किया कि साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को यहां तक कि लोह

दीवार के पीछे के प्रदेशों को भी राजनीतिक और आर्थिक विचारों का क्षेत्र बना लिया। कैनेडी ने अमेरिकन विदेश नीति को एक नया विस्तार दिया। उनकी विदेश नीति का विश्लेषण निम्नलिखित सन्दर्भों में किया जाना उपयुक्त होगा—

(क) मानवीय अधिकारों के सन्दर्भ में कैनेडी की विदेश नीति—श्री कैनेडी ने मानवीय अधिकारों के प्रति दृढ़ निष्ठा प्रकट की और कहा कि उनका देश मानव अधिकारों के क्रान्तिकारी विचारों की मशाल को बुझने नहीं देगा तथा स्वतन्त्रता की सुरक्षा और सफलता के लिए किसी भी मित्र की सहायता करने या किसी भी शत्रु का अवरोध करने के लिए तैयार रहेगा। २० सितम्बर, १९६३ को उन्होंने नागरिक अधिकारों के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में विचार किया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि "ऐसी महान् शास्त्रा इस समय आँखें मूँदे नहीं रह सकती जब किसी सदस्य राष्ट्र द्वारा मानव अधिकारों का दुरुपयोग और दमन किया जा रहा हो।" उनका संकेत दक्षिण अफ्रीका में होने वाले अन्याय की ओर था।

(ख) संयुक्त राष्ट्रसंघ, शान्ति एवं युद्ध तथा सह-अस्तित्व के प्रति कैनेडी की विदेश नीति—श्री कैनेडी ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के पूर्ण समर्थन की घोषणा की। उन्होंने यह भी कहा कि अमेरिका शस्त्रास्त्रों द्वारा थोपी हुई नहीं वरन् ऐसी शान्ति की कामना करता है जिससे पृथ्वी पर जीवन जीने योग्य बने और राष्ट्रों तथा व्यक्तियों को विकास के अवसर मिलें। उन्होंने शान्ति और निःशस्त्रीकरण के प्रश्नों पर कम को खोया नहीं बल्कि उनके रवैये को दिखावटपूर्ण बताते हुए शान्ति के लिए उनके प्रयासों को सराहा। उन्होंने विदेश नीति के क्षेत्र में यह व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया कि—"सामाजिक शान्ति के समान विश्व शान्ति के लिए यह जरूरी नहीं है कि हर व्यक्ति अपने पड़ोसी को प्यार करे। इसके लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि वे एक दूसरे को बरदाश्त करते रहें और कोई झगड़े उठ खड़े हों तो उनके उपयुक्त एवं शान्तिपूर्ण निपटारे के लिए प्रस्तुत रहें।"

सह-अस्तित्व की धारणा में विश्वास रखते हुए श्री केनेडी ने सोवियत रूस और साम्यवादी प्रणाली के प्रति अमेरिकनों की घृणा के प्रसार को उचित नहीं माना। उन्होंने कहा कि दूसरे पक्ष का विद्रूप और निराशापूर्ण क्षेत्र मत देखो और न ही संघर्ष को अवश्यम्भावी मानो।

(ग) पुराने मित्रों के प्रति वफादारी का वचन—राष्ट्रपति कैनेडी ने जहाँ सोवियत रूस और साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सहअस्तित्व का नारा बुलन्द किया वहाँ "वफादार मित्रों के प्रति निष्ठा" रखने का वायदा भी

किया और उसे निभाया भी। उन्होंने नाटो (NATO) का आर्थिक और राजनीतिक आधार मजबूत करने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये तथा जर्मनी के प्रश्न पर झुकने से इनकार कर दिया। जून १९६१ में ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक सन्धि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी और कहा कि इससे अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस के लिए पश्चिमी बर्लिन में जाने के अधिकार समाप्त हो जायगे। लेकिन कैनेडी ने सोवियत धमकी का जवाब विवेकपूर्ण अस्वीकृति में दिया। उनके नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियों ने रूस को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि रूस की एक पक्षीय कार्यवाही उन्हें किसी भी अवस्था में मान्य नहीं होगी। अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्रों की इस दृढ़ता का परिणाम यह हुआ कि रूस ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नहीं किया।

(घ) क्यूबा का सकट और कैनेडी की विदेश नीति—राष्ट्रपति कैनेडी के कार्य-काल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना क्यूबा की घटना थी जिसने केवल सम्पूर्ण अमेरिकन राष्ट्र को ही नहीं वरन् समूचे विश्व को झकझोर दिया। इस घटना में कैनेडी की विदेश नीति की दृढ़ता स्पष्ट रूप से प्रकट हुई।

क्यूबा का टापू संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण पूर्व में वेस्ट-इन्डीज का सबसे बड़ा टापू है। प्रारम्भ में क्यूबा काफी समय तक अमेरिका की नीति का समर्थक था, लेकिन २ जून, १९५९ को फिडेलकास्ट्रो के नेतृत्व में एक क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप वह साम्यवादी रूस का समर्थक और अमेरिका का विरोधी बन गया। जैसे जैसे समय बीतता गया, कास्ट्रो सरकार साम्यवादी रूस की ओर झुकती गई।

अक्टूबर, १९६२ में क्यूबा पर एक ऐसा महान सकट उत्पन्न हुआ जिससे रूस और अमेरिका के बीच खुले संघर्ष की सम्भावना हो गई। इस घटना की शुरुआत इस प्रकार हुई—३ सितम्बर, १९६२ को रूस ने घोषणा की कि वह क्यूबा को साम्राज्यवादियों से अपनी रक्षा के लिए शस्त्रास्त्रों की पूर्ण सहायता प्रदान करेगा। उधर राष्ट्रपति कैनेडी ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया कि सोवियत रूस ने क्यूबा को प्रक्षेपणास्त्रों, पनडुब्बियों तथा राकेट आदि से सज्जित किया है जिससे अमेरिका की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया है। ७ सितम्बर को अमेरिकन कांग्रेस ने राष्ट्रपति को अधिकार दे दिया कि आवश्यकता पड़ने पर वह डेढ़ लाख रिजर्व सैनिकों को सैनिक सेवा के लिए बुला सकते हैं।

क्यूबा में रूसी शस्त्रास्त्र पहुँचते रहे और १६ अक्टूबर, १९६२ को कैनेडी ने क्यूबा की पूरी तरह हवाई जाच हवाई जाच का आदेश दे दिया जिससे इस बात की पुष्टि हो गई कि क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्रों का भारी जमाव हो रहा

है। २२ अक्टूबर को क्यूबा संकट पर राष्ट्रपति कैनेडी ने अपने कार्य काल का सबसे महत्वपूर्ण भाषण दिया, जिसमें भली प्रकार जता दिया गया कि अमेरिका की विदेश नीति में सुरक्षा का तत्व कितना जबरदस्त है और मैत्री तथा सहयोग का हाथ बढ़ाते हुए भी अमेरिका विदेश नीति में किस हद तक सैनिक कार्यवाही का आश्रय ले सकता है।

२२ अक्टूबर की अपनी चेतावनी के बाद २३ अक्टूबर को ही कैनेडी ने क्यूबा की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी। इसका स्पष्ट अर्थ था कि अमेरिका के सेना के जहाज क्यूबा के बन्दरगाहों को घेर लेंगे और वहां सोवियत शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित जहाज नहीं पहुंच सकेंगे। राष्ट्रपति कैनेडी का यह आदेश रूस को एक स्पष्ट चेतावनी थी कि वह क्यूबा को सैनिक सहायता देना बन्द करदे या युद्ध के लिए तैयार हो जाय।

सौभाग्यवश सोवियत प्रधानमन्त्री खुश्चेव ने दूर-दर्शिता से काम लिया। २३ अक्टूबर को खुश्चेव द्वारा घोषणा की गई कि रूस क्यूबा से अपने प्रक्षेपणास्त्र वापस मंगाने की आज्ञा दे रहा है और वह उस द्वीप पर स्थित सभी प्रक्षेपणास्त्र अड्डों को संयुक्त राष्ट्र संघ की देखरेख में तुड़वा देने को सहमत है। सोवियत प्रधानमन्त्री ने यह भी कहा कि भविष्य में इस प्रकार के शस्त्र क्यूबा नहीं भेजने का भी रूस आश्वासन देता है। राष्ट्रपति कैनेडी ने खुश्चेव की घोषणा का तुरन्त उत्तर दिया कि "यह एक सच्चे नेता सरीखा निर्णय है।"

इस प्रकार कैनेडी की दृढ़ता और तत्परता तथा खुश्चेव का विवेक और संयम के फलस्वरूप क्यूबा का संकट तनाव हो गया तथा अणु-युद्ध की आशंका से भयभीत मानव जाति ने सन्तोष की सांस ली।

(४) निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में प्रगति अणुपरीक्षण प्रतिबंध संधि—कैनेडी प्रशासन ने निःशस्त्रीकरण के लिए भरसक प्रयास किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए—

(i) सभी राष्ट्रों द्वारा परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने की संधि पर हस्ताक्षर करना, जो तुरन्त किया जा सकता है। परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने की वार्ता शुरू करने के लिए आम निःशस्त्रीकरण होने की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं है और न करनी चाहिए।

(ii) शस्त्रास्त्रों में प्रयुक्त होने वाले विस्फोटक पदार्थों का उत्पादन बंद किया जाए और इस समय जिन राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र नहीं है, उन्हें इन विस्फोटक पदार्थों को हस्तांतरण न किया जाए।

(iii) परमाणु अस्त्रों पर उन राष्ट्रों को नियन्त्रण हस्तान्तरित करने से रोकना, जिनके पास परमाणु अस्त्र नहीं हों।

(iv) परमाणु अस्त्रों को अन्तरिक्ष में नये युद्ध क्षेत्रों के बीज बोने से रोकना।

(v) इस समय तक जो परमाणु अस्त्र बन चुके हैं उन्हें धीरे-धीरे नष्ट करना और उनमें लगी सामग्री को शांतिपूर्ण कामों में प्रयुक्त करना।

(vi) परमाणु अस्त्रों को ले जाने वाले सामरिक महत्व के वाहनों के उत्पादन और असीमित परीक्षण पर रोक लगाना व धीरे-धीरे उन्हें भी नष्ट करना।

राष्ट्रपति केनेडी और प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव इन दोनों दूरदर्शी नेताओं के सहयोगपूर्ण रुख के कारण अन्त में २५ जुलाई, १९६३ को तीन प्रमुख परमाणु शक्तियों—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच एक परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। बाद में फ्रांस और जनवादी चीन को छोड़कर विश्व के लगभग अन्य सभी राष्ट्रों द्वारा इस सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिए गए। इस सन्धि का विस्तार से वर्णन 'निःशस्त्रीकरण' वाले अध्याय में किया जा चुका है। इस सन्धि से कुछ ही दिन पूर्व १५ अप्रैल, १९६३ को संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ ने सीधा टेलीफोन और रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U S–Soviet Hot line Agreement) हुआ जिसका उद्देश्य क्यूबा जैसे संकट के समय दोनों देशों में सीधा सम्पर्क स्थापित करके गलती से या आकस्मिक घटना से छिड़ने वाले युद्ध के संकट का निवारण करना था।

राष्ट्रपति केनेडी के समय उपरोक्त दोनों ही महत्वपूर्ण समझौतों से शीतयुद्ध के तनाव में बड़ी कमी हुई। दुर्भाग्यवश इस प्रतिभावान् नेता की २२ नवम्बर, १९६३ को हत्या हो जाने से विश्व की भावी शान्ति की आशाओं को बड़ा आघात पहुँचा।

(ख) केनेडी की लैटिन अमेरिका के प्रति नीति प्रगति के लिए मैत्री—लैटिन अमेरिका के प्रति राष्ट्रपति केनेडी ने अत्यन्त उदार और मैत्रीपूर्ण नीति अपनाई। वैसे द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका और लैटिन अमेरिका के देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के लिए १९४८ में 'अमेरिकन राज्यों के संगठन' (O A.S) की स्थापना की जा चुकी थी, परन्तु जहाँ केनेडी से पूर्व इस संगठन में सैनिक तथा कूटनीतिक सहयोग पर अधिक बल दिया जाता था, वहाँ केनेडी ने आर्थिक सहयोग पर अधिक बल देना शुरू किया। १३ मार्च, १९६१ में उन्होंने औपचारिक रूप से

अमेरिकन गणराज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों के समक्ष 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) का प्रस्ताव रखा। इसके अन्तर्गत कहा गया कि अन्य स्वतन्त्र देशों, विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और व्यक्तिगत पूंजीपतियों के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका, लैटिन अमेरिका के आर्थिक विकास एवं जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए २० हजार मिलियन डालर की सहायता तथा ऋण देगा। अपने उद्घाटन भाषण में राष्ट्रपति कैनेडी ने पश्चिमी गोलार्द्ध के राष्ट्रों के प्रति एक विशेष प्रतिज्ञा ली कि वे संयुक्त राज्य अमेरिका के 'अच्छे शब्दों को प्रगति के लिए मैत्री के रूप में, अच्छे कामों में परिणत करेंगे जिससे स्वतन्त्र लोगों तथा स्वतन्त्र सरकारों को निर्धनता की जंजीरें तोड़ फेंकने में सहायता दी जा सके।'

कनेडी ने प्रगति के लिए मैत्री प्रस्ताव रखते हुए अपने भाषण में लैटिन अमेरिका के प्रति संयुक्त राज्य की उदार नीति पर विशेष प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका इस गोलार्द्ध के देशों को हर सम्भव सहायता देने को उद्यत है। प्रत्येक दक्षिण अमेरिकी योजना ऐसी होनी चाहिए जिससे दक्षिणी अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था सुदृढ़ बने, मुद्रा सम्बन्धी स्थिरता आये, पहल करने की भावना को प्रोत्साहन मिले, अधिकतम राष्ट्रीय प्रयास सम्भव हो और वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास सम्भव हो सके।

राष्ट्रपति कैनेडी के दक्षिणी अमेरिका के देशों के प्रति जो सहायता नीति अपनायी, उसका सुपरिणाम निकला। दक्षिणी अमेरिका के देश अल्प-काल में ही आर्थिक और सामाजिक विकास के पथ पर आगे बढ़ने लगे।

अन्त में यही कहना होगा कि राष्ट्रपति कैनेडी के प्रशासन-काल में यद्यपि अमेरिका की वैदेशिक नीति के आधारभूत सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं हुए, लेकिन उन सिद्धान्तों में कैनेडी ने रचनात्मक रंग भर दिये और उन्हें एक नया निखार दे दिया।

जानसन युग

२२ नवम्बर, १९६३ को राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन उप-राष्ट्रपति लिन्डन जानसन संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने और बाद में १९६४ के निर्वाचन में विजय प्राप्त करके पुनः राष्ट्रपति पद पर नियुक्त हुए। राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद ही श्री जानसन ने घोषणा की कि वे विदेश नीति के क्षेत्र में दिवंगत राष्ट्रपति कैनेडी का अनुसरण करेंगे और अमेरिका की विदेश नीति के मूल में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जाएगा।

घोषणा प्रारम्भ मे तो बहुत कुछ यथार्थ सी
...काल के इतिहास में उनकी घोषणा की
गई। जानसन ने एक ओर तो शीत युद्ध के
...या और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में
...ष्टिकोण अपनाये। जानसन प्रशासन की विदेश नीति
...र्राष्ट्रीय प्रमुख पहलुओं के संदर्भ में देखा जा सकता है —

(क) जर्मनी और बर्लिन के एकीकरण का प्रश्न

जर्मनी और बर्लिन के प्रश्न पर अभी तक दोनो पक्षों (अमेरिका एवं रूस) के मतभेद यथावत् हैं। युद्ध के बाद से ही जर्मनी दो राज्यों मे तथा बर्लिन चार भागो मे बंटा हुआ चला आ रहा है। तब से लेकर अब तक जर्मनी के बर्लिन के एकीकरण के सम्बन्ध में अनेक बार अमेरिका व सोवियत संघ के बीच बातचीत हो चुकी है समस्या का निराकरण करने के लिए दोनों पक्षों ने अपने अपने सुझाव पेश किये हैं परन्तु इसके बावजूद भी समस्या अभी तक हल नहीं हो पायी है। इस समय बर्लिन से ८०-१०० मील पश्चिम में उत्तर से दक्षिण की ओर खींची जाने वाली एक रेखा से दोनों जर्मन राज्य विभक्त होते हैं। इस रेखा के पश्चिम में पश्चिमी जर्मनी का 'जर्मन संघीय गणराज्य (German Federal Republic) है और पूर्व में पूर्वी जर्मनी का जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य' (German Democratic Republic) है। पश्चिम जर्मनी पश्चिम का प्रबल समर्थक है जबकि पूर्वी जर्मनी सोवियत रूस का प्रभाव क्षेत्र है। दोनों ही राज्यों में आर्थिक उन्नति, उद्योगों, सम्पन्नता तथा जनसंख्या की दृष्टि से पश्चिमी राज्य बड़ा चढ़ा है।

१९५४ में २५ जनवरी से १८ फरवरी तक दोनों भागों के एकीकरण के लिए बर्लिन में विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें पश्चिमी शक्तियों ने निम्न बातों पर बल दिया—

(i) जर्मनी के दोनों भागों में तथा बर्लिन में स्वतन्त्र मतदान द्वारा संविधान परिषद का निर्वाचन किया जाय।

(ii) यह परिषद एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे।

(iii) यह सरकार विजेता शक्तियों के साथ संधि करे और वह पोलैण्ड तथा रूस द्वारा हथियाये गये जर्मनी प्रदेशों का अन्तिम बटवारा करे।

(iv) यह सरकार शान्ति संधि में सन्निहित शर्तों के अनुसार अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्वयं निश्चित करे।

पश्चिमी शक्तियों के प्रस्तावों से असहमत होते हुए सोवियत संघ ने एकीकरण के लिए इन बातों पर बल दिया—

(i) पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी के 'जर्मन डेमोक्रेटिक गणराज्य' को सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें।

(ii) पश्चिमी देश सोवियत रूस की यह बात मान लें कि जर्मनी पर अधिकार करने वाले देश अब जर्मनी के एकीकरण के लिए उत्तरदायी नहीं हैं।

(iii) पूर्वी और पश्चिमी दोनों गणराज्य एकीकरण के लिए आपस में सीधी बातचीत करें।

(iv) यह बातचीत कुछ निश्चित शर्तों या मान्यताओं के आधार पर हो जो इस प्रकार होंगी—दोनों राज्यों की सरकारों का बना रहना, सोवियत क्षेत्र में कम्युनिस्ट संस्थाओं की सुरक्षा, बोन के अधीन जर्मन गणराज्य को नाटो से पृथक होना तथा पश्चिमी देशों की सेनाओं का जर्मनी के प्रदेश से हट जाना।

दोनों पक्षों की शर्तों की तुलना से स्पष्ट है कि पश्चिमी शक्तियों का बल दोनों क्षेत्रों के सम्मिलित चुनाव कराने पर था क्योंकि पश्चिमी राज्य की आबादी पूर्वी क्षेत्र से तिगुनी होने के कारण उन्हें वांछित परिणाम निकलने के विषय में लगभग कोई सन्देह नहीं है। पश्चिमी शक्तियों का विश्वास है कि संयुक्त जर्मनी निश्चित रूप से पश्चिम का समर्थक होगा और इसका अर्थ होगा यूरोप में सोवियत सीमान्त का २०० मील पूर्व में चला जाना, पूर्वी जर्मनी में विद्यमान रूस के २२ डिवीजनों का पूर्वी पोलैण्ड से हट जाना, पश्चिम पर आक्रमण के लिए प्रक्षेपणास्त्र फेंकने के अड्डों का पीछे हटना और साथ ही पूर्वी यूरोप में रूसी समर्थक राज्यों पर बुरा प्रभाव पड़ना। साफ जाहिर है कि ऐसे परिणामों को जन्म देने वाले पश्चिमी प्रस्ताव को मास्को स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरी ओर रूस की एकीकरण की शर्तें पश्चिम को इसलिए मान्य नहीं हुईं क्योंकि यदि इसके आधार पर संधि हो जाय तो जर्मनी का एकीकरण करने पर सारा देश साम्यवादी हो जायगा, पश्चिमी देशों की सीमा राइन नदी पर आ जायगी, पश्चिमी जर्मनी के प्रमुख औद्योगिक केन्द्र सोवियत रूस के हाथ में चले जायेंगे और सोवियत संघ के नेतृत्व में उसकी शक्तिशाली सेना हिटलर की नाजी सेना की भांति पश्चिम के लिए संकट बन जायगी।

रूस और पश्चिमी शक्तियां दोनों ही के प्रस्तावों के परस्पर टकराने के कारण जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका।

जहाँ तक बर्लिन का प्रश्न है, पश्चिमी शक्तियाँ यथास्थिति को कायम रखने के पक्ष में रही हैं जबकि सोवियत रूस का सुझाव रहा है कि जब तक जर्मन समस्या का हल नहीं हो जाता तब तक उसे स्वतन्त्र नगर घोषित करके उसका विसैन्यीकरण कर दिया जाय। चूँकि दोनों पक्ष एक दूसरे की शर्तों को मानने को तैयार नहीं हैं अतः यह समस्या भी अभी तक लटकी हुई है।

जर्मनी के प्रश्न पर सोवियत रूस और अमेरिका के मौलिक मतभेद तब अधिक उग्र हो गये जब मई, १९५५ में पश्चिमी जर्मनी को नाटो का सदस्य बना लिया गया और मार्च १९५८ में अमरिका ने पश्चिमी जर्मनी को आणविक आयुधों तथा प्रक्षेपणास्त्रों से सुसज्जित करने का फैसला लिया। कुपित होकर मई, १९५८ में ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि—"पश्चिमी जर्मनी के आणविक शस्त्रों से सुसज्जित होने से जर्मन राष्ट्रीय एकता सम्पन्न करने का बचा हुआ एकमात्र खुला दरवाजा भी बस कर बन्द कर दिया गया है।'

१० नवम्बर १९५८ को श्री ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि—"सम्पूर्ण बर्लिन जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य के प्रदेश हैं, इस क्षेत्र पर इस गणराज्य की सर्वोच्च प्रभुता है। इसके पश्चिमी भाग पर पश्चिमी शक्तियों के अधिकार का कोई कानूनी आधार नहीं है। अतएव सोवियत सरकार ने यह निश्चय किया है कि बर्लिन में विदेशी शासन को समाप्त कर दिया जाय। सोवियत सरकार पश्चिम के साथ इस विषय पर वार्तालाप करने को तैयार है। सोवियत संघ चाहता है कि पश्चिमी बर्लिन को निःसैन्य (Demilitarized) स्वतन्त्र नगर बना दिया जाय और यह परिवर्तन ६ महीने के भीतर सम्पन्न हो जाय ताकि इस नगर का सोवियत विरोधी जासूसी के लिए प्रयोग बहुत अधिक दिनों के लिए न किया जा सके।" सोवियत रूस ने यह भी घोषणा की कि यदि पश्चिमी देशों ने पश्चिमी बर्लिन में बने रहने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग किया तो सोवियत संघ को भी युद्ध करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। २७ नवम्बर को रूस ने इस विषय में निश्चित प्रस्ताव पश्चिमी देशों के सामने रखा, किन्तु सोवियत धमकी से सर्वथा अप्रभावित रहते हुए उन्होंने कहा कि बर्लिन में उनकी वर्तमान स्थिति ५ जून, १९४५ के पोट्सडम के तथा ४ मई, १९४९ को बर्लिन-घेरे की समाप्ति पर हुए समझौते के अनुसार है।

३१ दिसम्बर, १९५८ को पश्चिमी देशों (फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका) ने बर्लिन के प्रश्न पर जर्मनी और यूरोपीयन सुरक्षा की व्यापक पृष्ठभूमि में विचार करना स्वीकार कर लिया। १० जनवरी, १९५९ को सोवियत रूस

द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि समस्या पर विचारार्थ शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन आयोजित हो। किन्तु पश्चिमी देशों ने आग्रह किया कि शिखर सम्मेलन से पूर्व परराष्ट्रमन्त्रियों का सम्मेलन होना चाहिए। १६ मार्च, १९५९ को सोवियत संघ ने इस पश्चिमी प्रस्ताव के प्रति अपनी सम्मति दे दी।

११ मई, १९५९ को संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में चारों देशों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन आरम्भ हुआ। अमेरिका की तरफ से क्रिश्चियन हर्टर, रूस की तरफ से आन्द्रेई ग्रोमिको, ब्रिटेन की तरफ से सेल्विन लायड तथा फ्रांस की ओर से कुवद मरवील (Couvede Murville) इस जेनेवा सम्मेलन में शामिल हुए। सम्मेलन के प्रारम्भ में पश्चिमी देशों ने संयुक्त रूप से जर्मन एकीकरण के लिए कुछ प्रस्ताव रखे जिन्हें अस्वीकार करते हुए ग्रोमिको ने कहा कि पहले शांति संधि की जानी चाहिए क्योंकि ऐसी संधि के अभाव में ही पश्चिमी जर्मनी आणविक आयुधों से सुसज्जित होकर और उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन का सदस्य बन कर यूरोप में तनाव उत्पन्न कर रहा है। ९ जून को बर्लिन विषयक रूसी प्रस्तावों पर वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। ये प्रस्ताव इस प्रकार थे—

(i) एक वर्ष के बाद पश्चिमी बर्लिन से पश्चिमी देशों का अधिकार समाप्त हो जाना चाहिए। एक वर्ष की अवधि तक वे कुछ सीमित अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं।

(ii) इस बीच में (इस एक वर्ष की अवधि में) पश्चिमी देश वहां अपनी सेनायें कम करें, कम्युनिस्ट विरोधी प्रचार पर प्रतिबन्ध लगायें और कम्युनिस्ट विरोधी जासूसी और तोड़-फोड़ करने वाली संस्थाओं को समाप्त कर दें तथा वहां आणविक अथवा राकेट अड्डे नहीं बनायें।

(iii) एक वर्ष के भीतर पश्चिमी और पूर्वी बर्लिन की एक अखिल जर्मन समिति बनायी जाए इसमें दोनों जर्मन राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या समान हो यह दोनों राज्यों में सम्पर्क बढ़ाय तथा एकीकरण एवं शांति के प्रस्ताव तैयार करें। श्री ग्रोमिको ने कहा कि यदि पश्चिम दो वर्ष के भीतर इन शर्तों के आधार पर समझौता करने में अड़चन डालेगा तो सोवियत रूस पूर्वी जर्मनी के साथ शांति संधि कर लेगा।

पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत प्रस्तावों को ठुकराते हुए उन्हें (प्रस्तावों को) अल्टीमेटम की संज्ञा दी। अमेरिका ने प्रस्तावों को "पूर्णतया अस्वीकार्य" कहा। सोवियत प्रस्तावों के प्रत्युत्तर में पश्चिमी देशों ने बर्लिन के सम्बन्ध में

ये प्रस्ताव रखे—

(i) पश्चिमी देश बर्लिन में विद्यमान अपनी ११ हजार सेना में वृद्धि नहीं करेंगे। यदि स्थिति अनुकूल रही तो इसमें कमी करने का विचार किया जा सकता है। इन सेनाओं को साधारण शस्त्र ही दिये जायेंगे।

(ii) रूस द्वारा पश्चिमी बर्लिन को आने वाले स्थलीय, जलीय और आकाशीय मार्गों को खुला रखने की गारन्टी दी जाय।

(iii) पश्चिमी देश पारस्परिक आधार पर इस बात के प्रति सहमत हैं कि वे विरोधी प्रचार अथवा तोड़फोड़ की कार्यवाहियों की जाँच करेंगे।

चूंकि दोनों ही पक्षों को जर्मनी व बर्लिन के सम्बन्ध में रखे गये एक दूसरे के प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुए अतः ११ जून को यह सम्मेलन १३ जुलाई १९५९ तक के लिए स्थगित हो गया। १३ जुलाई से ५ अगस्त १९५९ तक विदेश मन्त्रियों का पुनः सम्मेलन हुआ, किन्तु बर्लिन समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सका और फलस्वरूप सम्मेलन विफल हो गया। तत्पश्चात् मई, १९६० के शिखर सम्मेलन में इस समस्या पर विचार किया जाना निश्चित हुआ किन्तु यू–२ विमानकाण्ड हो जाने के फलस्वरूप शिखर सम्मेलन की भ्रूण हत्या हो गई और उसमें किसी प्रकार का विचार-विमर्श नहीं हो सका।

तब से लेकर अभी तक जर्मनी और बर्लिन का प्रश्न समाधान के लिए अटका हुआ है। राष्ट्रपति जॉनसन के प्रशासन काल में भी संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति लगभग वही रही जो पहले थी। २० जनवरी, १९६९ से चलने वाले निक्सन-प्रशासन की नीति में भी पहले से कोई भिन्नता इस मसले पर नजर नहीं आयी है। वास्तव में अमेरिका चाहता है कि जर्मनी के दोनों भागों में और बर्लिन में स्वतन्त्र मतदान द्वारा विधान निर्मात्री सभा चुनी जाय और यह सभा एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे। यही सरकार विजेता शक्तियों के साथ संधि करे और इसमें पोलैण्ड एवं रूस द्वारा हथियाये गये प्रदेशों का अन्तिम बटवारा हो। इसके विपरीत सोवियत रूस भी पहले ही के समान यही है कि पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी को एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें और फिर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दोनों गणराज्य अपने एकीकरण के लिए परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता करें। दोनों ही पक्षों की ओर से जर्मन एकीकरण के लिए रचनात्मक उपाय अपनाये जाने की अपेक्षा कूटनीतिक दावपेचों से उलझे हुए सुझाव पेश किये जाते हैं जिनसे समस्या का समाधान निकट भविष्य में होता दिखाई नहीं पड़ता।

(ख) साम्यवादी चीन की मान्यता का प्रश्न

जॉनसन प्रशासन यह मानता रहा कि जिस लाल चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का सहारा लिया है, संयुक्त राष्ट्र संघ से युद्ध किया है,

तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमेरिका के विनाश की बात करता है, उसे संघ में प्रवेश के योग्य एक शांतिप्रिय राष्ट्र नहीं माना जा सकता तथा अमेरिका उसे मान्यता नहीं दे सकता। नव-निर्वाचित राष्ट्रपति निक्सन यद्यपि अधिक समझौतावादी प्रवृत्ति के दिखाई देते हैं लेकिन लालचीन को मान्यता देने के प्रश्न पर उनके प्रशासन की नीति में अभी तक पूर्ववर्ती प्रशासन की नीति से कोई भिन्नता प्रकट नहीं हुई है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने ११ नवम्बर, १९६९ को साम्यवादी चीन को संघ का सदस्य बनाने से १९वीं बार इन्कार कर दिया और संयुक्त राज्य अमेरिका का मत चीन की सदस्यता के विरोध में पड़ा।

(ग) लैटिन अमेरिका और जानसन प्रशासन

जानसन प्रशासन के अन्तर्गत लैटिन अमेरिका अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति बरकरार रखने की 'विवशता' के अभिशाप से ग्रस्त है। स्वर्गीय राष्ट्रपति कैनेडी ने इस क्षेत्र की आर्थिक समृद्धि के लिए मार्च, १९६१ में 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for progress) का कार्यक्रम प्रारम्भ किया था, किन्तु जानसन प्रशासन इस कार्यक्रम को प्रभावशाली रूप में कार्यान्वित करने में असफल रहा और उसकी मौलिक नीति यही रही कि राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों की भौगोलिक दूरी का लाभ उठाते हुए लैटिन अमेरिका को हर तरह से अमेरिकन प्रभाव क्षेत्र में रखा जाये। यह वास्तव में एक दुखद तथ्य है कि आकार में भारत से चौगुना यह महाद्वीप उन सभी विषमताओं से पीड़ित है जिनसे कि अफ्रीका या दक्षिणी एशिया के देश। लगभग २५ करोड़ की आबादी वाले इस महाद्वीप के देशों की आर्थिक प्रगति के लिये अमेरिका के तत्वावधान में संगठित किया गया 'प्रगति के लिये मैत्री कार्यक्रम' अपने उद्देश्य को पाने में असफल ही रहा है। कई अरब डालर की आर्थिक सहायता इस रूप में प्रदान की गई है या इस सहायता कार्यक्रम को इस तरह लागू किया गया है कि इस महाद्वीप की आर्थिक समृद्धि बढ़ने की बजाय घटी ही है। अमरीका के साये में पलती गरीबी का हाल यह है कि इस महाद्वीप के ५-६ देशों में वामपंथी छापामार गतिशील रहते हैं, हालांकि लैटिन अमेरिका रूस और चीन से हजारों मील दूर है। उधर अमेरिका चाहता है कि इन देशों के बाजार तो उसे मिलें लेकिन उसको कम से कम कीमत चुकानी पड़े। इसके लिये राष्ट्रपति जानसन सैनिक प्रशासनों को भी उतना ही महत्व देते हैं जितना कि अनुदार असैनिक प्रशासनों को। स्वर्गीय श्री कैनेडी क्यूबा से चोट खाकर नहीं चाहते थे कि लैटिन अमेरिका में साम्यवाद पनपे, लेकिन उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जानसन ने उदार नीति छोड़ कर सख्त रवैया

अपनाया। लेटिन अमेरिका के प्रति उनकी नीति "कथनी और करनी" के अन्तर की रही।

वियतनाम के सम्बन्ध में जानसन प्रशासन की नीति—वियतनाम पर आक्रामक रुख अपनाने का निर्णय राष्ट्रपति कैनेडी के समय ही ले लिया गया था और जानसन के शासन काल में यह नीति उत्तरोत्तर उग्र होती गई। वियतनाम युद्ध पर विस्तार से प्रकाश 'वियतनाम युद्ध एवं पश्चिमी एशिया का सकट' नामक अगले अध्याय में डाला गया है। यहां इतना ही जान लेना काफी है कि अगस्त, १९६४ से ही अमेरिका अपनी विशाल सैनिक शक्ति के साथ वियतनाम युद्ध में कूद पड़ा और यह युद्ध हनोई तथा वाशिंगटन का युद्ध बन गया। युद्ध में अमेरिका को प्रारम्भिक सफलता भले ही मिली हो, किन्तु बाद में उसे अनेक भीषण और अपमानजनक पराजयों का सामना करना पड़ा। वियतनाम युद्ध के प्रति अमेरीकी जनता का आक्रोश और विश्व जनमत का दबाव बढ़ गया। ३१ मार्च, १९६१ को जानसन ने राष्ट्र के नाम अपने एक सन्देश में घोषणा की कि वियतनाम में शान्ति-वार्ता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उत्तरी वियतनाम पर बम बारी सीमित करने के आदेश दे दिये गये। राष्ट्रपति ने साथ ही यह भी घोषणा की कि वह आगामी चुनावों में राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी नहीं बनेंगे। सीमित बम-बारी का उनका निर्णय वियतनाम से अमेरिका की सम्मानित वापसी का पहला लक्षण था जो वर्तमान निक्सन प्रशासन में स्पष्ट है साकार रूप में प्रकट होगा। जानसन ने अपने शासन के शेष काल में वियतनाम के प्रति सहिष्णुता की नीति से काम लिया।

(ब) कोरिया और प्वेबलो सकट—राष्ट्रपति आइजनहोवर के समय की 'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदारी' की नीति को जानसन ने न केवल जारी रखा वरन् उसका कार्य क्षेत्र और भी बढ़ा दिया। इस नीति ने शीघ्र ही एक ऐसा सकट पैदा कर दिया जिसमें अमरिका को बड़ा अपमानित होना पड़ा। अमेरिका के एक जासूसी पोत प्वेबलों को २३ जनवरी, १९६८ को उत्तरी कोरिया ने अपनी प्रादेशिक जल-सीमा में पकड़ लिया और जहाज पर सवार ८३ व्यक्तियों को हिरासत में ले लिया। अमेरिका जैसी महाशक्ति के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पोत को हिरासत में ले लेना अमेरिका का अपमान था और उसकी विदेश नीति पर एक करारी चोट थी। उत्तरी कोरिया ने यह निश्चय भी प्रकट कर दिया कि पोत पर पकड़े हुए अमरिकी जासूसों पर मुकदमा चलाया जायेगा। जानसन प्रशासन ने आरोप से इनकार करते हुए कहा कि प्वेबलो 'सूचना सग्रह का सहायक पोत' था जिसे जापान सागर में समुद्र

तट से २५ मील दूर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पकड़ा गया है। जानसन प्रशासन ने चुनौती दी कि उत्तरी कोरिया की सरकार अवैध रूप से पकड़े गये पोत को छोड़ दे। इतना ही नहीं अमेरिका ने उत्तरी कोरिया को भयभीत करने के लिए विशाल पैमाने पर सैनिक तैयारियां कीं और दक्षिण कोरिया में अमेरिका के लगभग ५५ हजार सैनिक युद्ध के लिए तैयार हो गये। अमेरिकन वायु सेना और नौ-सेना को भी युद्ध पर जाने के लिए आदेश दे दिये गये। उत्तरी कोरिया इन कार्यवाहियों से भयभीत नहीं हुआ। उसने जासूसी पोत वापस करने से इन्कार कर दिया और यह भी कह दिया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का कोई भी प्रस्ताव उसे मान्य नहीं होगा।

अब अमेरिका के सामने दो ही मार्ग रहे—युद्ध या समझौता। सौभाग्यवश जानसन प्रशासन ने दूसरा मार्ग ही अपनाया। सोवियत प्रधानमंत्री ने यह संकेत दिया कि यदि अमेरिका अपनी गलती के लिए माफी माग ले तो प्वेबलो को रिहा किया जा सकता है, और तब अमेरिकन विदेश सचिव डीन रस्क ने कूटनीतिक भाषण में अपनी गलती कबूल करते हुए कहा कि अमेरिकन पोत 'भूल से उत्तरी कोरिया के प्रादेशिक जल में भटक गया था।' इस स्वीकारोक्ति के बाद उत्तरी कोरिया ने प्वेबलो को छोड़ दिया।

(घ) जानसन प्रशासन और पश्चिमी एशिया का संकट—जून, १९६७ में पश्चिम एशिया में जो महान संकट उत्पन्न हुआ उसके प्रति जानसन प्रशासन की नीति बड़ी अदूर-दर्शितापूर्ण रही। इस संकट का सविस्तार उल्लेख अगले एक अध्याय में किया गया है। जानसन प्रशासन ने पूर्णतः अरब विरोधी रुख अपनाया और इजरायली आक्रमण की योजना तैयार करने में भी सहायता दी। वास्तव में जानसन प्रशासन की नीति ने पश्चिमी एशिया के संकट को तीव्र किया। यदि अमेरिका दूर-दर्शिता से काम लेता तो इजरायल और अरब राज्यों के बीच घनघोर युद्ध नहीं छिड़ता।

जब अरब इजराइल संघर्ष छिड़ गया तो पहले तो जानसन इस बात से अनभिज्ञता प्रकट करता रहा कि आक्रमणकारी कौन है। बाद में उसने सुरक्षा-परिषद् में तथा बाहर पूर्णतः पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया और इस बात का विरोध किया कि आक्रमणकारी इजरायली सेनायें वापस लौटें। अरब-इजराइल संघर्ष में जानसन प्रशासन की नीति स्वयं अमेरिकी हितों के भी अनुकूल नहीं थी। अमेरिका ने अरब राज्यों की नाराजगी मोल ले ली। अरब देशों ने अमेरिका के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये और अपने देश में रहने वाले अमेरिकन नागरिकों को वापस चले जाने के आदेश

दे दिये। जानसन प्रशासन ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से इजरायल को इतना प्रोत्साहन दिया कि वह पूर्णतः स्वेच्छाचारी आचरण पर उतर आया और अन्त मे जानसन प्रशासन के लिए भी उसे आस मीच कर समर्थन देना कठिन हो गया। २८ दिसम्बर, १९६८ को बेरुत हवाई अड्डे पर इजरायली वायु आक्रमण की सम्पूर्ण विश्व मे निन्दा की गई। विश्व जनमत के रवैये से बाध्य हो कर जानसन प्रशासन को भी इजरायली कार्यवाही की कटु आलोचना करनी पडी।

यद्यपि सोवियत रूस का रवैया भी पूरी तरह अरब पक्षपाती रहा, लेकिन सकट का समाधान करने के लिए उसका रुख इतना अडियल नहीं था जितना जानसन प्रशासन का। इसके अतिरिक्त इजरायल को युद्ध के लिए उकसाने मे भी जानसन की नीति अधिक वजनी सिद्ध हुई।

राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन की विदेश नीति

राष्ट्रपति जानसन अपने वायदे के अनुसार दुबारा राष्ट्रपति पद के लिए खडे नही हुए और रिपब्लिकन उम्मीदवार रिचर्ड निक्सन ने राष्ट्रपति का चुनाव जीत लिया। २० जनवरी, १९६९ को वह संयुक्त राज्य अमेरिका के ३७वें राष्ट्रपति बने। राष्ट्रपति रिचर्ड निक्सन ने अपने उद्घाटन-भाषण मे अपनी शान्ति प्रियता की दुहाई दी। उन्होंने विश्व को विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि उनके नेतृत्व में संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व शान्ति स्थापित करने के लिए पूरा प्रयास करेगा और इन प्रयासों मे अन्य राष्ट्रो से साझेदारी के लिए तैयार रहेगा। नव निर्वाचित राष्ट्रपति ने यह भी कहा कि हमें प्रत्येक से मैत्रीभाव विकसित करने चाहिए। यद्यपि हम हर एक को अपना मित्र नही बना सकते, लेकिन हम यह प्रयत्न जरूर कर सकते हैं कि हमारा कोई शत्रु भी न हो।

राष्ट्रपति निक्सन ने पद ग्रहण करने के कुछ दिन बाद ही यूरोप की सद्भावना यात्रा की तैयारी की।

(क) यूरोप की सद्भावना यात्रा—२३ फरवरी, १९६९ को वह यूरोप की आठ दिवसीय यात्रा पर रवाना हुए। निक्सन वियतनाम और पश्चिमी एशिया मे सकट के बारे में तथा विश्व की अन्य महत्वपूर्ण समस्याओ के बारे मे यूरोप के देशो से अपने विचारों का आदान प्रदान करना चाहते थे। ब्रिटेन मे राष्ट्रपति निक्सन और प्रधानमन्त्री विल्सन मे ब्रिटेन अमेरिका सम्बन्धो, पूर्वी पश्चिमी समस्याओं, नाटो, साझा बाजारो आदि के बारे मे लम्बी बातचीत हुई। फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और रोम मे राष्ट्रपति निक्सन की यात्रा पर कोई विशेष उत्साह प्रदर्शित नही हुआ। पश्चिमी जर्मनी मे

अणु प्रसार विरोध सन्धि पर वासलर कौन्सिलर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार नहीं हुए। वास्तव में यूरोप की इस यात्रा के दौरान बेल्जियम को छोड़कर राष्ट्रपति निक्सन जहां भी गए, अमेरिका विरोधी नारे भी उनके पीछे लगे रहे।

यद्यपि यूरोप की सद्‌भावना यात्रा का कोई विशेष महत्व नहीं निकला लेकिन राष्ट्रपति निक्सन को यूरोपीय समस्याओं के बारे में नवीनतम जानकारी प्राप्त हुई और उन्हें यह पता चल गया कि शीत युद्ध को उभारने में पश्चिमी यूरोपीय राज्यों का संयुक्त राज्य अमेरिका को अब पूरा-पूरा समर्थन नहीं मिल सकेगा। राष्ट्रपति निक्सन को यह अहसास हो गया कि पश्चिमी यूरोप के राज्य अब पूरी तरह अमेरिका के पिछलग्गू नहीं रहना चाहते।

(ख) वियतनाम समस्या के प्रति रुख—राष्ट्रपति निक्सन ने वियतनाम समस्या के प्रति व्यावहारिक रुख अपनाते हुए प्रारम्भ से ही ऐसे प्रयास शुरू कर दिये कि पेरिस में चल रही शांति-व्यवस्था में प्रगति हो सके और वियतनाम से अमेरिकी सैनिकों की वापसी का मार्ग प्रशस्त हो सके। धीरे धीरे किन्तु दृढ़ता से उन्होंने ऐसे कदम उठाने शुरू कर दिये कि अन्तत: वियतनाम युद्ध ठण्डा पड़ते-पड़ते समाप्त हो जाय। निक्सन ने न केवल बमबारी को बहुत सीमित कर दिया वरन् काफी बड़ी संख्या में समयान्तर से अमेरिकन सैनिकों को भी स्वदेश लौटा लिया और साथ ही वियतनाम में अमेरिका की तकनीकी सामरिक शक्ति को भी इस ढंग से बनाये रखा कि उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम पर हावी न हो सके। मई, १९६९ में वियतनाम से ५० हजार अमेरिकन सैनिक वापस बुलाने का निर्णय किया गया। शांति स्थापना के लिए एक आठ सूत्रीय प्रस्ताव भी रखा गया जिसे हनोई ने स्वीकार नहीं किया। १९६९ के वर्ष के अन्त तक इस बात की पर्याप्त सम्भावना प्रबल हो गई और निक्सन प्रशासन ने बड़ी संख्या में अमेरिकन सैनिकों को वापिस स्वदेश बुलाना शुरू कर दिया।

निष्कर्ष रूप में यही कहना चाहिये कि निक्सन प्रशासन के व्यावहारिक और समझौतावादी रुख तथा हनोई की अनुकूल प्रतिक्रिया के कारण वियतनाम युद्ध के समाप्त होने की आशा बलवती हो गई है। यद्यपि पूर्ण सफलता-असफलता का निर्णय तो भविष्य ही करेगा लेकिन वर्तमान आसार यही है कि निकट भविष्य में ही यह खूनी हत्याकाण्ड बन्द हो जायेगा।

(ग) पश्चिमी एशिया के संकट के प्रति निक्सन की नीति—निक्सन

प्रशासन की पश्चिमी एशिया के संकट के प्रति नीति अभी तक जानसन-प्रशासन के एक पक्षीय रुख से कोई अधिक भिन्न नहीं है। ३ अप्रैल, १९६९ को चार बड़े राष्ट्रों की जो वार्ता न्यूयार्क में हुई, उसे सफलता विशेषतः इसी कारण नहीं मिल सकी कि निक्सन प्रशासन का रुख एकदम अरब विरोधी और इजरायली समर्थक रहा। यह वास्तव में दुख की बात थी कि निक्सन प्रशासन ने उस सीमा-रेखा को भी मानने से इन्कार कर दिया जहां तक इजरायली सेना को हटाने के लिये कहा जा रहा था। इतना ही नहीं, मिस्री इलाके में तो विसैन्यीकरण की बात कही गई लेकिन इजरायली इलाके के बारे में कुछ नहीं कहा गया।

पश्चिमी एशिया का यह संकट, जिस पर सविस्तार अगले एक अध्याय में प्रकाश डाला गया है, तब तक दूर नहीं हो सकता जब तक संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस जैसी महाशक्तियां समस्या के प्रति निष्पक्ष होकर ईमानदारी से शांति स्थापना का प्रयत्न नहीं करेंगी।

(ब) उत्तरी कोरिया में अमेरिकी जासूसी—'अन्तर्राष्ट्रीय चौकीदार' की हिमायत निक्सन प्रशासन ने पहले ही की भांति जारी रखी है। निक्सन प्रशासन के समय भी अप्रैल, १९६९ में एक भयंकर जासूसी काण्ड हुआ। उत्तरी कोरिया ने अमरिका के एक जासूसी विमान ई सी १२१ को मार गिराया। यह जहाज उत्तरी कोरिया की सीमा में घुसकर जासूसी कर रहा था। अमेरिका ने पहले तो कहा कि विमान उत्तरी कोरिया की सीमा में प्रविष्ट नहीं हुआ था और बाद में यह घोषणा करके अपनी असलियत दिखा दी कि दक्षिण कोरिया और प्रशान्त महासागर में अमेरिकन हितों की रक्षा के लिए तथा उत्तरी कोरिया की सैनिक तैयारी को जानते रहने के लिए यह आवश्यक है कि अमरिका इस प्रकार की जासूसी कार्यवाहियां करे। इतना ही नहीं, अमेरिका ने अपने विशाल नौ सैनिक बेड़े को भी उत्तरी कोरिया के निकटवर्ती समुद्र में एकत्र कर लिया ताकि भविष्य में जासूसी हवाई उड़ानों को निर्विघ्न जारी रखा जा सके। एक स्वतन्त्र राष्ट्र के प्रति निक्सन प्रशासन का यह रुख निश्चित रूप से आक्रामक कहा जाएगा।

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का मूल्यांकन

संयुक्त राज्य अमेरिका की द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति का उपरोक्त विस्तृत वर्णन हमारे समक्ष अमेरिकन विदेश नीति के मूल तत्वों का स्पष्टीकरण देता है। इस विवेचना से कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। प्रमुख बात तो यही है कि अमेरिकन विदेश नीति में उपनिवेश विरोधी

अथवा साम्राज्य विरोधी तत्वों को कभी विशेष महत्व नहीं दिया गया है बल्कि स्वयं अमेरिका ने आर्थिक व सैनिक सहायता की नीति द्वारा अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने का प्रयास किया है। लैटिन अमेरिकन देश और सुदूरपूर्व स्पष्टतः ऐसे ही क्षेत्र हैं जहा अमेरिकन साम्राज्यवादी आकांक्षाओं ने अपना खेल खेला। यही कारण है कि स्वर्गीय पंडित नेहरू अमेरिकन विदेश नीति को 'अदृश्य साम्राज्य बनाने की नीति' कह कर उसकी आलोचना करते थे। यह ठीक है कि संयुक्त राज्य अमेरिका का विश्व मे कही कोई उपनिवेश नहीं है और उसने युद्धोपरान्त अपने उपनिवेश फिलिपाइन्स को भी मुक्त कर दिया है, किन्तु विश्व भर में फैले हुए अमेरिका के सैनिक अड्डे और उसके असमान व्यापारिक सम्बन्ध वे प्रबल साधन हैं जिनके माध्यम से उसने विभिन्न देशों की आर्थिक व्यवस्था को अपने नियन्त्रण मे कर रखा है। अमेरिका से असमान आर्थिक और सैनिक संधियां होने के कारण सम्बन्धित देशों को वही काम करना पड़ता है जो अमेरिकन प्रशासन को मंजूर होता है।

मध्यपूर्व के तेल को अपने अधिकार में रखने के लिए ही अमेरिका ने वहा की राजनीति मे खुलकर हस्तक्षेप किया है। ट्रूमैन सिद्धान्त, आइजनहोवर सिद्धान्त आदि तो इस हस्तक्षेप को उचित ठहराने के आवरण का प्रयास मात्र है। सुदूरपूर्व और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए ही उसने चीन में च्यांगकाई-शेक, दक्षिणी कोरिया मे सिंगमनरी और दक्षिणी वियतनाम मे बाओदाई के भ्रष्ट शासन को खुला समर्थन दिया है। लैटिन अमेरिका में फासिस्ट और अर्द्ध फासिस्ट शासनतन्त्र उसी के समर्थन से आज तक कायम हैं। विश्व मे स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की रक्षा करने का उत्तरदायित्व लेने वाले अमेरिका ने स्पेन मे फ्रांको तथा पाकिस्तान में अयूब के तानाशाही शासनों के साथ पूर्ण सहानुभूति दर्शायी है जबकि स्वतन्त्रता और शांति प्रेमी भारत के प्रति कटुता चालबाजी और पक्षपातपूर्ण रवैया रखा है। काश्मीर पर उसका रुख और पाकिस्तान को दिये जाने वाले पैटन टैंक और सैबर जैट इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिमी जर्मनी का शस्त्रीकरण करके और उसे आधुनिक आयुधों से सुसज्जित करके अमेरिका ने पोट्सडम निर्णयों के प्रतिकूल आचरण किया है। वियतनाम युद्ध में अपनी दानवी शक्ति का प्रयोग कर के विश्व शांति को उसने संकट में डाल रखा है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में प्रादेशिक सैनिक संगठनों की स्थापना उसने यह कह कर की है कि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार को रोका जा सकेगा। परन्तु इन सैनिक संगठनों की स्थापना के कारण साम्यवाद की लोकप्रियता को तो कोई विशेष आघात नहीं पहुँचा, उल्टे अमेरिका की प्रतिष्ठा ही समूचे संसार

में और विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका के महाद्वीपों में पूर्वापेक्षा कहीं अधिक कम हुई है। और तो और, उसके पुराने साथी भी उसकी नीति से ऊब कर उसके चुगुल से निकलने का प्रयास कर रहे हैं। फ्रान्स इसका ज्वलंत प्रमाण है। एशिया मे अमेरिका की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा है। स्वयं एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि "आज एशिया मे संयुक्त राज्य अमेरिका की पहचान स्वतन्त्रता के प्रतीक के रूप मे नही अपितु बन्दूकों से होती है।"

१४

शीत-युद्ध

(COLD WAR)

शीत युद्ध का जन्म—द्वितीय महायुद्ध का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि विश्व में प्रथम कोटि की दो ही महाशक्तियाँ रह गयीं—सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि जहाँ महायुद्ध के दौरान अमेरिका, रूस और ब्रिटेन आदि ने परस्पर कंधे से कंधा मिला कर 'धुरी राष्ट्रों' (जर्मनी, जापान व इटली) के विरुद्ध संघर्ष किया था और उनके राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों ने सम्मेलनों व पत्र व्यवहार आदि में एक दूसरे से सहयोग किया था, वहाँ युद्ध के बाद इन राष्ट्रों में सहयोग के सभी आधार समाप्त हो गये। युद्ध के समय के दोस्तों में युद्ध के बाद, बल्कि युद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही, तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये। शीघ्र ही इन मतभेदों ने इतने तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य की स्थिति उत्पन्न कर दी कि पश्चिमी और पूर्वी खेमे के राज्यों में "बारूद के गोले-गोलियों से लड़े जाने वाले सशस्त्र सैनिक संघर्ष न होते हुए भी, कागज के गोलों, अखबारों से लड़ा जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का संग्राम छिड़ गया।" इसी संग्राम को 'शीत-युद्ध' (Cold War) की संज्ञा दी गई, जिससे आज का सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार पूरी तरह पीड़ित है। अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी यूरोपियन शक्तियाँ मिल कर 'पश्चिमी' (West) खेमा कहलाती हैं और सोवियत संघ व उसके पूर्वी यूरोपियन मित्र राज्य संयुक्त रूप से 'पूर्वी' (East) खेमा कहलाते हैं। पहले खेमे अथवा शिविर या गुट का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका है और दूसरे खेमे का अगुआ सोवियत संघ है।

आज लगभग सम्पूर्ण संसार इन दोनों पक्ष या गुटों में विभक्त है और इनके 'शीत-युद्ध' ने विश्व को एक तृतीय महायुद्ध के विस्फोट के निकट ला दिया। यदि समय रहते इस पर नियन्त्रण न हुआ तो यह एक न एक दिन 'व्यावहारिक युद्ध' को जन्म दे डालेगा। यह (शीत-युद्ध) एक ऐसी स्थिति है जिसमें दोनों पक्ष परस्पर शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखते हुए भी परस्पर शत्रुभाव रखते हैं और सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक दूसरे की स्थिति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह एक कूटनीतिक युद्ध है, जो व्यावहारिक युद्ध का जनक हो सकता है।

इस 'शीत युद्ध' में अमेरिका साम्यवाद को स्वतन्त्रता और विश्व शांति का शत्रु बताते हुए रूस के प्रभाव के विस्तार को रोकने का प्रयत्न करता है और हंगरी आदि पूर्वी युरोपीय देशों में हुए राष्ट्रीय विद्रोहों के आधार पर रूस को एक साम्राज्यवादी शक्ति बताता है तो रूस पश्चिमी शक्तियों को उपनिवेशवादी घोषित करते हुए साम्यवाद को एशिया और अफ्रीका के अविकसित देशों के लिए तथा विश्व की दीन हीन जनता के लिए एक रामबाण औषधि के रूप में प्रस्तुत करता है। दोनों ही पक्ष अपने अपने प्रभाव के क्षेत्र में वृद्धि करने के लिए अपनी अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं पर बल देते हैं तथा आर्थिक सहायता, प्रचार, जासूसी, सैनिक हस्तक्षेप, सैनिक गुटबन्दियाँ, प्रादेशिक संगठनों, संयुक्त राष्ट्र संघ, शस्त्रीकरण, वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति का प्रदर्शन आदि सभी सम्भव साधनों का प्रयोग करते हैं। अपने प्रभाव क्षेत्र की वृद्धि करने के लक्ष्य को पूरा करने के लिए वे जाति और वर्गगत द्वेष को भड़काने, राष्ट्रीय भावनाओं का दुरुपयोग करने, औद्योगिक असंतोष व स्थानीय संघर्षों को प्रोत्साहन देने आदि के सभी हीन उपायों का आश्रय लेते हैं। वे दरिद्रता, भुखमरी आदि मानवीय दुर्भाग्यों का लाभ उठाने में भी नहीं हिचकिचाते।

शीत-युद्ध का प्रारम्भ, कारण और इतिहास

महायुद्धोत्तर स्थिति ने दोनों महाशक्तियों के मध्य जिस शीत युद्ध को जन्म दिया, उसने याल्टा-सम्मेलन से लौटने वाले प्रतिनिधियों के विचारों को व्यक्त करने वाले हैरी हापकिन्स (Harry Hopkins) के इन शब्दों को झुठला दिया कि—"हम वस्तुतः अपने हृदय में यह विश्वास था कि यह एक नूतन दिवस का उषाकाल था जिसके लिए हम इतने वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे। हमें इस बात का पूर्ण विश्वास था कि हमने शान्ति की प्रथम विजय प्राप्त कर ली है। रूस वासियों ने यह सिद्ध कर दिया था कि वे युक्ति-युक्त और दूरदर्शी हो सकते हैं तथा हम भविष्य में जहाँ तक सोच सकते हैं

यहा तक उनके साथ शान्तिपूर्वक रह सकते हैं और चल सकते हैं।''[1] अब अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य राष्ट्रों ने रूस पर गालियों और आरोपों की बौछार करना शुरू किया और उधर रूस ने उन पर आलोचना एवं प्रत्यारोपण की झड़ी लगा दी। दोनों ही पक्षों ने एक-दूसरे को शत्रुतापूर्ण मनोभावना और सदेहपूर्ण प्रवृत्तियों से भरा सिद्ध करने के लिए अपने-अपने तर्क पेश किये। यहां हम, शीत युद्ध के कारणों को बताते हुए, दोनों ही पक्षों द्वारा दिये गये तर्कों का पृथक-पृथक रूप से वर्णन करेंगे।

(क) 'पश्चिम' की 'पूर्व' के विरुद्ध शिकायतें

अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य शक्तियों ने सोवियत संघ के विरुद्ध महत्वपूर्ण शिकायतें प्रस्तुत की अथवा उस पर जो विभिन्न प्रमुख आरोप लगाए, वे इस प्रकार हैं—

(१) रूस द्वारा याल्टा समझौतों की अवहेलना—ब्रिटेन और अमेरिका को रूस के विरुद्ध सबसे अधिक महत्वपूर्ण शिकायत यह थी कि उसने याल्टा-समझौतों का पूर्ण उल्लंघन किया है। फरवरी १९४५ में रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने कुछ समझौते किये थे, उदाहरणार्थ जर्मनी को चार 'अधिपत्य क्षेत्रों' (Occupation Zones) में विभाजित किया जायगा, 'पोलैण्ड में सोवियत संघ द्वारा सुरक्षित 'लुबलिन सरकार' और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लन्दन सरकार' के स्थान पर स्वतन्त्र चुनाव किये जाकर एक प्रतिनिधिक सरकार की स्थापना की जायगी, नये पोलैण्ड से उसके पूर्व में स्थित रूसी भाषा-भाषी प्रदेश कर्जन-रेखा के आधार पर पृथक कर दिये जायेंगे, परन्तु पश्चिम में उसे मुआवजे के रूप में कुछ जर्मन-भूमि दी जावेगी। सोवियत रूस द्वारा यह भी वचन दिया गया था कि वह "बाह्य मंगोलिया" में 'पूर्व स्थिति' (Status quo), दक्षिणी सखालिन तथा कुराइल द्वीपों पर रूसी स्वामित्व, डारेन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण (Internationalization of Dairen), पोर्ट आर्थर में एक रूसी नौसैनिक अड्डे की स्थापना तथा एक चीनी-रूसी कम्पनी द्वारा मंचूरियन रेलवे के संयुक्त-संचालन की शर्तों के साथ जर्मनी के आत्म समर्पण के दो तीन महीने बाद जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाएगा। स्टालिन ने यह भी कहा था कि वह चीन की 'राष्ट्रवादी' सरकार को ही वैध सरकार के रूप में मान्यता प्रदान करेगा।

1. Sherwood, Robert. Roosevelt and Hopkins Vol II, P. 516.

लेकिन रूस द्वारा याल्टा-समझौतों की उपेक्षा की गई। राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु के बाद अप्रैल, १९४५ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने हैरी होपकिन्स को मास्को यह सूचित करने के लिए भेजा कि उसका राष्ट्र (अमेरिका) रूजवेल्ट की नीतियों को क्रियान्वित करने पर कटिबद्ध है। प्रत्युत्तर में स्टालिन द्वारा यह आश्वासन दिया गया कि सोवियत संघ भी याल्टा-समझौतों के पालन से पीछे नहीं हटेगा।

रूस ने उपरोक्त आश्वासन भले ही दे दिया, परन्तु उसकी नीति याल्टा-समझौतों का पालन करने की न थी। उसने अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ की जिनसे पश्चिमी राष्ट्रों को यह स्पष्ट हो गया कि रूसी-दृष्टिकोण में याल्टा-समझौता रद्दी कागजों के ढेर के अलावा कुछ नहीं है—

(i) रूस ने पोलैण्ड में स्वतन्त्र चुनावों पर आधारित एक प्रतिनिधिक सरकार की स्थापना करने की अपेक्षा पोलिश जनता पर अपने द्वारा संरक्षित 'लुबनिन-सरकार' (Lubnin Government) को लादने का प्रयत्न किया। इस कठपुतली 'लुबनिन सरकार' अथवा 'Polish Committee of National Liberation' की स्थापना दिसम्बर, १९४४ में रूसी भूमि पर की गई थी और २५ अप्रैल, १९४३ को रूस ने प्रवासी पोलिश सरकार से सम्बन्ध तोड़ कर २६ जुलाई, १९४४ को लुबनिन सरकार से जोड़ दिये थे।

रूस ने न केवल लुबनिन सरकार को पोलिश जनता पर लादा ही बल्कि देश के अन्य प्रजातन्त्रीय दलों को गिरफ्तार भी कर लिया। पोलैण्ड के कैटिन (Katyn) वन हत्याकाण्ड में ४ हजार गैर साम्यवादी पोलों का लाल सेना द्वारा सफाया कर दिया गया। यह आशंका भी की जाती है कि सम्भवतः ११ हजार अन्य लापता पोलों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया होगा।[1] जब अमेरिकन और ब्रिटिश प्रेक्षकों ने पोलैण्ड में प्रवेश करना चाहा तो इनको उन्हें अनुमति नहीं दी गई।

रूस की लाल सेना द्वारा पूर्वी यूरोप में साम्यवादी दलों के प्रोत्साहन और विरोधी तत्वों के विध्वंस ने मित्र राष्ट्रों को बड़ा चिन्तित बना दिया और रूस के प्रति गहरी आशंका व सन्देह का वातावरण उनके मन-मानस में पुष्ट हो गया।

(ii) हंगरी, बल्गेरिया, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया में भी रूस द्वारा युद्ध विराम समझौतों तथा याल्टा व पाट्सडम समझौता का उल्लंघन

1 Charles Schleicher Introduction to International Relations, P 421.

लिया गया। रूस द्वारा मित्र राष्ट्रों के साथ पहले यह निश्चय किया गया था कि—"नाजियों से मुक्त किए गए राष्ट्र अपनी इच्छानुसार लोकतन्त्रीय संस्था चुनेंगे और इसके लिए मित्र राष्ट्रों के बीच सम्मिलित विचार-विनिमय किया जायगा।" परन्तु रूस ने इस पूर्व निश्चय को ठुकराते हुए पूर्वी यूरोप के इन सभी देशों में प्रजातन्त्र की पुनर्स्थापना में मित्र राष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया और इन देशों के जनमत तथा पश्चिमी राष्ट्रों के विरोध की पूर्ण अवहेलना करते हुए वहाँ रूस समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं।

रूस द्वारा याल्टा और पोट्सडम समझौतों की इस खुली अवहेलना और उसके बढ़ते हुए प्रभाव ने पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के प्रति सन्देह भावना को और भी बढ़ाया।

(iii) सन् १९४४ के मध्य साम्यवादी सेना बाल्कन प्रदेश में प्रविष्ट हो गई। इस पर चर्चिल को आशंका हुई कि रूस सामरिक महत्व के इस सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लेगा। अत. १९४४ में ही उसने स्टालिन के साथ पूर्वी यूरोप के विभाजन के प्रश्न पर यह निर्णय किया कि रूस को बल्गेरिया व रूमानिया पर छाये रहने की अनुमति होगी और ब्रिटेन को यूनान में इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त होंगे। यह निश्चय किया गया कि हंगरी और युगोस्लाविया में दोनों ही देशों का समान प्रभाव माना जायगा। चार्ल्स श्लीचर के कथनानुसार, चर्चिल के मत में यह व्यवस्था "तत्कालीन युद्ध-सम्बन्धी परिस्थिति का नियोजन थी और इससे पूर्ण समझौते की कोई आशा उन्हें प्रतीत नहीं होती थी।"[1] पश्चिमी देशों के लिए यह स्थिति बड़ी चिन्ता जनक और भय तथा आशंका से परिपूर्ण बन गई कि जर्मनी द्वारा आत्म-समर्पण किये जाने से पूर्व ही रूसी फौजों ने यूनान के उत्तर में अधिकांश पूर्वी और दक्षिण पूर्वी यूरोप पर अपना नियन्त्रण जमा लिया, जनता पर साम्यवादी सरकार थोप दी और कुछ ही वर्षों में यूनान और बाल्टिक सागर के बीच सुदृढ़ श्रमिक तानाशाही राज्य स्थापित हो गये।

(iv) सोवियत रूस की जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की अनिच्छा और उसके द्वारा मित्रराष्ट्रों को साइबेरिया—अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के प्रति सन्देह और घृणा को बढ़ाया। रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध-घोषणा तभी की जब अमेरिका द्वारा प्रथम अणुबम के प्रहार से जापान की पूर्ण पराजय एकदम सुनिश्चित व सन्निकट हो गई। साइबेरियाई अड्डों की सुविधा मित्रराष्ट्रों ने इसलिए चाही थी कि इससे प्रशान्त सागरीय युद्ध शीघ्र समाप्त हो जाने में सहायता मिलती।

(v) पश्चिमी देश रूस की इस बात से भी बड़े क्षुब्ध हुए कि जब

1. Charles Schleicher : Introduction to International Relations, p 42.

ब्रिटिश अमेरिकन अधिकारी इटली में जर्मन सेनाओं के आत्मसमर्पण के बारे में एक जर्मन सेना से वार्ता कर रहे थे तभी स्टालिन ने रूजवेल्ट को एक पत्र लिखा जिसमें उन पर और चर्चिल पर इस प्रकार का आरोप लगाया कि ब्रिटिश-अमेरिकन अधिकारियों का जर्मन सेनापति से वार्ता का आशय यह है कि रूसी सेनाओं के बर्लिन पहुँचने से पूर्व ही आंग्ल अमरीकी सेनायें उस पर कब्जा कर लें।

(vi) सोवियत रूस द्वारा चीन में भी याल्टा-समझौतों की गंभीर अवहेलना की गई। मंचूरिया स्थित सोवियत फौजों ने सन् १९४६ के प्रारम्भ में राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश-सम्बन्धी सभी सुविधायें देते हुए वह सम्पूर्ण युद्ध सामग्री भी सौंप दी, जो जापानी सेना भागते समय छोड़ गई थी।

(२) रूसी सेनाओं का ईरान से न हटाया जाना—१९४२ में एक समझौते द्वारा यह निश्चित हुआ था कि युद्ध के दौरान जिन विदेशी सेनाओं ने ईरानी प्रदेश में प्रवेश किया था उन्हें जर्मनी द्वारा आत्मसमर्पण के अधिक-तम ६ माह बाद वहाँ से हटा लिया जायगा। युद्ध के उपरान्त एंग्लो-अमेरिकन फौजें दक्षिणी ईरान से हटा ली गयी, लेकिन रूसी फौज उत्तरी ईरान में ज्यों की त्यों जमी रही। इतना ही नहीं, रूस ने इस उत्तरी क्षेत्र में साम्यवादी पार्टी को समर्थन देकर क्रांति करवाने का प्रयत्न भी किया। यद्यपि बाद में, काफी प्रयासों और संयुक्त राष्ट्र संघीय हस्तक्षेप के बाद, रूसी फौज ईरान से हटा ली गयी, किन्तु यह घटना पाश्चात्य राष्ट्रों के सन्देह और अविश्वास को पनपाने में सहायक हुई।

(३) टर्की पर रूसी दबाव—युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद रूस ने टर्की से कुछ भू-प्रदेश एवं बास्फोरस (Bosphorus) में सैनिक अड्डे निर्मित करने के अधिकार की माँग की। इन प्रदेशों पर प्रभुत्व पाने के लिए वह टर्की पर प्रभाव डालने और उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगा। पश्चिमी राष्ट्रों ने रूस के इस कदम को सर्वथा अनुचित बताते हुए अपनी नाराजगी प्रकट की और संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसे यह चेतावनी दी कि यदि उसने टर्की पर आक्रमण किया तो यह विषय सुरक्षा परिषद् में पेश किया जायगा। यूनान और टर्की की घटनाओं के कारण ही अमेरिका ने इन देशों को अपनी सुरक्षा हेतु आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया।

(४) रूस का अमेरिका-विरोधी 'प्रचार-अभियान'—साम्यवादी पत्रों ने युद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही, अमेरिकन नीतियों और नीति-निर्माताओं के विरुद्ध विष-वमन करना शुरू कर दिया। साम्यवादी पत्रों 'प्रावदा' और 'इजवेस्तिया' में अमेरिका के प्रति घोर आलोचनात्मक

लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार-अभियान' से अमेरिका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा विक्षोभ फैला। यद्यपि यह प्रमाणित नहीं हो सका कि इस आलोचना को प्रोत्साहन देने के पीछे क्रेमलिन का हाथ था, किन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता था कि यदि रूसी अधिकारी चाहते तो ऐसी अवांछित आलोचनाओं को रुकवा सकते थे। अमेरिकन राष्ट्र इस बात को भली भाँति समझता था कि इस प्रचार का उद्देश्य एशिया एवं अफ्रीका की जनता की दृष्टि में अमेरिका को बदनाम करना था।

(५) रूस द्वारा जर्मनी पर बोझ लादना—युद्ध काल में जर्मनी के हाथों सर्वाधिक जन धन की हानि रूस को उठानी पड़ी। याल्टा-सम्मेलन में स्टालिन ने माँग की कि जर्मनी से क्षति-पूर्ति स्वरूप रूस को १० बिलियन डालर दिलाये जायें। अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रूस की माँग को"अग्रिम वार्ता के आधार के रूप में" स्वीकार कर लिया। परन्तु स्टालिन ने इसका अर्थ यह लगाया कि उसकी माँग अन्तिम रूप से स्वीकार कर ली गई है। अतः युद्धोपरान्त उसने जर्मनी उद्योग को खण्डित विखण्डित करते हुए मूल्यवान मशीनों का स्थानान्तरण रूस में करना शुरू कर दिया। रूस के इस कार्य से पहले ही से अस्त व्यस्त जर्मनी आर्थिक व्यवस्था पर अतिरिक्त रूप से भारी बोझ पड़ा। ब्रिटेन और अमेरिका में रूस की इस कार्यवाही काफी विक्षोभ फैल गया और साथ ही उन्हें विवश होकर जर्मन अर्थ व्यवस्था को सहायतार्थ पर्याप्त धन व्यय करना पड़ा।

रूस ने जर्मनी सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते में भी अनेक गम्भीर उल्लंघन किये—

(i) १ अगस्त १९४५ में पोट्सडम समझौते तथा मित्र राष्ट्रीय नियन्त्रण परिषद् (Allied Control Council) के बाद के निर्णयों में यह निश्चित हुआ था कि जर्मनी जनता को कुछ आधारभूत व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतन्त्रताओं से वंचित नहीं किया जायगा। लेकिन सोवियत संघ ने अपने द्वारा अधिकृत जर्मनी क्षेत्र में हजारों व्यक्तियों को कैद करके रूस भेज दिया या बन्दी शिवरों में डाल दिया।

(ii) पूर्वी जर्मनी की जनता को पश्चिमी जर्मनी की जनता से एकदम पृथक कर दिया गया।

(iii) अप्रैल, १९४६ में रूसियों ने जर्मनी समाजवादी दल को बलपूर्वक साम्यवादी दल में इसलिये मिला दिया कि बर्लिन और पूर्वी क्षेत्र के समाजवादी मतदाताओं को अपने काबू में रखा जा सके।

(iv) पोट्सडम संधि में यह निश्चय हुआ था कि जर्मनी को एक पृथक आर्थिक इकाई माना जायगा और सभी आवश्यक पदार्थों का विविध क्षेत्रों में समान वितरण किया जायगा। लेकिन रूस ने अप्रैल, १९४६ में स्पष्ट रूप से यह कह दिया कि प्रत्येक क्षेत्र अपना व्यापार स्वयं करे। इसके अतिरिक्त फिनलैण्ड, पूर्वी आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गेरिया और रूमानिया में जर्मनी की जो सम्पत्ति 'German External Property Commission' के अधिकार में रखी गई थी उसका रूस ने स्वयं उपयोग किया।

(v) २६ सितम्बर, १९४४ का प्रकाशित लन्दन-प्रोटोकोल नामक समझौते में युद्धोत्तर बर्लिन की प्रशासन व्यवस्था के बारे में कहा गया था कि बर्लिन पर अस्थाई रूप से अधिकार करने वाली शक्तियों को बर्लिन-प्रवेश का मार्ग प्राप्त होगा। परन्तु जून १९४८ में सोवियत संघ ने बर्लिन की कुख्यात नाके-बन्दी का दौर चलाया और पश्चिमी बर्लिन तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल, सड़क और जल यातायात को बंद कर दिया। यही नहीं, रूस ने हजारों जर्मन-युद्ध बंदियों और नागरिकों को स्वदेश लौटने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया।

(vi) याल्टा समझौते और पोट्सडम-प्रोटोकोल दोनों में ही यह तय किया गया था कि जर्मनी-पोलैंड सीमा का निर्णय जर्मनी के साथ पूर्ण निपटारे तक उठा रखा जाये। लेकिन रूस ने इस समझौते का कोई परवाह न करते हुए ओडर-नीसे (Oder-Niesse) रेखा को जर्मन-पोलिश-सीमा के रूप में मान लिया और लुबलिन सरकार को यह अनुमति प्रदान कर दी गई कि वह उस भूमि पर कब्जा करके वहां बसे जर्मन नागरिकों को बाहर निकाल दे। ६ जुलाई, १९५० को पोलैण्ड और पूर्वी जर्मनी (रूस-संरक्षित) ने एक समझौते पर भी हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार ओडर-नीसे रेखा को मान्यता प्रदान कर दी गई।

(६) रूस द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में निषेधाधिकार का बारम्बार प्रयोग—पश्चिमी राष्ट्र और विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका को यह बात बहुत खली कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपना काम ठीक प्रकार से शुरू भी नहीं किया था कि सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार के अनियन्त्रित प्रयोग द्वारा उसके मार्ग में बाधायें डालना आरम्भ कर दी। सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ को अमेरिका और पश्चिमी शक्तियों की विदेशी नीति का एक अंग समझ कर, निषेधाधिकार के बल पर, सुरक्षा परिषद् में, उनके (पश्चिमी राष्ट्रों व अमेरिका के) लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपना ली। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि पश्चिम ने यह धारणा बना ली कि सोवियत रूस एक ऐसे संगठन को नष्ट करने का प्रयास कर रहा है

जिसकी स्थापना विश्व-शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए हुई है। इस सदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जहां अगस्त १९६१ तक अमेरिका ने एक बार भी निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं किया था वहां रूस ९५ बार इसका प्रयोग कर चुका था। इंगलैंड ने दो बार, फ्रांस ने चार बार और चीन (राष्ट्रवादी) ने एक बार इस अधिकार का प्रयोग किया था।

(७) रूस द्वारा शान्ति-व्यवस्था में विघ्न—महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त शांति-व्यवस्था की पुनर्स्थापना के मार्ग में रूस द्वारा इतनी अड़गेबाजी की गई कि उससे पश्चिमी शक्तियों के हृदय में रूस के प्रति बेहद शकायें पैदा हो गयीं। इटली के साथ शांति सधि तय करने के लिए लदन में जो विदेश मन्त्रियों की परिषद बुलाई गई उसमें रूसी विदेश मन्त्री मोलोतोव ने अपनी ऐसी मांगें प्रस्तुत की कि पश्चिमी राष्ट्र स्तब्ध हो गये। परिणाम यह निकला कि विदेश मन्त्री परिषद की बैठकें शांति की समस्यायें सुलझाने के स्थान पर उन्हें उलझा कर नये विवाद उत्पन्न करने लगीं।

(८) अमेरिका में साम्यवादी गतिविधियां—सोवियत रूस ने न केवल अन्य देशों में बल्कि स्वय सयुक्त राज्य अमेरिका में भी साम्यवादियों को विभिन्न प्रकार से प्रेरित किया। सन् १९४५ के प्रारम्भ में 'स्ट्रेटेजिक सर्विस' (Strategic Services) के अधिकारियों को पता चला कि उनकी सस्था के बहुत से गुप्त दस्तावेज (Secret Documents) साम्यवादी सरक्षण में चलने वाले 'अमेरेशिया' (Amerasia) नामक मासिक पत्र के सम्पादक के हाथ में पहुंच गए हैं। इसके अतिरिक्त १९४६ में 'कनाडियन शाही आयोग' (Canadian Royal Commission) की रिपोर्ट ने यह प्रमाणित किया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत सघ की एक भुजा' (An arm of the Soviet Government) है। इस आयोग ने अनेक सोवियत जासूसी गिरोहों का पता लगाया और यह रहस्योद्घाटन किया कि विश्वसनीय पदों पर आसीन अनेक कनाडी व्यक्ति (Canadians) जिनमें एक ससद सदस्य व एक प्रमुख अणु वैज्ञानिक भी शामिल हैं, साम्यवादी गुट के एजेन्ट हैं और उन्होंने मास्को को आणुविक भेद तथा यूरेनियम धातु के नमूने भेजे हैं। इस रिपोर्ट से अमेरिकन सरकार साम्यवादियों के प्रति पूरी तरह से सशकित हो गई और सम्पूर्ण अमेरिकन राष्ट्र तथा अन्य पश्चिमी शक्तियों में रूस के प्रति विक्षोभ की गहरी लहर फैल गई। दूसरी ओर मास्को रेडियो ने प्रचारतन्त्र पर सरकारों के विरुद्ध अपना प्रचार-अभियान तेजी से चालू रखा।

पश्चिमी राज्यों ने उपरोक्त शिकायतें करते हुए और विभिन्न आरोप लगाते हुए सोवियत सघ के प्रति अपना पूर्ण अविश्वास व्यक्त कर दिया।

अगस्त १९४५ में अमेरिका के राज्य सचिव बर्नेस और ब्रिटिश विदेश मन्त्री बेविन ने इस बात पर अत्यन्त क्षोभ प्रकट किया कि सोवियत संघ ने किसी भी रूप में अपने पवित्र वचन का पालन नहीं किया है। पूर्वी यूरोप के सोवियत नियन्त्रण को चुनौती देते हुए उन्होंने घोषणा की—

हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के प्रस्थापन को रोकना चाहिए।’

ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री श्री चर्चिल ने अमेरिकन राष्ट्रपति श्री ट्रूमैन की उपस्थिति में साम्यवाद के विरोध की एक नई नीति का निर्देश ५ मार्च, १९४६ को अपनी सुप्रसिद्ध "फुल्टन वक्तृता" (फुल्टन नामक स्थान पर चर्चिल ने यह वक्तव्य दिया था) में किया। इस भाषण में चर्चिल ने यूरोप के आर पार सोवियत "लौह आवरण" (Iron Curtain) की निन्दा की तथा "स्वतन्त्रता की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए" एक एंग्लो-अमेरिकन गठबन्धन की माँग की। सन् १९४६ के अप्रैल मास के बाद से ही दोनों पक्षों (पश्चिमी व पूर्वी गुट) ने अपने मतभेदों का खुलेआम उगलना शुरू कर दिया। १२ मार्च, १९४७ को यूनानी गृह युद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस से यूनान एवं टर्की को ४०० मिलियन डालर की सहायता देने का अनुरोध करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने विख्यात "ट्रूमैन सिद्धान्त" (Truman Doctrine) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने उन सभी स्वतन्त्र देशों को सहायता देने की नीति पर बल दिया जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों अथवा बाह्य शक्तियों के द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्नों का विरोध कर रहे थे। ५ जून १९४७ को 'मार्शल योजना' की घोषणा की गई जिसका उद्देश्य यूरोप की अस्त-व्यस्त आर्थिक दशा को सुधारने का था। जहाँ पाश्चात्य यूरोपियन राष्ट्रों ने इस योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया वहाँ रूस ने इसे अपने लिए गम्भीर चुनौती समझा। ३ जुलाई, १९४७ को ब्रिटेन और फ्रांस ने यूरोपियन आर्थिक पुनरुत्थान की समस्या पर विचार करने के लिए पेरिस में २२ देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें प्रारम्भ में तो पोलैंड और चैकोस्लोवाकिया ने भाग लेने की इच्छा प्रकट की, परन्तु बाद में सोवियत रूस के विरोध के कारण इस निमन्त्रण को ठुकरा दिया। एटली (Attlee) के शब्दों में—"जब पोलैंड और चैकोस्लोवाकिया ने मार्शल सहायता के विचार को स्वीकार कर लिया तब पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के एकीकरण की उसकी (बेविन की) आशाएँ ऊँची उठ गयीं। परन्तु क्रेमलिन के आदेश पर इन स्वीकृतियों के परावर्तन ने इस आशा को नष्ट कर दिया। वस्तुतः यह 'शीत युद्ध' की एक घोषणा थी।"

(ख) पूर्व की (रूस की) पश्चिम के विरुद्ध शिकायतें

पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूस के विरुद्ध जो आरोप लगाए गए, उनसे यह नहीं समझना चाहिए कि शीत-युद्ध के नाटक का एकमात्र खलनायक सोवियत रूस ही था। जहां पश्चिमी शक्तियों ने अपने विभिन्न आरोपों द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि पूरी तरह से शुरुआत केवल सोवियत संघ ने ही की है और उसी ने सारे पूर्ववर्ती समझौतों व निश्चयों का उल्लंघन किया है, वहां 'पूर्व' ने अर्थात् सोवियत संघ और उसके समर्थक राष्ट्रों ने अपने आरोपों में यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि युद्धोत्तर काल के तनाव और अशान्ति का सारा दोष पश्चिमी राष्ट्रों का है। जहां पश्चिमी शक्तियों ने साम्यवादियों को "गुण्डों का निकृष्टतम गिरोह" (Worst scoundrels) कहा, वहां रूसियों ने उन्हें "लुटेरों तथा डाकुओं के गुट" (A den of robbers) की संज्ञा दी। रूस और उसके समर्थक राष्ट्रों द्वारा पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध जो शिकायतें की गयीं—वे इस प्रकार थीं—

(1) युद्धकाल में पश्चिम द्वारा 'द्वितीय मोर्चा' खोले जाने में देरी—रूस की पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध एक सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि जर्मनी द्वारा पूरी तरह से दबे रहने की स्थिति में स्टालिन ने मित्र राष्ट्रों से बार बार अनुरोध किया था कि पश्चिमी यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जाय ताकि सोवियत रूस पर किए जाने वाले जर्मन आक्रमण में कमी आ सके। परन्तु रूजवेल्ट और चर्चिल ने रूस की इस प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूसी सुझाव को यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया कि उनकी तैयारी अभी अधूरी है। दूसरा मोर्चा खोले जाने में पर्याप्त विलम्ब किये जाने का परिणाम यह हुआ कि सोवियत रूस को जर्मनी के हाथों जन-धन की भयंकर क्षति उठानी पड़ी। इस हानि की ओर संकेत करते हुए स्वयं आइजनहोवर ने लिखा है—"१६४५ में जब हम हवाई जहाज से रूस गये तो हमने इसकी पश्चिमी सीमा से मास्को तक के विशाल प्रदेश में एक भी मकान खड़ा नहीं देखा।" फ्लेमिंग के लेखानुसार, 'विध्वंस और विनाश के इस ताण्डव में रूस द्वारा उठाई गई असीम जन-धन की क्षति का सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है फिर भी यह कहा जा सकता है कि रणचण्डी का खप्पर डेढ़ करोड़ व्यक्तियों के बलिदान ने अवश्य भरा होगा।" इतनी अधिक मात्रा में जन-धन की हानि के कारण रूस में मित्र राष्ट्रों की नेकनियती पर शंका उत्पन्न हो गई। सोवियत नेताओं और इतिहासकारों ने यह मान्यता प्रकट की कि अमेरिका और ब्रिटेन ने खूब सोच-समझ कर तथा जान-बूझ कर दूसरा मोर्चा खोलने में देर की थी ताकि जर्मनी किसी

तरह रूस को साम्यवादी व्यवस्था का नाश कर दे। वास्तव में रूस के मन में संदेह के बीज तो तभी पड गये थे जब मित्र राष्ट्रों ने अधूरी तैयारी के बहाने पर दूसरे मोर्चे को खोलने की सोवियत प्रार्थना टाल दी थी। बैली (Bailey) के शब्दों में, "इससे क्रेमलिन में यह सन्देह जड पकड गया कि पश्चिमी राष्ट्र, जो युद्धोत्तर वर्षों में एक शक्तिशाली सोवियत संघ के उत्थान की सम्भावना से भयभीत हैं, युद्ध के अखाडे में कूदने से पूर्व रूस को पूर्णतया 'आहत तथा शक्तिहीन' होते देखना चाहते हैं।"[1]

(ii) पश्चिमी देशों की फासिस्ट देशों से साठगांठ—रूस ने इस बात पर बडा विक्षोभ प्रकट किया कि सैनिक व्यावहारिकता की आड में अमेरिका ने इटली और फ्रांस के फासिस्ट तत्वों से सम्पर्क स्थापित किया है और फिनलैण्ड द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने तथा लेनिनग्राड पर आक्रमण करने के काफी समय बाद तक वाशिंगटन से उसने अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद नहीं किये।

(iii) युद्धकाल में पश्चिम की अपर्याप्त सहायता—सोवियत संघ ने यह आक्षेप लगाया कि युद्धकाल में, जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण होने पर पश्चिमी देशों ने जो भी सैनिक सहायता सोवियत रूस को दी, वह रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध सामग्री का अत्यल्प अंश केवल ४ प्रतिशत था। वास्तव में मित्र राष्ट्रों की आन्तरिक इच्छा यही थी कि रूस जर्मनी के साथ संघर्ष में बिल्कुल क्षीण हो जाय। इसीलिये उन्होंने प्रथम तो बहुत विलम्ब से और दूसरे अत्यल्प मात्रा में केवल दिखावे के लिए सहायता दी। फिर जो कुछ भी सहायता दी गई वह भी इसीलिये कि पश्चिमी राष्ट्र समझ गए कि जर्मनी द्वारा रूस को पूर्ण रूप से नष्ट किया जाना सारे संसार के लिए घातक सिद्ध होगा।

(iv) अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखना—अमेरिका ने अणु बम के आविष्कार को सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा जबकि ब्रिटेन और कनाडा को इस बात का पता था। जब इस अणुबम का प्रयोग जापान पर किया गया तो उससे केवल हिरोशिमा का ही विध्वंस नहीं हुआ अपितु मित्र राष्ट्रों की मैत्री भी टूट गई। स्टालिन ने अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने की बात को परस्पर विश्वासघात माना। इससे उसे व्यक्तिगत रूप से भी बडा दुख हुआ। परिणामस्वरूप रूस और अमेरिका में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया और दोनों ही

1. Bailey, op cit, p. 811

देश गुप्त रूप से वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार की होड़ में लग गए। रूस ने युद्ध-समाप्ति के बाद ४ वर्षों में ही अणुबम के रहस्य का पता लगा लिया और अक्टूबर १९५७ में तो स्पूतनिक छोड़ कर वैज्ञानिक क्षेत्र में अमेरिका को मात दे दी।

(v) सोवियत संघ को 'लैंडलीज' सहायता बन्द किया जाना—अमेरिका द्वारा 'लैण्ड लीज अधिनियम' (Land Lease Act) के अन्तर्गत सोवियत संघ को जो आर्थिक सहायता दी जा रही थी, उससे वह (रूस) पहले से ही असन्तुष्ट था, क्योंकि सहायता एकदम ना-काफी थी। किन्तु यूरोप में विजय के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जब यह आर्थिक सहायता भी एकाएक बंद कर दी तो सोवियत रूस इससे भड़क उठा। अमेरिका द्वारा इस सहायता को रोकने और पश्चिमी शक्तियों द्वारा स्टालिन की क्षतिपूर्ति की मांगों के विरोध ने मास्को का यह सन्देह विश्वास में परिणत कर दिया कि पाश्चात्य राष्ट्र साम्यवादी रूस के शत्रु हैं और उसे फलते फूलते नहीं देखना चाहते।

(vi) सोवियत विरोधी प्रचार अभियान—रूस पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति इस बात से भी बहुत असन्तुष्ट था कि युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं में निरन्तर सोवियत विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही है। युद्धोपरान्त जहां पश्चिमी शक्तियों ने रूस पर पश्चिम के विरुद्ध विष-वमन का आरोप लगाया वहां रूस ने भी पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध यही शिकायत की। पश्चिमी प्रेस खुले आम साम्यवादी देश के प्रति घृणा प्रचार में संलग्न हो गए। साम्यवादी खतरे को खूब बढ़ा चढ़ा कर पेश किया जाने लगा और ऐसा वातावरण पैदा करने की भरसक चेष्टा की जाने लगी कि जनता में मास्को के भावी इरादों के प्रति भय और आशंका की भावनायें व्याप्त हो जायें। सोवियत सेनाओं के बर्लिन के निकट पहुंचते ही अमेरिकन समाचार पत्रों में इस प्रकार के शीर्षक छपने शुरू हो गए—"साम्यवादी प्रसार से ईसाई सभ्यता के डूबने का खतरा", "सोवियत संघ विश्व का एकमात्र आक्रामक राज्य" आदि। जिस सोवियत संघ ने अपार हानि सह कर अद्भुत शौर्य के साथ दुर्दमनीय नात्सी यन्त्र को पछाड़ा था और जिसके बलिदानों ने मित्र राष्ट्रों की विजय को सरल बना दिया था, उसी के विरुद्ध इस प्रकार का अनर्गल प्रचार मास्को को एकदम क्षुब्ध कर देने वाला था।

(vii) ५ मार्च, १९४६ को चर्चिल के विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' ने सोवियत रूस को एकदम बौखला दिया। इसमें इस बात का स्पष्ट निर्देश था कि "हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।" यह दूसरा स्वरूप साम्यवादी साम्राज्यवाद के

के इतिहास में 'शीत-युद्ध' का जन्म एक इतना महत्वपूर्ण और प्रभावशाली विकास था कि इसने सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया, यद्यपि इसके प्रधान केन्द्र कुछ देश ही थे।

१९४७ से वर्तमान समय तक के शीत युद्ध पर एक दृष्टि

१९४५ से १९४७ तक का काल 'शीत-युद्ध' के प्रारम्भ का काल था जिस पर पूर्ववर्ती विवरण में प्रकाश डाला जा चुका है। अब हम १९४७ के बाद के 'शीत युद्ध' के इतिहास की प्रमुख बातों की चर्चा करेंगे। द्वितीय महायुद्धोत्तर काल की सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ही 'शीत-युद्ध' की सन्तान है और इस अवधि में अब तक जो भी घटनायें घटी हैं उनका प्रधान कारण अधिकांशतः 'शीत-युद्ध' ही रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के जिस इतिहास का अध्ययन हम प्रस्तुत पुस्तक में कर रहे हैं वह सम्पूर्ण इतिहास ही अपने आप में इस 'शीत-युद्ध' का इतिहास है। इसलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में कुछ प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हुए 'शीत युद्ध' के उतार-चढ़ाव को बताया जायगा।

(१) १९४७ से १९५३ तक शीत युद्ध—१९४५ से १९५३ तक पश्चिमी देशों और रूस में संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर अणुशक्ति के नियन्त्रण व नियमीकरण, निःशस्त्रीकरण, पराजित राष्ट्रों के साथ शांति-सन्धियों, जर्मनी, बर्लिन, यूरोपियन सुरक्षा समस्याओं, एशिया एवं अफ्रीका के अन्य विकसित राष्ट्रों के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के लगभग सभी प्रश्नों पर तीव्र वाद विवाद तथा कूटनीतिक संघर्ष चला। रूस द्वारा मार्शल योजना के प्रत्युत्तर में अक्टूबर १९४७ में यूरोप के नौ-साम्यवादी देशों के 'कामिन फार्म' (Cominform or Communist Information Bureau) की स्थापना के बाद से ही शीत युद्ध की उग्रता बढ़ती गई। रूस ने पूर्वी यूरोप पर अपने नियंत्रण को और भी अधिक कठोर बना दिया। शक्ति के दो बड़े अथवा गुट या खेमे बन गये और उनमें अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के विकास के लिए होड़-तोड़ स्पर्द्धा होने लगी। रूसी दबाव के कारण फिनलैण्ड को मार्शल सहायता के प्रस्ताव को अस्वीकार करना पड़ा। परन्तु एक साम्यवादी देश यूगोस्लाविया ने ही, अपने नेता मार्शल टीटो के नेतृत्व में, स्टालिन के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। मार्शल टीटो का यह कार्य 'शीत-युद्ध' की एक महत्वपूर्ण घटना थी क्योंकि जहाँ इसने एक तरफ गैर साम्यवादी देशों को नवीन बल प्रदान किया, वहाँ दूसरी तरफ रूस के दृष्टिकोण को और भी अधिक कठोर बना दिया। १९४८ में रूस ने बर्लिन की नाकेबंदी करके एक नया संकट उत्पन्न कर दिया। इस घटना ने 'शीत युद्ध' को एक

नया मोड दिया। बर्लिन के घेरे के समय ही दोनों पक्षों को ताकत आजमाने का पहले पहल वास्तविक मौका मिला और शीत युद्ध में इस बार अमेरिका का रुख पहली बार अत्यधिक कठोर हो गया। यद्यपि रूस की बर्लिन नाकेबंदी असफल सिद्ध हो गई और मई १९४८ में इस नाकेबंदी को समाप्त कर दिया गया, परन्तु इस घटना का एक गम्भीर परिणाम यह निकला कि अब सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमेरिका तरह-तरह के सैनिक-संगठनों की स्थापना करने की दिशा में सक्रिय हो गया।[1] दूसरी ओर पहले से ही विभक्त जर्मनी 'शीत युद्ध' का एक प्रधान केन्द्र बना रहा। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने अपने द्वारा अधिकृत जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया और इस तरह २१ सितम्बर, १९४९ को "जर्मनी के संघीय गणतन्त्र" (Federal Republic of Germany) अथवा पश्चिमी जर्मनी का उदय हुआ। मित्रराष्ट्रों अर्थात् उपरोक्त तीनों शक्तियों के इस कार्य के प्रत्युत्तर में ७ अक्टूबर, १९४९ को जर्मनी के रूसी क्षेत्र में "जर्मन प्रजातंत्रात्मक गणराज्य" (German Democratic Republic) अथवा 'पूर्वी जर्मनी' की स्थापना कर दी गई। इस तरह पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दो जर्मन राष्ट्र अस्तित्व में आये और उनके एकीकरण का प्रश्न अभी तक शीत-युद्ध की बलिवेदी पर चढ़ा हुआ है तथा निकट भविष्य में जर्मनी के संयुक्त होने की कोई आशा नहीं दिखाई देती।

रूस के कठोर होते गये रुख और साम्यवाद के प्रसार की नीति का उत्तर पश्चिमी शक्तियों ने ४ अप्रैल, १९४९ को 'नाटो' (NATO) की स्थापना करके दिया। शीत युद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् एशिया भी इसकी लपेट में आ गया। रूस ने टर्की और ईरान में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहा, परन्तु पाश्चात्य शक्तियों की सहायता से ये दोनों देश रूसी दबाव का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे। १ अक्टूबर, १९४९ को पीकिंग में साम्यवादियों का जन गणराज्य स्थापित हो जाने से 'शीत युद्ध' में बड़ी गर्मी आ गई। साम्यवादियों की इस विजय ने रूस के उत्साह को बहुत बढ़ा दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा परिषद का एक स्थाई सदस्य है। परन्तु जब च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार भाग कर फारमोसा चली गई तो चीन की साम्यवादी सरकार ने महासभा एवं सुरक्षा परिषद में अपना स्थान पाने की मांग की। परन्तु पश्चिमी गुट यह नहीं चाहता था कि सुरक्षा परिषद में सोवियत संघ का एक और समर्थक हो जाय। परिषद के ५ स्थाई सदस्यों में से २ साम्यवादी

1 Peter dyon; Neutralism, p 32

हो जाने के डर से संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन की नई सरकार को मान्यता नहीं दी और साम्यवादी प्रतिनिधि के संघ में बिठाने का घोर विरोध किया। साम्यवादी चीन की सदस्यता की माग को इस प्रकार ठुकरा दिये जाने का रूस द्वारा तीव्र विरोध किया गया और एक बार तो उसने परिषद की बैठकों तक का बहिष्कार कर दिया। वास्तव मे साम्यवादी चीन की संघ में सदस्यता के प्रश्न को लेकर शीत युद्ध मे जिस कटुता और गम्भीर वैमनस्य का समावेश हुआ, उसने आने वाले वर्षों मे शीत युद्ध की भयकरता और पारस्परिक मतभेदों की तीव्रता को हर प्रकार से बढाया। भारत ने भी चीन की सदस्यता के प्रश्न पर सदैव सोवियत गुट का समर्थन किया, यद्यपि अब यह समर्थन उतना सक्रिय प्रतीत नही होता जितना कि पहले था। संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोध के कारण ही साम्यवादी चीन आज तक संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नही बन पाया है और यह प्रश्न आज भी शीत युद्ध का एक प्रधान अङ्ग बना हुआ है।

बर्लिन-प्रश्न पर और संयुक्त राष्ट्र संघ मे साम्यवादी चीन के प्रवेश की समस्या पर शीतयुद्ध की बढ़ी हुई खुमारी अभी कम भी न हो पाई थी कि जून १९५० मे उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया जिससे 'शीतयुद्ध' ने कुछ समय के लिए 'उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध' का रूप धारण कर लिया। प्रत्यक्ष मे यह युद्ध दो कोरियाई क्षेत्रों मे था, परन्तु वास्तव मे यह दोनो शक्ति गुटों के नेताओ रूस एव अमेरिका के बीच था। संयुक्त राष्ट्र संघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया और उसके झडे के नीचे अनेक देशों की, विशेषत अमेरिका की सेनाओ ने दक्षिण कोरिया की सहायता की। परन्तु किसी भी पक्ष को निर्णयात्मक विजय प्राप्त न हो सकी और ८ जून, १९५३ को अन्तत कोरिया में युद्ध विराम हो गया। अमेरिका, ब्रिटेन और रूस की सरकारो ने युद्ध बन्द हो जाने का स्वागत किया किन्तु इन देशों के वास्तविक मन मुटाव का हृदयों मे चलने वाला युद्ध समाप्त नहीं हुआ, फलत शीत युद्ध जारी रहा। इसमें कोई सदेह नही कि कोरिया युद्ध शीतयुद्ध की ही एक महत्वपूर्ण घटना थी। चेस्टर बाउल्स (Chester Bowles) के शब्दों मे, "कोरिया युद्ध ने रूसी और चीनी नीतियों को एक ही मंचके में एकत्र कर दिया।"[1] चीन के लिए सोवियत सहायता की आवश्यकता स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गई और चीन और पश्चिमी राज्यों के सम्बन्ध और भी अमैत्रीपूर्ण हो गये।

1 Chester Bowles : The New Dimensions of Peace, Page 133

जिस समय कोरिया-युद्ध चल रहा था, तभी सितम्बर १९५१ में अमेरिका और कई अन्य देशों ने जापान के साथ एक शांति संधि पर हस्ताक्षर किये। रूस को यह बात बहुत बुरी लगी और उसने इस एकपक्षीय कार्यवाही की खुल कर आलोचना की।

(२) १९५३ से १९५८ तक का 'शीतयुद्ध'—मार्च १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के बाद शीतयुद्ध के इतिहास में एक नया मोड़ आया। स्टालिन उग्रवादी था और पश्चिम के प्रति कठोर नीति का पक्षपाती भी। उसका रुख १९५३ के प्रारम्भ तक शीतयुद्ध का एक प्रधान कारण बना था। सर एलवरी गैस-कोमने के अनुसार, '१९४७ के बाद यद्यपि स्टालिन ने पश्चिमी राष्ट्रों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित रखे परन्तु वह इतना अड़ङ्गाबाज और दुःसाध्य हो गया कि उसके साथ कार्य करना सहज नहीं था। जो सुझाव भी सामने रखा जाय उसको ही वह अस्वीकार कर देता था।' सौभाग्यवश स्टालिन के बाद के उत्तराधिकारी, विशेषत: खुश्चेव ने समझौतावादी नीति को अपनाने की कोशिश की, यद्यपि शीतयुद्ध निरन्तर जारी रहा और आज भी वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक निर्णायक तथ्य बना हुआ है। अमेरिका के नेतृत्व में भी एक परिवर्तन आया और शीतयुद्ध के उन्नायक राष्ट्रपति ट्रूमैन के स्थान पर जनरल आइजनहोवर अमेरिका के राष्ट्रपति बने। अगस्त १९५३ में सोवियत संघ का प्रथम आणविक परीक्षण हुआ और हथियारों के क्षेत्र में विद्यमान खाई को धीरे-धीरे कम करने की आवश्यकता दोनों ओर से महसूस की जाने लगी।

परन्तु शीतयुद्ध की यह शिथिलता एकदम अल्पकालीन ही रही क्योंकि रूस के विदेश मंत्री मोलोटोव और अमेरिका के विदेश सचिव डलेस दोनों ही शीतयुद्ध के लड़ाके थे। एक तरफ तो हिन्द चीन के प्रश्न पर शीतयुद्ध में पुनः तेजी आ गई क्योंकि फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध वहाँ चलने वाले युद्ध में दोनों ही गुटों ने अलग-अलग पक्षों का पुर-जोर समर्थन किया, और दूसरी तरफ अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सैनिक समझौतों तथा सैन्य संगठनों की स्थापना करने की नीति अपना कर शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया। अमेरिका ने किस तरह नाटो, सीटो और बगदाद पैक्ट बनाए और इनके जवाब में किस प्रकार रूस ने वारसा पैक्ट कायम किया—इन सबका उल्लेख हम प्रादेशिक संगठनों के अध्ययन में कर चुके हैं। वास्तव में दोनों ही पक्षों ने अपनी अपनी कार्यवाहियों से एक दूसरे के प्रति सन्देह और शंकाओं को दृढ़ बनाया तथा अपनी प्रत्येक कार्यवाही से न्यूनाधिक मात्रा में शीतयुद्ध को आगे बढ़ाया। उदाहरणार्थ यदि सितम्बर १९५३ में रूस ने उसके और पश्चिमी देशों के मध्य के एक अनाक्रमण प्रस्ताव को ठुकरा दिया

सो मार्च १९५४ में जब रूसी विदेश मन्त्री मोलोटोव ने रूस के उत्तर अटलांटिक संधि में सम्मिलित होने के प्रश्न पर विचार करने की अपनी तत्परता बताई तो नाटो देशों ने इस सद्भावना का पूर्णत: अवास्तविक और पश्चिमी देशों की प्रतिरक्षा व्यवस्था व सुरक्षा के आधारभूत सिद्धांतों के प्रतिकूल बता कर इसका तिरस्कार कर दिया। जनवरी १९५६ में रूसी प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने राष्ट्रपति आइजनहोवर के सम्मुख एक रूसी अमेरिकन मैत्री व सहयोग संधि का प्रस्ताव रखा, परन्तु वह भी फलीभूत नहीं हुआ। ऐसे प्रस्ताव समय-समय पर किए जाते रहे किन्तु पारस्परिक मतभेद व संदेह इतने गहरे थे कि कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। संयुक्त राष्ट्र संघ, यूरोप, अफ्रीका, मध्यपूर्व, सुदूरपूर्व, आदि सभी स्थलों में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष बराबर जारी रहा। जापान और जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण ने दोनों ही गुटों में काफी तनाव उत्पन्न कर दिया। जर्मनी के भविष्य और बर्लिन के स्तर पर भी मतभेद न मिट सके। आणुशक्ति के निर्माण और नियंत्रण पर कोई समझौते न हो सके। संसार के सबसे प्रमुख प्रश्न निःशस्त्रीकरण पर दोनों ही गुटों में मतभेद चला—प्रस्ताव व प्रति प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते रहे, किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक प्रश्न पर शीत युद्ध के पृष्ठाधार से दोनों गुटों के दृष्टिकोण निर्धारित होने लगे।

१९५६ में हंगरी के प्रश्न ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शीतयुद्ध में पर्याप्त अभिवृद्धि की। पश्चिमी देशों ने रूस के 'अत्याचार' की कटु निंदा की, और उधर रूस ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप मिस्र पर १९५६ में ही होने वाले एंग्लो फ्रेंच इज़राइल आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की। जून १९५७ में "आइजनहोवर सिद्धांत" की घोषणा की गई जिसके अनुसार अमेरिकन काँग्रेस ने राष्ट्रपति को मध्य-पूर्व के किसी भी देश में अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए फौजें भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार दिया। "आइजनहोवर-सिद्धान्त" की घोषणा के बाद मध्यपूर्व में 'शीतयुद्ध' में काफी तीव्रता आ गई। रूस ने पश्चिमी एशिया के लिए इस सिद्धान्त को एकदम अनुचित बताया तो अमेरिका और इंगलैंड ने उस क्षेत्र में रूसी घुसपैठ व तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों की निन्दा की। कहने का अभिप्राय यह है कि १९५५ से १९५८ तक पश्चिमी एशिया शीतयुद्ध का भयंकर अखाड़ा बना रहा। वास्तविकता यही थी कि उस क्षेत्र के उत्पादित महत्त्व और तेल कूपों पर प्रभुत्व कायम रखने के लिए दोनों पक्षों में घोर संघर्ष होता रहा। फारस के तेल-विवाद, स्वेज नहर के संकट, लेबनान में अमेरिकी फौजों को उतारने, ईरान की शान्ति आदि अवसरों पर दोनों ही

पक्ष ताल ठोक कर मैदान मे डट गये। इस क्षेत्र में कोई भी ऐसी घटना नहीं घटी जो शीत युद्ध का परिणाम न हो या उससे प्रभावित न रही हो।

(३) १९५८ से १९७० तक का शीतयुद्ध—इस समय के शीत-युद्ध के इतिहास को निम्न रूप मे प्रकट करना सुविधाजनक होगा—

खुश्चेव की अमेरिकी यात्रा तथा यू०–२ विमानकाण्ड—१९५९ मे कुछ कारणो से शीत युद्ध मे थोड़ी कमी आयी। ३ अगस्त को मास्को और वाशिंगटन से यह घोषणा हुई कि कुछ ही दिनो म सोवियत प्रधानमन्त्री खुश्चेव संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके बाद अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहोवर सोवियत सघ का भ्रमण करगे। इन समाचारो से प्रतीत होने लगा कि शीत युद्ध या तो समाप्त हो जायेगा या उसका प्रभाव नगण्य रह जायेगा।

दोनों देशों मे बढते हुए तनाव मे कमी लाने के लिए ही खुश्चेव ने १५ सितम्बर से २८ सितम्बर, १९५९ तक अमेरिका की यात्रा की। यात्रा के दौरान तीन दिन तक राष्ट्रपति आइजनहोवर और खुश्चेव में मनोपूर्ण वार्तालाप हुआ। श्री खुश्चेव की यात्रा पर प्रकाशित संयुक्त वक्तव्य म कहा गया कि दोनो नेता इस बात पर सहमत हैं कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो का निर्णय शान्तिपूर्ण साधनो तथा पारस्परिक वार्तालाप के माध्यम से किया जाना चाहिए।

शीत युद्ध के तनाव को कम करने और आपसी मतभेदो को समाप्त करने के लिए चार बड़े देशो (सयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत सघ, ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रास) के शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन बुलाया जाना आवश्यक समझा गया। पर दुर्भाग्यवश शिखर सम्मेलन के आरम्भ से पूर्व ही १ मई, १९६० को यू०–२ विमान काण्ड हो गया जिसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव मे वृद्धि करके अन्तत शिखर सम्मेलन को असफल बना दिया। बात तब बहुत बढ गई जब राष्ट्रपति आइजनहोवर ने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया था कि सोवियत सघ में सामरिक गतिविधियाँ बडी गुप्त रहती हैं, अत किसी भी आकस्मिक आक्रमण को रोकने के लिए अमेरिका ऐसी जासूसी कार्य-वाहियाँ करता है और आगे भी करता रहेगा, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसकी मनाही नहीं है। इस घोषणा से खुश्चेव आग बबूला हो गया। उसने ऐसी जासूसी उडानो को राष्ट्रीय अपमान बताते हुए इन्हे भविष्य मे बन्द करने की माग की और साथ ही यह धमकी दी कि भविष्य में इस प्रकार की किसी घटना से यदि युद्ध छिड गया तो उसका दायित्व सयुक्त राज्य अमेरिका पर होगा। यू०–२ काण्ड ने शीत युद्ध मे जो तूफान खडा कर दिया उससे रूस ने खूब लाभ उठाया। खुश्चेव ने यह सिद्ध करने मे कोई कसर

नही छोडी कि रूस शांति का सबसे बड़ा प्रेमी और अमेरिका सबसे बड़ा दुश्मन है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के लिए वही एक मात्र उत्तरदायी है।

इसी चेतावनी के फलस्वरूप अब अमेरिकी अड्डों को इजाजत देने वाले देश यह अनुभव करने लगे कि यू०-२ विमानों को अपने देश में ठहराना भयंकर खतरों का मोल लेना होगा।

पेरिस शिखर सम्मेलन—यू०-२ विमान काड की घटना से १६ मई, १९६० से होने वाले शिखर सम्मेलन को असफलता साफ नजर आने लगी। लेकिन ११ मई को सुप्रीम सोवियत में अपने एक भाषण में ख्रुश्चेव ने सम्मेलन की सफलता के प्रति आश्वासित कर दिया। ख्रुश्चेव ने कहा "संयुक्त राज्य अमेरिका के इस उत्तेजनापूर्ण कार्य से हमें अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने के प्रयत्नों में शिथिलता नहीं लानी चाहिए। पेरिस मे यू-२ का विषय नहीं उठाया जायेगा।"

लेकिन जब पेरिस मे शिखर सम्मेलन शुरू हुआ तो ख्रुश्चेव ने यू-२ का प्रश्न उठाते हुए अमेरिकन जासूसी कार्यवाही की तीव्र निन्दा की। श्री ख्रुश्चेव ने बड़े ही नाटकीय ढंग से माग की कि अमेरिका को अपने जासूसी काम की निन्दा करनी चाहिए, इसके लिए माफी मांगनी चाहिए, भविष्य में ऐसे उत्तेजक कार्य बन्द करने चाहिए और इस घटना के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों को दण्ड देना चाहिए। ख्रुश्चेवने यहा तक कह दिया "यदि ऐसा नही किया जाता तो रूस शिखर सम्मेलन मे अमेरिका के साथ वार्ता करना निरर्थक समझता है और वह उसमे भाग नही ले सकता। सम्मेलन को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया जाय ताकि यह अमेरिकन राष्ट्रपति के चुनाव के बाद जनवरी मे हो सके।" ख्रुश्चेव ने शीत युद्ध को तब चरम छटा पर पहुचा दिया जब उसने डिगाल और मैकमिलन से तो हाथ मिलाया, लेकिन जब राष्ट्रपति आइजनहोवर ने हाथ बढ़ाया तो ख्रुश्चेव ने इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं ख्रुश्चेव ने अमेरिकन राष्ट्रपति को दिये गये रूसी यात्रा के निमन्त्रण को वापस ले लिया और कहा कि राष्ट्रपति महोदय को अब रूस आने की आवश्यकता नहीं है।

रूसी नेता के इस रुख से शिखर सम्मेलन असफल हो गया। आइजनहोवर के आश्वासन और डिगाल व मैकमिलन के अनुरोध को दूर करने के प्रयत्न सम्मेलन को भंग होने से बचा न सके। सम्मेलन के दूसरे सत्र मे ख्रुश्चेव ने भाग ही नहीं लिया, अतः सम्मेलन की कार्यवाही बन्द कर दी गई।

कैनेडी का अमेरिकन राष्ट्रपति निर्वाचित होना और क्यूबा काण्ड—ख्रुश्चेव ने पेरिस शिखर सम्मेलन को असफल बनाने के बाद अपने विभिन्न

भाषणों मे आश्वासन दिया कि इस अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने का कोई कार्य नही करेगा । ८ नवम्बर, १९६० को अमेरिकन राष्ट्रपति के निर्वाचन मे सीनेटर जान फिट्जैरल्ड कैनेडी की सफलता के बाद शीत युद्ध मे कमी की आशा की जाने लगी । ख्रुश्चेव न कैनेडी को अपनी बधाई मे और प्रत्युत्तर में कैनेडी न ख्रुश्चेव को बड़े आशावादी शब्द लिखे ।

दोनों नेताओ की आशाओ और उनके आश्वासनो का कुछ समय तक प्रभाव पड़ा और शीत युद्ध में कुछ कमी आयी लेकिन सन् १९६२ मे क्यूबा के सकट ने पुन एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी । क्यूबा के प्रश्न पर एक बार फिर विश्व-युद्ध की सम्भावना उत्पन्न हो गई । सौभाग्यवश कैनेडी और ख्रुश्चेव की बुद्धिमत्ता के कारण क्यूबा का सकट समाप्त हो गया । सोवियत रूस ने क्यूबा सकट पर सघर्ष क्षेत्र से हट जाने का निर्णय करके बडी सहनशीलता का परिचय दिया ।

शीत युद्ध मे शिथिलता—क्यूबा सकट अन्तिम अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को सुधारने और शीत युद्ध मे शिथिलता लाने की दृष्टि से एक गुप्त वरदान सिद्ध हुआ । अब ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनों ही नेता निःशस्त्रीकरण की दिशा मे प्रगति के लिए सराहनीय प्रयास करने लगे । परिणामस्वरूप शीतयुद्ध मे काफी समय तक कोई धात नही आयी । ५ अगस्त, १९६३ को रूस, अमेरिका और इगलैंड ने मास्को मे आणविक परीक्षण पर रोक सम्बन्धी सन्धि पर हस्ताक्षर किये और बाद मे चीन, फ्रास आदि कुछ राष्ट्रों को छोड़कर विश्व के सौ से भी अधिक राष्ट्रो ने सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये । इस सन्धि के फलस्वरूप दोनों गुटों मे तनाव कम हुआ और शीतयुद्ध ठण्डा पड गया । १९५५ को आस्ट्रिया की शांति सन्धि के बाद पूर्व और पश्चिमी का यह सबसे बडा समझौता था ।

ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनो ही के प्रयत्नो से शीत युद्ध में शिथिलता आयी और यह आशा की जाने लगी कि दोनों नेता आपसी विश्वास और शांति के बीज बो देंगे, पर दुर्भाग्यवश २२ नवम्बर, १९६३ को कैनेडी एक हत्यारे की गोली के शिकार बने और १५ अक्टूबर, १९६४ को ख्रुश्चेव अपदस्थ हो गये ।

कैनेडी की मृत्यु के बाद लिण्डन जानसन अमेरिका के राष्ट्रपति बने । जानसन ने आश्वासन दिया कि अमेरिका की ओर से शीत युद्ध को फैलाने की कोई चेष्टा नही की जायेगी । नये राष्ट्रपति ने अपने शासन के प्रारम्भिक दिनो मे इस वचन का पालन भी किया और ऐसी कोई कार्यवाही नही की जिससे यह आरोप लगाया जा सके कि अमेरिकी-प्रशासन शीतयुद्ध के फैलाव की चेष्टा कर रहा है ।

दूसरी ओर ख्रुश्चेव के पतन के बाद अक्टूबर, १९६४ में रूस का नेतृत्व कोसिगिन और ब्रेजनेव के हाथों में आया। इन दोनों नेताओं ने भी घोषणा की कि रूस ख्रुश्चेव की विदेश नीति पर चलते हुए शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धांत में विश्वास करता रहेगा, निःशस्त्रीकरण के लिए प्रयास करेगा और शीत युद्ध को नहीं बढ़ायेगा।

सौभाग्यवश कुछ अर्से तक शीत युद्ध में शिथिलता आती गई, लेकिन बाद में वियतनाम युद्ध की तीव्रता और अरब इजराइल संघर्ष के फलस्वरूप एक बार फिर शीत युद्ध भड़क उठा।

वियतनाम युद्ध, भारत पाक संघर्ष, अरब इजराइल संघर्ष और शीत युद्ध—सन् १९६४ में ही शीत युद्ध के तीव्र होने के आसार प्रगट होने लग गये। रूस ने कांगो आदि में संयुक्त राष्ट्र संघ के शान्ति स्थापना सम्बन्धी कार्यों के व्यय के अपने अंश की अदायगी से इनकार कर दिया। अमेरिका ने मांग की कि यदि रूस अपना अंश अदा नहीं करेगा तो चार्टर के उन्नीसवें अनुच्छेद के अन्तर्गत उसे महासभा में मताधिकार से वंचित कर दिया जाय। इस घटना से शीत युद्ध बड़ा उग्र हो गया।

वियतनाम युद्ध में तीव्रता ने शीत युद्ध को और बढ़ावा दिया। अमेरिकन राष्ट्रपति जानसन ने वियतनाम के प्रति अत्यन्त उग्र और आक्रामक नीति का अनुसरण किया। उत्तरी वियतनाम की सीमाओं में घुस कर अमेरिकी वायुयान बम वर्षा करने लगे। वियतनाम युद्ध को अधिकाधिक फैलाने की कोशिश की गई। सोवियत रूस ने इन आक्रामक कार्यवाहियों का कड़ा विरोध किया। अमेरिका की वियतनाम नीति के कारण शीत युद्ध की लहर पहले से अधिक तेज हो गई।

सितम्बर, १९६५ में काश्मीर को लेकर भारत पाक संघर्ष ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि की। पश्चिमी राष्ट्रों ने भारत के विरुद्ध अपना कूटनीतिक युद्ध चलाने में कोई कसर नहीं रखी। सौभाग्यवश उनकी शीत युद्ध कुशलता और कूटनीतिक पैंतरेबाजी स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री की दृढ़ता और स्पष्टता के सामने विशेष सफल नहीं हो सकी।

जून, १९६७ में अरब इजराइल संघर्ष के समय शीत युद्ध और सशस्त्र संघर्ष के नाटक संसार को देखने को मिले। सोवियत संघ ने अरब राज्यों का पक्ष लेकर अमेरिका पर आरोप लगाया कि वह इजराइल को आक्रामक कार्यवाही के लिए प्रोत्साहित कर रहा है। बदले में अमरीका ने इस संघर्ष के लिए सोवियत कूटनीति को दोषी ठहराया। पश्चिमी एशिया के संकट को लेकर दोनों गुटों में इतना वाक् युद्ध चला कि उनके आपस में टकराने का

संकट पैदा हो गया। दोनों के जहाजी बेड़े भी भू-मध्य सागर में चक्कर काटने लगे और अमेरिका व रूस जैसी महा शक्तियों के प्रत्यक्ष संघर्ष की नौबत आ गई। अरब और इजराइली नेताओं द्वारा भी जबरदस्त कूटनीतिक एवं वाग्युद्ध लड़ा गया। यही शीतयुद्ध सशस्त्र युद्ध में परिणत हो गया जिसकी समाप्ति संयुक्त राष्ट्र संघीय हस्तक्षेप और अरब राष्ट्रों की आकस्मिक पराजय में हुई।

अरब इजराइल संघर्ष के समय सुरक्षा परिषद की प्रत्येक बैठक में शीत युद्ध का नजारा देखने को मिला। अमेरिका और सोवियत संघ एक दूसरे पर आरोप और प्रत्यारोप करते रहे और एक दूसरे को पश्चिम एशिया के संकट के लिए जिम्मेदार ठहराते रहे। अरब राष्ट्रों की पराजय के बाद सोवियत संघ के प्रति अरबों में सन्देह और अविश्वास व्याप्त हो गया, क्योंकि उसने युद्ध में अरबों को सक्रिय और प्रत्यक्ष सहायता नहीं की थी जब कि इजराइल को अमेरिका व ब्रिटेन दोनों से, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहायता मिली थी। इस वातावरण को देखते हुए रूस ने अरब जगत में अपनी स्थिति मजबूत करने के लिये यह मांग की कि अरब इजराइल संघर्ष का मामला संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में पेश किया जावे। १९ जून, १९६७ को जब महासभा में प्रश्न पर विचार होने लगा तो स्वयं रूसी प्रधान मन्त्री ने कार्यवाही में भाग लिया। कोसीजिन ने महासभा में रूस ने एक प्रस्ताव पेश किया जो अरब भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला था। लेकिन पश्चिमी गुट उसको मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। अतः १९ जून को बैठक में सोवियत प्रतिनिधि मण्डल ने महासभा से बहिर्गमन करके अरबों की सहानुभूति जीती। सोवियत प्रधान मन्त्री ने अमेरिकन प्रशासन पर कस-कस कर प्रहार किये। अरब इजराइल संघर्ष के सन्दर्भ में इस प्रकार शीत युद्ध आकाश छूने लगा।

ग्लासबरो का शिखर सम्मेलन—सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीजिन ने जो महासभा के अधिवेशन में आये हुए थे, अमेरिकन राष्ट्रपति जानसन से ग्लासबरो में भेंट की ताकि शीत युद्ध का गर्म वातावरण कुछ शान्त हो सके। दोनों शासनाध्यक्षों का यह शिखर सम्मेलन ग्लासबरो में २३ जून से २६ जून, १९६७ तक चला। दोनों नेताओं ने वियतनाम और पश्चिमी एशिया पर मुख्यतः विचार-विमर्श किया। नि:शस्त्रीकरण एवं परमाणु शक्ति के विस्तार तथा अन्य राजनीतिक प्रश्न भी अछूते नहीं रहे। दोनों नेताओं का यह शिखर सम्मेलन चीन द्वारा हाईड्रोजन बम का परीक्षण किये जाने के प्रभाव से व्याप्त था। दोनों ही नेता इस बात को भली भांति समझते थे कि

आणविक शक्ति से सम्पन्न चीन विश्व के दोनों ही खेमों के लिए खतरा हो सकता है।

ग्लासबरो में कोई सौदेबाजी नहीं हो सकी लेकिन इस सम्मेलन के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अवश्य कमी आयी। पश्चिमी एशिया के संकट के सम्बन्ध में दोनों महाशक्तियों के बीच सहमति का क्षेत्र कुछ अधिक बढ़ा। इस शिखर सम्मेलन के बाद शीत युद्ध की उग्रता कम हो गई और दोनों ही महाशक्तियाँ कुछ अधिक संयमित भाषा का प्रयोग करने लगीं।

वियतनाम युद्ध में शिथिलता और शीत युद्ध में कमी—१९६७-६८ में वियतनाम का प्रश्न शीत युद्ध का अखाड़ा रहा। सौभाग्यवश वियतनाम में अमरीकी नीति के विरुद्ध विश्व जनमत ने ही नहीं बल्कि स्वयं अमेरिकियों ने भी प्रबल आक्षेप किये। अतः बाध्य होकर राष्ट्रपति जानसन ने एक ओर तो उत्तरी वियतनाम पर बमबारी रोकने की घोषणा की और दूसरी ओर दलगत राजनीति से पीड़ित होकर राष्ट्रपति पद के लिए पुनः उम्मीदवार न होने का निश्चय व्यक्त किया। फलस्वरूप धीरे-धीरे वियतनाम युद्ध शिथिल होता गया और शीत युद्ध ठण्डा पड़ता गया।

वियतनाम में शान्ति समझौता वार्तायें चल रही हैं और इस बात की पूरी सम्भावना दिखाई दे रही है कि युद्ध समाप्त हो जाय और शीत युद्ध का एक महान् कारण लुप्त हो जाय। जानसन के बाद निर्वाचित राष्ट्रपति निक्सन ने अक्टूबर, १९६९ तक हजारों अमरीकी सैनिक वापस स्वदेश बुला लिये। दूसरी ओर उत्तरी वियतनाम की आक्रामक कार्यवाहियाँ भी कम होती जा रही हैं। सितम्बर, १९६९ में उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति हो ची मिन्ह की मृत्यु के बाद जो नये नेता प्रमुख में आये हैं, उन्होंने भी अभी तक युद्ध तीव्र करने में कोई व्यावहारिक रुचि नहीं दिखाई है। इस प्रकार वियतनाम युद्ध के शान्त होने के लक्षण प्रबल हैं।

मार्च, १९६९ का बर्लिन संकट और शीत युद्ध—यह हम कह चुके हैं कि शीत युद्ध उतार-चढ़ाव का नाटक रहा है। यद्यपि क्यूबा काण्ड के बाद ही शीत युद्ध में, शिथिलता आती गई है, लेकिन बातचीत में विभिन्न बातों पर उसकी तीव्रता भी आती रही है। शीत युद्ध के इतिहास में एक बार गर्मी तब आयी जब पश्चिमी जर्मनी ने निश्चय किया कि ५ मार्च, १९६९ को पश्चिमी जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में सम्पन्न किया जाय। पूर्वी जर्मन सरकार ने इस निश्चय का विरोध करते हुए कहा कि पश्चिमी बर्लिन अभी सन् १९४५ के पाट्सडम समझौते के अधीन है, अतः पश्चिमी बर्लिन की सरकार को इस तरह का समारोह करके इस पश्चिमी

जर्मनी का ही एक भाग सिद्ध करने का कोई अधिकार नहीं है। पूर्वी जर्मनी ने यह आरोप लगाया कि पश्चिमी जर्मनी के राष्ट्रपति का चुनाव बर्लिन में कराने का निर्णय पूर्वी जर्मनी के दावे के खण्डन के लिए किया गया है।

पूर्वी जर्मनी ने केवल मौखिक विरोध ही नहीं किया वरन् पश्चिमी बर्लिन जाने वाले मार्गों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने वाला निर्वाचक मण्डल बर्लिन न पहुँच सके। लेकिन पश्चिमी जर्मनी भी इस बात पर तुल गया कि राष्ट्रपति का चुनाव पश्चिमी बर्लिन में ही किया जायगा। अतः वायुयानों द्वारा (हवाई यातायात प्रतिबन्ध से मुक्त है) निर्वाचक मण्डल अपने दल बल सहित पश्चिमी बर्लिन पहुँचा। पश्चिमी जर्मनी को इस सम्पूर्ण कार्यवाही में पश्चिमी राष्ट्रों का पूरा पूरा समर्थन था। यद्यपि पूर्वी जर्मनी ने, जो रूस समर्थित है, उग्र विरोध प्रगट किया और स्वयं रूस ने भी पश्चिमी जर्मनी को स्थिति से बचाने की चेतावनी दी, तथापि राष्ट्रपति का चुनाव कार्य शान्तिपूर्वक सम्पन्न हो गया। इस प्रश्न को लेकर सोवियत संघ ने कोई बड़ा पूर्व पश्चिम संकट खड़ा नहीं किया क्योंकि इसमें उसका कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता था। उल्टे इसका दो बातों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता था—प्रक्षेपास्त्रों के बारे में रूस द्वारा प्रस्तावित वार्ता पर तथा नये अमेरिकन राष्ट्रपति निक्सन के साथ सोवियत संघ के शिखर सम्मेलन की योजना पर। सोवियत संघ के संयम और पश्चिमी राष्ट्रों की दृढ़ता के फलस्वरूप स्थिति बिगड़ने से बच गई और शीत युद्ध पुनः शुरू होने से रुक गया। यह भी कहा जाता है कि बर्लिन में चुनाव सम्पन्न होने के तीन दिन पहले ही २ मार्च, १९६९ को रूसी-चीनी सैनिकों में एक सैनिक झड़प हो गई थी, अतः रूस ने बर्लिन संकट पर अधिक ध्यान नहीं दिया।

शीत युद्ध की वर्तमान स्थिति

यह कहना तो भ्रामक होगा कि शीत युद्ध अब समाप्त हो गया है, लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि इसकी उग्रता हाल के वर्षों में काफी घटी है। आज स्थिति यह है कि दोनों ही गुट स्पष्ट रूप से महसूस करने लगे हैं कि बिना एक संहारक महायुद्ध के दूसरे गुट का दमन सम्भव नहीं है और यदि ऐसा कोई महायुद्ध छिड़ा तो दोनों ही पक्षों का लगभग पूर्ण विनाश हो जायेगा। अतः शीतयुद्ध को अनावश्यक रूप से भड़का कर 'शस्त्र-युद्ध' में परिणत कर देने से दोनों ही महाशक्तियां झिझक रही हैं। इस अनुभूति ने दोनों ही पक्षों को सहअस्तित्व की अनिवार्यता में विश्वास दिला दिया है जिससे शीतयुद्ध की गर्मी एक बड़ी सीमा तक शान्त हो गई है और उसने एक

प्रकार के 'ठण्डे सहअस्तित्व' (Cool Coexistence) का रूप धारण कर लिया है। रूस ने पश्चिम के अस्तित्व को मिटाने का सकल्प स्वप्न समझ लिया है और पश्चिम मे भी यह एक आम-विश्वास फैल रहा है कि रूस कुछ विवादो को सुलझाने मे तो अवश्य ही निष्कपटता रखता है। फिर भी कुछ निराशावादियो का यही कहना है कि रूस का विश्वास करना पश्चिमी देशो का भोलापन है। यह मत सम्भवत विश्व के अधिकाश वर्ग और अधिकाश जनता को स्वीकार्य नही होगा।

शीतयुद्ध के १९५३ के बाद के इतिहास से, और विशेषकर क्यूबा-सकट की समाप्ति के बाद से निष्कर्ष यही निकलता है कि यद्यपि समय समय पर ऐसी घटनाये होती रही है जिनसे मौके-बेमौके काफी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न हो जाता है,फिर भी जैसाकि एडवर्ड क्रेन्शा का मत है कि—"क्यूबा के बाद से ज्वार एक ही दिशा मे बह रहा है। वाशिंगटन के साथ एक लगातार और गुप्त कथोपकथन के साथ 'उष्ण स्थलों का एक क्रमिक शीतलीकरण' (Damping down) हुआ है।"[1]

शीत युद्ध केवल 'पूर्व' और 'पश्चिम' की विशेषता ही नही रही है अपितु स्वय साम्यवादी दुनिया में भी इसने अपना प्रभाव दिखाया है। साम्यवादी दुनिया में 'शीत युद्ध के नेता सोवियत रूस और साम्यवादी चीन हैं। जहा रूसी स्टालिन की मृत्यु के बाद से ही सह अस्तित्व के प्रति पूर्वापेक्षा अधिक आश्वस्त हुए हैं वहा चीन साम्यवादियों का कहना है कि पूजीवाद के साथ समाजवाद का अस्तित्व एक बेतुकी बात है। स्वय को ससार का सबसे बुद्धिमान और विवेकशील तथा युद्ध-अनुभवी समझने वाले माओत्सेतुग का अलाप है कि देवता और दानव एक साथ अगल-बगल मे नही रह सकते। दानव रूपी पूजीवाद का विनाश करना प्रत्येक साम्यवादी का परम पुनीत कर्त्तव्य है। उसका मत है कि जो साम्यवादी शान्तिपूर्ण सहजीवन की बात करते हैं वे असली मार्क्सवादी नही हो सकते। इस प्रकार साम्यवादी दुनिया में चलने वाला यह भयकर सैद्धान्तिक मतभेद 'एक ही घर मे शीत युद्ध' वाली बात है। स्वय रूस में इस सैद्धान्तिक मतभेद के कारण अन्दर ही अन्दर दो गुट हैं—स्टालिनवादी गुट, जो पहले से ही विद्यमान है और ख्रुश्चेववादी गुट, जो सह अस्तित्व का पक्ष करते हैं। यद्यपि श्री ख्रुश्चेव का लगभग राजनीतिक सन्यास हो चुका है, किन्तु वर्तमान रूसी नेतृत्व अपनी विचारधारा में बहुत कुछ ख्रुश्चेववादी ही है।

---

1. The Hindustan Times, July 25, 1964

साम्यवादी ससार के इस सघर्ष का प्रभाव पश्चिम द्वारा चलाये जाने वाले 'शीत युद्ध' पर निश्चित रूप से पडा है। पश्चिमी गुट यथासभव ऐसा कोई कार्य नही करना चाहते कि जिसमे क्रेमलिन मे स्टालिनवादी पक्ष को सहारा मिले। स्वय सयुक्त राज्य अमेरिका को अधिकाधिक विश्वास होता जा रहा है कि पूजीवादी विश्व के लिए अब साम्यवादी रूस सभवत, इतना बडा खतरा नही है जितना कि साम्यवादी चीन निकट भविष्य मे हो सकता है। चीन की आक्रामक नीति से न केवल पश्चिमी राष्ट्र अपितु स्वय रूस सहित विश्व के अन्य शान्तिप्रिय राष्ट्र त्रस्त हैं। सभी इस बात मे अपना और विश्व का हित समझने लगे हैं कि या तो चीन को सहयोग का हाथ बढाने के लिये विवश कर दिया जाय या फिर उसे अकेला बना दिया जाय। इसके साथ ही अब यह नवीन चर्चा भी चल पडी है कि एक ऐसा दिन भी आ सकता है जब चीन के विरुद्ध अमेरिका और सोवियत रूस का एक सयुक्त मोर्चा बन जाय।[1] रूस और चीन के सैद्धान्तिक मतभेद छुट-पुट तथा सीमा-सघर्ष शीत युद्ध मे निश्चित रूप से शिथिलता लाये है। अब देखना यह है कि ऐसी स्थिति कब तक कायम रहती है। जहा तक शीत युद्ध की पूर्ण समाप्ति का प्रश्न है; इस बात की आशा निकट भविष्य मे नही की जा सकती, क्योंकि युद्ध का कृत्रिम वातावरण अमेरिकन आर्थिक व्यवस्था को जिन्दा रखने के लिए आवश्यक है और इस हालत मे शीत युद्ध की स्थिति कायम रहना भी जरूरी है।

अन्त मे, शीत युद्ध के सम्बन्ध मे यह बात याद रखी जानी चाहिए कि 'शीत युद्ध के परस्पर विरोधी खेमो मे यदा-कदा सेतुबन्ध (Bridge) का काम भारत सहित कुछ तटस्थ राष्ट्रो ने किया है, अन्यथा 'शीत युद्ध' मे सलग्न राज्य के बीच कभी भी खुला महायुद्ध हो सकता था। भारत ने 'शीत युद्ध' वाले राज्यो के मध्य सह-अस्तित्व स्थापित करने पर हमेशा बल दिया है और विश्व के सैनिक सगठनों को सदा निरुत्साहित किया है।

सैद्धान्तिक संघर्ष बनाम शक्ति-राजनीति
(Ideological Conflict or Power Politics)

अब हमे 'शीत-युद्ध' के एक दूसरे पक्ष पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। प्रायः यह कहा जाता है कि 'शीत-युद्ध' एक सैद्धान्तिक सघर्ष (Ideological Conflict) है जिसमे दो विरोधी जीवन-पद्धतियां-उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद—सर्वोच्चता के लिए सघर्ष-रत हैं। वास्तव मे इससे इन्कार करना भ्रामक होगा कि शक्ति राजनीति के इस युग में सोवियत सघ और सयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य जो एक विशेष प्रकार

1. Palmer and Perkins - International Relations, Page 266

की प्रतिद्वन्द्विता है, वह सचमुच सैद्धान्तिक है। इसके पीछे एक गहन सामाजिक दर्शन है जो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक मुख्य कारण बन गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत प्रणाली को एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र मानता है जिसका उद्देश्य अन्य देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके अथवा येन-केन प्रकारेण अपना प्रभाव डालकर साम्यवाद का प्रसार करना है। दूसरी ओर सोवियत संघ अपने कटु अनुभवों के आधार पर पश्चिमी देशों की प्रणालियों को शोषण, आक्रमण, हीनतर उपायों से भी स्वार्थ लाभ तथा संगठित लूट-खसोट के ऊपर आधारित मानता है। दोनों देशों और उनके पिछलग्गू राष्ट्रों के दृष्टिकोण परस्पर इस तरह विरोधी अथवा प्रतिकूल हैं कि उनका प्रभाव हर क्षेत्र पर पड़ा है और सर्वत्र रूस, अमेरिका के वैचारिक संघर्ष प्रवेश कर गये हैं। यह वैचारिक अथवा सैद्धांतिक संघर्ष आज विश्व राजनीति का एक आधार बन चुका है और इसी संघर्ष को जारी रखने एवं इसमें सफलता प्राप्त करने के प्रत्येक संभव उपाय सोचे जा रहे हैं।

दोनों राष्ट्र एक दूसरे के प्रति इतने सशंकित हैं कि अपनी व्यवस्था के रक्षार्थ उन्होंने गुप्तचरों का एक विश्वव्यापी जाल बिछा रखा है। सैद्धान्तिक संघर्ष में और एक-दूसरे के दर्शन से अपने दर्शन को अथवा अपनी जीवन-व्यवस्था को श्रेष्ठतर सिद्ध करने के लिए प्रचार के सही-गलत माध्यम हैं, उनका निर्भीक रूप से अनुसरण किया जाता है, प्रत्यक्ष आर्थिक सहायता देकर अविकसित देशों की मित्रता खरीदी जाती है, सामरिक सामग्रियों पर नियन्त्रण किया जाता है और दुर्बल देशों के आर्थिक तन्तुओं पर भी कब्जा जमा लिया जाता है। इतना ही नहीं, अन्य देशों के अन्दर जो राजसत्ता के लिए संघर्ष होते हैं उनमें भी किसी दल का पक्ष लेकर सैद्धान्तिक संघर्ष को बढ़ाया जाता है।

इस तरह इस तथ्य में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि वर्तमान शीत-युद्ध का एक सर्वोपरि आधार सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक संघर्ष (Ideological Conflict) ही है। अर्नोल्ड टायनबी ने शीत-युद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष मानते हुए विश्व-राजनीति की 'द्वि-ध्रुवी' व्याख्या की है। श्री टायनबी के अनुसार वर्तमान समय में विश्व राजनीति में केवल दो सिद्धांत और केवल दो शक्तियां हैं—उदारवादी लोकतन्त्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद और संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस।

निष्कर्ष यह निकलता है कि शीत युद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष की संज्ञा दी जाना गलत नहीं है। हां, यह कहना अवश्य भ्रामक है कि १६वीं शताब्दी की शक्ति-सन्तुलन की राजनीति से सर्वथा भिन्न यह केवल एक सैद्धा-

तिक संघर्ष मात्र है। कहने का आशय यह हुआ कि शीत युद्ध और सैद्धान्तिक संघर्ष परस्पर पर्यायवाची नहीं हैं बल्कि सैद्धान्तिक संघर्ष शीत युद्ध के एक प्रधान कारण के रूप में स्वीकार्य है। इस बात के अनेक प्रमाण हमारे सामने हैं कि सैद्धान्तिक मतभेदों पर बल दिये जाने के बावजूद शीत युद्ध शक्ति-राजनीति का २०वीं शताब्दी का संस्करण है। प्रथम, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की 'द्वि ध्रुवी' व्याख्या (Bi-polar interpretation) पूर्णतया सही नहीं है। भारत तथा एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्र ऐसे हैं जो पाश्चात्य प्रजातन्त्र अथवा सोवियत या चीनी साम्यवाद में से किसी एक को भी पूर्णतः स्वीकार न करते हुए तटस्थता तथा असंलग्नता की नीति का अनुसरण कर रहे हैं। दूसरे, दोनों ही गुटों (रूसी व अमेरिकन) द्वारा कुछ ऐसे देशों को सहायता दी जा रही है जो उन सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करते, जिनका संरक्षक होने का वे गुट दावा करते हैं। उदाहरणार्थ लैटिन अमेरिका के अधिकांश देशों में अलोकतान्त्रिक और फासिस्ट प्रवृत्ति की सरकारें पाई जाती हैं, किन्तु फिर भी संयुक्त राज्य अमेरिका स्वयं को उनका प्रधान संरक्षक मानता है। तीसरे, प्रत्येक गुट में समान सिद्धान्तों के बावजूद आन्तरिक मतभेद विद्यमान हैं। रूसी अथवा अमेरिकन कोई भी गुट मतभेदों तथा नेतृत्व की होड़ से परे नहीं हैं। साम्यवादी गुट में चीन ने सोवियत संघ के विरुद्ध बगावत का झंडा उठा रखा है तो पश्चिमी गुट में फ्रांस अपने गुट के विरुद्ध विद्रोह के मार्ग पर चल रहा है। चौथे, रूस और अमेरिका के मध्य का तनाव यह बताता है कि शीत युद्ध शक्ति-राजनीति (Power Politics) का ही एक रूप है। इन दोनों राष्ट्रों में संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा का तीव्र विकास इसीलिए हुआ क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के विध्वंस से बचे हुए संसार में यह दोनों ही राष्ट्र विश्व की महाशक्तियों के रूप में उदित हुए और अन्य किसी भी दिशा से चुनौती के अभाव में विश्व नेतृत्व के लिए संघर्षी हो गये और अब तो साम्यवादी चीन के रूप में एक तृतीय महाशक्ति का उदय हो रहा है जिसने इन दोनों कट्टर शत्रुओं को सैद्धान्तिक संघर्ष के बावजूद परस्पर मैत्री और सहयोग की दिशा में अग्रसर होने को प्रेरित कर दिया है।

१५

यूरोप का पुनर्निर्माण तथा पुनर्गठन

(RE-BUILDING AND RE-ORGANISATION OF EUROPE)

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति धुरी राष्ट्रों की पराजय और मित्र राष्ट्रों की विजय में हुई। मानव इतिहास के एक अध्याय की इतिश्री हो गयी और दूसरे का समारम्भ हुआ। इस महायुद्ध से पूर्व तक यूरोप विश्व इतिहास का निर्माता था, किन्तु अब वह आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व की दृष्टि से अपाहिज बन गया। महायुद्ध ने यूरोपीयन राष्ट्रों की राजनीतिक, आर्थिक व सामरिक शक्ति को गहरा आघात पहुंचाया। प्राचीन काल का 'संसार को अनुशासित करने वाला यूरोप' (World Dominating Europe) महायुद्ध के बाद नवीन 'समस्या प्रधान यूरोप' (Problem Europe) बन गया। १९४५ में यूरोपीयन प्रभुत्व का एक प्रकार से जनाजा ही निकल गया।

युद्ध के समय की उखाड़-पछाड़ो के कारण अनेक राष्ट्रों की सीमायें बदल गयी और कुछ राष्ट्रों की शक्ति का पूरी तरह विनाश हो गया। द्वितीय महायुद्ध के पहले जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, सोवियत रूस, इटली आदि यूरोप के कुछ देश बड़ी शक्तियों में गिने जाते थे। लेकिन ६ साल की भयानक लड़ाई के कारण यूरोप का चित्र ही बदल गया। विश्व विजय का स्वप्न देखने वाला और उसे क्रियान्वित करने की शक्ति और कौशल वाला जर्मनी पराजित, बर्बाद और विभाजित हो गया। इटली को घातक राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। इटली की भाँति ही फ्रांस का भी बुरा हाल था। उसका औद्योगिक और कृषि उत्पादन चौपट हो गया। जर्मनी द्वारा किये गये विनाश से इसे जो हानियां उठानी पड़ी उनकी क्षतिपूर्ति के लिए उसे

बहुत दिनों तक प्रयत्न करने पड़े। ब्रिटेन की आर्थिक व्यवस्था घातक रूप से प्रभावित हुई। एक प्रमुख ऋणदाता राष्ट्र से उसकी स्थिति एक ऋणि या कर्जदार राष्ट्र की हो गयी। सोवियत रूस को जन-धन की भारी हानि हुई, किन्तु फिर भी वह पहले की तुलना में अधिक शक्तिशाली बन गया। युद्ध ने स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महानतम शक्तियां रह गयी हैं— सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। ये दोनों ही देश प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उदित हुए और युद्धोत्तर विश्व सेजों से इनके प्रभाव क्षेत्रों में बदला गया।

युद्ध-जनित परिवर्तनों के कारण यूरोपीय महाद्वीप के देशों में एकदम अव्यवस्था और अस्थिरता आ गयी। युद्ध में हारे हुए राष्ट्रों के स्वरूप निर्धारण, यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण और पुनर्गठन की समस्यायें उठ खड़ी हुई। शीत युद्ध का श्रीगणेश हुआ और यूरोप के पुनर्व्यवस्था के प्रश्न पर विजेता शक्तियों में मतभेद खड़े हुए। इन मतभेदों के बीच सामन्जस्य स्थापित करने तथा स्थाई शांति का निर्माण करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक सम्मेलन बुलाये गये और इनमें भारी विचार विमर्श के बाद यूरोप का एक नया रूप सामने आया।

यह कहा जाता है द्वितीय विश्व युद्ध के बाद योरोप की परिस्थितियों में परिवर्तन आये उनका उदाहरण आधुनिक इतिहास में कहीं भी नहीं मिलता। सोवियत रूस को छोड़कर शेष सारा यूरोप शक्ति राजनीति में इतना पिछड़ गया कि एरिक फिशर (Eric Fischer) आदि इतिहास के अनेक विद्वान 'योरोप का समय गुजर गया' (The passing of the European age) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। विलियम फॉक्स (William T R Fox) का कहना है कि योरोप का सत्तापूर्ण प्रभाव बदल कर समस्यापूर्ण बन जाना ही हमारे समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक केन्द्रीय तथ्य है। योरोप की शक्ति क्षीण होने के कारण इसका स्थान अन्य दूसरे राष्ट्रों द्वारा ग्रहण किया जाने लगा। संयुक्त राज्य अमरीका विश्व की महान् शक्ति के रूप में उदित हुआ। योरोप के अधिकांश देश दूसरे या तीसरे नम्बर की शक्ति बन गये। शक्ति-राजनीति में इस उलट-फेर के अनेक कारण बताये जाते हैं। पहला तथा महत्वपूर्ण कारण तो द्वितीय विश्व युद्ध ही है जिसने योरोप के देशों की सैनिक शक्ति को समाप्त प्रायः कर दिया तथा वहां की आर्थिक स्थिति को डावाडोल बना दिया। युद्ध के समय हथियारों तथा युद्ध की अन्य सामग्रियों का भारी मात्रा में निर्माण होने से आवश्यक चीजों के तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन को झटका लगा और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

में योरोप युद्ध पिछड़ने लगा। खर्चा बढ़ जाने के कारण एवं रक्षा बजट कई गुना हो जाने के कारण यहां की जनता पर करों का भार बढ़ गया। इसके अतिरिक्त योरोप के देशों का एशिया तथा अफ्रीका आदि महाद्वीपों में जो साम्राज्य फैला हुआ था वहां भी नवजागरण का उदय होने लगा तथा योरोप के देशों की सत्ता वहां से सिमटने लगी। इन सब आन्तरिक तथा बाह्य कारणों के परिणामस्वरूप योरोप का जो रूप हमारे सामने आया उसे देख कर हेरल्ड तथा मार्गरेट स्प्राउट (Harold and Margaret Sprout) का कथन तथ्य संगत ही प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि "अब राजनैतिक शक्ति एवं विश्व नेतृत्व में केन्द्रीय तथा पश्चिमी योरोप का एकाधिकार नहीं रहा है।"

कुछ विचारकों के मतानुसार योरोप की शक्ति का ह्रास द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही प्रारम्भ नहीं हुआ था यह बहुत पहले से ही शुरू हो गया था किन्तु फिर भी बाद में अनेक व्यापारिक, प्राकृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक कारणों से इस प्रक्रिया की गति तीव्र ही हुई। शीत युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण बड़ी शक्तियों के बीच जो मतभेद तथा असहयोगपूर्ण वातावरण तैयार हुआ उसने युद्ध से उत्पन्न क्षति की पूर्ति को कठिन बना दिया। अब सारा विश्व दो गुटों में विभाजित हो गया—साम्यवादी तथा असाम्यवादी। इन गुट राजनीति के परिणामस्वरूप जर्मनी का दो भागों में विभाजन कर दिया गया तथा भविष्य में उसके एकीकरण की आशा ही सूख गई। यूरोप की इन परिवर्तित परिस्थितियों में यह आवश्यक हो गया कि यहां के करोड़ों निवासियों के कल्याण एवं सुव्यवस्थित जीवन यापन के लिए योरोप का पुनर्निर्माण किया जाय।

शान्ति स्थापना के प्रयास
(Peace Making Attempts)

द्वितीय विश्व युद्ध में भयानक परिणामों तथा अणुशक्ति के आविष्कार के कारण तृतीय विश्व युद्ध की आशंका का हर कीमत पर निवारण करने के लिए मानवता तैयार हो गई। विश्व के प्रायः सभी राजनीतिज्ञ दिल से यह चाहने लगे कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थायी स्थापना का कोई मार्ग खोज निकाला जाय, किन्तु शान्ति को स्थायी बनाने से पूर्व उसे स्थापित करना आवश्यक था। इसके लिए विजेता राष्ट्रों के नेताओं ने सोचा कि इस बार कोई सामान्य शान्ति सम्मेलन नहीं बुलाया जाये क्योंकि इस प्रकार के प्रयासों की असफलता का अनुभव इन्हें प्रथम विश्व युद्ध के बाद हो चुका था। इसी कारण ब्रिटेन, अमरीका तथा सोवियत रूस की सरकारों ने पोट्सडाम (बर्लिन)

सम्मेलन, जुलाई-अगस्त, १९४५ में विदेश मन्त्रियो की एक परिषद का निर्माण किया। इसमे तीन बड़े (ब्रिटेन, रूस व अमेरिका) तथा फ्रास और चीन-इस प्रकार पाच राष्ट्रों के विदेश मन्त्री थे। इस परिषद का कार्य शान्ति समझौतो से सम्बन्धित आवश्यक कदम उठाना था। इस परिषद के निर्णय सर्वसम्मति से होने थे अत: इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सभी बड़ी शक्तिया एक मत हों।

इस परिषद की प्रथम बैठक लन्दन मे सितम्बर-अक्टूबर, १९४५ मे हुई तथा इसके बाद इस परिषद के इटली, रूमानिया, बलगारिया, हगरी और फिनलैण्ड आदि देशो के साथ सन्धि करने के लिए सितम्बर १९४५ से दिसम्बर १९४७ तक विभिन्न सम्मेलन बुलाये गये। ये पेरिस, न्यूयार्क, मास्को तथा लन्दन आदि स्थानो पर हुए। इन पाचो राष्ट्रो के बारे में शान्ति समझौते उन शर्तों के अनुसार किये जाने थे जो उन्होने आत्म-समर्पण करते समय लगाई थी। यह व्यवस्था की गई कि फ्रास, ब्रिटेन, अमेरिका तथा रूस मिल कर इटली के साथ की जाने वाली सन्धि का मसौदा (Draft) तैयार करेंगे। रूस, अमेरिका व ब्रिटेन द्वारा बल्कान क्षेत्रो के लिए सन्धि का मसौदा तैयार किया जावेगा और फिनलैण्ड के लिए मसौदा तैयार करने का कार्य ब्रिटेन तथा सोवियत रूस करेंगे। बाद मे इन सभी मसौदो पर मित्र राष्ट्रो तथा उनके समर्थक सभी राष्ट्रो के एक सामान्य सम्मेलन मे उस पर विचार किया जावेगा। इस सम्मेलन की सिफारिशो को ध्यान मे रखकर सन्धियो के अन्तिम रूप का निर्धारण विदेश मन्त्रियो की परिषद द्वारा ही किया जाता था। इन पाच राज्यो के लिए सन्धि का मसौदा तैयार करने के काम का निरीक्षण करने के लिए विदेश मत्री परिषद ने पेरिस मे दो सम्मेलन किये (१९४६)।

सन्धियों के मसौदे तैयार हो जाने के बाद इन पर विचार करने के लिए पेरिस मे एक सामान्य सम्मेलन (General Conference) बुलाया गया। सन्धि मसौदो के लगभग ६० अनुच्छेद ऐसे थे जिन पर विदेश मत्री परिषद एकमत न थी। इन मतो को सामान्य सम्मेलन मे विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। सन् १९४६ की २६ जुलाई से १५ अक्टूबर तक इक्कीस राष्ट्रो के लगभग पन्द्रह सौ प्रतिनिधियो ने सन्धि मसौदों पर अनुच्छेदो के अनुसार विचार किया। कैम्पबेल (Campbell) महोदय का विचार है कि "इस सम्मेलन मे विचार विमर्श का जो तरीका अपनाया गया तथा प्रतिनिधियों द्वारा जो दृष्टिकोण रखा गया उसके कारण किसी सर्वमान्य समझौते पर पहुँचने की सम्भावना ही समाप्त हो गई।" अनेक राष्ट्रों ने सम्मेलन पर

बड़ी शक्तियों के अतिशय प्रभाव का विरोध किया तथा इसी प्रश्न पर असन्तुष्ट होकर आस्ट्रेलिया के विदेश मन्त्री ने सम्मेलन को ही छोड़ दिया।

सन्धियों की मुख्य मुख्य धारायें

(The Main Provisions of Treaties)

पेरिस में होने वाला सामान्य सम्मेलन प्रायः असफल ही माना जाता है किन्तु फिर भी इस सम्मेलन का महत्व है क्योंकि इसमें जो सिफारिशें की गई थी उन पर विदेश मन्त्री सम्मेलन में बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया तथा उनमें से कुछ को अपनाया भी गया। सन १९४६ में विदेश मन्त्रियों की इस परिषद की न्यूयार्क में बैठक हुई। इस बैठक में पांचों सन्धियों की शर्तों को अन्तिम रूप से स्वीकार किया गया। इन सन्धियों की मुख्य मुख्य बातें निम्न प्रकार था—

(१) इस्ट्रियन प्रायद्वीप का अधिकांश भाग, इटली का कुछ सीमावर्ती प्रदेश *तथा ट्रिस्टे (Trieste) बन्दरगाह को मिलाकर एक स्वतन्त्र प्रदेश* बना दिया गया तथा इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के निरीक्षण में रखा गया। इस उपक्रम को चारों ही बड़ी शक्तियों ने स्वीकार कर लिया किन्तु यथार्थ में यह सुझाव सभी के लिए असंतोषजनक था।

(२) इटली और यूगोस्लाविया के बीच सीमा रेखा खींचने के लिए अमेरिका तथा रूस दोनों की ओर से सुझाव आये थे। सम्मेलन द्वारा इन दोनों ही सुझावों के बीच का रास्ता अपनाया गया।

(३) द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इटली की जो सीमायें थीं उनमें कोई खास परिवर्तन नहीं किया गया। ब्रिगा टेन्डा (Briga Tenda) तथा उसके अन्य कुछ छोटे क्षेत्र फ्रांस को दे दिए गए।

(४) इटली के उपनिवेशों की व्यवस्था से सम्बन्धित विषयों को आगे के लिए छोड़ दिया गया तथा यह तय किया गया कि यदि विदेश मन्त्री परिषद एक वर्ष के भीतर भीतर इस विषय पर कोई निर्णय न ले सकी तो यह मामला संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा को सौंप दिया जायेगा और महासभा का निर्णय बाध्य होकर मानना पड़ेगा। फलतः महासभा ने १९४९ के बसन्त काल में इस समस्या पर विचार किया।

(५) यह तय किया गया कि इटली हर्जाने के रूप में ३६ करोड़ डालर की राशि अदा करेगा। इस राशि का अधिकांश भाग यूनान तथा यूगोस्लाविया को दिया जाना था। हंगरी, बल्गेरिया तथा फिनलैंड प्रत्येक पर हर्जाने की रकम दस करोड़ डालर रखी गई। इसका अधिकांश भाग सोवियत

रूस को दिया जाना था। बल्गेरिया को दो करोड पाच लाख डालर यूगोस्लाविया को देना था तथा चार करोड पाच लाख यूनान को देना था।

(६) रूमानिया ने बिसाराबिया तथा बुकोविना पर रूस का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और सारा ट्रांसिल्वानिया उसके स्वय के अधिकार मे आ गया।

(७) फिनलैण्ड ने पेतसामो प्रान्त सोवियत रूस को सौंप दिया तथा पचास साल के पट्टे पर हेलसिंकी के पश्चिम की ओर उन्नीस मील दूर पोरक्कला उद् (Porkkala-Udd) का क्षेत्र सोवियत रूस को ही नौ-सैनिक अड्डा बनाने के लिए दे दिया।

(८) सोवियत रूस की सहमति से बलकान सन्धियो द्वारा डन्यूबे (Danube) मे स्वतन्त्र नौ सचालन की गारन्टी दी गई किन्तु बाद मे रूस ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता को क्रियान्वित होने से रोक दिया। चारो बडे राष्ट्रो ने यह निश्चय किया कि सन्धियो के प्रभावशाली होने के छ मास बाद डन्यूबे पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नौका सचालन सत्ता की व्यवस्था के लिए एक सम्मेलन बुलाया जाय। इस प्रकार का एक सम्मेलन सन् १९४८ के जुलाई-अगस्त मे बेलग्रेड मे बुलाया गया।

इन शाति सन्धियो द्वारा पराजित राष्ट्रो को आक्रमणकारी प्रयासो का समुचित दण्ड मिला और विजयी राष्ट्रो को उनकी क्षतिपूर्ति की व्यवस्था के लिए धन एव प्रदेश दिलाने का प्रबन्ध किया गया। शाति-सन्धियो ने युगोस्लाविया को बल्कान प्रायद्वीप मे सर्व शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक लाभ रूस को हुआ। राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से भी पूर्वी यूरोप मे रूस का अधिकार स्थापित हो गया। इन शाति-सन्धियो से पश्चिमी राष्ट्रो को आर्थिक अथवा प्रादेशिक दृष्टि से किसी प्रकार का लाभ नही हुआ, उल्टे भावी समझौतो मे रूस की मागें उत्तरोत्तर बढती गयी जिनके परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्र जर्मनी, जापान और आस्ट्रिया के साथ सामूहिक रूप से शाति सन्धिया करने मे असफल रहे।

ये शाति सन्धिया यद्यपि १५ सितम्बर, १९४७ से अन्तिम रूप मे लागू कर दी गयी तथापि इन सन्धियो का पूरी तरह पालन नही किया गया। इनके अनेक प्रावधानो का उल्लघन हुआ अथवा उनकी उपेक्षा की गई।

आस्ट्रिया के साथ सन्धि

(Peace Treaty with Austria)

छोटे-छोटे राज्यो के साथ तो पाचो शान्ति सन्धिया सम्पन्न कर ली गई, लेकिन आस्ट्रिया, जर्मनी और जापान के साथ शान्ति-सन्धि करने मे

गम्भीर मतभेद और उग्र-तनाव बढ़ता गया। फिर भी आस्ट्रिया के साथ सन्धि करने की दिशा में कुछ अधिक आशा दिखाई दी।

द्वितीय महायुद्ध काल में १९४३ में मास्को सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि युद्ध के बाद आस्ट्रिया की स्थापना पुनः एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में की जाएगी। लेकिन जुलाई १९४५ के एक अन्य समझौते के अनुसार न केवल आस्ट्रिया को चार क्षेत्रों में बाँट दिया गया, बल्कि उसकी राजधानी वियना के भी चार टुकड़े कर दिए गए। फिर भी आस्ट्रिया को इच्छानुसार सरकार स्थापित करने तथा विदेशी सम्बन्धों का सचालन करने का अधिकार दिया गया।

युद्ध समाप्ति के बाद विदेश मन्त्रियों की परिषद में आस्ट्रिया और जर्मनी का मामला अनेक बार उठा और गिरा। १९४७ के मास्को सम्मेलन में इस मसले पर पुनः विचार हुआ। पाश्चात्य शक्तियों और सोवियत रूस के मध्य मुख्य मतभेद तीन बातों पर था—

(i) दक्षिणी कैरिन्थिया में आस्ट्रियन प्रदेश के एक भाग पर युगोस्लाविया का दावा, (ii) युगोस्लाविया द्वारा क्षतिपूर्ति के रूप में १५ करोड़ की धनराशि की माग, एवम् (iii) जर्मन सम्पत्ति की परिभाषा।

अंतिम विवाद (जर्मन सम्पत्ति की परिभाषा का) अधिक आधारभूत था। सोवियत रूस का तर्क था कि आस्ट्रिया में किसी भी सदन द्वारा अधिकृत की गई जन सम्पत्ति पर उसका स्वयं का अधिकार है जबकि पश्चिमी राष्ट्रों को यह अस्वीकार्य था।

१९५५ के प्रारम्भ तक अनेक बार विचार विमर्श होने पर भी आस्ट्रिया का प्रश्न अधर झूल में लटका रहा। अप्रैल, १९५५ में आस्ट्रियन चांसलर ने अपने देश की निरपेक्ष नीति (Policy of Neutrality) घोषित की। तत्पश्चात् पर्याप्त सोच विचार के बाद, १५ जुलाई, १९५५ को आस्ट्रिया के साथ शांति सधि पर हस्ताक्षर हो गए। सधि पर सयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किए। यद्यपि आस्ट्रिया एक प्रभु त्व सम्पन्न, स्वतन्त्र और प्रजातन्त्रात्मक राज्य बन गया, लेकिन यह निश्चित कर दिया गया कि वह जर्मनी के साथ कोई राजनीतिक या आर्थिक सम्बन्ध नहीं बनाएगा तथा विध्वंसकारी शस्त्रों की दौड़ में नहीं उलझेगा।

जर्मनी के साथ सन्धि वार्ता
(Peace Talks with Germany)

युद्ध काल में ही जर्मनी के साथ शान्ति रचना के सिद्धान्तों को तय कर लिया गया था, लेकिन युद्ध के बाद सम्बन्धित पक्षों में इतना उग्र मतभेद

प्रकट हुए कि आज तक इस सम्बन्ध मे विधिवत् कोई सधि सम्पन्न नही हो सकी है।

युद्ध की समाप्ति पर स्थिति यह थी चारो महाशक्तियो ने जर्मनी को चार क्षेत्रो मे विभक्त कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया था और चारो ही क्षेत्रो के प्रधान सेनापतियो को अपने प्रदेश मे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। जर्मनी की राजधानी बर्लिन को भी चार भागो मे विभक्त कर दिया गया था। चारो राष्ट्रो की मित्र राष्ट्रीय नियन्त्रण परिषद बर्लिन मे फिर स्थापित हुई जो आपसी मतभेदो के कारण अधिक समय तक कार्य नही कर सकी और १६४८ मे समाप्त हो गयी।

युद्ध के बाद १६४६ स जर्मनी से सम्बन्धित प्रत्येक मामले पर रूस एव अमेरिका मे जबरदस्त खीचातानी होने लगी। रूस की माग थी कि जर्मनी को शक्तिशाली सघीय राज्य बनाया जाय और वह १० वर्षों के भीतर दस अरब डालर क्षतिपूर्ति के रूप मे अदा करे। इसके अतिरिक्त रूस का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जाय और पूर्वी सीमाओ का नये ढग से निर्धारण हो। आग्ल-अमेरिकन गुट चाहता था कि जर्मनी मे प्रजातात्रिक सघीय सरकार की स्थापना की जाय, सेनाओ का पुनर्निर्धारण किया जाय और जर्मनी की हालत आर्थिक दृष्टि से स्वस्थ बना दी जाय ताकि वह क्षतिपूर्ति आसानी से अदा कर सके।

पेरिस बैठक मे अमेरिकन विदेश मन्त्री बर्नेस (Burnes) ने रूसी भय को कम करने की दृष्टि से जर्मन निशस्त्रीकरण और असैनिकीकरण के सबध मे एक २५ वर्षीय सधि का सुझाव रखा, परन्तु ६ जुलाई, १६४६ को मोलोटोव ने यह कहकर इस सधि प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि यह अपूर्ण है और इसका उद्देश्य जर्मनी सैनिक शक्ति का पुनरुत्थान करना है। इसके अगले ही दिन मोलोटोव ने परिषद मे घोषणा की कि जर्मनी के साथ सधि करने से पूर्व एक ऐसी अखिल जर्मन सरकार की स्थापना की जानी चाहिए जो विशुद्ध रूप से लोकतान्त्रिक हो और नाजी तत्वो को नष्ट करने मे तथा मित्र राष्ट्रों के प्रति अपने दायित्वो को—विशेषकर क्षतिपूर्ति के दायित्वो को पूरा करने मे समर्थ हो। रूस के इस रवैये से अमेरिका, जर्मनी को आर्थिक एकता के प्रयत्न मे लग गया और उसने घोषणा की कि वह जर्मनी की आर्थिक एकता की दृष्टि से जर्मन अधिकार-क्षेत्रो से सम्बन्धित सरकारो के साथ मिल-जुल कर काम करने को तैयार है। २० जुलाई, १६४६ को ब्रिटेन ने स्पष्टतया रूस को यह बता दिया कि यदि वह (रूस) जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रस्ताव को स्वीकार नही करेगा तो ब्रिटेन अमेरिका के प्रस्ताव को मान लेगा और ब्रिटेन तथा अमेरिका के जर्मन अधिकार क्षेत्रो को सयुक्त कर दिया

जायगा । रूस की कटु आलोचनाओं और उसके उग्र विरोध का मित्र राष्ट्रों के निश्चय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और १ जनवरी, १९४७ को ब्रिटिश-अमेरिकन अधिकार क्षेत्रों को मिला कर एक द्विक्षेत्र (Bizonia) का निर्माण किया गया। इस द्विक्षेत्र के प्रशासन हेतु एक संयुक्त बोर्ड, एक संयुक्त आर्थिक नियन्त्रण बोर्ड एवं एक जर्मनी कार्यपालिका कमेटी की स्थापना की गयी।

स्पष्टतः उपरोक्त व्यवस्था जर्मन समस्या का कोई समाधान न थी। जनवरी १९४७ से मार्च १९४७ के मध्य जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या को हल करने के लिए विदेश-मन्त्रियों की अनेक बैठकें हुई। १० मार्च, १९४७ से आरम्भ होने वाली मास्को की विदेश-मन्त्री परिषद की बैठक में जर्मन समस्या के सम्बन्ध में ५० दिन तक लम्बा वाद-विवाद होता रहा। परन्तु इसमें केवल दोनों पक्षों में कटुता और वैमनस्य की वृद्धि ही हुई। तत्कालीन अमेरिकन विदेश-मन्त्री जॉन फास्टर डलैस के मतानुसार दोनों पक्षों में मत-भेद के निम्नलिखित कारण थे—

१ अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी का ऐसा पुनर्निर्माण चाहते थे जिससे भविष्य में जर्मनी कभी भी युद्ध न कर सके। जबकि रूस जर्मनी को पुनः मध्य यूरोप में एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का आकांक्षी था।

२ पोट्सडम सम्मेलन में तय हुआ था कि जर्मनी में अधिक शक्ति-सम्पन्न केन्द्रीय सरकार न हो, किन्तु रूस सोवियत क्षेत्र में बर्लिन से सचालित होने वाली शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार, शक्तिशाली राजनीतिक दल और ट्रेड यूनियन संघ के निर्माण का पक्षपाती था।

३. जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से निर्बल बनाने के लिए पोट्सडम सम्मेलन ने यह व्यवस्था की थी कि युद्ध-सामग्री का उत्पादन करने वाले जर्मन कारखानों की मशीनें एवं अन्य सामग्री क्षतिपूर्ति के रूप में रूस आदि को दे दी जायगी। रूस ऐसे बहुत से कारखाने व मशीनें अपने देश में ले गया लेकिन इन्हें चलाने में सफल नहीं हो सका। अधिकांश मशीनें रेल्वे स्टेशनों पर पड़ी हुई जंग खाने लगी। अतः अब रूस यह चाहने लगा कि क्षति-पूर्ति के रूप में जर्मन कारखाने न उठाये जायें अपितु उन कारखानों में उत्पादित माल लिया जाय और इसके लिए जर्मनी का औद्योगीकरण हो और वह जर्मनी से १० अरब डालर का हर्जाना वसूल कर सके।

उपरोक्त मतभेदों के अतिरिक्त दोनों ही पक्षों में और भी कुछ मतभेद थे—

(i) पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी का नया संविधान संघात्मक (Federal) बनाना चाहते थे जबकि रूस, आरम्भ में सहमत होने पर भी बाद मे इसका विरोध करने लगा।

(ii) पश्चिमी देश राइन प्रदेश को जर्मनी से पृथक करना चाहते थे पर रूस इस बात से सहमत न था।

(iii) मित्र राष्ट्र इस पक्ष मे न थे कि जर्मनी के औद्योगिक व्यापारिक संघों तथा बड़ी जमींदारियों को नष्ट किया जाय, जबकि मास्को रूस पर चार शक्तियों के नियन्त्रण का और व्यापारिक संघो (Cartels) तथा जमींदारियों आदि की समाप्ति का पक्षपाती था।

(iv) जर्मनी की पूर्वी सीमाओं के सम्बन्ध मे भी वे एक मत नही थे। सोवियत रूस पोट्सडम सम्मेलन द्वारा निर्धारित सीमा को अन्तिम मानता था जबकि पश्चिमी राष्ट्र इसमे संशोधन के पक्षपाती थे।

(v) सोवियत रूस द्विक्षेत्र (Bizonia) के निर्माण से बहुत क्रोधित हो गया था। इसका अभिप्राय, पश्चिमी जर्मनी को शेष जर्मनी से पृथक करना था और रूर क्षेत्र से (जो खनिज सम्पदा का भण्डार था) सोवियत रूस को दूर रखना था। रूस की आकांक्षा थी कि "रूर क्षेत्र पर भी चारों राष्ट्रों का नियन्त्रण रहे।"

(vi) पूर्व और पश्चिम की लोकमान्यताओं मे आधारभूत अन्तर था क्योंकि पश्चिम के निवासियों को विशेषकर अमेरिकन लोगों को—महायुद्ध से उत्पन्न धन जन के विनाश का उतना व्यावहारिक अनुभव नही था जितना रूसियों को था। मोलोटोव का कहना था "क्षति पूर्ति का प्रश्न संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक भिन्न अर्थ रखता है और सोवियत संघ के लिये दूसरा। संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति दूसरी ही है। नाजी अधिकृत क्षेत्रों मे उनके द्वारा किये गये विनाश, घोर दुष्कर्म और लूट पाट आदि का अनुभव करने के उपरान्त रूसी नागरिक जो महसूस करते है, संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग वैसा महसूस नहीं करते।"

उपरोक्त सभी मतभेद इतने व्यापक और उग्र थे कि पूर्व और पश्चिम मे कोई समझौता हो सकने की सम्भावना मास्को सम्मेलन मे नजर नहीं आई और फलतः जर्मनी के साथ कोई संधि नहीं की जा सकी। अब मित्र राष्ट्र (ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस) रूस की उपेक्षा करते हुए अपने द्वारा अधिकृत जर्मन प्रदेशों के बारे मे एक कदम और आगे बढ़े। जनवरी १९४७ में ब्रिटेन और अमेरिका द्विक्षेत्र (Bizonia) का निर्माण कर ही चुके थे, ३१ मई १९४८ को फ्रांस के साथ मिल कर उन्होंने, अर्थात् अमेरिका ब्रिटेन व फ्रांस

तीनों ने अपने तीनों क्षेत्रों (Trizonia) के लिए एक केन्द्रीय सरकार बनाना स्वीकार कर लिया। २१ सितम्बर, १९४९ को पश्चिमी जर्मनी में सघीय गणराज्य (Federal Republic of Germany) की स्थापना हुई जो अब तक चला आ रहा है और जिसकी राजधानी बोन (Bonn) है। मित्र राष्ट्रों के सैनिक कमीशन ने पश्चिमी जर्मनी के इस सघीय गणराज्य के प्रशासनिक अधिकार प्रदान किये। दूसरी ओर पूर्वी क्षेत्र में सोवियत संघ ने ७ अक्टूबर १९४९ को जर्मन जनतान्त्रिक गणराज्य (German Democratic Republic) की स्थापना की जिसकी राजधानी सोवियत क्षेत्र के बर्लिन में स्थित है।

चूंकि अभी तक जर्मनी के साथ कोई शान्ति संधि सम्पन्न नहीं हो सकी थी, अतः वैधानिक दृष्टि से जर्मन और मित्र राष्ट्रों के मध्य युद्ध की अवस्था विद्यमान थी। सन् १९५१ में पाश्चात्य राज्यों ने अपनी तरफ से जर्मनी के साथ युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी और २६ मई, १९५२ को 'Contractual Agreements' के द्वारा पश्चिमी जर्मनी को व्यावहारिक स्वशासन प्रदान कर दिया गया। ५ मई, १९५५ को जर्मन नेताओं की बोन पार्लियामेंट्री कौंसिल द्वारा 'जर्मनी के सघीय गणराज्य का मौलिक कानून' (Basic Law of the Federal Republic of Germany) तैयार किया गया और उसे पश्चिमी क्षेत्रों में मित्र राष्ट्रीय सैनिक गवर्नरों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस अधिनियम द्वारा पश्चिमी जर्मनी पर से पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने सैनिक अधिकार समाप्त कर दिये और इस प्रकार सघीय गणराज्यों को स्वाधीनता तथा सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हो गयी। सोवियत संघ ने भी २० सितम्बर, १९५५ को एक संधि द्वारा पूर्वी जर्मनी के जनतांत्रिक गणराज्य को पूर्ण स्वाधीनता और प्रभुसत्ता प्रदान कर दी जो वास्तव में मात्र सैद्धान्तिक ही थी क्योंकि व्यावहारिक रूप से पूर्वी जर्मन सरकार पर पूरा नियन्त्रण सोवियत संघ का ही है।

जर्मनी की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए अभी तक एक प्रश्न चिन्ह बनाया हुआ है क्योंकि इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य शक्तियों और सोवियत संघ के मध्य अभी तक कोई समझौता नहीं हो सका है। आज भी जर्मनी में दो सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य-जर्मन जनतान्त्रिक गणराज्य तथा जर्मनी का सघीय गणराज्य मौजूद हैं।

योरोप का आर्थिक विकास एवं एकीकरण
(Economic development and integration of Europe)

योरोप का विकास करने के लिए पश्चिमी शक्तियों द्वारा मार्शल योजना आदि का प्रस्ताव किया गया किन्तु इन सभी योजनाओं को सोवियत

रूस तथा उसके गुट के अन्य देशों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। इस मतभेद के कारण कोई ऐसा कार्यक्रम नहीं बनाया जा सका जिसके द्वारा योरोप के सभी राष्ट्रों का विकास किया जा सके। हार कर दोनों गुटों द्वारा उनके आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अलग-अलग योजनायें बनाई जाने लगी। महाद्वीप विभाजित हो गया तथा क्षेत्रीय आधार पर उसकी हानि पूर्ति करने के प्रयास किये गये। सभी देशों की लगभग समान समस्यायें थी और उनको दूर करने के मार्ग भी प्राय एक से ही थे। इन कारणों से इन देशों के बीच एक अभूतपूर्व सहयोग के वातावरण का जन्म हुआ। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पश्चिमी योरोप का एकीकरण करने की ओर महत्वपूर्ण कदम उठाये गये। पश्चिमी योरोप के देशों की सभी समस्याएं प्राय समान थी और इनको सुलझाने के लिए राजनैतिक, नैतिक तथा आर्थिक कदम उठाने परम आवश्यक थे। योरोप ने आर्थिक एकीकरण के लिये जो मुख्य-मुख्य कदम उठाये गये उनमें बैनेलक्स (Benelux), मार्शल योजना (Marshal Plan), शूमेन योजना आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका संक्षेप में परिचयात्मक विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(१) बेनेलक्स
(Benelux)

योरोप के देशों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का यह प्रथम महत्वपूर्ण कदम माना जाता है। यह सन्धि बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स तथा लक्समबर्ग-इन तीन देशों के बीच सितम्बर, १९४४ में ही कर ली गई थी। जनवरी, १९४८ से इसे संशोधित रूप में स्वीकार किया गया। पामर तथा परकिन्स के शब्दों में इस सन्धि द्वारा इसमें भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों के बीच चुंगी (Custom duty) को पूरी तरह से समाप्त कर दिया गया तथा आयात पर एक समान टैरिफ कार्यक्रम की स्थापना की गई। यह बताया जाता है कि इस सन्धि का अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आर्थिक-संघ का निर्माण करना था। तीनों देशों के विदेश मन्त्रियों ने १ जनवरी, १९५० को इस प्रकार के संघ प्रारम्भ करने की तिथि निश्चित की और बाद में इस तिथि को कई बार आगे बढ़ा दिया गया क्योंकि इसे क्रियान्वित करने के मार्ग में अनेक प्रकार की बाधायें थीं। बाद में यह निष्कर्ष निकाला गया कि जब तक कुछ बड़े उद्योगों के विशेष हितों को और यहा तक कि राष्ट्रीय हित को भी अधीनस्थ या गौण नहीं बना दिया जाता तब तक पूरे योरोप के आर्थिक लाभों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। बेनेलक्स देशों का प्रारम्भिक प्रयास प्रशंसनीय होते हुए भी पर्याप्त नहीं था तथा उसके क्षेत्र एवं प्रभाव का विस्तार किया जाना आवश्यक था।

मार्शल योजना एवं यूरोपीय आर्थिक सहयोग तथा विकास का संगठन (Marshall Plan and OECD)

साम्यवाद का खतरा बढ़ता जा रहा था। संयुक्त राज्य अमेरिका को यह आशंका होने लगी थी कि यदि योरोप के पिछड़े तथा युद्ध से पीड़ित देशों का उत्थान न किया गया तो वे सम्भवतः साम्यवाद का मार्ग ग्रहण कर लेंगे और इस प्रकार अमरीका के हित खतरे में पड़ जायेंगे। यह अनुमान लगाया गया कि शायद इसी आशा में सोवियत रूस योरोप का आर्थिक विकास करने वाली किसी सन्धि में सम्मिलित नहीं हो रहा था। राज्य सचिव जार्ज सी० मार्शल द्वारा ५ जून, १९५७ को हार्वर्ड विश्वविद्यालय में दिये गये अपने भाषण में बताया कि योरोप में पुनरुद्धार के लिए प्रयत्न किया जाना परम आवश्यक था। एक ऐसी अर्थ व्यवस्था का पुनरुत्थान किया जाये जिसमें ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो कि जो स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास कर सकें। मार्शल द्वारा योरोप को सहायता देने की योजना प्रस्तुत की गई जिसमें यह बताया गया कि योरोप के देश स्वयं यह बतायें कि उनको कैसी तथा किस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है। इस प्रकार पहल योरोप के देशों की ओर से ही होनी चाहिये, संयुक्त राज्य अमरीका तो इस माग को पूरी करने का प्रयास भर कर सकता है। मार्शल की घोषणा के बाद योरोप के १६ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा पुनरुत्थान के लिए किये जाने वाले सामूहिक कार्यक्रम पर विचार किया गया तथा वाह्य सहायता की मात्रा एवं महत्व को भी ध्यान में रखा गया। मोलोतोव तथा अन्य रूसी प्रतिनिधियों ने कुछ दिनों तक इस सम्मेलन में भाग लिया तथा बाद में उसे छोड़ कर चले गये। रूस की सरकार द्वारा मार्शल योजना के आधार को ही गलत बताया गया और इसे अमेरिकन साम्राज्यवाद का प्रतीक तथा छिपे रूप से सोवियत संघ के विरुद्ध एक गठबन्धन माना गया। रूस के इस दृष्टिकोण का अनुगमन करते हुए चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैंड आदि देशों ने भी योजना में भाग लेना अस्वीकार कर दिया। हर्बर्ट ल्यूथी (Herbert Luethy) के मतानुसार इस अवसर ने पश्चिम तथा सोवियत गुट के बीच एक विभाजन रेखा खींच दी जिसके कारण योरोप का आगामी वर्षों का इतिहास प्रभावित रहा।

कठिनाइयों के बावजूद जुलाई १९४७ में १६ यूरोपियन देशों (इंग्लैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, स्वीडन, स्विट्जरलैण्ड, पुर्तगाल, नीदरलैण्ड और टर्की) के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपियन *आर्थिक सहयोग समिति (Committee of European Economic Co-operation)* की स्थापना की गयी और यूरोपियन पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया।

यूरोपियन आर्थिक सहयोग समिति ने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट अर्पित की जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि १६.३ बिलियन डालर धन राशि खर्च करने को तैयार हो तो सन् १९५१ तक एक आत्म-निर्भर यूरोपियन अर्थ व्यवस्था (Economy) की प्राप्ति की जा सकती है। यह रिपोर्ट 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। दिसम्बर १९४७ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 'मार्शल योजना' से सम्बन्धित व्यय का अनुमान कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत किया जिसमें सवा चार वर्ष की अवधि के लिए १७ अरब डालर और १५ महीनों के लिए ६ अरब ८० करोड़ डालर के खर्च का अनुमान लगाया गया। इस प्रस्ताव के उद्देश्य (Motive) की व्याख्या करते हुए ट्रूमैन ने कहा—'मेरा प्रस्ताव यह है कि अमेरिका उन १६ राज्यों को जो उसी की तरह स्वतन्त्र संस्थाओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के बीच स्थायी शान्ति के लिए दृढ़ संकल्प हैं, उनके पुनर्निर्माण कार्यों में सहायता देकर विश्व शान्ति एवं अपनी सुरक्षा में योगदान करें।''

'मार्शल योजना' को, जो अधिकृत रूप से 'यूरोपियन रिलीफ प्रोग्राम' (European Relief Programme) कहलाई, कांग्रेस ने पास कर दिया। ३ अप्रैल, १९४८ को कांग्रेस ने 'विदेशी सहायता अधिनियम' पारित करके मार्शल योजना को मूर्त रूप प्रदान किया और इसको कार्यान्वित करने के लिए 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन' (Organization for European Economic Co-operation) की स्थापना की गयी।

इस नवीन संस्था में अमेरिका और कनाडा पूर्ण सदस्य मान लिये गये। इस प्रकार अब यह केवल मात्र विशुद्ध यूरोपीयन संगठन ही नहीं रहा। १४ दिसम्बर, १९६० को इस संगठन के सम्बन्ध में जो समझौते स्वीकार किये गये उनके अनुसार इसके निम्नलिखित उद्देश्य और कार्य हैं—

(क) सदस्य देशों को उच्चतम आर्थिक विकास और रोजगार प्रदान करना तथा जीवन-यापन के स्तर को उन्नत बनाना,

(ख) आर्थिक स्थिरता बनाये रखते हुए विश्व की अर्थ-व्यवस्था के विकास में सहायक होना,

(ग) सदस्य देशों को और अन्य देशों में स्वास्थ्य, आर्थिक विस्तार और विकास में सहयोग देना,

(घ) विश्व व्यापार के ऐसे विस्तार में सहयोग देना जो बहुपक्षीय हो तथा विशेष भेदभाव न करने वाला हो।

उपरोक्त उद्देश्यों और कार्यों की पूर्ति के लिए संगठन के अन्तर्गत आर्थिक नीति समिति, व्यापार समिति, विकास सहायता समिति आदि का

गठन किया गया है। दिसम्बर १९६१ के एक निर्णय के अनुसार यह लक्ष्य रखा गया है कि संगठन के सदस्य राष्ट्रों के वास्तविक कुल राष्ट्रीय उत्पादन में १९६० से १९७० तक की १० वर्षीय अवधि में ५० प्रतिशत वृद्धि की जाए।

मार्शल योजना और उसके फलस्वरूप अस्तित्व में आने अन्य आर्थिक सहयोग संगठन के कारण यूरोप के देशों का औद्योगिक उत्पादन, कृषि की उपज, लोगों का जीवन-स्तर तथा पूरी अर्थ-व्यवस्था सुधर गई। देशों के आपस के व्यापारिक सम्बन्धों में सहयोग की स्थापना हुई तथा इस प्रकार पश्चिमी यूरोप में साम्यवाद की आशंकाओं को अकल्पित बना दिया गया। इसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं की प्राप्ति में सहयोग दिया। आर्थिक क्षेत्र में सहयोग के इस प्रयास ने सैनिक क्षेत्र में सहयोग का मार्ग प्रशस्त किया। इसने राष्ट्रवाद की कठोर दीवारों को भेद कर एकीकरण की आशायें दिखाई तथा महाद्वीप को एकीकृत, सम्पन्न तथा शान्तिपूर्ण बनाने में महत्वपूर्ण कार्य किया।

शूमा योजना एवं यूरोपीय कोयला-स्पात समुदाय
(Shuman Plan and European Coal & Steel Community)

पश्चिमी यूरोप का आर्थिक एकीकरण करने के लिए 'शूमा प्लान' के रूप में एक अन्य नवीन योजना सम्मुख आई। प्रायः इसे ऐसी आर्थिक योजना कहा जाता है जिसका लक्ष्य राजनैतिक था। जून, १९५० में बेल्जियम, नीदरलैण्ड, लक्समबर्ग, फ्रांस, इटली और पश्चिमी जर्मनी, ये छः योरोपीय राष्ट्र फ्रांसीसी विदेश मन्त्री शूमा के प्रस्ताव पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए। इस प्रस्ताव में यह बात थी कि इन सभी राष्ट्रों का कोयला तथा फौलाद का सारा उत्पादन एक सम्मिलित उच्च सत्ता के अधीन रखा जाय तथा इस प्रकार एक अति राष्ट्रीय राजनैतिक संस्था का निर्माण कर दिया जाय। इस रूप में यह योजना फ्रांस-जर्मनी की समस्या को सुलझाने की ओर एक महत्वपूर्ण कदम थी। इसके अनुसार एक योरोपीय संघ संसद का निर्माण करना था।

पेरिस की इस भेंट के नौ मास बाद अर्थात् १८ अप्रैल, १९५१ को छः देशों के विदेश मन्त्रियों ने सन्धि के मसौदे पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार एक योरोपीय कोयला एवं फौलाद के समाज(European Coal and Steel community) की स्थापना की जानी थी। इन सभी देशों ने एक के बाद एक इस मसौदे को स्वीकार कर लिया। १० अगस्त, १९५२ को ६ व्यक्तियों की एक उच्च सत्ता (High Authority) की स्थापना की गई। जीन मोनेट

(Jean Monnet) इसके चेयरमैन बनाये गये। बाद में इन सभी राष्ट्रों द्वारा कई ऐसे महत्वपूर्ण कदम उठाये गये जिनके कारण न केवल इस समाज को ही ठोस आधार प्रदान किया गया किन्तु योरोपीय एकता की सम्भावनाओं को भी बढ़ाया गया। योजना के लगभग चार वर्ष बाद शूमा प्लान को कार्य रूप दे दिया गया। अपने जन्म से लेकर आज तक इस योजना ने योरोपीय कोयले तथा फौलाद के व्यापार को बढ़ावा देने के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। इसकी उच्च सत्ता (High authority) द्वारा नीति सम्बन्धी अनेक निर्णय लिए गये हैं। योरोपीय एकता का इस समाज को एक नया प्रयोग माना जाता है। मई, १९५५ में सामान्य सभा (Common Assembly) को योरोप के आवागमन का एकीकरण करने के लिए बुलाया गया तथा इस सम्बन्ध में समाज की शक्ति एवं उत्तरदायित्व बढ़ाने के सुझाव माने गये। इस सभा द्वारा एक या दो अतिराष्ट्रीय सम्मेलनों का सुझाव दिया गया जो कि योरोपीय एकीकरण की सम्भावनाओं पर आगे विचार कर सके। २० मई को बेनेलक्स देशों की सरकारों ने अन्य तीन देशों की सरकार को एक औपचारिक प्रस्ताव भेजा जिसमें आर्थिक क्षेत्र में एकीकरण बढ़ाने के लिए आवश्यक कदम उठाने की मांग की गई थी। बाद में सदस्य राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों ने एक समिति नियुक्त की जो एकीकरण की योजना से सम्बद्ध समस्याओं पर विचार कर सके।

यूरोपीय साझा-बाजार
(European Common Market)

शूमा योजना ने ही आगे चलकर यूरोपीय साझा बाजार की स्थापना को सम्भव बनाया। इसकी स्थापना शूमा योजना के सदस्यों द्वारा १ जनवरी, १९५८ को की गई। यह योजना आज भी जारी है। यह एक क्षेत्रीय योजना है जिसका उद्देश्य यूरोप के ६ देशों का आर्थिक एकीकरण करना है। ये ६ देश हैं—बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैंड तथा लक्जमबर्ग। अफ्रीका के बहुत से राष्ट्र इसके भावी सदस्य हैं। यद्यपि इस समुदाय का अन्तिम अथवा दीर्घावधि लक्ष्य यूरोप के देशों का राज्य-संघ बनाना है, लेकिन इसके तात्कालिक लक्ष्य आर्थिक हैं। आर्थिक लक्ष्य के रूप में समुदाय बनाने का एक मात्र उद्देश्य उत्पादन के क्षेत्र में बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली द्वारा उत्पादन करके विशिष्टीकरण और श्रम-विभाजन के लाभों को प्राप्त करना है। यह योजना इस आशा का परिणाम है कि ६ देशों के व्यापक क्षेत्रफल में पहले विस्तृत बाजार में बड़े पैमाने के उद्योगों को अधिक कुशलतापूर्वक चलाया जा सकेगा और इस प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र को आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया जा सकेगा।

साझा बाजार की स्थापना न केवल यूरोप वरन् विश्व के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस समुदाय या साझा बाजार ने प्रशंसनीय प्रगति की है और बड़े पैमाने के विशाल आर्थिक लाभ सदस्य राष्ट्रों को प्राप्त हुए हैं। किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की योजनायें सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता और मुक्त व्यापार के हित के घातक हैं।

यूरोप की सैनिक संधियाँ
(The Military Pacts of Europe)

योरोप की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ यह भी आवश्यक था कि उसे सैनिक रूप से भी सशक्त बनाया जाये। कहा जाता है कि सोवियत रूस जब चाहे इंगलिश चैनल पर आक्रमण कर सकता है। पश्चिमी योरोप तथा पूर्वी योरोप के बीच प्राकृतिक अवरोध न होने के कारण यह आवश्यक समझा गया कि योरोप के इन दोनों भागों के बीच संयुक्त राज्य अमरीका की सेनायें रखी जायें। आर्थिक क्षेत्र की भाँति योरोप के देश अब सैनिक दृष्टि से भी एकीकृत होते जा रहे हैं। उत्तर अटलांटिक सन्धि संगठन (NATO) के अधीन योरोप ने संयुक्त राज्य अमरीका तथा स्वतन्त्र विश्व के अन्य शक्तिशाली देशों से भी अपना सम्बन्ध बना लिया है। पश्चिमी योरोप के आठ देशों ने मिल कर एक पश्चिमी योरोपीय संघ (Western European Union) की रचना की है जिसे नाटो (NATO) के माध्यम से अमेरिका तथा ब्रिटेन का पूरा सहयोग प्राप्त होगा। योरोपियन सुरक्षा को सुदृढ़ बनाने के लिए जो सैनिक सन्धियाँ की गई वे निम्न प्रकार हैं—

डंकर्क सन्धि
(Dunkirk Treaty)

यह सन्धि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य ४ मार्च, १९४७ को ५० वर्ष के लिये की गई। इसका प्रयोजन सम्भावित जर्मन आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सैनिक सहायता है। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने यह निश्चय किया कि (क) जर्मनी के आक्रमण करने पर, (ख) जर्मनी द्वारा आक्रमण को प्रोत्साहित करने की नीति स्वीकार करने पर, एवं (ग) संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने पर दोनों देश एक दूसरे को सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता उपलब्ध करेंगे। इस सन्धि के द्वारा दोनों ही देशों ने एक दूसरे को यह भी आश्वासन दिया है कि वे दोनों एक दूसरे को निरन्तर आर्थिक सहयोग तथा सहायता प्रदान करेंगे।

ब्रूसेल्स-सन्धि
(Brussels Treaty)

१७ मार्च, १९४८ को ग्रेट ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रांस, लक्जमबर्ग और

हालैण्ड ने आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सहयोग एवं सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य से ५० वर्ष के लिये यह संधि की। यह संधि बेल्जियम के ब्रूसेल्स नगर में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि यदि उपरोक्त राष्ट्रों में किसी पर भी आक्रमण होता तो सदस्य देश संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा ५१ के अनुसार उसको सैनिक सहायता करेंगे। इस संधि के प्रमुख ध्येय इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं—मूलभूत अधिकारों में विश्वास की पुष्टि तथा संघ के चार्टर में उल्लिखित आदर्शों की पुष्टि, जनतन्त्र एवं स्वतन्त्रता का स्थायित्व, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना यूरोपियन आर्थिक पुनर्गठन में सहयोग, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा में सहयोग, युद्ध नीति के विरुद्ध बाधा आदि।

उल्लेखनीय है कि १९५४ में पेरिस के समझौते से पश्चिमी जर्मनी और इटली भी ब्रूसेल्स संधि संगठन में सम्मिलित हो गये हैं और अब इस संगठन का नया नाम पश्चिमी यूरोपीय संघ (Western European Union) रखा गया है।

उत्तरी अटलाण्टिक संधि संगठन (NATO)

ब्रूसेल्स सन्धि द्वारा सुरक्षा का जो गठ तैयार किया गया वह उपयोगी होते हुए भी पर्याप्त नहीं था। मनुष्य शक्ति एवं धन के अभाव में इस संगठन के लक्ष्यों को पूरा करना कठिन था, इसी कारण पश्चिमी योरोप के देशों ने संयुक्त राज्य अमरीका की ओर सहयोग तथा मैत्री का हाथ बढ़ाया। सैनिक, राजनैतिक तथा कूटनीतिक स्तरों पर एक लम्बे समय तक विचार विमर्श होने के बाद वाशिंगटन में ४ अप्रैल, १९४९ को नाटो (NATO) पर हस्ताक्षर किये गये। हस्ताक्षर करने वालों में ब्रूसेल्स सन्धि के पांच देश तथा कनाडा, डेनमार्क, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, पुर्तगाल और संयुक्त राज्य अमरीका—इस प्रकार कुल बारह देश हैं। नाटो सन्धि के निम्न लक्ष्य बताये जाते हैं—

(१) सदस्य राष्ट्रों को उनकी स्वतन्त्र संस्थाओं का विकास करने का अवसर प्राप्त करना,

(२) आर्थिक सहयोग को बढ़ावा देना,

(३) सैनिक आक्रमण का विरोध करने के लिए सदस्य देशों की व्यक्तिगत एवं सामूहिक सामर्थ्य को बनाना एवं विकसित करना,

(४) योरोप अथवा उत्तरी अमरीका में किसी एक या सब देशों के विरुद्ध सैनिक आक्रमण को सभी देशों द्वारा अपने विरुद्ध आक्रमण समझा जाना।

यूनान तथा टर्की १९५२ में इस सन्धि में सम्मिलित हो गये तथा पश्चिमी जर्मनी १९५५ में आकर मिला। इस प्रकार सदस्यों की संख्या बढ़कर १५ हो गई। यह समझौता २० साल तक प्रभावकारी है किन्तु १० साल बाद यदि आवश्यकता हो तो विचार किया जा सकता है। सर्वोच्च सैनिक हैडक्वार्टर्स को पेरिस में रखा गया है, नाटो के लिए पर्याप्त डिवीजन रखे गये हैं। फ्रांस चाहता है कि ब्रिटेन तथा यू० एस० ए० इस सन्धि से बाहर हो जाय। योरोप में वह स्वयं एक तीसरी शक्ति के रूप में उदित होने की महत्वाकांक्षा रखता है और इस प्रकार इस संगठन की सशक्तता कम पड़ने लगी है।

वारसा पैक्ट या पूर्वी यूरोपियन सन्धि संगठन
(Warsaw Pact)

पाश्चात्य राष्ट्रों ने जब पश्चिमी जर्मनी का शस्त्रीकरण करने का निश्चय कर लिया और उसे नाटो सन्धि संगठन तथा पश्चिमी यूरोपियन संघ का सदस्य बना लिया तो सोवियत रूस ने ११ से १४ मई, १९५५ तक वारसा में "यूरोप में शांति एवं रक्षा की सुरक्षा के लिए यूरोपियन देशों का एक सम्मेलन" आयोजित किया। इस सम्मेलन में सोवियत संघ के अतिरिक्त अन्य ७ साम्यवादी देश—पोलैंड, रूमानिया, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, अल्बानिया, बल्गेरिया और चैकोस्लोवाकिया सम्मिलित हुए।

१४ मई को सोवियत रूस सहित उपरोक्त सातों देश इस बात पर सहमत हो गये कि उनकी सेनाओं की एक संयुक्त कमान बनाई जाए और वे आपस में मैत्री, सहयोग एवं पारस्परिक सहायता की सन्धियां करें। इस निश्चय के फलस्वरूप १४ मई, १९५५ को ही उपरोक्त सभी राष्ट्रों ने "सुरक्षा और शांति" के इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये।

यह सन्धि जिसे वारसा सन्धि या पूर्वी यूरोपियन सन्धि संगठन के नाम से सम्बोधित किया जाता है, २० वर्ष के लिये की गई। इसका उद्देश्य पारस्परिक शक्ति के प्रयोग से बचे रहना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण उपायों से निपटारा करना है, परन्तु साथ ही इसमें सदस्य राष्ट्रों को बाह्य आक्रमण के समय सामूहिक सुरक्षा की गारन्टी दी गई है।

सन्धि की प्रस्तावना एवं कुछ प्रमुख धारायें इसके प्रधान स्वरूप व इसकी नीति को व्यक्त करती हैं। सन्धि की भूमिका में यूरोप में सामूहिक सुरक्षा पद्धति स्थापित करने पर बल देते हुए कहा गया है कि पश्चिमी यूरोप के संघ एवं पश्चिमी जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें तथा यूरोप में शांति कायम

रखें। इस दृष्टि से इसमे आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक विषयो में घनिष्ठ सहयोग का वर्णन है।

यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय
(The European Defence Community–EDC)

सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप की प्रतिरक्षा के लिए एक सगठन का निर्माण करने की दृष्टि से काफी लम्बी और जटिल वार्ता के बाद, २७ मई, १९५२ को 'यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की सन्धि' पर पेरिस मे हस्ताक्षर हो गये। इस सन्धि के द्वारा ही यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय का जन्म हुआ। इस ५० वर्षीय सन्धि पर फ्रास, पश्चिमी जर्मनी, नीदरलैंड, बेल्जियम और लक्जमबर्ग इन ५ देशो ने हस्ताक्षर किये।

यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय का उद्देश्य एक ऐसे सगठन की स्थापना करना था जिसमे हस्ताक्षर कर्त्ता राष्ट्र मिल कर अपने सैन्य बल, सैन्य बजट और अपनी सैन्य सस्थाओ का एकीकरण कर सकें। इसके सविधान मे यह व्यवस्था थी कि नाटो के सैन्य सगठन मे उपरोक्त ६ राज्य अपनी सेनाओ को एक इकाई की तरह शामिल करेंगे।

यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय यूरोप के राजनीतिक एकीकरण के लिए एक बडी महत्वपूर्ण योजना थी, लेकिन राजनीतिक घटनाचक्र इस तेजी से घूमा कि समुदाय की व्यावहारिक स्थापना और सफलता सदिग्ध हो गयी। स्टालिन के मरने से रूसी आक्रमण का आतक घट गया और ग्रेट ब्रिटेन ने इस समुदाय के साथ सहयोग करना अस्वीकार कर दिया। ३० अगस्त, १९५४ को फ्रास की राष्ट्रीय परिषद ने भी यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय सन्धि को अस्वीकार कर दिया।

पश्चिमी यूरोपियन संघ
(Western European Union–W E U)

यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की असफलता के परिणामस्वरूप २८ सितम्बर से ३ अक्टूबर १९५४ तक लन्दन में होने वाले सम्मेलन मे पश्चिमी यूरोपियन सघ की स्थापना की गई। ब्रिटेन, फ्रास, पश्चिमी जर्मनी, इटली और बेनीलक्स देश (हालैड, बेल्जीयम तथा लक्जमबर्ग) कम से कम १९९८ तक के लिए परस्पर प्रतिरक्षा और अन्य उद्देश्यो को लेकर सगठित हो गये। इस सघ का एक अन्य उद्देश्य 'यूरोप के एक अन्य सगठन को प्रोत्साहन देना' भी था। सघ की स्थापना के समय यह निश्चय किया गया कि पश्चिमी जर्मनी को भी नाटो मे सम्मिलित होने का निमत्रण दिया जाए। बदले मे पश्चिमी जर्मनी ने स्वीकार किया कि वह अपने शस्त्रास्त्रो के उत्पादन पर

स्वेच्छा से नियन्त्रण रखेगा। यह भी तय हुआ कि जब तक पश्चिमी जर्मनी स्वयं अपनी प्रतिरक्षात्मक सेनायें तैयार न करले तब तक अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की सेनायें पश्चिमी जर्मनी और उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र की रक्षा के लिए वहां रहें।

पश्चिमी यूरोपियन संघ की सभी सशस्त्र सेनायें नाटो के सर्वोच्च सेनापति के अधीन रखी गयी। इस संघ का सचिवालय लन्दन में स्थापित किया गया। सचिवालय के अलावा संघ के कार्य संचालन करने वाले अन्य अंग ये बनाये गये—परिषद सभा, शस्त्र नियन्त्रण एजेन्सी तथा स्थाई शस्त्रास्त्र समिति। अपनी स्थापना के समय से लगभग ३॥ वर्ष तक यह उचित ढंग से कार्य करता रहा लेकिन शीघ्र ही इसके सदस्य देशों में मतभेद प्रकट होने लगे। फरवरी १९५७ में ब्रिटेन ने जर्मन स्थित अपनी सेनाओं में फिर कटौती करने का निश्चय किया और जनवरी १९५८ में संघ की परिषद ने घोषणा की कि उसने ब्रिटेन के १९५८ में यूरोप से अपने ८,५०० सैनिक वापिस बुलाने के प्रस्ताव पर स्वीकृति देदी है।

१९५८ से ही पश्चिमी यूरोपियन संघ ने अपने को सुदृढ करने के विभिन्न प्रयास किये लेकिन सदस्य राष्ट्रों के मतभेद पूरी तरह मिटे नहीं। फिर भी यह संघ कठिनाइयों से गुजरता हुआ अभी विद्यमान है।

पश्चिमी यूरोप का राजनीतिक एकीकरण
(The Political Integration of Western Europe)

योरोप की द्वितीय विश्व युद्ध के कारण बिगड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के लिए आर्थिक सहयोग की स्थापना करने वाली अनेक योजनाएं बनाई गई। इस महाद्वीप की सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ करने के लिए विभिन्न प्रस्ताव रखे गये। ठीक इसी प्रकार वहां का राजनैतिक एकीकरण करने के लिए भी अनेक प्रस्ताव रखे गये ताकि इस क्षेत्र के देशों के बीच वर्तमान झगड़ों तथा हितों के विरोध को सदा के लिए समाप्त किया जा सकें। विलियम बलिट (William Bullitt) का कहना है कि योरोपीय संघ के बिना किसी भी मूलभूत समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। यही विचार क्लीमेंट एटली (Clement Attlee) का भी है। वे कहते हैं कि योरोप को या तो संघीय हो जाना चाहिये अथवा यह नष्ट हो जायगा। योरोप में एक संघ बन जाने का महत्व है फिर भी पूर्व तथा पश्चिम में भारी मतभेद होने के कारण ऐसा नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य विचारकों के अनुसार साम्यवादी देश भी योरोप का एकीकरण चाहते हैं किन्तु उनका यह एकीकरण संघ राज्य के रूप में न होगा वरन् वे तो आक्रमण तथा विजय द्वारा ऐसा

करेंगे। यद्यपि पूरे योरोप का संघ का आदर्श बहुत दूर है तो भी इसमें सन्देह नहीं कि पश्चिमी योरोप में जो आर्थिक एवं सैनिक सम्बन्ध बढ़े हैं इससे इस क्षेत्र के देश परस्पर निकट आये हैं तथा पश्चिमी योरोप के एकीकरण की ओर भी इन्होंने कुछ कदम बढ़ाये हैं। ६ मार्च, १९५२ को कांग्रेस के नाम भेजे गये अपने सन्देश में राष्ट्रपति ट्रूमेन ने बताया था कि योरोप एकीकरण की ओर पिछले पांच वर्षों में इतना बढ़ा है जितना यह पहले के ५०० वर्षों में नहीं बढ़ा था।

योरोप के एकीकरण का विचार अत प्राचीन माना जाता है। रोमन साम्राज्य के पीछे भी यह विचार कार्य कर रहा था। सन् १९२२ से १९३० के बीच का समय यारोपीय संघ के विचार तथा समर्थन का मुख्य समय है। सन् १९४१ में रिचार्ड कुडेनहाव कलेर्गी (Richard Coudenhove Kolergi) ने पान-योरोप (Pan-Europe) नामक पुस्तक प्रकाशित की तथा योरोप की एकता का महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किया। राष्ट्र संघ की सभा में बोलते हुए १९२९ में ब्रियां (Briand) ने योरोप के देशों को योरोप का संघ बनाने के लिए आमंत्रित किया। द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर योरोप का संघ बनाने के अनेकों प्रयास किये गये। मई, १९४८ में होने वाली हेग कांग्रेस योरोपीय एकता के लिए किये अनाधिकृत संगठनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। इसमें योरोप के पन्द्रह देशों के प्रतिनिधि, संसार के अन्य भागों के दर्शक-इस प्रकार कुल लगभग आठ सौ लोगों ने भाग लिया। इसमें अध्यक्ष पद से बोलते हुए चर्चिल ने कहा था कि हम पूरे योरोप के एक संघ को छोड़ कर अपना कोई दूसरा लक्ष्य नहीं बना सकते। इस कांग्रेस में अनेकों प्रस्ताव पास किये गये तथा योरोपीय एकता के आन्दोलन के लिए एक स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय समिति का निर्माण किया गया जिसका काम यह था कि सरकारों को हेग कांग्रेस के प्रस्तावों की दिशा में चलने के लिए प्रेरित करना।

योरोपीय एकता समिति ने एक योरोप की परिषद (Council of Europe) की स्थापना का सुझाव दिया। इस सुझाव को ५ मई, १९४९ को स्वीकार कर लिया गया। यह परिषद एक प्रकार से पश्चिमी योरोप की संसद थी किन्तु इसके पास किसी प्रकार के सम्प्रभुता के अधिकार न थे। राष्ट्रीय सुरक्षा के मामले इस परिषद के विचार क्षेत्र में नहीं आते थे। योरोपीय फौलाद तथा कोयला समाज की सामान्य सभा ने सितम्बर १९५२, में एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया। मंत्रियों की परिषद के सुझाव पर सभा ने एक सन्धि तैयार करने का विचार किया जो एक ऐसे योरोपीय राजनैतिक समाज की स्थापना कर सके जिसमें वास्तविक शक्ति रखने वाली एक

समान ससद हो। यह इन छ. राज्यों के बीच सघ स्थापना का प्रयास करेगी और इस प्रकार बाद में दूसरे राष्ट्रों पर भी प्रभाव डालेगी। इस प्रकार योरोपीय एकता प्रयासो के इतिहास में एक नया अध्याय खुला। १९५३ के बाद इस सघात्मक दृष्टिकोण की समाप्ति हो गई। योरोपीय सुरक्षा समाज (E D. C) के असफल हो जाने के बाद योरोप के राजनैतिक एकीकरण की ओर किये जाने वाले सभी प्रयास अतीत की गाथा बन गये। पामर तथा परकिन्स ने लिखा है कि पश्चिमी योरोप एक प्रभावशाली एकता के रास्ते से अभी भी बहुत दूर है तथा पूरे योरोप या अटलान्टिक समाज के आधार पर वास्तविक एकता के आसार नजर नहीं आते।

१६

असंलग्नता-इसके तत्व और बदलते हुए स्वरूप

(NON-ALIGNMENT-ITS ELEMENTS AND CHANGING PATTERNS)

गुट निरपेक्षता या असंलग्नता का सिद्धान्त विश्व राजनीति में पर्याप्त महत्व रखता है। इस सिद्धान्त का समर्थक भारत को ही माना जाता है। वैसे इस सिद्धान्त का अस्तित्व भारत द्वारा इसे अपनाए जाने से पहले भी था एवं इसके सम्बन्ध में पर्याप्त साहित्य की रचना हो चुकी थी। किन्तु भारत को इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाने का तथा व्यावहारिक रूप में महत्वपूर्ण बनाने का श्रेय दिया जा सकता है। यह कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई भी सिद्धान्त उस समय तक पूर्ण नहीं होता जब तक कि वह गुट-निरपेक्षता के विकास के उस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण नहीं कर देता। अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा के विद्यार्थी के लिए इस सिद्धान्त का अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसका पहला कारण यह है कि गुट निरपेक्षता की नीति वर्तमान विश्व-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता है जो शक्ति पर आधारित न हो कर सचार व्यवस्था पर आधारित है। दूसरे, इसके द्वारा आने वाले विश्व-समाज की कुछ विशेषताओं को प्रतिबिम्बित किया जाता है। तीसरे, गुट-निरपेक्षता की नीति में अनेक ऐसी विशेषतायें अन्तर्निहित रहती हैं जो गुट-सापेक्ष-देशों में भी विकसित हो रही हैं और चौथे, गुट-निरपेक्ष के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय खेल का एक विकल्प प्रस्तुत किया जाता है और कुछ नए नियम सौंपे जाते हैं जो कि अणु-शक्ति के प्रतिरोधात्मक रूप के समाप्त होते ही अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

हमें देखना चाहिये कि इस असलग्नता या गुट निरपेक्षता की नीति का अर्थ क्या है ? उसका विकास किस प्रकार हुआ ? विभिन्न राष्ट्रों ने इस नीति को क्यों अपनाया ? शीत युद्ध के काल में इस नीति का क्या योगदान रहा ? इसे विदेश नीति के साधन के रूप में कितना महत्व दिया जा सकता है ? ये सभी प्रश्न अपना विशेष महत्व रखते हैं।

गुट निरपेक्षता की नीति का अर्थ
(The Meaning of Non-alignment)

गुट निरपेक्षता (Non alignment) शब्द का प्रयोग प्रायः उन राष्ट्रों की विदेश नीति की व्याख्या करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो कि साम्यवादी और पश्चिमी गुट के साथ किसी सैनिक सन्धि में बद्ध नहीं हैं। इस अर्थ के सम्बन्ध में गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के नेताओं का विचार है कि यह उनकी नीतियों की सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता। गुट निरपेक्षता का कोई सकारात्मक मूल्य या अर्थ नहीं है किन्तु फिर भी अधिकांश राष्ट्र व्याख्या के इस सकारात्मक मूल्य को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। इस नीति के बेल्ग्रेड (Belgrade), केरो (Cairo), दिल्ली आदि विभिन्न केन्द्रों द्वारा इसे अभिव्यक्त करने के लिए अलग अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जैसे, गुटविहीन (Non Block), असलग्न (Uncommitted), सक्रिय तटस्थ (Actively Neutral) आदि-आदि। इस नीति के सम्बन्ध में कोई सन्तोषजनक शब्द न होने के कारण उत्पन्न असन्तोष को व्यक्त करने के लिए लम्बे लम्बे भाषण दिए जाते हैं। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि गुट निरपेक्षता की नीति को नव-स्वतंत्रता प्राप्त देशों द्वारा मुख्यतः सन् १९४५ के बाद लोकप्रिय बनाया गया है। यह नीति विभिन्न लोगों के लिए विभिन्न समयों पर विभिन्न अर्थ रखती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि गुट निरपेक्ष नीति का अध्ययन देश विदेश के प्रसंग में ही करना चाहिए। यथा, भारत, मिस्र, बर्मा, इण्डोनेशिया, यूगोस्लाविया और अफ्रीका के देशों में जिस गुट निरपेक्षता की नीति का विकास हुआ है वह वहां की ऐतिहासिक परम्पराओं और स्थित राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित रही। ऐसी स्थिति में यह उपयुक्त रहेगा कि गुट निरपेक्षता का सही अर्थ जानने के लिए अलग अलग देश के प्रसंग में उसका अध्ययन किया जाए। केवल ये राष्ट्रीय उदाहरण ही पर्याप्त नहीं हैं क्योंकि ये उन राष्ट्रीय तत्वों को अन्य से नहीं दिखाते जो कि गुट निरपेक्षता के लिए विशेष हैं तथा उनसे भिन्न हैं जो निरपेक्षता एवं मान्यता दोनों के लिए सामान्य हैं। कम्बोडिया के सम्बन्ध में शॉफर महोदय ने यह बताया कि वहां राष्ट्रवाद एवं

उपनिवेशवाद का विरोध गुट-निरपेक्ष नीति के कारण रहे। यह तत्व केवल गुट निरपेक्ष राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं है क्योंकि जो राष्ट्र गुट निरपेक्ष नहीं हैं वे भी इनमें विश्वास करते हैं।

पश्चिमी लेखकों, विचारकों एवं राजनैतिक नेताओं ने गुट निरपेक्षता को समझने के लिए तटस्थता अथवा तटस्थतावाद शब्द का प्रयोग किया है। मि० पिटर लायन (Peter Lyon), मारगेन्थो (Hans J Morgenthau), हैमिल्टन फिश आर्मस्ट्राग (Hamilton Fish Armstrong), राबर्ट ए० स्केलेपिनो (Robert A. Scalapino), फ्रान्सिस लावीयर (Francis Lowbeer), वर्नर लेवी (Warner Levy) आदि लेखकों ने तटस्थता (Neutrality or Neutralism) शब्द का प्रयोग किया है। यह कहा जाता है कि गुट-निरपेक्षता शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सम्भवतः वैज्ञानिक अर्थ में जार्ज लिस्का (George Liska) ने किया होगा। उसके बाद तो तटस्थता के स्थान पर अनेक विचारक गुट-निरपेक्षता शब्द का प्रयोग करने लग गए और अब इसे एक सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो गई है। कई एक गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के नेता भी अपनी विदेश नीति के लिए वर्मा के थून्नू (U Nu) की भांति तटस्थता शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझते हैं। तटस्थता एवं गुट-निरपेक्षता के बीच यह तो सामान्यता है कि वे शीत युद्ध के समय संघर्ष से असंलग्न रहते हैं किन्तु अन्तर यह है कि वास्तविक युद्ध छिड़ने पर तटस्थ राष्ट्र युद्ध से अलग रहता है किन्तु गुट-निरपेक्ष राष्ट्र युद्ध में किसी भी पक्ष की ओर से उलझ सकता है। स्वीट्जरलैण्ड तटस्थ देशों का एक उदाहरण है। ऐसे देश के राजनैतिक एवं कानूनी स्तर को युद्ध करने वाले दोनों ही पक्षों द्वारा स्वीकार किया जाता है। दूसरी ओर असंलग्न नीति विरोधी विचारधाराओं के बीच स्थित संघर्ष को प्रकट करती है। इस संघर्ष से सम्बन्धित देश किसी भी पक्ष के साथ संलग्न नहीं रहता। श्वारजनबर्गर (Schwarzenberger) के मतानुसार गुट निरपेक्षता संधियों से दूर रहने की नीति है। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति को असंलग्न नीति का नाम दिया है। कुछ विचारकों के मतानुसार यह उचित नहीं है क्योंकि असंलग्नता या गुट निरपेक्षता (Nonalignment) की नीति के लिए गुटों का तथा उनके बीच संघर्ष का होना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं है तब तक गुटों से अलग रहने वाली नीति जैसी किसी चीज के होने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। गुट निरपेक्षता की नीति शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व में विश्वास करती है, यह शान्ति की दिशा में एक सक्रिय नीति है, एक सकारात्मक तटस्थता है। इस अर्थ में हम संयुक्त राज्य अमरीका की प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व की नीति को पार्थक्यवादी कह सकते हैं,

उसे तटस्थ मान सकते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय घटना चक्र में कोई रुचि ही नहीं लेते किन्तु उसे गुट-निरपेक्षता की नीति नहीं कहा जा सकता। तटस्थ नीति का महत्व केवल तभी तक रहता है जब तक कि युद्धरत राष्ट्रों द्वारा उसे मान्यता दी जाये। १९वीं शताब्दी के दौरान होने वाले युद्धों में तटस्थ नीति को कई देशों द्वारा सफलता के साथ अपनाया गया किन्तु इसके बाद या पहले यह नीति प्रभावशील न रही।

पहले विश्व राजनीति में शक्ति सन्तुलन का रूप अनेक राष्ट्रों से युक्त था। इसमें प्रत्येक युद्धरत राष्ट्र यह चाहता था कि युद्ध से अलग राष्ट्र को उत्तेजित करके विरोधी पक्ष के साथ शामिल होने के लिए प्रेरित न करे। इसी कारण तटस्थता का सम्मान किया जाता था किन्तु प्रथम व द्वितीय विश्व युद्ध के अनुभवों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि तटस्थता की नीति भयानक होती है।

तटस्थता एक प्रकार से कूटनीति का अङ्ग है न कि विदेश नीति का। तटस्थता के सहारे हम एक देश के अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार का केवल एक ही पहलू देख पाते हैं और वह यह कि युद्ध के समय उसकी स्थिति क्या रहेगी।[1] किन्तु इससे हम उस देश की विदेश नीति के सामान्य रूप की जानकारी नहीं कर पाते। तटस्थ नीति एक देश की मजबूरी या सुविधा का परिणाम होती है जबकि गुट निरपेक्षता एक सिद्धान्त की बात है।

गुट-निरपेक्षता की नीति की एक मुख्य विशेषता यह होती है कि इस व्यवस्था को मानने वाला देश सैनिक सन्धियों का विरोध करता है। सैनिक सन्धियों का विरोध मानव इतिहास के प्रारम्भ से ही एक नीति के रूप में वर्तमान है, यह कोई नया आविष्कार नहीं। किन्तु फिर भी आज का सन्धि विरोधी दृष्टिकोण पहले के सन्धि विरोधी दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्न है। पहले किसी एक सन्धि विशेष में सम्मिलित होने से मना कर दिया जाता था किन्तु ऐसा करने वाला देश सामान्य रूप से सैनिक सन्धि का विरोध नहीं करता था। एक दूसरे प्रकार की सन्धि विरोधी नीति यह होती थी जिसे अपना कर वह देश सभी देशों के साथ सभी प्रकार की सन्धियों का विरोध कर देता था। यद्यपि वह स्वयं सन्धिबद्ध नहीं होता था किन्तु दूसरे देशों द्वारा की जाने वाली सैनिक सन्धियों को वह बुरा नहीं मानता था। इस प्रकार के सन्धि विरोधी देश परिस्थितियों के बदलते ही सन्धिबद्ध हो जाते हैं। वे स्थायी रूप से सैनिक सन्धियों का विरोध नहीं करते। गुट निरपेक्ष नीति के

1. स्व० पण्डित जवाहरलाल नेहरू के मतानुसार भी तटस्थता की मान्यता का सम्बन्ध केवल युद्ध से होता है।

मानने वाले देश स्वयं सैनिक संधियों में बद्ध नहीं होते तथा दूसरों के बद्ध होने की नीति का विरोध करते हैं और यह नीति उनके स्थायी जीवन की विशेषता होती है। इन देशों के मतानुसार सैनिक संधियाँ सहयोग का परिणाम नहीं होती वरन् विरोध का परिणाम होती हैं। इससे एक देश शस्त्रों की दौड में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार की संधियों को तोडने का एकमात्र उपाय युद्ध होता है। संधि विरोधी नवीन दृष्टिकोण के अनुसार संधियों के न होने पर प्रत्येक राष्ट्र अलग रहेगा और इस प्रकार उस पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून को भली प्रकार लागू किया जा सकेगा।

स्व० प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने ७ सितम्बर, १९४६ को अपने एक रेडियो प्रसारण में कहा कि भारत को एक दूसरे के विरुद्ध संधिबद्ध समूहों की शक्ति राजनीति से अलग रहना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप अतीत-काल में दो विश्व युद्ध हुए तथा जो आगे भी और अधिक हार के विध्वंस की ओर प्रेरित कर सकती है। स्व० श्री नेहरू के इस कथन में गुट निरपेक्ष नीति का सैनिक संधियों के प्रति विरोध झलकता है। किसी भी देश द्वारा अपनाई जाने वाली गुट निरपेक्षता की नीति उस देश की आन्तरिक एवं बाह्य परिस्थितियों का परिणाम होती है। कोई देश सैनिक संधियों का विरोध अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए कर सकता है अथवा आन्तरिक स्थायित्व के लिए। किन्तु फिर भी उसकी मुख्य प्रेरणा प्रायः भावात्मक विचारधारायें होती हैं और कभी-कभी विदेशी सहायता एवं अन्तर्राष्ट्रीय हार प्राप्त करने की कामना भी प्रेरणा बन जाती है। गुट-निरपेक्षता की नीति को राष्ट्र-सम्मान का भी प्रतीक माना जाता है। स्व० पंडित नेहरू ने कहा था कि "किसी एक गुट में सम्मिलित होने का अर्थ यह होता है कि किसी एक खास प्रश्न पर आप अपने विचार का परित्याग कर दें और दूसरों को खुश करने तथा उनकी सद्भावना प्राप्त करने के लिए उनके विचार को मान लें।" वैसे गुट निरपेक्षता की नीति को मानने वाला एक देश अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के प्रति उपेक्षापूर्ण दृष्टिकोण धारण नहीं होता वरन् यह दोनों पक्षों की स्थिति को समझ कर उचित पक्ष की ओर मिलने का प्रयास करता है। सन् १९४९ में अमरीकी जनता के समक्ष बोलते हुए स्व० प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने कहा कि "जहाँ कहीं स्वतन्त्रता संकट में पडती है, न्याय को चुनौती दी जाती है या आक्रमण होता है वहाँ हम तटस्थ नहीं रह सकते और न रहेंगे।" भारत की विदेश नीति में गुट निरपेक्षता के तत्वों का वर्णन स्व० नेहरू द्वारा समय-समय पर दिए जाने वाले भाषणों के आधार पर जाना जा सकता है। ९ दिसम्बर, १९५८ को उन्होंने लोक सभा में बताया कि "जब हम यह कहते हैं कि हमारी नीति गुट-निरपेक्षता की है तो स्पष्ट रूप से हमारा अर्थ सैनिक गुटों से निरपेक्ष रहने का होता है।"——

गुट-निरपेक्षता की विदेश नीति एक देश को निष्क्रिय नहीं बनाती वरन् जैसा कि मि० एम० एस० राजन का कहना है "यह एक विधेयात्मक सक्रिय एवं रचनात्मक नीति है जो सामूहिक सुरक्षा की ओर अग्रसर होती है तथा एकमात्र इस पर ही सामूहिक सुरक्षा स्थित रह सकती है।" एक गुट-निरपेक्ष देश सैनिक सन्धियों में बद्ध न होने के बावजूद भी महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न नीतियों, प्रेरणाओं और सिद्धान्त के अनुसार अमल करता है। गुट-निरपेक्षता की नीति एक राष्ट्र को कोई भी एक दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य नहीं करती वरन् उसे राष्ट्रीय हित, विश्व शांति एवं न्याय की दृष्टि से कोई भी निर्णय लेने के लिए स्वतन्त्रता देती है।

गुट-निरपेक्षता की नीति का विकास
(The Development of Non aligcement)

जिस समय भारत, बर्मा, सीलोन, इण्डोनेशिया द्वारा सर्वप्रथम गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाई गई उस समय अधिकांश राज्य औपचारिक रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस इन दो विरोधी शक्तियों के साथ सन्धिबद्ध थे। गुट निरपेक्षता की नीति अपना कर विभिन्न देशों ने स्वतन्त्रता के प्रति अपनी इच्छा को अभिव्यक्त किया। गुट निरपेक्षता की नीति के विकास में अनेक तत्वों ने प्रभाव डाला है। इन तत्वों ने मिल कर ही देश को गुटों से अलग रहने की नीति अपनाने के लिए प्रेरित किया। जब हम गुट-निरपेक्षता की नीति के विकास का अध्ययन कर रहे हैं तो इसके लिए हमें दो रास्तों से आगे बढ़ना होगा प्रथम, यह देखना होगा कि कोई देश अपनी स्वतन्त्रता को दाव पर लगा कर भी सैनिक सन्धियों में सम्मिलित होना क्यों चाहता है और उसके बाद इस पर विचार करना उपयुक्त रहेगा कि गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने के लिए कौनसी प्रेरणायें काम करती हैं।

(A) सैनिक संधि के कारण
(The Causes of Military Alliances)

प्रत्येक राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता को सम्मान देता है और वह अपनी स्वेच्छा से उन बन्धनों को स्वीकार नहीं करना चाहता जो सैनिक सन्धियों में बद्ध होने के कारण उन पर लग जाते हैं। जो सरकारें सुरक्षित, स्वतन्त्र एवं शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहती हैं उनके लिए सैनिक संधि में शामिल होना आवश्यक बन जाता है। प्रत्येक सन्धिबद्ध देश यह सोचता है कि वर्तमान परिस्थितियों में सन्धिबद्ध होने का कोई विकल्प नहीं है। बड़ी शक्तियां कमजोर राष्ट्रों के विरुद्ध सैनिक शक्ति के प्रयोग की धमकी देकर उन्हें संधि में बद्ध होने के लिए मजबूर कर सकता है। उदाहरण के लिए

जर्मनी, कोरिया और वियतनाम के विभाजित भागों को लिया जा सकता है। इन देशों में जब एक भाग का समर्थन पश्चिमी शक्तियों ने करना प्रारम्भ किया तो यह स्वाभाविक था कि दूसरा भाग साम्यवाद की ओर झुक जाता। इन देशों के दोनों भागों ने महाशक्तियों के साथ सैनिक संधि में बद्ध होना उचित समझा। वैसे बाध्यकारी रूप से किसी देश को अधिक दिनों तक संधि में बद्ध नहीं रखा जा सकता। इस प्रकार की संधि केवल तभी तक रहती है जब तक कि सम्बन्धित देश पर कोई संकट हो किन्तु इसके बाद वह देश इस संधि को छोड़ देता है। यदि किसी देश की संधि को दीर्घकालीन बनाना है तो इसके लिए यह जरूरी होता है कि उस देश में ऐसी सरकारें तथा सरकार स्थापित की जायें जो संधि युक्त नीति का समर्थन करे। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ ने पूर्व केन्द्रीय यूरोप में जो हस्तक्षेप किया और पश्चिमी शक्तियों ने यूनान, इटली एवं मध्यपूर्व तथा दक्षिणी पूर्वी एशिया के देशों में जो हस्तक्षेप किया उसका कारण इन प्रदेशों में ऐसी सरकारें कायम करना था जो सम्बन्धित महाशक्ति के साथ संधि-बद्ध रह सके। मि० बर्टन के मतानुसार "अधिकांश मामलों में संधि न तो थोपी जाती है और न ही यह बाध्यता का परिणाम होती है वरन् इसके लिए एक राष्ट्र अनेक परिस्थितियों पर विचार करता है और विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर आता है कि अपनी रक्षा के लिए वह दूसरी शक्ति के साथ सम्बद्ध हो जाए।" कोई भी देश बड़ी शक्तियों के साथ अनेक कारणों से संधि में बद्ध होता है।

(1) पहला कारण यह है कि परम्परागत रूप से जिस देश से हम आक्रमण की आशा करते हैं उसके विरुद्ध दूसरी शक्ति के साथ संधिबद्ध हो जाते हैं। आक्रमण की समस्यायें उस समय अधिक स्पष्ट हो जाती हैं जब दो राष्ट्र परस्पर राजनैतिक संघर्ष में उलझ जाते हैं। सन् 1950 में थाईलैण्ड, दक्षिण वियतनाम आदि राज्यों को यह विश्वास था कि यदि घेराबन्दी न की गई तो चीन के आक्रमण लगातार होते रहेंगे। दूसरी ओर चीन यह सोच रहा था कि यदि किसी उपनिवेशवादी प्रशासन या सरकार को थोड़ा बहुत भी स्थानीय समर्थन मिला तो यह विदेशी सहायता प्राप्त कर लेगी और इस प्रकार चीन के लिए यह दूसरी चुनौती बन जाएगी। जब कुछ मन-मुटाव हो जाता है तो आक्रमण की सम्भावनायें पूरी-पूरी हो जाती हैं और उसके विरुद्ध कोई प्रमाण स्वीकार नहीं किया जाता।

(2) सैनिक संधि में बद्ध होने का दूसरा कारण शीत युद्ध है। शीत युद्ध में अनेक देश एक या अन्य महाशक्ति के साथ सैनिक संधिबद्ध हो गए जैसे

कि वे भी विचारधारागत संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उलझ हुए हो, यद्यपि इन देशों की संधि का केन्द्रीय संघर्ष से अधिक लेना देना नहीं होता। इस प्रकार की संधि में एक देश इस आशा से सम्मिलित होता है कि संकट के समय उससे सहायता प्राप्त होगी। यद्यपि ऐसे देश प्रत्यक्ष रूप से विरोधी महाशक्ति के साथ अथवा उसके मित्रों के साथ संघर्षपूर्ण सम्बन्धों में उलझे नहीं रहते। आस्ट्रेलिया, कनाडा और न्यूजीलैण्ड आदि साम्यवाद के विरुद्ध संयुक्त राज्य अमरीका के साथ संविबद्ध हैं। किन्तु इनमें से कोई भी देश आन्तरिक रूप से साम्यवादी समस्या नहीं रखता और न ही उनके सामने कोई अन्तर्देशीय या विदेशी साम्यवाद की चुनौती है। आस्ट्रेलिया ने सीएटो तथा एन्जस (ANZUS) की सन्धि को स्वीकार किया है किन्तु उसके लिए यह संधियां साम्यवाद का विरोध नहीं हैं। शीत युद्ध की संधियों का एक उदाहरण पाकिस्तान है। पाकिस्तान में वे सभी शक्तियां पाई जाती हैं जो एक गुट-निरपेक्ष नीति को अपनाने की प्रेरणायें बतायी जाती हैं। पाकिस्तान में भी उपनिवेशवाद विरोधी तथा राष्ट्रवादी भावनायें पाई जाती हैं। मध्य पूर्व के देशों के साथ पाकिस्तान का इतिहास, परम्परायें तथा धार्मिक बन्धन हैं। इसके अतिरिक्त चीन व रूस के साथ एवं पश्चिमी शक्तियों के साथ पाकिस्तान के जो सम्बन्ध हैं उन सब के देखने से ऐसा लगता है कि पाकिस्तान को भी गुट निरपेक्षता की नीति का ही अनुसरण करना चाहिए। इसके विपरीत पाकिस्तान ने १९५४ तथा १९५५ में सिएटो एवं बगदाद-संधि को स्वीकार कर लिया। यद्यपि पाकिस्तान की असेम्बली में इसका पर्याप्त विरोध किया गया किन्तु फिर भी देश की सुरक्षा के नाम पर इसे स्वीकार किया गया। मोहम्मद अहसन चौधरी (Mohammed Ahsen Choudhri) के मतानुसार पाकिस्तान ने यह आशा की कि सीएटो तथा बगदाद सन्धि में शामिल हो जाने के बाद संयुक्त राज्य अमरीका उसे आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने के अतिरिक्त काश्मीर के झगड़े को सुलझाने में नैतिक तथा राजनैतिक सहायता प्रदान करेगा।

बाद के अनुभवों से पाकिस्तान को पर्याप्त निराशा हुई क्योंकि अमरीका द्वारा भारत को भी सहायता दी जा रही थी। ऐसी स्थिति में सीएटो सन्धि को कोई लाभदायक समझौता न मान कर एक भार समझा गया।

सैनिक संधियों को स्वीकार करने का तीसरा कारण एक देश की आन्तरिक राजनैतिक अवस्था होती है। युद्ध के तुरन्त बाद फिलिपाइन्स तथा मलाया की आन्तरिक अवस्था ने इन देशों को सैनिक सन्धि में शामिल होने के लिए प्रेरित किया। इन दोनों देशों में जापान से लड़ने वाले

छापामारों का शासन था। इस शासन के विरुद्ध देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने सगठन बनाया और दोनों के बीच विरोध का सूत्रपात हुआ। बाद में पश्चिम की सहायता से क्रान्तिकारियों को दबाने के बाद इन देशों में पश्चिम समर्थक सरकारों को स्थायी रूप प्रदान कर दिया गया। किन्तु इण्डोनेशिया तथा इण्डोचीन में राष्ट्रवादी एवं छापामार तत्वों को नहीं दबाया जा सका क्योंकि पश्चिमी शक्तियों की सेना वहाँ से हट चुकी थी। एक देश की सरकार को जब अपने अस्तित्व के लिए खतरा दिखाई देता है तो वह शीघ्र ही किसी महाशक्ति के साथ सन्धिबद्ध हो जाती है।

सैनिक सन्धि में शामिल होने का चौथा कारण तब उत्पन्न होता है जबकि एक देश की आन्तरिक गड़बड़ी को शीत युद्ध या राजनैतिक लाभ उठाने के लिए विदेशी एजेन्टों द्वारा प्रेरित या समर्थित किया जाता है। यह कारण थाईलैण्ड तथा उससे लगे देशों, अफ्रीका के अनेक राज्यों, मध्य पूर्व एवं लेटिन अमरीका आदि राज्यों पर बहुत कुछ लागू होता है।

(B) गुट-निरपेक्षता के कारण (The Causes of Non-Alignment)—सैनिक सन्धि को स्वीकार करने के लिए प्रभावित करने वाले कारणों का अध्ययन करने के बाद अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि कोई देश गुट निरपेक्षता की नीति को क्यों अपनाता है, इसके क्या कारण हैं? ऐसा नहीं होता कि जिस देश पर सन्धि-बद्ध होने के लिए दबाव न डाले जायें, वह स्वतः ही गुट निरपेक्षता की नीति को अपना ले। सन्धि बद्ध होने के कारणों का प्रभाव निषेधात्मक रूप से महत्वपूर्ण हो सकता है किन्तु सकारात्मक रूप से इस दिशा में प्रेरित करने वाले दूसरे ही तत्व होते हैं। विलियम हेन्डर्सन (William Henderson) ने गुट निरपेक्ष नीति के लिए उत्तरदायी आठ मुख्य प्रेरणाओं का उल्लेख किया है। ये हैं—पाश्चात्यीकरण का विरोध, नव प्राप्त स्वतन्त्रता को बनाये रखने का संकल्प, भावनाओं की अधिकता किन्तु भौतिक कमजोरियाँ, विदेश-व्यवहार का अज्ञान अथवा उदासीनता, मार्क्सवाद का प्रभाव, साम्यवादी चीन के साथ समायोजित होने की आवश्यकता, यह विश्वास कि गुटनिरपेक्ष नीति शान्ति को बढ़ावा देती है तथा गुट-निरपेक्षता के द्वारा साम्यवाद को रोका जा सकता है।

गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए एक देश क्यों प्रेरित हुआ? इस प्रश्न का जवाब हमें उन देशों के सामान्य प्रभावों एवं विशेष प्रभावों को देखने पर प्राप्त हो सकेगा जो इस नीति पर चल रहे हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद राष्ट्रवाद की भावना का प्रसार एवं उपनिवेशवाद का विरोध तथा आर्थिक विकास की समस्याओं के दबाव ने दिल्ली-कर-

उन सभी परिस्थितियों को पेश किया है जिनमे गुट-निरपेक्षता की नीति सचालित होती है।—ये विशेषतायें ऐसी हैं जो प्राय- अफीका और एशिया के सभी देशों मे पाई जाती हैं चाहे वे गुट-निरपेक्ष हों अथवा न हो। ये तत्व एक गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाने के लिए भी उतना ही दबाव डालते हैं जितना कि सम्बिद्ध हो जाने के लिए। इन तत्वों का गुट निरपेक्षता की नीति अपनाने मे कितना योगदान रहता है यह एक विवादास्पद प्रश्न है। अधिकांश विचारकों का मत है कि ये सहायक परिस्थितियां इस नीति के विकास में सहायता अवश्य देती हैं किन्तु ये आवश्यक पूर्व शर्तें नही हैं।

गुट-निरपेक्ष नीति की सहायक परिस्थितियों में प्रथम उल्लेखनीय राष्ट्रवाद की भावना है जो स्वतन्त्रता आन्दोलनों की एक मुख्य विशेषता रही है। सामान्य भाषा एव सस्कृति न होते हुए भी एशिया, अफीका तथा मध्य पूर्व के देशो मे इस भावना का पर्याप्त प्रसार एव प्रभाव हुआ। युद्ध के बाद अफीका के देशो का राष्ट्रवाद एक दृष्टि से अफीकावाद (Africaism) था। यह अतीत के प्रति प्रतिक्रिया थी। यह निम्न स्तर के विरुद्ध, जातीयता के विरुद्ध, शोषण के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया थी जो भाषा, सस्कृति और जाति की सीमाओं को पार कर गई। नये राज्यों का राष्ट्रवाद वहाँ परिस्थितियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है जिसमें यह उत्पन्न हुआ। जिन देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों ने आसानी से स्वतन्त्रता दे दी उनके बीच बाद में भी सम्बन्ध अच्छे बने रहे तथा जिन देशो को इन्डोनेशिया की तरह स्वतन्त्रता प्राप्त करने मे पर्याप्त सघर्ष करना पड़ा उनके सम्बन्ध परस्पर बिगड़ गये। प्राय सभी नव स्वतन्त्रता प्राप्त राज्यों के राष्ट्रवाद में राष्ट्रपन को पर्याप्त महत्व दिया जाता है। राष्ट्रवाद और गुट निरपेक्षता के बीच सहयोग इसलिए है क्योंकि इन देशो के नेताओं ने अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति का समर्थन करने के लिए राष्ट्रवाद का सहारा लिया। एक बार स्व० प्रधानमन्त्री नेहरू ने कहा था कि "यदि किसी आन्दोलन को जनता के लिए वास्तविक बनना है तो उसे राष्ट्रवाद के रूप में परिभाषित होना चाहिए। किसी भी एशियाई देश में एक आन्दोलन उसी मात्रा मे सफल अथवा असफल होगा जिस मात्रा में कि वह राष्ट्रवाद की महानतम भावना के साथ संयुक्त है।" जॉन मारकस (John Marcus) का कहना है कि फ्रांस, जर्मनी तथा ग्रेट ब्रिटेन मे जब कभी तटस्थता की नीति का प्रभाव आया है तो वह मुख्यत इन देशों मे व्याप्त राष्ट्रवाद की भावना के कारण आया।

दूसरी सहायक परिस्थिति उपनिवेशवाद का विरोध है। एशिया तथा अफीका के देशों में राष्ट्रवादी एव क्रान्तिकारी आन्दोलन चले, उनको मुख्य

प्रेरणा उपनिवेशवाद का विरोध था। सन् १९५५ में हुए बाण्डुङ्ग सम्मेलन का यह मुख्य विचार था। यदि एक देश को सैनिक संगठन में शामिल होने को मजबूर करने वाली कोई चीज नहीं है तो उपनिवेश विरोधी भावना उसे गुट-निरपेक्षता की दिशा में प्रभावित करेगी। एशिया और अफ्रीका के देशों का यह विश्वास है कि अतीतकाल में होने वाली सभी लड़ाइयां मुख्य रूप से योरोपीय लड़ाइयां थीं और इसमें एशिया तथा अफ्रीका के देशों को शतरंज के मोहरों की तरह प्रयुक्त किया गया। आज इन शोषित राज्यों को यदि सैनिक संधियों में मिला दिया गया तो वही पुराना इतिहास दोहराया जायेगा। इस आशंका से ये अपने आपको अलग ही रखना पसन्द करते हैं। उपनिवेश विरोधी भावना के कारण एशिया और अफ्रीका के ये देश पश्चिमी शक्तियों के साथ नहीं मिलना चाहते किन्तु अतीत के सांस्कृतिक, शैक्षणिक, कानूनी एवं प्रशासनिक सम्बन्धों के कारण वे उनका विरोध भी नहीं करना चाहते अतः गुट निरपेक्षता की नीति अपना लेते हैं। शीत युद्ध में दोनों ही पक्षों द्वारा एक दूसरे को साम्राज्यवादी कहा जाता है। नये राज्य यह तय नहीं कर पाते कि कौन साम्राज्यवादी है और कौन नहीं, अतः वे दोनों को ही संदेह की नजर से देखते हैं। यही कारण है कि इन देशों में से कोई भी यह नहीं चाहता कि वह किसी भी एक पक्ष से ही आर्थिक या सैनिक सहायता प्राप्त करे। इस प्रकार गुट निरपेक्षता की नीति को पराधीनता के विरुद्ध आत्मरक्षा का एक साधन बनाया गया है।

तीसरी सहायक परिस्थिति इन देशों की अर्द्धविकसित स्थिति है। इनकी गरीबी तथा उच्च जीवन स्तर की मांग ने इन देशों में आर्थिक विकास को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। यह भी गुट-निरपेक्ष नीति की एक प्रेरणा है। ये देश मतभेदों तथा खिचावों को कम करके इस बात का प्रयास करते हैं कि शस्त्रों के निर्माण पर अधिक खर्च न करके उत्पादन व विकास पर किया जावे। गुट-निरपेक्षता के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि इस नीति को अपनाने पर दोनों ही गुटों की पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त हो जाती है जबकि गुट में शामिल होने पर तो केवल एक ही देश की सहायता प्राप्त होती। कुछ विचारकों के मतानुसार यह तर्क अत्यन्त हल्का है क्योंकि तुलनात्मक दृष्टि से सन्धिबद्ध देशों को अधिक सहायता प्राप्त हुई है। प्रारम्भ में तो असलग्न देशों को महाशक्तियों द्वारा सहायता ही नहीं दी गई। इनके अतिरिक्त इन देशों को अपनी सुरक्षा योजनाओं पर भी पर्याप्त व्यय करना पड़ा। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का विचार है कि उनको जो भी विदेशी सहायता प्राप्त हुई है वह उनका अधिकार था न कि कोई अहसान। राष्ट्रपति नासिर के कथनानुसार अतीत काल में साम्राज्यवादी शक्तियों ने जिस

राष्ट्रीय सम्पत्ति का अपहरण किया वह यदि उनको वापिस प्राप्त होती है तो इसमें किसी का भी क्या अहसान है। सहायता प्रदान करना प्रगतिशील देशों का एक स्वेच्छापूर्ण कर्त्तव्य है। यह एक प्रकार का कर है जो अतीत के उपनिवेशवादी शोषण कर्त्ताओं द्वारा उनको प्रदान किया जाना चाहिए जो शोषित किये गये हैं। विकसित देशों के प्रति गरीब देशों मे एक ईर्ष्या की भावना पैदा हो रही है अत यह आवश्यक है कि इनके जीवन स्तर मे जो असमानतायें हैं उनको दूर किया जाये।

चौथे, गुट निरपेक्षता की नीति का एक जातीय एवं सांस्कृतिक पहलू भी है। इस नीति को मानने वाले देश मुख्यत अफ्रीका और एशिया महाद्वीप के रहने वाले हैं। ये देश ऐसे हैं जो योरोप से भिन्न दुनिया मे रहते हैं। इन देशों का आर्थिक रूप से शोषण किया गया था तथा इस पर समान रूप से राजनैतिक अधिकार रहा था अत इनके बीच एक पारस्परिक सहानुभूति रहना स्वाभाविक है। अवसरवश गुट निरपेक्ष देश अश्वेत हैं। इन देशो के बीच परस्पर सास्कृतिक एकता इतनी अधिक नही है किन्तु केवल यही एकता है कि वे समान रूप से एक बड़ी शक्ति के आधीन रह।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद का विरोध, आर्थिक सहायता की आवश्यकता एव सास्कृतिक एकता आदि तत्वों द्वारा अनुकूल परिस्थितिया प्रदान करके गुट निरपेक्षतावादी नीति के विकास के लिए एक पृष्ठभूमि का काम किया गया वैसे ये परिस्थितिया कई ऐसे देशों में भी पाई जाती हैं जो सैनिक सगठनों के सदस्य हैं। इन देशो को इन परिस्थितियो ने सन्धि करने की दिशा में प्रेरित किया गया हैं। ऐसी स्थिति म हम इन परिस्थितियो को गुट निरपेक्ष नीति के विकास का मुख्य कारण नही मान सकते। मुख्य कारण तो अन्य परिस्थितिया हैं। इनका निर्धारण भी हम एशिया और अफ्रीका के सभी देशो का निरीक्षण करने के बाद ही कर सकते हैं। गुट निरपेक्षता के ये विशेष लक्षण एशिया व अफ्रीका के सभी देशों में सामान्य रूप से पाये जाते हैं किन्तु इतने पर भी गुट निरपेक्ष देशों मे इनका प्रभाव अधिक होता है। इनका सम्बन्ध राजनैतिक दृष्टिकोणों से रहता है तथा इसकी अभिव्यक्ति अनेक आर्थिक एव राजनैतिक सगठनो में होती है। गुट निरपेक्ष देशो ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए पर्याप्त सघर्ष किया था। वे स्वाधीनता से पूर्व ऐसी सस्थाओं की माग करते थे जो उपनिवेशवादी सरकार को मान्य न थी। विश्व राजनीति मे भी ये देश स्थित व्यवस्था का समर्थन करने की अपेक्षा क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करने लगे।

गुट-निरपेक्षता की दृष्टि से जो तत्व महत्वपूर्ण रूप से प्रभाव डालते हैं उनमे पहला समाजवाद है। योरोप मे तटस्थता की नीति का समर्थन *समर्थकों द्वारा किया गया था तथा वहा समाजवादी एव तटस्थतावादी लोगों* मे अधिक भेद नही था। अफ्रीका और एशिया के देशों मे भी अधिकांश अर्द्ध विकसित देश इसी प्रकार समाजवाद एव तटस्थता की नीति से प्रभावित हैं। इन देशो द्वारा अपने जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए नियोजन, राष्ट्रीयकरण, सरकारी हस्तक्षेप आदि साधनो को अपनाया जा रहा है। इन देशों की प्राप्त अल्प सम्पत्ति प्राय कृषि कार्य में केन्द्रीकृत रहती है अतः औद्योगिक विकास का कार्य केवल सरकार की पहल पर ही किया जा सकता है। भारत मे कांग्रेस सरकार ने प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद को अपना लक्ष्य बनाया है। जिस किसी देश मे सगठित क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त की जाती है उस देश की विशेषता केन्द्रीय शक्तियां, केन्द्रीय निर्देशन एव नियोजन बन जाता है।

रगून में सन् १९५३ मे एशिया के समाजवादियो की बैठक हुई। इस बैठक के बाद एक एशियाई समाजवादी ब्यूरो स्थापित किया गया। बर्मा मे समाजवादी दल के संस्थापक के शब्दो मे "समाजवादी नेताओं के रूप मे हमको ऐसा कोई कार्य नही करना चाहिए जो मस्तिष्क की ताजगी को समाप्त करदे अथवा एक नये स्वतन्त्र विचारधारागत दृष्टिकोण को रोक दे। इस स्वतन्त्र दृष्टिकोण के कारण ही हम इस तीसरी शक्ति का विकास कर सके हैं तथा प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद का विचार विकसित कर सके हैं।"

इस प्रकार का मानसिक दृष्टिकोण लोचशील, स्वीकार करने योग्य तथा किसी भी विचारधारा से असलग्न होता है। किन्तु यह किसी न किसी प्रकार से नियोजन का समर्थन करता है ताकि अपनी कृषक अर्थव्यवस्था को बढा सके। ऐसी स्थिति मे ये देश अमरीका और सोवियत सघ के बीच का ही मार्ग अपनाते हैं। ऐसी स्थिति मे यह स्वाभाविक है कि ये देश दोनों गुटो से अलग अपना अस्तित्व बनायें। सन् १९५० तक सयुक्त राज्य अमरीका द्वारा इन देशो को साम्यवादी माना जाता था और साम्यवादी देश इन्हे अप्रत्यक्ष रूप से पूंजीवाद का ही एक रूप कहते थे। समाजवाद गुट निरपेक्ष नीति की पूर्व आवश्यकता नही है, किन्तु यह अर्द्ध विकास की समस्याओ के प्रति नए राज्यो की प्रतिक्रिया है। समाजवाद, अर्द्ध विकास और गुट निरपेक्षता दोनों एक ही साथ एक ही वातावरण में पाए जाते हैं।

समाजवाद की भांति गुट निरपेक्ष देशों की एक अन्य विशेषता यह है कि वे अपनी घरेलू नीति के प्रति क्रान्तिकारी दृष्टिकोण रखते हैं। स्वतन्त्रता

प्राप्त करके इन देशों ने स्वतन्त्रता की महत्वाकाक्षाओं को सन्तुष्ट किया। एक दूसरी क्रांति की आवश्यकता और थी जो इन देशों की भौतिक महत्वाकाक्षाओं को सन्तुष्ट कर सके। इण्डोनेशिया में विदेशी सम्पत्ति और पूंजीगत उद्यमों का समाजीकृत कर दिया गया। एशिया और मध्य-पूर्व के अनेक क्षेत्रों में चीन की भांति भूमि की व्यवस्था में पर्याप्त परिवर्तन किया गया। अन्य देशों में भी आर्थिक क्रांति प्रारम्भ हो चुकी थी। वहां उन सस्थाओं को बदला गया जो इस क्रांति के मार्ग की बाधा थी और उसे आने से रोक रही थी।

समाजवादी क्रांतिकारी सरकारें पश्चिम के साथ अपने आपको सधिबद्ध नही कर सकती थी। सयुक्त राज्य अमरीका में इस समय समाजवाद का विरोध ज्वर जोरों पर था। जो सरकार जमीदारी, जागीरदारी को दूर करने का प्रयास करती थी उसे अमरीका चीन का हमदम मान लेता था। इस आधार पर इन नये राज्यों के नेताओं के प्रति अमरीका का दृष्टिकोण सन्देह-पूर्ण रहा। सयुक्त राज्य अमरीका की नीति इन राज्यों में सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों को हतोत्साहित करने की रही। यह प्रतिक्रियावादी सरकारों को समर्थन देता रहा ताकि प्रशासनिक अव्यवस्था से लाभ उठा कर साम्यवादी आगे न आ जायें। एशिया और अफ्रीका के देशों में जो आन्तरिक क्रांति की उसने उनको पश्चिमी देशों के साथ मिलने से रोक दिया। किन्तु जहा पश्चिमी दबाव उन पर अधिक पड़े वहा इन देशों ने साम्यवादी देशों की सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया, उदाहरण के लिए क्यूबा को लिया जा सकता है। जहा इस क्रांति को मजबूत पश्चिमी विरोध का सामना नही करना पड़ा वे गुट-निरपेक्ष बने रहे, उदाहरण के लिए मिस्र।

इसका अर्थ यह नही होता कि सामन्तवादी सरकारें गुट-निरपेक्ष नही होती। बेलग्रेड सम्मेलन मे इस तथ्य को स्वीकार किया गया, फिर भी यह बताया जाता है कि साम्राज्यवादी देशों की जनता आन्तरिक सुधारों की माग करती है। ऐसी स्थिति में सम्बन्धित सरकार विदेशों में अपनी रक्षा की माग करती है और वे गुट निरपेक्ष नहीं रह पाती। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकाला जाना उचित है कि गुट निरपेक्ष देश प्राय वे होते हैं जहा तीव्र सामाजिक एव आर्थिक विकास हो चुके हैं या हो रहे हैं।

तीसरे, गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का राजनैतिक दृष्टिकोण भिन्न है। वे युद्ध को, रोकने के प्रयत्नों को, पश्चिमी विचारों, जैसे प्रतिरोध (Deterrence) और इसलिए शक्ति-सन्तुलन आदि को मान्यता नही देते। सार्वभौमिक प्रतिरोध के नवीन प्रयासों को भी वे बहुत कम आदर देते हैं। गुट-निरपेक्ष नीति के

समर्थक युद्ध, शक्ति एवं प्रत्येक शक्ति गुट के दावों का अवमूल्यन करते हैं। स्व० श्री नेहरू ने सन् १९५४ में कांग्रेस समिति को भेजे हुए एक पत्र में लिखा कि शान्ति केवल शान्ति के तरीकों से ही प्राप्त हो सकती है। शान्ति के प्रति युद्ध पूर्ण दृष्टिकोण अपने आप में एक विरोधाभास है। स्व० श्री नेहरू के मतानुसार पहले से ही सुरक्षा का प्रबन्ध करना उन गलत प्रवृत्तियों को विकसित करना है जो सही प्रवृत्तियों को विकसित होने से रोक देती हैं।

गुट निरपेक्ष राष्ट्रों के नेता शीत युद्ध के सभी पहलुओं पर नया दृष्टिकोण रखते हैं। इस दृष्टिकोण के कारण ही वे गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए प्रेरित हुए। ये देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विभिन्न समस्याओं के प्रति अपना स्वयं का दृष्टिकोण अपनाते हैं। इन देशों के द्वारा संसदीय व्यवस्था को सरकार का एक मात्र प्रजातन्त्रात्मक रूप कहा जाता है। गुटनिरपेक्ष देशों द्वारा महाशक्तियों को इस रूप में नहीं देखा जाता है जिस रूप में वे दिखना चाहती हैं वरन् इस रूप में देखा जाता है जैसा कि किसी बाहरी दर्शक को प्रतीत हो। गुट निरपेक्ष राष्ट्रों का मत है कि दोनों ही पक्ष विश्व शांति के लिए खतरनाक हैं और कोई भी एक पक्ष सद्गुण या बुद्धि पर कोई एकाधिकार नहीं रखता। ये देश शीत युद्ध संघर्ष के केवल दर्शक हैं, अभिनेता नहीं हैं इसलिए स्वयं स्थिति का मूल्यांकन कर सकते हैं। इन देशों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्तिपूर्ण सम्बन्धों के लिए अलग से मार्ग बताया जाता है, उदाहरण के लिए स्व० प्रधानमन्त्री श्री नेहरू पंचशील में विश्वास करते थे। उनके कथनानुसार "यदि पंचशील को पूरी तरह और गम्भीरता के साथ सभी देशों के द्वारा स्वीकार किया जाता है तो प्रत्येक को शान्ति प्राप्त होगी और सहयोग की भावना बढ़ेगी।" स्वतन्त्रता और गुट-निरपेक्षता मुख्य बातें हैं। स्वतन्त्रता की प्राप्ति किसी एक बड़ी शक्ति या शक्ति समूह के साथ संधि करने से नहीं हो सकती वरन् प्रत्येक विवादपूर्ण एवं झगड़े वाली स्थिति पर एक स्वतन्त्र दृष्टिकोण रखने से हो सकती है। एक राष्ट्र की पराधीन जनता को स्वतन्त्रता देने, जातीय भेदभाव को समाप्त करने, आवश्यकता, बीमारी और अज्ञान को समाप्त करने, आदि विभिन्न पहलुओं के प्रति स्वतन्त्र दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

यह कहा जाता है कि गुट निरपेक्ष देशों के नेताओं के कार्यों और कथनों में पर्याप्त अन्तर रहता है। उदाहरण के लिए राष्ट्रपति सुकार्नो ने यह घोषणा की थी कि वे पश्चिमी इरियान (West Irian) की समस्या पर डचों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे। किन्तु सन् १९६१ में उसने

सोवियत संघ से युद्ध प्रसाधन प्राप्त किए जिन्हें पश्चिमी इरियान के क्षेत्र में रखा गया। शक्ति प्रयोग के अन्य कुछ उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जिनके पक्ष में यह कहा जाता है कि गुट-निरपेक्ष देशों ने इन्हें आत्मरक्षा और उपनिवेशवाद के विरुद्ध अपनाया। किन्तु यह तर्क अधिक न्यायोचित नहीं है, क्योंकि इसे तो युद्ध करने वाला कोई भी देश दे सकता है; या तो गुट-निरपेक्ष राज्यों को यह स्पष्ट करना होगा कि किन परिस्थितियों में व शक्ति के प्रयोग को उचित मानते हैं और क्यों ? अथवा उन्हें भी इस दोष का भागी बनना पड़ेगा कि वे महाशक्तियों से मौलिक रूप से भिन्न नहीं हैं।

चौथे, अनेक बड़े गुट निरपेक्ष राष्ट्र, जैसे भारत, मिस्र, यूगोस्लाविया और इण्डोनेशिया अपनी राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा भाग सुरक्षा के कार्यों पर खर्च करते हैं। गुट-निरपेक्ष और गुट-सापेक्ष देशों के कार्य तो लगभग एक जैसे हैं किन्तु दानों के दृष्टिकोण में अन्तर है। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों का विश्वास है कि भय को हटा दीजिए, और आक्रमणकारी नीतियां अपने आप हट जायेंगी। दूसरी ओर सैविरुद्ध राष्ट्रों का विचार है कि जब तक सम्भावित आक्रान्ता का प्रतिरोध करने के लिए शक्ति का परिचय न दिया जाए तब समय तक युद्ध को नहीं रोका जा सकता। गुट-निरपेक्ष देशों की मान्यता है कि आक्रमण की आशा तथा उसे रोकने के लिए की जाने वाली सन्धियां ही अन्तिम रूप में सशर्षपूर्ण स्थिति पैदा कर देती हैं। अनेक वैज्ञानिकों द्वारा इस दृष्टिकोण का समर्थन किया जाता है कि युद्ध का आधार भय है।

पांचवें गुट-निरपेक्ष देशों में प्रारम्भ से ही असाधारण नेतृत्व रहा है। स्व० श्री नेहरू, नूनू, सुकार्नो, नासिर, एनक्रूमा, टीटो आदि का नाम युद्ध के बाद अफ्रीका और एशिया की घटनाओं में प्रमुख रहा है। अफ्रीका और एशिया के जिन देशों ने पहले की उपनिवेशवादी शक्तियों से सन्धियां की हुई हैं उनमें कुछ एक अपवादों को छोड़ कर, नेतृत्व का अभाव है। यह एक विवादपूर्ण विषय है कि क्या इन देशों में नेतृत्व ने गुट-निरपेक्षता की नीति का विकास किया ? कई विचारकों का कहना है कि गुट निरपेक्षता की नीति प्रभावशाली नेतृत्व का परिणाम नहीं है वरन् जिन परिस्थितियों ने प्रभावशाली नेतृत्व को जन्म दिया वे ही गुट-निरपेक्षता की नीति के लिए भी उत्तरदायी हैं। गुट-निरपेक्षता की नीति को अपनाने वाला पहला देश भारत था। भारतीय विदेश नीति के कर्णधार स्व० पंडित नेहरू को राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान ही तटस्थता की शिक्षा प्राप्त हुई। इस पृष्ठभूमि के होते हुए भी यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं है कि भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद से ही एक स्वतन्त्र विदेश नीति का अपनाया जो कुछ

सकारात्मक विशेषताओं से युक्त तटस्थ नीति थी। स्व० श्री नेहरू ने सन् १९५० में यह कहा था कि "मैं सदन में यह कहना चाहता हूँ कि जिस नीति को हम अपना रहे हैं वह केवल तटस्थ या निष्क्रिय या निषेधात्मक नहीं है वरन् यह एक ऐसी नीति है जो हमारे ऐतिहासिक तथा वर्तमान अतीत से प्राप्त हुई है। यह हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन और विभिन्न आदर्शों से निकली है जिनकी हम समय-समय पर घोषणा करते रहते थे।

शान्ति की रक्षा भारतीय विदेश नीति का केन्द्रीयभूत लक्ष्य है। इस नीति की खोज [illegible] ही भारत ने किसी सैनिक या अन्य सन्धि में सम्मिलित न हो कर गुट-निरपेक्षता की नीति का मार्ग अपनाया है। गुट-निरपेक्षता का अर्थ दिमाग और कार्यों की निष्क्रियता नहीं है, यह विश्वास और मान्यताओं की निष्क्रियता नहीं है, इसका अर्थ बुराई के सामने झुक जाना भी नहीं है, वरन् यह विश्व की समस्याओं के प्रति एक सकारात्मक और रचनात्मक दृष्टिकोण है। यद्यपि नेतृत्व के कारण गुट-निरपेक्ष नीति के विकास में पर्याप्त सहायता मिली किन्तु नेतृत्व का पहलू इतना महत्वपूर्ण नहीं जितना यह दिखाई देता है, क्योंकि जिन परिस्थितियों ने गुट-निरपेक्षता की नीति को जन्म दिया उन्होंने इन नेताओं का भी विकास किया। कारण चाहे कुछ भी हो किन्तु गुट-निरपेक्षता की नीति और प्रभावशाली नेतृत्व दोनों साथ-साथ चले हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गुट-निरपेक्षता की नीति एक देश द्वारा उस समय अपनाई जाती है जब कि उस पर सन्धि में बंधने के लिए अधिक दबाव न डाले जाय। इतने पर भी गुट-निरपेक्षता को एक स्वाभाविक चीज नहीं कहा जा सकता जो अपने आप विकसित हो जाती हो, वरन् अनेक विभिन्न प्रकार के प्रभाव हैं जो राष्ट्रों को इस नीति की ओर प्रेरित करते हैं। इनमें से कुछ प्रभाव तो ऐसे हैं जो गुट-निरपेक्ष और गुट-सापेक्ष देशों में समान रूप से पाए जाते हैं जब कि अन्य कुछ प्रभाव ऐसे हैं जो केवल गुट-निरपेक्षता की नीति के लिए ही विशेष हैं।

गुट निरपेक्ष नीति का उद्देश्य
(The Object of Non-alignment)

गुट-निरपेक्ष नीति एक देश को मत प्रकट करने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। इस नीति को मानने वाले देश किसी भी प्रकार की विदेशी सहायता को अस्वीकार कर देते हैं यदि वह उनके आन्तरिक विषयों पर हस्तक्षेप करने का प्रयास करे। स्वतन्त्रता की रक्षा इस नीति का एक प्रमुख लक्ष्य है और यदि सहायता देने के माध्यम से विदेशी द्वारा उसकी

स्वतन्त्रता को छीना जाता है तो वह इस सहायता का बलिदान कर देगा। गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर जो दृष्टिकोण अपनाया जाता है वह विषय की प्रकृति एवं औचित्य पर आधारित होता है। इन देशों की मान्यता है कि महाशक्तियों द्वारा कही गई बात अन्तिम सत्य नहीं होती, क्योंकि वे अपने स्वार्थ एवं अन्य भावनाओं से प्रभावित होते हैं। शीत युद्ध से अलग रहने के कारण गुट निरपेक्ष देश किसी समस्या को वस्तुगत रूप से देख सकते हैं और दृष्टिकोण की यह स्वतन्त्रता ही गुट-निरपेक्ष नीति का एक मुख्य उद्देश्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक विचारक गुट-निरपेक्षता की नीति को केवल एक साधन मानते हैं तथा उसे विदेशी नीति का स्तर देने को तैयार नहीं हैं। यह सच है कि गुट निरपेक्षता की नीति द्वारा सम्बन्धित देशों ने आर्थिक विकास के अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया है और विदेशों से पर्याप्त सहायता प्राप्त की है किन्तु इस आधार पर गुट निरपेक्षता को कोई नीति न मानना गलत है। लेखकों के मतानुसार विदेश नीति भी एक साधन होती है जिसके सहारे राष्ट्रीय लक्ष्यों को प्राप्त किया जाता है। अमल में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साधन और नीति के बीच कोई महत्वपूर्ण अन्तर स्थापित करना मुश्किल है। गुट निरपेक्षता विदेश नीति का एक मुख्य साधन है।

गुट-निरपेक्षता की नीति के द्वारा एक राष्ट्र अपनी सम्प्रभुता एवं प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा का प्रयास करता है। जब भारत को दोनों ही गुटों से सैनिक सहायता प्राप्त हुई तो पाकिस्तान और चीन आदि देशों ने यह दोष लगाया कि भारत ने गुट निरपेक्षता की नीति का त्याग कर दिया है। सन् १९६२ के चीनी आक्रमण से पूर्व भारत द्वारा विदेशों से केवल आर्थिक सहायता प्राप्त की जाती थी किन्तु समय की आवश्यकताओं से प्रभावित होकर भारत ने अपनी विदेश नीति को समयोचित किया और सैनिक सहायता स्वीकार की। यद्यपि भारत ने सैनिक सहायता ली किन्तु उसने अपने प्रदेश पर विदेशी सेनाओं एवं सैनिक अड्डों को स्थापित होने की अनुमति नहीं दी। इस प्रकार विदेशी सहायता,चाहे वह सैनिक हो अथवा आर्थिक, उस समय तक गुट-निरपेक्षता के विरुद्ध नहीं कही जा सकती जब तक कि वह सम्बन्धित देश की विदेश नीति की स्वतन्त्रता समाप्त नहीं करती। यदि कोई देश अपनी स्वतन्त्रता एवं प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा के लिए विदेशी सहायता को स्वीकार करता है तो एक प्रकार से वह उन्हीं लक्ष्यों की दिशा में अग्रसर हो रहा है जिनकी ओर हमें गुट निरपेक्षता की नीति ले जाती है। सैनिक सहायता के माध्यम से गुट निरपेक्ष नीति का मार्ग सुगम तथा निर्बाध बन जाता है।

गुट निरपेक्षता की विदेश नीति का एक अन्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना करना है। इस नीति में विश्वास करने वालों का मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एक नैतिक एवं मानवीय उद्देश्य है जो युद्ध की अमानवीय बर्बरताओं से बचा कर सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार को आगे बढ़ाता है। गुट-निरपेक्ष देशों द्वारा विश्व शान्ति का समर्थन केवल इसीलिए नहीं किया जाता कि वह उनके आर्थिक विकास एवं राजनैतिक रूप स्थिरता के लिए जरूरी है वरन् इसलिए भी किया जाता है कि आज का युद्ध विध्वंसकारी बन गया है। इसके अतिरिक्त शान्ति अपने आप में एक अच्छाई है और इसे किसी अन्य कारण के लिए नहीं वरन् इसकी अन्तर्निहित अच्छाई के लिए ही अपना लिया जाना चाहिए। युद्ध के न होने पर ही मानव मात्र द्वारा सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में की गई प्रगति का कुछ मूल्य होता है। नेहरू के कथनानुसार गुट-निरपेक्ष नीति युद्ध नहीं चाहती है, यह शान्ति के लिए सकारात्मक रूप में प्रयास करती है तथा सहयोग में विश्वास करती है।

गुट निरपेक्षता की नीति राष्ट्रीय हित की अभिवृद्धि का साधन भी है। कुछ लेखकों के अनुसार जब गुट निरपेक्षता के माध्यम से राष्ट्रीय हितों को साधने का प्रयास किया जाता है तो वह नीति बन जाती है और जब इसे विश्व शान्ति की स्थापना के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो यह एक साधन बन जाती है। यदि गुट निरपेक्षता को हम आर्थिक आत्मनिर्भरता, या राजनैतिक स्थायित्व अथवा उपनिवेशवाद के विरोध का साधन मात्र ही मान लें तो ऐसी स्थिति में इन लक्ष्यों के प्राप्त हो जाने पर गुट निरपेक्षता का कोई महत्व नहीं रहेगा। इसलिए यह जरूरी है कि इसके साथ किसी स्थायी एवं सर्वकालीन मूल्य को संयुक्त किया जाये। इस मूल्य के साधन के रूप में ही हम इसका मूल्य आंक सकते हैं। विश्व शान्ति की प्राप्ति को एक ऐसा ही मूल्य बताया गया जिसको प्राप्त करने के लिए गुटनिरपेक्षता की नीति को साधन के रूप में प्रयुक्त किया जा सके। गुटनिरपेक्ष देश विश्व शान्ति को राष्ट्रीय हित से भी अधिक प्रमुखता प्रदान करते हैं। यह कहा जाता है कि अनेक विचारक गुट-निरपेक्षता की नीति में छिपी शक्ति को नहीं पहचान सके जिसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का शान्तिपूर्ण निपटारा किया जा सके। यही कारण है कि जार्ज श्वार्जनबर्गर (George Schwarzenberger) ने गुटनिरपेक्षता की नीति को आत्म-केन्द्रित नीति बताया है। मार्गेन्थो तथा रीनाल्ड नीबर आदि लेखक इसे केवल विचारधारा मात्र कहते हैं। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इन विचारकों का अर्थ यही है कि गुटनिरपेक्षता की नीति विदेशी सहायता प्राप्त करने का एक साधन मात्र है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण होने

के साथ साथ गठन भी है क्योंकि यह नीति मुख्य रूप से विश्व शान्ति की स्थापना का प्रयास करती है।

गुटनिरपेक्षता की नीति संयुक्त राष्ट्रसंघ का तथा निःशस्त्रीकरण को दिशा में किए जाने वाले प्रयासों का समर्थन करती है। यह नीति उन सभी कार्यों का समर्थन करती है जो अन्तर्राष्ट्रीय खिंचाव को दूर करने में सहायक होते हैं। ऐसी स्थिति में संयुक्त राष्ट्र संघ एवं निःशस्त्रीकरण सम्मेलनों की सफलता का गुटनिरपेक्ष राज्यों के लिए अत्यन्त महत्व होता है। गुटनिरपेक्ष नीति का अस्तित्व ही विश्व शान्ति के अस्तित्व पर निर्भर करता है। युद्ध छिड़ जाने पर गुटनिरपेक्षता नाम की कोई चीज न रहेगी। स्वर्गीय श्री नेहरू यह कहा करते थे कि यदि वास्तविक युद्ध छिड़ गया तो गुट निरपेक्ष अथवा असंलग्न राज्यों के सामने इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं रहता कि वे जिसे भी उचित समझें उस पक्ष के साथ व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से युद्ध में शामिल हो जाएँ। इस प्रकार तृतीय विश्व युद्ध को रोकना इस नीति का केवल लक्ष्य ही नहीं है वरन् यह उसके अस्तित्व की आवश्यक शर्त भी है।

भारत में गुट निरपेक्षता व असंलग्नता की नीति
(Non aligned Policy in India)

भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही अपनी विदेशी नीति का आधार गुट निरपेक्षता या असंलग्नता को बनाया है। भारत की यह नीति है कि वह वर्तमान विश्व राजनीति के दोनों गुटों में से किसी में भी शामिल नहीं होगा। किन्तु अलग रहते हुए भी उनसे मैत्री सम्बन्ध कायम रखने की चेष्टा करेगा और उनकी निःस्वार्थ सहायता से अपनी उन्नति करने में तत्पर रहेगा। भारत का विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में वह महत्वपूर्ण योग तभी दे सकेगा जब अपने विवेक की स्वतन्त्रता को वह सुरक्षित रखे। भारत की गुट निरपेक्षता या असंलग्नता की नीति सकारात्मक और गतिशील (Positive and Dynamic) है।

स्वाधीन भारत का इतिहास बताता है कि इस देश ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निरन्तर सक्रिय रूप से भाग लिया है और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में पूर्ण उत्साह से अपना सहयोग दिया है। भारत की नीति तटस्थ वहीं तक है जहाँ तक वह पहले से ही किसी पक्ष के साथ आने की बाधता नहीं चाहता, अन्यथा वास्तविकता यही है कि आवश्यकता पड़ने पर भारत पुरजोर ढंग से दमन का विरोधी रहा है। भारत कभी भी और किसी भी एक पक्ष का समर्थन करने को तैयार रहा है जिसकी नीति को उसने

विश्व शांति और सुरक्षा के लिए उपयोगी माना है। इसी तरह वह ऐसे पक्ष का विरोध करता रहा है जिसको नीति को उसने शांति और सुरक्षा के लिए अहितकारी समझा है।

भारत की असलग्नता की नीति का उद्देश्य किसी तृतीय गुट का निर्माण करके उसका नेतृत्व करना नहीं है। भारत तो दो विरोधी गुटों के बीच सन्तुलन स्थापित करना चाहता है। वह विश्व राजनीति रूपी समुद्र के दो किनारों के बीच एक पुल बनाने का आकांक्षी है। भारत की असंलग्नता की नीति उसे सैनिक गुटों से दूर रखे हुए है। लेकिन पड़ोसी और अन्य राष्ट्रों के बीच अन्य सब प्रकार के सहयोग को प्रोत्साहन देने में यह नीति बाधक नहीं है। हमारा इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमने असलग्नता की नीति पर चलते हुए विभिन्न देशों से विभिन्न प्रकार की सन्धियां की हैं किन्तु इन सन्धियों का स्वरूप सैनिक न होकर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रहा है।

भारत की असलग्नता का अभिप्राय कोरा शांतिवाद नहीं है। भारत की असलग्नता, निर्बलता या अशक्ति की द्योतक नहीं है। यदि भारत पर आक्रमण होता है तो निश्चय ही हथियारों का जवाब हथियारों से दिया जायेगा। १९६२ में चीनी आक्रमण के समय भी यही हुआ और बाद में १९६५ के पाकिस्तान के आक्रमण के समय भी यही हुआ। पर भारत के हथियार भारत की रक्षा के लिए हैं, दूसरे देश की सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए नहीं।

असलग्नता की नीति के कारण

भारत ने असलग्नता की यह नीति कुछ अत्यन्त सशक्त कारणों के आधार पर अपनायी है जो संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) भारत किसी भी देश पर शासन करना नहीं चाहता, अपितु विश्व में शांति बनाये रखने का इच्छुक है। इस दृष्टि से उसके लिये किसी भी गुट में शामिल होकर अकारण ही विश्व में तनाव की स्थिति पैदा करना उपयुक्त नहीं है।

(२) भारत युद्ध को दूर रखने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करना चाहता है, किन्तु यदि किसी गुट विशेष में सम्मिलित होने की उसने चेष्टा की तो उसका यह प्रभाव निश्चित रूप से क्षीण हो जायगा।

(३) भारत अपनी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता को बनाये रखना चाहता है। यदि उसने किसी गुट विशेष को अपना लिया तो उसे अनिवार्य रूप से विश्व की समस्यों पर वही रुख अपनाना पड़ेगा जो उसका गुट अपना रहा है।

(४) असंलग्नता की विदेश नीति भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुरूप है। बहुत से विचारक, जो अवसरवादिता की विदेश नीति को श्रेष्ठ मानते हैं, वे भी इस प्रकार की नीति से सन्तुष्ट होंगे। स्वतन्त्र वैदेशिक नीति कालान्तर में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। भारत, अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को और अपनी योजनाओं की सिद्धि के लिए विदेशी सहयोग एवं सहायता पर बहुत कुछ निर्भर है। असंलग्नता की नीति उसके इस लक्ष्य को भली प्रकार सम्भव बना रही है। किसी गुट में शामिल न होने के परिणामस्वरूप ही यह सम्भव हुआ है कि भारत के सम्बन्ध विश्व के दोनों शक्तिशाली खेमों के साथ अच्छे हैं और सोवियत रूस तथा अमेरिका दोनों से एक ही साथ उसे सहायता मिल पा रही है। इसके अतिरिक्त किसी एक गुट के हाथों में खेलने की नीति न केवल अपर्याप्त है वरन् भारत जैसे राष्ट्र के लिये असम्मानजनक भी है।

(५) भारत की भौगोलिक स्थिति भी उसे असंलग्नता की नीति अपनाने को बाध्य करती है। हम पश्चिमी गुट के साथ सैनिक गुटबन्दी नहीं कर सकते क्योंकि विश्व के पश्चिम विरोधी दो प्रमुख और अत्यन्त शक्तिशाली साम्यवादी देशों की सीमायें भारत की सीमाओं के सन्निकट हैं। दुर्भाग्यवश साम्यवादी चीन से हम संघर्ष की स्थिति में हैं और यदि पश्चिमी सैनिक खेमे में शामिल हो कर हमने रूस की सहानुभूति भी खो दी तो यह हमारे लिये निश्चित रूप से अहितकर होगी। भारत के निकटवर्ती साम्यवादी एवं अन्य देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का होना इसलिए भी आवश्यक है कि उनके आक्रमण की सूरत में पाश्चात्य शक्तियों की सहायता उपयुक्त समय एवं उपयुक्त मात्रा में प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यदि हम साम्यवादी देशों के खेमे में सम्मिलित होते हैं तो इसका स्पष्ट परिणाम अमेरिका एवं दूसरे पाश्चात्य राष्ट्रों को अप्रसन्न करना होगा जिससे उनके द्वारा दी जाने वाली महत् विशाल आर्थिक सहायता अवरुद्ध हो जाएगी और भारत का आर्थिक ढांचा बुरी तरह लड़खड़ा जाएगा। इसके अतिरिक्त साम्यवादी खेमे से हमारी घनिष्ठ दोस्ती इसलिए भी नहीं हो सकती कि अपनी अतीत की परम्पराओं के कारण हम साम्यवादी सिद्धान्त को अच्छा नहीं मानते और हिंसात्मक एवं दमनकारी नीतियों तथा व्यवहारों को बुरी निगाह से देखते हैं।

(६) असंलग्नता की नीति भारत की परिस्थितियों और उसकी परम्पराओं से मेल खाती है। ९ दिसम्बर, १९५८ को तत्कालीन प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने लोकसभा में कहा था कि गुटबन्दी में शामिल न होने की नीति को उन्होंने केवल वाणी दी है, उसका उत्पादन नहीं किया है। यह एक ऐसी

नीति है तो भारत की परिस्थितियों में, भारत की प्राचीन विचारधाराओं में और विश्व की वर्तमान आवश्यकताओं में स्वाभाविक है। इस विचारधारा का सार भारत के लोगों के मस्तिष्क में सहिष्णुता की विचारधारा का पाया जाना है। भारतीयों ने इस परम्परा को बुद्ध, धर्मग्रन्थ और इतिहास से उत्तराधिकार में पाया है।

(७) भारत की विचारधारा आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में पश्चिमी तथा साम्यवादी गुटों के बीच की है और इसलिए यह आवश्यक एवं स्वाभाविक बन जाता है कि उनकी विदेश नीति में ऐसे दोनों के बीच के मार्ग का ही अवलम्बन किया जाए। भारत साम्यवाद की समानता, वर्ग भेद की समाप्ति, सामाजिक सुरक्षा, शोषण का अन्त आदि विचारों से सहमत है परन्तु उसमें पाई जाने वाली असहिष्णुता, हिंसा, स्वतन्त्रता का अभाव एवं दमन आदि दोषों को दूषित दृष्टि से देखता है। इस प्रकार भारत पश्चिमी देशों की इस परम्परा से प्रभावित है कि व्यक्ति के ज्ञान एवं स्वतन्त्रता का ठीक मूल्यांकन किया जाना चाहिए। किन्तु साम्यवाद के खिलाफ इन दोषों में साम्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप जो घृणा एवं कटुता का वातावरण बनता है वह भारत के लिए एक अप्रियपूर्ण पहेली है जिसे वह असहिष्णुता का प्रतीक मानता है।

पंडित नेहरू ने यह ठीक ही कहा था "किसी गुट के साथ सैनिक सन्धियों में बंध जाने के कारण सदा उसके इशारे पर नाचना पड़ता है और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। अतः चाहे कुछ भी हो जाए हम किसी दल के साथ सैनिक सन्धि नहीं करेंगे। जब हम असंलग्नता (Non alignment) का विचार छोड़ते हैं तो हम अपना लंगर छोड़ कर बहने लगते हैं। किसी दल से बंधना आत्म सम्मान खोना है, यह बहुमूल्य निधि का विनाश है।"

भारत की असंलग्नता की नीति एक कसौटी पर

असंलग्नता की भारतीय नीति की व्याख्या करने के उपरान्त अब हम यह समझ में देखना चाहिए कि भारत ने इस नीति का कब तक कैसे प्रयोग किया है। इस नीति के इतिहास को सुगमता तीन भागों में बांटा जा सकता है—१९४७ से कोरिया के युद्ध (१९५०) तक, कोरिया युद्ध से द्वितीय भारतीय आम निर्वाचन (१९५७) तक एवं १९५७ के बाद से अब तक।

(i) सन् १९४७ से १९५० के बीच—१९४७ से १९५० के मध्य भारत की असंलग्नता की नीति बहुत अस्पष्ट सी रही है और उसकी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पश्चिमी गुट की एक हद तक समर्थक रही।

पश्चिमी गुट की तरफ इस प्रारम्भिक झुकाव के कुछ विशेष कारण थे—उदाहरणार्थ सुरक्षा के मामले मे भारत उस समय तक पूर्णत पश्चिमी गुट पर आधारित था, भारत के शिक्षित वर्ग पर पाश्चात्य देशो का पर्याप्त प्रभाव छाया हुआ था और सर्वोपरि आर्थिक दृष्टि से हमारा देश पश्चिमी गुट पर बहुत अधिक आश्रित था। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद कुछ काल तक भारत का व्यावहारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी राष्ट्रो से था और देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सहायता मुख्यत ब्रिटेन एव सयुक्त राज्य अमेरिका से ही प्राप्त हो सकती थी। अत स्वाभाविक था कि इन परिस्थितियो मे भारत असलग्नता की नीति के सही रास्ते पर चलते हुए भी एकदम निष्पक्ष नही रह सका। उदाहरणो द्वारा इस बात को भली प्रकार समझा जा सकता है। सर्वप्रथम पूर्वी जर्मनी के प्रति भारत की नीति एकदम निष्पक्ष नही रही। विभाजित जर्मनी मे एक को (पश्चिमी जर्मनी को), जो पश्चिमी गुट से सम्बद्ध था, कूटनीतिक मान्यता प्रदान की गई जबकि दूसरे (पूर्व जर्मनी) को यह मान्यता नही दी गई। भारत का यह तर्क कोई विशेष प्रबल नही था कि उसने पूर्वी जर्मनी को इसलिए मान्यता नही दी है कि ऐसा करना जर्मनी के विभाजन को मान लेना होगा। इसी तरह का दोष बहुत पक्षपातपूर्ण रुख कोरिया युद्ध के प्रारम्भ मे रहा। सयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की तरह भारत ने भी एकदम बे झिझक उत्तरी कोरिया को आक्रामक घोषित कर दिया जबकि वस्तु स्थिति यह है कि पश्चिमी देश आज तक भी अपने कथन के समर्थन मे पूर्णतया विश्वसनीय प्रमाण प्रस्तुत नही कर सके हैं। यह सम्भावना आज भी वर्तमान है कि स्वय दक्षिणी कोरिया ने ही उत्तरी कोरिया पर आक्रमण किया हो। इस विषय मे श्री करुणाकर गुप्त का लिखना है—भारत का निर्णय श्री कोण्डापी (Kondapi) की रिपोर्ट पर आधारित था और यह रिपोर्ट उसके व्यक्तिगत विचारो से अत्यधिक प्रभावित थी।

(ii) सन् १६५० से १६५७ के बीच—१६५० से १६५७ के काल मे सोवियत सघ के प्रति भारत के रुख मे कुछ परिवर्तन हुआ। इसके कुछ विशेष कारण थे। प्रथम तो १६५३ मे स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत व्यवस्था मे कुछ उदार तत्वों का समावेश हुआ। दूसरे, सामरिक दृष्टिकोण से भी सोवियत सघ अधिक शक्तिशाली बना और उसने अणु राष्ट्र होने का गौरव प्राप्त कर लिया। तीसरे, अमेरिका के साथ भारत के सम्बन्धो मे कुछ कटुता आने लगी क्योंकि १६५४ मे अमेरिका और पाकिस्तान के मध्य एक सैनिक सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत, भारत के तीव्र विरोध के बावजूद, अमेरिका ने पाकिस्तान को विशाल पैमाने पर शस्त्रास्त्र देने का निर्णय किया। फिर

गोवा की समस्या के प्रति अमेरिकन रुख ने भी भारतीय जनमत को अमेरिका के विरुद्ध विक्षुब्ध कर दिया। अमेरिका के विदेश सचिव जान फोस्टर डलेस ने सार्वजनिक तौर पर गोवा में पुर्तगाल का समर्थन किया। इन परिस्थितियों में यह भारतीय विदेश नीति स्वभावतः सोवियत संघ के प्रति, जिसने भारतीय रुख का हमेशा समर्थन किया, कुछ उदार एवं मैत्रीपूर्ण बनी। इन दोनों देशों के बीच इस बढ़ती हुई मित्रता को पण्डित नेहरू और श्री ख्रुश्चेव के भ्रमणों ने भी अधिक मजबूत कर दिया। सोवियत संघ के साथ केवल राजनीतिक सम्बन्ध ही प्रगाढ़ नहीं हुए बल्कि व्यापारिक सम्बन्ध में भी काफी वृद्धि हुई और भारत को उससे पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलने लगी। इस काल में ही दो महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं घटीं—स्वेज पर ब्रिटेन और फ्रांस का आक्रमण तथा हंगरी में सोवियत संघ का हस्तक्षेप। स्वेज पर से पश्चिमी राष्ट्रों के आक्रमण को दूर करने और मिस्र से आक्रान्ता फौजों को हटाने के मामले में भारत ने सोवियत संघ के साथ पूर्ण सहयोग किया। हंगरी की समस्या पर भी भारत की नीति प्रारम्भ में सोवियत संघ का समर्थन करती रही।

(iii) सन् १९५७ से १९६२ के अन्त तक—१९५७ में द्वितीय आम निर्वाचन हुए और इसके बाद से ही भारत की नीति पुनः पश्चिमी गुटों की ओर कुछ अधिक झुक गई। इसके भी कुछ कारण थे। प्रथम तो निर्वाचनों ने यह प्रकट कर दिया कि भारत में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ रहा है। दूसरे १९५७ के गम्भीर आर्थिक संकट ने, देश में खाद्यान्न और विदेशी मुद्रा की कमी ने तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना की भावी असफलता ने भारत को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वह असंलग्नता की नीति पर चलते हुए भी, यथासम्भव पश्चिमी गुट के साथ अपना मेलजोल बढ़ाए। स्वयं कांग्रेस पार्टी के अन्दर दक्षिण पंथियों का प्रभाव बढ़ा और नेहरू मन्त्रिमण्डल में कुछ ऐसे लोगों का प्रवेश हुआ जिनकी सहानुभूति अमेरिकन गुट के प्रति अधिक थी। भारत की इस नीति में इस परिवर्तन का पहिले स्पष्ट संकेत हंगरी की समस्या में भारतीय रुख के बदलने से मिला; जहां शुरू में इस बारे में भारत ने सोवियत संघ का समर्थन किया था वहां बाद में वह अपनी पूर्व स्थिति से हट कर सोवियत संघ का विरोध करने लगा। अब पश्चिमी एशिया और पूर्वी एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध भी भारत बहुत मन्द जबान से करने लगा। वियतनाम संकट में भारत की अस्पष्ट ढुलमुल नीति भी परिस्थितियों का परिणाम कही जा सकती है।

नवम्बर १९६२ में चीन द्वारा भारत पर विशाल पैमाने पर आक्रमण किये जाने पर असंलग्नता की नीति की अग्नि परीक्षा हुई। अधिकांश क्षेत्रों

से यह माग की जाने लगी कि असलग्नता की नीति पूर्णतः असफल हो चुकी है, अतः देश के हित म इसका जल्दी से जल्दी परित्याग होना चाहिये, लेकिन राष्ट्र के नाम अपने रेडियो ब्राडकास्ट म श्री नेहरू ने स्पष्ट घोषणा की कि भारत अभी असलग्नता की नीति का अनुसरण करता रहेगा। चीन के आकस्मिक और विशाल आक्रमण के कारण भारत को कुछ गम्भीर सैनिक पराजयों का सामना करना पडा और भारत सरकार की अपील पर अमरीका व ब्रिटेन से सहायतार्थ बहुत बडी मात्रा में अस्त्रशस्त्र भारत पहुँचे। इस अवसर पर विरोधियो को असलग्नता की नीति की आलोचना करने का और उस व्यर्थ बताने का एक और अवसर मिला। यह कहा जाने लगा कि जब सम्पूर्ण विश्व ही दो विरोधी गुटो म विभक्त है तो भारत द्वारा असलग्नता की नीति का अवलम्बन करना पूणत अव्यावहारिक है। भारत दो गुटो में से—साम्यवादी गुट के प्रमुख सदस्य चीन के साथ युद्धरत है और उसका सामना करने के लिय अमरिकन गुट द्वारा सैनिक सहायता ले रहा है। अत इन परिस्थितियो म असलग्नता की नीति की कोई वका नहा रही है और समय आ गया है कि भारत को अब अपनी स्थिति का पुनर्निर्धारण स्पष्ट शब्दों म कर लेना चाहिये।

यद्यपि स्वय पण्डित नेहरू को चीनी आक्रमण से गहरा आघात पहुँचा था, किन्तु फिर भी वे विरोधियो और आलोचकों के तर्कों के सामने परास्त नहीं हुए और उन्होने यह मानने से इन्कार कर दिया कि असलग्नता की नीति गलती है अथवा देश के लिये अहितकारी है। उन्होंने यही कहा कि भारत के हक म यह नीति सर्वोत्तम है तथा वे उसका अनुसरण करते रहेगे। श्री नेहरू का प्रबल तर्क यह था कि आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिये भारत ने जो भी शस्त्रास्त्र की सहायता ली है, उसके साथ किसी प्रकार की राजनीतिक या अन्य शर्त नहीं लगी है। किसी भी शर्त सहायता को लेने का अभिप्राय असलग्नता की नीति से दूर हटना नहीं कहा जा सकता। असलग्नता की नीति के आलोचकों को इस नीति के समर्थकों ने यह करारा उत्तर दिया कि यदि इस नीति का परित्याग कर दिया गया तो भारत-चीन सीमा-संघर्ष सक्रिय युद्ध का एक अंग बन जाएगा और तब भारत चीन विवाद १०० वर्षों म भी हल नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास बताता है कि गुटों की नीति कभी भी सही रूप में फलदायक नहीं हो सकी है। अमेरिका के समर्थन के बावजूद न तो कोरिया और जर्मनी का एकीकरण हो सका है और न पाकिस्तान को काश्मीर मिल सका है। इसलिये यह आशा करना निरा मूर्खता होगी कि यदि भारत पाश्चात्य राष्ट्रों के गुट म या

साम्यवादी गुट मे मिल गया तो इसे उसके खोये हुए प्रान्त वापस मिल जायेंगे।

भारत सरकार की ओर से यह एकदम स्पष्ट कर दिया गया कि देश अपनी रक्षा के लिए सभी मित्र राज्यों से सहायता लेगा परन्तु असलग्नता की नीति का परित्याग नहीं करेगा। भारत चीन संघर्ष के बाद सितम्बर १९६५ मे भारत और पाकिस्तान के युद्ध मे असलग्नता की नीति की उचित को एक बार फिर सही सिद्ध कर दिखाया गया। पाकिस्तान, सीटो और सेंटो जैसे शक्तिशाली सैनिक गुटो का सदस्य होने पर भी किसी से कोई प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त नहीं कर सका। टर्की और ईरान ने उसे सैनिक सहायता देने का आश्वासन दिया भी तो अन्य राज्यों के विरोध, जिसमे पश्चिमी राज्य भी सम्मिलित थे, के कारण पाकिस्तान की मदद पर आये नहीं। इस युद्ध में पाक दृष्टिकोण से यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिये गुटों मे सम्मिलित होने की नीति गलत है। बात यही तक सीमित नहीं रही। पाकिस्तान के बहुत बडे समर्थक सयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान दोनो पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये और यह घोषणा की कि जब तक दोनों पक्ष युद्ध बन्द नहीं कर देंगे तब तक उन्हे किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता नहीं दी जाएगी। स्पष्ट ही अमेरिका ने अपनी इस घोषणा द्वारा एक साथी राज्य और असलग्न राज्य को एक ही कोटि मे रखा। जब गुटो में सम्मिलित होने से पाकिस्तान को भी लाभ नहीं पहुच सका तो फिर भारत को लाभ पहुचने की क्या आशा की जा सकती थी। वास्तव मे देखा जाए तो यह असलग्नता की नीति का ही परिणाम था कि सकट की अवस्था में भारत को अनेक क्षेत्रों से पूरा समर्थन मिला और युद्ध के समय उसकी कूटनीतिक स्थिति किसी तरह कमजोर नहीं हुई। सुरक्षा परिषद मे युद्ध पर बहस के दौरान भी सोवियत सघ द्वारा उसे पर्याप्त समर्थन दिया गया। भारत पाक युद्ध ने असलग्नता की नीति की श्रेष्ठता को फिर सिद्ध कर दिया।

नेहरू की मृत्यु के बाद असलग्नता की नीति को नेहरू युग से भी अधिक सफलता प्राप्त हुई। साम्यवादी जगत और पश्चिमी ससार दोनों ही भारत के विचारों को और उसके असलग्नता की नीति को पसद करते रहे। २७ मई, १९६४ को उनकी मृत्यु के उपरान्त यह आशका व्यक्त की जाने लगी कि भारत अब असलग्नता की नीति का अवलम्बन सम्भवत: नहीं कर पायेगा। किन्तु उनके उत्तराधिकारी स्वर्गीय लालबहादुर शास्त्री ने भी स्पष्ट शब्दो मे बता दिया कि भारत के हक मे असलग्नता की नीति सर्वोत्तम है और वह उसका किसी भी दशा मे परित्याग नहीं करेगा। भारत पाक युद्ध के समय और बाद की घटनाओ ने इस मत की पुष्टि कर दी। भारत

की विदेश नीति का मूल्यांकन करते समय इस पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

जनवरी, १९६६ मे श्री शास्त्री की मृत्यु के बाद जब श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधान मन्त्री बनी तो उन्होंने भी यह घोषणा की कि भारत हर सूरत मे असंलग्नता की नीति का अनुसरण करेगा। अभी तक इन्दिरा प्रशासन ने इस नीति का पालन किया है। विभिन्न दबावों के बावजूद भी इन्दिरा-सरकार इस या उस गुट की ओर नहीं झुकी है। श्रीमती इन्दिरा गांधी ने समय-समय पर पश्चिमी राष्ट्रों की आलोचना की है और सोवियत रूस के पाकिस्तान के प्रति रवैये पर जिन स्पष्ट शब्दों मे भारत की नाराजगी प्रकट की है उनमे यह स्पष्ट है कि भारत किसी भी एक गुट से बंध कर अपने स्वतन्त्र विचारों को बाध नहीं सकता। शास्त्री और इन्दिरा सरकार ने भारत की विदेशी नीति को असंलग्नता की नीति पर भली प्रकार चलाते हुए भी उसे अधिक यथार्थवादी बनाया है। आज विदेश नीति के क्षेत्र मे पहले से अधिक यथार्थता और स्पष्टता दिखाई देती है। अमेरिका की नाराजगी के बावजूद वियतनाम मे भारत ने अपनी पहले की नीति जारी रखी है और चैकोस्लोवाकिया की घटना पर भारत रूसी कार्यवाही के विरुद्ध अपना गहरा क्षोभ प्रकट करने से नहीं चूका है। पाकिस्तान को शस्त्रास्त्र देने के प्रश्न पर भारत खुले शब्दों मे अपना क्षोभ प्रकट कर चुका है और यह सकेत दे चुका है कि रूस की यह कार्यवाही भारतीय हितो के लिए घातक है।

असंलग्नता के बदलते हुए रूप
(Changing Patterns of Non-aligament)

प्राय यह देखा गया है कि सिद्धान्त व्यवहार में परिणत होते समय कुछ भिन्न स्वरूप धारण कर लेता है। आज की तेजी से बदलती जटिल परिस्थितियों म व्यावहारिक रूप से असंलग्नता का वह स्वरूप नहीं रहा है जो हम सिद्धान्त रूप मे पढ़ते या सुनते हैं। विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक एव सैनिक दबावो ने अनेक तथाकथित असंलग्न राष्ट्रों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से गुट-विशेष के साथ बाध दिया है या उनकी नीतियां उस पक्ष मे झुक गई हैं। ऐसी प्रवृत्तियों और गतिविधियों को खोज निकालना कठिन नहीं है जो इस मत को बहुत कुछ पुष्ट करती हैं कि ये 'असंलग्न' (Non-aligned) राष्ट्र वास्तव में 'संलग्न' (Aligned) होते जा रहे हैं।

हम सर्वप्रथम संयुक्त अरब गणराज्य व सीरिया आदि अन्य अरब राष्ट्रों को ले सकते हैं जो अपने को असंलग्नता की नीति के प्रति निष्ठावान मानते हैं और असंलग्न राष्ट्रों की पंक्ति में बैठते हैं। लेकिन व्यवहारत: यह छिपा

नहीं है कि पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा समर्थित इजरायल के हाथों गम्भीर अपमानजनक पराजयों ने और इजरायल की निरन्तर बढ़ती हुई सैन्य शक्ति ने उन्हें विवश कर दिया है कि वे अपने सहायक सोवियत रूस के पक्ष में झुक जाये और उसका पूर्ण समर्थन प्राप्त करें। फिर भी इस खतरे के प्रति वे राष्ट्र सचेत हैं कि आर्थिक व सैनिक सहायता के माध्यम से कहीं सोवियत संघ इस क्षेत्र को 'लाल' न बनादे। कहने का आशय है कि इस क्षेत्र में एक प्रकार से 'सचेत व सावधान' गुटबन्दी का अखाड़ा है।

भारत के सम्बन्ध में भी, जो असंलग्न राष्ट्रों का सिरमौर है, आलोचकों का कहना है कि इसकी विदेश नीति को स्वतन्त्र व असंलग्न कहना एक भ्रान्ति है। महाशक्तियों के संघर्ष में प्रारम्भ में भारत सरकार, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर झुकती रही तो बाद में सोवियत रूस के पक्ष में। अरब-इजरायल सम्बन्धों के प्रति भी पूरी तरह अरबों का एकतरफा पक्ष लेकर भारत ने असंलग्नता की नीति के प्रति अपने विश्वास को धक्का ही पहुंचाया है। यहां हमारा लक्ष्य भारत की विदेश नीति का मूल्यांकन करना नहीं है, तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है कि असमंजस में पड़ कर भारत की विदेश नीति निरपेक्ष रहते से कभी-कभी विचलित जरूर हो गई लेकिन अस्पष्टता और सन्देह का कोहरा मिटते ही वह सही मार्ग पर आ गई। फिर यह भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति का मूल लक्ष्य अपनी सुरक्षा, समृद्धि और स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए देश के हितों की अभिवृद्धि करना होता है और इसीलिये कुछ अवसरों पर कूटनीति का आश्रय लेते हुए कतिपय ऐसे काम भी करने पड़ते हैं जिनसे लोगों को यह भ्रम पैदा हो सकता है कि विदेश नीति अपनी दिशा बदल रही है। भारत की असंलग्नता की नीति कतिपय अवसरों पर इसी प्रकार के भ्रम का शिकार बनी है। इसके अतिरिक्त यदि हम किसी राष्ट्र से अशर्त आर्थिक व सैनिक सहायता लेते हैं तो इससे हमारी असंलग्नता की नीति खण्डित नहीं होती।

वस्तु स्थिति यह है कि 'असंलग्नता' का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है और आज के जटिल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को देखते हुए यह कहना कठिन है कि कौन राष्ट्र निश्चित रूप से किस सीमा तक असंलग्न है। असंलग्नता अपने आदर्श रूप में सम्भवत कहीं भी विद्यमान नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बदलते हुए मोहरे भविष्य में असंलग्नता की नीति को कहाँ तक सफल व प्रभावी होने देंगे—यह नहीं कहा जा सकता।

१७

चीन और सोवियत रूस का संघर्ष

(SINO SOVIET CONFLICT)

सोवियत रूस और चीन संसार के दो महान् शक्तिशाली देश हैं जिनका पारस्परिक सम्बन्ध विश्व राजनीति को बहुत गहरे रूप में प्रभावित करने की क्षमता रखता है। साम्यवादी जगत के इन दो महान् राष्ट्रों में प्रारम्भ में बड़े मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे लेकिन शनैः शनैः कतिपय सैद्धान्तिक और राजनीतिक कारणों से दोनों के मध्य मत-भेद बढ़ते गये और आज इनका पारस्परिक संघर्ष अथवा मत-भेद विश्व राजनीति के लिए गहरे अध्ययन और रुचि की सामग्री बना हुआ है। हमारे लिए यह अपेक्षित होगा कि हम इन दोनों महान् देशों के पहले के मैत्रीपूर्ण पारस्परिक सम्बन्धों को जान लें और तब यह देखें कि दोनों के वर्तमान संघर्ष की पृष्ठभूमि क्या है और किन किन मसलों पर दोनों के मध्य तीव्र तनाव या मत-भेद हैं।

चीन में लम्बे गृह युद्ध के बाद १ अक्तूबर, १९४९ को वर्तमान साम्यवादी चीन के जनवादी गणराज्य की स्थापना हुई। च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार ने भागकर फारमोसा में शरण ली। आज भी इन दोनों चीनों—राष्ट्रवादी और साम्यवादी चीन का अस्तित्व है।

साम्यवादी चीन की स्थापना के तुरन्त बाद सोवियत रूस के साथ उसकी मैत्री तेजी से फलती फूलती गयी। माओत्सेतुंग ने अपने महान् जाति भाई रूस की यात्रा की और १४ फरवरी, १९५० को दोनों देशों के मध्य तीन सन्धियाँ हुईं—(i) ३० वर्ष के लिए मैत्री और पारस्परिक सन्धि, (ii) चांग-चुन रेलवे, पोर्ट आर्थर और डायरन से सम्बद्ध सन्धि (iii) ऋण सम्बन्धी

सन्धि। प्रथम सन्धि के द्वारा यह निश्चय किया गया कि आक्रमण की स्थिति में दोनों देश एक दूसरे की सहायता करेंगे। द्वितीय सन्धि द्वारा यह निश्चय हुआ कि सोवियत संघ चांग-चुंग रेलवे को चीन को सौंप देगा एवं पोर्ट आर्थर भी चीन को लौटा दिया जावेगा। तृतीय सन्धि के द्वारा रूस ने चीन को विशाल मात्रा में ऋण देना स्वीकार किया।

उपरोक्त सन्धियों के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त सोवियत रूस और चीन के सम्बन्ध कुछ वर्ष तक अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे। सितम्बर 1952 में चांग-चुंग रेलवे चीन को लौटा दी गयी। 1955 में पोर्ट आर्थर चीन को हस्तान्तरित कर दिया गया। इस अवधि में सोवियत संघ द्वारा चीन को दी जाने वाली वित्तीय, वाणिज्यिक और प्राविधिक सहायता में भी निरन्तर वृद्धि होती गयी। चीन का लगभग 70 प्रतिशत व्यापार रूस के साथ होने लगा जिसमें 1950 के बाद निरन्तर वृद्धि होती चली गई। 1954 में ही रूस ने चीन को अणुशक्ति उत्पादन में भी सहयोग देना स्वीकार किया परन्तु साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि चीन द्वारा अणु-परीक्षण रूस की पूर्व अनुमति [illegible] बिना नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त चीनी-रूसी मैत्री संगठन स्थापित किये गये। रूसी साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद करवाना भी आरम्भ हुआ।

राजनीतिक क्षेत्र में भी दोनों राष्ट्रों ने एक दूसरे के साथ काफी समय तक सहयोग से काम किया। सोवियत संघ ने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दिलाने के लिए निरन्तर प्रयास किया। 1954–55 में दोनों ही देशों ने पश्चिमी शक्तियों, विशेषकर अमेरिका द्वारा निर्मित प्रादेशिक सैनिक संगठनों की कटुतम आलोचना की। 1956–57 में दोनों ने मिस्र पर ब्रिटेन व फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हंगरी और पोलैण्ड में जब दक्षिण पन्थी दंगे हुए तब भी दोनों देशों में नियमित रूप से विचार विमर्श होते रहे। 1958 में टीटो के संशोधनवाद की कटु आलोचना भी दोनों ही देशों के द्वारा की गई। सोवियत संघ की भांति ही अन्य समाजवादी देशों के साथ चीन के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध कायम रहे।

परन्तु चीन और समाजवादी खेमे के अन्य देश—विशेषकर रूस के पारस्परिक सम्बन्ध अधिक समय तक मैत्रीपूर्ण नहीं रह सके। वास्तव में उनके सम्बन्धों में तनाव का बीजारोपण तो तब ही हो गया जब 1956 में सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी की 20वीं कांग्रेस की बैठक सम्पन्न हुई। इस कांग्रेस में भाषण करते हुए श्री ख्रुश्चेव ने दो बातें ऐसी कही थी जो कट्टरपन्थी मार्क्स-वादियों की समझ से परे थी और जिनसे साम्यवादी जगत में सैद्धान्तिक संघर्ष

को अकारण ही जन्म दे दिया। अभी तक समूचा साम्यवादी आन्दोलन यह मानता आया था कि जब तक पूंजीवाद व्यवस्था का अस्तित्व रहेगा तब तक संसार में युद्धों की अनिवार्यता भी बनी रहेगी। साम्यवादी आन्दोलन की यह भी मान्यता थी कि विभिन्न देशों में समाजवाद की स्थापना क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। परन्तु श्री ख्रुश्चेव ने परम्परागत इन दोनों मान्यताओं की उपेक्षा की और आणविक आयुधों के वर्तमान युग के लिए इन्हें असंगत बताया। उन्होंने कहा कि समाजवादी सेना आज इतना शक्तिशाली है कि किसी भी गैर-साम्यवादी देश को उस पर आक्रमण करने का दुस्साहस नहीं हो सकता, अतः यह कहना अनुचित है कि युद्ध अवश्यम्भावी है। इसी तरह क्रान्ति और सहअस्तित्व के सम्बन्ध में श्री ख्रुश्चेव ने कहा कि आज संसार के सभी देशों में जन-आन्दोलन इतने ताकतवर बन चुके हैं कि कुछ देशों में समाजवाद की स्थापना हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा नहीं बल्कि विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा हो और सम्भवतः संसदीय तरीके से हो सम्पन्न हो सकी है। श्री ख्रुश्चेव की ये दोनों स्थापनायें चीनी नेताओं के गले नहीं उतर सकीं। फलस्वरूप चीनी साम्यवादी पार्टी ने सोवियत नेताओं विशेषकर श्री ख्रुश्चेव पर सुधारवादी होने का आरोप लगाया और उनकी कटु आलोचना करना शुरू कर दिया।

सन् १९५६ के बाद दोनों देशों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाने के कारण दोनों के राष्ट्रीय हितों में भी क्लेश पैदा हो गया। साथ ही दोनों का सैद्धान्तिक संघर्ष भी पूर्वापेक्षा तीव्रतर हुआ। श्री ख्रुश्चेव द्वारा मास्को में रूसी साम्यवादी दल की सन् १९५९ में आयोजित कांग्रेस और १९६१ की २२वीं कांग्रेस में भी स्टालिन की तीव्र भर्त्सना एवं निन्दा की गई। श्री ख्रुश्चेव के इस स्टालिन विरोधी अभियान को विस्टालिनिकरण की संज्ञा दी गई। पीकिंग को रूस के नये नेताओं का यह व्यवहार बड़ा नागवार गुजरा। इसी तरह जब मास्को युगोस्लाविया को साम्यवादी भ्रातृत्व में वापिस बुलाने के लिए तत्पर हुआ तो चीन को बड़ा बुरा लगा। चीनी विदेश मंत्री श्री चेन यी ने युगोस्लाव पुनर्विचारवाद पर तीखा आक्रमण आरम्भ कर दिया—तीखा इसलिये क्योंकि चीनियों की दृष्टि में युगोस्लाव राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने अमेरिकावासियों के साथ सहअस्तित्व का इरादा जाहिर करके घोर अपराध किया था।

सोवियत रूस और चीन के मध्य मतभेदों की खाई निरंतर चौड़ी होती गई। सितम्बर, १९५९ में श्री ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा को चीन ने बहुत बुरा समझा इसीलिए श्री ख्रुश्चेव को, जब उन्होंने चीन की यात्रा की, पीकिंग में कोई विशेष स्वागत प्राप्त नहीं हुआ। श्री ख्रुश्चेव ने अपनी इस चीन यात्रा (१९५९ ई०) के दौरान इस बात पर बल दिया कि चाहे साम्यवादी कितने ही ताकतवर क्यों न हो जाएं, उन्हें पूंजीपति राष्ट्रों के विरुद्ध शक्ति का

प्रयोग करने से बचे रहना चाहिये। चीन के मार्क्सवादी नेताओं को श्री ख्रुश्चेव का यह कथन 'प्रतिक्रियावादी शक्तियों की प्रगतिवादी शक्तियों पर विजय के समान प्रतीत हुआ।' श्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका राष्ट्रपति आइजनहोवर की राजनीतिज्ञता की जो प्रशंसा की वह भी चीनवासियों के गले न उतर सकी। चीनियों को श्री ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा एक प्रकार का विश्वासघात लगी।

चीन और रूस के सम्बन्धों में तब और भी कटुता आई जब १९५९–६० में चीन के भारत के साथ चल रहे सीमा विवाद पर श्री ख्रुश्चेव ने यह आशा व्यक्त की कि दोनों देश अपने सीमा सम्बन्धी झगड़ों का शीघ्र ही कोई शान्तिपूर्ण हल खोज लेंगे। श्री ख्रुश्चेव ने चीन का कोई पृष्ठपोषण न करते हुए, उनकी मित्रता को लगभग वैसा ही दर्जा दिया जो भारत को। माओ, चाऊ और अन्य चीनी नेताओं को यह बड़ा बुरा लगा।

साम्यवादी चीन और सोवियत संघ में १९६० से विभिन्न प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद तीव्र होने लगे। साम्यवादी आन्दोलन को संसार भर में फैलाने के विषय में मतभेद पूर्वापेक्षा अधिक उग्र हुए। जून, १९६० में बुखारेस्ट में हुए रूमानिया कर्मचारी दल के तृतीय सम्मेलन के अवसर पर श्री ख्रुश्चेव ने अपने इस मत की पुनः पुष्टि की कि लेनिन का "पूंजीवाद के अधीन युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त" अब लागू नहीं होगा। दूसरी ओर चीनी प्रतिनिधि मण्डल के नेता ने घोषणा की कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है युद्धों का खतरा बना रहेगा। इसके बाद नवम्बर, १९६० में मास्को में साम्यवादी नेताओं का जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ उसमें भी रूसी-चीनी सैद्धान्तिक मतभेद और भी तेजी से उभर कर सामने आये। चीन रूस से इस कारण भी बहुत अधिक चिढ़ गया कि जुलाई, १९६० को रूस ने चीन की विकास योजनाओं में लगे समस्त सोवियत वैज्ञानिकों को तीन दिन का नोटिस देकर बुला लिया और यह रूसी कर्मचारी अपने साथ विकास योजनाएं व नक्शे तक ले गये। सोवियत संघ ने चीनी को सामग्री और मशीनें आदि भेजना भी बन्द कर दिया। दोनों देशों के बीच मतभेदों की यह खाई तब और भी अधिक चौड़ी हुई जब १९६१ में सोवियत साम्यवादी पार्टी का कार्यक्रम प्रकाशित हुआ जिसमें २० वर्ष की अवधि में सोवियत संघ में साम्यवाद की स्थापना का नारा दिया गया। इस कार्यक्रम में साम्यवाद का अर्थ वस्तुओं की प्रचुरता बताई गई। चीनी साम्यवादी पार्टी का कार्यक्रम में दी हुई साम्यवाद की यह व्याख्या अत्यन्त आपत्तिपूर्ण लगा। दोनों देशों के सम्बन्ध तब और भी अधिक कटु हुए जब १९६२ में सोवियत रूस ने भारत को

मिग-विमान देने तथा उनको बनाने के कारखानों में सहायता देने का समझौता किया। १९६२ में हुए क्यूबा संकट में अपनाई गई रूसी नीति ने भी चीनियों को बहुत रुष्ट किया। चीनी नेताओं ने आरोप लगाया कि क्यूबा के सम्बन्ध में सोवियत नीति आदि से अन्त तक गलत रही है। रूस ने पहले तो क्यूबा में अपने प्रक्षेपणास्त्र भेजे, किन्तु बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा युद्ध की धमकी देने पर उन्हें वापिस मंगा लिया। चीनी नेताओं ने कहा कि रूस का पहिला दोष 'दुस्साहस' का था और दूसरा कागजी शेर अमेरिकन साम्राज्यवाद के आगे 'घृणित आत्मसमर्पण' करने का। १९६२ में ही भारत पर चीन के आक्रमण के सम्बन्ध में रूसी नीति ने भी चीनियों को अप्रसन्न कर के अग्नि में घी का काम किया। दोनों दलों के मध्य सैद्धान्तिक मतभेदों की यह खाई बढ़ती ही गई। १४ नवम्बर, १९६२ को सोफिया में हुए बल्गेरियन साम्यवादी दल के सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि ने कहा कि "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के अतिरिक्त किसी भी नीति को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता।" चीनी प्रतिनिधि ने सोवियत सरकार के इस दृष्टिकोण की घोर निन्दा की।

जुलाई, १९६३ में रूस और चीन की साम्यवादी पार्टियों में वार्ता हुई ताकि परस्पर विचारधारा में सामंजस्य प्राप्त किया जा सके। किन्तु मास्को में हुई यह वार्ता पूरी तरह असफल हो गई और दोनों ही देशों के द्वारा एक दूसरे की कटु शब्दों में निन्दा की गई। रूसी नेताओं ने अपना यह स्पष्ट मत प्रकट किया कि पश्चिम के साथ युद्ध होने पर मानव जाति समूल नष्ट हो जाएगी जिसमें रूसी जनता और उसकी सम्पत्ति भी सम्मिलित है, अतः ऐसे विनाशक युद्ध की बात सोचना मूर्खतापूर्ण होगा। किन्तु इसके विपरीत चीन नेताओं का यह विचार बना रहा कि साम्राज्यवाद के सम्पूर्ण विनाश के लिए युद्ध अपरिहार्य है। उनकी (रूसी नेताओं की) विचार प्रणाली कुछ इस प्रकार की थी कि परमाणविक युद्धों से लड़ा गया तृतीय महायुद्ध अन्तिम रूप में अमेरिका और रूस को ही समाप्त करेगा, चीन को नहीं। अपनी विशाल संख्या के बल पर, महायुद्ध के बाद भी, चीन संसार की महानतम शक्ति बन रह जाएगा और तब संसार में साम्यवादी क्रान्ति का प्रश्न सुगम हो जाएगा।

२५ जुलाई १९६३ को मास्को में अमेरिका, रूस और ब्रिटेन ने एक अणु परीक्षण निरोध सन्धि पर हस्ताक्षर कर के आकाश, बाह्य अन्तरिक्ष और जल के नीचे अणु परीक्षण पर रोक लगा दी। किन्तु साम्यवादी चीन ने न केवल इस सन्धि का बहिष्कार ही किया बल्कि अपने इस कार्य को उचित ठहराते हुए सोवियत संघ पर यह आरोप लगाया कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मिलकर आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार कायम रखना चाहता है।

१९६३ तक दोनों देशों के बीच कटुता की एक गहरी और लगभग स्थायी खाई बन गई। फिर भी रूस ने जहा संयम से काम लिया वहा चीन सोवियत रूस के राजनीतिक व्यवहार, विचारधारा व अन्य नीतियों का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से कटुतम रूप में विरोध करने लगा। फलस्वरूप रूस को भी अपने बचाव के लिए खुल कर आगे आना पडा और इस तरह इन दोनो महारथियो का वाग्युद्ध सम्पूर्ण साम्यवादी जगत की एकता को गहरा आघात पहुचाने लगा।

१९६४–६५ के वर्षों में भी रूस और चीन के सम्बन्धो मे और बिगाड हुए। चीन रूस को पाश्चात्य देशो का अनुचर बताने लगा और उसने यह आरोप लगाया कि वह (रूस) अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्रो के साथ मिलकर विश्व साम्यवादी आन्दोलन की पीठ में छुरा भोकना चाहता है। अक्टूबर १९६४ मे श्री ख्रुश्चेव को अपदस्थ कर दिये जाने पर पीकिंग मे बडी खुशियाँ मनाई गई और यह आशा प्रकट की गई कि रूस के नये नेता शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को त्याग कर विश्व साम्यवादी आन्दोलन को बलपूर्वक आगे बढायेंगे। परन्तु जब रूस के नये प्रधानमन्त्री श्री कोसीगिन और राष्ट्रपति ब्रेजनेव ने पाश्चात्य देशों के साथ सहअस्तित्व की नीति का परित्याग नही किया तथा उसके साथ अपने विवादों को शांतिपूर्वक सुलझाने के मार्ग पर चलने का निश्चय किया तो चीनी नेताओं को बडी निराशा हुई और उन्होंने रूस के नये नेतृत्व पर भी उसी प्रकार के लाछन लगाये जिस प्रकार के वे श्री ख्रुश्चेव पर लगाते रहे थे।

रूस और चीन की तनातनी निरन्तर बढती गई। ख्रुश्चेव के पतन के बाद रूस बोल्शेविक क्रांति के ४७वें वार्षिक उत्सव मे भाग लेने के लिए चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई मास्को गये। उन्होंने अपने भाषण में सोवियत नेताओं से अपील की कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन की एकता के प्रयासों में रूस को चीन का साथ देना चाहिए। चाऊ-एन-लाई ने सोवियत नेताओं को चेतावनी भी दी कि उन्हें पश्चिमी देशों की साम्राज्यवादी चालों से सावधान रहना चाहिए। सोवियत नेताओं ने अपने जवाब में स्पष्ट कर दिया कि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धात में सोवियत रूस का विश्वास है और वह इस सिद्धात का परित्याग नही करेगा। चीनियों की कूटनीतिक चालें असफल हो गई और चाऊ-एन-लाई को निराश होकर पीकिंग लौटना पडा।

अगले वर्ष अक्टूबर, १९६५ में सोवियत संघ के क्रांति वार्षिकोत्सव के समय चीन ने सोवियत संघ के विरुद्ध जबरदस्त प्रचार आन्दोलन शुरू कर दिया। रूस के खिलाफ अनेक आरोप लगाये गये। यह भी कहा गया कि

अमेरिका और रूस अन्य देशों को सैनिक दृष्टि से कमजोर बना कर अपना प्रभुत्व कायम करना चाहते हैं।

सीमा संघर्ष—सोवियत संघ और साम्यवादी चीन के सैद्धांतिक मतभेद उग्रतर होते गये। दोनों देशों के बीच इतना मन मुटाव पैदा हो गया कि दोनों के बीच सीमा विवाद ने सीमा संघर्षों का रूप ले लिया। २ मार्च, १९६९ को पूर्वी एशिया में उसूरी नदी के टापू दमिस्क को लेकर दोनों देशों में सीधी सैनिक भिड़न्त हो गई। १५ मार्च को दोनों पक्षों में उसी टापू को लेकर फिर एक सैनिक मुठ-भेड़ हो गई। रूसी सूत्रों के अनुसार पहली झड़प में चीन के लगभग ३०० सैनिक मारे गये जब कि रूसी पक्ष के ३१ सैनिक मरे और १४ घायल हुए। रूस का एक कर्नल भी चीनी गोलियों का शिकार बना।

रूस और चीन के बीच होने वाले ये सशस्त्र सीमा संघर्ष इस बात का स्पष्ट संकेत करते हैं कि दोनों के बीच न केवल गहरे सैद्धान्तिक मतभेद ही हैं बल्कि गहरे सीमा विवाद भी हैं। दोनों देशों के बीच सैनिक भिड़न्त केवल एक निर्जन छोटे से द्वीप के लिए नहीं है बल्कि मध्य एशिया और पूर्वी यूरोप के विस्तृत भाग के लिए है। रूस और चीन की सामान्य सीमा लगभग ४५०० मील लम्बी है। इस सीमा का अधिकांश भाग मध्य एशिया के ऊंचे पहाड़ों पर मरुस्थलों से गुजरता है। रूसी क्षेत्र में कजाखस्तान, किरगिज और उज्बेग गणराज्य हैं तो चीनी इलाकों में सिंकियांग का प्रान्त है। पूर्वी एशिया में दोनों की सीमाओं का निर्माण आमूर और उसकी सहायक नदी उसूरी करती है।

रूस और चीन की वर्तमान सीमाओं का निश्चय रूस के जारों और चीन के मंचू सम्राटों के बीच हुई सन्धियों द्वारा हुआ था। ये सन्धियां १८५८ और १८६० में की गई थी। इन सन्धियों के फलस्वरूप चीन को लगभग ५ लाख वर्ग मील का विस्तृत क्षेत्रफल रूस को देना पड़ा था। साम्यवादी चीन का कहना है कि रूस ने चीन की तत्कालीन निर्बलता का लाभ उठाते हुए उस पर जबरदस्ती ऐसी सन्धियां लाद दी थी जिनके अनुसार उसे अपना विशाल भू-खण्ड देने के लिए बाध्य होना पड़ा था। दूसरी ओर रूस चीन के दावों को अस्वीकार करता है। सन् १९५७ में ख्रुश्चेव ने और बाद में वर्तमान रूसी प्रधान मन्त्री ने चीनी दावों को ठुकरा दिये हैं। रूस का कहना है कि पुरानी कितावों या पुरखों की हड्डियों के आधार पर इस प्रकार के दावों को नहीं माना जा सकता।

रूस ने कई बार सीमा के प्रश्नों को वार्ता द्वारा शान्तिपूर्वक हल करने के प्रस्ताव रखे हैं। हाल ही में ३ मई, १९६९ को मास्को द्वारा यह घोषणा

की गई थी कि रूस नदियों के सीमा विवाद को सुलझाने के लिए नई सीमा आयोग बुलाने को तैयार है। लेकिन चीन का रुख अड़ने वाली और दबाव का है। चीनी सीमा प्रदेश में रूस का कोई दावा नहीं है। दावा स्वयं चीन का है अतः रूस के अनुसार, भड़काने वाली कार्यवाहियां चीन ही कर रहा है। पहले तिब्बत और तब भारत के प्रति चीन का जिस प्रकार का रवैया रहा है और भारत के साथ चीन ने जोर जबरदस्ती का जो रुख अपनाया है उससे चीन के सीमा दावों के सम्बन्ध में विश्वास न किये जाने की बात स्वभावतः पैदा हो जाती है। फरवरी १९७० तक समय समय पर चीनी सोवियत प्रतिनिधियों की जो मुलाकातें हुई हैं, उनका इस दिशा में कोई उत्साहवर्धक फल नहीं निकला है।

अनेक राजनीतिक समीक्षकों का यह मत है कि सोवियत संघ से छोटी-मोटी झड़पें करके चीन अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहता है। वह पाकिस्तान और उत्तरी वियतनाम को बताना चाहता है कि चीन एक शक्तिशाली देश है और वे अपने हितों की रक्षा के लिए उस पर निर्भर रह सकते हैं। रूस चीन सीमा संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न करेगा, लेकिन इस बात में पूरा सन्देह है कि रूस चीन के साथ बड़े पैमाने पर टकराने का साहस कर सकेगा। रूस की अपार सैनिक शक्ति के सामने चीन अपनी निर्बलता को खुद भी अच्छी तरह समझता है।

चीन-सोवियत संघर्ष के कारण
(Causes of Sino-Soviet Conflict)

रूस और चीन दोनों देशों के संघर्ष के सम्बन्ध में विचारकों के अलग-अलग मत हैं। कुछ लोग इसे कृत्रिम और पश्चिमी राष्ट्रों को भुलावे में डालने वाला मानते हैं तो कुछ लोग इसे सैद्धान्तिक मतभेद न मानकर राजनीतिक शक्ति का प्रतीक बताते हैं। दूसरे विचारकों का मत है कि संघर्ष का कारण मुख्यतः दोनों देशों का आर्थिक और सामाजिक विकास तथा विश्व राजनीति में दोनों देशों का स्थान है। रोबर्ट ए० स्केलपिनो के मतानुसार इन दोनों महान् साम्यवादी देशों का वर्तमान संघर्ष तीन कारणों का परिणाम है—(१) संगठन, निर्णय प्रणाली और साम्यवादी गुट का नेतृत्व, (२) क्रान्तिकारी तरीके तथा बीसवीं शताब्दी के मध्य की विश्व राजनीति, एवं (३) अन्तर्गुट सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहायता का रूप।

दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध में दिन प्रति दिन जो कटुता आ रही है, जिस प्रकार दोनों एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगा रहे हैं और

जिस प्रकार दोनों के मध्य सीमा पर तनाव की स्थिति बनी हुई है, उस सबसे इसी धारणा को बल मिलता है कि इन दोनों देशों के मतभेद वास्तव में उग्र और गहरे हैं तथा अपने अपने सैद्धान्तिक पक्षों की आड में दोनों देश साम्यवादी जगत पर अपना अपना प्रभुत्व जमाने के लिये दृढ प्रतिज्ञ हैं। दोनों ही सैद्धान्तिक रूप से अपने अपने पक्ष में मार्क्स और लेनिन के मौलिक सिद्धान्तों की दुहाई देते हैं और एक दूसरे पर इन सिद्धान्तों से अलग हटने का आरोप लगाते हैं। चीन का विचार है कि सोवियत रूस के वर्तमान नेता मार्क्स के मौलिक सिद्धान्तों में परिवर्तन और संशोधन करने का जघन्य कार्य कर रहे हैं जबकि माओ और उसके सहयोगी विशुद्ध मार्क्सवादी और साम्यवाद के सुदृढ समर्थक हैं। दूसरी ओर रूसी नेता यह आवश्यक समझते हैं कि मार्क्सवाद को नवीन परिस्थितियों के यथार्थवादी विश्लेषण पर प्रतिष्ठित करना चाहिये। आज दोनों राष्ट्रों के मध्य संघर्ष के जो प्रधान सैद्धान्तिक और राजनीतिक कारण दृष्टिगत हो रहे हैं वे संक्षेप में ये हैं—

(१) दोनों देशों के मध्य पहला गंभीर सैद्धान्तिक संघर्ष युद्ध की अनिवार्यता पर है। लेनिन की मान्यता थी कि जब तक साम्राज्यवाद है तब तक युद्ध अनिवार्य है और केवल युद्ध से ही पूंजीवाद का विध्वंस किया जा सकता है। चीन का आरोप है कि सोवियत रूस ने लेनिन के इस सिद्धान्त को तिलांजलि दे दी है और वह युद्ध की अनिवार्यता के प्रश्न पर डगमगाने लगा है तो वह अस्तित्व की चर्चा करता है। इसके विपरीत सोवियत रूस का कहना है कि चीन आज के आणविक युग में युद्ध की अनिवार्यता का गीत गाकर पूर्ण विध्वंस को निकट लाने की बात कर रहा है। रूस का विचार है कि वर्तमान काल का आणविक युद्ध दोनों ही पक्षों के लिये इतना प्रबल विध्वंसकारी होगा कि इसमें न केवल साम्राज्यवादी वरन् साम्यवादी भी समाप्त हो जायेंगे। अतः आज की परिवर्तित परिस्थितियों में साम्यवाद की रक्षा के लिये पूंजीवाद के साथ शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति वाछनीय है। क्यूबा के प्रश्न पर अमेरिका की बात मानने का कारण स्पष्ट करते हुए रूस के प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव ने कहा था कि यदि उस समय पूंजीवादी जगत के साथ संघर्ष किया जाता तो पहले ही दिन सात करोड़ व्यक्ति नष्ट हो जाते। श्री ख्रुश्चेव और उनके सहयोगी सोवियत नेताओं ने बलपूर्वक यह मत अभिव्यक्त किया कि इस प्रकार के महाविनाश के तथ्य से आंख मूंदने वाले ही यह भ्रमपूर्ण युक्ति दे सकते हैं कि युद्ध समाजवाद के प्रसार में सहायक होगा। समाजवाद का निर्माण अणुबमों के विस्फोट में विध्वस्त भूमण्डल पर नहीं हो सकता है। रूस के सैद्धान्तिक पत्र "कम्युनिस्ट" में इस मत का समर्थन करते हुए वेल्याकोव और बुरलात्स्की ने लिखा था—

"आणविक आयुधों का उपयोग करने वाले विश्व युद्ध में, सैनिकों तथा असैनिक जनता में कोई मतभेद नहीं रह जायेगा। इस युद्ध का परिणाम सभ्यता के प्रधान केन्द्रों और सम्पूर्ण राष्ट्रों का पूर्ण विध्वंस होगा। यह युद्ध समस्त मानव जाति के लिये महान विपत्ति लाने वाला होगा, और केवल उन्मत्त व्यक्ति ही ऐसी विपत्ति को आमन्त्रित करने की इच्छा कर सकता है। यह स्पष्ट है कि आधुनिक आणविक युद्ध अपने आप क्रान्तियों को और समाजवाद की विजय को अधिक निकट लाने में सहयोगी सिद्ध नहीं हो सका। इसके विपरीत इस प्रकार का युद्ध तो मानव जाति को सम्पूर्ण प्रगति को क्रान्तिकारी श्रमिकों के आन्दोलन के विकास को और साम्यवाद के निर्माण के कार्यों को दसियों वर्ष पीछे धकेल देगा।"

(२) रूस और चीन के मध्य दूसरा सैद्धान्तिक झगड़ा आणविक युद्ध से सम्बन्धित है। चीन आणविक खतरे से भयभीत होना कायरता समझता है। चीन की मान्यता है कि प्रथम महायुद्ध ने रूसी क्रान्ति को जन्म दिया था, द्वितीय महायुद्ध ने चीनी क्रान्ति को जन्म दिया और तीसरा महायुद्ध जो आणविक युद्ध होगा, सम्पूर्ण संसार से पूंजीवाद का विनाश करके साम्यवाद को सफल बनायेगा। युद्धोन्मादी माओ और उनके साथियों का विचार है कि चीन को अणु युद्ध से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। इसमें उनके दो तर्क हैं—पहला तर्क यह है कि चीनी जनता रूस और पाश्चात्य देशों की भांति ही विशाल कारखानों वाले कुछ बड़े शहरों में केन्द्रित न होकर देहातों व ग्रामीण क्षेत्रों में फैली हुई है। अणुबम सघन आबादी वाले नगरों को ही अधिक क्षति पहुँचा सकते हैं। दूसरा तर्क यह है कि चीन संसार की विशालतम जनसंख्या वाला देश है, अतः आणविक युद्ध में चीन की सम्पूर्ण जनता नष्ट नहीं हो सकेगी। चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई के कथनानुसार "चीन की ७० करोड़ जनता में से ३३ करोड़ बच जाएगी और यह आणविक युद्ध के मलबे से एक सुन्दर समाजवादी समाज का निर्माण करेगी।" पर चीनी नेताओं का यह विचार रूस को स्वीकार नहीं है। रूसी नेताओं का यह निश्चित मत है कि आणविक युद्ध से नवीन समाज का निर्माण नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो पूर्णतः विध्वंसात्मक होगा, इसके अतिरिक्त श्रमिक जनता का उद्देश्य शानदार तरीके से मरना नहीं वरन् नया सुखपूर्ण जीवन का निर्माण करना है। सोवियत रूस आणविक युद्ध को टालने में ही समाजवाद का कल्याण देखता है और इसीलिये चीन के युद्धोन्माद को अनुचित और विध्वंसकारी मानते हैं।

(३) रूस और चीन में तीसरा गम्भीर मतभेद क्रान्ति के सिद्धान्त के बारे में है। चीनियों का लेनिन के सिद्धान्तों में विश्वास है कि समाजवाद

लाने के लिये क्रान्ति अनिवार्य है तथा क्रान्ति मे व सशस्त्र युद्ध मे साम्यवादियों को शासन सत्ता बलपूर्वक छीन लेनी चाहिये। चीनियो का यह कहना है कि प्रत्येक तरीके से विश्व मे क्रान्ति का प्रसार किया जाना चाहिये। माओ की मान्यता है कि क्रान्ति के प्रसार म चीनी अनुभव विशेष रूप से उपयोगी है और वह यह है कि सशस्त्र संघर्ष तथा छापामार युद्ध का आश्रय लेना चाहिये और बुर्जुआ वर्ग के साथ मिलकर कोई सरकार नही बनानी चाहिये। माओ का सोवियत नेताओं पर यह आरोप है कि उन्होंने क्रान्ति के विचार को विस्मृत कर दिया है और वे क्रान्ति की अपेक्षा शांति और आर्थिक विकास को महत्व देने लगे हैं। माओ के अनुसार क्रान्ति मे इस प्रकार का पलायन मार्क्सवाद लेनिनवाद को पीछे हटाना है और साम्यवादी आदर्श को भुलाना है। इसके विपरीत रूस की मान्यता है कि साम्यवाद शान्तिपूर्ण साधनों से भी आ सकता है। सोवियत नेताओं का कहना है कि बीसवी शताब्दी के मध्य से विश्व राजनीति मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन आरम्भ हो गये हैं और साम्यवाद को प्रजातन्त्रात्मक तरीकों से लिया जा सकता है। विभिन्न देशों की संसदो के राजनीतिक दलो के साथ गठबन्धन करके भी साम्यवादी शासन स्थापित किया जा सकता है, जैसा कि १९४८ में चैकोस्लोवाकिया मे हुआ था। रूस का मत है कि क्रान्ति केवल सशस्त्र साधनों से ही हो, यह आवश्यक नहीं है। क्रान्ति शांतिपूर्ण साधनों से भी लाई जा सकती है। मार्क्सवाद लेनिनवाद की सच्ची शिक्षा यही है कि साम्यवादियो को क्रान्ति लाने के लिये हिंसक और अहिंसक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग समय व आवश्यकतानुसार करना चाहिये। अत आज के परिवर्तित विश्व मे, जब कि सम्पूर्ण मानव जाति अणु युद्ध के कगार पर बैठी है, क्रान्ति के अहिंसक साधनो को ही अपनाया जाना चाहिये।

(४) दोनों देशों म चौथा विवाद नि शस्त्रीकरण के बारे में है। हिंसावाद का पुजारी और युद्ध का घोर समर्थक चीन नि शस्त्रीकरण का विरोधी है। इसीलिये वह रूस द्वारा अमेरिका के साथ की गई अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि का कटु आलोचक है। लेकिन रूस का कहना है कि अणु शस्त्रों की दौड़ एक दिन सम्पूर्ण मानव जाति को नष्ट कर देगी और साम्यवादू या गैर साम्यवादू कोई भी नहीं बच पायेगा। अत नि शस्त्रीकरण के मार्ग पर बढ़ना आज की परिस्थितियों की माग है।

(५) दोनों देशों के मध्य पाचवा झगड़ा सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के बारे म है। चीन का आरोप है कि सोवियत समाज पूजीपति बनता जा रहा है, क्योंकि उसमे उत्तम और उच्च जीवन स्तर पर बल दिया जा रहा है। इस प्रकार वह सशस्त्र क्रान्ति का नेतृत्व करने मे सक्षम नहीं हो सकता।

आज का रूस सर्वहारा वर्ग का नेतृत्व करने का दावा नहीं कर सकता। चीन के आरोप से पूर्णतः असहमति प्रकट करते हुए रूस का कहना है कि क्रान्ति का संदेश यह नहीं है कि पेट पर पट्टी बांधना अनिवार्य है। यदि मजदूर अच्छा जीवन बिताते हैं तो इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे पूंजीपति बन जाते हैं। आखिर जीवन को दशाओं को उन्नत करना साम्यवाद का उद्देश्य है ही। चीनियों के निम्न जीवनस्तर पर व्यंग करते हुए रूसियों का कहना है कि "रस्सियों का बना हुआ जूता पहिनना और एक साधारण प्याले में अत्यन्त पतला शोरबा पीना ही तो साम्यवाद नहीं है।"

(६) मास्को और पेकिंग में छठा मतभेद 'व्यक्ति पूजा' का है। ख्रुश्चेव ने स्टालिन द्वारा रूसी जनता पर किये गये अत्याचारों का पर्दाफाश करते हुए बताया था कि उसे देवता तुल्य बनाने से और उसकी पूजा करने से रूस की जनता को कितनी यातनायें और हानियां उठानी पड़ी थी। इसीलिये ख्रुश्चेव ने व्यक्ति पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व पर बल देते हुए स्टालिन की निन्दा का अभियान आरम्भ किया। रूस के वर्तमान नेता भी व्यक्ति पूजा के स्थान पर सामूहिक नेतृत्व का परिचय देते रहे हैं। चीन सोवियत रूस के इस कार्य को लज्जाजनक और अत्यन्त अनुचित बात मानता है। चीन का मत है कि स्टालिन भी माओ के साथ आराध्य देव है। चीन व्यक्ति पूजा के सिद्धान्त में आस्था रखता है और यह स्वाभाविक है क्योंकि माओ अपने आपको संसार का महान् योग्यतम, महानतम और आदर्शतम महापुरुष मानता है। आज माओ ही चीन का भगवान, उसका आराध्य देव है।

(७) मास्को से पेकिंग के संघर्ष का एक बड़ा कारण यह भी है कि चीन की आन्तरिक स्थिति अशान्त है। माओ त्से तुंग को चीन में अपने विरोधियों से जीवन-मरण का संघर्ष करना पड़ रहा है। अतः वह रूस के साथ सीमा-विवाद छेड़ कर और यदा-कदा सैनिक संघर्ष करके अपने देशवासियों का ध्यान इस ओर बटाना चाहता है। साथ ही सोवियत विरोधी प्रचार के नाम पर उसे अपने आन्तरिक शत्रुओं का सफाया करने का अवसर भी मिल रहा है।

(८) दोनों देशों के बीच संघर्ष का सबसे बड़ा और आधारभूत कारण यह है कि साम्यवादी चीन साम्यवादी जगत में रूसी नेतृत्व को चुनौती देना चाहता है। उसका उद्देश्य है कि अकेला रूस साम्यवादी जगत का एकमात्र नेता न रहे अल्बानिया,आदि साम्यवादी देशों को उसने अपने पक्ष में कर लिया

है। उसे साम्यवादी विश्व मे फूट की दरार डालने में सफलता मिल चुकी है। सोवियत रूस उसकी इन गतिविधियों से परेशान है।

(६) चीन के शत्रुतापूर्ण रवैये को देख कर रूस इस बात से चिन्तित है कि अणुशक्ति का प्रभावी विकास कर लेने पर रूस के लिये उसकी ओर से जबरदस्त खतरा पैदा हो जायगा। अत रूस की सुरक्षात्मक तैयारियो और सैनिक व्यूह रचना ने एक नया मोड ले लिया है।

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि मास्को और पेकिंग आज एक दूसरे के विपरीत चल रहे हैं। पर साम्यवादी चरित्र के विरोधाभास की पृष्ठ-भूमि मे सोवियत रूस का विचार है यह कहना कठिन है कि दोनो के सम्बन्ध भविष्य मे निश्चित रूप से क्या मोड लेंगे।

१८

आणविक शस्त्रों का प्रभाव, द्वि-ध्रुवीयता और बहुकेन्द्रवाद

(IMPACT OF NUCLEAR WEAPONS, BIPOLARITY AND POLYCENTRISM)

अणु शस्त्रों का प्रभाव
(Impact of Nuclear Weapons)

द्वितीय महायुद्ध के अन्तिम चरण में अगस्त, १९४५ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर अणु बम गिराकर सम्पूर्ण विश्व को आणविक शस्त्रों की विनाशकारी शक्ति से दहला दिया। उस समय एकमात्र संयुक्त राज्य अमेरिका ही अणु शक्ति का स्वामी था। लेकिन यह स्थिति अधिक समय तक नहीं बनी रही। विश्व की दूसरी महा-शक्ति सोवियत रूस ने यह समझ लिया कि यदि आणविक शस्त्रों के क्षेत्र में अमेरिका ही एक छत्र स्वामी बना रहा तो उसके अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव को भविष्य में चुनौती देना असम्भव हो जायेगा। आणविक शक्ति से सम्पन्न अमेरिका का भय विश्व के राष्ट्रों को इतना आतंकित करता रहेगा कि वे एक-एक करके पूरी तरह अमेरिका के प्रभाव क्षेत्र में आते जायेंगे। इतना ही नहीं, साम्यवाद के प्रसार का मार्ग भी बड़ा अवरुद्ध हो जायेगा।

स्वाभाविक था कि उपरोक्त परिस्थिति ने सोवियत रूस को चिन्तित कर दिया। वह भी प्राणपण से अणु-शक्ति का स्वामी बनने की चेष्टा करने लगा और शीघ्र ही उसने इस क्षेत्र में अमेरिका के एकाधिकार को समाप्त

कर दिया। युद्ध समाप्ति के बाद केवल चार वर्षों में ही उसने अणु-बम के रहस्य का पता लगा लिया, इसके बाद तो आणविक शस्त्रास्त्रों के निर्माण की भयानक होड़ लग गई। ब्रिटेन और फिर फ्रांस भी अणु-शक्ति के स्वामी बन गये। साम्यवादी चीन भी पीछे लगा। प्रारम्भ में बहुत कुछ सोवियत सहायता के बल पर और बाद में अपने प्रयत्नों से उसने अद्भुत आणविक शस्त्र-निर्माण क्षमता पैदा करली और आज विश्व की दोनों महा शक्तियां इस क्षेत्र में उसकी बढ़ती हुई क्षमता से चिन्तित हैं।

आणविक शस्त्रों ने प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उथल-पुथल मचाना शुरू कर दिया। इन्हीं के फलस्वरूप विश्व की दो महा शक्तियों के बीच पारस्परिक अविश्वास विकसित हुआ जिससे शीत-युद्ध (Cold war) को प्रोत्साहन मिला। आणविक शक्ति से सम्पन्न होने की लालसा ने शस्त्रीकरण की ऐसी विनाशकारी प्रतियोगिता को जन्म दिया जो आज सम्पूर्ण मानव जाति के लिए बारूद का ढेर बनी हुई है। विश्व के राजनीतिज्ञ और सैन्य-विशारद इस बात से आतंकित हैं कि तृतीय महायुद्ध यदि छिड़ा तो अणु आयुधों के प्रयोग से वह इतना विनाशकारी होगा कि युद्ध के बाद विजेता और विजित में कोई फर्क नहीं होगा। इतना ही नहीं सम्पूर्ण मानव जाति का अधिकांश भाग नष्ट और विभिन्न कु-प्रभावों से ग्रस्त हो जायेगा।

आणविक शस्त्रों का प्रभाव शुरू से ही राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रभाव डालने लगा और समय के साथ साथ उसने विश्व की महा शक्तियों के लिए राजनीतिक प्रभाव के नये द्वार और कूटनीति के नये आकर्ष खोल दिये। साम्यवादी जगत में भी आणविक शस्त्रों ने संघर्ष के तत्वों को प्रोत्साहित किया। एशिया और अफ्रीका के देश भी आणविक कूटनीति के प्रभाव से न बच सके। विश्व के अनेक देशों की सैनिक व्यूह रचना बदल गई। अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था पर भी आणविक शस्त्रों के विपुल व्यय ने और इससे प्रभावित कूटनीति के नये पैंतरों ने प्रभाव डाला।

इस प्रकार आणविक शस्त्र अपने जन्म के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और सम्बन्धों को प्रभावित करने लगे, तेजी से यह प्रभाव क्षेत्र बढ़ता गया और आज तो स्थिति यह है कि सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक किसी न किसी रूप में आणविक शस्त्रों के प्रभाव से आक्रान्त है। विस्तार और स्पष्टता के लिए यह उपयुक्त होगा कि हम अणु आयुधों के प्रभाव का पृथक पृथक रूप से विवेचन करें :—

(१) आणविक शस्त्रों का सबसे पहला प्रभाव यह हुआ कि विश्व की दो महा शक्तियों संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस में फूट की जड़ें

प्रारम्भ से ही निरन्तर गहरी होती गई। अमेरिका ने अणु-बम के आविष्कार की सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा जब कि ब्रिटेन और कनाडा को इस बात का पता था। जब अणु-बम का प्रयोग जापान पर किया गया तो उससे केवल हिरोशिमा का ही विनाश नहीं हुआ अपितु रूस और पश्चिमी राष्ट्रों की युद्धकालीन मैत्री भी टूट गई। स्टालिन ने अमेरिका द्वारा अणु-बम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने की बात को परस्पर गम्भीर विश्वासघात माना। उसे इस घटना से व्यक्तिगत रूप से भी बड़ा दुख हुआ। परिणामस्वरूप रूस और अमेरिका में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया और दोनों ही देश एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखने लगे।

(२) रूस अणु-शक्ति पर अमेरिका के एकाधिकार को अपने लिए और सम्पूर्ण साम्यवादी जगत के लिए एक भारी खतरा मानने लगा। अतः उसने अपनी सम्पूर्ण बुद्धि और सामर्थ्य अणु-बम के निर्माण में लगादी। चार वर्षों के अल्प-काल में ही सन् १९४९ में उसने अणु-बम के रहस्य का पता लगा लिया। अब अमेरिका और रूस दोनों ही देश गुप्त रूप से वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार की होड़ में लग गये। दोनों ही राष्ट्र अणु शक्ति की दृष्टि से अधिकाधिक सम्पन्न हो कर विश्व राजनीति को अपनी ओर मोड़ने के प्रयत्नों में लग गये।

(३) अणु-शक्ति जनित सन्देह और अविश्वास ने द्वितीय महायुद्ध के बाद शीत-युद्ध को बहुत अधिक प्रोत्साहित किया। सम्मेलनों और पारस्परिक विचार-विमर्श पर किसी न किसी रूप में आणविक शस्त्रों का प्रभाव छाया रहा। पश्चिमी देशों और रूस में संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर अणु शक्ति के नियन्त्रण व नियमीकरण, निःशस्त्रीकरण, यूरोपीयन सुरक्षा समस्या आदि प्रश्नों पर तीव्र वाद-विवाद और कूटनीतिक संघर्ष चला जो आज भी यथापूर्व विभिन्न उतार-चढ़ावों के साथ जारी है। निःशस्त्रीकरण और शीतयुद्ध के क्षेत्र में आणविक अस्त्रशस्त्रों का प्रभाव कितना आच्छादित रहा और आज भी इन क्षेत्रों में अणु-शक्ति अपना कितना आतंक जमाये हुए है, इसका स्पष्ट चित्र 'शीत युद्ध' और 'निःशस्त्रीकरण' के पिछले अध्यायों में चित्रित किया जा चुका है।

(४) अणु-शस्त्रों की प्रलयकारी शक्ति और अणु-युद्ध से मानव-सभ्यता के विनाश के भय ने सह-अस्तित्व की धारणा को आज पूर्वापेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक बना दिया है विश्व की दोनों ही महाशक्तियां, पारस्परिक सन्देह और अविश्वास के बावजूद, यह भली प्रकार समझ चुकी हैं कि अणु युद्ध में हार और जीत का कोई महत्त्व नहीं रहेगा क्योंकि विजेता देश भी

उतना ही नष्ट हो जायेगा जितना विजित देश। अतः, अणु-युद्ध की निरर्थकता में सैद्धान्तिक रूप से विश्वास करते हुए दोनों ही देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में यथासम्भव ऐसा कठोर मार्ग ग्रहण करने से बचने की कोशिश करने लगे हैं जिससे कोई व्यापक युद्ध भड़क उठने की सम्भावना हो। सह-अस्तित्व के महत्व को आज विश्व के राष्ट्र पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं। स्टालिन युग के बाद सोवियत विदेश नीति भी इसी तरह संचालित होने लगी है जिससे शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की सम्भावनाएं अधिक प्रबल हुई हैं। रूसी और पश्चिमी दोनों ही गुट यह मानने लगे हैं कि आज के अणुयुग में साम्यवाद व पूंजीवाद में सह-अस्तित्व की बात करना ही विवेकपूर्ण है।

कोरिया, क्यूबा, वियतनाम, स्वेज आदि की घटनाएं सिद्ध करती हैं कि आणविक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के भय ने महाशक्तियों को कितना नियन्त्रित किया है। कोरियाई युद्ध में अमेरिका ने अणुबम का प्रयोग इसीलिये नहीं किया कि रूस का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप हो जायगा और अणु-युद्ध का विस्फोट न केवल साम्यवादी वरन् पूंजीवादी खेमे को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। अणु-युद्ध के भय ने ही कोरियाई युद्ध को स्थानीय और सीमित क्षेत्रीय युद्ध का रूप दिये रखा।

स्वेज काण्ड के समय ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल की सैनिक-योजनाएँ इसीलिये मिट्टी में मिल गईं कि रूस की ओर से आणविक प्रक्षेपास्त्रों के प्रयोग की धमकी दी गई। अणु-आयुधों के सम्भावित प्रयोग की चेतावनी मात्र ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत में खलबली मचादी और ब्रिटेन व फ्रांस को अपने कूटनीतिक व सैनिक पैंतरे बदल कर स्वेज से हट जाना पड़ा। इस प्रकार स्वेज का राष्ट्रीयकरण पूरा हुआ और अरब राजनीति अरबों के वश में आ गई। ब्रिटेन के हट जाने से हुई रिक्त-शून्यता को भरने के लिए अमेरिका व रूस में होड़ शुरू हो गई और आज लगभग समूचा मध्यपूर्व इन दोनों महाशक्तियों के प्रभाव क्षेत्र में बटा हुआ है। इन कूटनीतिक अखाड़ों ने सम्पूर्ण मध्यपूर्व को अशान्त बना रखा है।

क्यूबा प्रश्न पर भी आणविक आयुधों के प्रभाव ने अपनी पूरी छाप डाली। अमेरिका की बात मानने का कारण स्पष्ट करते हुए तत्कालीन सोवियत प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने कहा कि यदि उस समय पूंजीवादी जगत के साथ संघर्ष किया जाता तो पहले ही दिन सात करोड़ व्यक्ति नष्ट हो जाते। उन्होंने और उनके सहयोगियों ने बलपूर्वक कहा कि इस प्रकार के महाविनाश के तथ्य से आँख मूंदने वाले ही यह मूर्खतापूर्ण युक्ति दे सकते हैं कि युद्ध समाजवाद के प्रसार में सहायक होगा। साम्यवादी नेताओं ने घोषणा की कि

समाजवाद का निर्माण अणुबमों के विस्फोट से ध्वस्त भू मण्डल पर नहीं हो सकता।

वियतनाम युद्ध भी आणविक युद्ध के भय से विश्वव्यापी युद्ध का रूप धारण करने से बचा रहा और सौभाग्यवश अब वह शनैः शनैः शिथिल पड़ता जा रहा है।

(५) आणविक-शक्ति सम्पन्नता के बल पर प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की इच्छा ने ही साम्यवादी जगत के दो महान राष्ट्रों रूस और चीन म मतभेदों व वैमनस्य की खाई को चौड़ा कर दिया। आज चीन साम्यवादी जगत पर सोवियत नेतृत्व को चुनौती दे रहा है और रूस को पूरा भय है कि विशाल जनसंख्या वाला चीनी अजगर आणविक विष से सम्पन्न होकर निकट भविष्य में रूस के लिये एक भारी खतरा बन जायगा। आणविक शक्ति के रूप में चीन के उदय ने और नेतृत्व व प्रभाव के चीनी मन्सूबों ने दो ध्रुवीयता (Bipolarity) के अन्त की दिशा में प्रभावकारी भूमिका अदा की है।

(६) आणविक शस्त्रास्त्रों के प्रश्न ने अनेक एशियाई राष्ट्रों की विदेश नीति और सामरिक नीति को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। विश्व की अणुशक्ति सम्पन्न शक्तियों का प्रयत्न और आग्रह है कि अणु-शस्त्र विहीन राष्ट्र ऐसे शस्त्र बनाने का प्रयत्न न करें। वे चाहते हैं कि ये राष्ट्र परमाणु शक्ति का विकास केवल असैनिक कार्यों के लिये करें। लेकिन विडम्बना यह है कि परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्र परमाणु अस्त्रधारी राष्ट्र के आक्रमण की सूरत में उसके बचाव की व्यवस्था का कोई ठोस आश्वासन या समाधान नहीं है। स्पष्ट है कि इस परिस्थिति ने परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्रों की आशंकाओं और सन्देहों को बढ़ा दिया है। इसीलिये कुछ राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था और विदेश नीति को इस तरह मोड़ देने को प्रयत्नशील हैं कि वे या तो स्वयं अणु आयुधों का निर्माण कर सकें या ऐन-केन-प्रकारेण उन्हें प्राप्त कर सकें। भारत यद्यपि अणु आयुधों का निर्माण न करने का निश्चय व्यक्त कर चुका है किन्तु उसने १९६८ की परमाण्विक आयुध प्रसार प्रतिबन्ध संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया है। अणुशक्ति सम्पन्न चीन के सम्भावित खतरे और पाकिस्तान चीन के नापाक गठजोड़ को देखते हुए इस सम्भावना को ठुकराया नहीं जा सकता कि भारत सरकार अणु-आयुध न बनाने की अपनी नीति पर पुनर्विचार के लिये तैयार हो जाय। देशी और विदेशी पर्यवेक्षकों की धारणा है कि भारत ने परमाणु अस्त्रों के निर्माण की समस्या पर सक्रिय रूप से सोचना शुरू कर दिया है और अधिक समय तक जनमत की उपेक्षा करना उसके लिये सम्भव नहीं होगा। मध्यपूर्व की राजनीति

व सामरिक व्यूह-रचना पर भी अणु-आयुधों की काली छाया पड़ रही है। इजरायल द्वारा अणुबम के निर्माण की ओर तेजी से अग्रसर होने की सूचनाएँ मिल रही हैं जिसका प्रभाव अरब राष्ट्रों की सैनिक व कूटनीतिक पैंतरेबाजी पर पड़ना स्वाभाविक है। इजरायल की सैनिक शक्ति का भय संयुक्त अरब गणराज्य, सीरिया आदि को रूस के साथ पहले ही बान्धे हुए है, किन्तु उसकी सम्भावित अणुशक्ति का भय यदि उन्हें सोवियत खेमे में पूरी तरह आ जाने को बाध्य करदे तो कोई आश्चर्य नहीं होगा।

(७) आणविक शस्त्रास्त्रों ने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत में असुरक्षा, अविश्वास, सन्देह और तनाव का वातावरण पैदा किया है जो नाटो, वारसा पैक्ट, आदि अनेक सैनिक संगठनों के जन्म में सहायक हुआ है। एक-दूसरे पर परमाणविक आक्रमण के भय से सोवियत रूस और अमेरिका ने सामूहिक सुरक्षा व्यवस्थाओं को जन्म दिया है अपने-अपने पक्ष के देशों में अणु-आयुध सम्पन्न सैनिक केन्द्र स्थापित किये हैं। इससे उन देशों की आन्तरिक राजनीति और प्रभुसत्ता भी बड़ी सीमा तक प्रभावित हुई है। पराये देश में अपने आणविक केन्द्र स्थापित करने के लिये शक्तिशाली देशों ने उस देश को विशाल आर्थिक और सैनिक सहायता देकर अपना पिछलग्गू बनाने के सफल प्रयास किये हैं। उदाहरणस्वरूप पाकिस्तान में अमेरिका नियन्त्रित गिलगित हवाई अड्डे की ओर इस आधार पर पाकिस्तान-अमरीकी सम्बन्धों की कहानी दुहराना अनावश्यक है।

सारांश यह है कि आणविक शस्त्रास्त्रों ने आधुनिक राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक नीति को प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में कम या अधिक प्रभावित अवश्य किया है।

द्वि-ध्रुवीयता (द्वि-केन्द्रीयता) एवं बहु केन्द्रवाद (Bipolarity and Polycentrism)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की भाषा में द्वि-ध्रुवीयता अथवा द्वि-केन्द्रीयता का सरलतम अर्थ है—विश्व का दो शक्ति-गुटों या केन्द्रों में विभाजित हो जाना। इसी प्रकार बहुकेन्द्रवाद का आशय है—विश्व में शक्ति के केवल मात्र दो केन्द्रों की अपेक्षा शक्ति के अनेक केन्द्रों का उदय हो जाना। द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद विश्व द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) की ओर बढ़ा और १९६० के आते-आते इस द्वि-ध्रुवीयता के बन्धन शिथिल पड़ने लगे। अब विश्व शनैः-शनैः बहु केन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर अग्रसर होने लगा। आज स्थिति यह है कि विश्व में शक्ति के दो से अधिक केन्द्र स्पष्ट रूप से प्रकट हो चुके हैं, यद्यपि उनका स्वरूप सुनिश्चित नहीं हुआ है। अग्रिम

पंक्तियों में हम क्रमश: दोनों ही स्थितियों को अर्थात् द्वि-ध्रुवीयता और बहु-केन्द्रीयता को सविस्तार प्रकट करेंगे।

द्वितीय महायुद्ध का एक अत्यन्त क्रांतिकारी और महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि प्राचीन शक्ति-संतुलन का पूरी तरह विनाश हो गया। युद्ध के उपरान्त दो प्रमुख फासिस्ट शक्तियां जर्मनी और इटली पूर्ण पराभव को पहुँच गईं। ब्रिटेन राजनीतिक, आर्थिक और सामरिक दृष्टि से बहुत छोटा हो गया। यूरोपीय महाद्वीप पर यदि कोई देश युद्धकालीन महान् क्षतियों के बावजूद भी शक्तिशाली होकर निकला तो वह था सोवियत संघ। उसको विशाल प्रदेशों की उपलब्धि हुई और अनेक पड़ोसी देशों पर उसकी आर्थिक नीतियों का प्रभाव पड़ा। युद्ध काल में तो उसने अपनी सीमाओं का पश्चिम में विस्तार कर ही लिया, अब उसके सीमान्तों में वे सम्पूर्ण प्रदेश भी शामिल हो गये जो किसी समय जार कालीन रूस में हुआ करते थे। उसका विश्व की राजनीति पर दूरगामी प्रभाव स्थापित हो गया और साम्यवादी सिद्धान्तों तथा जीवन-दर्शन में मानव की आस्था में वृद्धि हो गई। महायुद्ध से विनष्ट और अस्त-व्यस्त संसार में केवल एक ही देश ऐसा बचा जो सोवियत संघ का मुकाबला करने में सक्षम था और लोकतन्त्रवादी शक्तियों को समर्थ नेतृत्व दे सकता था। यह देश था संयुक्त राज्य अमेरिका जिसे युद्ध में कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची थी, न विनाशकारी बम वर्षा का शिकार होना पड़ा था और न जिसकी भूमि पर रक्त रंजित होली ही खेली गई थी। आर्थिक दृष्टि से वह संसार का समृद्धतम देश था। युद्ध के बाद संसार के सभी पूंजीवादी देश अमेरिकन सहायता के बल पर अपनी अर्थ-व्यवस्था को ठीक रास्ते पर लाने की आशा लगाये बैठे थे।

महायुद्ध के बाद कुछ काल तक संयुक्त राज्य अमेरिका ही अणु रहस्य का एक मात्र स्वामी था। सोवियत रूस के लिए यह एक गम्भीर चुनौती थी। स्वाभाविक था कि वह शक्ति-सन्तुलन को अपने विपक्ष में जाने से रोकने के लिए अणु-शक्ति के रहस्य का पता लगाने में जुट जाता और अपने देश की सेनाओं को अपने सहयोगी और मित्र राष्ट्रों से घेरकर सुरक्षित बनाने का प्रयत्न करता।

महायुद्ध के फलस्वरूप उत्पन्न हुई उपरोक्त स्थितियों ने स्पष्ट कर दिया कि विश्व में शक्ति के दो ही प्रमुख केन्द्र हैं—सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। चूंकि युद्धोत्तर विश्व में प्रारम्भ से ही दोनों महाशक्तियाँ परस्पर प्रतियोगी बन गईं, अतः दोनों ही के नेतृत्व में दो विरोधी शक्तिशाली गुटों का निर्माण होने लगा। दो गुटों के इस निर्माण को विद्वानों ने सघर्ष

ने विशेष प्रोत्साहन दिया। द्वितीय महायुद्ध के बाद सिद्धान्तों और आदर्शों पर विशेष आग्रह किया जाने लगा। सोवियत रूस साम्यवाद के प्रचार और प्रसार के लिए प्रयत्नशील हो गया और संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी राष्ट्र साम्यवाद को अवरुद्ध करने के लिए कटिबद्ध हो गया। रूस और अमेरिका दोनों ही महाशक्तियां अपने सिद्धान्तों की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गईं और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में वे एक दूसरे के प्रति असहिष्णु बन गईं। साम्यवाद की विस्तारवादी महत्वाकांक्षाओं को अमेरिकन सुदृढ़ विरोध और सकल्प से ठन गई।

यद्यपि द्वि-ध्रुवीयकरण की प्रक्रिया द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद ही शुरू हो गई, तथापि १९४७ तक यह स्पष्ट नहीं हो पाया कि विश्व द्वि-ध्रुवीय (Biplor) बन गया था। इस समय तक रूस का प्रतिरोध मुख्यतः ब्रिटेन के प्रति था अमेरिका के प्रति नहीं। रूसियों को विश्वास था कि अमेरिका शीघ्र ही पुनः अपनी परम्परागत पार्थक्यवादी नीति (Traditional Isolationism) की ओर लौट जाएगा। लेकिन रूसी अनुमान गलत सिद्ध हुआ। महायुद्ध के बाद ब्रिटेन राजनीतिक, आर्थिक व सैनिक दृष्टि से इतना सक्षम नहीं रहा था कि वह पूंजीवादी विश्व को नेतृत्व दे सकता। ब्रिटेन तो शीघ्र ही आर्थिक दृष्टि से अपने पुनः निर्माण के लिए अमेरिका का मुखापेक्षी हो गया। नेतृत्व अमेरिका ने सम्भाल लिया। मार्च १९४७ में ट्रूमैन सिद्धान्त (Truman Doctrine) के अन्तर्गत अमेरिका यूनान और टर्की में ब्रिटिश उत्तरदायित्वों को पूरा करने को सहमत हो गया। अमेरिका ने अपना यह दृढ़ निश्चय व्यक्त कर दिया कि वह उस प्रत्येक देश की सहायता करेगा जो साम्यवाद के विरुद्ध उसकी सहायता मांगेगा। अमेरिकन राजनीतिज्ञों को यह विश्वास हो गया कि रूस, चीन और पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के प्रसार ने अमेरिका की सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा पैदा कर दिया है। अतः अमेरिका को अविलम्ब ऐसी नीति अपनानी चाहिये जिससे साम्यवादी प्रसार को प्रभावशाली रूप से 'अवरुद्ध' कर दिया जाय।

अमेरिका और रूस एक दूसरे के प्रति अविश्वास और संदेह की धारा में बहते हुए अपने-अपने पक्ष में शक्ति संचय करने लगे। शीत-युद्ध (Cold war) शुरू हो गया जो क्रमशः तेज होता गया। दोनों महा-शक्तियों का संघर्ष (Conflict) पहले तो यूरोप तक सीमित रहा, किन्तु धीरे-धीरे यह अन्य महाद्वीपों में भी फैल गया। सबसे पहले एशिया संघर्ष स्थल बना, बाद में मध्य-पूर्व और तब लेटिन अमेरिका व अफ्रीका। दोनों ही महाशक्तियां विश्व के विभिन्न राष्ट्रों को अपने-अपने क्षेत्र में लेने का प्रयत्न करने लगे। सोवियत रूस ने आश्चर्यजनक तीव्रता से पूर्वी यूरोप में अपनी प्रभुता का विस्तार कर

लिया । युद्धोपरान्त १९४८ तक की केवल तीन वर्ष की अल्पावधि मे ही पूर्वी यूरोप के सात देशों को पूरी तरह 'लाल' बना दिया गया । इतना ही नहीं, युद्ध के बाद की केवल चार वर्ष की अवधि में ही सोवियत रूस ने अणुबम के रहस्य को खोज लिया । अब स्थिति यह थी कि रूस और अमेरिका—ये दोनों महाशक्तियां न केवल एक दूसरे को आणविक हथियारों की धमकी देने लगीं वरन् विश्व के हर भाग मे और हर मामले मे एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास करने लगीं । अमेरिकन गुट और रूसी गुट में संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर अणु शक्ति के नियन्त्रण व नियमीकरण, निःशस्त्रीकरण, पराजित राष्ट्रों के साथ शान्ति सन्धियों, जर्मनी व बर्लिन के प्रश्नो, यूरोपीयन सुरक्षा-समस्याओं एशिया व अफ्रीका के अल्प विकसित राष्ट्रों के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के लगभग सभी प्रश्नों पर तीव्र वाद विवाद और कूटनीतिक संघर्ष चलने लगे ।

सोवियत प्रभाव और साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिये अमेरिका की मार्शल योजना के अन्तर्गत यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण के प्रभावशाली प्रयत्न चले । मार्शल योजना के प्रति-उत्तर मे अक्टूबर १९४७ मे रूस ने यूरोप के नौ साम्यवादी देशों के 'कोमिनफार्म' की स्थापना की । रूस ने पूर्वी यूरोप पर अपने नियन्त्रण को और भी कठोर बना दिया । शक्ति के दो बड़े अथवा गुट या खेमे बन गये और उनमे अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रो के विकास के लिये जोरतोड़ स्पर्धा होने लगी । चीन मे साम्यवादियो की महान् विजय ने जहा सोवियत गुट को बड़ा प्रबल बना दिया वहाँ अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों मे यह भय पैदा हो गया कि उपनिवेशो या नव जागृत राज्यों में बसने वाली अविकसित जनता चीन का अनुकरण करके पश्चिमी लोकतन्त्र की अपेक्षा कहीं साम्यवादी व्यवस्था को ही पसन्द न कर ले । अमेरिका व अन्य पश्चिमी राज्यो के राजनेता इस बात [redacted] चिन्तित हो गये कि विश्व के अल्प विकसित देश साम्यवादी प्रसार के लिये उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं । अतः जनवरी १९४९ मे अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमेन ने प्रसिद्ध 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा की ।

विश्व का तेजी स दो शक्ति ध्रुवो या शक्ति-केन्द्रों मे विभाजन होता गया । १ अक्टूबर, १९४९ को पेकिंग में बाकायदा साम्यवादियो का जन-गणराज्य स्थापित हो गया । पश्चिमी शक्तियां साम्यवाद के अवरोध के लिये राजनीतिक व आर्थिक स्तर के साथ सैनिक स्तर पर भी उतर आयीं । अमेरिका ने अन्य देशो के साथ सैनिक सन्धियों व पारस्परिक प्रति रक्षा सहायता कार्यक्रम का तरीका प्रारम्भ किया और अप्रैल १९४९ मे नाटो की

स्थापना हुई। चूंकि नाटो-फार्मूला ने यूरोप में अच्छा काम किया, अतः अमेरिका ने इसका प्रयोग अन्य क्षेत्रों में भी किया। इसके अन्तर्गत नाटो-सदस्यों को सैनिक सहायता दी गई, सदस्य देशों में सैनिक अड्डे स्थापित किये गये और विभिन्न संधी सन्धियां क्रियान्वित की गईं। सारा संसार इस प्रकार तेजी से दो भागों में बटता गया—एक था साम्यवादी भाग (The Communist Part) और दूसरा था अमेरिकनों के शब्दों में 'मुक्त विश्व' (The Free World)।

कुछ समय तक यही प्रतीत हुआ कि विश्व का यह द्वि-ध्रुवीयकरण या द्वि-केन्द्रीयकरण स्थायी बन गया है और भविष्य में यह व्यवस्था अर्थात् द्वि-ध्रुवीयता (Bipolarity) अधिक सुदृढ होती जायगी। इस समय जिन तटस्थ राष्ट्रों (Neutrals) का उदय हुआ, उन्हें इस द्वि-ध्रुवीय विश्व (The bipolar world) में कोई स्थान नहीं दिया गया। रूसी और अमरीकी दोनों ही भारत जैसे राष्ट्रों को शक व सन्देह की निगाह से देखते रहे। दोनों ही महाशक्तियों ने इस उक्ति पर आचरण किया कि "जो हमारे साथ नहीं है, वह हमारे विरुद्ध है" (He who is not with us is against us)। युद्धोत्तर विश्व का द्वि-ध्रुवीय चरित्र इस तरह प्रकट हुआ कि अनेक देश वास्तविकता के अन्य पहलुओं को भुला बैठे और इस बात के प्रति आश्वस्त हो गये कि अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व दो परस्पर प्रतिरोधी गुटों में बट जायगा और द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था पक्की या स्थिर (Fixed) हो जायगी।

पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ने करवट ली, नवीन परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, नई विचारधाराएं पनपी, राष्ट्रीय चरित्र अथवा राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित करने की भावनाएं बलवती हुईं और धीरे-धीरे द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था बहु-केन्द्रवाद (Polycentrism) की ओर बढ़ने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था कठोर रूप में द्वि-केन्द्रीय या द्वि-ध्रुवीय बनने की अपेक्षा एक भिन्न दिशा में प्रभावित होने लगी जिसका स्वरूप अभी तक पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो सका।

विश्व के द्वि-ध्रुवीय चरित्र को सबसे पहले राष्ट्रीयता की शक्तियों (The forces of Nationalism) ने चुनौती देना प्रारम्भ किया। यह चुनौती वास्तव में १९४८ में ही मिल गई जबकि युगोस्लाविया ने सफलता-पूर्वक सोवियत प्रभाव क्षेत्र से अपने को मुक्त कर लिया। यद्यपि सोवियत-युगोस्लाव संघर्ष को सैद्धान्तिक संघर्ष का बाना पहनाया गया तथापि यह एक तथ्य है कि युगोस्लाविया की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएं ही सोवियत शिकंजे के प्रति विद्रोही बना। सोवियत शक्ति-गुट के लिये जून १९४८ में युगोस्लाविया का पृथक हो जाना एक भारी आघात था। स्वतन्त्र विचारों वाले कट्टर राष्ट्र-

वादी मार्शल टीटो यह बर्दाश्त नहीं कर सके कि सोवियत रूस यूरोप के साम्यवादी शासन तन्त्रों या युगोस्लाविया पर अपनी कठोर निगरानी रखे और उन्हें 'लौह-आवरण' (Iron Curtain) के भीतर छिपाये रखे। युगोस्लाविया ने रूसी प्रभाव से मुक्त होकर अपने को पश्चिमी खेमे के साथ आबद्ध नहीं किया वरन एक स्वतन्त्र और सक्रिय असंलग्न-नीति पर चलना शुरू कर दिया। विश्व की द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था पर यह पहला आघात था जिसके दूरगामी प्रभाव हुए।

रूस और अमेरिका के शक्ति-गुटों में विश्व के जो नवोदित एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्र सम्मिलित नहीं हुए थे, उन्होंने भी दोनों गुटों से पृथक रहने की नीति अपना कर द्वि-केन्द्रीय व्यवस्था को शिथिल बनाया। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका भारत की रही। भारत के प्रधान मन्त्री और विदेश मन्त्री स्व० नेहरू ने कहा कि उनके देश का प्रमुख लक्ष्य है दो विरोधी गुटों के बिच्व राजनीति के सागर के दो कूलों बीच एक पुल का निर्माण करना—ऐसा पुल जिसके द्वारा दोनों गुटों की दूरियों और मतभेदों को दूर करके उन्हें मिलाया जा सके। यद्यपि भारत की यह आकांक्षा नहीं रही कि वह एक तीसरे गुट का निर्माण करके उसका नेतृत्व करे, तथापि अनेक एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों ने भारतीय दृष्टिकोण का अनुसरण किया और इस प्रकार विश्व के द्वि-केन्द्रीय चरित्र को धूमिल बनाने में निर्णायक योग दिया। नासिर का मिस्र और एनक्रूमा का घाना इनमें अग्रणी रहे। धीरे धीरे यह स्पष्ट हो गया कि लगभग एक तिहाई विश्व ने यही निर्णय किया है कि दोनों शक्ति गुटों में से किसी में भी सम्मिलित न हुआ जाय और सक्रिय तटस्थता अथवा असंलग्नता की नीति पर चला जाय।

शीघ्र ही दोनों शक्ति गुटों में और भी शिथिलता आयी। पश्चिमी यूरोपियन शक्तियों ने अपना आर्थिक पुनर्निर्माण करके और अपने को पुनः शक्ति-सम्पन्न करके यह चाहा कि अब वे अमेरिकन नीतियों का अन्धानुकरण नहीं करें अर्थात् अमेरिका के पिछलग्गू बन कर नहीं रहें। यही कारण था कि १९५६ में ब्रिटेन और फ्रांस ने स्वेज पर आक्रमण किया, यद्यपि रूस की आणविक अस्त्रों के प्रयोग की धमकी और अमेरिका की नाराजगी के कारण उन्हें अपने कदम पीछे हटाने पड़े, लेकिन इस घटना ने इस तथ्य की पुष्टि कर दी कि अमेरिका का नेतृत्व अब शिथिल पड़ने लगा है और पश्चिमी खेमे में दरार आने लगी है।

विशेषकर फ्रान्स ने, जनरल डिगॉल के नेतृत्व में, विश्व की द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को विशेष आघात पहुँचाया। राष्ट्रपति डिगॉल की प्रमुख चिन्ता सदैव यही रही कि फ्रांस किसी न किसी तरह अपने विलुप्त अन्तर्राष्ट्रीय

सम्मान को फिर से प्राप्त करे। इसीलिए शनैः शनैः वह अपने राष्ट्र को अमेरिकन प्रभाव से मुक्त करने लगा और दूसरी ओर ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को भी रोकने की चेष्टा में लगा रहा। इसीलिए साम्यवादी देशों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध स्थापित किये। साम्यवादी चीन के साथ फ्रान्स के मित्रतापूर्ण सम्बन्धो में विकास हुआ। मास्को की अणु परीक्षण निरोध सन्धि पर हस्ताक्षर न करने वाले केवल दो ही बड़े देश रहे—चीन और फ्रान्स और दोनो ही ने यह तर्क दिया कि सन्धि का ध्येय यह है कि सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन अणु-शस्त्रो के क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते हैं एवं उनका प्रयोजन यह है कि अन्य देश इस शक्ति का विकास न करने पायें।

फ्रान्स ने वियतनाम में संयुक्त राज्य अमेरिका की कार्यवाही की निन्दा की, यूरोपियन साझा बाजार [illegible] ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने की डिगॉल की नीति ने पश्चिमी खेमे में फूट का संकेत दिया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने बहुत चाहा कि ब्रिटेन को यूरोपियन साझा बाजार की सदस्यता मिल जाये। किन्तु डिगॉल अपने हठ पर दृढ़ रहे। इतना ही नहीं, निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर इनमें मतैक्य नहीं हो सका। जब फ्रान्स को संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बनाया गया तो उसने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। इनसे भी बढ़ कर घटना नाटो को पोलरिस यन्त्रों से युक्त करने के प्रस्ताव को ले कर घटी। १९६२ में अमेरिका और ब्रिटेन में एक समझौते द्वारा यह तय हुआ कि नाटो राज्यों की सेनाओं को पोलरिस प्रक्षेपणास्त्रों से लैस किया जाय। परन्तु फ्रान्स ने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया और निर्णय लिया कि वह इस कार्य में साथ नहीं देगा। १९६३ में फ्रेन्च सरकार द्वारा चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर देना और दोनों राष्ट्रों के बीच राजदूतों का आदान-प्रदान हो जाने की घटना से यह और भी स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति डिगॉल का अपना अलग ही रास्ता है जो नाटो राज्यों से भिन्न है।

राष्ट्रपति डिगॉल ने संसार के समक्ष एक और सुझाव रखा। उन्होंने कहा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डावाडोल है, अतः इस क्षेत्र का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करके तटस्थीकरण (Neutralisation of S. E. Asian Region) कर दिया जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके साथी राज्यों ने डिगॉल के सुझाव का कटु-विरोध किया। वास्तव में फ्रान्स की ये सभी कार्यवाहियां अटलाण्टिक समुदाय की एकता को भंग करने वाली थी। इस एकता को कठोरतम आघात तो १२ मार्च, १९६६ को

डिगॉल की इस घोषणा से पहुँचा कि फ्रान्स नाटो संगठन से ही अलग होना चाहता है। फ्रान्स की माँग पर ही संयुक्त राज्य अमेरिका को फ्रेन्च भूमि पर स्थित नाटो अड्डों को खाली कर देना पड़ा। फ्रान्स के नाटो के परित्याग के निर्णय से पश्चिमी गुट पर एक महान् संकट आ गया। नाटो में पश्चिमी जर्मन को इस शर्त पर १९५५ में शामिल किया गया था कि वह स्वतन्त्र रूप से अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि नहीं करेगा। इस शर्त के लिए स्वयं फ्रान्स बहुत दृढ था। परन्तु जब फ्रान्स ही नाटो से निकल जाता तो पश्चिमी जर्मनी भी इस शर्त से मुक्त हो जाता और तब वहाँ सैन्य शक्ति में वृद्धि करने का कार्यक्रम जोर-शोर से चलने की सम्भावना हो जाती। पश्चिमी जर्मनी द्वारा सैनिक शक्ति बढ़ाने के प्रयास की प्रतिक्रिया सोवियत गुट के देशों में होती और इस तरह हथियारबन्दी की होड़ का कुचक्र फिर जोरों से चलना शुरू हो जाता। राष्ट्रपति डिगॉल के इस निर्णय के कारण यूरोप की कूटनीतिक स्थिति खराब हो सकती थी और पश्चिमी जर्मनी को लेकर युद्ध की सम्भावना बढ़ सकती थी।

जनरल डिगॉल ऊपर से विचित्र दीखने वाले अपने व्यवहार से राजनीतिक जगत को चौंकाते रहे। कुछ लोगों ने इसे 'वृद्धावस्था की सनक' का नाम दिया। मगर जो लोग इन कार्यवाहियों के पीछे उद्देश्य खोजने के पक्ष में थे उनके अनुसार यूरोप और सम्पूर्ण विश्व के प्रति जनरल डिगॉल का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण था। उन्होंने कहा था—"अमेरिका विश्व में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है और स्वाभाविक रूप से वह अपनी शक्ति को बढ़ाने पर तुला हुआ है।" इस शक्ति विस्तार से बचने के लिए उनके अनुसार दो ही रास्ते थे। पहला मार्ग यह था कि उसी गुट का एक सदस्य बना जाये जहाँ अमेरिकन शक्ति सर्वोपरि है और यह रास्ता आसान था। दूसरा रास्ता था अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा। इसके लिए यह जरूरी था कि फ्रान्स और जर्मनी एक-दूसरे के निकट आयें, अन्यथा अमेरिकन प्रभाव से नहीं बचा जा सकता था। इसीलिए फ्रान्स और जर्मनी में राजनीतिक घनिष्ठता के प्रति सक्रिय कदम उठाये जाते रहे। जनरल डिगॉल का विश्वास था कि फ्रान्स ने जिस आर्थिक ढाँचे को पिछले ६ वर्षों में खड़ा किया है, उसे नष्ट न होने दें, ताकि उसे अमेरिकन पद्धति द्वारा आत्मसात् न किया जा सके। अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए ही उनकी तीसरी शर्त यह थी कि विश्व में इस भ्रम को समाप्त कर दिया जाये कि शक्ति के कुल दो ही गुट हैं, उसके बाहर कुछ नहीं है। तीसरे गुट की रचना के लिए उन्होंने फ्रान्स को पूर्वी यूरोपीय देशों के निकट लाना चाहा ताकि 'विश्व राजनीति में दो गुटों

की पद्धति के अतिरिक्त भी कुछ हो।' इसी नीति को अपनाकर ब्रिटेन के यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने का उन्होंने विरोध किया।

जनरल डिगॉल ने अत्यन्त संदिग्ध और विवादास्पद परिस्थितियों में भी फ्रान्स की प्रतिष्ठा का निरन्तर विकास किया। डिगॉल ने अपने राष्ट्रपतित्व-काल में फ्रान्स को वास्तव में तूफानी यात्रा पर चलाया और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फ्रान्स रूपी जहाज की शक्ति और प्रतिष्ठा को स्थापित करने की बहुत कुछ सफल चेष्टा की। अप्रैल, १९६९ में राष्ट्रपति डिगॉल के शासन काल के समाप्त होने के बाद न केवल फ्रांस के इतिहास में वरन् वास्तव में समस्त यूरोप के इतिहास में एक युग का अन्त हुआ। पौम्पिदू नये राष्ट्रपति बने। नयी फ्रेंच सरकार ने डिगॉल शासन की अपेक्षा अपने रवैये में अभी तक कुछ नरमी प्रदर्शित की है और इस बात पर सम्भावना नजर आने लगी है कि फ्रांस अब नाटो का परित्याग नहीं करेगा तथा फ्रांस व मित्र देशों की फौजों में सहयोग की भावना पैदा होगी। जो भी हो यह स्पष्ट है कि फ्रांस ने डिगॉल के नेतृत्व में अपने इस पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को निखारा है, उसकी वह हर सूरत में रक्षा करेगा। फ्रांस यह नहीं चाहेगा कि एक शक्ति-केन्द्र के रूप में उसका जो उदय हो रहा है—वह समाप्त हो जाय।

विश्व की द्वि-ध्रुवीय व्यवस्था को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में इस बात से भी आघात पहुंचा है कि अब अणु-आयुधों का एकाधिकार केवल अमेरिका और रूस के पास ही नहीं रहा है। ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणु-शक्ति के स्वामी बन चुके हैं। यद्यपि इनकी अणु-शक्ति अभी इतनी सम्पन्न नहीं है कि वह अमेरिका अथवा सोवियत संघ की अणु शक्ति का मुकाबला कर सके और यद्यपि कुछ समय तक उनके कारण आणविक शक्ति का सन्तुलन अधिक प्रभावित होने की सम्भावना नहीं है, तथापि यह अवश्य है कि ये राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अधिकाधिक स्वतन्त्र आचरण करते जायेंगे और अमेरिका या रूस के पिछलग्गू कहलाने की स्थिति से बचना चाहेंगे। चीन की महत्वाकांक्षा तो एकदम स्पष्ट हो चुकी है। चीन ने अपने को जिस प्रकार सोवियत संघ से एकदम मुक्त कर लिया है और जिस ढंग से साम्यवादी जगत में सोवियत नेतृत्व को चुनौती दी है, वह आश्चर्यजनक है। साम्यवादी सेना आज दो शक्ति-केन्द्रों में बंट चुका है—एक केन्द्र है रूस तो दूसरा केन्द्र है चीन। रूसी शक्ति को हंगरी, पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया के व्यवहार से भी भय पैदा हो चुका है। ये राष्ट्र यद्यपि रूसी सैनिक बल के कारण अपनी आवाज को दबाए [illegible] हैं लेकिन रह रह कर प्रस्फुटित होने वाले इनके व्यवहारों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भविष्य में लम्बे समय तक

सम्भवत इन्हें जबरदस्ती सोवियत-शक्ति-केन्द्र के साथ बाधकर नहीं रखा जा सकेगा अथवा इन पर सोवियत नियन्त्रण आज के समान कठोर नही रह पायेगा।

तेजी से बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे हाल ही के कुछ वर्षों से एक नया मोड दिखाई देने लगा है और वह है सोवियत सघ और अमेरिका के मध्य परस्पर सह अस्तित्व की धारणा का विकास होना। दोनों ही राष्ट्र यह समझ चुके है कि कोई भी वस्तु युद्ध विजेता और विजित के लिए समान रूप से विनाशकारी सिद्ध होगा। अत. दोनों यह मानने लगे हैं कि अपने सैद्धान्तिक सघर्षों के बावजूद पू जीवाद और साम्यवाद का सहअस्तित्व सम्भव है। रूसी नेता आज कि परिवर्तित जटिल और विस्फोटक परिस्थितियो मे यह मानने लगे हैं कि साम्यवाद का प्रसार अब शान्तिपूर्ण उपायो से ही करना हितकारी होगा—इसके लिए सैनिक शक्ति का आश्रय लेना विनाश को आमन्त्रण देना होगा। दुर्भाग्यवश साम्यवादी चीन का रवैया अभी तक युद्धोन्मादी है। वह आज के युग मे भी युद्ध की अनिवार्यता पर बल दे रहा है और सैनिक-शक्ति से पू जीवाद के विनाश पर चीनी साम्यवाद का महल खडा करने के स्वप्न देख रहा है। प्रभुता और नेतृत्व की लालसा मे वह सोवियत सघ से भी बुरी तरह उलझ गया है। रूस और अमेरिका दोनों ही यह भलीभाति समझने लगे हैं कि निकट भविष्य मे ही प्रबल आणविक शक्ति से सम्पन्न चीन दोनो ही के लिए जबरदस्त खतरा सिद्ध हो सकता है। इस अनुभूति ने भी दोनों को पूर्वापेक्षा कुछ निकट लाने मे सहयोग दिया है।

उभरती हुई नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की रूप रेखा अभी तक सुस्पष्ट और सुनिश्चित नही है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि दो शक्ति गुटों अथवा दो खेमों की जगह तीन गुट या खेमे साफ तौर पर उभर आये हैं जिनमें असलग्न गुट दो की अपेक्षा कम शक्तिशाली है, तथापि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था बहु केन्द्रीय(Poly-centric) है, क्योंकि शक्ति के केन्द्र (Centres of Power) अनेक हैं जिनमें केवल उपरोक्त तीनों खेमे ही शामिल नही बल्कि अकेले राष्ट्र और सयुक्त राष्ट्र सघ भी सम्मिलित हैं। यह स्पष्ट हो चुका है कि राष्ट्रीय राज्य अपने महत्व को खोना पसन्द नही करेंगे। आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ऐसी है कि मौके पर कमजोर से कमजोर एशियायी और अफ्रीकी राष्ट्रों की आवाज भी अपना महत्व रखती है। ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब क्षेत्रीय मामलों (Regional Issues) मे इन राष्ट्रों ने दोनों महा शक्तियों का सफलतापूर्वक विरोध किया है। इन राष्ट्रो ने सयुक्त राष्ट्रसघ की महा सभा,

को अपना रंग मंच चुना है और सब तेजी से उनका प्रवक्ता बनता जा रहा रहा है। मध्य-पूर्व में इजराइल और संयुक्त अरब गणराज्य शक्ति के ऐसे केन्द्र हैं जो अपने रवैये में परिवर्तन द्वारा सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को और महा शक्तियों के आपसी सम्बन्धों को झकझोर सकते हैं। शक्ति सन्तुलन की ऐतिहासिक परम्परा का आज विशेष महत्व नहीं रह गया है और सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था की बात अव्यावहारिक प्रतीत होने लगी है। आणविक हथियारों की भयंकरता ने शक्ति सन्तुलन के स्वरूप को बदल दिया है और सामूहिक रक्षा व्यवस्था की प्रणाली को बहुत कुछ खण्डित कर दिया है। नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अभी अपनी निर्माणात्मक अवस्था में है और भविष्य में इसमें अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहने की सम्भावना है। वर्तमान आसार यही है कि अभी अनेक महत्वपूर्ण शक्ति केन्द्रों का उदय होना बाकी है। आधुनिक संसार द्वि केन्द्रीयवाद से बहु केन्द्रवाद की ओर अग्रसर है।

१९

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रभाव

(IMPACT OF U. N. O. ON INTERNATIONAL POLITICS)

प्रथम युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए राष्ट्र संघ की स्थापना हुई जो विभिन्न दुर्बलताओं और महाशक्तियों के असहयोग के कारण अपने उद्देश्य में असफल हुआ। १९३९ में द्वितीय महायुद्ध भड़क उठा जो अपार धन-जन के विनाश के बाद १९४५ में समाप्त हुआ। महायुद्ध काल में ही दुनिया के विचारशील और शान्तिवादी राजनीतिज्ञों तथा विचारकों ने पुनः कोई ऐसा साधन खोजना चाहा जो ऐसे विनाशकारी युद्ध की पुनरावृत्ति को रोक सके। इस आवश्यकता को मूर्त रूप देने के लिए मित्र राष्ट्रों में विचार-विमर्श शुरू हो गया और अन्त में विभिन्न मुलाकातों और सम्मेलनों के बाद विश्व-संगठन के चार्टर पर २६ जून, १९४५ के दिन ५० राष्ट्रों के ८५० प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म हुआ और राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भाषण देते हुए कहा कि—"यह एक ऐसी शक्तिशाली नींव है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं। इसके लिए इतिहास आपका सम्मान करेगा।" २४ अक्टूबर, १९४५ से संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर लागू हुआ और १० फरवरी, १९४६ को संघ की प्रथम बैठक हुई।

प्रस्तुत अध्याय में हमारा उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के स्वरूप और उसके रूप विधान या ढाचे या संगठन का वर्णन करना नहीं है वरन् यह देखना

है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने क्या प्रभाव डाला है और भविष्य में इस प्रभाव की क्या सीमायें हैं ? अतः इस प्रभाव को जानने के प्रसंग में यह भी ज्ञात करना होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों में ऐसी क्या बातें रखी गई हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित करने वाली हों। यह भी देखना होगा कि संघ के विभिन्न अंगों को ऐसी कौनसी शक्तियाँ दी गई हैं जिनके माध्यम से वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना प्रभाव लागू कर सकती हैं अथवा करती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव डालने की दृष्टि से संघ का स्वरूप

संयुक्त राष्ट्र संघ का स्वरूप उसके चार्टर या संविधान से स्पष्ट है। चार्टर की प्रस्तावना के आरम्भ में सदस्य राष्ट्रों के विश्व-शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी संकल्पों को प्रकट किया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और विश्व-शान्ति और सुरक्षा को प्रभावित करने की दृष्टि से संघ के उद्देश्य यह रखे गये हैं—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना, शान्ति पर होने वाले आक्रमणों को रोकना और उनके विरुद्ध प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही करना, शान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून भंग करने वाली चेष्टाओं को दबाना तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को शान्तिपूर्ण ढंग से और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के अनुसार सुलझाना।

(२) जनता के आत्म-निर्णय तथा समान अधिकार के आधार पर राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना तथा सार्वभौम शान्ति को प्रोत्साहित करने के लिए आवश्यक कदम उठाना।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतन्त्रताओं को बिना किसी भेदभाव के प्रोत्साहित करना।

(४) उपरोक्त ध्येयों की पूर्ति के लिए राष्ट्रों के कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करने हेतु केन्द्र के रूप में कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ का आधार ऐसे सिद्धान्तों पर रखा गया है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सम्बन्धों को प्रभावित करने की भूमिका तैयार करते हैं। संघ के सदस्य राज्यों को इन शर्तों या सिद्धान्तों के अन्तर्गत कार्य करना होता है —

(i) सभी राज्य प्रभुत्व सम्पन्न हैं और समान हैं।

(ii) सभी सदस्य चार्टर के अनुसार अपने उत्तरदायित्वों व कर्त्तव्यों का सद्भावना से पालन करेंगे।

(iii) सभी सदस्य राष्ट्र अपने झगड़ों का निपटारा शान्तिपूर्ण ढंग से इस प्रकार करेंगे कि शान्ति, सुरक्षा व न्याय के भंग होने का भय नहीं रहे।

(iv) सदस्य राष्ट्र अपने सम्बन्धों में आक्रमण की धमकी देने या दूसरे राज्यों के प्रति बल प्रयोग करने से दूर रहेंगे।

(v) सदस्य राष्ट्र चार्टर के अनुसार की जाने वाली संघ की प्रत्येक कार्यवाही में सब प्रकार का सहयोग व सहायता देंगे और वे किसी ऐसे देश की मदद नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध संघ शान्ति और सुरक्षा के लिए कोई कार्यवाही करेगा।

(vi) शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए यह संघ आवश्यक कार्यवाही करेगा। संघ यह भी देखेगा कि गैर-सदस्य राष्ट्र भी यथासम्भव ऐसे कार्य न करें जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाय।

(vii) विश्व-शान्ति और सुरक्षा के अतिरिक्त संघ किसी राष्ट्र के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों की रचना इस प्रकार की गई है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की भूमिका बनाते हैं और इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना, विभिन्न राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना और मानव कल्याण के कार्य करना उसका कर्तव्य है। संघ का सदस्य बनने वाला प्रत्येक राष्ट्र इन उद्देश्यों और सिद्धान्तों में अपनी निष्ठा प्रकट करता है। इस प्रकार वह यह स्वीकार करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा के क्षेत्र में और इसी प्रकार के अन्य कार्यों में वह संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप को स्वीकार करेगा तथा प्रोत्साहन देगा। सदस्य-राष्ट्रों की यह स्वीकृति ही संयुक्त राष्ट्र संघ को इस दृष्टि से सक्षम बनाती है कि वह शान्ति व सुरक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में, अपनी सीमाओं में रहते हुए हस्तक्षेप कर सके।

अब हम संघ के विभिन्न अंगों को लेंगे और देखेंगे कि यह अंग अपने किन अधिकारों और कर्त्तव्यों के बल पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने में समर्थ हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से संघ के प्रमुख अंगों के अधिकार व कर्त्तव्य

चार्टर के सातवें अनुच्छेद में संयुक्त राष्ट्रसंघ के ६ प्रमुख अंगों की व्यवस्था की गई है—

(१) साधारण सभा या महासभा (General Assembly),
(२) सुरक्षा परिषद् (Security Council),
(३) आर्थिक व सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)
(४) न्याय परिषद् (Trusteeship Council),
(५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice), एव
(६) सचिवालय (Secretariat)

साधारण सभा या महासभा

महासभा सघ की व्यवस्थापिका सभा कही जा सकती है जिसमें सभी सदस्य राज्यो को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। महासभा के कार्यों की प्रकृति मुख्य रूप से निरीक्षणात्मक और अन्वेक्षणात्मक है। इसे विभिन्न महत्वपूर्ण प्रश्नो पर विचार करने की शक्ति है। यह उन प्रयासो की खोज करती है जिनमे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है तथा विश्व के राष्ट्रो के मध्य पारस्परिक सहयोग की स्थापना की जा सकती है। महासभा शस्त्रो को सीमित करने और नि शस्त्रीकरण के विषयों पर विचार करती है। विश्व मे शान्ति स्थापित करना उसका प्रमुख लक्ष्य है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वह कोई भी सम्भव कदम उठा सकती है।

महासभा की शक्ति और महत्ता आज बहुत बढ गई है। यदि सुरक्षा परिषद अपने दायित्वो को पूरा करने म असमर्थ पाई जाय तो महासभा को अधिकार है कि वह सम्बन्धित विषय पर फौरन विचार करके सामूहिक उपायों के लिए अपनी सिफारशें प्रस्तुत करे और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा बनाये रखने के लिए सैनिक कार्यवाही का निर्देश दे। महासभा को यह भी अधिकार है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्रो में स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिए एक 'शान्ति निरीक्षण आयोग' की व्यवस्था करे। सदस्य-राष्ट्रों का यह कर्त्तव्य है कि वे आवश्यकता पड़ने पर महासभा सुरक्षा परिषद् की सिफारिशों पर सघ के अधीन कार्यवाही करने के लिए सशस्त्र सेना प्रदान करें।

वास्तव मे महासभा को हम सम्पूर्ण विश्व का अन्तर्राष्ट्रीय रग-मच कह सकते हैं। क्लार्क आइकलबर्गर के मतानुसार महासभा मानव जाति की ससद का एक रूप है जिसमें विश्व के राष्ट्र, शान्तिपूर्ण, परिवर्तन की अनेकों समस्याओं पर विचार करने का साधन ढूढ रहे हैं। कानून व ससदात्मक प्रक्रिया के ढाचे में महासभा मे सदस्य राष्ट्र स्वतन्त्र रूप से अपनी शिकायतें,

प्रस्ताव और सुझाव आदि प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार महासभा विश्व का उन्मुक्त अन्त करण (Open Conscience of the World) है। महासभा में अणुबम से लेकर मानवीय कल्याण, भोजन, वस्त्र और आवास साधन तक की सभी समस्याओं पर विचार किया जाता है।

सुरक्षा परिषद

सुरक्षा-परिषद् संघ की कार्य कारणी और उसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग है जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली भूमिका निभाता है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के लिए सुरक्षा-परिषद् को व्यापक शक्तियाँ दी गई हैं और उस पर व्यापक जिम्मेदारियाँ हैं। चार्टर के अनुच्छेद २४ में स्पष्ट उल्लिखित है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद की है और उसे यह देखना है कि संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढग से हो सके। अनुच्छेद २५ के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का मतव्य है कि वे चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के फैसलो को मानेंगे और उन पर अमल करेंगे। सुरक्षा परिषद् को जिन अधिकारो व शक्तियो से सम्पन्न बनाया गया है उनका उल्लेख चार्टर के ६, ७, ८ और १२ वें अध्याय म किया गया है। इन अध्यायो के अनुसार शान्ति व सुरक्षा की दिशा मे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद की शक्तियां निम्नलिखित हैं—

(१) यदि किसी झगडे से विश्व की शांति और सुरक्षा को खतरा हो तो दोनों विवादी पक्ष उस झगडे को सबसे पहले बातचीत, पूछताछ, बीच बचाव, मेल, न्यायपूर्ण समझौतों, प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं द्वारा या अपनी पसन्द के अन्य शान्तिपूर्ण साधनो से सुलझाने का प्रयास करेंगे, और सुरक्षा परिषद आवश्यकता समझने पर विवादी पक्ष को अपने झगडे ऐसे साधनो से निपटाने की माग करेगी। (अनुच्छेद ३३)

(२) सुरक्षा परिषद किसी ऐसे झगडे अथवा स्थिति की जाच-पड़ताल कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता हो अथवा जिससे कोई दूसरा झगडा उठ सकता हो। सुरक्षा परिषद इस बात का भी निश्चय करेगी कि ये झगडे अथवा स्थिति जारी रहे तो उससे विश्व की शांति और सुरक्षा को कोई खतरा पैदा हो सकता है अथवा नही। ऐसे झगडे या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा परिषद किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या सुलझाने के उपायो की सिफारिश कर सकती है। (अनुच्छेद ३४, ३६)

(३) उपरोक्त सिफारिशें करते समय सुरक्षा परिषद को इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि सामान्य रूप से कानूनी झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के विधान के उपबन्धों के अनुसार पेश किया जाये। (अनुच्छेद ३६)

(४) सुरक्षा परिषद ही इस बात का निर्णय करेगी कि कौनसी चेष्टायें शांति को खतरे में डालने वाली, शांति भंग करने वाली और आक्रमण की चेष्टाएं समझी जा सकती हैं। वही सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम करने अथवा फिर से स्थापित करने के लिए कौनसी कार्यवाही की जानी चाहिए। किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिए सुरक्षा परिषद अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पहिले विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियां करने की मांग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझे। इन अस्थायी कार्यवाहियों से विवादी पक्षों के अधिकारों, दावों या उनकी हैसियत का कोई अहित न होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार की अस्थायी कार्यवाहियां नहीं करता है तो सुरक्षा परिषद इसका भी विधिवत ध्यान रखेगी। (अनुच्छेद ३९, ४०)

(५) सुरक्षा परिषद अपने फैसलों पर अमल कराने के लिए ऐसी कार्यवाहियां भी निश्चित कर सकती है जिनमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की मांग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णत अथवा आंशिक रूप से समाप्त किये जा सकते हैं, समुद्र, वायु डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्यान्य साधन बन्द किये जा सकते हैं, अथवा राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है। (अनुच्छेद ४१)

(६) अनुच्छेद ४१ में बताई गई उपरोक्त कार्यवाहियां यदि सुरक्षा परिषद की दृष्टि में नाकाफी हों अथवा नाकाफी सिद्ध हो गई हों, तो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने या फिर से स्थापित करने के लिये वह जल, स्थल और वायु सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में संयुक्त राष्ट्रों के सदस्य देशों की जल, थल, वायु सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है अथवा अन्य दूसरे प्रकार की कार्यवाहियां कर सकती है। (अनुच्छेद ४२)

(७) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे सुरक्षा परिषद के मांगने पर और विशेष समझौते के अनुसार,

अपनी सशस्त्र सेनाएं, सहायता और अन्य सुविधाएं, जिनमे मार्ग अधिकार भी शामिल होंगे, मुहैया करेंगे। सेनाओ की संख्या, उनके प्रकार, उनकी तैयारी और स्थिति आदि के बारे मे निश्चय, समझौते या समझौतो से किए जाएगे और इस प्रकार के समझौतों की बातचीत सुरक्षा परिषद की प्रेरणा से जल्दी से जल्दी शुरू की जानी चाहिए। ये समझौते सुरक्षा परिषद और सदस्यों अथवा सुरक्षा परिषद तथा सदस्य दलों के बीच किये जाएगे और इन पर अमल तब ही किया जा सकेगा जब हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी अपनी वैधानिक प्रक्रियाओ द्वारा इनको पुष्टि कर देंगे। चार्टर मे यह भी लिखा गया है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिये अपनी अपनी राष्ट्रीय वायुसेना के दल जल्दी से जल्दी उपलब्ध करायेंगे ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। इन सैनिक दलो की संख्या और तैयारी आदि के बारे मे निश्चय सुरक्षा परिषद अपनी "सैनिक स्टाफ समिति" की मदद से करेगी। सैनिक स्टाफ समिति की मदद से ही सामूहिक कार्यवाही के लिये योजनायें बनाई जाएगी। (अनुच्छेद ४३, ४५)

(८) अनुच्छेद ४७ के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद को निम्नलिखित प्रश्नो पर स्वतन्त्र सलाह देने और सहायता के लिये एक सैनिक स्टाफ समिति बनाई जायगी—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा परिषद की सैनिक आवश्यकतायें, (ख) उसके आधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान, (ग) शस्त्रों का नियन्त्रण, और (घ) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टाफ समिति में सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों के स्टाफ अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि रहेंगे। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई सदस्य समिति का स्थायी प्रतिनिधि न हो और समिति के दायित्वों को ठीक तरह पूरा करने मे उस सदस्य का भाग लेना आवश्यक हो तो समिति उसको अपने साथ काम करने के लिए बुला लेगी। इस अनुच्छेद मे यह भी लिखा गया है कि सुरक्षा परिषद के उपयोग के लिए जो सशस्त्र सेनाएं दी जाएगी, उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टाफ समिति के हाथ मे रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद के अधीन रहेगी। सैनिक स्टाफ समिति उपर्युक्त प्रादेशिक संस्थाओ से सलाह लेने के लिए प्रादेशिक उपसमितियों का निर्माण भी कर सकती है। सैनिक स्टाफ समिति को यह अधिकार सुरक्षा परिषद द्वारा प्रदान किया जाएगा।

(९) जब सुरक्षा परिषद किसी राष्ट्र के विरुद्ध रोकथाम की या अपने निर्णयो को अमल कराने की कोई कार्यवाही कर रही हो उस समय यह हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक

समस्याएं उठ खड़ी हों। अतः अनुच्छेद ५० में यह व्यवस्था दी गई है कि ऐसी सूरत में उस राष्ट्र को, चाहे वह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य हो या नहीं, अपनी समस्याओं को हल कराने के लिए सुरक्षा परिषद से सलाह लेने का अधिकार होगा।

(१०) यदि संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकारी है। अनुच्छेद ५१ यह व्यवस्था देता है कि उस राष्ट्र पर उस समय तक कोई रोक नहीं होगी जब तक कि सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए स्वयं कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षा के लिए सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद को दी जाएगी। लेकिन इससे सुरक्षा परिषद के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने या फिर से स्थापित करने के लिए जब कभी, जो कार्यवाही चाहे, कर सकती है।

(११) स्थानीय झगड़ों और विवादों के समाधान के लिए सुरक्षा परिषद प्रादेशिक संगठनों और एजेन्सियों को माध्यम के रूप में इस्तेमाल कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन या एजेन्सियां अपने क्षेत्रों में शांति और सुरक्षा बनाये रखने की दिशा में जो भी कदम उठाती हैं, उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा परिषद को देनी पड़ती है।

(१२) सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो दायित्व ग्रहण किया है, उन्हें निभाने का भार भी सुरक्षा परिषद पर ही है। संरक्षित प्रदेशों को किसी भी राष्ट्र के संरक्षण में देते समय संरक्षण सम्बन्धी शर्तें भी सुरक्षा परिषद द्वारा ही तय की जाती हैं। वही इन शर्तों में फेर बदल या संशोधन कर सकती है। यदि ऐसे कुछ सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र हों जो संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण में हों, तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति के लिए सुरक्षा परिषद आवश्यक कदम उठा सकती है।

सुरक्षा परिषद में मतदान प्रक्रिया और निषेधाधिकार (Voting and Veto power)—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद की शक्तियों के प्रसंग में उसकी मतदान प्रक्रिया और स्थाई सदस्यों (अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस व राष्ट्रवादी चीन), के निषेधाधिकार पर भी ध्यान देना आवश्यक है। तभी हम ठीक ढंग से यह मूल्यांकन कर सकेंगे कि परिषद अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रभावी कार्यवाही करने के सम्बन्ध में कहां तक सक्षम है।

सुरक्षा परिषद के वर्तमान कुल १५ सदस्यों में से प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त है, लेकिन मतदान की प्रक्रिया बहुत कुछ विभिन्न प्रदेशों के स्वरूप या परिषद् के कार्यों पर निर्भर करती है। परिषद् के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) साधारण, और (२) असाधारण। साधारण कार्यों में परिषद् के कार्यक्रम आदि आते हैं। अन्य मामले असाधारण कार्यों में आते हैं, जैसे विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान सम्बन्धी मामले, आक्रमणकारी शक्ति के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाना आदि।

साधारण मामलों पर किन्हीं ९ सदस्यों के स्वीकारात्मक (Affirmative) मत पर्याप्त हैं, लेकिन असाधारण मामलों पर ९ सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों में ५ स्थायी सदस्यों के मत शामिल होना आवश्यक है। इन ५ स्थायी सदस्यों में से कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं समझा जाता। निषेधाधिकार या विटो (Veto) की यह सुप्रसिद्ध व्यवस्था है।

परिषद का कोई भी सदस्य अथवा अस्थायी सदस्य यदि प्रस्तुत विवाद से सम्बन्धित हो तो उसे भी मतदान करने का अधिकार नहीं रहता। संघ का कोई भी सदस्य-राष्ट्र ऐसे किसी भी प्रश्न पर जो विचाराधीन हो सुरक्षा परिषद में हो रहे वाद-विवाद में भाग ले सकता है। सुरक्षा परिषद, यदि उचित समझे तो ऐसे किसी भी राष्ट्र को जो सुरक्षा परिषद अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ का भी सदस्य न हो, उससे सम्बन्धित विवाद पर विचार करते समय उसे बैठकों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित कर सकती है। इस प्रकार आमन्त्रित होने वाले राष्ट्र मतदान में भाग नहीं ले सकते।

दोहरा निषेधाधिकार (Double Veto)—जब यह प्रश्न उठता है कि कोई साधारण मामला माना जाये अथवा असाधारण, तब दोहरे निषेधाधिकार (Double Veto) का प्रयोग होता है अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को साधारण विषय बनाने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के तत्वों (Substance) के विरोध में दोबारा मत दिया जाता है।

निषेधाधिकार की समालोचना—सुरक्षा परिषद में मतदान प्रक्रिया के अध्ययन से स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों में कोई भी किसी भी प्रस्ताव के विरोध में मत देकर उसे पारित होने से रोक सकता है। इसके केवल दो ही अपवाद हैं—प्रथम, प्रक्रिया सम्बन्धी मामले, द्वितीय, वे मामले जिनमें स्वयं विरोध में मत देने वाली एक महा शक्ति एक पक्ष हो। आलोचकों का कहना है कि इस निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद अपने सामूहिक सुरक्षा के कार्य में असफल हो गई है। अर्नोल्ड फोस्टर (W. Arnold

Foster) के अनुसार "निषेधाधिकार का भय सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के रक्त में ही पक्षाघात है। यह उस कार के समान है जिसका स्टार्टर (Starter) किसी भी समय उसकी यन्त्र व्यवस्था में गड़बड़ करके उसके इन्जिन को रोक सकता है।"

निषेधाधिकार की उपयोगिता एवं आवश्यकता के बारे में सभी विचारक एक मत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में विपक्ष में प्रधानतः चार बातें कही जाती हैं—

प्रथम, यह कहा जाता है कि निषेधाधिकार के कारण ही सुरक्षा-परिषद शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में असमर्थ हो गई है। यह अधिकार ही अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल में सबसे बड़ा बाधक है। ऐसी कुछ परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें प्रयोग अनिवार्य हो जाता है, परन्तु निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद ऐसा नहीं कर पाती। इस विषय में ट्रिग्वेली (Trygve Lie) ने कहा था कि "संयुक्त राष्ट्रसंघ निषेधाधिकार के कारण नपुंसक है। यह महा शक्तियों के संघर्ष द्वारा पक्षाघातग्रस्त कर दिया गया है।"

दूसरे, निषेधाधिकार विधि के समक्ष समता और राष्ट्रों की सम्प्रभु-समानता के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है।

तीसरे, निषेधाधिकार पृष्ठपोषक राज्यों (Client States) की एक न्यूनाधिक खुली राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है। यह हो सकता है कि प्रत्येक स्थायी सदस्य अपने मित्र राष्ट्रों को निषेधाधिकार का संरक्षण प्रदान करे। ऐसी स्थिति में यह भय पैदा होना स्वाभाविक है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य स्थायी सदस्यों के नेतृत्व में गुटों में विभक्त हो जायेंगे। यह भय निराधार नहीं है। हम सभी जानते हैं कि अमेरिका और सोवियत रूस के नेतृत्व में ऐसे दो शक्तिशाली गुट जन्म ले भी चुके हैं।

चौथे, निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद में जो गतिरोध उत्पन्न होता रहा है, उसने विश्व के राज्यों की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में आस्था को पूरी तरह डगमगा दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की तरफ से निराश होकर ही उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए NATO, SEATO जैसे प्रादेशिक सुरक्षा संगठनों का आश्रय लिया है।

निषेधाधिकार की व्यवस्था में निःसन्देह कुछ दोष अवश्य हैं, किन्तु इस व्यवस्था को विनष्ट करना न तो वांछनीय है और न व्यावहारिक ही। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी संगठन को सफलता तभी मिल सकती है जब उसे विश्व की महान शक्तियों का सहयोग प्राप्त हो परन्तु इन

महान देशों का किसी ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं है जिसमें अन्य देश केवल अपने बहुमत से इसे किसी कार्य को करने अथवा न करने के लिए बाध्य कर दें। इसे रोकने का एक मात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। शूमैन (Shuman) ने लिखा है "इसके निर्माताओं ने यह स्पष्ट ही समझा था कि यदि सुरक्षा परिषद किसी महान राज्य के विचार के विरुद्ध कोई कार्यवाही करती है तो इसका अर्थ विश्व शान्ति नहीं वरन् युद्ध होगा।

निषेधाधिकार एक अनिवार्यता है। विद्वानों और विधि शास्त्रियों द्वारा व्यक्त विचारों और अब तक की सुरक्षा परिषद की कार्यवाहियों के आधार पर अनेक कारण इस पक्ष में प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

प्रथम, संयुक्त राष्ट्र संघ को सुचारु रूप से चलाने के लिए निषेधाधिकार का होना अत्यावश्यक है। निषेधाधिकार इस सत्य की अनुभूति पर आधारित है कि बिना महा शक्तियों के सहयोग के सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था सम्भव नहीं है राष्ट्र संघ की असफलता का एक प्रमुख कारण संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस का उससे पृथक रहना था। आज भी रूस और अमरीका निषेधाधिकार के बिना संयुक्त राष्ट्र संघ में रहने को उद्यत नहीं होंगे और उनके बिना संयुक्त राष्ट्रसंघ निरर्थक तथा निष्फल होकर राष्ट्र संघ की कहानी की पुनरावृत्ति कर देगा। इस सम्बन्ध में विशिन्सकी (Vishin sky) का मत है कि "निषेधाधिकार की शक्ति के अन्त का अर्थ होगा संयुक्त राष्ट्र संघ का अन्त, क्योंकि एक महा शक्ति के विरुद्ध प्रयोग का अर्थ है, युद्ध को निश्चित निमन्त्रण।" निषेध का मूल विचार स्वर्गीय पण्डित नेहरू के शब्दों में "विश्व युद्ध की सम्भावना को हटाने और विवादों को सम्मेलनों द्वारा सुलझाना है।"

दूसरे, यह कहना गलत है कि निषेधाधिकार के फलस्वरूप सुरक्षा परिषद का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव बताता है कि निषेधाधिकार शक्ति के इतने अधिक प्रयोग होने के कारण किसी महत्वपूर्ण निर्णय लेने में इसने अधिक बाधा नहीं पहुंचाई है। जिन निर्णयों के लेने में यह बाधक बना है उनके न लेने पर भी विश्व शांति में किसी प्रकार का खतरा नहीं पहुंचा है।

तीसरे कई बार निषेधाधिकार पक्षपातपूर्ण निर्णय लेने में बाधक रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण उपायों से सुलझाने में सफल हुआ है। उदाहरणार्थ, जब कश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद् के समक्ष प्रस्तुत था तो सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को सम्हालने में और सत्य की रक्षा करने में सहायता प्रदान की। यदि निषेध की व्यवस्था

न होती तो संयुक्त राष्ट्र संघ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता और उस गुट विशेष को अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती।

चौथे सुरक्षा परिषद् की सीमित निषेधाधिकार प्रणाली दोषपूर्ण होते हुए भी राष्ट्र संघ परिषद् की सर्वसम्मत मतदान प्रणाली से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

पाचवें, सुरक्षा परिषद् का अधिकांश कार्य महासभा द्वारा सम्हाल लिया गया है तथा १९५० मे 'शांति के लिये एकता' का प्रस्ताव पास होने के बाद से निषेधाधिकार का तथा निषेध (Veto) करने वाली सुरक्षा परिषद् का महत्व घट गया है। अब इसका प्रभाव मुख्य रूप से सदस्यता के सम्बन्ध मे ही रह गया है। न तो यह कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करता है और न इसके आगे ही बढ़ता है। निषेधाधिकार संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य को पगु भी नही करता। इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किये जाते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ की वास्तविक सफलता तो इस बात मे निहित है कि वह विभिन्न राज्यो से अपने निर्णयों को क्रियान्वित करा सकने मे सफल हो।

छठे, अनेक और भी ऐसे व्यावहारिक पग उठाये जा चुके हैं जिनने निषेधाधिकार के महत्व को पूर्वापेक्षा बहुत कम कर दिया है। अन्तरिम समिति या लघु सभा (Interim Committee or Little Assembly), शांति निरीक्षण आयोग (Peace Observation Commission) तथा सामूहिक उपाय समिति (Collective Measures Committee) आदि की स्थापना के द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को निषेधाधिकार के दुष्प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि नई सदस्यता और शांति-पूर्ण समझौतों के सम्बन्ध मे तो निषेधाधिकार आंशिक है, अत समाप्त होना चाहिये। परन्तु शांति भंग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिये इस अधिकार का प्रयोग अत्यावश्यक है, अतः इसे बनाये रखना लाभप्रद है।

आर्थिक व सामाजिक परिषद्

यह संघ का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है जिसके माध्यम से संघ के अराज-नीतिक प्रकृति के लक्ष्यों को पूरा किया जाता है। यह संस्था अपने सहायक अंगों द्वारा विश्व के लोगों के आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों मे विभिन्न महत्वपूर्ण कार्य करती है। यह संसार से गरीबी और हीनता को मिटा कर एक स्वस्थ, विकसित और समोन्नत विश्व

के निर्माण में प्रयत्नशील है। विभिन्न राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों में उठ खड़े होने वाले वाद विवादों को व झगड़ों को भी यह परिषद् मिटाने का प्रयत्न करती है। इस परिषद् द्वारा स्थापित विभिन्न आर्थिक व प्राविधिक सहायता योजनाओं के माध्यम से पिछड़ी हुई जातियों और जन समुदायों के विकास का प्रयत्न किया जाता है। परिषद् का मुख्य लक्ष्य मानव अधिकारों को प्रोत्साहन देना है। इस दायित्व की पूर्ति के लिए परिषद् ने विभिन्न प्रकार के मानव अधिकारों का अध्ययन किया है और इनके लिए विभिन्न आयोग स्थापित किये हैं। *शरणार्थियों व राज्यहीन व्यक्तियों के लिए नियम बनाये गये हैं, ट्रेड-यूनियनों के अधिकारों का, दासता और बेगार का अध्ययन किया गया है।*

यद्यपि आर्थिक व सामाजिक परिषद् के उपरोक्त सभी कार्य अराजनीतिक हैं, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से इनके द्वारा एक स्वस्थ राजनीतिक वातावरण तैयार होने में सहायता मिलती है। आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक क्षेत्र में सहयोग के कारण राष्ट्रों में जो पारस्परिक सद्भावना और सहयोग की प्रवृत्ति जागृत होती है वह दूषित राजनीतिक वातावरण को सुधारने में अपरोक्ष रूप से सहायक होती है। मानव-अधिकारों में आर्थिक व सामाजिक अधिकारों के अतिरिक्त राजनीतिक अधिकार भी सम्मिलित हैं। इन मानव अधिकारों को प्रोत्साहन देने के उत्तरदायित्व के फलस्वरूप आर्थिक व सामाजिक परिषद् राजनीतिक क्षेत्र में कुछ न कुछ सुधारात्मक अप्रत्यक्ष प्रभाव अवश्य डालती है। अर्द्ध विकसित व अल्प विकसित देशों को आर्थिक व प्राविधिक सहयोग दे कर यह परिषद् उन्हें उन्नत बनाने में और वहां आर्थिक स्थिरता लाने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई है। यह कोई छिपा तथ्य नहीं है कि आर्थिक स्थिरता अन्ततोगत्वा राजनीतिक स्थिरता को जन्म देती है। जब राष्ट्रों में राजनीतिक स्थिरता को प्रोत्साहन मिलता है तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इससे अप्रभावित नहीं रह सकती। राजनीतिक स्थायित्व स्वस्थ राजनीतिक दृष्टिकोण के विकास में बड़ा सहायक हुआ है।

न्यास-परिषद् व न्यास-व्यवस्था

संघ का चौथा महत्वपूर्ण अंग 'न्यास-परिषद्' (Trusteeship Council) है। चार्टर के अध्याय १२ के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था (Trusteeship System) को समझाया गया है और अगले अध्याय में न्यास-परिषद् पर प्रकाश डाला गया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति (Trusteeship System) राष्ट्र-संघ की संरक्षण-व्यवस्था (Mandate System) का विकसित और उच्चतम रूप है जिसके प्रमुख उद्देश्य, चार्टर अनुच्छेद ७६ के अनुसार ये हैं—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना,

(२) न्यास प्रदेशों के निवासियो का स्व शासन की दिशा मे विकास करना

(३) मानव अधिकारो के प्रति सम्मान की भावना को बढ़ाना और यह भाव जागृत करना कि ससार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं।

(४) सामाजिक आर्थिक, तथा वाणिज्यिक मामलो मे सयुक्त राष्ट्र-सघ के सब सदस्यो और उनके नागरिको के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किये जाने वाले कार्य प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से प्रशासक राष्ट्रो व न्यास पद्धति के प्रदेशो की राजनीति को प्रभावित करते हैं जिसका अन्ततः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर भी प्रभाव पड़ता है। न्यास पद्धति के अन्तर्गत आने वाले सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रदेशों को स्वय सुरक्षा परिषद का सरक्षण मिलता है जब कि सामान्य न्यास प्रदेश महासभा व न्यास परिषद के अधिकार क्षेत्र मे आते हैं और उनके शासन सचालन के लिए एक राज्य, अनेक राज्यो अथवा स्वय सयुक्त राष्ट्र सघ को सरक्षक नियुक्त किया जा सकता है। सरक्षण परिषद का काम है कि वह उन राज्यो पर नियन्त्रण रखे जो सरक्षक (Trustees) बनाये गये हैं। इन सरक्षकों को सयुक्त राष्ट्र सघ ने कुछ कार्य सौंप हैं,जैसे सरक्षक प्रदेशो की राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक व शैक्षणिक उन्नति के लिए प्रयास करना दुराचार व भ्रष्टाचार को दूर करना, सद्‌व्यवहार करना, स्वायत्त शासन का विकास करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को सुदृढ करने के लिए क्रियात्मक कदम उठाना आदि। न्यास परिषद् शासन कर्ता अथवा सरक्षक देश से न्यास प्रदेश की शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध मे वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त करती है। इस हेतु परिषद द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली मे न्यास प्रदेशों के शासन से सम्बन्धित सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। न्यास परिषद् प्रतिवर्ष अपने निरीक्षक मण्डल पूर्वी अफ्रीका के न्यास प्रदेशो, प्रशान्त महासागर के न्यास प्रदेशो, टागानिका, सौमालीलैण्ड आदि मे इस प्रकार भेजती है कि तीन वर्षों में एक बार प्रत्येक प्रदेश का निरीक्षण हो जाय। ये निरीक्षक मण्डल पराधीन प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अत्यन्त प्रभावशाली साधन हैं। ये परिषद् का 'नेत्र और कान' हैं क्योंकि एक ओर तो ये निरीक्षक मण्डल परिषद् के सदस्यों को व्यक्तिगत और प्रत्यक्ष रूप से न्यास परिषद् के निवासियों का अध्ययन करने का अवसर प्रदान करते हैं

और दूसरी ओर वे न्यास-प्रदेशों की जनता को इस बात का सन्तोष प्रदान करते हैं कि परिषद् उनकी स्थिति की वास्तविकता से अनभिज्ञ नहीं है। ये निरीक्षक-मण्डल निष्पक्ष और स्वतन्त्र अन्वेषण करने मे सक्षम हैं। ये निरीक्षक मण्डल न्यास प्रदेश मे शासन सरकार की विभिन्न नीतियों का अध्ययन ही नहीं करते है बल्कि सुधार के लिए आवश्यक सुझाव भी देते हैं।

स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ न्यास परिषद् व न्यास व्यवस्था के माध्यम से विश्व के विभिन्न प्रदेशो मे शान्ति, सुरक्षा और स्वायत्त शासन को प्रोत्साहन देता है और इस प्रकार स्वस्थ राजनीतिक-आर्थिक वातावरण बना कर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को उचित दिशा मे मोड़ने का प्रयत्न करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य न्यायिक अंग है। संघ के सभी सदस्य इस न्यायालय के अधीन हैं। न्यायिक प्रश्नों पर आधारित उनके सभी विवादों का निर्णय इस न्यायालय मे अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के अनुसार होता है। वह देश भी, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य न हो, सुरक्षा-परिषद् की सिफारिशों के आधार पर महासभा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान का पक्षकार (Party) बनाया जा सकता है। व्यक्तिगत तौर पर अपने मामले न्यायालय के सामने प्रस्तुत नहीं किये जा सकते, केवल राज्य ही न्यायालय के समक्ष उपस्थित हो सकते हैं। चार्टर के अनुच्छेद ६४ म यह व्यवस्था है कि यदि कोई पक्षकार या विवादी न्यायालय के निर्णय को न माने तो सुरक्षा परिषद् को सूचित कर दिया जाता है। परिषद् स्थायी सदस्यो की सहमति और ६ सदस्यों के बहुमत से यह निश्चित करती है कि न्यायिक निर्णय का निष्पादन कराया जाय। अनुच्छेद ४१ के अनुसार परिषद् सैनिक बल-प्रयोग को छोड़ कर ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकती है जिनमे आर्थिक सम्बन्ध, रेल, समुद्र, डाक, रेडियो, अन्य यातायात के साधनों एव राजनीतिक सम्बन्धों के अनुच्छेद सम्मिलित हैं इन उपायों मे असफल होने पर, अनुच्छेद ४२ के अनुसार, परिषद् जल, स्थल और वायु सेना द्वारा ऐसी कार्यवाही कर सकते हैं *जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक हो। हन्सकेल्सन ने इस* व्यवस्था की अपर्याप्तता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि चार्टर मे न्यायालय के निर्णय के अनुपालन न होने की दशा में अपील की प्रक्रिया दी हुई है, यह विचार करना कठिन है कि ऐसे अनुपालन को शान्ति के लिए धमकी अथवा उसका भंग कहा जाये।" ओपेनहेम का विचार है कि इस प्रकार का संशोधन होना चाहिए जिससे सुरक्षा-परिषद्

का कार्य आदेशात्मक हो जाय और इस विषय में सुरक्षा-परिषद् की कार्यवाही स्थायी सदस्यों के मतैक्य होने की आवश्यकता के बन्धन से मुक्त हो जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विवादों का निर्णय करने के अतिरिक्त, मांग की जाने पर, महासभा व सुरक्षा परिषद् को अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी अन्य अंग को वैधानिक प्रश्न पर परामर्श भी दे सकता है। इसके अतिरिक्त वादी पक्ष अपने मनोरथ के अनुसार उत्तम कानूनी राय प्राप्त कर सकता है जिसके औचित्य व अनौचित्य को भली भांति समझता है। स्टोन ने लिखा है "दोषी राज्य पोल खुलने से बचने के लिए विवाद के सहमतिपूर्ण निपटारे के लिए तैयार हो जाते हैं। न्यायालय के मत का नैतिक बल भी बहुत अधिक होता है और यदि कोई राज्य अवहेलना करे तो उसे विश्व के जनमत के सम्मुख भर्त्सना सहनी पड़ती है। अतः यह परामर्शदात्री मत चाहे कानूनी रूप में अनिवार्य नहीं है, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है।

सचिवालय

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों के सम्पादन के लिए सचिवालय की व्यवस्था है। महासचिव को अनेक ऐसे अधिकार मिले हैं और उसे अनेक ऐसे कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण हैं। चार्टर के अनुच्छेद ९९ के अनुसार यह व्यवस्था है कि "यदि महासचिव यह समझे कि किसी मामले में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा होता है तो वह सुरक्षा परिषद का ध्यान उस मामले की ओर आकर्षित कर सकता है।" यह महासचिव का निश्चय ही सब से बड़ा अधिकार है जिसके बल पर वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत दिलचस्पी लेकर विश्व-शान्ति कायम रखने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद १०० (२) के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव और उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा और उन दायित्वों के निर्वाह में किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करेगा।

महासचिव का संघ में महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण उसके द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावनायें भी बढ़ जाती हैं। इसी कारण भूतपूर्व सोवियत प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव ने यह सुझाव दिया था कि महासचिव के वर्तमान पद को समाप्त कर देना चाहिये तथा इसके स्थान पर ट्रियम्वीरेट (Triumvirate) की स्थापना कर दी जाये अर्थात् तीन राष्ट्रों की कार्यकारिणी बना दी जाये जो सोवियत रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा असलग्न देशों का प्रतिनिधित्व करे। तीनों के पास वीटो का अधिकार होना

चाहिये। इस सुझाव को अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण अनुपयोगी समझा गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में महासचिव के पद पर अभी तक तीन व्यक्तियों की नियुक्ति हुई है—ट्रिग्वेली, हैमर शोल्ड तथा ऊ-थाण्ट। वर्तमान समय में ऊ-थाण्ट ही इस पद पर हैं।

महासचिव का पद बड़ा महत्व का है और उसे न केवल प्रशासनिक अपितु राजनैतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। राजनीतिक कार्यों में वह बहुत बड़ी भूमिका अदा कर सकता है। १९५० में चीन के प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर रूस द्वारा संघ की कार्यवाहियों में भाग न लेने की घोषणा करने पर, इस संकट को टालने के लिए महासचिव ट्रिग्वेली ने अथक प्रयास किये और समझौते के लिए योजनायें प्रस्तुत की। पुनः १९५० में सुरक्षा परिषद की बैठक में महासचिव ट्रिग्वेली ने कोरिया समस्या पर सर्वप्रथम उपयुक्त प्रकाश डाला और उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कार्यवाही करने की प्रभावकारी अपील की। इसके बाद परिषद द्वारा जब उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की छूट दे दी गई तो इन सैनिक कार्यवाहियों के लिए सदस्य राज्यों का सहयोग अर्जित कराने और उनमें समन्वय स्थापित कराने का उत्तरदायित्व भी महासचिव को ही उठाना पड़ा।

इसी प्रकार कांगो में छिड़े गृह-युद्ध के सम्बन्ध में भी महासचिव को बहुत बड़े उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ा। गृह-युद्ध को समाप्त करके शान्ति की स्थापना करने के लिए राष्ट्र संघीय सेना कांगो में प्रविष्ट हुई और महासचिव हेमरशोल्ड ने अत्यन्त साहस और सूझबूझ के साथ इस सैनिक अभियान का निर्देशन किया। वह अपने दायित्वों को निभाते हुए, प्राणों की परवाह न करते हुए भी, अनेक बार कांगो गये और इसी क्रम में उन्हें हवाई दुर्घटना में प्राणों से हाथ भी धोना पड़ा।

महासचिव की राजनीतिक जिम्मेदारी का ताजा उदाहरण सन् १९६५ में भारत पाक युद्ध में अदा की गई ऊ-थाण्ट की भूमिका से मिलता है। उन्हीं के अथक प्रयासों के फलस्वरूप दोनों देशों में युद्धबन्दी की अवस्था निकट आई।

वस्तुतः महासचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के अवसर मिलते हैं। महासचिव का विभिन्न देशों के प्रतिनिधि मण्डलों के साथ निरन्तर सम्पर्क रहता है, अतः उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकारों को प्रभावित कर सके। उसे यह स्वतन्त्रता होती है कि वह सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रालयों में जा सके और स्वतन्त्रतापूर्वक सलाह मशवरा कर सके। उसे सार्वजनिक भाषण देने का भी अधिकार होता है। अपने भाषणों द्वारा वह विश्व जन मत को

प्रभावित कर सकता है । इतना ही नहीं अपनी रिपोर्टों में भी वह इस तरह की सिफारिशें कर सकता है कि संघ को कौनसी नीति एवं कार्यक्रम अपनाना चाहिए ।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की विश्व-शान्ति में भूमिका
अथवा
संघ का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव
(The Role of U. N. O. in World Peace)
or
(The Impact of U N O in the field of International Politics)

संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रों के बीच के राजनीतिक झगड़े सुलझाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। अपने इस महत्वपूर्ण कार्य के माध्यम से संघ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक घटना-चक्र को बड़ा भारी प्रभावित करता है। चार्टर द्वारा यह महत्वपूर्ण कार्य यद्यपि मुख्यतया सुरक्षा परिषद के कंधों पर डाला गया है तो भी कुछ विशेष परिस्थितियों में महासभा भी इन पर अपना योगदान कर सकती है। इन विवादों को तय करने का सुरक्षा-परिषद के पास कोई विशेष तरीका नहीं है। वह अनेक तरीकों में से समयानुसार किसी को भी अपना सकती है। सुरक्षा परिषद द्वारा राष्ट्रों के केवल राजनीतिक विवादों पर ही विचार किया जाता है वैधानिक विवादों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय विचार करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख २५ वर्ष की इसकी अल्पावधि में छोटे बड़े अनेक राजनीतिक विवाद प्रस्तुत हुए हैं। उनका समाधान करने में जहां इसे उल्लेखनीय सफलतायें मिली है, वहां महा-शक्तियों की अड़ंगेबाजियों के फलस्वरूप गम्भीर असफलताओं का मुख भी देखना पड़ा है। अग्रिम पंक्तियों में हम कुछ प्रमुख विवादों की प्रकृति और उन्हें हल करने में संघ के योगदान का मूल्यांकन संक्षेप में कर रहे हैं।

रूस ईरान विवाद

संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किया जाने वाला यह प्रथम विवाद था। ईरान के एक प्रान्त आजरबाइजान (Azerbizan) में सोवियत फौजें घुसी हुई थी। १६ जनवरी, १६४६ को ईरान ने सुरक्षा परिषद से शिकायत करते हुए रूस पर ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया और ईरानी प्रान्त में रूसी सेनाओं की उपस्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए खतरा बताया। सुरक्षा परिषद में आरोप-प्रत्यारोप चले और रूस ने यह संकेत दिया कि वह ईरानी सरकार के साथ प्रत्यक्ष वार्ता करना पसन्द करेगा। परिषद् ने दोनों पक्षों को सीधी बातचीत करने और वार्ता की प्रगति से सूचित करने का सुझाव दिया। जब वार्ता से कोई परिणाम न निकला तो परिषद ने सोवियत संघ से प्रार्थना की कि वह ६ मई, १६४६ तक ईरान से अपनी फौजें बुला ले। इसी बीच ईरान और रूस के मध्य समझौता हो गया और महासचिव ने बताया कि परिषद को अब इस प्रश्न

पर विचार करने का अधिकार नहीं रहा है। २१ मई, १६४६ को टेहरान तथा मास्को ने घोषणा की कि सोवियत सेनायें ६ मई को ही ईरान खाली कर चुकी हैं।

ईरानी संकट को सुलझाने में यद्यपि सुरक्षा-परिषद द्वारा की गई किसी विशेष कार्यवाही का भाग नहीं था, किन्तु परिषद में हुई बहसों ने समस्या पर प्रबल रूस विरोधी लोकमत जागृत कर दिया और रूस ने अपनी सेनायें ईरानी भूमि से हटा लेना उचित समझा।

यूनान विवाद

३ जनवरी, १६४६ को रूस ने सुरक्षा परिषद से शिकायत की कि महायुद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी ब्रिटिश फौज यूनानी भू-प्रदेश पर बनी रह कर उस देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर रही है। परिषद में विचार विमर्श के दौरान यूनानी प्रतिनिधि ने कहा कि यूनानी जनता ब्रिटिश सैनिकों की उपस्थिति को व्यवस्था और सुरक्षा के लिए अनिवार्य समझती है। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था कि सुरक्षा परिषद ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय कर लिया। दिसम्बर १६४६ में यूनान ने परिषद से शिकायत की कि पड़ौसी साम्यवादी देश छापा मारों की सहायता दे रहे हैं और यूनान के साथ तनाव पैदा कर रहे हैं। परिषद द्वारा नियुक्त आयोग ने मई, १६४७ में इस शिकायत की पुष्टि की। परिषद ने जब आगे जाच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया तो सोवियत रूस ने वीटो का प्रयोग कर दिया। इसके बाद महासभा ने जाच-पड़ताल के लिए आयोग नियुक्त किया जिसे अल्बानिया, बल्गेरिया व यूगोस्लाविया ने अपनी सीमाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं दी। अन्त में ३ मुख्य कारणों से यूनानी समस्या का समाधान हो गया —

(१) महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति में साम्यवादी देशों द्वारा पूर्ववत मात्रा में छापामारों को सहायता नहीं दी जा सकी।

(२) टीटो-स्टालिन-विवाद के कारण यूनानी छापामारों को यूगोस्लाविया की सहायता बन्द हो गई।

(३) संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण में अमेरिका द्वारा यूनान को पूरी पूरी आर्थिक व सैनिक सहायता मिली।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से दक्षिणी यूरोप का एक महत्वपूर्ण देश साम्यवादी नियन्त्रण में जाते जाते बच गया।

बर्लिन की समस्या

१६४५ के पोटसडम समझौते के अनुसार बर्लिन नगर रूस, फ्रांस,

ब्रिटेन और अमेरिका के नियन्त्रण में बाँट दिया गया था। पश्चिमी बर्लिन मित्र राष्ट्रों के नियन्त्रण में और पूर्वी बर्लिन रूस के नियन्त्रण में रहा था। तभी से आज तक यह स्थिति चली आ रही है। पोट्सडम सम्मेलन में यह भी तय हुआ था कि दोनों जर्मनी की आर्थिक एकता कायम रखी जायगी। लेकिन चारों देश इस निर्णय को कायम न रख सके। पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा नई मुद्रा प्रचलित करने से क्षुब्ध होकर रूस ने १मार्च, १६४८ को पश्चिमी बर्लिन के जल और थल मार्ग बन्द कर दिये। इस नाके-बन्दी का प्रत्युत्तर पश्चिमी राष्ट्रों ने हवाई मार्ग का अधिकाधिक प्रयोग करके दिया।

२३ सितम्बर, १६४८ को सुरक्षा-परिषद में रूसी नाके-बन्दी के विरुद्ध शिकायत की गई और इस कार्यवाही को शान्ति के लिए खतरा बताया गया। झगड़ा महाशक्तियों के बीच था, अतः सुरक्षा-परिषद समस्या पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी कर सकने में असमर्थ थी। इसी मध्य चारों महाशक्तियों के बीच अनौपचारिक रूप से समस्या को सुलझाने की बातचीत चलती रही और ४ मई १६४९ को फ्रांस, ब्रिटेन व अमेरिका ने सुरक्षा—परिषद को सूचित किया कि बर्लिन समस्या पर रूस से उनका समझौता हो गया है।

यद्यपि समस्या का हल महाशक्तियों के आपसी समझौते से हुआ, तथापि संयुक्त राष्ट्र संघ ने विचार-विमर्श, पत्र-व्यवहार और सम्पर्क आदि के माध्यम से दोनों पक्षों को परस्पर मिलने के लिए महत्वपूर्ण तथा उपयोगी पृष्ठभूमि तैयार की और स्थान तथा सुविधायें उपलब्ध की।

कोरिया संकट

यह एक ऐसा गम्भीर संकट था जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ की सामाजिक सुरक्षा और दण्ड व्यवस्था की वास्तविक परीक्षा थी और जिसके समाधान के लिए संघ को पहली बार सैनिक कार्यवाही का आसरा लेना पड़ा। द्वितीय महायुद्ध के बाद विभाजित उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में विरोध बढ़ता गया। २५ जून, १६५० को उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर विशाल सैनिक आक्रमण कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघीय जाँच-पड़ताल से इसकी पुष्टि हो गई। इन दिनों रूस ने संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों का बहिष्कार कर रखा था। सुरक्षा-परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करके सैनिक हस्तक्षेप का निश्चय किया। जुलाई, १६५० में संयुक्त राष्ट्र संघीय झण्डे के अधीन लगभग सोलह राष्ट्रों की एक संयुक्त कमान की रचना हुई जिसका सेनापति जनरल मैकार्थर बनाया गया। पहले तो संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना को सफलता मिली लेकिन जब संघीय फौजों ने ३८ अक्षांश पार करके उत्तरी कोरिया क्षेत्र में बढ़ना शुरू किया तो साम्यवादी चीन के सैनिक उत्तरी कोरिया की ओर से लड़ाई में कूद पड़े।

एक ओर तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्यवाही जारी रही और दूसरी ओर संघ ने शान्तिपूर्ण समझौते के प्रयास जारी रखे। महासभा ने चीन और उत्तरी कोरिया को युद्ध-सामग्री भेजने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया पर इसका कोई फल नहीं निकला। युद्ध की भीषणता से दोनों ही पक्ष तंग आ गये और विराम-सन्धि की चर्चा चलने लगी। अन्त में १० जुलाई, १९५१ को राष्ट्र संघीय संयुक्त कमान और साम्यवादी चीन व उत्तरी कोरिया की संयुक्त कमान के प्रतिनिधियों में अधिकांश विषयों पर समझौता हो गया। शेष मतभेदों और युद्ध बन्दियों के मसले पर जून, १९५३ में समझौता सम्पन्न हो सका।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से कोरिया का युद्ध विश्व-युद्ध बनने से रुक गया। ए. ई. स्टीवेन्सन के शब्दों में—"संयुक्त राष्ट्र संघ के इस प्रथम महान सामूहिक सैनिक कार्यवाही ने यह सिद्ध कर दिया कि यह संगठन शक्ति और शान्ति दोनों से काम लेने के रूपों को ग्रहण करने योग्य है।" वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के बल पर ही संघ कोरिया युद्ध में सफल हो सका।

फिलीस्तीन विभाजन की समस्या

प्रथम महायुद्ध के बाद यह प्रदेश संरक्षण प्रदेश (Mandate) के रूप में ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त फरवरी, १९४७ में ब्रिटेन ने घोषणा कर दी कि उसके लिए इस मैन्डेट के शासन-प्रबन्ध को चलाना सम्भव नहीं है। अप्रैल १९४७ में ब्रिटेन ने यह समस्या महासभा के सामने पेश करदी। महासभा द्वारा नियुक्त विशेष समिति ने अगस्त, १९४७ में सिफारिश की कि फिलस्तीन को दो भागों में बांट दिया जाय—एक भाग में अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। महासभा ने सिफारिश स्वीकार कर ली। लेकिन फिलस्तीन विभाजन के प्रश्न पर अरबों और यहूदियों में संघर्ष बढ़ता गया। दोनों पक्षों में प्रभावी युद्ध-विराम के सभी संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रयास विफल हो गये। १४ मई, १९४८ को ब्रिटेन ने फिलस्तीन पर [redacted] अपना शासन प्रबन्ध हटा लिया (जिसकी घोषणा १५ मई को की गई) और यहूदियों ने फिलस्तीन में इजराइल राज्य की घोषणा कर दी। बदले में ईराक, लेबनान, ट्रांस-जोर्डन आदि अरब राष्ट्रों ने फिलस्तीन पर आक्रमण कर दिया। इजराइल के प्रत्याक्रमण को अरब राष्ट्र नहीं रोक सके। ११ जून, १९४८ को संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रतिनिधि बर्नाडोट के प्रयत्नों से दोनों पक्षों में चार सप्ताह के लिए युद्ध विराम हो गया किन्तु उपद्रव चलते रहे और १७ सितम्बर को बर्नाडोट भी गोली के शिकार हुए। सुरक्षा परिषद

ने अब डा० राल्फ जे बन्च को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। २९ दिसम्बर को तीसरी बार युद्ध-विराम स्थापित हुआ। इसके बाद महासभा ने एक "संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग" (U N Conciliation Commission) नियुक्त किया जिसने अनेक विकट प्रश्नों को सुलझाया और इजराइल व पड़ोसी राज्यों में सीमा सम्बन्धी सन्धियां सम्पन्न हुईं।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से फिलस्तीन विभाजन की समस्या का समाधान हो कर इजराइल और अरब राष्ट्रों में सन्धियां हो गई लेकिन इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अक्टूबर, १९५६ में मिस्र और इजराइल के मध्य पुनः युद्ध छिड़ा तथा रूसी हस्तक्षेप व राष्ट्र संघीय प्रयासों से शान्ति स्थापित हुई। इसके बाद १९६७ के मध्य एक बार फिर अरब राष्ट्रों और इजराइल के बीच घन-घोर युद्ध छिड़ा तथा संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर शान्ति हो गई।

इण्डोनेशिया विवाद

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इण्डोनेशिया पर हालैण्ड का अधिकार था। युद्ध काल में जापान ने अधिकार जमा लिया। जापान की पराजय के बाद इण्डोनेशिया के राष्ट्रवादियों ने अपने यहां एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर दी। फलस्वरूप हालैण्ड और इण्डोनेशिया में युद्ध छिड़ गया। मामला सुरक्षा-परिषद में आया। परिषद द्वारा नियुक्त 'सत्कार्य समिति' (Good Offices Committee) के प्रयत्नों से अगस्त, १९४७ में दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हो गया और स्थायी सन्धि की वार्ता चलने लगी। लेकिन दिसम्बर, १९४८ में हालैण्ड ने इण्डोनेशियन गणराज्य के विरुद्ध पुनः युद्ध छेड़ दिया तथा इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति व अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। परिषद ने इस सब कार्य का विरोध करते हुए हालैण्ड से कहा कि इण्डोनेशिया में एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न संघात्मक गणराज्य की स्थापना की जाय जिसे डच सरकार १ जुलाई, १९४९ तक सम्प्रभु शक्ति हस्तान्तरित कर दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए 'सत्कार्य समिति' को 'इण्डोनेशिया आयोग' में परिवर्तित कर दिया गया।

काफी विचार-विमर्श और दबाव के बाद डचों ने इण्डोनेशियाई राजधानी से अपनी फौजें बुलाली और यह सहमति प्रकट की कि ३० दिसम्बर, १९४९ तक इण्डोनेशिया के गणराज्य को सर्वोच्च सत्ता हस्तान्तरित कर दी जायगी। बाद में २७ दिसम्बर, १९४९ को ही इण्डोनेशिया को एक स्वतन्त्र सम्प्रभु गणराज्य मान लिया गया और २८ दिसम्बर, १९५० को उसे संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई। इण्डोनेशियाई विवाद को हल करने में इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ को उल्लेखनीय सफलता मिली।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न

दक्षिण अफ्रीका सरकार 'काले-गोरे' में भेद मानने के लिये बहुत समय से बदनाम है। १९४६ में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के प्रथम अधिवेशन में ही भारत ने यह प्रश्न उपस्थित कर दिया और दक्षिण अफ्रीका की सरकार पर मानवीय मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया। दक्षिण अफ्रीका ने भारत की शिकायत पर यह सफाई दी कि यह उसका घरेलू मामला है और संयुक्त राष्ट्र संघ को इसमें दखल नहीं देना चाहिये। महासभा ने दक्षिण अफ्रीका के तर्क को अमान्य घोषित करते हुए भारतीय प्रस्ताव पास कर दिया। किन्तु दक्षिण अफ्रीका इस प्रस्ताव की चिन्ता न करते हुए अपनी जाति-भेद की अमानवीय नीति पर चलता रहा। १९४९ में यह प्रश्न पुनः महासभा में उठाया गया जिसने एक प्रस्ताव द्वारा सिफारिश की कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका एक गोलमेज सम्मेलन करके समस्या का निदान करें। सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका की जिद के कारण कोई निर्णय न हो सका। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में अब तक यह प्रश्न बराबर उठाया गया है, लेकिन दक्षिण अफ्रीका ने अपना रवैया नहीं बदला है। महासभा में प्रस्ताव पास होते हैं, पर समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। वास्तव में इस प्रकार की मानवीय व्यवहार की समस्या को न सुलझा पाना संयुक्त राष्ट्र संघ की एक बहुत बड़ी विफलता है। ऐसी महान् अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के लिये यह दुर्भाग्यपूर्ण असमर्थता है कि समस्त विश्व असहाय होकर ताकता रहे और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद अपना नग्न नृत्य करता रहे तथा समस्त नैतिक और मानवीय मूल्यों पर आघात करता रहे।

काश्मीर समस्या

१५ अगस्त, १९४७ को भारत उप-महाद्वीप में दो स्वतन्त्र राष्ट्रों—भारत और पाकिस्तान की स्थापना हुई। स्वतंत्रता देने से पूर्व ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था की कि देशी राज्य अपनी इच्छानुसार अपनी स्थिति का निर्धारण कर सकते हैं और चाहे तो भारत या पाकिस्तान के साथ मिल सकते हैं। काश्मीर भी इसी तरह का एक देशी राज्य था। इस राज्य ने स्वतन्त्र रहने का निश्चय किया।

पाकिस्तान की नियत काश्मीर को जबर्दस्ती अपने साथ मिलाने की थी। अतः २२ अक्टूबर, १९४७ को उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के कबाइलियों द्वारा काश्मीर पर हमला करवा दिया। पाकिस्तान की एक नियमित सेना के एक बड़े भाग ने भी इस आक्रमण में हिस्सा लिया। राजधानी श्रीनगर का पतन सन्निकट होने पर काश्मीर के महाराजा ने

२६ अक्टूबर, १९४७ को भारत सरकार से काश्मीर को भारत में शामिल कर अविलम्ब सैनिक सहायता देने का अनुरोध किया। महाराजा ने 'प्रवेश पत्र' (Instrument of Accessation) पर हस्ताक्षर कर दिए। तत्पश्चात् भारतीय सेनायें काश्मीर की रक्षा के लिये भेज दी गईं। काश्मीर में पाकिस्तान का नग्न आक्रमण जारी रहा और १ जनवरी, १९४८ को भारत ने सुरक्षा परिषद में शिकायत की कि इस आक्रमण से अन्तर्राष्ट्रीय शांति को खतरा है। भारत ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान का काश्मीर पर आक्रमण स्वयं भारत के विरुद्ध किया गया आक्रमण है। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने घोषणा की कि काश्मीर का स्थायी विलयन भारत में वहां की जनता की मत-गणना (Plebescite) पर होगा।

सुरक्षा परिषद में दोनों पक्षों की ओर से आरोप-प्रत्यारोप होते रहे। २० जनवरी, १९४८ को सुरक्षा परिषद ने एक मध्यस्थ आयोग (Mediation Commission) नियुक्त किया जिसे युद्ध बन्द कराने के लिये और जनमत संग्रह का कठिन काम सौंपा गया। आयोग के प्रयत्न से युद्ध विराम हो गया और १/३ काश्मीर पाकिस्तान के कब्जे में रह गया। आयोग ने जनमत संग्रह कराने के लिये दोनों देशों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाये जिन्हें पाकिस्तान ने भंग कर दिया। काश्मीर में परिस्थितियां तेजी से बदलती गईं और भारत व पाकिस्तान में समझौता कराने के संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रयास कोई सफलता अर्जित न कर सके। पाकिस्तान को पश्चिमी राष्ट्रों का खुला समर्थन मिलता रहा और उनके हाथों में खेलते हुए सुरक्षा परिषद भारत के साथ अन्याय करती रही। १९५४ में काश्मीर संविधान सभा ने काश्मीर के आत्मासा भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया। १९५६ में राज्य के लिये एक नया संविधान स्वीकार किया गया जिसके द्वारा काश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का वैध अंग बन गया। इस तरह अब काश्मीर समस्या का स्वरूप बिल्कुल बदल गया और जनमत संग्रह का कोई मूल्य न रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिकन सैनिक गुट में शामिल हो जाने के कारण और काश्मीर को बलपूर्वक लेने की चाल चलने के कारण जनमत संग्रह की बात वैसे बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी।

पाकिस्तान, पाश्चात्य राष्ट्रों के समर्थन के बल पर रह रह कर काश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा परिषद में उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ़ रुख के कारण और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके।

काश्मीर का मामला आज भी सुरक्षा परिषद की विषय सूची में है। दुर्भाग्यवश विश्व गुटबन्दी के कारण सुरक्षा परिषद अभी तक इस विवाद का

हल नहीं कर सकी है। सुरक्षा परिषद में पश्चिमी शक्तियों का बहुमत है, अत: पाकिस्तान परिषद के फैसले को अपने पक्ष में कराने का कोई मौका नहीं चूकता। किन्तु सितम्बर १९६५ के भारत पाक युद्ध के बाद अब स्थिति इतनी बदल चुकी है कि पाकिस्तान भी यह समझ चुका है कि परिषद के माध्यम से भारत पर कोई भी निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा।

वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के लिये काश्मीर का विवाद राहू के समान सिद्ध हुआ। यद्यपि इस प्रश्न को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्धों को वह शांत कर सका है, लेकिन पश्चिमी शक्तियों के हाथों में खेलते हुए उसने जो पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया है, उससे इस महान् संस्था के गौरव पर आघात ही लगा है। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा यही है कि संयुक्त राष्ट्र संघ आक्रामक पाकिस्तान की सेनाओं को काश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे।

स्वेज नहर विवाद

१८६९ में बनकर पूरी हुई स्वेज नहर का संचालन एक स्वेज नहर कम्पनी करती थी जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस के अधिकांश शेयर थे। समझौते के अनुसार इसकी रक्षा के लिये ब्रिटिश सरकार अपनी सेना रखती थी। नवम्बर १९५० में मिस्र की सरकार ने यह माँग की कि ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से हट जाए। ब्रिटेन द्वारा यह माँग ठुकरा देने पर दोनों पक्षों के सम्बन्ध कटु होते गए। मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ता गया और अंत में जुलाई १९५४ में एक नये समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन का स्वेज क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेनी पड़ी। इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था। उपरोक्त समझौते के बाद भी मिस्र और ब्रिटेन व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हुआ और २६ जुलाई, १९५६ को नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया तथा मिस्र में स्वेज नहर कम्पनी की सम्पत्ति जब्त कर ली। ब्रिटेन और फ्रांस ने यह सम्पूर्ण विवाद २३ सितम्बर को सुरक्षा परिषद के समक्ष रख दिया। १३ अक्टूबर, १९५६ को परिषद ने समस्या के हल के लिये ६ सिद्धान्तों का प्रतिपादन एक प्रस्ताव के रूप में किया जिसमें स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखने का भी सुझाव दिया गया, लेकिन सोवियत वीटो से यह प्रस्ताव रद्द हो गया।

आपसी तनातनी इतनी बढ़ गई कि २९ अक्टूबर, १९५६ को ब्रिटेन और फ्रांस की प्रेरणा पर इजराइल ने स्वेज नहर क्षेत्र पर आक्रमण कर दिया। इसके दो दिन बाद ही ब्रिटेन और फ्रांस भी इजराइल के साथ युद्ध में कूद पड़ा। सुरक्षा परिषद में युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के

वीटो के कारण पास न हो सका। संघ के जीवन मे यह घोर संकट का समय था जब सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य स्वय सघ के चार्टर का उल्लंघन करके संघ के एक सदस्य राज्य पर हमला कर रहे थे। २ नवम्बर, १९५६ को महासभा के एक विशेष अधिवेशन ने अमेरिका का एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ब्रिटेन और फ्रास को सैनिक कार्यवाही की निन्दा करते हुए अविलम्ब युद्ध बन्द करने पर जोर दिया गया। ४ नवम्बर को यह प्रस्ताव पास किया गया कि महासचिव श्री डाग हेमरशोल्ड सयुक्त राष्ट्र-सघ की एक आपातकालीन सेना तैयार करें जो मिस्र म लडाई बन्द कराने आय तथा युद्धबन्दी का कार्य करे। १० राष्ट्रों ने मिलकर लगभग ६ हजार सैनिक दिये जो सयुक्त राष्ट्र सघ के नीले और श्वेत ध्वज के नीचे एकत्र हुए। ५ नवम्बर को सोवियत रूस ने ब्रिटेन और फ्रास को स्पष्ट चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय के भीतर मिस्र पर हमला बन्द नही किया गया तो सोवियत सघ नवीनतम शस्त्रों के साथ इस सकट मे हस्तक्षेप करेगा। इस चेतावनी से तृतीय महायुद्ध की सम्भावना दिखाई पडने लगी और ब्रिटेन और फ्रास ने भयभीत होकर युद्ध बन्द कर दिया। ७ नवम्बर, १९५६ को महासभा ने अपने एक प्रस्ताव में कहा कि ब्रिटेन, फ्रास व इजराइल की सेनायें मिस्र से हट जाए तथा स्वेज नहर क्षेत्र म अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाए। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया और १५ नवम्बर को सयुक्त राष्ट्र सघीय आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया। मिस्र ने सघ की सेनाओ को तभी घुसने की आज्ञा दी जब मिस्र की प्रभुसत्ता को हानि न पहुँचने का वचन दे दिया गया। अप्रैल १९५७ मे स्वेज नहर से जहाजो का आना जाना पुन प्रारम्भ हो गया।

मिस्र मे युद्ध बन्द कराने और विदेशी सेनाओं को हटाने मे सयुक्त राष्ट्र सघ को पूरी सफलता मिली और स्वेज पर ब्रिटेन व फ्रास के पुन आधिपत्य के सपने चूर चूर हो गये।

कांगो समस्या

सयुक्त राष्ट्र सघ की सबसे कठिन परीक्षा कागो मे हुई और सौभाग्य-वश इस परीक्षा मे वह सफल हुआ। १९५९ से पहले इस पर बेल्जियम का अधिकार था। लेकिन राष्ट्रवादी आन्दोलन के परिणामस्वरूप ३० जून, १९६० को स्वतन्त्र कागो गणराज्य की स्थापना हुई। लुमुम्बा प्रधानमन्त्री बने और कासावुबु राष्ट्रपति।

लेकिन कागो के लिये यह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता महगी सिद्ध हुई। कागो के ६ प्रान्त स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। ६ जुलाई १९६० को

लिओपोल्डविले नामक प्रान्त में सैनिक विद्रोह हो गया और बेल्जियम कांगो में पुन: हस्तक्षेप की ताक में था, अत: बेल्जियम की जनता की सुरक्षा के बहाने ९ जुलाई,१९६० को उसने कांगो में अपनी सेनायें भेज दीं। बेल्जियम के षड्यन्त्र से ११ जुलाई को कटंगा प्रान्त ने एक पृथक स्वतन्त्र राज्य बनाने की घोषणा कर दी। १२ जुलाई को प्रधानमन्त्री लुमुम्बा ने सयुक्त राष्ट्र संघ से प्रार्थना की कि बेल्जियम के आक्रमण से रक्षा करने के लिये कांगो को तुरन्त सैनिक सहायता दी जाए। १४ जुलाई को परिषद् ने यह प्रस्ताव पारित किया कि बेल्जियम की सेनायें कांगो से वापस चली जाएं और महासचिव कांगो को आवश्यक सैनिक सहायता देने की व्यवस्था करे। इस प्रस्ताव के अनुपालन में २८ जुलाई तक संघ की सेनाओं के १० हजार से भी अधिक सैनिक कांगो पहुँच गये। सयुक्त राष्ट्र संघीय सैनिकों ने कांगो और बेल्जियम के बीच होने वाले संघर्ष को समाप्त कर दिया। शीघ्र ही संघ की सेनायें विद्रोही कटंगा प्रान्त को छोड़कर पूरे कांगो में फैल गईं।

कांगो का मामला सुलझने की बजाय उलझता ही गया। अगस्त १९६० के अंत तक स्थिति बहुत बिगड़ गई। कटंगा का अनुसरण करते हुए कांगो के अन्य प्रान्तों ने भी पृथक राज्य स्थापित करने की नीति अपनाई। विद्रोहियों को कुचलने के लिये लुमुम्बा ने सैनिक शक्ति का आश्रय लिया। विद्रोहियों को बेल्जियम की खुली मदद मिलती रही। विदेशी हस्तक्षेप से कांगो को बचाने के लिये सयुक्त राष्ट्र संघीय सैनिकों ने कांगो के सभी हवाई अड्डों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, लेकिन कांगो के गृह-युद्ध में तटस्थता की नीति स्वीकार की। सयुक्त राष्ट्र संघ का यह कार्य इस दृष्टि से पक्षपातपूर्ण था कि पृथकतावादियों को तो कांगो में पहुँची हुई सेनाओं से खूब मदद मिल रही थी जबकि हवाई अड्डों पर संघीय सेनाओं का कब्जा होने से केन्द्रीय कांगोली सरकार को बाहर से सहायता मिलना बन्द हो गया था।

सितम्बर के प्रारम्भ में प्रधानमन्त्री लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासावुबू में सत्ता संघर्ष छिड़ गया। दोनों के सत्ता संघर्ष से कांगोली सेना परेशान हो गई और १४ सितम्बर को कर्नल मोबुतु ने सारी शासन सत्ता अपने हाथ में ले ली तथा कांगो में सैनिक शासन की घोषणा कर दी। कांगो की हालत बिगड़ती गई। जनवरी १९६१ में लुमुम्बा की हत्या कर दी गई। उधर कटंगा के शोम्बे ने सयुक्त राष्ट्र संघ को यह धमकी देना शुरू कर दिया कि यदि संघीय सेनायें कटंगा भेजी गई तो उसके विरुद्ध घोर आक्रमणात्मक कार्यवाही की जाएगी। कांगो की बिगड़ती हुई स्थिति पर विचार करने के उपरान्त सुरक्षा परिषद् में २१ फरवरी, १९६१ को यह प्रस्ताव पास किया कि कांगो में गृह-युद्ध रोकने के लिये सब उपाय बरते जाएं। इस प्रस्ताव के

अनुपालन में संयुक्त राष्ट्र संघ की एक सैनिक कमान नियुक्त की गई। २४ नवम्बर, १९६१ को सुरक्षा परिषद् ने अपने एक प्रस्ताव में आदेश दिया कि कांगो से कटंगा के पृथक होने के कार्यों को रोकने का प्रयत्न किया जाए। इसके बाद ही दिसम्बर में संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजों ने कटंगा प्रदेश पर नियन्त्रण रखने और केन्द्रीय कांगोली सरकार के अधिकार में उसे लाने के लिये सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर कब्जा कर लिया। सितम्बर, १९६२ में महासचिव हेमरशोल्ड कांगो के नेताओं से पृथक बातचीत के लिये स्वयं कांगो गये जब वे शोम्बे से वार्ता के लिये लियोपोल्डविले से इन्दोला गए तो मार्ग में ही उनका वायुयान रहस्यपूर्ण ढंग से दुर्घटना का शिकार हो गया और महासचिव सहित विमान के सभी यात्री जलकर खत्म हो गये। अगस्त १९६२ में नये महासचिव ऊ थान्ट ने कांगो के पुनः एकीकरण की योजना तैयार की जिसमें कटंगा को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में लाने के लिये अनेक संवैधानिक, सैनिक, आर्थिक उपायों का निर्देश था। शोम्बे ने संयुक्त राष्ट्र संघीय शान्ति प्रयासों की पूर्ण उपेक्षा की। इतना ही नहीं, कटंगा की सेनायें संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं पर हमला भी करने लगी। अन्त में अमेरिका और रूस समर्थित संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही के सामने शोम्बे ने घुटने टेक दिये और २५ जनवरी, १९६३ को घोषणा की कि कटंगा का कांगो के साथ पृथक्करण समाप्त होता है तथा वह महासचिव की एकीकरण योजना में पूरा सहयोग देगा।

इस प्रकार कांगो में अन्ततः शान्ति स्थापित कर दी गई और संयुक्त राष्ट्र संघ का शान्ति स्थापना का प्रधान कार्य कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ।

यमन की समस्या

१९ सितम्बर, १९६२ को यमन के शासक इमाम अहमद की मृत्यु हो गयी। २६ सितम्बर को एक क्रान्ति द्वारा राजतन्त्र की समाप्ति कर दी गयी और क्रान्तिकारी परिषद् ने गणराज्य की स्थापना की। दूसरी ओर राजतन्त्रवादियों को अपने पक्ष में करके शाहजादे हुसन ने सऊदी अरब में जिद्दा नामक स्थान में यमन की निर्वासित सरकार की स्थापना की। दोनों यमनी सरकारें एक दूसरे को समाप्त करने के लिए कूटनीतिक और सामरिक नीतियां अपनाती रहीं। अक्टूबर के समाप्त होते होते राजतन्त्रवादियों और गणतन्त्रवादियों में भीषण संघर्ष शुरू हो गया। सऊदी अरब और जार्डन ने राजतन्त्रवादियों की सहायता की और मिस्र ने गणतन्त्रवादियों की। गृह युद्ध को व्यापक बनने से रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ ने हस्तक्षेप किया।

मार्च १९६३ में संघ की ओर से राल्फ बुन्च ने प्रत्यक्ष मुलाकात द्वारा दोनों पक्षों को इस बात के लिए राजी किया कि वे अपने-अपने सैनिकों को वापिस बुला लें और समस्या का शांतिपूर्ण हल खोजें। संयुक्त राष्ट्र संघ के बाद के प्रभावपूर्ण प्रयासों के फलस्वरूप धीरे धीरे बाह्य शक्तियों ने यमन से अपनी सेनायें हटा ली और यमन में शांति स्थापित हो गयी।

साइप्रस की समस्या

१६ अगस्त, १९६० को साइप्रस ब्रिटिश प्रभुत्व से मुक्त होकर स्वतन्त्र गणराज्य बना। साइप्रस का जो संविधान बनाया गया उसमें वहां के बहुसंख्यक यूनानियों और अल्पसंख्यक तुर्कों के बीच सामञ्जस्य और शांति बनाये रखने की व्यवस्था की गयी। स्वतन्त्रता के कुछ ही समय बाद राष्ट्रपति मकारियोस ने संविधान में ऐसा संशोधन प्रस्तावित किया जिससे दोनों जातियों के मध्य स्थापित किया गया संतुलन और सामञ्जस्य समाप्त हो जाता। फलस्वरूप दोनों जातियों में राजनीतिक संघर्ष और गृह युद्ध की शुरूआत हो गयी। समस्या पर यूनान, टर्की और साइप्रस के बीच इंग्लैंड में शांति सम्मेलन शुरू हुआ। ब्रिटेन ने साइप्रस में नाटो फौजें भेजने का कुछ चक्कर रचा। राष्ट्रपति मकारियोस ने दिसम्बर १९६३ में सारा मामला सुरक्षा परिषद् के सामने रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघीय पर्यवेक्षक भेजने और स्थिति संभालने के लिए संघ के हस्तक्षेप की मांग की। लम्बे विचार विमर्श के बाद मार्च १९६४ में साइप्रस में शांति स्थापना हेतु संयुक्त राष्ट्र संघीय शांति सेना भेजने का निर्णय किया गया। शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय सेना साइप्रस पहुँच गयी जिसने वहां कानून और व्यवस्था बनाये रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की। इसके बाद इस आपातकालीन सेना का अवधि बढ़ायी जाती रही और आज भी यह सेना साइप्रस के कलहग्रस्त क्षेत्रों में तैनात है।

डोमिनिकन गणराज्य विवाद

लैटिन अमेरिका के इस छोटे से देश में अप्रेल, १९६५ में गृह युद्ध छिड़ गया। अमरीकन राष्ट्रपति ने अपने पक्ष की सरकार को बचाने के लिए सैनिक हस्तक्षेप किया। बहाना यह लिया गया कि डोमिनिकन गणराज्य को साम्यवादियों से बचाने के लिए यह कार्यवाही की गयी है। रूस ने सुरक्षा परिषद् [redacted] अनुरोध किया कि वह मामले में हस्तक्षेप करे। अन्त में परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव पास किया गया कि युद्धरत दोनों पक्ष युद्ध विराम करें और महासचिव आवश्यक जांच-पड़ताल के लिए अपने प्रतिनिधि डोमिनिकन गणराज्य में भेजें। अमेरिकन राज्यों के संगठन ने भी समस्या के समाधान की दिशा में कुछ ठोस कदम उठाये। अन्त में अमेरिकन राज्यों के संगठन और

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासो से, ४ माह के गृह युद्ध के उपरान्त ३१ अगस्त, १९६५ को दोनो पक्षो मे समझौता होकर शांति स्थापित हो गयी। महासचिव ने अपनी रिपोर्ट मे दृढ शब्दो मे कहा कि डोमिनिकन गणराज्य में युद्ध बन्द कराने के कार्य मे संघ ने बडा महत्वपूर्ण भाग लिया है।

अरब इजरायल संघर्ष

१९५६ के अरब इजरायल संघर्ष मे युद्ध-विराम होने पर संयुक्त राष्ट्र-संघ की अन्तर्राष्ट्रीय सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गयी थी ताकि इजरायल अरबो में पुन संघर्ष न छिड़ जाए। लेकिन दोनों पक्षों मे तनाव बढ़ता गया। १९६७ में जोरो से युद्ध की तैयारिया शुरू हो गयी। मई मे, राष्ट्रपति नासिर के जिद् करने पर, संयुक्त राष्ट्र संघीय सैनिक हटा लिये गये। अब संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सेनायें सामने सामने हो गयी। एक दूसरे की कार्यवाहियों से स्थिति में पूरा बिगाड आ गया और ५ जून को एकाएक इजरायल ने अरबों पर अपना विनाशकारी आक्रमण कर दिया। जोर्डन, सीरिया, मिस्र, ईराक आदि १० करोड वाली जनसंख्या के देश छोटे से इजरायल का आक्रमण न सह सके। केवल ५ दिन की लडाई में ही अरब राष्ट्रो की सामरिक क्षमता का विनाश हो गया। इस बीच सुरक्षा परिषद् युद्धविराम के लिए पूरे प्रयास करती रही। ७ जून को परिषद् ने यह आदेशात्मक प्रस्ताव पास किया कि युद्धरत सभी देश युद्ध बन्द कर द। चू कि अरब राष्ट्र युद्ध क्षमता खो चुके थे और इजरायल सामरिक उद्देश्यो को पूरा कर चुका था, अत ८ जून को इजरायल और मिस्र के बीच युद्ध विराम हो गया और १० जून तक सभी अरब राष्ट्रो और इजरायल के बीच पूरी तरह लडाई बन्द हो गयी। संयुक्त अरब गणराज्य स्वेज के किनारे संयुक्त राष्ट्रसंघीय पर्यवेक्षक रखने मे सहमत हो गया। १६ जुलाई से स्वेज नहर क्षेत्र में संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख मे युद्धविराम लागू हो गया। किन्तु फिर भी पूर्ण शांति स्थापित नहीं हो सकी और आज भी इस क्षेत्र मे दोनों पक्षो में सैनिक झडपें होती रहती हैं। आपसी तनाव पुन विस्फोटक स्थिति मे पहुँचता जा रहा है और स्थाई शांति कोसों दूर दिखाई देती है। अरब राष्ट्रो और इजरायल के बीच बारम्बार युद्ध विराम कराने में संघ को सफलता अवश्य मिली है,लेकिन इसे समस्या का स्थाई समाधान नहीं कहा जा सकता है। इस क्षेत्र में शांति तभी सम्भव हो सकेगी जब विश्व की महाशक्तियां बीच मे पडकर रुचिपूर्वक कोई हल निकालने का प्रयत्न करेंगी।

भारत–पाक संघर्ष

काश्मीर को हडपने के लिए पाकिस्तान ने १९६५ मे पुनः युद्ध का

आश्रय लिया। अगस्त १९६५ में हजारों पाकिस्तानी हमलावर छिप कर युद्ध विराम रेखा पार करके काश्मीर के भारतीय प्रदेश में घुस गये। भारत ने जब इस घुसपैठी आक्रमण को नाकामयाब कर दिया तो १ सितम्बर, १९६५ को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा को पार करके पाकिस्तान की एक पूरी पैदल ब्रिगेड और ७० टैंक काश्मीर पर चढ़ आये। मजबूरन भारत को भी अपनी रक्षा के लिए पाकिस्तान के विरुद्ध पूरी लड़ाई छेड़ देनी पड़ी। २२ दिनों के घमासान युद्धों में पाकिस्तान पर करारी मार पड़ी और आखिर संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से २३ सितम्बर १९६५, को प्रातः ३–३० बजे भारत–पाक युद्ध-विराम हो गया तथा पाकिस्तान की रही सही लाज नष्ट होने से बच गयी।

संयुक्त राष्ट्र संघ प्रारम्भ से अन्त तक युद्ध विराम के प्रयत्न करता रहा। स्वयं महासचिव ने देहली और कराची पहुँच कर श्री शास्त्री और अयूब से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया। महासचिव ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट में सुरक्षा परिषद् को बताया कि यदि पाकिस्तान राजी हो तो भारत बिना शर्त युद्ध बन्द करने को प्रस्तुत है, किन्तु पाकिस्तान ने युद्धविराम प्रस्ताव को प्रत्यक्षतः ठुकरा दिया। महासचिव ने मांग की कि परिषद् दोनों पक्षों को अविलम्ब युद्ध बन्द करने का आदेश दे और युद्ध बन्द न होने पर आवश्यक कार्यवाही करे। भारत ने स्पष्ट रूप से कहा कि परिषद् पहले यह निश्चित करे कि आक्रामक कौन है। भारत ने यह भी कहा कि संयुक्त राष्ट्र संघीय पर्यवेक्षों की रिपोर्ट ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि काश्मीर में घुसपैठी आक्रमण पाकिस्तान ने शुरू किया और बाद में बाकायदा हमला कर दिया। अन्त में काफी उतार–चढ़ाव के बाद परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि भारत और पाकिस्तान २२ सितम्बर को दोपहर से युद्ध बन्द कर दें और युद्ध-विराम लागू होने के बाद अपनी सेनाओं को ५ अगस्त, १९६५ की स्थिति में लौटा लें। पाकिस्तान द्वारा सहमति की सूचना देने पर युद्ध २३ सितम्बर, १९६५ को प्रातः ३॥ बजे बन्द हुआ।

सुरक्षा परिषद् का २२ सितम्बर का प्रस्ताव भारत के साथ अन्याय था। इसमें दोनों देशों को युद्ध-बन्द करने का आदेश दिया गया था जब कि यह आदेश केवल आक्रामक पाकिस्तान को ही दिये जाने चाहिए थे, क्योंकि उसने ही परिषद् के युद्ध बन्दी के पहले वाले प्रस्ताव को ठुकराया था। आक्रमणकारी और आक्रान्त दोनों के साथ एक-सा व्यवहार करना न्यायसंगत नहीं था। यह प्रस्ताव और भी अनेक दृष्टियों से अनुचित था, किन्तु भारत ने केवल यही सोचकर इसे स्वीकार कर लिया कि कोई उसकी शान्तिप्रियता पर अंगुली न उठा सके। जो भी हो, दोनों देशों के बीच युद्ध-बन्द करा देने में संयुक्त राष्ट्र संघ और महासचिव के प्रयत्न सराहनीय माने जायेंगे।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख प्रस्तुत होने वाले कुछ प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का ही हमने उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-मोटे विवाद संघ के सम्मुख प्रस्तुत हुए हैं। संघ ने सभी विवादों का समाधान करने के सम्बन्ध में अपनी जागरूकता प्रदर्शित की है तथापि महाशक्तियों की अड़गेबाजी के फलस्वरूप अनेक मसलों को सुलझाने में संघ असफल रहा है। कश्मीर के प्रश्न वियतनाम के संघर्ष, राष्ट्रीय चीन व साम्यवादी चीन के भेदभाव, दक्षिण अफ्रीका की रंग-भेद नीति, निःशस्त्रीकरण, अणुशक्ति के प्रयोग पर प्रतिबन्ध आदि विषयों के समाधान में संघ को विफलता का मुँह देखना पड़ा है। फिर भी इनमें से कुछ समस्याओं के उग्र रूप को अधिक विस्फोटक बनने से रोकने की दिशा में संघ के प्रयास प्रशंसनीय रहे हैं। अनेक अवसरों पर संघ के सामयिक हस्तक्षेप के कारण ही स्थिति विस्फोटक बनने से बची है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संघ के कार्यों का मूल्यांकन प्रस्तुत अध्याय के अन्त में किया गया है। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि यद्यपि संघ विश्व शांति और सुरक्षा के प्रतीक के रूप में पूरी तरह और सन्तोषजनक रूप से सक्षम सिद्ध नहीं हुआ है तथापि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में शांति बनाये रखने के इसने अनेक बार सफल प्रयत्न किये हैं। विश्व के राष्ट्रों और लोगों की सेवा के लिए जो विभिन्न संगठन और आयोग कार्य कर रहे हैं उनके बीच संघ ने समन्वय की स्थापना की। संयुक्त राष्ट्र संघ वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय जगत की एक आवश्यक, उपयोगी और अपेक्षित विशेषता है तथा अणु युग में अस्तित्व की आवश्यक शर्त है। राजनीतिक और कूटनीतिक विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने में इसने प्रभावशाली भूमिका अदा की ही है, लेकिन अपने गैर राजनीतिक कार्यों द्वारा भी इसने मानव के भौतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास में सहयोग देकर शांति और व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की कमजोरियाँ
(The Weak Points of the U. N. O)

हमें देखना चाहिये कि आखिर वे कौन सी कमजोरियाँ हैं जिनकी वजह से अनेक बार संयुक्त राष्ट्र संघ को बुरी तरह असफल होना पड़ा है। वास्तव में महाशक्तियों के बीच इतने अधिक मौलिक मतभेद हैं कि सुरक्षा परिषद का कार्य करना भी कभी-कभी असम्भव हो जाता है। इसकी इन अपूर्णताओं अथवा कमजोरियों पर ध्यान देना आवश्यक है—

१. संघ की सदस्यता में सार्वदेशिकता का अभाव है। अभी तक विश्व के समस्त राष्ट्र इसके सदस्य नहीं बन पाये हैं। इसके जन्म के लगभग

२३ वर्ष पश्चात् भी ८० करोड़ की जनसंख्या वाला जनवादी चीन तथा पराजित राष्ट्र जर्मनी (पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी) इसके सदस्य नहीं हैं। वियतनाम, वीतमिन्ह, उत्तरी एवं दक्षिणी कोरिया जैसे छोटे-छोटे राष्ट्र भी संयुक्त राष्ट्र संघ से बाहर हैं।

२. संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि क्षेत्रफल अथवा सीमा तथा जनसंख्या की विभिन्नता होते हुए भी सभी सदस्य राष्ट्र समान हैं। वैधानिक समानता की इस मान्यता के कारण मताधिकार की दृष्टि से बड़े राष्ट्र भी छोटे राष्ट्रों के समकक्ष आ गये हैं। वस्तुतः यह एक हास्यास्पद बात है कि ४५ करोड़ की विशाल जनसंख्या वाले देश भारत को भी वही अधिकार प्राप्त हैं जो १२.१३ लाख की जनसंख्या वाले ईवनान को हैं।

३. संयुक्त राष्ट्र संघ राष्ट्रों का एक संघ है। इसमें भाग लेने वाले राजनीतिज्ञ अपनी सरकार का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार संघ राष्ट्रों की सम्प्रभुता के व्यवहार पर ही आधारित रहता है जबकि इसमें सरकारों के स्थान पर जनता के, विश्व के लोगों के प्रतिनिधि होने चाहियें। क्लार्क आइकबर्गर (Clark Eicheberger) के मतानुसार, "संयुक्त राष्ट्र संघ एक *ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है जिसके निर्माताओं ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में* कार्य करने की शक्ति का बाना पहिनाया है तथा जिसके सदस्यों ने इसके प्रति महत्वपूर्ण दायित्व सम्भाले हैं, किन्तु यह न तो एक राज्य है और न ही सर्वोच्च राज्य। यह अन्तर्विरोध तो विश्व समाज के विकास में निहित ही रहता है।"[1] संयुक्त राष्ट्र संघ केवल चर्चा, वाद-विवाद तथा विवादों के शांतिपूर्ण हल के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थल मात्र बना हुआ है। इसके पास अपनी स्वयं की ठोस शक्ति नहीं है, सिवाय उन अधिकारों के जो सदस्य राष्ट्रों ने उसे स्वेच्छा से प्रदान किये हैं। विभिन्न देशों के "घरेलू मामलों" में संघ का कोई अधिकार नहीं है और "घरेलू मामलों" की स्पष्ट परिभाषा घोषणा-पत्र में नहीं दी गई है।

४. संयुक्त राष्ट्र संघ के वाद-विवाद एवं निर्णय पक्षपातपूर्ण होते हैं। सुरक्षा परिषद में भी संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव है और इसी कारण सोवियत रूस को अनेक बार वीटो का सहारा लेकर अपनी रक्षा करनी होती है।

५. संयुक्त राष्ट्र संघ निषेधाधिकार के दुरुपयोग का रंगमंच बना हुआ है। सुरक्षा परिषद में ५ महा शक्तियों ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, रूस

1. Clark Eicheberger. U. N., The First Twenty Years, 1965, Page 129.

और राष्ट्रवादी चीन को निषेधाधिकार प्राप्त है। इसमें से कोई भी शक्ति किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी दावे को निषेधाधिकार के प्रयोग से अमान्य ठहरा देती है। इस तरह यह निषेध शक्ति विश्व में शान्ति एवं सुरक्षा को स्थिर करने की दिशा में प्रभावकारी कार्यवाहियों में अवरोध उत्पन्न कर देती है। आलोचकों की मान्यता है कि निषेधाधिकार का अनुभव यह बताता है कि आधार रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ अपर्याप्त है तथा युद्ध और शांति की समस्या को प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं सुलझा सकता।

६ संघ के पास अपने निर्णयों को व्यवहृत कराने की शक्ति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निवारण कर विश्व में शांति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए इसे महा शक्तियों के मुँह की ओर ताकना पड़ता है जिनके सक्रिय सहयोग के बिना यह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। यह कहा जा सकता है कि 'संघ के पास काटने के लिए दांत नहीं हैं।"

७ संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में आत्मरक्षा एवं आक्रमण के मध्य का भेद स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित नहीं है।

८ संघ के सभी सदस्य राष्ट्र समान रूप से साम्राज्यवादी तथा जातीय भेदभाव के विरोधी नहीं हैं। अफ्रीका महाद्वीप में जातीय भेदभाव का असर इतना अधिक है कि वह प्रजातन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता एवं मानव अधिकारों आदि का पूरी तरह से मखौल करता सा दिखाई देता है।

६ संयुक्त राष्ट्र संघ के बाहर की गई सैनिक सन्धियों के कारण भी इसका महत्व कुछ कम हो गया है।

१० आधुनिक विश्व दो परस्पर विरोधी शक्ति गुटों में बटा हुआ है और संयुक्त राष्ट्र संघ रूस और उसके सहयोगी राष्ट्र तथा अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों की पारस्परिक खींचतान का रंगमंच बना हुआ है। विश्व के ये दोनों गुट संघ में और उसके बाहर भी प्रायः प्रत्येक प्रश्न पर एक दूसरे के विरोधी विचार ही व्यक्त करते हैं।

११ संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद आज भी अनेक पराधीन राष्ट्रों को अपनी स्वतन्त्रता के लिए घोर प्रयत्न करने पड़ रहे हैं तथा वहां की जनता को स्वतन्त्रता की मांग करने पर गोलियों का शिकार बनना पड़ता है। जब तक आधुनिक विश्व में यह साम्राज्यवादी भावना कायम रहेगी तब तक संघ की सफलता में बाधा उपस्थित होना स्वाभाविक बात है।

१२ संयुक्त राष्ट्र संघ तब ही सफल हो सकता है जब इसे सदस्यों का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहे। क्लार्क आइक बर्गर के शब्दों में "अन्तिम विश्लेषण में संयुक्त राष्ट्र संघ को सफल बनाने का काम इसका

प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों तथा राजनीतिज्ञों पर ही निर्भर है।"[1] किन्तु इन पर राष्ट्रीयता एवं सम्प्रभुता जैसी भावनाओं का प्रभाव पड़ता रहता है, अतः वे संघ की सफलता में आशाजनक सहयोग प्रदान नहीं कर पाते।

१८. संघ का एक गम्भीर दोष यह है कि शस्त्रों के एकत्रीकरण और निर्माण को कम करने के मामलों में इसके सदस्य राष्ट्रों में विशेषकर बड़ी शक्तियों में, ईमानदारी का अभाव है।

कुछ भी हो, दुर्बलताओं के बावजूद भी यह निर्विवाद सत्य है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अब तक विश्व युद्ध को रोकने और शान्ति को बनाये रखने में बहुत कुछ सफल हुआ है और इसने अपने आपको राष्ट्र संघ के समान एक मृतप्राय संस्था नहीं बनने दिया है।

संघ को शक्तिशाली बनाने के लिये सुझाव
(Suggestions for Strengthening the U. N. O)

संघ के अनेक उपबन्ध आज समयातीत बन चुके हैं। संघ के संस्थापकों के सामने जिस संसार का चित्र था वह आज के नवीन विकासों के कारण नई नवीन रंगों से परिपूरित हो गया है। इसलिए अब यह आवश्यक है कि संघ के रूप एवं संगठन में परिवर्तन किया जाए।

संघ को शक्तिशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि एक तो चार्टर में आवश्यक संशोधन किये जाय और दूसरे इस दिशा में कुछ अन्य प्रभावशाली और व्यावहारिक कदम उठाये जायें। ये संशोधन और अन्य पग निम्नलिखित हो सकते हैं—

चार्टर में संशोधन

(१) नवीन राज्यों के संघ में प्रवेश के लिए स्थायी सदस्यों द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग की व्यवस्था हटा दी जानी चाहिये।

(२) चार्टर के दूसरे अनुच्छेद के सातवें पैराग्राफ में यह व्यवस्था की गयी है कि—"संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी राज्य के उन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकारी न होगा जो निश्चित रूप से उस राज्य के घरेलू क्षेत्र के भीतर आते हों।" घरेलू क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) की इस व्यवस्था ने संघ को कार्यवाहियों के क्षेत्र को बहुत सीमित बना दिया है। यह व्यवस्था इतनी लचकीली है कि इसके आधार पर राष्ट्रों द्वारा संघ की कार्यवाहियों में अड़गे लगाये जाते रहे हैं। संघ अपने उद्देश्यों की दिशा में अधिक

1. Clark Eicheberger, op cit P. XII.

शक्तिशाली व समर्थ बने—इसके लिए घरेलू-क्षेत्र की व्यवस्था में समुचित संशोधन किया जाना चाहिए।

(३) चार्टर के अनुच्छेद ४ में संघ की सदस्यता के लिए दो शर्तें हैं—(१) सभी शांति चाहने वाले राष्ट्र सदस्य बन सकते हैं बशर्ते कि वे चार्टर में दिये हुए दायित्वों को मानें और संघ की राय में इन दायित्वों को पूरा करने की उनमें इच्छा तथा योग्यता दोनों हो, एवं (२) कोई राष्ट्र संघ का सदस्य तभी बनाया जायगा जब सुरक्षा परिषद सिफारिश करे व महासभा सिफारिश पर अनुकूल निर्णय दे। स्पष्ट है कि संघ की सदस्यता की दूसरी शर्त विवादों को आमंत्रित करने वाली है। सुरक्षा परिषद में महाशक्तियों को निषेधाधिकार प्राप्त हैं। रूस और पश्चिमी राष्ट्र स्वयं की स्थिति को संयुक्त राष्ट्र संघ में सुदृढ़ बनाये रखने की दृष्टि से अपने विरोधी नवीन राज्यों के प्रवेश को निषेधाधिकार के बल पर रोक सकते हैं। वस्तुतः सदस्यता के प्रवेश की दूसरी शर्त संघ के दोनों पक्षों में कटुता बढ़ाने वाली है और और इसी वजह से विश्व के कुछ देशों का प्रतिनिधित्व संघ में अभी तक नहीं हो पा रहा है। अतः यह उचित है कि सदस्यता के लिए सुरक्षा परिषद की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा उसमें बहुमत के आधार पर निर्णय की व्यवस्था की जानी चाहिये।

(४) न्यास पद्धति से सम्बन्धित अनुच्छेद ७६ (ख) बड़ा अस्पष्ट है। इसमें पराधीन देशों को स्वतन्त्र करने की बात अवश्य कही गयी है लेकिन इसके लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की है। इस अनुच्छेद में इस तरह की व्यवस्था जोड़ी जानी चाहिये कि विभिन्न प्रदेशों के विकास को देखते हुए उन्हें कितनी अवधि में स्वाधीनता दे दिया जाना उपयुक्त है।

(५) न्यास पद्धति से सम्बन्धित ७७ (क) में इस तरह का संशोधन किया जाना चाहिए कि राष्ट्र संघ के सभी मैण्डेट अनिवार्यतः न्यास परिषद के अंग समझे जाए।

(६) अनुच्छेद ५१-५२ में चार्टर द्वारा प्रादेशिक संगठनों को बनाने की अनुमति दी जाने का ही यह परिणाम है कि नाटो (NATO), सीटो (SEATO) जैसे सैनिक संगठन बन गये हैं। इस धारा में ऐसा संशोधन होना चाहिए कि जिसमें सैनिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन न मिल सके।

(७) अनुच्छेद २७ में सुरक्षा परिषद में मतदान की व्यवस्था में 'प्रक्रिया सम्बन्धी' (Procedural Matters) और 'अन्य सभी विषय' (On All Other Matters) शब्द इतने अनिश्चित और अस्पष्ट हैं कि

जिससे निषेधाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अत यह उपयुक्त है कि इन शब्दों को अधिक स्पष्ट किया जाय।

(८) सुरक्षा परिषद में स्थाई सदस्यों का प्रतिनिधित्व समुचित एव सतुलित नहीं है। निष्पक्षता और सतुलित विचारो की दृष्टि से तथा संयुक्त राष्ट्र सघ के प्रति अर्पित किये गये महान् सहयोग को ध्यान में रखते हुए भारत को सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता मिलनी ही चाहिए। सुरक्षा परिषद में एशिया और अफ्रीका के देशों का प्रतिनिधित्व बहुत कम है।

चार्टर में उल्लिखित मानवीय अधिकारो की प्राप्ति को क्रियात्मक बनाने के लिए उपयुक्त सस्थाओं की स्थापना सबधी प्रावधानों और अन्य व्यवस्थाओं का होना भी आवश्यक है।

महाशक्तियों की चार्टर में संशोधन की रुचि—संयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर का सशोधन करने के पक्ष में सयुक्त राज्य अमेरिका आरम्भ से ही जोर देता रहा है। जनवरी, १९५४ में जॉन फास्टर डलैस ने चार्टर के सशोधन के मुख्य विषयो का उल्लेख करते हुए कहा था कि सशोधन निम्नलिखित विषयों में अवश्य किये जाने चाहिए (१) सर्वव्यापी सदस्यता (२) सुरक्षा (३) सुरक्षा परिषद् की सदस्यता एव मतदान प्रणाली (४) महासभा म मतदान प्रणाली (५) शस्त्रो की समस्या (६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि।

सोवियत रूस पहले चार्टर मे सशोधन का समर्थक नहीं था। किन्तु बाद में (१९६० में) जब सुरक्षा परिषद में रूस द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ प्रस्ताव वीटो के कारण असफल हो गये तो वह चार्टर की व्यवस्था में परिवर्तन करने का हामी हो गया। सोवियत रूस ने सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर में परिवर्तन करने के अनेक सुझाव समय-समय पर दिये जो सक्षेप मे निम्न प्रकार से है :—

(१) सघ की सभी परिषदो म से अमेरिका का हस्तक्षेप कम किया जाय और इनम अफ्रीका तथा एशिया के देशो को अधिकाधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय।

(२) साम्यवादी चीन को सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य बना लिया जाय।

(३) एक महासचिव वाली व्यवस्था दोषपूर्ण है क्योंकि वह प्राय एक पक्ष का ही समर्थक बन जाता है तथा उस पक्ष द्वारा सघ की शक्तियों का अनुचित लाभ उठाया जाता है, अत एक के स्थान पर तीन महासचिवों की नियुक्ति की जाय–एक साम्यवादी गुट की ओर से, दूसरा पश्चिमी शक्तियों की ओर स तथा तीसरा तटस्थ या असंलग्न राष्ट्रों की ओर से। ऐसा करने पर कोई भी समस्या जो सुरक्षा परिषद म राजनीतिज्ञों के मतभेद के कारण गति-

रोध उत्पन्न कर देती है वह महासचिवों के स्तर पर विचार विमर्श के बाद एक ऐसा रास्ता निकालकर तय की जा सकेगी जो तीनों पक्षों को स्वीकार हो। इस सुझाव का अधिकांश विचारकों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा संदेह एवं आलोचना द्वारा स्वागत किया गया। यह समझा गया कि इस सुझाव को क्रियान्वित करने पर महासचिव स्तर पर राजनीति उतर आयगी तथा सुरक्षा परिषद की भांति यहां भी गतिरोध की समस्या पैदा हो जायगी तथा कोई भी निर्णय लेना असम्भव बन जायगा।

(४) संघ का प्रधान कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में न रखकर किसी अन्य देश में रखना चाहिए। वह अन्य देश स्वयं सोवियत संघ, स्विट्जरलैण्ड या आस्ट्रिया हो सकते हैं।

यद्यपि रूस और अमेरिका के द्वारा चार्टर के संशोधन के बारे में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये,किन्तु ये सुझाव इस प्रकार के हैं कि वे एक दूसरे को मान्य नहीं होते। ऐसा सोचा जाता है कि चार्टर पर पुनर्विचार करने का समय अभी तक नहीं आ पाया है। इस प्रकार यदि चार्टर का परिवर्तन किया गया तो हो सकता है कि वह अपने मूल स्वरूप की अपेक्षा और भी अधिक कठोर बन जाय।

अनौपचारिक संशोधन—उल्लेखनीय है कि यद्यपि औपचारिक रूप से चार्टर में संशोधन नहीं हो पाये हैं,किन्तु अनौपचारिक रूप से व्यवहारतः चार्टर के कुछ उपबन्धों को प्रभावी अथवा प्रभावहीन किया जा चुका है, उदाहरणार्थ ३ नवम्बर, १९५० के 'शान्ति के लिए एकता' के प्रस्ताव ने निषेधाधिकार को काफी प्रभावहीन कर दिया है और महासभा को सुरक्षा परिषद से अधिक शक्तिशाली बना दिया है। होता यह है कि सुधार के सुझावों के सम्बन्ध में महाशक्तियां एकमत हो सकती हैं चाहे वे चार्टर के वास्तविक रूप में कोई परिवर्तन करने पर राजी हों या न हों। सुधार के सम्बन्ध में सुझाव तथा उनका संघ के चरित्र, रूप एवं संगठन पर प्रभाव यद्यपि चार्टर में परिवर्तन तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इससे संघ शक्तिशाली बनता है इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पामर तथा परकिन्स ने इसे अनौपचारिक संशोधन की प्रक्रिया (The Process of informal amendment) कहा है। इस तरीके से अनेकों परिवर्तन किये जा चुके हैं तथा निश्चय ही आज का संयुक्त राष्ट्र संघ ठीक वही नहीं है जो वह सन् १९४५ में था। इस प्रक्रिया में महाशक्तियों की आवश्यक सहमति जरूरी नहीं होती। फ्रान्सिस विल्कोक्स (Francis D. Willcox) के मतानुसार चार्टर निम्न प्रकार से संशोधित किया गया है—

(१) चार्टर के कुछ उपबन्धों को क्रियान्वित न करके;

(२) संघ के विभिन्न अंगों तथा सदस्यों द्वारा चार्टर की व्याख्या करके,

(३) सहायक संधियों एवं समझौतों के निर्णयों के द्वारा;

(४) विशेष अंगों एवं अभिकरणों की रचना करके।

अन्य सुझाव

संघ को शक्तिशाली बनाने के लिये अनेक सुझाव समय-समय पर दिये जाते रहे हैं जो प्रमुखतया ये हैं—

१ संघ सम्प्रभु राज्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है और यदि इसे शक्तिशाली बनाना है तो सदस्य राज्यों को अधिक स्वामी भक्ति और रचनात्मक रूप से अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करना चाहिये।

२ चार्टर की व्याख्या करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिये।

३. संघ के वर्तमान यन्त्र को विस्तृत बना देना चाहिए ताकि आवश्यकता के अनुरूप नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सके।

४. जो क्षेत्र राष्ट्रीय संप्रभुता के आधीन नहीं हैं वहां पर प्रशासकीय सत्ता स्थापित कर लेनी चाहिए, उदाहरण के लिए बाहरी आकाश (Outer Space)।

५ संघ को सर्वव्यापी बनाने के लिये सभी राष्ट्र इसके सदस्य होने चाहिये।

६ आय का कोई स्वतन्त्र स्रोत रखना चाहिए। राष्ट्रों के चन्दा एवं सहयोग पर अवलम्बित रह कर संघ सच्चे अर्थों में अपने कर्यों को पूरा करने में असफल रहता है। संघ को चाहिए कि वह विकास कर (Improvement Tax), सेवा कर (Service Tax), यात्री कर (Traveller Tax) आदि लगाये तथा विश्व बैंक की आय तथा बाहरी आकाश की फीस आदि द्वारा अपनी आय को बढ़ाये।

७. वर्तमान अंगों की बनावट तथा कार्य-प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए।

८. विश्व कानून की प्रक्रिया का विकास करना चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रयोग से अधिक लोकप्रिय बनाना चाहिए।

९. चार्टर का परिवर्तन करना चाहिए।

महासचिव के सुझाव (Suggestions of Secretary General)—संघ के प्रथम महा सचिव ट्रिग्वेली (Triggve Lie) ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किये थे जो इस प्रकार हैं—

(i) जर्मनी के भविष्य की समस्या का कोई प्रभावपूर्ण समझौता कर लेना चाहिए।

(ii) सुरक्षा परिषद के पास अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने तथा शांति को कायम रखने के लिए काफी शक्तियां हैं, इनका उपयोग करना चाहिए।

(iii) सुरक्षा परिषद के प्रयोग के लिए अनुच्छेद ४३ के आधीन सदस्यों को सशस्त्र सेना देनी चाहिए।

(iv) घातक शस्त्रों से उत्पन्न समस्याओं पर नियन्त्रण करने के लिए संघ को इसका अध्ययन कराना चाहिए।

(v) सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को अपनी वीटो शक्ति का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(vi) संघ के सदस्यों को महासभा एवं सुरक्षा परिषद के निर्णयों को यथासम्भव समर्थन देना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व शांति एवं सुरक्षा का प्रतीक है किन्तु इस प्रतीक का प्रयोग पूरी तरह एवं संतोषजनक रूप में अभी तक नहीं किया गया है। पर यह भी सत्य है कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में इसने शांति बनाये रखने के अनेक बार सफल प्रयास किये हैं। विश्व के राष्ट्रों एवं लोगों की सेवा के लिए जो विभिन्न संगठन तथा आयोग कार्य कर रहे हैं उनके बीच संघ ने समन्वय की स्थापना की है। संयुक्त राष्ट्र संघ वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीयता की एक आवश्यक उपयोगी एवं अपेक्षित विशेषता है तथा अणु-युग में अस्तित्व की आवश्यक शर्त।

संयुक्त राष्ट्र संघ की कुछ विशिष्ट उपयोगिताएं

संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त २५ वर्ष की अवधि में प्रस्तुत किए जाने वाले सभी प्रमुख राजनीतिक विवादों और उनके समाधान के लिए किए गए संघ के प्रयासों का वर्णन हम कर चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अपनी अमूल्य सेवायें आज तक अर्पित की हैं जिनके महत्व को इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता रहेगा। इनके अतिरिक्त संघ की कुछ विशिष्ट उपयोगिताएं या विशेषताएं हैं जिन पर दो शब्द पृथक से लिख देना उपयोगी रहेगा। ये विशेषतायें या उपयोगितायें निम्न हैं—

(१) संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रसार,

(२) संघ विश्व सरकार की ओर एक कदम,

(३) संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदर एवं पंजीकरण,

(४) संघ द्वारा मानव अधिकारों की रक्षा।

(१) संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर
(U. N. O. towards Internationalism)

उपरोक्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में संघ द्वारा जो कार्य किया गया वह सफल रहा अथवा नहीं एवं उससे आशाजनक परिणाम प्राप्त किए जा सके अथवा नहीं, इस प्रश्न पर तथ्यों की व्याख्या करते समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों के बीच मतभेद रह सकता है। परन्तु यह मतभेद रहते हुए भी निःसन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि संघ ने विश्व-युद्ध को रोकने, विनाश की भीषणता को अवरुद्ध करने, न्याय, कानून एवं व्यवस्था की स्थापना करने में जो योगदान किया है उसे मानव जाति कभी नहीं भूल सकती। ७ जून, १९६३ को संघ की बजट कमेटी में भाषण देते हुए भारतीय प्रतिनिधि श्री बी० एन० चक्रवर्ती ने कहा था कि हम संघ से रहित विश्व की कल्पना नहीं कर सकते। इसके *बिना हम संघर्ष, युद्ध और विध्वंस की पुरानी स्थिति में लौट जाएंगे।* संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा विश्व के विभिन्न भागों में रहने वाले लोगों के बीच अपनत्व की भावना का विकास करने की चेष्टा की गई है। इसके विशेष अभिकरणों द्वारा शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति आदि क्षेत्रों में जो कल्याणकारी कार्य किए जाते हैं तथा पिछड़े देशों में सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को आगे बढ़ाने के जो प्रयत्न किए जाते हैं उनका प्रभाव यह होता है कि जिन लोगों को इसकी सेवाओं से लाभ प्राप्त हो रहा है उनके दिलों में इसके प्रति सम्मान के भाव जाग्रत होंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक प्रयत्नों का पक्षपाती है उसी प्रकार वह एक राष्ट्र की प्रत्येक समस्या में दूसरे राष्ट्रों के सद्भावनापूर्ण सहयोग को सम्भव बनाता है। इससे संसार के राष्ट्रों के बीच मिलजुल कर रहने तथा सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की परम्पराओं का सूत्रपात होता है। यह कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने आज एक विशेष प्रकार का वातावरण तैयार कर दिया है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपने आपको समग्र विश्व का एक अंश मानने लगा है। एक राष्ट्र की सम्प्रभुता मर्यादित होकर उच्छृंखलताओं एवं मनमानी प्रवृत्तियों से हटकर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं से मर्यादित होने लगी है। यह आक्रमणकारी, विध्वंसक तथा विद्वेषपूर्ण अपने कुरूप चोले को छोड़कर विश्व कल्याण एवं मानव-जीवन के चरम लक्ष्यों की प्राप्ति के मार्गों का सौन्दर्यपूर्ण बाना पहन चुकी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में कार्य करने वाले नागरिक सेवा के कर्मचारी हजारों की संख्या में होते हैं ये अलग अलग देशों के निवासी होते हुए भी जब हमेशा विश्व की समस्याओं पर विचार करते तथा उनसे सम्बन्धित हो कार्य

करते रहते हैं तो यह स्वाभाविक है कि उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीयतावाद की संकुचित परिधियों से ऊपर उठ कर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ओतप्रोत हो जाए। प्रत्येक विषय पर सोचते समय उनकी दृष्टि विश्व शांति, सुरक्षा एवं कल्याण पर ही टिकी रहती है। सिविल सेवकों की यह वर्ग दक्षता, क्षमता एवं ईमानदारी बहुत ऊँचे स्तर की होती है। अनेक राष्ट्रों के बहुत से प्रभावशाली व्यक्तियों का इस वर्ग के सदस्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। यह सम्बन्ध जब सब इन राष्ट्रों की नीतियों को प्रभावित करने में भी महत्वपूर्ण योगदान करता है। दूसरे शब्दों में संघ के सिविल सेवक का बदला हुआ दृष्टिकोण उनके सम्बन्धियों की ओर इस प्रकार देश के दृष्टिकोण को बदलने में सहायक बनता है। चार्टर की धारा १०० में कहा गया है कि महासचिव और कर्मचारी वर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरी तरह से समझ तथा संघ के बाहर के किसी राज्य या उसके अधिकारी से परामर्श प्राप्त न करें। उनकी पूरी की पूरी निष्ठा और भक्ति संघ के प्रति होनी चाहिये। इसके साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य भी आवश्यक रूप से यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव तथा उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा और उनके पालन में किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयास न करेगा।

(२) संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार की ओर एक कदम
(U N O An Step towards World Govt.)

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा उन सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जिनकी साधना के लिए अनेक विचारक विश्व सरकार की स्थापना की सिफारिश करते हैं। डाग हेमरशोल्ड ने संघ के चार्टर में पाये जाने वाले पाँच मूल सिद्धान्तों को परिभाषित किया था, वे हैं—(i) समान राजनैतिक अधिकारों की एक व्यवस्था (ii) समान आर्थिक अधिकार (iii) विधि का शासन (iv) सामान्य सुरक्षा के अतिरिक्त कभी भी सैनिक शक्ति का प्रयोग न करना (v) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को तथा मतभेदों को तय करना जो बाद में अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का कारण बन सकते हैं। ठीक यही उद्देश्य विश्व सरकार के बताये जाते हैं। विश्व सरकार की स्थापना एक साधन मात्र है जिसके द्वारा अनेक मान्य राजनीतिज्ञ एवं विचारक संसार में अशांति, असुरक्षा एवं विनाश को मिटा कर इसके स्थान पर न्याय, शान्ति, सुरक्षा एवं व्यवस्था पूर्ण विश्व समाज की रचना करना चाहते हैं। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समानता एवं स्वतंत्रता के अधिकार के साथ-साथ व्यक्तित्व के विकास के सभी सम्भव साधन एवं अवसर प्रदान किये जायेंगे।

विश्व सरकार की प्राथमिक आवश्यकता होती है अन्तर्राष्ट्रीय समाज, जिसके अभाव में विश्व सरकार से सम्बन्धित कोई भी योजना सफलता से चार गज दूर ही रहेगी। इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा ऐसे समाज के निर्माण की दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त विश्व सरकार में राष्ट्रों की सम्प्रभुता शक्ति को पूरी तरह समाप्त करके उसे अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के हाथों में सौंप दिया जायेगा। सम्प्रभुता का यह हस्तातरण विश्व सरकार की स्थापना के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। संयुक्त राष्ट्र संघ इस बाधा को दूर करने में भी कुछ कार्य कर रहा है। संघ द्वारा इसके सदस्यों को कुछ दायित्व सौंपे गये हैं जिनको पूरा करना विश्व-शांति एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक होता है। एक राष्ट्र द्वारा किसी विश्व संस्था द्वारा लगाये गये इन उत्तरदायित्वों का पालन कुछ सीमा तक उसकी सम्प्रभुता को मर्यादित करता है और इस प्रकार उसे विश्व सरकार का प्रारम्भिक प्रशिक्षण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त आज तक एक राष्ट्र की सीमित एवं संकुचित समस्याओं पर विचार करने वाले राजनीतिज्ञ विश्व सरकार का एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाज का संचालन तथा व्यवस्था किस प्रकार करेंगे यह भी एक समस्या है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय मंच प्रदान किया गया है जहां विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय रूप में विचार-विमर्श कर सकें, विश्व की समस्याओं का समाधान ढूंढ सकें। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक प्रशिक्षण केन्द्र है जहां विश्व के निवासियों एवं राष्ट्रों के नेताओं को उन सब बातों की शिक्षा दी जाती है जो विश्व सरकार की स्थापना एवं संचालन के लिए अनिवार्य हैं। क्लार्क आइकबर्गर (Clark Eicheberger) के मतानुसार यदि विश्व शांति प्राप्त करना चाहता है तो संयुक्त राष्ट्र संघ को एक सीमित सरकार के रूप में कार्य करना चाहिये इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदर एवं पंजीकरण
(Codification and respect for International Law)

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नियमबद्ध (Codified) करने में बहुत कुछ योगदान किया है। इसके चार्टर में इस कार्य पर विशेष जोर दिया गया है। महासभा ने १७ सदस्यों की एक तात्कालिक समिति (Ad-hoc Committee) नियुक्त की है जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास तथा पंजीकरण के कार्य को कर सकें। चार्टर के अनुच्छेद १३ के अनुसार महासभा का यह उत्तरदायित्व है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास तथा पंजीकरण को प्रोत्साहन प्रदान करे। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के

साधनों को इस समिति द्वारा खोज की जाती है। सितम्बर, १६४७ के अपने प्रतिवेदन मे समिति ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून-आयोग नियुक्त करने की सलाह दी। इस आयोग को दो प्रकार के काम सौंपे जाने थे। प्रथम तो उस अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय का अध्ययन जो अभी तक विकसित नही हो पाया है। दूसरे, उन कानूनों को संक्षिप्त रूप दे देना जिनका पहले से ही अभिसमयों, परम्पराओं एवं सिद्धान्तों के रूप मे प्रचलन है। समिति द्वारा यह भी सिफारिश की गई कि आयोग को प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Customary International Law) के विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन करना चाहिये ताकि पंजीकरण के लिए शीर्षक छाटे जा सकें। समिति ने बताया कि इसके उत्तरदायित्व से दो कार्य निकलते हैं—(i) नवीन कानून का प्रगतिशील विकास (ii) प्रस्तुत कानून का पंजीकरण। इन दोनो कार्यों के बीच भारी अन्तर वर्तमान है। महासभा ने २१ नवम्बर, १६४७ को अन्तर्राष्ट्रीय कानून आयोग (ILC) की स्थापना की। इसके १५ सदस्यों को तीन वर्ष के लिये चुना गया।

आयोग ने राज्यों के अधिकार और कर्त्तव्यों पर एक घोषणा तैयार की तथा न्यूरेम्बर्ग युद्ध अपराधी ट्रायल (Nuremberg War Crimes Trials) के आधारभूत कानूनों के सिद्धान्तों में से कुछ को रचनात्मक रूप प्रदान किया। पंजीकरण (Codification) के क्षेत्र मे आयोग ने अपना ध्यान मुख्यतः चार विषयों पर ही केन्द्रित रखा।

(१) सन्धियों के कानून (Law of Treaties)

(२) न्यायीकरण प्रक्रिया (Arbitral Procedure)

(३) ऊँचे समुद्रों की शासन पद्धति (Regime of the high Seas)

(४) प्रादेशिक जल (Territorial Waters)

महासभा ने आयोग से एक अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय स्थापित करने के बारे मे राय पूछी। १६५० मे आयोग ने रिपोर्ट दी कि इस प्रकार का न्यायालय (Tribunal) अपेक्षित भी है तथा सम्भव भी। महासभा ने १६५१ में आयोग को आक्रमण की परिभाषा का काम सौंपा, किन्तु भारी वाद विवाद के बाद आयोग इस निर्णय पर आया कि आक्रमण की कोई भी संक्षिप्त परिभाषा अव्यावहारिक है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पंजीकरण का कार्य केवल आयोग ही नही करता है, वरन् सचिवालय, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, मानवीय अधिकार आयोग (The Human Rights Commission) आदि भी इस दिशा मे कार्य करते हैं। संघ द्वारा दलों के राजनैतिक मतभेद दूर करते समय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय

शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना एवं रक्षा के लिए कोई भी कदम उठाते समय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन पूरी तरह किया गया है। इसका हर सम्भव प्रयास यह रहता है कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों में इन कानूनों के प्रति आदर-भाव पैदा किया जाय और कहीं भी, किसी भी स्थिति में उनका उल्लंघन न किया जाय। युद्ध के कानून व शान्ति के कानून, समुद्री सीमा सम्बन्धी कानून, व्यापार सम्बन्धी कानून एवं अन्य किसी भी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय कानून यदि किसी भी रूप में तोड़ा गया तो विश्व की शान्ति एवं व्यवस्था खतरे में पड़ जायेगी, इसलिये संघ द्वारा यह पूरा-पूरा ख्याल रखा जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न ही न होने दी जाय।

(४) संघ द्वारा मानव अधिकारों की रक्षा

(Protection of Human Rights by the U. N. O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ व्यक्ति के मानवीय अधिकारों एवं राष्ट्रों के लिए स्वतन्त्रताओं से पूरी तरह सम्बन्धित है। अनुच्छेद ५५ तथा ५६ में इन विषयों के ऊपर पर्याप्त रूप से विचार किया गया। चर्चिल तथा रूजवेल्ट का कहना था कि इनका अर्थ यह है कि सभी प्रदेशों के सभी व्यक्ति आवश्यकता एवं भय से स्वतन्त्र रह कर अपना जीवनयापन कर सकें। महासभा ने पेरिस में १० दिसम्बर, १९४८ को आधी रात को मानव अधिकारों का घोषणा पत्र दिया। जब यह घोषणा की गई तो महासभा के अध्यक्ष ने कहा कि यह पहला ही अवसर है जबकि राष्ट्रों के संगठित समुदाय ने मनुष्यों के अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं की घोषणा की है। इस घोषणा के पीछे समूचे संघ की, विश्व के समस्त स्त्री पुरुषों की शक्ति है जो दूरस्थ होने पर भी इस घोषणा को अर्थपूर्ण बनाने के लिए सहायता, प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्रदान करेंगे। महासभा के अनेकों प्रस्ताव इस घोषणा के सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं। इसके बहुत से अनुच्छेद शान्ति सन्धियों में समाहित कर दिये गये हैं तथा नये राज्यों के संविधानों में भी इन्हें लिया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानव अधिकारों की कई परम्परायें स्थगित कर दी गई हैं :—

(i) जाति, संस्कृति एवं धर्म सम्बन्धी (Genocide Convention)

(ii) महिलाओं के राजनैतिक अधिकार (Political Rights of Women) महासभा द्वारा १९५० में निर्मित परम्परा

(iii) दासता विरोधी परम्परा (Anti-slavery Convention) १९५५

(iv) जबर्दस्ती के श्रम के विरुद्ध परम्परा (Convention Against Forced Labour) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा १९५७ में निर्मित।

सन् १९५३ में संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा मानव अधिकारों के सम्बन्ध में जो रुख अपनाया गया था वह इस आन्दोलन के पूरी तरह से विरुद्ध था। किन्तु २२ जुलाई, १९६३ को जान एफ० केनेडी ने इस निषेधात्मक नीति को उलट दिया। इन्होंने अमरीकी सीनेट को संयुक्त राष्ट्र संघ की उक्त चार परम्पराओं में से तीन को स्वीकार करने को कहा, प्रथम परम्परा (Genocide Convention) का उल्लेख नहीं किया गया था। मानव अधिकार आयोग के अमरीकी प्रतिनिधि ने इस दिशा में अमेरिकन कार्य योजना (American Action Programme) को प्रस्तुत किया। इसके तीन भाग थे—

(i) मानव अधिकारों पर सामयिक प्रतिवेदनों (Periodic Reports) की योजना।

(ii) मानव अधिकारों पर अध्ययन की एक शृंखला (Series)।

(iii) कुछ मानव अधिकारों में तकनीकी सहायता प्रदान करना।

यह सहायता तीन प्रकार से दी जा सकती है अर्थात् विशेषज्ञों के उपलब्ध द्वारा, वजीफा तथा फैलोशिप के उपलब्ध द्वारा, सेमिनारों के संगठन द्वारा। विश्व शान्ति तथा मानव अधिकारों के बीच भारी सम्बन्ध है। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है तथा ये दोनों परस्पर सहयोगी भी हैं। क्लार्क आइकबर्गर (Clark M Eicheberger) का मत है कि राष्ट्र स्थायी शान्ति की ओर अग्रसर होते हैं तो यह भी अपरिहार्य है कि मानवीय अधिकारों की भी प्रगति होगी तथा वे सुरक्षित होंगे।[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ-एक मूल्यांकन
अथवा
संयुक्त राष्ट्र संघ की देन

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर, उसके विभिन्न संगठनों और कार्यकलापों आदि से यह भलीभांति स्पष्ट है कि यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी संस्था है जिसने अनेक अवसरों पर युद्धों का निवारण करके और गम्भीरतम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करके विश्व में तृतीय महायुद्ध के सूत्रपात को भविष्य के लिए टाला है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि महाशक्तियां इस संस्था के माध्यम से अपने विवादों को ईमानदारी से सुलझाने का प्रयत्न

1. Clark M Eicheberger, U. N · The first twenty years, 1965, P. 85.

करें और इस संस्था के कार्यों में अपेक्षित सहयोग दें तो भविष्य में तृतीय महायुद्ध की संभावना को भी यह संस्था बहुत कुछ समाप्त कर सकती है।

आलोचकों का यह कहना कि संघ अपने प्रधान उद्देश्य—युद्धों के निवारण और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल करने में विफल हुआ है, अनेक समस्याओं का अभी तक समाधान नहीं कर सका है और न ही शस्त्रीकरण की होड़ को मिटा पाया है, निस्सन्देह बहुत कुछ सत्य है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मानवीय अधिकारों और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा करने का उत्तरदायित्व संभालने वाला संयुक्त राष्ट्र संघ आज तक दक्षिण अफ्रीकन संघ में भारतीयों और अश्वेत जातियों के साथ दुर्व्यवहार को नहीं रोक सका है, साम्यवादी चीन को न अपना सदस्य बना सका है और न ही उसकी हिंसात्मक पाशविक प्रवृत्ति पर ही किसी तरह का अंकुश लगा पाया है, पूर्व और पश्चिम के मनभेदों को नहीं पाट सका है, महाशक्तियों के वैमनस्य और विरोध को नहीं मिटा सका है। इसने काश्मीर की स्पष्ट और सरल समस्या को उलझाया है तथा महाशक्तियों के हाथों में खेल कर आक्रान्ता व आक्रमणकारी को तराजू के दोनों पलड़ों में बैठाकर बराबर तोलने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं, आक्रान्ता पाकिस्तान की आक्रमणकारी प्रवृत्ति पर रंचमात्र नियन्त्रण भी लगाने में यह असफल रहा है, उल्टे इसकी गतिविधियां प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान को अवैधानिक रूप से लिये गये भारतीय प्रदेश में पैर जमाये रखने को प्रोत्साहित ही करती रही हैं। यह महाशक्तियों के शीत युद्ध का अखाड़ा बना हुआ है और अनेक अवसरों पर इसने अनेक देशों की स्वतन्त्रता व स्वाधीनता के अपहरण को कोरे एक मूकदर्शन के समान निहारा है।

संघ के पास अपनी स्वयं की दण्डकारी शक्ति का अभाव है। इसकी अपनी स्वयं की कोई सेना नहीं है। सैन्य शक्ति और आर्थिक दृष्टि से यह अपने सदस्य देशों की कृपा का आकांक्षी है। जहां महाशक्तियों के स्वार्थ निहित होते हैं वहां संघ के निर्णय काम नहीं आते बल्कि महाशक्तियों के अपने निर्णय ही महत्त्व रखते हैं। किन्तु जहां छोटे राष्ट्रों का प्रश्न होता है वहां संघ अपने प्रयासों की सफलता की दुंदुभी बजाकर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का रक्षक होने की साहो-साही लूटता है और वह भी इसीलिए कि महाशक्तियां उन छोटे राष्ट्रों को दबाकर संघ का निर्णय मानने को बाध्य कर देती हैं। यदि विभिन्न शान्ति प्रस्ताव ईमानदारी के साथ और सही भावना से सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत होते भी हैं तो महाशक्तियां अपने परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण अपने निषेधाधिकार से उन्हें नष्ट कर देती हैं। वस्तुत: संघ में इतना

विरोध और विशेषाधिकार का प्रयोग देखने को मिलता है कि इसे "संयुक्त राष्ट्र संघ कहने के स्थान पर विभक्त तथा विरोधी दलों में विभाजित राष्ट्र संघ कहना अधिक उपयुक्त लगता है।"

सितम्बर १९६६ में संयुक्त राष्ट्र संघ की २१ वीं महासभा के समक्ष अपनी वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए संघ के तत्कालीन महासचिव ऊ थाट ने यह स्वीकार किया था कि संघ अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में बहुत कम प्रगति कर पाया है। उसका मूल कारण उनके मतानुसार यही है कि संघ परस्पर विरोधी महाशक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है।

महासचिव ने बड़े राष्ट्रों पर अप्रत्यक्ष रूप से आरोप लगाते हुए कहा कि वे पारस्परिक शंका, भय और अविश्वास की भावनाओं से ग्रस्त हैं और प्रत्येक समस्या पर मानवीय हित के दृष्टिकोण से विचार नहीं करते। संघ के संगठनात्मक दोषों का उल्लेख करते हुए उन्होंने इस बात की सिफारिश की कि जनवादी चीन को संघ का सदस्य बनाया जाना चाहिये ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ सच्चे अर्थों में सभी राष्ट्रों का संगठन बन सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष तीन आधारभूत समस्यायें रही हैं—पूर्व और पश्चिम के मध्य संघर्ष, घरेलू अधिकार क्षेत्र और संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार क्षेत्र में उत्पन्न विवाद। इन तीनों आधारभूत समस्याओं पर विजय प्राप्त करने में संघ वस्तुतः समर्थ नहीं हो सकता है। हंगरी और तिब्बत के मामले पर सोवियत रूस तथा चीन पर कोई दबाव डालने में उसकी असमर्थता और असफलता इस बात का प्रमाण है कि संघ शक्तिशाली राष्ट्रों के सम्मुख कितनी दयनीय स्थिति रखे हुए हैं।

परन्तु इन सब कमियों, दोषों व दुर्बलताओं के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि संयुक्त राष्ट्र संघ केवल मात्र राष्ट्र संघ की ही एक पुनरावृत्ति है और इसके अस्तित्व का महत्व नगण्य है। वास्तविकता यही है कि अपनी विफलताओं में भी यह निरन्तर सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ता रहा है और इसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को घटा कर शान्ति बनाये रखने की दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। संयुक्त राष्ट्र संघ मरणासन्न नहीं है अपितु प्रगति पथ पर अग्रसर है। इसने न केवल अनेक राजनीतिक विवादों में सफलता पायी है बल्कि गैर राजनीतिक कार्यों में भी महान यश कमाया है। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि गैर राजनीतिक अर्थात सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में जो इसने संसार की अन्य किसी भी संस्था की अपेक्षा अधिक श्लाघनीय कार्य किया है। २५ वर्षों की अल्प अवधि में विश्व के सभी भागों में निवास करने

वाली जनता के जीवन-स्तर को सुधारने के लिए विशाल धन-राशियां व्यय की गयी हैं। सिंचाई, बाढ़-नियन्त्रण, विद्युत-शक्ति, उत्पादन, भूमि की उपज में वृद्धि सम्बन्धी लगभग ६० से भी अधिक योजनाओं पर अमल किया जा रहा है ताकि मानव जाति अकाल के खतरे से मुक्त हो सके। स्वास्थ्य, श्रम एवं चिकित्सा के क्षेत्र में इसके प्रयास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं।

राजनीतिक विवादों को हल करने में भी यह सर्वदा असफल नहीं रहा है। १९४८ और बाद में अभी १९६७ में भारत-पाक संघर्ष का अन्त करके युद्ध-विराम की स्थिति लाने में, १९४८, १९५६ और १९६७ के अरब-इजरायल संघर्षों में हर बार युद्ध रोक कर शांति स्थापित करने में स्वेज नहर को फ्रांस और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी आक्रामक इरादों से बचाने में, दक्षिणी कोरिया को साम्यवाद के लौह शिकंजे से मुक्त रखने में, ईरान, सीरिया व लेबनान से विदेशी सेनायें हटाने में, इण्डोनेशिया में युद्ध बन्द कराने में, बर्लिन के घेरे में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने में, कांगो के गृहयुद्ध को समाप्त कर उसके एकीकरण को बनाये रखने में और ऐसे ही अनेक विवादों में संघ ने उल्लेखनीय सफलता अर्जित की है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अस्तित्व के कारण ही बड़े-बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध, अधिकांशतः शक्ति का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं, इस तरह युद्ध का भय कुछ कम हुआ है और इस दृष्टि से छोटे राष्ट्रों की शक्ति में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त महासभा को पर्याप्त अधिकार होने के कारण छोटे-छोटे सदस्य राष्ट्रों को अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के अवसर प्राप्त हुए हैं और उन्होंने अपने लाभार्थ इन अवसरों का पूरा उपयोग किया भी है। यह निश्चित रूप से एक शुभ लक्षण है कि संभवतः पहली बार छोटे-छोटे राष्ट्रों द्वारा बड़े राष्ट्रों के प्रस्तावों को निष्फल कर पाना संभव हो सका है। उदाहरणार्थ महासभा में एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही सोवियत रूस का 'त्रियोका' सिद्धान्त कार्यान्वित न हो सका।

संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रभाव राष्ट्रों की सीमाओं से परे व्याप्त तत्वों और शक्तियों पर विशेष रूप से पड़ा है। इसने अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार में अपने प्रभाव का उल्लेखनीय ढंग से उपयोग किया है और अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को अधिक सबल व स्पष्ट बनाया है।

यद्यपि सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से संघ एक व्यवस्थित और एकीकृत प्रणाली का उपयुक्त विकास नहीं कर पाया है किन्तु फिर भी मानव-जाति की समस्याओं, कठिनाइयों, विपन्नताओं को इसने प्रभावशाली ढंग से सुधारित

किया है। यह विश्व की समस्याओं और वास्तविकताओं का एक सुन्दर दर्पण है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के उन्मूलन में पर्याप्त सफलता पायी है। एबसीनिया, लीबिया, सोमालीलैण्ड, मोरक्को, ट्यूनीसिया, टोगोलैण्ड आदि की स्वाधीनता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों के प्रति क्रूरतापूर्वक अत्याचारों की चर्चा जब संघ के रंगमंच पर की जाती है तो उसका प्रचार अविलम्ब सम्पूर्ण विश्व में हो जाता है और इसका यह प्रभाव पड़ता है कि नैतिक दबाव अनेक बार सैनिक शक्ति से अधिक प्रभावशाली बन जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पैदा किये गये नैतिक बल और विश्व जनमत के कारण ही रूस को बदनाम होकर ईरान से सेनायें हटानी पड़ी, फ्रांस को उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेश छोड़ने पड़े और हालैण्ड को इण्डोनेशिया का मोह त्यागना पड़ा।

विश्व युद्ध के संकट को टालने के लिये निःशस्त्रीकरण तथा आणविक शक्ति पर प्रतिबन्ध की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ निरन्तर सक्रिय है और असफलताओं के एक लम्बे इतिहास के बाद अब ऐसी योजनाएं प्रस्तुत होने लगी हैं जिन पर महाशक्तियों में पूर्वापेक्षा अधिक मतैक्य हो सकता है। १९६८ की परमाणविक प्रसार निरोध सन्धि इस दिशा में एक उत्साहवर्धक सफलता है।

इस तरह स्पष्ट है कि अपनी दुर्बलताओं व विफलताओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ मानवीय बुद्धि द्वारा परिकल्पित अब तक का श्रेष्ठतम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। यही एकमात्र ऐसी संस्था है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्थिरता ला सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि सभी क्षेत्रों में संघ की क्षमता और उसके साधनों का उपयोग बुद्धिमत्ता तथा विवेक के साथ किया जाय और संघ के सदस्य, विशेष कर महान् राष्ट्र, चार्टर के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रह कर उन पर क्रियात्मक आचरण करें। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था तभी जीवित रह सकती है व सफलीभूत हो सकती है जबकि इसके सभी सदस्य राष्ट्र सह अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलें और संगठन में विश्व के सभी राष्ट्रों का उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए उद्यत रहें। सदस्य राष्ट्रों ने जिस तरह संघ को विश्व में वैज्ञानिक ज्ञान का प्रसार करने में, विश्व की सामाजिक, सांस्कृतिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने में, विश्व क्षेत्र में सामाजिक बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने में, एक स्वतन्त्र, स्वस्थ और सुखद जीवन किस प्रकार विश्व में जन-जन को प्राप्त हो, इसका रास्ता

ढूंढने के प्रयत्नों में प्रशंसनीय सहयोग दिया है और दे रहे हैं, उसी प्रकार वे राजनीतिक क्षेत्र में मानव मन में विश्वास जमाने में संघ के उद्देश्यों में सहयोग दें। इस सम्बन्ध में अन्त में यही कहा जा सकता है कि मानव चाहे तो यह संयुक्त राष्ट्र संघ एक विश्व राज्य बन सकता है बशर्ते कि मनुष्य अपनी इस चेतना के प्रति पूरी तरह जाग उठे कि संकुचित एकदेशीय भावना से ऊपर उठे बिना, समस्त मानव कल्याण की दृष्टि से सोचे बिना उसका त्राण नहीं।

२०

वियतनाम और पश्चिम एशिया की समस्याएं

(PROBLEMS OF VIETNAM AND WEST ASIA)

वियतनाम और पश्चिमी एशिया के संकट लम्बे अर्से से अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भंग किये हुए हैं। ये संकट इतने विस्फोटक हैं कि यदि इन पर शीघ्र ही काबू नहीं पाया गया तो ये कभी भी तृतीय महायुद्ध का कारण बन सकते हैं। अग्रिम पंक्तियों मे हम पहले वियतनाम-समस्या को लेंगे और तब पश्चिमी एशिया अथवा मध्य-पूर्व के संकट को।

वियतनाम की समस्या
(Problem of Vietnam)

वियतनाम देश का क्षेत्रफल लगभग १,२७,००० वर्गमील और जन संख्या ३ करोड से भी अधिक है। वियतनाम कभी हिन्द-चीन का सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार इस राष्ट्र का जन्म सर्वप्रथम 'वानलोग' साम्राज्य के नाम से हुआ। लगभग २००० वर्ष से भी अधिक लम्बे समय से इस राष्ट्र ने कई नामों [redacted] अपना अस्तित्व बनाये रखा। एक समय इस पर चीन का भी अधिकार रहा, किन्तु १६वीं शताब्दी मे जब हिन्द-चीन पर फ्रांस का अधिकार हुआ तो वियतनाम भी फ्रांस के कब्जे में चला गया। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर हिन्द-चीन की फ्रेंच सेना जापान की बढ़ती हुई सेना का मुकाबला नहीं कर सकी। परन्तु कूटनीति का सहारा लेते हुए जापान ने हिन्द-चीन पर अपने सैन्य बल से अधिकार नहीं किया वरन् सैन्य बल के आतंक की छाया मे फ्रेन्च प्रशासन के साथ २१ जुलाई सन् १६४१ को एक पारस्परिक सुरक्षा समझौता

करके हिन्द-चीन में प्रविष्ट होने की अनुमति प्राप्त कर ली। युद्ध-काल में जापान ने इस देश के प्राकृतिक स्रोतों का अपनी यौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूरा उपयोग किया। मार्च, १९४५ में उसने इस क्षेत्र में फ्रेन्च-प्रशासक वर्ग को पदच्युत कर दिया।

जापान के युद्धकालीन शासनकाल के दौरान वियतनाम की राष्ट्रवादी शक्तियाँ विशेष रूप से प्रबल हो गईं। उन्होंने "वीत मिन्ह लीग" नामक एक राष्ट्रवादी क्रांति दल की स्थापना की। इसका नेतृत्व साम्यवादी छापा-मार नेता 'श्री होची मिन्ह' को सौंपा गया। वियतनाम के क्रांतिकारी और राष्ट्रवादी तत्वों ने जापान के इस क्षेत्र से हटने के समय इतनी प्रचुर युद्ध सामग्री हस्तगत करली कि वे दीर्घकाल तक छापा-मार युद्ध चला सकने की स्थिति में आ गये। जब अगस्त, १९४५ में जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया और वियतनामवासियों को जापानी निरंकुश नियन्त्रण से छुटकारा मिला तो वीतमिन्ह राष्ट्रवादियों ने सितम्बर में ही फ्रांस से अपनी स्वतन्त्रता घोषित करके 'वियतनाम गणतन्त्र' का उद्घाटन किया। अगस्त, १९४५ में उन्होंने एक राष्ट्रीय महासभा आयोजित की तथा अपने देश की नव-स्थापित सरकार के लिए श्री हो-ची-मिन्ह को राष्ट्रपति चुना। बाओदाई ने (जो अनाम का भूतपूर्व सम्राट था और जिसने महायुद्ध के दौरान वियतनाम की स्वाधीनता की घोषणा करते हुए स्वयं को वियतनाम का शासक घोषित कर दिया था) होची-मिन्ह द्वारा हनोई में स्थापित की गई कार्यकारी सरकार [redacted] 'सर्वोच्च राजनीतिक परामर्शदाता' का पद प्राप्त करके सन्तोष कर लिया। वियतनाम की हो-ची-मिन्ह सरकार ने राज्य का पूरा नाम 'वियतनाम लोकतन्त्री गणराज्य' रखा और कोचीन-चीन, टोंकिंग तथा अनाम पर अपने प्रभुत्व का दावा किया।

वियतनाम के राष्ट्रवादियों द्वारा की गई उपरोक्त कार्यवाही फ्रांस के लिए असह्य थी। जापान से हिन्द चीन से पलायन के बाद जब वियतनाम पुन: फ्रेन्च प्रभुत्व के अन्तर्गत आ गया तो फ्रांस ने राष्ट्रवादियों से किसी प्रकार का समझौता करने के बजाय उनका दमन करने का निर्णय लिया। फलस्वरूप वीतमिन्ह-राष्ट्रवादियों और फ्रेंच साम्राज्यवाद में युद्ध छिड़ गया।

१९४५ से लेकर १९५४ तक फ्रांस और हो-ची-मिन्ह के बीच निरन्तर लड़ाई चलती रही। डा० हो-ची-मिन्ह को स्थानीय साम्यवादियों, रूस और साम्यवादियों और बाद में चीनी साम्यवादियों की सहायता प्राप्त हुई। उनके अनुयायियों ने देश में आतंक, लूट, छापामार युद्ध और विध्वंस

का वातावरण पैदा कर दिया तथा इस प्रकार फ्रांस के लिये वियतनाम में व्यवस्था स्थापित करना असम्भव बना दिया।

सैनिक साधनों द्वारा हो-ची-मिन्ह पर विजय पाने में अपने को नाकामयाब पाकर फ्रांस ने राजनीतिक साधनों का आश्रय लिया। उसने असंतुष्ट बाओदाई को अन्नाम में एक नई कार्यकारी सरकार (Provisional Government) स्थापित करने के लिये उकसाया। ५ जून, १९४८ को बाओदाई ने कोचीन-चीन सहित 'रिपब्लिक ऑफ वियतनाम' के नाम से एक नई सरकार स्थापित कर ली। इस तरह अब वियतनाम में दो सरकारें काम करने लगी—दक्षिणी वियतनाम में बाओदाई की 'रिपब्लिक ऑफ वियतनाम' सरकार और उत्तर में डा० हो-ची-मिन्ह का 'वियतनाम गणतन्त्र' जिसे 'वीतमिन्ह' कहा जाने लगा। मार्च, १९४९ में बाओदाई ने फ्रांस की यात्रा की। फ्रेंच सरकार के साथ कुछ समझौते किये गए जिनके अन्तर्गत वियतनाम (वीत मीन्ह नहीं) 'फ्रेंच संघ का एक उपराज्य' (Associated State of the French Union) बना दिया गया। इसके वैदेशिक मामलों व इसकी सेनाओं पर फ्रेंच शासन का नियन्त्रण स्थापित हो गया। ३० दिसम्बर, १९४९ को बाओदाई ने सैगोन (Saigon) में स्वयं को 'राज्याध्यक्ष' घोषित कर दिया। यह बाओदाई-शासित वियतनाम की राजधानी बनी। डा० हो ची मिन्ह द्वारा शासित वियतनाम की राजधानी हनोई ही रही।

फ्रेंच साम्राज्यवाद की इस प्रकार की कूटनीतिक चालों ने स्पष्टतः वियतनाम में भीषण गृह-युद्ध की शुरुआत कर दी क्योंकि एक तरफ तो हनोई की सरकार स्वयं को सम्पूर्ण वियतनाम की वैधानिक सरकार कहने लगी और दूसरी ओर सैगोन सरकार सारे वियतनाम की वैधानिक सरकार होने का दावा करने लगी। शीघ्र ही इस गृह युद्ध ने एक राष्ट्रव्यापी युद्ध का रूप धारण कर लिया। एक तरफ अमेरिकन डालरों, शस्त्रास्त्रों, टैंकों और वायुयानों से सुसज्जित १,५०,००० फ्रेंच सैनिक थे तो दूसरी तरफ साम्यवादी चीन की सहायता प्राप्त डा० हो-ची मिन्ह के अपेक्षाकृत कम संख्या में सैनिक। स्थिति तब और भी विषम हो गई जब सन् १९५० में अमेरिका और रूस 'शीत युद्ध' (Cold-War) को भी हिन्द चीन के द्वार तक खींच लाये। फरवरी, १९५० में सैगोन की 'वियतनाम सरकार' को संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, थाईलैण्ड एवं 'स्वतन्त्र विश्व' के अधिकांश राज्यों ने कूटनीतिक मान्यता प्रदान कर दी। दूसरी तरफ डा० हो की 'हनोई सरकार' को युगोस्लाविया से कूटनीतिक मान्यता मिली। इसके अतिरिक्त रूस, साम्यवादी चीन, 'लौह-आवरण' से सम्बन्धित अन्य देशों और कुछ एशियाई

राष्ट्रों का 'कूटनीतिक समर्थन' प्राप्त हुआ । डा० हो-ची-मिन्ह के राष्ट्रवादी अनुयायी वियतनाम के ग्रामीण क्षेत्रों में अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिए अथक श्रम करने लगे । उन्होंने फ्रेंच साम्राज्यवाद द्वारा पोषित, संरक्षित और पूर्ण सहायता प्राप्त सेगोन-सरकार के विरुद्ध अपना अद्भुत छापामार-युद्ध जारी रखा । हनोई की सफलताओं ने वाशिंगटन को इस भय से सशंकित कर दिया कि कहीं सम्पूर्ण वियतनाम भी साम्यवादी शिकंजे में न चला जाय । अतः उसने फ्रेंच सेनाओं को अधिकाधिक सैन्य सहायता देना आरम्भ कर दिया । इधर साम्यवादी चीन और रूस हनोई की 'वीत मिन्ह या वियत मिन्ह सरकार' को यथासम्भव हर प्रकार की सहायता प्रदान करने लगे । इस तरह 'उपनिवेशवादी शासकों' और 'उपनिवेशी शासितों' के बीच शुरू होने वाले युद्ध ने अब 'स्वतन्त्र विश्व' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' के मध्य संघर्ष का रूप धारण कर लिया ।

७ मई, १९५४ को 'वीत मिन्ह' सेनाओं ने डीन बीन फू में फ्रेंच सेनाओं को सबसे बड़ी और निर्णायक पराजय दी । फ्रांस के लगभग १५,००० सैनिक बंदी बना लिये गये । इस भीषण पराजय ने हिन्द-चीन में फ्रेंच साम्राज्यवाद की कमर तोड़ दी । फ्रांस ने अमेरिका से और सैनिक सहायता भेजने की अपील की । वाशिंगटन ने लन्दन के समक्ष 'संयुक्त सैनिक हस्तक्षेप' का प्रस्ताव रखा किन्तु लन्दन ने साफ इन्कार कर दिया । एडमिरल रेडफोर्ड द्वारा एक पक्षीय अमेरिकन हस्तक्षेप और आणविक शस्त्रों के प्रयोग का सुझाव दिया गया, लेकिन युद्ध के विश्व व्यापी बन जाने के भय से राष्ट्रपति आइजनहोवर ने समस्या के शांतिपूर्ण समाधान का ही निश्चय किया ।

जेनेवा में युद्ध विराम संधि और वियतनाम का विभाजन

२६ अप्रैल से २१ जुलाई, १९५४ तक जेनेवा में हिन्द चीन की समस्याओं पर वार्ताएं चलती रहीं और अन्त में २१ जुलाई को दोनों पक्षों में युद्ध विराम संधि हुई । इस सन्धि के अनुसार निम्नलिखित बातें स्वीकार हुई—

(i) यह देश दो भागों में बट गया—उत्तरी वियतनाम और दक्षिण वियतनाम । १७वीं अक्षांश रेखा के उत्तर में हनोई नदी से लगता हुआ सारा उत्तरी वियतनाम साम्यवादियों को मिला और उसके दक्षिण में दक्षिण वियतनाम गणराज्य की स्थापना हुई ।

(ii) दोनों भागों के बीच एक बफर क्षेत्र की भी स्थापना की गई ।

(iii) फ्रेंच सेना द्वारा सारा वियतनाम खाली करने का निर्णय हुआ।

(iv) समस्त देश के भविष्य का निर्णय करने के लिये यह व्यवस्था की गई कि जुलाई, १९५६ में निष्पक्ष नीति से नये चुनावों द्वारा दोनों भागों का एकीकरण किया जायेगा।

(v) दोनों पक्षों द्वारा सन्धि की शर्तों का पालन करने के लिए त्रिसदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग की स्थापना की गई। इसके सदस्य भारत, कनाडा और पोलैंण्ड बनाये गये।

युद्धविराम की असफलता और वियतनाम का वर्तमान संघर्ष

जेनेवा समझौता से आशा हुई थी कि वियतनाम में निकट भविष्य में ही पूर्ण शांति स्थापित हो सकेगी और आम चुनाव द्वारा उत्तरी व दक्षिणी वियतनाम का एकीकरण हो जायगा। परन्तु इस प्रकार की कोई आशा फलीभूत नहीं हुई। उत्तरी वियतनाम ने जनमत-संग्रह कराने से इन्कार कर दिया। इस पर दक्षिणी वियतनाम में मई १९५६ में संविधान सभा के लिये चुनाव करके विधिवत संसद की स्थापना कर दी गई। इस तरह दक्षिण वियतनाम लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ा।

जेनेवा समझौता के अनुसार जब साम्यवादियों ने दक्षिण वियतनाम को खाली किया तो वे इस क्षेत्र के जंगलों में विशाल संख्या में शस्त्रास्त्र छिपा कर छोड़ गये। ये सभी शस्त्रास्त्र सामरिक महत्व के स्थानों पर या तो सावधानी के साथ छिपा दिये गये अथवा धरती में गाड़ दिये गये। यही नहीं साम्यवादी अनेक छापामार दस्तों को भी पीछे छोड़ गये जो जंगल और पर्वतों में छिप कर मौके और आदेश का इन्तजार करने लगे। इधर अपने क्षेत्र में उत्तरी वियतनाम में भी साम्यवादी सरकार तेजी के साथ अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने लगी। उसे साम्यवादी चीन और सोवियत रूस से भारी परिमाण में शस्त्रास्त्र सहायता और टेक्नीकल सहायता सुलभ होने लगी। सैगोन और हनोई एक दूसरे पर सशस्त्र सेना की वृद्धि के आरोप लगाने लगे। डा० होची मिन्ह की सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध विराम निरीक्षण आयोग से शिकायत की कि अमेरिका दक्षिण वियतनाम को हथियार दे रहा है। दूसरी ओर डायम (Diem—दक्षिण वियतनाम के प्रथम राष्ट्रपति) की सरकार ने हनोई पर आरोप लगाया कि वह उसकी सरकार का तख्ता उलटने के लिए साम्यवादियों की सहायता ले रहा है।

इस प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों से उत्तरी व दक्षिण वियतनाम के बीच की कटुता बढ़ती गई। इसी मध्य २० अगस्त, १९५६ को दक्षिण

वियतनाम में आम चुनाव हुए और राष्ट्रपति दायम को सरकार ने भारी बहुमत प्राप्त किया। दूसरी ओर १९ जुलाई, १९६० को उत्तरी वियतनाम की राष्ट्रीय संसद ने सर्व-सम्मति से ७० वर्षीय डा० हो-ची-मिन्ह को राज्याध्यक्ष (Head of State) चुन लिया। दोनों ही नेता सत्ता से चिपके रहे और एक-दूसरे पर जेनेवा का शांति समझौता भंग करने का दोष लगाते रहे। उत्तर की प्रेरणा से दक्षिण वियतनाम में साम्यवादियों ने १९६० में 'राष्ट्रीय मुक्ति सेना' (National Liberation Front) की स्थापना की। इन सैनिकों को सरकारी बयानों में वियत-काग (Viet-Cong–Vietnamese Communists) कहा गया। यह वियतनाम सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने लगा।

इधर तो अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा लेने के बाद हनोई सरकार ने दक्षिण के विरुद्ध पुनः तोड़-फोड़, घुसपैठ और छापामार लड़ाई प्रारम्भ कर दी और उधर १९६०–६१ के दौरान वियतनाम छापामार सैनिकों ने अपनी कार्यवाही देश के बहुत से भागों में अत्यधिक बढ़ा दी। १९६१ के अन्त तक लगभग २० हजार साम्यवादी वियतनाम छापामार सैनिक दक्षिण वियतनाम में जहां तहां आतंकपूर्ण कृत्य करने लगे। लाचार होकर दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रपति नो दिन्ह दायम (Ngo Dinh Diem) ने १९ अक्टूबर, १९६१ को सारे वियतनाम में आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। मई १९६१ में अमेरिकन उपराष्ट्रपति लिण्डन जानसन ने सैगोन का दौरा किया। उन्होंने वापिस लौटकर अपनी सरकार से यह सिफारिश की कि दक्षिण वियतनाम को अमेरिकन सहायता में वृद्धि की जाय और इस सहायता की गति को बढ़ाने के उपाय किये जाय। इस पर राष्ट्रपति कैनेडी ने अक्टूबर १९६१ में जनरल मैक्सवेल टेलर को दक्षिण वियतनाम इसलिए भेजा कि वह साम्यवादी चुनौती का सामना करने के लिये सैगोन सरकार की आवश्यकताओं को आंके।

१० दिसम्बर को अमेरिकन राज्य-विभाग ने 'शान्ति को खतरा' (A threat to the peace) के नाम से दो भागों में एक श्वेत-पत्र निकाला और आरोप लगाया कि वियतनाम 'मुक्ति आन्दोलन' का निर्देशन व संचालन उत्तरी वियतनाम से होता है, साम्यवादियों द्वारा दक्षिण वियतनाम को विजित कर लिये जाने का स्पष्ट रूप से खतरा उपस्थित है, और यदि ऐसा हुआ तो साम्यवादी गुट में १,४०,००,००० व्यक्ति और सम्मिलित हो जायेंगे जिससे लाओस की प्रगति का मार्ग पूर्णतः बन्द हो जायेगा जहां कि साम्यवादियों का पहले ही आधे देश पर अधिकार है। दक्षिण वियतनाम सरकार और अमेरिकन प्रशासन का यह स्पष्ट आरोप था कि हनोई सरकार

का यह प्रयास है कि वह दक्षिण वियतनाम की सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले साम्यवादी वियतकांग लोगों को शस्त्रास्त्रों की सहायता देकर वहां की सरकार को नष्ट कर दे और दक्षिण वियतनाम को उत्तरी वियतनाम के साथ मिला ले।

४ जनवरी, १९६२ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को आर्थिक और सैनिक सहायता देने की योजनाएं घोषित की। लगभग एक मास बाद अमेरिकन सैनिक कमान स्थापित की गई और लगभग ४ हजार अमेरिकन सैनिक युद्ध कार्य में भाग लेने के लिए भेज गए।

दक्षिण वियतनाम द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग (International Control Commission) से शिकायत की गई कि उत्तरी वियतनाम घुसपैठ और विनाश की कार्यवाहियां कर रहा है। किन्तु जब शिकायत पर आयोग द्वारा विचार किया जाने लगा तो पोलिश सदस्य ने आपत्ति की कि आयोग को दक्षिण वियतनाम की शिकायत की जांच पड़ताल करने का अधिकार नहीं है। परन्तु आयोग द्वारा निर्णय लिया गया कि उसे जांच करने का पूर्ण अधिकार है। सोवियत संघ और चीन ने दक्षिण वियतनाम के आन्तरिक मामलों में अमेरिका के अनुचित हस्तक्षेप की निन्दा करते हुए आरोप लगाया कि अमरिका द्वारा जो सैनिक कमान नियुक्त की गई है वह दक्षिणी वियतनामी जनता के उस देशभक्ति पूर्ण संघर्ष का दमन करने के लिए स्थापित की गई है जो अन्यायी और साम्राज्यवाद के हाथों की कठपुतली दायम सरकार के विरुद्ध लड़ा जा रहा है। साम्यवादी चीन द्वारा आग्रह किया गया कि जेनेवा सम्मेलन का सहायक प्रधान आवश्यक परामर्श करके 'दक्षिण वियतनाम' से युद्ध के गम्भीर खतरे दूर करने के उचित उपाय करे। मार्च, १९६२ में रूस द्वारा मांग की गई कि अमेरिका दक्षिण वियतनाम में युद्ध सामग्री ले जाना बन्द कर दे और वहां से अपने सैनिक अमले को वापस बुला ले। रूस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के सदस्यों से भी आग्रह किया गया कि वे दक्षिण वियतनाम में अमेरिकन हस्तक्षेप बन्द करने के लिए दबाव डालें।

२ जून, १९६२ को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के भारतीय और कनाडियन सदस्यों ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया—

(१) उत्तरी वियतनाम आक्रामक कार्यवाहियों का दोषी है। उसने दक्षिण वियतनाम में शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियों को प्रोत्साहन व समर्थन देकर जेनेवा समझौते की अवहेलना की है।

(ii) दक्षिण वियतनाम ने संयुक्त राज्य अमेरिका से वास्तविक सैनिक गठबन्धन करके जेनेवा समझौते की १६वीं और १७वीं धारा की अवहेलना की है।

आयोग का निर्णय किसी भी पक्ष को अपनी कार्यवाहियों से निरत न कर सका। दोनों वियतनामों के भविष्य और भावी सम्बन्धों का प्रश्न 'शीतयुद्ध' में उलझ कर रह गया। आरोपों-प्रत्यारोपों की बौछारें होने लगी। रूस व साम्यवादी चीन उत्तरी वियतनाम के खुले समर्थक बने तो ब्रिटेन व कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्र दक्षिण वियतनाम में अमेरिका की स्थिति का समर्थन करने लगे।

दिसम्बर, १९६३ में अमेरिकन प्रतिरक्षा सचिव रोबर्ट मैकनमारा (Robert McNamara) ने कुछ अन्य उच्च अधिकारियों के साथ सैगोन का दौरा किया और घोषणा की कि—"दक्षिण वियतनाम को जब तक आवश्यकता होगी, अमेरिकन सैनिक सहायता दी जायेगी।" किन्तु अमेरिका की इस घोषणा से वियतकांग के साहस में कोई कमी नहीं आई अपितु उसकी आतंकपूर्ण कार्यवाहियों की भयानकता में वृद्धि होती गई। जनवरी, १९६४ में फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाल ने जोर देकर कहा कि वियतनाम का तटस्थीकरण किया जाना चाहिए। मार्च, १९६४ में अमेरिका के राज्य सचिव डीन रस्क द्वारा कहा गया कि यदि वियतकांग अपनी सैनिक कार्यवाही समाप्त कर दें, चीन व उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम के मामलों में हस्तक्षेप करना छोड़ दें और उसे शान्तिपूर्ण रहने दें तो अमेरिका अकेले दक्षिण वियतनाम का तटस्थीकरण भी स्वीकार कर सकता है। श्री डीन रस्क द्वारा यह विचार व्यक्त करने के तुरन्त बाद ८ मार्च को श्री मैकनमारा व अन्य सैनिक तथा राजनीतिक अधिकारी पुनः सैगोन गये जहां उन्होंने एक प्रेस सम्मेलन में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि दक्षिण वियतनाम को आवश्यक सभी आर्थिक सैन्य प्रशिक्षण सम्बन्धी और सैन्य सामग्री की सहायता अमेरिका देने को तैयार है। अमेरिका द्वारा इस सहायता का उद्देश्य दक्षिण वियतनाम की जनता को साम्यवादी वियतकांगों की क्रूरताओं से छुटकारा दिलाना बताया गया। २३ जून, १९६४ को राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा संयुक्त सेनाध्यक्षों के प्रधान और अमेरिका के वरिष्ठ सैन्य अधिकारी श्री मैक्सवेल डी. टेलर को दक्षिण वियतनाम में राजदूत नियुक्त किया गया। इधर उत्तरी वियतनाम की ओर से १७ वीं अक्षांश रेखा पर दबाव बढ़ता गया, चीनी साम्यवादी सेना उत्तरी वियतनाम से लगती हुई चीन की दक्षिणी सीमा पर विशाल संख्या में एकत्र हो गई और कुछ चीनी सेना तो उत्तरी वियतनाम के भीतर तक जम

कर बैठ गई। साथ ही लगभग १,५०,००० साम्यवादी सैनिक दक्षिण वियतनाम में पूर्ण रूप से सक्रिय हो गये।

उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकी आक्रमण और संघर्ष में तीव्रता—अगस्त, १९६४ में वियतनाम में और भी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई। अमेरिका द्वारा उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध सैनिक हस्तक्षेप करने का निश्चय कर लेने के फलस्वरूप वियतनाम युद्ध ने एक नया मोड़ ले लिया। ५ अगस्त, १९६४ को अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम की पनडुब्बियों के अड्डों और तेल-पनडुब्बियों पर ५ घंटे तक भीषण बम-वर्षा की। अमेरिका का आरोप था कि उत्तरी वियतनाम की पनडुब्बियां टोनकिन (अथवा टोंकिन) की खाड़ी में अमेरिकन गश्ती जहाजों पर आक्रमण करती रहती हैं और यह स्थिति अमेरिका को असह्य है। अमेरिकी बम वर्षा के बाद ही वियतनाम साम्यवादियों ने विशाल पैमाने पर छापामार-युद्ध आरम्भ कर दिया। सोवियत रूस ने चेतावनी दी कि यदि अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम के सैनिक ठिकानों पर बम वर्षा की तो वह उत्तरी वियतनाम को भरपूर सहायता देने को बाध्य हो जायगा। साम्यवादी चीन ने भी घोषणा की कि अभी तक उसने हिन्द-चीन में एक भी सैनिक नहीं भेजा है, लेकिन उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण होने की सूरत में उसकी सब्र का बांध टूट जायेगा।

रूस और चीन की चेतावनियां अप्रभावी रहीं। परिस्थिति दिन प्रतिदिन विषमतर होती गई। साम्यवादी वियतकांग छापामारों ने दक्षिणी वियतनाम के सैनिक अड्डों को तहस-नहस करने के प्रयत्न शुरू कर दिये। १ नवम्बर, १९६४ को वियतकांग छापा-मारों ने 'बिएन-हो-आ' के हवाई अड्डे पर आकस्मिक रूप से भीषण हमला करके २७ विमान नष्ट कर दिये। इस आक्रमण में अनेक अमेरिकन सैनिक मारे गये और घायल हो गये। इस घटना के बाद राष्ट्रपति जानसन ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी कि अमेरिका उत्तरी वियतनाम द्वारा वियतकांग छापा मारों को दी जाने वाली सैनिक सहायता बन्द करने के लिए शक्ति का प्रयोग करेगा। जानसन ने कहा कि यह सैनिक सहायता लाओस के मार्ग से जा रही है और जेनेवा समझौते के सर्वथा प्रतिकूल है। दिसम्बर, १९६४ में व्हाइट हाउस से प्रकाशित एक विज्ञप्ति में दक्षिण वियतनाम को सैनिक सहायता देने का वचन दिया।

इसके बाद ही ७ फरवरी, १९६५ से उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकी हवाई हमले आरम्भ हुए। २७ फरवरी, १९६५ को वाशिंगटन ने एक श्वेत-पत्र प्रकाशित किया जिसमें उत्तरी वियतनाम द्वारा दक्षिण वियतनाम पर वियतकांग छापामारों द्वारा किये जाने वाले हमलों का विस्तृत विवरण दिया गया। इसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया कि वियतकांग आन्दोलन

दक्षिण वियतनाम का स्थायी आन्दोलन नहीं है बल्कि उत्तर वियतनामी सरकार द्वारा प्रेरित और संचालित आन्दोलन है। —

समझौता प्रयासों की असफलता—मार्च से ही अमेरिकी हवाई हमलों की गति में तेजी आने लगी। फ्रांस, रूस, भारत आदि देशों ने उत्तरी और दक्षिण वियतनाम में समझौता कराने के लिए पुनः जेनेवा सम्मेलन बुलाये जाने की अपील की। महासचिव ऊ थांट ने सम्बन्धित देशों के बीच वार्ता का प्रस्ताव किया और १७ तटस्थ राष्ट्रों ने युद्ध बन्द करने की अपील की।

अप्रेल, १९६५ के आरम्भ में उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति डा० हो ची-मिन्ह ने एक चार सूत्रीय प्रस्ताव रखा जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त मुख्यतः यह मांग की गई कि दक्षिण वियतनाम से अमेरिकी सेनायें हटा ली जायं, उत्तरी वियतनाम पर बम-वर्षा बन्द की जाय और जेनेवा में वियतनाम के राजनीतिक कार्यक्रम के अनुसार समस्या निपटाई जाय। प्रत्युत्तर में ७ अप्रैल, १९६५ को राष्ट्रपति जानसन ने घोषणा की कि यदि दक्षिणी वियतनाम को स्वतन्त्र रखा जावे और सुरक्षा के लिए अमेरिकी सेना वहां रहे तो अमेरिकन सरकार "बिना शर्त वार्ता" करने को तैयार है। हनोई द्वारा जानसन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया गया। सोवियत रूस और लाल चीन ने हनोई के दृष्टिकोण का समर्थन किया। रूस ने हनोई के निकट वायुयान-भेदी प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डे बनाना शुरू कर दिया और चीन ने उत्तरी वियतनाम को रूसी सैनिक सामग्री ले जाने की सुविधायें प्रदान कीं। दूसरी ओर अमेरिका ने दक्षिणी वियतनाम में अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा दी। मई, १९६५ में अमेरिकी कांग्रेस द्वारा एक विधेयक पास किया गया जिससे वियतनाम के लिए ७० करोड़ डालर की अतिरिक्त राशि स्वीकार की गई।

समझौता प्रयास चलते रहे। जून, १९६५ में लन्दन में हुए १४ वें राष्ट्र-मण्डलीय प्रधान मन्त्री सम्मेलन में एक "वियतनाम शान्ति आयोग" स्थापित किया गया, जिसे सोवियत संघ, चीन और उत्तरी वियतनाम ने अस्वीकार कर दिया। जुलाई १९६५ में जब शास्त्री टीटो ने वियतनाम संघर्ष के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए संयुक्त अपील जारी की तो साम्यवादी चीन ने टीटो और शास्त्री को "अमेरिकन साम्राज्यवाद के ऐजेन्ट" की संज्ञा दी।

वियतनाम के मामले में नेतृत्व की प्रतिस्पर्धा सोवियत-चीन मतभेदों को भी उभारने लगी। उधर वियतनाम युद्ध में तीव्रता आती गई। १९६५ के अन्त तक वाशिंगटन प्रतिरक्षा विभाग की घोषणा के अनुसार अमरीकी सैनिकों की संख्या १,८१,३६२ तक पहुँच गई। किन्तु फिर भी यह समस्या

जाता था कि वियतनाम युद्ध को जीतने के लिए ५ लाख तक अमेरिकन सैनिक आवश्यक हैं। वियतनाम युद्ध को शान्ति से निपटाने के लिए रूस कूटनीतिक प्रयत्न करता रहा, लेकिन चीन संघर्ष को उकसाने में ही अपना लाभ देखता था। पेकिंग ने उत्तरी वियतनाम की सरकार को यह संकेत भी दिया कि रूस से मतभेद दूर करना मार्क्सवाद लेनिनवाद के प्रति विश्वासघात समझा जायेगा। जब दिसम्बर १९६५ में सोवियत प्रधान मन्त्री ने साम्यवादी नेता एलेक्जेण्डर शेलेपिन को वियतनाम युद्ध शान्त कराने के उद्देश्य से हनोई भेजा तो चीनी नेताओं ने पूरा प्रयत्न किया कि उत्तरी वियतनाम में शेलेपिन का उद्देश्य पूरा न होने पावे।

१९६६ के समझौता प्रयास और मनीला सम्मेलन—सन् १९६५ में क्रिसमस के अवसर पर कुछ समय के लिए युद्ध-विराम की घोषणा की गई थी। इस अवधि में संघर्ष को निपटाने के कूटनीतिक प्रयत्न किये गये जो सफल नहीं हुए। ३७ दिन हवाई हमले बन्द रखने के बाद ३१ जनवरी, १९६६ को अमेरिका ने पुनः बहुत बड़े पैमाने पर हवाई हमले शुरू कर दिये। १९६६ में वियतनाम संघर्ष के समाधान के अनेक प्रयत्न किये गये, लेकिन उत्तरी वियतनाम अपनी निम्नलिखित चार बातों पर डटा रहा—

(i) अमेरिका दक्षिणी वियतनाम से अपनी सारी सेनायें तुरन्त हटाये।

(ii) दक्षिणी वियतनाम में सन्धिवार्ता छापामार वियतकाग सैनिकों के राजनीतिक संगठन "राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे," (National Liberation Front) से की जाये क्योंकि वही दक्षिण वियतनामी जनता का एक मात्र प्रतिनिधि है।

(iii) समझौते के लिए उत्तरी वियतनाम की चतुर्मुखी योजना स्वीकार की जाय।

(iv) उत्तरी वियतनाम पर की जाने वाली बमबारी को फौरन बन्द किया जाये।

डा० हो ची मिन्ह ने ब्रिटेन, कनाडा, भारत आदि अनेक देशों और समाजवादी राष्ट्रों को पत्र भेजे जिनमें उपरोक्त बातों पर बल दिया गया। भारत के राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने प्रत्युत्तर में लिखा कि अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग का अध्यक्ष होने के नाते भारत १९५४ के जेनेवा समझौते के अनुसार दोनों देशों का एकीकरण करना चाहता है। अमरिका से उसका अनुरोध है कि बम वर्षा बन्द की जाय और संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में तटस्थ देशों की अन्तर्राष्ट्रीय सेना संगठित की जाय जो समस्या का समाधान

होने तक दोनों देशों की सीमाओं पर शान्ति स्थापना का कार्य करे। प्रधान मंत्री इन्दिरा गांधी ने वियतनाम में युद्ध विराम के लिए जेनेवा सम्मेलन के पुन: आमन्त्रित किये जाने का प्रस्ताव रखा।

भारत के प्रस्ताव महाशक्तियों को रुचिकर नहीं लगे। अमेरिका बिना शर्त बम-वर्षा बन्द करने को तैयार न था और रूस उत्तरी वियतनाम की सहमति के बिना जेनेवा सम्मेलन बुलाने में राजी नहीं था। फ्रेंच राष्ट्रपति डिगाल ने भी उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकन बम-वर्षा और दक्षिणी वियतनाम में उसके हस्तक्षेप का घोर विरोध किया। एशियायी देशों की अपनी यात्रा के दौरान उन्होंने भी इस बात पर बल दिया कि वियतनाम समस्या का समाधान जेनेवा समझौते के अनुसार दोनों भागों का पुन एकीकरण करके तथा इसको तटस्थ देश बना कर किया जाना चाहिए। अक्टूबर, १९६६ में दिल्ली में यूगोस्लाविया, संयुक्त अरब-गणराज्य और भारत के शिखर-सम्मेलन के अवसर पर भी यही विचार प्रकट किया गया कि वियतनाम युद्ध बन्द हो, वहा से विदेशी सेनायें हटा ली जाय कोई बाहरी देश वियतनाम के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करे और वहा की जनता इच्छानुसार अपने राजनीतिक स्वरूप का गठन करे।

नवम्बर, १९६६ में फिलिपाइन्स की राजधानी मनीला में भी एक शिखर-सम्मेलन हुआ जिसमे संयुक्त-राज्य-अमेरिका, फिलिपाइन्स, थाइलैण्ड, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी वियतनाम, दक्षिण-कोरिया और न्यूजीलैण्ड के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। सम्मेलन की विज्ञप्ति में मांग की गई कि वियतनाम में शान्ति स्थापना के लिए सबसे पहले यह आवश्यक है कि वियतनाम अपनी आक्रामक कार्यवाहियां समाप्त करे और उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम प्रदेश से अपनी फौजें हटा लें। ऐसा हो जाने पर ही अमेरिका भी अपने सैनिक हटा लेगा और सम्बन्धित पक्षों में वार्ता हो सकेगी।

१९६७ से १९६८ के अन्त तक वियतनाम समस्या और पेरिस वार्ता—वियतनाम समस्या के समाधान के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव द्वारा भी काफी प्रयत्न किये गये। थांट ने सुझाव दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ तटस्थ देशों को इस विवाद में पंच बना कर उनसे समस्या का समाधान कराये। महासचिव ऊथान्ट ने नव वर्ष की १ जनवरी, १९६७ को समस्या के समाधान के लिए एक त्रि-सूत्रीय योजना प्रस्तुत की, जो इस प्रकार थी—

(1) उत्तरी वियतनाम पर की जाने वाली बम-वर्षा अविलम्ब बन्द की जाए।

एक गोल मेज पर हो तथा सम्बन्धित पक्ष अपनी इच्छानुसार उस पर बैठने का स्थान चुन । लेकिन अमेरिका और दक्षिणी वियतनाम इस सुझाव को मानने का सहमत न हुए क्योंकि दोनों ही राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को मान्यता नहीं देते थे और गोल मेज वार्ता का सुझाव मान लेने पर राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को इनकी मान्यता प्राप्त हो जाती थी । किसी प्रकार, काफी वादविवाद के बाद, इस समस्या का भी समाधान निकाला गया और सम्मेलन को कार्यवाही पुन शुरू होने की सम्भावना बढ़ गयी ।

इसी मध्य अमेरिका मे २० जनवरी, १९६९ को नये राष्ट्रपति निक्सन ने ने कार्यभार सभाला । उन्होने पेरिस वार्ता मे अमेरिकी प्रतिनिधि हैरीमन की जगह हैनरी केबट लाज को नियुक्त किया । ६ फरवरी, १९६९ को पेरिस वार्ता का तीसरा दौर शुरू हुआ किन्तु कोई प्रगति न हो सकी । ८ मई, १९६९ को राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे द्वारा एक दस सूत्री योजना पास की गयी जिसमे दक्षिणी वियतनाम से विदेशी सैनिकों की वापसी और वहा के लिए अस्थाई संयुक्त सरकार के गठन की बात कही गयी । दक्षिणी वियतनाम इस प्रस्ताव के आधार पर आगे बातचीत को तैयार हो गया, किन्तु सयुक्त सरकार की बात के लिए मान्य नहीं हुआ । राष्ट्रपति निक्सन ने यह नीति अपनायी कि एक ओर तो पेरिस म शान्तिवार्ता को आगे बढ़ाया जाए और दूसरी ओर वियतनाम से इस तरह अपने सैनिक धीरे-धीरे वापिस लौटाये जाए कि सैनिक स्थिति एकदम दक्षिणी वियतनाम व अमेरिका के प्रतिकूल न हो जाए । मई १९६९ मे अमेरिका ने वियतनाम से लगभग ५० हजार अमेरिकी सैनिक वापिस बुलाने का निश्चय किया । राष्ट्रपति निक्सन ने शान्ति स्थापना के लिए एक आठ सूत्री प्रस्ताव भी रखा ।

दुर्भाग्यवश अभी तक पेरिस वार्ता का कोई निश्चित परिणाम नही निकल सका है । फिर भी इस बात के आसार प्रकट हो गये है कि सम्भवत निकट भविष्य म वियतनाम युद्ध समाप्त हो जायगा । अमेरिका वियतनाम से धीरे-धीरे अपनी सैनिक टुकड़िया वापिस बुला रहा है और उत्तरी वियतनाम की आक्रामक कार्यवाहियाँ भी शिथिल पड़ी है । राष्ट्रपति निक्सन वियतनाम युद्ध की समाप्ति चाहते हुए भी यह संकेत दे चुके है कि यदि उत्तरी वियतनाम की हमलावर कार्यवाहियो के फलस्वरूप अमेरिकन सैनिक अधिक सख्या मे मारे गये तो अमेरिका पुन कठोर कार्यवाही कर सकता है । उत्तरी वियतनाम का जवाब है कि वह धमकियों से नही डरेगा । फिर भी दोनों ही पक्ष युद्ध से उकता चुके है और हमे आशा करनी चाहिये कि वियतनाम समस्या का समाधान शीघ्र ही कूटनीतिक स्तर पर निकाल लिया जायगा ।

पश्चिमी एशिया अथवा मध्य पूर्व की समस्या
(Problem of West Asia)

पश्चिमी एशिया अथवा मध्य-पूर्व एशिया की समस्या अरब-इजरायल संघर्ष की समस्या है जो विश्व-शान्ति के लिये एक ऐसी चुनौती बन गई है जिसका जवाब ढूंढे बिना हम अपने को तृतीय महायुद्ध रूपी ज्वालामुखी के मुख पर बैठे पा रहे हैं। इस संघर्ष की शुरुआत १४ मई, १९४८ को इजरायल नामक नवीन राज्य के उदय के साथ हुई। यहाँ हमें इजरायल राज्य के उदय की पृष्ठभूमि के रूप में इतना जान लेना चाहिए कि द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होते होते फिलस्तीन में अरबों और यहूदियों ने अपने-अपने सैनिक संगठनों की स्थापना कर ली जिसका नतीजा यह हुआ कि फिलस्तीन गृह-युद्ध की आग में झुलसने लगा। चारों ओर अशान्ति और अराजकता फैल गई। ब्रिटेन ने स्थिति को काबू से बाहर जाते देख कर १९४६ [redacted] सारा मामला संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंप दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने स्थिति की जाँच-पड़ताल के लिए एक विशेष आयोग नियुक्त किया जिसकी सिफारिश पर १९४७ के अन्त में फिलस्तीन के बटवारे का फैसला किया गया। अरबों ने संयुक्त राष्ट्र के इस फैसले का विरोध किया और कहा कि यदि उनकी इच्छा के विरुद्ध उनकी पवित्र भूमि का बटवारा किया गया तो वे उसे रोकने के लिए शक्ति का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकिचायेंगे। किन्तु अरबों का यह विरोध कारगर सिद्ध नहीं हुआ। १४ मई, १९४८ को मध्य रात्रि में ब्रिटेन ने फिलस्तीन पर अपना मैंडेट (Mandate) समाप्त कर दिया और उसी समय तेलअवीव में यहूदियों ने 'इजरायल' राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी तथा बेन गुरियों उसके प्रथम प्रधान मन्त्री बने। वाशिंगटन ने नवस्थापित इजरायल राज्य को तुरन्त मान्यता प्रदान की और मास्को तथा लन्दन ने भी इसे स्वीकार कर लिया।

इजरायल-अरब युद्ध, १९४८

अरब राष्ट्र इजरायल के जन्म को बर्दाश्त न कर सके। जिस दिन इस यहूदी राज्य की स्थापना हुई उसी दिन मिस्र, जार्डन, इराक और सीरिया की सेनायें फिलस्तीन में घुस पड़ी और इजरायल पर आक्रमण शुरू हो गया। परन्तु इजरायल ने अमेरिकन यहूदियों से विपुल आर्थिक सहायता प्राप्त की, चेकोस्लोवाकिया से शस्त्र प्राप्त किये और अरब राज्यों से डट कर मुकाबला किया। इस समय यहूदियों की संख्या साढ़े ६.५ लाख थी और उनके पास ८००० वर्गमील का प्रदेश था जबकि दूसरी ओर जोर्डन के शाह के नेतृत्व में लड़ने वाले अरब लीग के राज्यों की जनसंख्या ४ करोड़ और क्षेत्रफल २० लाख

वर्गमील था। फिर भी इस संघर्ष में इजरायली अपनी साधन सम्पन्नता, विदेशी सहायता और उत्कृष्ट रण-कौशल के कारण विजयी हुए और लाखों की संख्या में अरबों को इजरायल से दौड़ कर भागना पड़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ के मध्यस्थ रॉल्फ बुन्च के प्रयत्नों से जब १९४९ में दोनों पक्षों में युद्ध बन्द हुआ तो इजरायल के पास संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा तैयार की गई विभाजन-योजना से दो हजार वर्गमील अधिक प्रदेश था। संयुक्त राष्ट्र संघ ने इजरायल का क्षेत्रफल ५६०० वर्गमील तय किया था जबकि उसके पास ७६०० वर्गमील प्रदेश हो गया। इस युद्ध में मिस्री सेनाओं ने गाजा तथा बीरशवा पर अधिकार कर लिया था और जेरूसलम के उत्तरवर्ती भागों से यहूदियों को भगा दिया था। संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से जो समझौता हुआ उसके अनुसार मिस्र को गाजा पट्टी मिली जिसमें शरणार्थी अरबों को बसाने की व्यवस्था की गई। जेरूसलम नगर दो हिस्सों में बंट गया—लगभग एक लाख की आबादी वाला वहां हिस्सा यहूदियों के कब्जे में आया और ५० हजार की अरब आबादी वाला हिस्सा जोर्डन के अधिकार में रहा। इस तरह दोनों राज्यों की सीमा इस नगर में से होकर गुजरती हुई रखी गई। इजरायल ने भागे हुए अरबों को वापिस लौटने की अनुमति नहीं दी। उसकी नीति के कारण लगभग १० लाख अरबों को १९५३ तक इजरायली प्रदेश छोड़ कर अन्य अरब देशों में शरणार्थी बनना पड़ा और बदले में यूरोप, अफ्रीका एवं मध्यपूर्व के विभिन्न देशों से ६ लाख यहूदी आकर वहां बस गये। जहां १९४८ में इजरायल राज्य में १३½ लाख अरब और ६½ लाख यहूदी थे वहां १९५८ में लगभग २० लाख की कुल जनसंख्या में यहूदियों की संख्या लगभग १७ लाख हो गई।

समस्याओं का पहाड़

इजरायल राज्य की स्थापना और फिर युद्ध में इजरायल के हाथों पराजय ने सम्पूर्ण अरब जगत में इजरायल-विरोधी आग स्थायी रूप से प्रज्वलित कर दी। अरब राज्यों को, विशेषतः मिस्र, सीरिया, जोर्डन आदि को इस बात से बड़ा आघात पहुँचा कि प्रथम तो वे फिलस्तीन के विभाजन और एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना को रोकने में असमर्थ रहे और दूसरे इजरायल के क्षेत्रफल को न्यून करने में भी असफल रहे। इन अरब शक्तियों ने, विशेषकर मिस्र ने, अपने इस दुर्भाग्य के लिए पश्चिमी ताकतों को उत्तरदायी ठहराया। अरब राज्यों ने बॉयकाट कर इजरायल को न केवल आर्थिक व राजनीतिक रूप से लगभग वीराना कर दिया बल्कि उन्होंने इजरायली बन्दरगाहों से सामान लाने तथा वहां सामान पहुंचाने वाले जहाजों

के लिए स्वेज नहर का रास्ता भी बन्द कर दिया। अरब लीग की सदस्य-शक्तियों से प्रोत्साहन पा कर मिस्र ऐसे जहाजों को रोकने व उनकी जांच करने लगा, और उधर इजरायली-जोर्डनी सीमा पर भी यदा-कदा हिंसक मुठभेड़ों की शुरुआत हो गई। इजरायल के साथ सब अरब देशों ने व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ दिये। ईराक ने इस राज्य के अन्तर्गत हैफा बंदरगाह को किरकूक से पाइप लाइन द्वारा पैट्रोल भेजना बन्द कर दिया।

इजरायली सरकार को उपरोक्त समस्याओं के अतिरिक्त बाहर से आने वाले निर्वासित इजरायलियों को बसाने की भीषण समस्या का भी सामना करना पड़ा। ये निर्वासित दुनिया के तमाम भागों से आये। इनके पास रोजी-रोटी कमाने के कोई साधन न थे। ऊपर से इजरायल की रेतीली भूमि और पानी की कमी तथा हर क्षण अरबों से संघर्ष छिड़ जाने की आशंका। परन्तु इजरायल ने इन सब चुनौतियों को बड़े साहस और विश्वास के साथ स्वीकार किया। यहूदियों ने यूरोपियन देशों के साथ व्यापारिक समझौते करके अमेरिका और वहां के सम्पन्न यहूदियों से प्राप्त होने वाली विपुल आर्थिक सहायता से तथा सबसे बढ़ कर अपने अदम्य साहस से इन गम्भीरतम समस्याओं पर विजय पा ली। देखते ही देखते मरुस्थल में हरे-भरे खेत लहराने लगे, आधुनिक उद्योग धन्धे स्थापित हो गये और लोगों के रहने के लिए खूबसूरत मकान बन गये। अरबों की चुनौती यहूदियों की प्रगति न रोक सकी और इजरायल मध्यपूर्व का सबसे विकसित और सम्पन्न देश बनने के मार्ग पर बढ़ता गया।

इस सबसे अरबों में चिन्ता व्याप्त हो गई और सभी अरब देश आपसी मतभेद भुला कर इजरायल को सबक सिखाने के लिए एक हो गये। सीमावर्ती अरब राज्यों से इजरायल की छुट-पुट सैनिक झड़पें होने लगी। १९५४ तक की अवधि में इजरायली-जोर्डनी सीमा पर दोनों पक्षों की ओर से एक-दूसरे पर छोटे-छोटे हमले किये गये। फरवरी, १९५५ में इजरायली प्रवक्ता ने टर्की-ईराकी पैक्ट को इजरायल विरोधी बताया और कहा कि यह पैक्ट इजरायल के विरुद्ध अरब शत्रुता को प्रोत्साहित तथा अरबों की आक्रामक महत्वकांक्षाओं को उत्तेजित करने वाला है। सितम्बर, १९५४ में इजरायली-मिस्री सीमा पर भी स्थिति विशेष सोचनीय होने लगी। २८ फरवरी, १९५५ को गाजा के निकट दोनों पक्षों में हुई एक संगीन मुठभेड़ में दोनों तरफ से अनेक सैनिक हताहत हुए। २ नवम्बर, १९५५ को इजरायली प्रधान मन्त्री डेविड बेन गुरियों ने अरब-इजरायली समस्याओं के समाधान के लिये मिस्र के प्रधान मन्त्री और अन्य अरब राज्यों के शासकों से भेंट की

इच्छा प्रकट की, किन्तु अरबों की ओर से इस इजरायली इच्छा को कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। इजरायल और मिस्र की सीमा और भी अधिक विस्फोटक हो गई। १९५५ में अलऔजा के विसैन्यीकृत क्षेत्र में हुई मुठभेड़ में दोनों पक्षों को अनेक प्राणों से हाथ धोना पड़ा। ११-१२ दिसम्बर १९५५ की अर्द्ध-रात्रि में तिबेरिस झील के उत्तर पूर्व में सीरियाई मोर्चे पर इजरायल से एक खूनी मुठभेड़ हुई जिसमें ४० सीरियाइयों और ६ इजरायलियों की जानें गयी। १३ दिसम्बर को सीरिया ने इजरायल के इस 'शर्मनाक व खुले आक्रमण तथा उसके अनात्मक कृत्य' की शिकायत सुरक्षा परिषद से की। २६ मार्च, १९५६ को सुरक्षा परिषद ने सघ के महासचिव से अरब इजरायली नेताओं से वार्ता करने के लिए पश्चिमी एशिया जाने को कहा। मई में महासचिव की यात्रा से इजरायल व उसके पड़ोसी अरब राष्ट्रों में तनाव कुछ कम हो गया।

अरब इजराइल संघर्ष, १९५६

जुलाई अक्टूबर, १९५६ के दौरान इजरायल जोर्डन और मिस्र की सीमाओं पर स्थिति पुनः गम्भीर हो गई। स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद २९ अक्टूबर को तब एक भारी विस्फोट हुआ जब इजरायली सेनाओं ने सिनाई प्रायद्वीप में मिस्री मोर्चों पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया। इस हमले का स्पष्ट उद्देश्य फेदायीन अड्डों को नष्ट करना था क्योंकि इन अड्डों से ही भूतकाल में इजरायल पर अधिकांश आक्रमण किये गये थे। ब्रिटेन और फ्रांस की सरकार ने मिस्र और इजरायल के पास सन्देश भेजा कि दोनों ही देश तुरन्त युद्ध बन्द कर दें और इस झगड़े में ब्रिटेन व फ्रांस को मध्यस्थ मानें। १२ घन्टों में इसका उत्तर मांगा गया और धमकी दी गई कि ऐसा न होने पर वे दोनों युद्ध में कूद पड़ेंगे। ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री ईडन ने ३० अक्टूबर को ब्रिटिश लोकसभा में कहा कि स्वेज नहर से समस्त देशों के जहाजों के स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करने व आने-जाने के लिए हमने मिस्र की सरकार से पूछा है और कहा है कि पोर्ट सईद आदि महत्वपूर्ण स्थानों पर अस्थायी रूप से ब्रिटेन व फ्रांस की सेनाएं रखी जायें तो यातायात की सुविधा के लिए वही उत्तम होगा। साथ ही श्री ईडन ने यह भी कहा कि मेरे लिए यह असम्भव होगा कि मैं यह बता सकूं कि ब्रिटेन की ओर से शक्ति का प्रयोग तब तक नहीं किया जावेगा जब तक कि सुरक्षा परिषद में इस बात पर विचार न हो जाय। ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद से भी इस बात की मांग की कि मिस्र को सैनिक हस्तक्षेप की धमकी दी जाये।

ब्रिटेन और फ्रांस ने सुरक्षा परिषद के निर्णय का इन्तजार न करते हुए ३१ अक्टूबर, १९५६ को पोर्ट सईद पर हमला कर दिया ताकि स्वेज प्रदेश

उनके अधिकार में आ जाय। इस तरह मिस्र को अब अकेले ही तीन शक्तियों से जूझना पड़ा—सिनाई में इजरायल से और स्वेज क्षेत्र में ब्रिटेन व फ्रांस से। पांच दिन की लड़ाई के बाद लगभग सम्पूर्ण सिनाई प्रायद्वीप पर इजरायल का नियन्त्रण स्थापित हो गया। ४ नवम्बर, १९५६ को महासभा ने कनाडा का यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि मिस्र में युद्ध बन्द करने और युद्ध विराम की देख-भाल के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ की एक आपात्कालीन सेना की योजना महासचिव द्वारा तैयार की जाये। ५ नवम्बर को सोवियत संघ ने फ्रांस व ब्रिटेन को आक्रमण रोकने की चेतावनी दी। इस चेतावनी का फौरन प्रभाव पड़ा और ६–७ नवम्बर की मध्य रात्रि में ब्रिटिश फ्रेंच फौजों ने युद्ध बन्द करने की घोषणा कर दी। ७ नवम्बर को ही महासभा द्वारा एशिया-अफ्रीका के देशों का यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया कि ब्रिटिश फ्रेंच और इजरायली सेनायें मिस्र की भूमि से हट जावें तथा स्वेज नहर के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस स्थापित की जाये। ८ नवम्बर को इजरायल द्वारा घोषणा की गई कि 'अन्तर्राष्ट्रीय सेना' के स्वेज नहर के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाने के बाद वह सिनाई-क्षेत्र से अपनी सेनायें हटा लेगा। १५ नवम्बर को संयुक्त राष्ट्र संघीय आपातकालीन सेना का पहला दस्ता मिस्र पहुंच गया। ब्रिटिश फ्रेंच और इजरायली सेनाओं के मिस्र प्रदेश से न हटने पर महासभा द्वारा २४ नवम्बर को पुनः यह प्रस्ताव दोहराया गया कि ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल मिस्र से अविलम्ब अपनी फौजें हटा लें।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के अनुसरण में ब्रिटेन और फ्रांस ने तो २२ दिसम्बर, १९५६ को मिस्र से अपनी फौजें हटा लीं, किन्तु इजरायल ने गाजापट्टी तथा शर्मल शेख क्षेत्र से अपनी फौजें हटाने से इन्कार कर दिया। १९ जनवरी तथा २ फरवरी, १९५७ को महासभा ने इजरायल द्वारा फौजें हटाने तथा महासचिव के इस प्रस्ताव का क्रियान्वित करने के दो अन्य प्रस्ताव पास किये। इजरायल ने इसका भी पालन नहीं किया तब ६ शक्तियों के एक अन्य प्रस्ताव को स्वीकार करके महासभा ने यह निर्णय किया कि इजरायल द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेशों का पालन न करने के कारण सभी देश उसे आर्थिक व सैनिक सहायता देना बन्द कर दें। इस पर १ मार्च, १९५७ को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनायें हटाना स्वीकार कर लिया और ७ मार्च को मिस्र से सब सेनायें हटाली गयी। इजरायल की प्रमुख शर्तें ये थीं कि अकाबा की खाड़ी तथा तिरान (Tiran) जलडमरूमध्यों में इजरायल सहित सब देशों के लिये नौ-चालन की पूरी स्वतन्त्रता होगी और संयुक्त राष्ट्र संघ उस समय तक गाजापट्टी पर अपना प्रशासन रखेगा जब तक कि इसके भविष्य के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो जाता।

इजरायल और अरब राष्ट्रों में तनाव कायम रहना

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से मिस्र और इजरायल के सशस्त्र संघर्ष की समाप्ति हो गई, किन्तु अरब देशों ने इजरायल के अस्तित्व को स्वीकार करने की तत्परता नहीं दिखाई।

सन् १९५७ में इजरायल और जोर्डन की सीमाओं पर अनेक छुट-पुट घटनायें हुई। इनके कारण दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनावपूर्ण स्थिति आ गई और संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को इस क्षेत्र का दौरा करना पड़ा। मिस्र और इजरायल के सम्बन्ध भी पुनः तनावपूर्ण होते गये। फरवरी मार्च १९५९ में स्वेज के रास्ते इजरायल से सुदूरपूर्वी देशों को निर्यात किये गये माल व अनेक विदेशी जहाजों को संयुक्त अरब गणराज्य ने रोक लिया। परिणामस्वरूप दोनों देशों में बहुत अधिक तनाव बढ़ गया। इजरायल द्वारा सुरक्षा परिषद से शिकायत की गई। इजरायली प्रतिनिधि ने परिषद के सदस्यों को लिखे गये एक पत्र में संयुक्त अरब गणराज्य के इस कदम की निंदा की और आरोप लगाया कि यह "स्वेज नहर समझौते व सुरक्षा परिषद के १ सितम्बर, १९५१ के उस प्रस्ताव की, जिसमें मिस्र से किसी भी दिशा में जा रहे माल और जहाजों को स्वेज नहर से गुजरने देने के लिये कहा गया था, नग्न अवहेलना है।" दूसरी ओर काहिरा के सरकारी समाचार पत्र 'अल अहराम' ने लिखा कि इजरायल को स्वेज नहर से अपने मालवाहक जहाजों को भेजने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि इजरायल और अरब देशों के मध्य 'युद्धस्थिति' अभी तक मौजूद है। मई १९५९ में संयुक्त अरब गणराज्य द्वारा एक डेनिश मालवाहक जहाज को, जो हैफा बन्दरगाह से इजरायली सामान हांगकांग तथा जापान ले जा रहा था, रोक लिया। इजरायली प्रधानमन्त्री ने इस कार्यवाही को इजरायली हितों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर और सुरक्षा परिषद के निर्णयों पर एक भारी चोट बताया। अगस्त १९५९ में पुनः ऐसी ही घटनायें घटीं और इजरायली प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित करते हुए संयुक्त अरब गणराज्य की इन कार्यवाहियों को समुद्री डकैती के कार्य बताया।

सीरिया के साथ भी इजरायल के झगड़े चलते रहे। फरवरी १९६० में तावफिक नामक स्थान पर दोनों की सैनिक टुकड़ियों में जबरदस्त मुठ-भेड़ हुई। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में इजरायल से लगती हुई सीमा पर संयुक्त अरब गणराज्य की सेनाओं के जमाव से बड़ी तनावपूर्ण स्थिति पैदा हो गई। इजरायल ने सुरक्षा परिषद को सूचित किया कि इस क्षेत्र में शांति तभी स्थापित हो सकती है जब कि संयुक्त अरब गणराज्य इजरायल के प्रति

सक्रिय शत्रुता की नीति का परित्याग कर दे। मार्च १९६० में इजरायली प्रधानमन्त्री बेनगुरियो अमेरिका गये। राष्ट्रपति आइजनहावर ने उन्हें आश्वासन दिया कि अरब-आक्रमण की स्थिति में अमेरिका इजरायल को सहायता देगा। दूसरी ओर कर्नल नासिर ने संयुक्त राष्ट्र संघ को सूचित किया कि इजरायल द्वारा सीरियायी क्षेत्र पर आक्रमण मिस्र पर आक्रमण समझा जायगा तथा संयुक्त अरब गणराज्य स्थिति के अनुकूल प्रतिरक्षा व्यवस्था करेगा।

अरब राष्ट्रों और इजरायल के सम्बन्ध दिन प्रतिदिन बिगड़ते चले गये। मार्च १९६२ में इजरायल सीरिया सीमा पर फिर से दुर्घटनायें होने लगी। सुरक्षा परिषद में पारित एक प्रस्ताव में कहा गया कि दोनों देशों को युद्ध विराम समझौते पर अमल करना चाहिये। अगस्त १९६२ में सीरिया और इजरायल में पुनः गम्भीर सैनिक मुठ-भेड़ें हुईं। सुरक्षा परिषद की एक विशेष बैठक में समस्या पर विचार किया गया और महासचिव ऊ-थाट ने दोनों देशों से आत्मनियन्त्रण रखने की अपील की। परिषद् में संयुक्त राज्य अमेरिका ने सीरिया की निन्दा करने का प्रस्ताव रखा, परन्तु सोवियत संघ ने इसे निषेधाधिकार द्वारा समाप्त कर दिया। अगस्त १९६२ में ही इजरायल और जोर्डन की सीमाओं में झड़पें हो गई। लगभग इसी समय इस रहस्य का उद्घाटन हुआ कि संयुक्त अरब गणराज्य ऐसे सैनिक प्रक्षेपणास्त्र तैयार कर रहा है जिससे वह इजरायल को शीघ्र ही पराभूत कर सकता है। इस समाचार से इजरायल में गम्भीर चिन्ता व्याप्त हो गई। उसने इस बात का प्रयत्न किया कि उसके पास इन प्रक्षेपणास्त्रों का निवारण करने के लिये और मिस्र का आक्रमण विफल बनाने के लिये आवश्यक राकेट होने चाहिये। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी इस मत की पुष्टि की कि इस क्षेत्र में शान्ति तभी सम्भव है जबकि यहां सैनिक शक्ति में सतुलन बना रहे। अतः उसने मध्यपूर्व के देशों को हथियार न देने की अपनी सामान्य नीति की उपेक्षा करते हुए सितम्बर १९६२ में यह निर्णय किया कि वह अल्प दूरी तक जाने वाले और शत्रु के वायुयानों को मार गिराने वाले रक्षात्मक प्रक्षेपणास्त्र इजरायल को प्रदान करेगा। इजरायल की इच्छा थी कि उसे मिस्र की भांति अपने देश की भूमि से ही शत्रु की भूमि के अड्डों को नष्ट करने वाले प्रक्षेपणास्त्र (Ground to Ground Missiles) प्रदान किये जायें। फिर भी उन्हें अमेरिकन सहायता से कुछ सन्तोष अवश्य हुआ। अरब राज्यों ने वाशिंगटन को इस सहायता की भर्त्सनापूर्ण कार्यवाही की संज्ञा दी।

जोर्डन नदी के पानी के विवाद ने भी अरब इजरायल कलह को काफी बढ़ाया। इजरायल और जोर्डन राज्यों की सीमा का निर्माण करने वाली

और सीरिया, लेबनान, इजरायल तथा जोर्डन के चार राज्यों में से होकर बहने वाली इस नदी के पानी के उपयोग के बारे में झगड़ा बढ़ जाने पर ऐरिक जान्सटन की योजना के अनुसार यह निश्चय किया गया कि इसके जल का ६७ प्रतिशत भाग अरब राज्य और ३३ प्रतिशत भाग इजरायल अपने उपयोग में लाये। इजरायल ने अपने जल का उपयोग करने के लिये योजना आरम्भ कर दी। इससे अरब राष्ट्रों को यह चिन्ता हुई कि इजरायल अपने नेगेव मरुस्थल को हरा भरा बना कर अपने को समृद्ध बना लेगा और अपनी जनसंख्या में वृद्धि करके अपने को शक्तिशाली बनाने में समर्थ होगा तथा अपने राज्य विस्तार के द्वारा अरब राष्ट्रों को हानि पहुँचायेगा। चूँकि अरब राष्ट्र इस स्थिति को सहन करने की मानसिक अवस्था में नहीं थे, अत: १३ अरब राज्यों ने जनवरी १९६४ में काहिरा में एक शिखर सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें मुख्यत: तीन विषयों पर विचार हुआ—(१) जोर्डन नदी के पानी की समस्या, (२) अरब राज्यों की संयुक्त सेना का निर्माण, एवं (३) सब अरब राष्ट्रों द्वारा मिलकर इजरायल को नष्ट करना।

काहिरा के इस शिखर सम्मेलन में स्पष्ट हुआ कि अरब राष्ट्रों में विभिन्न विषयों पर प्रबल मतभेद विद्यमान थे। प्रमुख राष्ट्र—ट्यूनीशिया, अल्जीरिया, लीबिया, मिस्र (संयुक्त अरब गणराज्य), सीरिया, लेबनान, जोर्डन, सऊदी अरब, यमन, कुवैत, ईराक और सूडान—किसी भी प्रश्न पर सहमत नहीं थे। इजरायल के विनाश अथवा विरोध के विषय में भी सब राष्ट्रों में सहमति नहीं थी। ट्यूनिशिया, अल्जीरिया और लीबिया को इस प्रश्न में कोई दिलचस्पी नहीं थी। ट्यूनिशिया ने तो बाद में अप्रैल १९६५ में यह घोषणा भी की कि अरब राष्ट्रों को इजरायल के साथ समझौता कर लेना चाहिए, क्योंकि उसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

परन्तु अरब राष्ट्रों में मतभेदों के बावजूद इजरायल के प्रति विरोध की भावना की ही विजय होती रही और एक नये अरब-इजरायल संघर्ष की भूमिका बनती गई।

अरब इजरायल संघर्ष, जून १९६७ एवं बाद की घटनायें

इजरायल और अरब राष्ट्रों द्वारा परस्पर आरोप प्रत्यारोप लगाये जाते रहे हैं। विशेषत: संयुक्त अरब गणराज्य और सीरिया के साथ सम्बन्ध अधिकाधिक बिगड़ते गये। दोनों पक्षों में सैनिक तैयारियों की होड़ लग गई। मार्च १९६७ के प्रथम सप्ताह में तिबेरियास झील के किनारे हुई एक घटना के फलस्वरूप सीरिया और इजरायल में जबर्दस्त सैनिक झड़प हो गई। ७ मार्च को हवाई युद्ध भी हुआ और टैंक तथा भारी तोपखाने का

इस्तेमाल किया गया। सीरिया और इजरायल की सैनिक-मुठभेड़ों ने सब अरब राष्ट्रों में एक बार फिर इजरायल विरोधी आग भयंकर रूप से प्रज्वलित कर दी। संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने इजरायल को स्पष्ट चेतावनी दी कि सीरिया पर आक्रमण करने का परिणाम इजरायल का विनाश होगा।

राष्ट्रपति नासिर ने १५ मई को अपनी सशस्त्र सेनाओं को चौकस रहने का आदेश दे दिया। १८ मई को यह मांग भी कर दी गई कि संयुक्त राष्ट्र संघ की शान्ति रक्षा सेनायें अरब गणराज्य की सीमा से हट जाएं ताकि इजरायल द्वारा आक्रमण होने पर संयुक्त अरब गणराज्य की सेनायें सीरिया की सहायता के लिए बेरोकटोक आगे बढ़ सकें। नासिर की इस मांग के सामने महासचिव ऊथान्ट के सामने सेनाओं को हटाने के अलावा कोई चारा नहीं रहा। फिर भी ऊथान्ट ने चेतावनी भरे शब्दों में बता दिया कि "सेनाओं को वहां से हटाने का मतलब स्पष्ट रूप से यह होगा कि संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सेनायें एक दूसरे के आमने-सामने हो जाएंगी तथा आज तक जो शक्ति दोनों के बीच शान्ति बनाये हुए थी, वह टूट जाएगी। मुझे इस बात का दुख है मगर इसके सिवा मेरे पास कोई चारा नहीं।" लगभग इसी समय संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल ने अपने-अपने रिजर्व सैनिकों को ड्यूटी पर वापस आने का आदेश दे दिया और दोनों देशों की १४६ मील लम्बी सीमा पर सैनिक तैनात हो गये। अरब लीग परिषद ने भी घोषणा कर दी कि किसी भी अरब देश पर इजरायल के आक्रमण को सभी अरब देशों पर आक्रमण समझा जाएगा।

स्थिति को विस्फोटक होने से बचाने के लिए महासचिव ऊथान्ट स्वयं काहिरा गये। इस अवसर पर इजरायल द्वारा घोषणा की गई कि यदि संयुक्त अरब गणराज्य सीमा से अपनी फौजें हटा लेगा तो इजरायल भी अपनी फौजों को हटा लेने को तैयार है। ऊथान्ट के प्रयत्नों को कोई सफलता नहीं मिली। २३ मई को स्थिति तब और भी गम्भीर हो गई जब संयुक्त अरब गणराज्य द्वारा अकाबा की खाड़ी की नाकेबन्दी की घोषणा कर दी गई। इस नाकेबन्दी का अर्थ था इजरायल की रक्त प्रवाहिनी नाड़ियों को काट देना। यह कदम इसलिए उठाया गया ताकि इजराइली या इजरायल के मित्र देशों के जहाज इजरायली बन्दरगाह ऐलात पर न पहुंच जायें। इजरायल और पश्चिमी राष्ट्रों ने इस कदम को नाजायज बताते हुए कहा कि अकाबा की खाड़ी एक अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्ग है जिसकी नाकेबन्दी नहीं की जा सकती। इजरायल ने चुनौती दी कि उसे अकाबा की खाड़ी से आने-जाने में

कोई शक्ति नहीं रोक सकती। इजरायली प्रधानमन्त्री ने कहा कि संयुक्त अरब गणराज्य द्वारा जहाजरानी में बाधा पहुँचाने की इस कार्यवाही को उनका राष्ट्र आक्रामक कार्यवाही मानता है।

इसके बाद ही दोनों पक्षों में छोटी-मोटी सैनिक मुठभेड़ें होने लगीं। २६ मई को सुरक्षा परिषद ने सङ्कट पर विचार किया किन्तु कोई फल न निकला। इस समय तक संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस दोनों के युद्ध पोतों ने भी भूमध्य सागर में पहुँच कर मोर्चे सम्हाल लिये। इस तरह पश्चिम एशिया के इस सङ्कट में दो महाशक्तियों के टकराने की स्थिति पैदा कर दी। २ जून को इजरायली और सीरियाई सैनिकों में मुठभेड़ हुई। ४ जून को काहिरा के समाचार पत्रों ने शक्ति परीक्षण को निश्चित बताया। मिस्री सेनाओं को तैयार रहने के आदेश दे दिये गये। उधर इजरायल के नये रक्षा मन्त्री मोशे दायान ने घोषणा की कि उनका राष्ट्र अरबों से अकेले ही संघर्ष करेगा।

आखिर सोमवार, ५ जून, १९६७ को अकस्मात ही युद्ध ज्वालामुखी फूट पड़ा। आक्रमण की पहल इजरायल ने की। भारतीय समय के अनुसार लगभग ११॥ बजे संयुक्त अरब गणराज्य की राजधानी काहिरा पर हवाई हमले हुए। हवाई अड्डों पर एक साथ इतने व्यापक पैमाने पर बमबारी की गई कि संयुक्त अरब गणराज्य के अधिकांश विमान एक ही झपट में नष्ट हो गये। संयुक्त अरब गणराज्य की अवशिष्ट वायु शक्ति ने इजरायल की राजधानी तेलअवीव और अन्य स्थानों पर जवाबी हमले किये। संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सीमा पर गाजा पट्टी से लेकर दक्षिण इजरायल के नगेव क्षेत्र तक, जबर्दस्त युद्ध छिड़ गया। शीघ्र ही इजरायल से लगती हुई जोर्डन और सीरिया की सम्पूर्ण सीमा भी भड़क उठी। अकेले ही इजरायल ने समस्त मोर्चों पर अरबों की संयुक्त शक्ति पर कहर ढा दिया।

पश्चिम एशिया का यह युद्ध इजरायल की निर्णायक विजय के साथ केवल ६ दिन में ही समाप्त हो गया। ७ जून को इजरायल ने अकाबा की खाड़ी पर स्थित शर्मअलशेख पर कब्जा कर लिया और बेतलहेम तथा जेरिको में भी उसकी सेनायें पहुँच गईं। ८ जून तक इजरायली सेनायें सिनाई प्राय द्वीप को पार करते हुए स्वेज नहर के पूर्वी कोने पर जा पहुँची। इसी बीच ७ जून को सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव पेश कर माँग की कि युद्धरत सभी देश रात के ८ बजे से (ग्रीनविच समय) युद्ध बन्द कर दें। परिषद का यह आदेशात्मक प्रस्ताव था। चूँकि संयुक्त अरब गणराज्य का पूरा पलायन हो

गया था और युद्ध जारी रखने पर उसका पूर्ण विनाश सम्भव था, अतः उसने तुरन्त ही युद्ध विराम की मांग स्वीकार कर ली। ८ जून को इजरायल और संयुक्त अरब गणराज्य के बीच युद्ध बन्द हो गया। यद्यपि सीरिया ने भी अपनी ओर से युद्ध बन्द करने की घोषणा कर दी किन्तु ६ जून को इजरायल ने स्वेज नहर के किनारे और इजरायल सीरिया सीमावर्ती पहाड़ों में भी युद्ध जारी रखा। इजरायल कुछ महत्वपूर्ण सामरिक स्थानों पर कब्जा कर लेना चाहता था। ६-१० जून को सुरक्षा परिषद ने पुनः एक प्रस्ताव पास करके यह आदेश दिया कि इजरायल और सीरिया दो पक्ष में युद्ध बन्द कर दें। चूंकि इजरायल का सामरिक उद्देश्य पूरा हो चुका था और सीरिया की सामरिक क्षमता समाप्त हो चुकी थी, अतः १० जून को दोनों पक्षों में पूर्णतया लड़ाई बन्द हो गई।

इजरायल के हाथों पराजय की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया, लेकिन अरब जनता की आवाज पर उन्हें यह इस्तीफा वापस लेना पड़ा। अरब जनता को विश्वास था कि नासिर के सिवाय अन्य कोई व्यक्ति उनका नेतृत्व नहीं कर सकता है और अरब राज्यों की खोई हुई प्रतिष्ठा को वापस प्राप्त करने की क्षमता नासिर में ही है। नासिर ने अमेरिका और ब्रिटेन पर आरोप लगाया कि उनके विमानों ने इजरायल की पूरी तरह सहायता की थी और युद्ध में भाग लिया था। यद्यपि अमेरिका और ब्रिटेन ने इस आरोप का खण्डन किया, किन्तु अरब राज्यों ने दोनों राष्ट्रों से अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये और यह आदेश दिये कि सभी अमेरिकी और ब्रिटिश नागरिक अपने देश लौट जाएं।

किया जा चुका है) रखी गई किन्तु यह योजना इजरायल और उसके समर्थक देशों को मान्य नहीं हुई। ८ अक्टूबर, १९६८ को इजरायल ने संकट के हल के लिये एक नौ-सूत्री कार्यक्रम पेश किया जिसे संयुक्त अरब गणराज्य ने तत्काल ठुकरा दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ की शांति रक्षा सेना होने पर भी दोनों पक्षों में सैनिक झड़प होती रही। २८ दिसम्बर, १९६८ को बेरुत हवाई अड्डे पर इजरायली वायु आक्रमण हुआ जिसकी विश्व भर में आलोचना की गई। १ जनवरी, १९६९ को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पेश करके इजरायल को गम्भीर चेतावनी भी दी। फरवरी मार्च १९६९ में अरब इजरायल छापामारों के बीच अनेक छोटी-मोटी झड़पें हुईं। २४ फरवरी को इजरायल ने सीरिया के कुछ नगरों पर बम गिराये। ८ मार्च को स्वेज नहर के पास संयुक्त अरब गणराज्य के तेल कारखानों पर इजरायल की गोलाबारी हुई। मार्च में ही जोर्डन के साथ भी इजरायल की झड़पें हुईं। दोनों पक्ष एक दूसरे पर छोटे मोटे आक्रमण प्रत्याक्रमण करते रहे। ३ अप्रैल, १९६९ को पश्चिमी एशिया के संकट पर विचार विमर्श के लिये न्यूयॉर्क में चार बड़े राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ। लेकिन इजरायल ने इस सम्मेलन का विरोध किया। १२ मई, १९६९ को इजरायली प्रधान मंत्री ने स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि पश्चिम एशिया की समस्या को हल करने के लिये चार बड़े राष्ट्र जो भी प्रस्ताव रखेंगे उन पर इजरायल विचार विमर्श तक करने को तैयार नहीं है। इजरायल का कहना था कि पश्चिमी एशिया से बाहर के राष्ट्र पश्चिम एशिया संकट का फैसला न करें। अरब राष्ट्रों और इजरायल के बीच आज भी पूरा तनाव बना हुआ है और कोई नहीं कह सकता कि पुनः कब विस्फोट हो जाए। इजरायल की शर्तें अरब राष्ट्रों को मान्य नहीं हैं और अरब राष्ट्रों की शर्तें इजरायल को स्वीकार नहीं हैं। इजरायल चाहता है कि—

(i) अरब राष्ट्र इजरायल को राजनयिक मान्यता दें।

(ii) स्वेज नहर और अकाबा की खाड़ी में इजरायल को उसी तरह जहाजरानी के अधिकार मिलें जैसे दूसरे देशों को प्राप्त हैं।

(iii) जेरुसलम इजरायल के कब्जे में रहे।

(iv) जोर्डन नदी के पश्चिम की तरफ का इलाका फिलस्तीनी विस्थापितों के लिये अलग कर दिया जाए।

(v) सीरियाई सीमान्त का वह पहाड़ी इलाका जहां से सीरियाई सैनिक उत्पात करते रहते हैं, इजरायल के ही कब्जे में रहे।

(vi) इजरायल से छेड़-छाड़ न करने का आश्वासन दिया जाए।

स्पष्ट है कि इजरायल की मांगें महज सौदेबाजी की हैं जो अरब राष्ट्रों को मान्य नहीं हो सकती। राष्ट्रपति नासिर झुकने को तैयार नहीं हैं। उन्होंने घोषणा की है कि—

(i) वे एक इंच अरब भूमि भी हाथ से नहीं जाने देंगे,

(ii) अपनी प्रभुसत्ता में सूई की नोक के बराबर कमी नहीं आने देंगे, और

(iii) इजरायल को युद्ध द्वारा हथियाई गई जमीन का फायदा नहीं उठाने देंगे।

फिर भी राष्ट्रपति नासिर का कथन है "यदि पश्चिम एशिया की समस्या का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान हो जाए तो मैं और अरब गणराज्य के लोग इजरायल की हकीकत को स्वीकार कर लेंगे।" अरब इजरायल संघर्ष में भारत की सहानुभूति अरब राष्ट्रों से, विशेषकर संयुक्त अरब गणराज्य के साथ है। ऐसा क्यों है-इसका विश्लेषण भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ में किया जा चुका है।

EXERCISES

Chapters 1 & 2

1. What do you understand by Internationalism ? Also write the importance and history of internationalism.

   अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं ? अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व और इतिहास भी लिखिये।

2. Discuss the present nature and scope of the study of International relations.

   अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की आधुनिक प्रकृति और क्षेत्र के अध्ययन की विवेचना कीजिये।

3. "Various types of groups—nations, states, governments, peoples regions, alliances, confidence, international organisations, even individual organisations, cultural organisations, religious organisations-must be dealt with in the study of international relations." (Quincy wright). Discuss.

   "विभिन्न प्रकार के समूह—राष्ट्र, राज्य, सरकार, जनता, प्रदेश, मैत्री, गोपनीयता, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, यहां तक कि व्यक्तिगत संगठन, सांस्कृतिक संगठन, धार्मिक संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन के अन्तर्गत अवश्य सम्मिलित होने चाहिये।" विवेचना कीजिये।

4. What is theory of International politics ? What are relations between International politics and International Relations ?

   अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सिद्धान्त क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में क्या सम्बन्ध है ?

5. Discuss the role of ideology in international politics.

   अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्तों के महत्व का वर्णन कीजिए।

6. Examine the legal and organisational approaches to the study of International Politics. How far do you consider them satisfactory ?

   अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन के लिये वैधानिक तथा संस्थागत दृष्टिकोणों का परीक्षण कीजिये। आपके विचार में ये कहां तक संतोषजनक हैं ?

7. On what grounds can you criticise the realistic theory of International Politics.
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के यथार्थवादी सिद्धान्त की किन आधारों पर आलोचना की जा सकती है।
8. To what extent is International Politics a Science.
किस सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति विज्ञान है ?
9. Briefly survey the significant current developments in International sphere in modern world.
आधुनिक विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आधुनिक महत्वपूर्ण विकासों का संक्षिप्त सर्वेक्षण कीजिए।
10. What do you understand by the term State System? Mention its essential features.
राज्य व्यवस्था शब्द से आप क्या समझते हैं? इसके आवश्यक लक्षण बताइये।
11. Enumerate differences among States and classify states on the basis of power.
राज्यों के अन्तर की परिगणना कीजिये और राज्यो का शक्ति के आधार पर वर्गीकरण कीजिये।
12. What factors have played an important part in the growth of the Western States System?
पश्चिमी राज्य-व्यवस्था के विकास मे किन कारकों का प्रमुख योग रहा है ?
13. Give a brief history of the rise of Western State System in modern world.
आधुनिक विश्व के पश्चिमी राज्य व्यवस्था के उदय का संक्षिप्त इतिहास दीजिए।
14. What do you understand by the term nationalism? What are its various forms according to Hayes and Quincy Wright?
राष्ट्रवाद शब्द से आप क्या समझते हैं ? हेज, क्वीन्सी राइट के अनुसार इसके विभिन्न प्रकार क्या हैं ?
15. Give a brief history of the origin of various types of nationalism in the different centuries.
विभिन्न शताब्दियों में राष्ट्रवाद के विभिन्न प्रकारों की उत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास दीजिये।

16 What are the instruments and symbols of Nationalism ?
राष्ट्रवाद के साधन और प्रतीक क्या हैं ?

17 Discuss the dangers of Nationalism in modern world
आधुनिक विश्व मे राष्ट्रवाद के खतरे की विवेचना कीजिये ?

18 What do you understand by sovereignty ? Can sovereignty be divided or limited ? What are your views about the source of sovereignty ?
सम्प्रभुता मे आप क्या समझते हैं ? क्या सम्प्रभुता विभाजीय अथवा सीमित हो सकती है ? सम्प्रभुता के स्रोत के सम्बन्ध म आपके क्या विचार हैं ?

19 Explain the Soviet views on Sovereignty Should the concept of sovereignty by discarded ?
सम्प्रभुता पर रूस के विचारों का वणन कीजिये। क्या सम्प्रभुता के विचार पृथक पृथक होने चाहिए ?

20 What do you understand by the Community of States ? Why do international conflicts and differences arise ? What are the various international political processes to solve them ?
राज्य समाज से क्या अभिप्राय है ? अन्तर्राष्ट्रीय झगडे और मतभेद क्यों खडे होते हैं ? इन्हे निपटाने के लिये क्या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक विधिया हैं ?

21 What do you understand by the following terms used in International Politics or relations—
(a) Nation and Nation State (b) Nationality (c) National self determination
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति या सम्बन्धो मे निम्न प्रयुक्त शब्दो से आप क्या समझते हैं ?
(क) राज्य और राष्ट्रीय राज्य (ख) राष्ट्रीयता (ग) राष्ट्रीय आत्म-निर्धारण।

22 Indicate the major trends in the sphere of nationalist in the last two decades
अन्तिम दो दशाब्दो मे राष्ट्रवाद के क्षेत्र मे प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिये।

Chapters 3, 4, 5, & 6 -

1 Define National Power and discuss the various forms of it

राष्ट्रीय शक्ति की परिभाषा दीजिये तथा उसके विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिये।

2. International Politics is a struggle for Power Explain
अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति एक प्रकार से शक्ति के लिए संघर्ष है। इसे स्पष्ट कीजिए।

3 "Power in a political context means, the power of man over the minds and actions of other man" (Morgenthau). Discuss
राजनीतिक संदर्भ में शक्ति का अर्थ है, मनुष्य की शक्ति जो दूसरे मनुष्यों के मस्तिष्क और कार्यों के ऊपर हो। विवेचना कीजिये।

4 Discuss the basic elements of national power On the basis of these elements, give an estimate of the power of either France or the U S S R
राष्ट्रीय शक्ति के मूल तत्वों की व्याख्या कीजिये। इन तत्वों के आधार पर फ्रांस अथवा सोवियत संघ की शक्ति का मूल्यांकन कीजिये।

5 Examine the elments or ingredients of natural power, with particu'-, attention to those factors which make for the ultimate form of power i e military power
शक्ति के अन्तिम स्वरूप जैसे सैनिक शक्ति पर विशेष ध्यान रखते हुए राष्ट्रीय शक्ति के तत्व या उपादानों की परीक्षा कीजिये।

6 "If, however, it is utopian to ignore the element of power, it is an unreal kind of realism which ignores the element of morality in any world order" (E H Carr). Comment

7 What are the principal elements of national power? Has the importance of geography declined in recent years?
राष्ट्रीय शक्ति के मुख्य तत्व क्या हैं। क्या हाल ही के वर्षों में भूगोल का महत्व घट गया है?

8 Discuss the basic elements of national power On the basis of these elements give an estimate of the power of either France or the U S S R
राष्ट्रीय शक्ति के मूल तत्वों की व्याख्या कीजिए। इन तत्वों के आधार पर फ्रांस अथवा सोवियत संघ की शक्ति का मूल्यांकन कीजिए।

9 Explain the importance of economic factors in the formulation of national policy and in international politics.

राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक कारणों का महत्व समझाइये।

10 Why states are so much concerned with power and why the cultivation of national power is a corollary to the national state system

राज्य शक्ति से बहुत अधिक सम्बन्धित क्यों हैं और क्यों राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि का परिणाम राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था है।

11 Comment on the 'Realist' and 'Idealist' views about power politics

शक्ति की राजनीति पर यथार्थवादी और आदर्शवादी दृष्टिकोण की विवेचना कीजिये।

12 "Physical geography is one of the more constant conditioning factors in world politics and effects the power, the needs, goals and policies that follow in pursuing their repective interests' (Padelford and Lincoln) Discuss

भौतिक भूगोल विश्व राजनीति को अधिक निरन्तर रूप से प्रभावित करने वाला तत्व है। यह उन आवश्यकताओं, लक्ष्यों नीतियों एवं शक्ति को प्रभावित करता है जिनको राज्य अपने हितों की दृष्टि से अपनाते हैं।

13 'It would, of course, not be correct to say that the larger the population of a country the greater will be power of that country' (Morgenthau) Comment

यह कहना सही न होगा कि एक देश की जनसंख्या ज्यादा है अतः उस देश की शक्ति भी अधिक होगी। विवेचना कीजिये।

14 'The rapid spread of modern technology will bring power to population now comparatively important' (Frank W Notestein)

"Although quantity of population is important in war and peace, quality is even more desirable" (Schleicher) In light of the above statements discuss 'Population' as an element of national power

15. Describe the effect on International Politics of the following elements of Geography—(a) Location and Climate (b) The Factor of Position, (c) Land Form, (d) Size of the State, (e) Raw Materials and (f) Boundries

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर निम्नलिखित भौगोलिक तत्वों का क्या प्रभाव पड़ता है—(क) स्थिति तथा जलवायु, (ख) राज्य की स्थिति का तत्व, (ग) भूमि का रूप, (घ) राज्य का आकार, (ङ) कच्चे माल की उपज तथा (च) सीमायें।

16. How does the population of a state affect International Politics ? Illustrate your answer by suitable examples from the countries of the World.

किसी देश की जनसंख्या विश्व राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करती है ? अपने उत्तर के पक्ष में विभिन्न राष्ट्रों की जनसंख्या का उदाहरण देते हुए स्पष्टीकरण कीजिये।

17. Describe the economic needs of nations. How do they create international dependency and rivalry ? Discuss.

राज्यों की आर्थिक आवश्यकताओं पर प्रकाश डालिये। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय पराधीनता तथा प्रतिद्वन्द्विता पर कैसे प्रभाव डाला है ? समीक्षा कीजिये।

18. What do you mean by Ideology ? What is its place in politics ? What part does it in the International Relation.

विचारधारा से आप क्या अर्थ निकालते हैं ? उसका स्थान राजनीति में क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में वह क्या करती है ?

19. How much does the moral factor work in International Politics ?

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नैतिकता की भावना कहाँ तक कार्य करती है ?

20. "Really speaking war occurs in the minds of men and not between the armies. Hence to establish permanent peace, it is the minds where peace much prevail." Discuss the statement critically.

"यदि सत्य पत्य कहा जाय तो यह ठीक लगता है कि युद्ध सेनाओं के मध्य नहीं होता बल्कि उसके बीज मानव मस्तिष्क में पैदा होते हैं। अतः स्थाई शान्ति के लिये, मानव मस्तिष्कों में शान्ति फैलाई जाये।" इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

21. Discuss 'Technology' as an element of national power.
राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्व के रूप में 'तकनीकी' की विवेचना कीजिये।

22. Comment on the nature and influence of 'Technology' as an elment of national power
राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप में 'तकनीकी' की प्रकृति और उसके प्रभाव की समीक्षा कीजिये।

23. "Ideologies, like all ideas, are weapons that may raise the national morale and with it, the power of one nation and in the very act of doing so, may lower the morale of the opponent (Hans J Morgenthau.) Comment.
'विचारधारायें समस्त विचारों की भाँति ऐसे हथियार होते हैं जो राष्ट्रीय मारल को उठा सकते हैं और इसके साथ ही एक राष्ट्र की शक्ति को बढ़ा सकते हैं। ऐसा करने में अपने विरोधी के मारेल को नीचा कर सकते हैं।' समीक्षा कीजिये।

24. "In short, Communist theory is truly international, on a class basis, whatever concessions it may make to nationalism are wholly strategic and temporary" (Schleicher) Discuss
"संक्षेप में साम्यवादी विचारधारा सच्चे रूप में अन्तर्राष्ट्रीयवादी है, जिसका आधार वर्गवाद है। राष्ट्रवाद के लिए यह जो भी छूट प्रदान करती है वह अस्थायी है तथा इसकी राजनीति है।' विवेचना कीजिए।

25. "Moral is a thing of the spirit, made up of loyalty, courage, faith the impulse to the preservation of personality and dignity, sentiment for the known, fear and dislike of the unknown & self-interest" (Palmer & Perkins)

"*National morale, we must conclude, is a complex of a* few constants and many variables" (Palmer & Perkins). In light of these statements discuss 'Morale' as an element of national power.

"मनोबल आत्मा की एक चीज है जो स्वाभिमान, साहस तथा विश्वास से मिल कर बनती है, यह व्यक्तित्व एवं सम्मान की रक्षा की लालसा है, ज्ञात के प्रति 'भावना' है तथा अज्ञात के प्रति भय एवं अरुचि। यह आत्मत्याग है।"
राष्ट्रीय मनोबल (National Morale) कुछ निश्चित तथा अनेक अनिश्चित तत्त्वों का उलझनपूर्ण समवाय है।
इन कथनों के प्रकाश में "राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्त्व के रूप में मनोबल" की विवेचना कीजिये।

26 " the quality of military leadership has always exerted a decisive influence upon national power" (Morgenthau) Do you agree with this statement?
"सैनिक नेतृत्व के गुण ने राष्ट्रीय शक्ति पर सदा ही निर्णायक प्रभाव डाला है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

27. "Diplomacy of high quality will bring the ends and means of foreign policy into harmony with the available resources of national power" (Morgenthau) Comment.
"ऊँचे दर्जे की कूटनीति विदेश नीति के साध्य और साधनों को उपलब्ध राष्ट्रीय शक्ति के स्रोतों के साथ एकस्वर करती है।" विवेचना कीजिये।

Chapters 7 & 8

1 'All the instruments and techniques of international intercourse have some application both in friendly and in hostile relations, in peace and in war, even though some are pronouncedly more persuasive whilst others are coercive' (Joseph Frankel). Discuss
'अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार के सभी साधन एवं तकनीकें मैत्रीपूर्ण तथा शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों में, शान्ति एवं युद्ध दोनों ही कालों में प्रयुक्त की जा सकती हैं। यद्यपि इतना अवश्य है कि इनमें से कुछ की प्रकृति अधिक समझाने बुझाने की है जबकि अन्य दबावकारी हैं।' विवेचना कीजिये।

2 What is the meaning of national interest? Define it in terms of national power
राष्ट्रीय हित का अर्थ क्या है? राष्ट्रीय शक्ति के रूप में इसे परिभाषित कीजिये।

3. "The concept of the national interest, then contains two elements one that is logically required and in that sense necessary and one that is variable and determined by circumstances" (Morgenthau) Elucidate

"राष्ट्रीय हित मे प्राय दो तत्व निहित होते हैं। एक तो यह है कि यह तार्किक रूप मे वाछनीय है ओर इस प्रकार आवश्यक भी। दूसरे, यह अस्थिर है तथा परिस्थितियो द्वारा निर्धारित होता है।" व्याख्या कीजिये।

4. What is diplomate ? Explain the qualities and specialities of diplomate with reference to his duties

राजनयज्ञ किसे कहते हैं ? उनके कार्यों का लेखा जोखा प्रस्तुत करते हुए एक सफल राजनयज्ञ के गुणों तथा विशेषताओं की विवेचना कीजिये।

5 Write development of diplomacy and explain the forms of recent diplomacy

राजनयिक सिद्धान्त के विकास पर सम्यक् विचार कीजिये तथा आधुनिक राजनय के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत कीजिये।

6 'Diplomacy in the popular sense means the employment of tact, shrewdness, and skill in any negotiation or transaction In the more special sense used in international relations it is the art of negotiation, in order to achieve the maximum of group objectives with minimum of costs, within a system of politics in which it is a possibility" (Quincy Wright)

'Diplomacy in the application of intelligence and tact to the conduct of official, relations between the governments of independent states (Ernest Satow)

"Diplomacy, used in relation to international politics, is the art of forwarding one's interests in relation to other countries" (K M Panikkar) Elucidate the above statements.

"लोकप्रिय रूप में कूटनीति का अर्थ है किसी सौदे में या लेन-देन में चातुरी, धोखेबाजी तथा कुशलता का प्रयोग। अपने विशेष अर्थ में जिसमें कि यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रयुक्त की जाती है यह सौदेबाजी की वह कला है जो राजनीति की उस व्यवस्था में कम मूल्य में अधिक से अधिक सामूहिक लक्ष्यों को प्राप्त करती है जिसमें कि युद्ध एक सम्भावना है।"

"कूटनीति" स्वतन्त्र राज्यों के पारस्परिक राजकीय सम्बन्धों के संचालन में बुद्धि और चातुर्य का प्रयोग करने को कहा जाता है।

"अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रयुक्त 'कूटनीति' अपने हितों को दूसरे देशों से अग्रिम रखने की एक कला है।"

उपर्युक्त कथनों की व्याख्या कीजिये।

7 "A diplomate's words must have no relation to action otherwise what kind of diplomacy is it? Words are one thing, actions another. Good words are a mask for the concealment of bad needs. Sincere diplomacy is no more possible than dry water or wooden iron." (Joseph Stalin).

"Diplomacy by trickery seldom helps a country to achieve its objects." (K. M. Panikkar).

In light of these statements discuss the nature of diplomatic functions.

"एक कूटनीतिज्ञ के शब्दों का उसके कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये वरना यह कूटनीति ही कैसी? कथनी एक चीज है और करनी दूसरी। अच्छे शब्द बुरे कार्यों को छुपाने में ढाल का काम करते हैं। एक निष्कपट कूटनीति उसी तरह असम्भव है जितना कि 'सूखा पानी' या 'नरम लोहा'।"

"चालबाजी पूर्ण कूटनीति एक देश को उसके लक्ष्यों की प्राप्ति में बहुत कम सहायता कर पाती है।"

इन कथनों के प्रकाश में कूटनीतिक कार्यों के स्वरूप की विवेचना कीजिये।

8. Describe functions and kinds of diplomacy.

कूटनीति के कार्यों और प्रकारों का वर्णन कीजिये।

9. Define Propaganda and explain the methods and techniques of it.

प्रचार शब्द की व्याख्या कीजिये तथा इसकी पद्धति तथा प्रक्रिया का वर्णन कीजिये।

10. What do you understand by Political Warfare? Discuss its devices and role during First World War and Second World War and in post war period

राजनीतिक युद्ध से आप क्या समझते हैं? प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध और इससे पूर्व के युद्धों में इनके कार्य और साधनों की विवेचना कीजिये।

11 What do you understand by economic instruments of National Policy. Distinguish between Economic weapons and weapons of economic warfare

राष्ट्रीय नीति के आर्थिक शस्त्रों से आप क्या समझते हैं? आर्थिक शस्त्र और युद्ध के आर्थिक शस्त्र में अन्तर कीजिये।

12 Explain the importance of economic factors in the formulation of national policy and in international politics.

राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में आर्थिक कारकों के महत्व को समझाइये।

13. What is Imperialism and discuss its relation with nationalism.

साम्राज्यवाद क्या है और राष्ट्रवाद से इसके सम्बन्धों की विवेचना कीजिये।

14. Explain briefly the various economic instruments of National Policy

राष्ट्रीय नीति के विभिन्न आर्थिक साधनों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

15. What is colonialism? Explain difference between colonialism and Imperialism

उपनिवेशवाद क्या है? उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद में अन्तर बतलाइये।

16. What do you understand by Imperialism ? How is it related to colonialism ? Give the motives of Imperialism and colonialism.

आप साम्राज्यवाद से क्या समझते हैं ? इसका सम्बन्ध उपनिवेशवाद से क्या है ? साम्राज्यवाद तथा उपनिवेश के पीछे कौनसी भावनाएँ छिपी रहती हैं ? स्पष्ट कीजिये ।

17. (a) What is war ? What do you understand by the costs of war ?

(b) Explain briefly the functions of war giving illustrations from communist countries

(क) युद्ध क्या है ? युद्ध लागत से आप क्या समझते हैं ?

(ख) युद्ध के कार्यों का साम्यवादी और पूंजीवादी देशों का उदाहरण देकर संक्षिप्त में वर्णन कीजिये ।

18. Discuss the various approaches to the study of war and mention briefly the causes of war.

युद्ध के अध्ययन के विभिन्न तरीकों का विश्लेषण कीजिये तथा युद्ध के कारणों का संक्षिप्त में वर्णन कीजिये ।

19. (a) Discuss Dulles false or inadequate solution to war. Are there any other alternatives to war ?

(b) Explain the future of war as an instrument of National Policy

(क) डलेस की युद्ध को झूठा अथवा अपर्याप्त हल की विवेचना कीजिये । क्या युद्ध के अन्य विकल्प हैं ?

(ख) राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध के भविष्य का वर्णन कीजिये ।

20. Describe the characteristics of the modern war. How does it differ from the old war ?

आधुनिक युद्ध की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए । यह प्राचीन युद्ध से किस प्रकार भिन्नता रखता है ?

21. Describe the Economic aspects of Modern war. Illustrate your answer with reference to the World Wars I & II. What was the part of U. S. A. towards Economic Reconstruction ?

आधुनिक युद्ध के आर्थिक पहलू का उल्लेख कीजिए। अपने उत्तर में प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धों का उदाहरण दीजिये। विश्व के पुनर्निर्माण में आर्थिक दृष्टि से स० रा० अमेरिका का क्या योगदान है?

22 What are the Social, Political and Psychological consequences of the two World Wars? Is the nature of war in the present times changing? If your answer is in the positive describe the factors contributing to such a change?
दो विश्वयुद्धों के सामाजिक राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक परिणाम क्या हुए? क्या आजकल के युद्ध की प्रकृति बदल रही है? यदि आपका उत्तर इसके पक्ष में है, तो इस परिवर्तन के पीछे कौन कौन से तत्व है?

Chapters 9 & 10

1 What are the various meanings of Balance of Power
शक्ति सतुलन के क्या क्या विभिन्न अर्थ हैं?

2 Discuss the nature of the Balance of Power and mention its characteristics
शक्ति सतुलन की प्रकृति और उसके चरित्र का वर्णन कीजिए।

3 Explain the role of balances and show how polarization of power takes place
सतुलन के कार्य का वर्णन कीजिए और बतलाइये कि ध्रुव शक्ति का स्थान कैसे लेते हैं?

4 Explain the devices for maintaining the Balance of Power
शक्ति सतुलन को स्थिर करने के साधनो का वर्णन कीजिये?

5 What do we mean by Collective Security and assess the true significant possibilities of collective security in international affairs.
सामूहिक सुरक्षा से हम क्या अर्थ लेते हैं? अन्तर्राष्ट्रीय कार्य में सामूहिक सुरक्षा की सम्भावना और वास्तविक महत्व को निर्धारित कीजिए।

6. Is collective security a pitfall or bulwark ?
क्या सामूहिक सुरक्षा एक सिद्धान्त है ?

7. "The logic of collective security is flawless, provided it can be made to work under the conditions prevailing on the international scene." (Morgenthau) *Comment on this statement and explain the problems connected with collective security."*

"सामूहिक सुरक्षा के तर्क में कोई त्रुटि नहीं है, यदि उसको अन्तर्राष्ट्रीय मंच की वर्तमान परिस्थितियों में कार्यान्वित किया जा सकता है।"
(मोरगेन्थ्यू)

इस कथन की समीक्षा करते हुए, सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर प्रकाश डालिए।

8. Discuss the relationship of collective security and balance of power with special reference to Concert of Europe, League of Nations and United Nations
सामूहिक सुरक्षा और शक्ति सतुलन के सम्बन्ध का विशेषकर यूरोप कन्सर्ट, राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ के संदर्भ में विवेचना कीजिये।

9 What are the most promising of all the approaches to peace ? Explain the relationship between collective security and peaceful settlement.
शान्ति के अत्यधिक दृढ़ मार्ग क्या हैं ? सामूहिक सुरक्षा और शान्तिपूर्ण हल के सम्बन्ध का वर्णन कीजिये।

10. "Collective security is in an intermediate position with respect to the criterian of centralization; it refers to a system with a greater degree of managerial centralization than the balance system, but a lesser degree than the world government concept." (Claude). Elucidate.

"यदि केन्द्रीकरण की दृष्टि से देखा जाय तो हम पायेंगे कि सामूहिक सुरक्षा बीच की व्यवस्था है। इसमें शक्ति-सन्तुलन से अधिक केन्द्रीकृत प्रबन्ध होता है, किन्तु विश्व सरकार की मान्यता से यह कम होता है।" व्याख्या कीजिये।

11 " the collective security system should be regarded as simply a revised version of the balance system, not as a drastically different system substituted for the letter " (Claude) Elucidate.

"सामूहिक सुरक्षा को शक्ति संतुलन का एक परिवर्तित संस्करण मानना चाहिए न कि पूरी तरह से भिन्न और शक्ति संतुलन का विकल्प।' इस कथन को समझाइये।

12 What is meant by Collective Security and what are its problems ? Is there any alternative to Collective Security ?

सामूहिक सुरक्षा से क्या तात्पर्य है तथा उसकी समस्यायें क्या हैं ? क्या सामूहिक सुरक्षा का कोई अन्य स्थानापन्न उपाय है ?

13 Explain in detail the methods for the Pacific Settlement of international disputes with special reference to regional arrangements and the United Nations

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का विशेषकर प्रादेशिक व्यवस्था और संयुक्त राष्ट्र संघ के संदर्भ में शान्तिपूर्ण निपटारे की पद्धतियों का विस्तृत वर्णन कीजिये।

14 Can Regionalism promote world peace ? Illustrate with reference to NATO and SEATO

क्या क्षेत्रीयवाद विश्व शान्ति को उन्नत बना सकता है ? नाटो और सीटो के संदर्भ में बताइये।

15 Do you agree that regional agreements for international peace and security are, at best, a 'necessary evil ?

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए क्षेत्रीय संगठन, एक आवश्यक बुराई है ?

16 Define International law. Explain various branches Distinguish between international law and municipal law.

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की परिभाषा दीजिये। विभिन्न शाखाओं का वर्णन कीजिये। अन्तर्राष्ट्रीय कानून और म्युनिसिपिल कानून में अन्तर बतलाइये।

17. What are the main sources of international law ? How International law is enforced ?
अन्तर्राष्ट्रीय कानून के मुख्य स्रोत क्या हैं ? अन्तर्राष्ट्रीय कानून कैसे प्रयुक्त किया जा सकता है ?

18. Write short notes on—
(1) World Government, (2) Disarmament, (3) International Morality, (4) World Public Opinion
निम्न पर टिप्पणी लिखिये—
(१) विश्व सरकार, (२) निशस्त्रीकरण, (३) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, (४) विश्व जनमत।

19. Discuss the attitude of Great Powers towards disarmament since the close of Second World War.
द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद नि.शस्त्रीकरण के प्रति महाशक्तियों के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिये।

20. Discuss the 'progress' of disarmament under the U N. O pointing out specially the basic differences in the points of view of Western Powers and U S. S R.
पाश्चात्य शक्तियों और सोवियत संघ के मध्यवर्ती मौलिक मतभेदों को बताते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में नि.शस्त्रीकरण की दिशा में की गई 'प्रगति' की विवेचना कीजिये।

21. Give an account of the attempts made after 1945 to tackle the problem of disarmament.
नि.शस्त्रीकरण की समस्या के समाधान के लिए १९४५ के बाद किये गये प्रयत्नों का विवरण दीजिए।

22. Discuss the nature of International law. What is the force behind this law ?
अन्तर्राष्ट्रीय कानून की प्रकृति की विवेचना कीजिये। इस कानून के पीछे कौनसी शक्ति होती है ?

23. Whas is the scope of International Law ? Discuss.
अन्तर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र क्या है ? विवेचना कीजिये।

24 Describe the present status of International Law. How do the International Court of Justice and U N O. help in strengthening the International law

आधुनिक समय मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून की हैसियत क्या है ? अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा म० रा० संघ किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून की शक्ति बढाने मे सहायता कर रहे हैं ?

Chapters 11 to 20

1 "The most significant development of the period following world war II has been the emergence of the struggle of the African people for national self-determination " Comment.

"द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में सबसे महत्वपूर्ण विकास राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के लिये अफ्रीकन लोगो के संघर्ष का उदय रहा है।" विवेचना कीजिये।

2. Discuss the emergence of independent states in Africa and its effect on international politics.

अफ्रीका मे स्वतन्त्र राज्यो के उदय की समीक्षा कीजिये और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव को बताइये।

3. What has been the problems of Africa after the Second World War and how are they affecting the international relations

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका की क्या समस्याये रही हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को वे कैसा प्रभावित कर रही हैं।

Write a note on the resurgence of Africa

अफ्रीका के जागरण पर एक नोट लिखिये।

4. Write an essay on the growth and development of the movements towards continantal unity in Africa. What do you think about the prospect of such unity ?

अफ्रीका में महाद्वीपीय एकता के लिये जो विभिन्न आन्दोलन हुए उनके उदय और विकास पर एक निबन्ध लिखिये। इस एकता के भविष्य के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

5. "Contemporary international relations are going through a reorganisation in which the old national state and the old state system are being slowly moulded into new political forms Colonies are gaining independence as empires are breaking up National States are being merged into great federations (T V Kalijarvi) Discuss

"वतमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पुनर्गठन हो रहा है जिसमे कि पहले की राज्य व्यवस्था एव राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था धीरे धीरे नवीन राजनीतिक रूपों मे बदलती जा रही है। साम्राज्यों का पतन हो रहा है और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्र राज्य एक बडे सघ मे विलीन होते जा रहे हैं।" (टी वी कालीजार्वी) विवेचना कीजिये।

6. How has the Second World War affected the political development of South East Asia ?

द्वितीय महायुद्ध ने दक्षिण पूर्वी एशिया के राजनीतिक विकास को किस प्रकार प्रभावित किया है ?

7. Discuss the importance of South East Asia in International affairs

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे दक्षिण पूर्वी एशिया के महत्व की विवेचना कीजिये।

8 Discuss the Vietnam crisis Do you think that the Vietnamese crisis can escalate into a world war ?

वियतनाम सकट की विवेचना कीजिये। क्या आपका ख्याल है कि वियतनाम-सकट विश्व युद्ध के रूप में परिणत हो सकता है ?

9. Discuss the importance of Middle East in the diplomacy of Great Powers during year of 1940 56

१६४० से १६५६ के वर्षों के दौरान महाशक्तियों की कूटनीति म मध्यपूर्व के महत्व की समीक्षा कीजिये।

10. Write a short essay on international politics of the Middle East after World War II.

मध्यपूर्व की द्वितीय महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर एक सक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

11 How the Zoinist problem influenced international politics in the Middle East ?
मध्यपूर्व मे यहूदीवाद की समस्या ने अ तर्राष्ट्रीय राजनीति को किस तरह प्रभावित किया है ?

12 Give a brief history of Anglo Egyptian relations in the period leading to the Suez Crisis
स्वेज सकट के समय पर आग्ल मिस्र सम्ब धो का सक्षिप्त इतिहास लिखिये।

13 Write a note on Arab Nationalism
अरब राष्ट्रवाद पर एक नोट लिखिये।

14 What do you know of the Palestine problem and its settlement after the Second World War
फिलस्तीन समस्या और द्वितीय महायुद्ध के बाद इसके समाधान के बारे मे आप क्या जानते हैं ?

15 Critically examine the foreign policy of the U S A since the termination of Second World War
द्वितीय महायुद्ध की उत्तरकालीन अमेरिकन विदेश नीति का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।

16 Sketch briefly the part played by the U S A in International affairs since 1939 What are the international aims of the U S A at present time ?
१९३९ के बाद मे अ तर्राष्ट्रीय मामलो म सयुक्त राज्य अमेरिका ने जो भूमिका अदा की उसका सक्षप में चित्रण कीजिये। वर्तमान समय म सयुक्त राज्य अमेरिका के अ तर्राष्ट्रीय उद्देश्य क्या है ?

17 Estimate the strength and influence of the imperialist motive in the policy of the United States to day
सयुक्त राज्य अमेरिका की नीति मे साम्राज्यवादी उद्देश्य के प्रभाव और शक्ति का मूल्याकन कीजिये।

18 What was the Truman Doctrine ? When and under what circumstances was it ennunciated ? Would you agree with the view that the Truman Doctrine is the modern version of the Monroe Doctrine ?

ट्रूमैन सिद्धान्त क्या था ? कब और किन परिस्थितियों में इसे कार्यान्वित किया गया था ? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का आधुनिक रूप है ?

19 What do you mean by the Eishenhower Doctrine ? Discuss its workings and the causes of its failure. आइजनहोवर सिद्धान्त से आपका क्या अभिप्राय है ? इसकी कार्य प्रणाली और असफलता के कारणों का विवेचन कीजिये।

20. Give a critical sketch of the policy of U S A towards Latin American States since 1945. १९४५ के बाद से लैटिन अमेरिकन राज्यों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति की समीक्षा कीजिये।

21 "The post war world possessed a number of important characteristics but above all, it was overshadowed by the rivalry of the United States and the Soviet Union " Discuss "महायुद्धोत्तर विश्व की अनेक महत्वपूर्ण विशेषताएं थीं—किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ की शत्रुता या प्रतिद्वन्द्विता इन सबसे ऊपर सिद्ध हुई।" प्रतिद्वन्द्विता और विश्व राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना कीजिये।

22 Discuss in brief the problem of the reunification of Germany

जर्मनी के एकीकरण की समस्या का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

23 Give a critical sketch of the foreign policy of Russia since 1945

१९४५ से रूस की विदेश नीति का आलोचनात्मक विवरण दीजिये।

24 In what respects has the foreign policy of the U S S R. modified in recent years ? Give concrete instances to illustrate your answer.

आधुनिक वर्षों में सोवियत रूस की विदेशी नीति किन रूपों में परिवर्तित हुई या सुधरी है ? उत्तर की पुष्टि में ठोस उदाहरण दीजिये।

25 "Every manifestation of the Soviet policy during the post war period has made it clear that the Soviet Government of Stalin is pursuing precisely the same

aims that were envisaged by Nicholas I and Alexander II, "Do you agree? Give reasons in support of your answer

'युद्धोत्तर काल मे सोवियत नीति की प्रत्येक घोषणा या उसके प्रत्येक प्रकाशन से यह स्पष्ट हो गया है कि स्टालिन की सोवियत सरकार उन्ही उद्देश्यों का अनुसरण कर रही है जो निकोलस प्रथम और अलेक्जेन्डर द्वितीय द्वारा अपनाये गये थे।' क्या आप सहमत हैं? अपने पक्ष के समर्थन मे कारण दीजिये।

26 "He (Stalin) ruled in the autocratic tradition of Peter the Great and westernized the economy of the Soviet Union in the realm of Foreign Policy, he followed in the footsteps of the most expansionist of czars His successors have sought to maintain his tradition" (Alvin Z Rubinstein) Discuss.

"उसने (स्टालिन ने) पीटर महान् की स्वेच्छाचारी परम्पराओं मे शासन किया और सोवियत संघ की अर्थ व्यवस्था का पाश्चात्यीकरण कर दिया। विदेश नीति के क्षेत्र में उसने मुख्यत विस्तारवादी जारों के पदचिह्नों का अनुसार किया। उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी परम्परा को निभाना पड़ेगा।" (आल्विन रुबिन्स्टीन) विवेचना कीजिये।

27 Give a brief account of the achievements and failures of post Stalin diplomacy of the Soviet Union.

सोवियत संघ की स्टालिनोत्तर कूटनीति की सफलताओ एवम् असफलताओं का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

28 Discuss in brief Soviet Union s relations with other Communist countries of the world

संसार के अन्य साम्यवादी देशो के साथ सोवियत संघ के सम्बन्धों की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

29 Do you think that foreign policy of Soviet Union under Khrushchev was fundamentally different from that of his predecessor?

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि सोवियत संघ की ख्रुश्चेव के समय की विदेश नीति उसके पूर्ववर्ती नेता (स्टालिन) से मौलिक या आधार भूत रूप से भिन्न थी?

30 What do you mean by the term 'peaceful co existance?' Discuss it in the context of the U S S R Diplomacy.

"शांति पूर्ण सह-अस्तित्व" से आपका क्या आशय है ? सोवियत कूटनीति के संदर्भ में इसकी विवेचना कीजिये।

31. "The conflict between the two monolithic giants of the modern world is the dominant reality of the contemporary world-politics." Discuss the main causes of the friction between United States of America and Union of Soviet Socialist Republics in the light of the above statement. How can this friction be made up ?

"आधुनिक काल की दो भीमाकाय शक्तियों के मध्य संघर्ष ही आधुनिक विश्व राजनीति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।" इस कथन के प्रकाश में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य पारस्परिक तनाव के कारणों की विवेचना कीजिये। इस तनाव को कैसे कम किया जा सकता है ?

32 Write a short essay on "Rebuilding and Re organization of Western Europe."

"पश्चिमी यूरोप के पुनर्निर्माण और पुनर्गठन" पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

33 What do you understand by ' Bipolar System ? Do you agree that the trend in now towards polycentrism ?

द्विध्रुवीय व्यवस्था से आप क्या समझते हैं ? क्या आप सहमत हैं कि अब यह प्रवृत्ति बहुकेन्द्रवाद की ओर है ?

34. What do you know about so called Cold War ? Give its short resume 1946 to 1967.

तथाकथित शीतयुद्ध के बारे में आप क्या जानते हैं ? १९४६ से १९६७ के मध्य के शीत युद्ध को संक्षेप में बताइये।

35. What are the causes of the so-called 'Cold War' ? Indicate main fronts on which it is being fought and the main episodes it has witnessed since 1946.

तथाकथित शीतयुद्ध के क्या कारण हैं ? जिन मुख्य बातों को लेकर यह लड़ा जा रहा है और १९४६ से जिन मुख्य घटनाओं के दर्शन इसने किये हैं—उनका वर्णन कीजिये।

36 'The Conflict between two monolithic giants of the modern world is the dominant reality of the contemporary world politics.' Discuss the principal causes of friction between U. S. A. and the U. S S. R. and suggest remedies or solution if any.

"आधुनिक विश्व के दो भीमाकाय दानवों के मध्य संघर्ष ही समकालीन विश्व राजनीति की विशेषता है ।" संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य विवाद व मतभेदों के मुख्य कारणों की विवेचना कीजिये और सम्भाव्य हल बताइये ।

37 Trace the origin and growth of the conflict between the United States of America and the U S S R after the Second World War How far is it proper to explain the conflict in terms of the ideological differences between the two great powers ?

द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य जो संघर्ष रहा है उसकी उत्पत्ति और विकास पर प्रकाश डालिये । यह कहना कहाँ तक उचित है कि इन दो महान् शक्तियों के मध्य यह संघर्ष सैद्धान्तिक मतभेदों का है ?

38 *Examine the role of ideological as prime factor in* International Relations Illustrate your answer by one or two examples

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सिद्धान्तों की भूमिका की एक प्रमुख पहलू के रूप में परीक्षा कीजिये । एक अथवा दो उदाहरणों द्वारा अपना उत्तर स्पष्ट कीजिये ।

39 Give some account of the United Nations Organisation and explain the provisions it has made for the prevention of International conflicts

संयुक्त राष्ट्र संघ का कुछ विवरण दीजिये तथा उन प्रावधानों की व्याख्या कीजिये जो उसने अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों को रोकने के लिए बनाये हैं ।

40 Examine the strength and weakness of the U N O for the maintainance of International peace

अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना के लिए सं० रा० संघ की शक्ति एवं निर्बलता का वर्णन कीजिये ।

41. Write an essay on the working of the U N O as an instrument for the establishment of World Peace.

"विश्व शान्ति की स्थापना के लिए सं० रा० संघ एक साधन के रूप में कार्य करता है।" इस विषय पर एक लेख लिखिये।

42. Describe the mechanism for collective security under the charter of the United Nations and show how it differs from the collective security system under the covenent of the League of Nations.

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की क्या व्यवस्था है? यह भी स्पष्ट करो कि यह सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था राष्ट्र संघ के समझौते से कितनी भिन्नता रखती है?

43. Write an essay on the Security Council of the United Nations Organisation with special reference to the "Veto" power available to its permanent members. Would you advocate the abolition of the Veto as a means of making the United Nation more effective.

संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् पर एक लेख लिखो जिसमें विशेष-तौर पर निषेध शक्ति जो स्थाई सदस्यों को प्राप्त है, उसका उल्लेख हो। क्या आप इस पक्ष में हैं कि वीटो की पद्धति को उठा देने पर सं० रा० संघ अधिक प्रभावी हो जायेगा?

44. What are the contributions of the United Nations Organisation towards world peace?

विश्व-शान्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की क्या देन है?

45. Describe the failures and weaknesses of the U. N. O. in the maintainance of peace and security.

संयुक्त राष्ट्र संघ को शांति एवं सुरक्षा की स्थापना में जो असफलतायें प्राप्त हुई उनका उल्लेख करते हुये उसकी दुर्बलताओं का वर्णन कीजिये।

46. "... ...... *in fact, the U. N must act as a limited Govt.* **if the world is to have peace; it has no other choice."** Discuss.

"यदि विश्व शांति प्राप्त करना चाहता है तो संयुक्त राष्ट्र संघ को एक सीमित सरकार के रूप में कार्य करना चाहिए, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं।" विवेचना कीजिए।

47. "Here, then is the U N.O and international personality, clothed by its frame with authority to operate on an international plane and whose members have taken important obligations toward it. But it is neither a state nor a super-state The dilema is inherent in the development of world society." (Clark M Eicheberger) Discuss

"संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व है जिसके निर्माताओं ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने की शक्ति का वस्त्र पहनाया है तथा जिसके सदस्यों ने इसके प्रति महत्त्वपूर्ण दायित्व सभाले हैं। किन्तु यह न तो एक राज्य है और न ही सर्वोच्च राज्य। यह अन्तर्विरोध तो विश्व समाज के विकास में निहित हो रहता है।" विवेचना कीजिए।

SUGGESTED READINGS

1. B. Cohen : The Political Process and Foreign Policy.
2. Deutach, Karl W : The Nerves of Goverament.
3. Fex, William T.R. (ed) : Theoretical Aspect of International Relations
4. Nerman Kahn and Irwin Mann : Game Theory,
5. Hoffman, Stanlay : Contemporary Theory in International Relations.
6. Kaplan, Mortan A : System and Process in International Politics.
7. Manning C. A. W : International Relation, Paris.
8. Miller James G, : Towards a General Theory of the Behavioural Sciences
9. Mc Clell and, Charles A : Theory the International System.
10. Snyder, Richard C: H. W. Bruck and Burton Sapin : Foreign policy decision Making.
11. " " : An Approach to the Study of International Politics.
12. Thompson Kenneth W. : The Study of International Politics.
13. Herz, Hohn H. : Political Realism and Political Idealism
14 Morgenthau, Hens J. : In defence of the National Interest.
15 Morgenthau, Hans J. : Politics among Nations,
16 Morgenthau, Hans J. : Scientific Man V.S. Power Politics.
17. Palmer & Perkins : International Relations.
18. Lerner, Daniel, and Lasswell, Harold D. eds : The policy Scieuces : Recent Developments in Scope and Method

19 Wright, Quincy — The Study of International Relations

20 Padelford and Lincoln — The Dynamics of International Politics,

21 Benno, Wasserman : 'The cultural and Psychological Approach to the study of International Relations.

Morgenthau, Hans J. — In Defence of the National Interest.

Morgentnau, Hans J — Scientific Man Vs Politics

22 Jucker W. Robert — 'Professor Morgenthau s Theory of Political Realism' American Political Science Review

23 E H Carr — Nationalism and after.

24 Earle, EdwardM ed — Nationalism and Internationalism.

25 Gooch, George P — Nationalism

26 Hayes, C J H — The Historical evolution of modern nationalism

27 Keeton, George W — National Sovereignty and international order

28. Cohn, Hans — Nationalism It meaning and History.

29 Cobban, Alfred — National Self-determination

30. (a) Shafer BoydG — Nationalism Myth and reality.

30 (b) Clark, Grover, : The Balance Sheets of Imperialism.

31 Moon, Parker T, — Imperialism and World Politics.

32 Merrian, Charles E · History of the theory of Sovereignty since Rousseau,

33 John Drewett — Signs of the Times.

34 David E Mc Lellan, William C and Fred A.Sondermann· The Theory and Practice of International Relations,

35 Charles E Merriam — Political Power

36. Harold D Loswell — A Study of Power.

37 Colby, C C, editor Geographic Aspects of International Relations
38 Emeny Brooks, The Strategy of Raw Materials
39 Merriam, Charles 'Political Power, in a Study of Power History
40 Organski, A F K, World Politics
41 Sprout Harold and Margaret, editors, Foundations of National Power
42 Staley Eugene, Raw Materials in peace and War, New-York Council of Foreign Relations
43 Mead, Margaret, ed, Cultural Patterns and Technical Change
44 Kuczynski Robert R 'Population, History and Statistics, Encyclopaedia of the Social Sciences
45 Lorimer, Frank . 'Population Factors Relating to the Organization of Peace, International Conciliation, No 369
46 Pye, Lucian Aspects of Political Development, 1966
47 Kautsky, John H ed Political Changes in Under developed Countries Nationalism and Communism
48 Brzezinski, Zbigniew K. Ideology and Power in Soviet Politics, 1962
49 Klineberg, Otto The Human Dimension in International Relations, 1964
50 Pye, Lucian Politics, Personality and Nation Building, 1962
51 Burns, Arthurd Carleton, William G "Ideology or Balance of Power Yale Review
52 Haas, Ernest B 'The Balance of Power Prescription Concept, or Propaganda' World Politics
53 Schwarzenberger, George Power Politics
54 Brierly J L The Law of Nations

55 Corbett, P E Law and Society in the Relations of States

56 Fenwick Charles G International Law,

57 Kelsen, Hans Principles of International Law

58 Sir William Hater The diplomacy of the great powers, 1960

59 Harold Nicolson The diplomacy of diplomatic methods

60 Panikkar, K M The principles and practice of Diplomacy

61 Losswell Harold D Propaganda Technique in the world war

62 Line Barger, Paul M A Psychological Warfare

63 Jack, D T Studies in Economic Warfare

64 Falls, Cyril A hundred years of War

65 Dulles, John Foster War and Peace

66 Cantril Hadley, ed Tensions that causes wars

67 Adler, M J How to think about War and Peace

68 Eagleton, Clyde Analysis of the Problem of War

69 Vannevar Bush Modern Arms and Freemen

70 Quincy Wright A Study of War

71 Amitai Etzioni Winning Without War

72 Bernal J D World Without War

73 Madariaga S de Disarmament

74 Willard N Hogan International Conflict and Collective Security, 1955

75 Seabury, Paul Balance of Power

76 Kissinger, Henry A The Necessity for Choice

77 Phillip C, Jessup A modern Law of Nations, 1949.

78 Meyer Cord Peace or Anarchy, 1947.

79 Schuman, F L. The commonwealth of man : An inquiry into power politics and world Govt, 1952

80 Nutting, Anthony Disarmament An outline of the Negotiations 1959

81 Woodward E L Some Political Consequences of the Atomic Bomb, 1956

82 Claude Jr Inis L Power and International Relations, 1964

83 John Strachey On the prevention of War, 1962

84 Murray Thomas E, Nuclear Policy for War and Peace, 1960

85 Haas, Ernst, B Types of Collective Security An Examination of Operational Concepts, American Political Science Review, XLIX, 40-62

86 Wolfers, Arnold, "Collective Security and the war in Korea," The Yale Review XLIII, 481 96

87 Johnson, Howard C, Jr and Gerhart Niemeyer, Collective Security The Validity of an Ideal, International Organization VIII, 19-35

88 Webster, Sir Charles, The Art and Practice of Dipolmacy

89 Bowles, Chester The New dimensions of peace, 1955

90 Holland, William L ed Asian Nationalism and the West, 1953

91 Low, Sir Francis Struggle for Asia, 1956

92 Panikker, K M Asia and western dominance, 1954

93 Arciniegas, German The State of Latin America, 1952.

94 Deniels, Walter M ed Latin America in the cold war, 1952

95 Macdonald, Austin F Latin American Politics and Govt. 1954

96 Bartlett Varnon Struggle for Africa, 1953
97. Cloete, Stuart The African giant, 1955
98 Davidson, Basil The African Awakening, 1955
99 Dundas Sir Charles African Cross roads, 1955
100 Brzezinski Zbigniew, The Soviet Bloc Unity and conflict Cambridge Harvard University Press 1960
101 Aubrey, Henry G Coexistance Economic Challenge and Response Washington, D C National Planning Assn, 1961
102 Robert Henry L, Russia and America Dangers and Prospects New York : Council on Foreign Relations. Inc, 1956
103 Schwartz Harry, The Red Phoenix Russia since World War II New York Frederick A Praeger, Inc, 1961
104 Thomas A Bailey, A Diplomatic History of the American People
105 Samuel F Bemis and G G Griffin, Guide to the Diplomatic History of the United States 1775 1921
106 Richard W Van Alasyne, American Diplomacy in Action
107 Dexter Perkins The Evolution of American Foreign Policy
108 Haines, C Grove ed The threat of Soviet Imperialism
109 Hunt, R N C The Theory and Practice of Communism
110 Schuman Federick L Soviet Politics at Home and abroad
111. Tara Covzio T A War and Peace in Soviet Diplomacy.
112 Williams, William A American Russian Relations
113 Langsome, W C The Strategy of Peace
114 Kamath M V, India s Dynamic neutralism Current History
115 Crankshaw, Edward The New Cold War—Moscow V/s Peking
116 Dentsher, I The Great Contest, 1960

117 Smith Gorden Connel Pattern of the Post-War World
118 Kundra J C Indian Foreign Policy
119 Coyle David Cushman The United Nations and how it works
120 Karunakaran K P India in World Affairs
121 Nehru, Jawaharlal India s Foreign Policy
122 Poplai, S L Asia and Africa in the Modern World
123 Lequeur, W Z Communism and Nationalism in the Middle East
124 Blackett, Patrick, M S Atomic Weapons and East-West Relations.
125 King Hall, Sir Stephen Defence in the Nuclear Age
126 Russel, Bertrand Commonwealth and Nuclear Warfare Foreign Affairs Vol XXXVIII
127 Banerjee, J K The Middle East in World Politics
128 Dean, V M Main Trends in post-war American Foreign policy
129 Donelon, Michael The Ideas of American Foreign Policy
130 Baibey Thomas A America faces Russia Russian American Relations from early times to our day
131 Lippman Walter The Cold War A study in U S. Foreign Policy
132 Hatch John Africa Today and Tomorrow
133 Anton us George The Arab Awakening
134 Peter Lyons Neutralism
135 Chase Eugene The United Nations in Action Megraw Hill 1950
136 Goodrich Leland M, and Simons, Anne P The United Nations and the Maintenance of International Peace and Security The Brookings Institution, 1955
137 Haviland, H Field, Jr, The Political Role of the General Assembly Carnegie Endowment for International Peace, 1951

138 Wightman, David, Economic Co operation in Europe Praeger, 1956 A study of the Economic Commission for Europe

139 Wilcox, Francis O, and Marcy, Carl M Proposals for Changes in the United Nations The Brokkings Institution, 1956

140 The Times of India

141 The Hindustan Times

142 International Studies

143 Current History

144 Foreign Affairs

145 Pacific Affairs

146 World Politics

147 International Affairs

148 Review of Politics

149 India Quarterly

150 साप्ताहिक दिनमान ।